

"आधुनिक हिन्दी साहित्य (१९००-१९५० ई.)

की

सांस्कृतिक पुच्छूमि";

(प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग, की डी.लिट्. उपाधि के लिये प्रस्तुत थीय-प्रबंध)

प्रस्तुतकर्ता

डा. मौलानाथ,

एम.ए., डी.फिल.,

अध्यय, हिन्दी - विभाग,

महाराणी लालकुंवर महाविद्यालय,

बलरामपुर, गीठडा

(उत्तर प्रदेश)



निर्देशक:-

पद्मभूषण डा. रामकुमार वर्मा,

एम.ए., पी.एच. डी.,

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष,

हिन्दी-विभाग,

प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग

(१९५४ ई.)

इस नये भारत की प्रकृति-प्रवृत्ति, जीवन-दृष्टिकोण, मार्ग, आवश्यकता-
 ज्ञा, आज्ञा-आकांक्षाओं आदि की अभिव्यक्ति हमारे आलोचकाल के हिन्दी
 साहित्य में हुई है। मानव-मन और समाज-विविधताओं से परिपूर्ण हो गया
 जिनकी अभिव्यक्ति के लिये साहित्यिकों ने नई-नई विधाएं तथा भिन्न-भिन्न
 शैलियां अपनाईं। पुराने का परिवर्तन भी नहीं किया, नवीन का तिरस्कार
 भी नहीं ^{हुआ} ~~किया~~। अस्तु, हमारे पास ब्रजभाषा काव्य साहित्य, सड़ी बोली काव्य
 साहित्य, सड़ी बोली में कहानी, उपन्यास, नाटक, एकांकी, निबंध, आलोचना,
 साहित्य का इतिहास, गद्यकाव्य, तथा ज्ञान-विज्ञान संबंधी अनेक प्रकार का
 साहित्य हो गया है। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि हमारी यह साहित्यिक
 सम्यक्ता बड़ी ही महत्वपूर्ण है और उच्चकोटि की है।

पराधीन होते हुए भी हिन्दी प्रवेश ने जो यह सकलता प्राप्त की
 उसका कारण हम सभी समझ सकते हैं जब इस युग की संस्कृति को ठीक से समझ लें।
 प्रस्तुत अध्ययन इसी उद्देश्य को सामने रखकर किया गया है। प्रयत्न यह किया
 गया है कि प्रस्तुत अध्ययन में उन सभी प्रवृत्तियों पर विचार किया जाय जिनकीने
 साहित्यिक के मानस को प्रभावित करके उससे आधुनिक साहित्य की रचना करवा
 ली है। ध्यान रहे कि साहित्यिक के मानस को उसका अपनी तथा आसपास के
 वातावरण की भिन्न भिन्न स्थितियां सदैव प्रभावित करती रहती हैं। रुपये -
 पैसे का अभाव आवश्यकताओं का न पूरा होना, आस्थाओं और मान्यताओं
 का अस्त होना अथवा अप्रत्याशित रूप से परिवर्तित हो जाना, पिशवासी का
 असमर्थ सिद्ध होते रहना, देश का पराधीन रहना, स्वतंत्रता की मार्गों का कुचला
 जाना, उमंगों और आशाओं पर पानी फिरते जाना, भविष्य की आशा आदि
 अनेक चांचित एवं अवांचित स्थितियां और परिस्थितियां मातृक साहित्यिक के
 मानस का घेदन कर करके साहित्य-रूपी अकृतघट निकाला करती हैं। प्रस्तुत अद्य-
 यन के विभिन्न अध्यायों की कल्पना का मूल श्रोत इन्हीं उपर्युक्त प्रवृत्तियों पर

विभाजन है। इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन हिन्दी प्रदेश का इतिहास, राजनीतिक पृष्ठभूमि, आर्थिक पृष्ठभूमि, वैज्ञानिक पृष्ठभूमि, सामाजिक पृष्ठभूमि, कलात्मक पृष्ठभूमि, धार्मिक एवं दार्शनिक पृष्ठभूमि, नैतिक और आत्मिक उत्थान संबंधी जाँचोखान, , पारम्परिक सभ्यता, आत्मस्वरूप की सौज नामक विभिन्न अध्यायों में विभाजित हो गया है। जीवन, दृष्टिकोण और संस्कृति शीर्षक अध्याय में यह देखने का प्रयत्न किया गया है कि उपर्युक्त परिस्थितियों के परिणामस्वरूप हमारा जीवन समग्र रूप से कैसा हो गया है, हमारा दृष्टिकोण क्या हो गया है तथा व्यावहारिक रूप से हमारी जाज की संस्कृति का क्या रूप हो गया है। पहला अध्याय संस्कृति, सभ्यता और संस्कृति, भारतीय संस्कृति, पारम्परिक संस्कृति आदि विषयों पर प्रकाश डालता है। उपसंहार में उन प्रभावों एवं निष्कर्षों पर विचार किया गया है जो साहित्यिकों की चेतना पर पड़े और उसे एक विशेष रूप प्रदान किया। इसी अध्याय में हिन्दी साहित्य पर पड़े हुए विभिन्न-विभिन्न प्रभावों के स्वरूप पर भी विचार किया गया है। इस प्रकार हम उन आधारभूत धारणाओं एवं निष्कर्षों से परिचित हो जाते हैं, उन सांस्कृतिक भावभूमियों को प्राप्त कर लेते हैं, उन सांस्कृतिक प्रारूपों को जान लेते हैं, जिन पर बीसवीं शताब्दी के पुर्वाग्रह का हिन्दी साहित्य आधारित है।

संस्कृति की धारा - समाज की गतिविधि - अविभाज्य होती है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध और बीसवीं शताब्दी के पुर्वाग्रह की सांस्कृतिक स्थितियाँ एक-दूसरे से इतनी अधिक संबद्ध हैं कि बिना एक पर प्रकाश डाले दूसरे के साथ न्याय नहीं किया जा सकता था। उन्हें अलग अलग करके देखने पर बीसवीं शताब्दी वाले चित्रों का स्पष्टतम रूप से दर्शन एवं मूल्यांकन संभव नहीं था। इसी-लिये इस ग्रन्थ में परिस्थितियों का चित्रण प्रायः १८५७ ई. के आसपास से और कभी-कभी उससे पहले के युगों से भी प्रारम्भ करना पड़ा है। इस प्रकार इस अध्ययन में बीसवीं शताब्दी की उन विभिन्न-विभिन्न परिस्थितियों का भी अध्ययन

किया गया है जिन्होंने इस युग की साहित्यिक चेतना एवं गतिविधि पर प्रभाव डाला है तथा उन अवस्थाओं का चित्रण हो गया है जिनके अनिवार्य परिणाम के रूप में बीसवीं शताब्दी की विभिन्न परिस्थितियाँ विकसित हुई हैं। तात्पर्य यह कि इस अध्ययन में आलोच्य काल के साहित्य की पृष्ठभूमि भी है और उस पृष्ठभूमि की पृष्ठभूमि भी।

एक और निवेदन करना है। साहित्य की पृष्ठभूमि का अध्ययन एक बात है और साहित्य पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन दूसरी बात। साहित्य पर राजनीतिक परिस्थितियों के प्रभाव का अध्ययन जो रूप पायेगा वह रूप उस अध्ययन के रूप से भिन्न होगा जिसका विषय होगा 'साहित्य की राजनीतिक पृष्ठभूमि'। एक अध्ययन में 'पृष्ठभूमि' की प्रधानता होगी और दूसरे में 'प्रभाव' की। जहाँ 'पृष्ठभूमि' की प्रधानता होगी ~~वहाँ~~ वहाँ 'प्रभाव' का अध्ययन गौण होगा - अपर्याप्त भी - केवल यह दिखाने के लिये कि इस पृष्ठभूमि में अमुक प्रकार का साहित्य लिखा अवश्य गया है। प्रस्तुत अध्ययन सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का अध्ययन है। साहित्य पर पड़ने वाले प्रभावों का इस प्रबन्ध में गौरवर्धक रूप में - संकेत रूप में - किया गया है। सांस्कृतिक दृष्टिकोण से आधुनिक हिन्दी साहित्य का अध्ययन अभी होना है।

इस छोटे प्रबंध में अंगरेजी भाषा में लिखी गई अनेक पुस्तकों के उद्धरण हैं। अंगरेजी के उन वाक्यों का हिन्दी रूपान्तर या अनुवाद स्वका स्व मेरे द्वारा ही किया गया है। इन अनुवादों में अधिक्यक्तियों का मूल आशय पूर्वरूपेण सुरक्षित है - मूलभाव कहीं भी संक्षिप्त नहीं होने पाया।

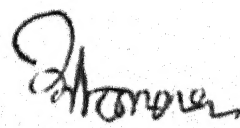
अन्त में उन सब विद्वानों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ जिनकी कृतियों का उपयोग प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में इस छोटे प्रबन्ध में हुआ है। इस

शोध प्रबंध में मुझे परामर्श प्रोत्साहन एवं उत्साहबर्धन उस समय के उपराष्ट्रपति डा. राधाकृष्णन, उस समय के उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री डा. सम्पूर्णानन्द, श्रीकन्हैया लाल माणिक लाल मुंशी, डा. धीरेन्द्र वर्मा, डा. उदयनारायण तिवारी, डा. सरस्वतीप्रसाद आदि से मिला है जिसके लिये मैं इन सभी विद्वानों एवं विभूतियों का असाधारण रूप से कृतज्ञ हूँ। श्री भक्ति प्रसाद त्रिवेदी ने जिस उदारता के साथ मुझे पुस्तकालय में अध्ययन करने की अनुमति एवं सुविधा प्रदान की उसके लिये मैं सचमुच उनका बहुत कर्णी हूँ। उनकी इस कृपा के बिना यह शोध प्रबंध कभी पूरा हो ही नहीं सकता था। गुरुदेव डा. धीरेन्द्र वर्मा और गुरुदेव डा. राम कुमार वर्मा के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने की शक्ति मेरी लेखनी में है ही नहीं। मैं मौन हूँ। जीवन की एक बड़ी इच्छा यह भी रही है कि मैं कभी किसी के भी प्रति कृतज्ञ न रहूँ। अतएव, मौन से लेकर विचार विमर्श तक, संकेत से लेकर स्नेह-स्निग्ध परामर्शों एवं परीक्षाओं तक, तथा सहायता से लेकर बाधा तक मैं सबके प्रति कृतज्ञ हूँ। आभारी हूँ।

“बंधों सबके पदन कमल सदा जोरि जुगयानि”

त्रिवेणी तट

प्रयाग


मोहन दास

अध्याय सूची

	पृष्ठ
(अ) विषय प्रवेश . . .	१-१८
(१) सांस्कृतिक चेतना के आभास . . .	१८-२५
(२) हिन्दी प्रदेश का आधुनिक इतिहास और उसके निर्माण की प्रक्रिया . . .	२५-१७८
(३) राजनीतिक पृष्ठभूमि . . .	१७८-२४७
(४) आर्थिक पृष्ठभूमि . . .	२४८-३१२
(५) वैयक्तिक पृष्ठभूमि . . .	३१३-३५६
(६) सामाजिक पृष्ठभूमि . . .	३५७-४४५
(७) कलात्मक पृष्ठभूमि	४४६-५३१
(८) धार्मिक एवं दार्शनिक पृष्ठभूमि . . .	५३२-६८०
(९) नैतिक और आत्मिक उत्थान संबंधी आंदोलन	६८१-७२१
(१०) पारंपार्य सभ्यता और हिन्दी प्रदेश . . .	७२२-७६८
(११) सांस्कृतिक दृष्टि से हिंदी प्रदेश की आत्मस्वरूप की तौज	७६९-८०८
(१२) जीवन दृष्टिकोण और संस्कृति	८०९-८६५
(१३) उपसंहार . . .	८६६-९२६

परिशिष्ट (अ) हिंदी पुस्तक सूची

(ब) अंगरेजी पुस्तक सूची . . .

सध्याय-

विषय प्रवेत

(पृष्ठ १ से १८ तक)

बीसवीं सदी के पचास वर्षों और भारत का महानता -- बीसवीं सताब्दी के पचास
वर्षों और हिन्दु की समृद्धि -- कुछ हिन्दु विरोधी दृष्टिकोण -- दुर्दमनीयता
एवं शक्ति का प्रीत -- संस्कृति क्या है -- प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य और स्वरूप --
भारतीय संस्कृति की प्रकृति -- सामाजिक परिप्रेक्ष्य -- १८५७ से १९०० तक का युग

बीसवीं सदी के पचास वर्ष और भारत की महानता

बीसवीं सताब्दी के भारत का आत्म-बोध विश्व इतिहास का एक महत्वपूर्ण अध्याय है। उन्नीसवीं सताब्दी में इंग्लैंड संसार का सबसे बड़ा साम्राज्यवादी सुत्रधार था। कहा जाता है कि तब अंगरेजों के राज्य में सूर्य कभी भी अस्त नहीं होता था। उनके साम्राज्य के एक भाग में यदि वह अस्त होता था तो उसी समय उसके दूसरे भाग में उदय हो उठता था। इस साम्राज्य का सबसे बड़ा उपनिवेश - सबसे बड़ा गुलाम देश - भारतवर्ष था। यह गुलाम भारतवर्ष यही भारतवर्ष था जिसने संसार की सभ्यता और संस्कृति के विकास में असाधारण रूप से योगदान किया था। इस क्षेत्र में जितना महत्वपूर्ण योगदान भारत ने दिया उतना अन्य कोई भी राष्ट्र नहीं दे सका। संसार ने बीसवीं सताब्दी में इसी पराधीन भारतवर्ष द्वारा प्रवर्तित इतिहास का अभूतपूर्व आश्चर्य देखा। स्वतंत्रता संग्राम की राजनीति ने विश्व के इतिहास में एक नया अध्याय खोला। आज इसकी संसार के अनेक छोटे-बड़े राष्ट्र अपनी-अपनी आवश्यकताओं और पारिस्थितियों के अनुसार अपनाने का प्रयास करते हैं। बीसवीं सताब्दी के पूर्वार्ध में भारतवर्ष में इसे जो सकलता मिली उसके परिणामस्वरूप यह इंग्लैंड के 'ग्लोरियस रेवोल्यूशन' से कहीं अधिक 'ग्लोरियस' माना जा सकता है।

विश्व के नवीनतम रंगमंच पर भी नव स्वतंत्र भारत का कार्य-कलाप कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं है। भारत की स्वतंत्रता ने एशिया और अफ्रीका के पराधीन देशों के लिये स्वतंत्रता की आवाज का अवरोध दूर उन्मुक्त कर दिया। चीनी महाद्वीपों की पिछड़ी हुई, दबी-पिस्ती एवं अर्थसमय जातियों की जातों के सामने उन्नति एवं विकास की अनन्त सम्भावनाएँ और आकांक्षाएँ आकर्षक रूप में खड़ी हो उठीं। दुर्भाग्य के इतिहास में नये मूल्य - नए प्रतिमान - जन्म लेते हुए दिखाये

पड रहे हैं। चीन ने भारत पर आक्रमण किया और रणक्षेत्र में उसे कुछ कहीं-कहीं विजय मिली। भारतीय सेनाओं को पीछे हटना पड़ा। पराजय-सी दिखाई पड़ी। उसी समय संसार ने एक अवस्था की बात देसी। जीतने वाला अपने आप पीछे हट गया। कुछ वर्ष पहले स्वेज नहर के प्रश्न पर होने वाले सख्त संघर्ष में विजेता-सा इंग्लैण्ड पीछे हटा और मित्र की लक्ष्य-प्राप्ति हुई। उसी घटना की नये रूप में पुनरावृत्ति हुई। आज विश्व-राजनीति के रंग भंव पर जीते हुए-से चीन की दुर्गति हो रही है और पराजित-से भारत की प्रतिष्ठा में कहीं किसी ओर से कभी नहीं दिखाई पड़ती, नई बात है !!

पराधीन भारत के रामकृष्ण-विवेकानन्द, रामतीर्थ-वयानन्द, तिलक-गांधी, गोसले-रानाडे, अरविन्द-रमन, टैगोर-भारती, प्रेमचन्द-प्रसाद, माल-वीर-नेहरु, जवाहरलाल-विनोबा, राधाकृष्णन आदि की उपेक्षा संसार की कोई भी प्रगतिशील शक्ति नहीं कर सकती। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के आस-पास के समय में भारतवर्ष में इतनी प्रतिभाओं का जन्म हुआ कि समय पर भारत उनके प्रकाश में जगमगा उठा। अभावस्था को दीपावलियों के मधुर प्रकाश में जैसे सजा दिया हो ! गुलाम भारत में भी कितनी असाधारण कमता थी !! प्रश्न यह है कि अब-पिसे-लुटे-पस्त भारत में इतनी शक्ति और कमता कहाँ से आ गई थी कि वह संसार के लिये आश्चर्यों की सृष्टि कर सका। उसके अन्दर यह शक्ति कहाँ छिपी थी !! भारत की शक्ति और संभावनाएं लोगों के लिये अनबूझ पहेली बनी हैं।

बीसवीं शताब्दी के पचास वर्ष और हिन्दी की समृद्धि:

ठीक इसी प्रकार हिन्दी भी अपरिचितों और विरोधियों के लिये पहेली बनी हुई है। भारतीय वायू हरिश्चन्द्र के समय से लेकर आजतक हिन्दी ने जिस प्रकार उन्नति की है, वह सवमुल आश्चर्य का विषय है। उस समय कविता प्रवसापा में लिखी जाती थी और आज सही बोली में लिखी जाती है।

उस समय के गद्य में भी ब्रजभाषा के शब्द आजाते थे और आज पद्य में भी वे कहीं नहीं दिसलाई पड़ते। बीसवीं शताब्दी के आसपास की सही बोली की कविता और आज की सही बोली की कविता का तुलनात्मक अध्ययन करें तो भाषा, शैली, विषय, काव्यात्मकता, अभिव्यंजनाशक्ति आदि दृष्टिसे दोनों में आश्चर्यजनक अन्तर मिलता है। यही स्थिति गद्य के क्षेत्र में भी है। भाषा अभिव्यंजनाशक्ति, शैली की विविधता, विषय की अनेकता, विषयों की विभिन्नता, अभिव्यक्तियों की प्रौढ़ता, सूक्ष्म-विचारों को सूत्र रूप में उपस्थित करने की शक्ति, आदि की दृष्टियों से आज के गद्य में और भारतेन्दु युग के गद्य में बहुत अन्तर आ गया है। उस समय साहित्य उतना प्रचुर नहीं था जितना आज है। स्थिति में भी बड़ा अन्तर है। उस समय की हिन्दी पूर्ण रूप से उपेक्षित थी, आज उसका सर्वत्र आदर है। आज वह भारत की राजभाषा है। कुछ लोग यह तथ्य मुक्त कंठ से स्वीकार करते हैं और कुछ लोग रुढ़ कंठ से। कुछ लोग इसका विरोध ईर्ष्या-द्वेषवश करते हैं और कुछ लोग स्वार्थवश फिर भी इसकी महत्ता सभी स्वीकार करते हैं। आज हिन्दी भारत के ही सभी प्रांतों के नवोदित प्रतिभाओं के अध्ययन और आदर का विषय नहीं बनी है, विदेशी भी उसका महत्त्व स्वीकार करते हैं। भारतेन्दु - युग और द्विवेदी-युग में यह कुछ कम था, आज बहुत है। दूर-दूर प्रांतों के और भिन्न देशों के लोग हिन्दी साहित्य का अध्ययन करने यहां आते हैं और अपने यहां उसके अध्ययन की व्यवस्था करते हैं। यह सारी की सारी कायापलट बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में ही - पचास वर्षों में ही - संभव हो गई। इस शताब्दी के पचासवर्षों में जैसे भारतवर्ष का आश्चर्यजनक रूप से उत्थान एवं विकास हो गया है, उसी प्रकार हिन्दी का भी हो गया है।

कुछ हिन्दी विरोधी दृष्टिकोण

प्रश्न यह है कि इतनी जल्दी ऐसा सब कैसे हो गया ! इस संबंध में सम्पूर्ण भारतवर्ष को लोग क्या कहते हैं, ' यद्यपि इस प्रबंध का विषय नहीं है, फिर भी इतना कह देनेमें कोई हर्ज नहीं कि भारत की जनता^{की} महानता के विषय में लोगों को अभी सन्देह है, कुछ पुराने लोग अब भी अंगरेजी राज को इस राज से अच्छा मानते हैं और कुछ लोगों के अनुसार, भारत समय से पहले स्वतंत्र कर दिया गया - वह अभी स्वतंत्र होने के योग्य बन नहीं पाया था। ऐसे लोग कम हैं और सामने आने से घबराते हैं - संभवतः जनमत से डरते हैं। हिन्दी को चूंकि अभी सम्पूर्ण भारत से भिन्न रखा गया है और अब लोग हिन्दी और देश की स्वतंत्रता इन दोनों को दो भिन्न भिन्न तत्त्व मानने लगे हैं अतएव हिन्दी के विषय में उचित - अनुचित का डालने में लोग संकोच नहीं करते। सही कारण है कि हिन्दी और उसकी महानता के विषय में लोगों के अनेक दृष्टिकोण हो रहे हैं। कुछ का विचार है कि हिन्दी प्रगट हो रही है। किन्हीं का निश्चित मत है कि हिन्दी में है ही क्या ? देसना - पढ़ना ही तो संस्कृत-अंग्रेजी देसा-पढा जाय ! हिन्दी पर स्नेह रखने वाले कुछ विचारशील व्यक्ति हिन्दी को संस्कृत की बेटा मानते हुए यह कहते हैं कि बिना संस्कृत जाने हिन्दी समझी ही नहीं जा सकती। कुछ प्रगतिशील विद्वान् यह कहते हैं कि हिन्दी में जो कुछ अच्छा है वह अंग्रेजी साहित्य के अनुकरण और प्रभाव के ही परिणामस्वरूप है। एक दृष्टिकोण तो यह भी है कि सड़ी बोली हिन्दी असंस्कृत, कुसंस्कृत, अनगढ़, फूहड़ है तथा कविता के अनुपयुक्त है और देश-विदेश के सच्चे साहित्यों में अध्ययन के परिणामस्वरूप उत्कृष्ट साहित्यिक रुचि सड़ी बोली हिन्दी की कविता सुनने से विकृत हो उठती है। कुछ लोग ज्ञान-विज्ञान और शासन-प्रशासन के क्षेत्रों में अभी इसकी उपयोगिता पर प्रश्न-चिह्न लगाते हैं पर्यं कई वर्षों - यहां तक कि दो-तीन पीढ़ियों - के बाद इसे इस योग्य हो सकना संभव मानते हैं कि भारत भर के लोग पढ़, बोल, समझ

और लिख सकें।

दुर्बलता एवं शक्ति की शक्ति

फिर भी भारत की प्रगति के साथ हिन्दी भी विकसित होती चली जा रही है। विरोधी लोग अपनी कमजोरियों के कारण हार हाथ में बाजी के खेलने का दुराग्रह कर रहे हैं, काल देवता जो निर्णय लिख चुका है उसके विरुद्ध हाथ-पांव मारने का व्यर्थ प्रयास कर रहे हैं। सेवकों में अनेक त्रुटियाँ हैं अ फिर भी विकास निरन्तर हो रहा है और उसकी गति अप्रतिहत है। प्रश्न यह है कि ऐसा क्यों है ? सोचना पड़ता है कि यह क्या है जो इस प्रकार दुर्बल बनाये है। किसने दोनों को एक-सा ऊर्ध्वमुखी एवं प्रगति-शील तथा उत्थान की ओर तीव्रगति से प्रेरित कर रखा है। जिनकी सूझ की गति उस तत्त्व तक नहीं है उनके लिये सचमुच यह विश्वास कर लेना कठिन है कि भारत ने या हिन्दी ने सचमुच उन्नति कर ली है और विकसित हो गई है। उनके लिये यह आश्चर्य और अविश्वास का विषय है।

मेरे अध्ययन और शोध का विषय इसी रहस्य के उद्घाटन से, इसी आश्चर्य की बोधक बनाने से संबंधित है। वास्तविकता तो यह है कि संपूर्ण भारत की ओर इसीलिये हिन्दी की ओर - जो यह असाधारणगति से उन्नति हुई है उसका मूल कारण भारत की अपनी संस्कृति है। भारतीय संस्कृति से हमें जो तत्त्व मिले हैं, उन्होंने ही हमारे अन्दर इतनी शक्ति भर दी है कि हम कठिन से कठिन एवं भयावह से भयानक तथा असाधारण रूप से प्रतिभूल परिस्थितियों में भी कभी निःशेष नहीं होने पाते। यह वह मानवीय है जिसका मूल श्रोत कभी सूखता नहीं है। इसी से हमें जीवन मिलता रहा है और मिला

संस्कृति क्या है ?

संस्कृति-विहीन जीवन कोई जीवन नहीं होता। आज के विचारक भले ही यह कहें कि आधुनिक वह है जो आज के पहले की परम्पराओं और प्रभावों से मुक्त है किन्तु प्रभावों और परम्पराओं से पूर्णतः अप्रभावित अस्तित्व की कल्पना ही मेरे लिये दुर्लभ है। मुझे तो यह धोख़ा ही दम प्रतीत होती है। माँ की गोद से लेकर जीवन के अन्तिम समय तक हमारी चेतना और हमारी बुद्धि हमारे आसपास के ज्ञान और वातावरण के विभिन्न तत्वों से ही बाधित एवं मर्यादित होकर गतिशील होती है। वातावरण और परंपरा ही मिलकर व्यक्ति का निर्माण करते हैं। यह परम्परा ही संस्कृति का रूप धारण करती है। व्यक्ति के मानस में ये परम्पराएं संस्कार का रूप धारण करती हैं और जन-मानस पर ये संस्कृति बन कर छाई रहती हैं। विभिन्न तत्वों से परिपूर्ण यह संस्कृति उस आकाश की तरह है जिसकी सरस-स्निग्धता में जन-मानस रुपी रमणीय जगत तरंगित होता रहता है। संस्कृति मानव की व्यापक मानवीय चेतना की विशिष्टता का स्वरूप है। जीवन का समग्र रूप इसमें सम्मिलित होता है। हम यहां जो कुछ हैं उससे भिन्न और कुछ क्यों नहीं हुए, इसका उत्तर संस्कृति ही दे सकती है। इसका विश्लेषण करते हैं तो इतिहास, राजनीति, समाज, धर्म, दर्शन, नीति-रीति-सभी कुछ संस्कृति की छांकी देने में समर्थ है। उदाहरणतः जब हमारी संस्कृति से पूर्णतः स्वतंत्र होकर हमारी राजनीति का निर्माण नहीं हो सकता, तो हमारी राजनीति के अनन्त पक्षों से हमारी संस्कृति के स्वरूप पर कुछ न कुछ प्रकाश अवश्य पड़ना चाहिए। यही बात इतिहास, समाज, धर्म, दर्शन आदि सबके बारे में भी सही है। अतएव हमारी संस्कृति इन विभिन्न विषयों में प्रतिबिम्बित होती है और हमारी संस्कृति का स्वरूप इन विषयों से अभिव्यंजित होता है। अतः, संस्कृति को अभिव्यंजित करने वाले, उसके स्वरूप को स्पष्ट करने वाले, उसका एक चित्र उपस्थित करने वाले विभिन्न तत्वों के रूप में भी इन विषयों का अध्ययन किया जा सकता है।

प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य और स्वरूप

प्रस्तुत अध्ययन का संबंध बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के उत्तर भारत की - या हिन्दी प्रदेश की - सांस्कृतिक परिस्थिति से है। साथ ही हमें यह भी देखा है कि इन परिस्थितियों से कौन-कौन से ऐसे तत्त्व निकले जिन्होंने हिन्दी साहित्य को प्रभावित किया है। इतिहास, धर्म, दर्शन, राजनीति आदि जीवन के भिन्न-भिन्न तत्त्व समाज में भिन्न-भिन्न प्रकार की परिस्थितियाँ बनाती हैं। ये सब एक ही मूल तत्त्व से (संस्कृति से) अनुप्राणित होती रहती हैं। एक ही दृष्टिकोण सभी में कुछ न कुछ छाया रहता है। ये परिस्थितियाँ साहित्य में चित्रण का विषय बनती हैं। ये सब मिलकर सामूहिक एवं व्यक्तिगत जीवन की व्यवस्था को एक विशिष्ट रूप प्रदान करती हैं। इस व्यवस्था में बहते पले हुए समाज और व्यक्ति का अपना एक विशिष्ट दृष्टिकोण बन जाता है। साहित्य इस विशिष्ट जीवन व्यवस्था एवं विशिष्ट दृष्टिकोण का दर्पण होता है। किसी साहित्यकार के मन पर उसके अपने और उसके आसपास के जीवन और परिस्थितियों का (राजनीतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, दार्शनिक आदि सभी का) कुल मिलाकर अर्थात् सामूहिक रूप से प्रभाव पड़ता है। धीरे-धीरे पढ़ने वाले ये विभिन्न प्रभाव अन्तर्गत होकर उसकी मनोवृत्ति को एक विशिष्ट रूप दे देते हैं। उसकी अपनी एक विशेष मनोवृत्ति हो जाती है। यह मनोवृत्ति उसके द्वारा रचित साहित्य में बराबर प्रतिबिम्बित होती रहती है। इस प्रकार बाहरी जगत में जो प्रगति होती है उसी के अन्तर्गत में वही एक विशेष प्रकार के भाव बनकर रम जाती है। अतः, इस प्रबंध में उन प्रभावों का, उन मनोवृत्तियों का और उन रचनाओं का अध्ययन प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है जिसे बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध का हिन्दी साहित्य विनिर्मित हुआ है। प्रगति के मायात्मक प्रतीकों के समझने की चेष्टा की गई है। यह सब समझने के लिये हमें उन

परिस्थितियों का अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है जिनके परिणामस्वरूप के प्रभाव विशेष, मनोवृत्ति विशेष, या दृष्टिकोण विशेष बने हैं। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के इस पूर्वार्ध की ऐतिहासिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक और दार्शनिक तथा नैतिक और आत्मिक उत्थान-संबंधी प्रयत्नों से उत्पन्न परिस्थितियों का अध्ययन आवश्यक हो जाता है। प्रत्येक क्षेत्र की प्रमुख प्रवृत्तियाँ, प्रमुख घटनाएँ, एवं प्रमुख दृष्टिकोण का ज्ञान ही उन निष्कर्षों को प्राप्त करने में सहायक होता है जिनसे हम यह साँकी पा सकते हैं जिसका संबंध संस्कृति से है। उदाहरणार्थ, गांधी द्वारा प्रेरित राजनीतिक आन्दोलन का चित्रण और उनकी घटनाएँ का विवरण जहाँ इस युग की राजनीतिक परिस्थिति स्पष्ट करता है वहाँ हठताल, धरना, जेलयात्रा, बुधवास मारना आदि दृष्टिकोण की अहिंसा पर प्रकाश डालते हुए भारतीय संस्कृति के इस (अहिंसा) तत्व की ओर भी संकेत करता है। इस प्रकार राजनीतिक क्षेत्र में हम अपनी संस्कृति का रूप मिलता है जिसे हम अपने साहित्य में भी पाते हैं। इस प्रकार अहिंसात्मक दृष्टि बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के हिन्दी साहित्य की सांस्कृतिक मुष्ठभूमि का एक तत्व हुआ। इसी दृष्टिकोण से अन्य परिस्थितियों का भी अध्ययन किया गया है। पार्श्वान्त्य सत्यता का तथा उसके विपाक प्रभावों से अपने को मुक्त करके यथासंभव अपने सांस्कृतिक स्वरूप के अधिक निकट रहने के प्रयत्नों का इतिहास बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के भारत का इतिहास है। अपने समाज और साहित्य के ऊपर इन दृष्टिकोणों का भी प्रभाव है। इन दो प्रवृत्तियों के घातों-प्रतिघातों ने निश्चित रूप से समाज और साहित्य की गतिविधि और उनके रूपों के निर्माण में अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया है। इसलिये इनका भी अध्ययन अनिवार्य हो गया है। इस प्रकार जीवन के विभिन्न पक्षों के अध्ययन और उनसे प्राप्त निष्कर्षों तथा उन पर डाली गई समग्र दृष्टि के द्वारा आलोच्य काल की संस्कृति का एक रूप हमारे सामने स्पष्ट

होता है।

भारतीय संस्कृति की प्रकृति

संस्कृति का प्रवाह नदी की धारा की भाँति अविच्छिन्न और अविभाज्य होता है। पीछे से चली जाती हुई जल-राशि किसी स्थान विशेष के जल की शक्ति भी होती है और जीवन तथा अस्तित्व भी। पीछे के जल से किसी स्थान विशेष के जल को अलग कर सकना असंभव है और यदि संभव भी हो सके तो फिर नदी के नदीपन का बना रहना असंभव होता है। जगह - जगह आकर मिल जाने वाली अनेक जल-धाराएँ नदी की अपनी मुखधारा की उपयोगिता और महत्व कम नहीं कर पातीं। ठीक इसी प्रकार अतीत से चले आते हुए सांस्कृतिक तत्वों से पूर्णतः अलग करके किसी देश के किसी काल-विशेष की संस्कृति का अध्ययन मूल्यांकन कर सकना संभव नहीं होता। देश के समाज के अंग-अंग में उस देश की प्राचीन परम्पराओं, मूल्यों और तत्वों के शाश्वत अंश बराबर रहे रहते हैं। जन-समाज का जीवन प्रधानतः इन्हीं से अनु-प्रापित एवं अनुप्रेरित रहा करता है। जिन विदेशी तत्वों से उस जीवित - समाज का संपर्क होता है वे उसे प्रभावित अवश्य करते हैं परन्तु मूलतत्त्व को पूर्णतः हटा नहीं पाते। यदि ऐसा संभव हो सके तो वह देश, समाज या जाति मिट जाय। भारतवर्ष का अतीत असाधारण रूप से महत्वपूर्ण रहा है। यहाँके ऋषियों-मुनियों, तत्त्वचर्चियों-विचारकों तथा समाजशास्त्रियों-मनीषियों ने जिन तत्वों के आधार पर यहाँ के समाज का निर्माण किया वे कालान्तर में शाश्वत सिद्ध हुए। उन्हीं ने हमारे समाज को अमर कर दिया। वे सभी समय के लिये समान रूप से उपयोगी सिद्ध हुए। पुर्ण की चट्टानों पर धैर रहता हुआ यह समाज आगे बढ़ा। कालान्तर में अनेक विदेशी तत्वों से उसका संपर्क हुआ। उनसे उसे शक्ति मिली, नवजीवन मिला, प्रेरणा मिली किन्तु समाज

समाज ने अपने मूलतत्त्वों का - सांस्कृतिक उत्तराधिकार का - पूर्णतः परित्याग
 कभी भी नहीं किया। अपनी प्राचीन परम्पराओं और जीवन के शाश्वत तत्त्वों
 तथा वर्तमान परिस्थितियों में यथोचित समन्वय करके अपनी कायापलट करता
 हुआ नवीन संजीवनी शक्ति, नवचेतना, नवस्कृति प्राप्त करता हुआ ही मार-
 तीय समाज जाने बड़ा है। उसने न प्राचीन की पूर्ण उपेक्षा और तिरस्कार किया
 है और न नवीन का निरादर। साथ ही, न सदैव प्राचीन से ही चिपका रहा
 है और न नवीन पर पूर्णतः लुब्ध होकर उसी रंग ही में रंग गया है। उसकी
 दृष्टि दोनों में सुन्दरतम सन्तुलन बनाये रखती है। यही उसकी अमरता और
 अक्षय संजीवनी शक्ति का रहस्य है। अपने समाज के तात्कालिक विकास उन्नति-
 समृद्धि के लिये भारत का समाज प्राचीन के असाध्यिक, अनुपयोगी एवं निरर्थक
 तत्त्वों का परित्याग धीरे धीरे कर देता है और इस कार्य में जो प्रवृत्तियाँ बाधक
 बनकर सड़ी होती हैं उनका विरोध होता है। साथ ही, इसी उद्देश्य से
 प्रेरित होकर वह नवीन तत्त्वों के उन अंशों का, जो उपयोगी, अनिवार्य और
 समयावकूल होते हैं, धीरे-धीरे, सतर्कतापूर्वक और उदारतापूर्वक स्वागत करता
 करता है। इसके लिये जिस शक्ति या सुख की आवश्यकता है वह समाज की
 विभिन्न सहयोगी एवं विरोधी प्रवृत्तियों के घात-प्रतिघात, क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं
 से प्राप्त हो जाती है। तात्कालिक परिस्थितियों की पारस्परिक गतिविधियाँ
 एवं उनकी प्रतीक शक्तियाँ हम में वह अन्तर्दृष्टि सक्रिय कर देती हैं, वह सुख
 पैदा कर देती हैं, वह समझ ला देती हैं कि हम एवं हमारा समाज कल्याण-
 मार्ग की ओर-उचित दिशा की ओर चल पड़ता है।

सामाजिक परिप्रेक्ष्य

जब हम बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध की अपनी संस्कृति का अध्ययन
 एवं विश्लेषण करने तथा उनसे निष्कर्ष प्राप्त करने के लिये अग्रसर होते हैं तब हमें

संस्कृति भैरन्तर्य के कारण, अपना अध्ययन तैंतालीस वर्ष पीछे या और ठीक कहें
 तो, कभी कभी एक सौ तैंतालीस वर्ष पीछे तक सींच ले जाना पड़ता है। कारण
 यह है कि बीसवीं शताब्दी की कुछ प्रवृत्तियों का सूत्रपात एक सौ तैंतालीस वर्ष
 पीछे से कर दिया था। हमारे समाज की जो अवस्था आज हो गई है उसको
 ठाने का दायित्व जिन बातों पर है, उनका प्रारम्भ हमारे समाज में अंगरेजों ने
 लगभग एक सौ तैंतालीस वर्ष पहले ही कर दिया था। बीज उस समय बोया
 गया था, बुध आज उगा है। उदाहरण के लिये, इस युग में हमारी जो आर्थिक
 दुर्दशा दिखाई पड़ रही है, उसका एक कारण है अंगरेजों की स्वार्थवृत्ति और
 भारत का उनके धारा होने वाला मयानक आर्थिक शोषण है। यह आर्थिक
 शोषण वस्तुतः मुगल सम्राट् फर्रुखसियर के समय से ही प्रारम्भ कर दिया गया
 था। परिणाम यह है कि यदि आज के आर्थिक शोषण को सही ढंग से समझना
 है तो अध्ययन को उतने पीछे तक - जब अंगरेज यहाँ आये थे और उन्हें व्यापार
 करने की आज्ञा मात्र मिल पाई थी - ले जाना पड़ेगा। सामान्यतः बीसवीं
 शताब्दी की समस्त प्रवृत्तियों का उदय १८५७ ई. के स्वातंत्र्य संग्राम तथा उसके
 कुछ दशादिधियाँ बाद के लगभग हो गया था। आलोच्य काल के अन्दर उन्होंने
 से कुछ में अधिक तीव्रता आ गई और कुछ मन्द होगई। उदाहरणार्थ, अंगरेजी
 राज्य के प्रति असन्तोष, अत्याचारी अंगरेजों एवं उनके सहयोगी भारतीयों के
 प्रति राष्ट्रवादियों के अन्दर हिंसाप्रधान आक्रोश, अपने समाज के सर्वतोमुखी
 कल्याण की भावना और इस विश्वास में हो सकने वाले प्रयत्नों का प्रारम्भ उसी
 युग से प्रारम्भ हो गया था। आलोच्य काल में आकर इनकी गति बहुत अनेक-
 पूर्ण हो गई। राजभक्ति का स्वर उस युग में भी था और इस युग में भी रहा
 किन्तु उस युग में अत्यधिक प्रसर एवं मुक्ति था और इस युग में शीघ्र एवं निष्प्रभ
 रह गया। अस्तु, १८५७ के अथवा उससे भी पहले की अवस्थाओं का अध्ययन
 इस आलोच्य काल की अवस्थाओं के अध्ययन की अनिवार्य पृष्ठभूमि - अनिवार्य
 रूप से संबन्धित - बन जाता है। इन्हीं सब का मन पर यह प्रभाव पड़ता है

जो साहित्य लिखने की प्रेरणा देता है।

१८५७ से १९०० तक का युग

बीसवीं शताब्दी की अवस्थाओं की पृष्ठभूमि के रूप में जब हम इस काल के पहले की अवस्था का अध्ययन करते हैं तब हमको तब होता है कि उस युग में समाज के अन्दर दो प्रवृत्तियाँ प्रधान रूप से सक्रिय थीं। पहली प्रवृत्ति थी अपने समाज की युगों युगों से चली आती हुई रूढ़ियों और परम्पराओं के पालन की। उस युग में हमारा समाज मध्ययुगीन अवस्था से निकल कर आधुनिक युग में आ रहा था। परिस्थितियाँ परिवर्तित हो चली थीं। अंगरेजों की राज्य-स्थापना के साथ-साथ ही मध्ययुगीन परिस्थितियाँ जा चुकी थीं। बातावरण बदलने लगा था। नवीनयुग का आभास लगी मिलने लगा था। इतना सब होने पर भी मध्ययुगीन परिस्थितियों से निर्मित मनोवृत्तियों का अभाव नहीं हो सका था। व्यक्ति अपने जीवन को अब भी उन्हीं दृष्टिकोणों से परिचालित कर रहा था जिनसे वह आज से पहले करता रहा। आस्था, विश्वास, रहन-सहन, रीति-रिवाज, सान-पान आदि क्षेत्रों में समाज का अधिकतम भाग मध्ययुगीन मान्यताओं को ही अपनाये रहा।

समाज में दो वर्ग थे। एक वर्ग परम्पराओं का अंधानुकरण कर रहा था। यह वर्ग अंधविश्वासी था। यह काल की प्रवृत्तियों के परिवर्तन के अनुरूप अपने को परिवर्तित करने के लिये तैयार नहीं था। पंडे, पुजारी, गोसाईं आदि इस वर्ग का विश्वास यह था कि आत्मवचनों के अक्षरः पालन करने से ही भारत का कल्याण हो सकता है। यह वर्ग परम्परा से प्राप्त सभी मान्यताओं एवं मानदंडों का कटुतर समर्थक था। रामाचरण गोस्वामी और बालमकन्द मल्ल आदि की कविताओं में इसके प्रमाण मिलते हैं :-

धर्मचार पद नसी बसी सुरपति पुर जाके
 कर्म गयो उडि सून्य लोक सन्निधि ब्रह्मा के
 योग गयो कैलास वंशु ने लियो ठठा के
 भक्ति लई बैकुंठ पारषद जन अकुला के

.....

भारत भारत हूँ रह्यो अति भारत कलि काल में¹

ये लोग यज्ञ-याग, पतिरपिंड एवं फारसी के अध्ययन तक को बुरा मानते थे -

यज्ञ-याग सब भेट भेट मरने को चातुर
 पितर पिंड नहीं देत यवन - सेवार्थे चातुर
 पडे जनम तै फारसी छांड-वेद मारन दियो²

.....

माता दादी नानी चाची फूकी घर की नार
 कोई विधवा को (हो ?) हम उसकी दादीपर बैठ्यार
 मला हम बीजन छोडे विधवा का

समाज में दूसरा वर्ग उन लोगों का था जो युग के अनुकूल आवश्यक परिवर्तनों एवं अनिवार्य सुधारों के पक्षपाती थे। इनमें से कुछ लोग आर्यसमाज आन्दोलन से प्रभावित थे और कुछ प्रगतिशील या उदार दृष्टिकोण वाले समा-
 तनी थे। महात्मा मुंजीराम पहले वर्ग के प्रतिनिधि माने जा सकते हैं और
 भारतेन्दु हरिश्चन्द्र दूसरे वर्ग के। इन दोनों में वस्तुतः कोई विशेष अंतर नहीं
 था। ये लोग बड़े पुंस के साथ सामाजिक दोषों का वर्णन करते हैं। धार्मिक
 चाद-विवाद, बाल-विवाह, विधवा-विवाह न होने देना, जाति-पाँति का
 भेद-भाव, अंधविश्वास, समुद्रयात्रा निषेध, शराब आदि मादक द्रव्यपान, हुआ-
 हूत, स्त्रीशिक्षा का अभाव, पदार्थ, अविधवा, अपनर्षों के शासन की कमी आदि

से ये कवि व्यपित होते थे। "प्रेमघन" ने स्पष्टरूप से घोषणा की :-

"आवश्यक समाज-संशोधन करो, न देर लगाओ"^१

प्रताप नारायण मिश्र ने लिखा :-

निज धर्म मली विधि, जानै, निज गौरव को पहिचानै
स्त्रीगणको विदधा देवै, करि पतिव्रता यत् लेवै।^२

.....

बाल ठयाह की रीति मिटाओ रहे लाली मुंह छाव।^३

.....

विधवा बिलपै नित धेनु कटै कोठ लागत छाव गौहार नहीं
कोठ मूरत हिंदुन को ठगि के निज निंषित उिध्य बनावत है^४

इस दृष्टि से भारत-दुःख हरिश्चन्द्र की "भारत-दुर्दशा" नामक कृति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। प्रतापनारायण मिश्र की 'तृप्त्यन्ताम्', 'प्रेमघन' की 'जीर्णजनपद', आदि अनेक रचनाएं की गईं। इन सब का उद्देश्य था जनता को उसकी सांस्कृतिक दुर्दशा का ज्ञान कराना, जन-मानस को इस तरह का बना देना कि वह सुधार आन्दोलनों के लिए तैयार हो जाय। जन-जीवन में होने वाले सुधारवादी इन विचारधाराओं ने संस्कृति के नवीन चरणों के वर्णन कराये तथा साहित्य में उनकी अभिव्यक्ति की। प्राचीन परम्पराओं के अन्धानुकरण का सर्वत्र स्वागत नहीं हुआ। सुधारवादी कवियों ने उसका विरोध किया। इस प्रकार परम्परा से प्राप्त मान्यताओं में से अनावश्यक तत्वों के विरोध तथा समाज में युगानुसूत सुधार की प्रवृत्तियों के द्वारा नवीन भारत के लिये एक जीवन दृष्टि बनी।

१. 'आनन्द अल्लोष्य',

२. 'प्रेमसुष्यावली'

३. 'होली है'

४. 'मन की लहर'

यदि एक ओर भारतीय जनमानस अपनी शास्त्रीय परम्पराओं से अनु-
 प्रेरित होता था तो दूसरी ओर यह अथवा, उसका एक भाग विदेशी तत्वों के
 प्रभावों को भी ग्रहण करने के लिये उत्सुक रहता था। ये तत्व विशेष रूप से
 उन संस्कृतियों के हैं जिनकी प्रतिनिधि जातियों का राज्य-शासन भारतवर्ष के
 ऊपर स्थापित हो गया था। मध्ययुग में मुसलमानों ने भारत पर शासन किया
 और इस्लामी संस्कृति का भारतीय जन-जीवन पर गत या अगत रूप से पर्याप्त
 प्रभाव पड़ा। उन्नीसवीं शताब्दी में इस्लामी शासकों की प्रकृति-प्रवृत्ति पतन-
 शीला हो गई और १८५७ में भारत पर अंगरेजों का आधिपत्य हो गया। यहाँ
 से इस्लामी प्रभावों का पड़ना प्रायः समाप्त हो जाता है और भारतीय जन-
 जीवन 'सात समुन्दर पार' की सर्वथा अपरिचित और पूर्णतः विभिन्न पार्श्वात्य
 संस्कृति के प्रभाव क्षेत्र में आने लगता है। नवीन शासकों ने भारतवर्ष में अपने देश
 की जीवन-विधियाँ और व्यवस्थाओं का प्रचलन प्रारम्भ कर दिया जिसका अंतर्गत
 गत्वा अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि हमारी जीवन-दृष्टि ही बदलने लगी।
 कृपा, महत्त्व और सुविधाएं प्राप्त करने के लिये सांसारिक मनोवृत्ति वाले व्यक्ति-
 योंका शासकों के रंग-ढंग का अनुकरण स्वाभाविक होता है। शासकों ने अपना
 शासन स्थापित करके मध्ययुगीन भारत की राजनीतिक अव्यवस्थाओं और तज्जनित
 अशुविधाओं से जन-जीवन को मुक्त कर दिया था। साथ ही, वह नवीन जाति
 मध्ययुगीन मनोवृत्तियों वाले भारत के लिये एक सर्वथा नवीन एवं पर्याप्त आक-
 र्शक सम्यता लेकर आई थी। राजनीतिक क्षेत्र में विरोधियों के दूरतापूर्वक घमन
 ने उनकी शक्ति का सिकका हमारे मन पर जमा दिया था और विपक्षी रिया
 की सुप्रतिष्ठ घोषणा ने उनकी भलमनसाहत पर हमें विश्वास करा दिया था। इन
 सबका परिणाम यह हुआ कि हमारे समाज का नवयुवक वर्ग बड़ी तेजी से उनका
 अनुकरण करने लगा। यह अनुकरण स्वस्थ ढंग से भी हुआ और विकृत ढंग से भी।
 जिस अनुकरण के कारण हम 'अपनपों' भूलकर उनके सांस्कृतिक पास बनने लगे यह
 विकृत ढंग का अनुकरण था। इस प्रकार के अनुकरण का विरोध समाज के सभी सम-

बार व्यक्तियों ने किया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने लिखा :-

पंडि विद्या परदेस की बुद्धि विदेसी पाय
बाल चलन परदेस की गई इन्हें अतिमाय
अंगरेजी बाहन बसन वेष रीति औ नीति
अंगरेजी रुचि गृह सकल वस्तु देस विपरीत
सब विदेसी वस्तु, नर, गति, रति-रीति लजात
भारतीयता कहु न अब ^{न-अब} भारत में परसात
हिंदुस्तानी नाम सुनि अब ये स्फुटि लजात
भारतीय सब वस्तु ही सौं ये हाय घिनात^१

अम्बिका बत ठयास कहते हैं :-

पहिरि कौट पतलून बूट अठ हैट धारि सिर
मालू परबी बरचि लवैहर को लगाइ फिर
नई विदेसी विद्या ही को मानत सर्वस
संस्कृत के मुहु बचन लगत इनको अति कर्कस^२

जो अनुकरण स्वस्थ ढंग से हुआ उसका स्वागत किया गया। बाबा
माई नौरोजी पार्लियामेंट के सदस्य चुने जाते हैं तो "प्रेमघन" प्रसन्न होकर
हार्यक बधाई देते हैं। "प्रेमघन" ने नये शासन की गुमावली माई है :-

जहाँ काफले लुटत रहे सौजन्य किये हूँ
जिन दुर्गम थल माँहि नयी कोऊ नहिं कबहूँ
रेल या न परमाय अंधीरी रातहूँ निधरक
बंध पैंगु अस्हाय जात बालक जबला तक
तडित-गैसपरकास राजपय रजनि मुहाय
महा महा नय माँहि सेतु सुन्दर बंधवाय

१. "आर्याभिनयन", पृ. ५।

२. "मन की उमंग"; "भारतधर्म"

बने विश्व विद्यालय विद्यालय पाठालय

पावत प्रजा अलम्ब्य लाभ जिनते बिन संसय¹

इन सबके होते हुए भी यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि समग्र रूप में पार्श्वात्मीय जीवन-दृष्टि भारतीय विचारकों को पूर्णतः कभी भी स्वीकृत नहीं हुई। इसका कारण यह है कि उसकी प्रकृति हमारी ^{प्रकृति} से भिन्न है। "अपनर्पों" को जागृत करने की मांग ब्रूल रूप से भारतीय समाज में प्रचलित होने वाली पार्श्वात्मीय दृष्टि की प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप ही उत्पन्न हुई है।-

निज धर्म कर्म व्रत नेम न्क्ति बृढ चित्त हृषे पालन करें

नहिं 'आपनर्पों' विसराय के जान और सपनेहुं ठरें²

उपर्युक्त उद्धरण का "जान और" पंख अत्यन्त महत्वपूर्ण है और पार्श्वात्मीय दृष्टिकोण की ओर संकेत करता है। इसी प्रतिक्रिया ने हमारे अन्तर राष्ट्रीय दृष्टिकोण जागृत करके उसे युग की महत्वपूर्ण प्रवृत्ति बना दिया। भारतीय युग से लेकर सम्पूर्ण आलोच्य काल में भारत की आत्मा अक्षण्डरूप से प्रधानतः राष्ट्रीय रंग में रंगी रही और साहित्य में राष्ट्रीयता के स्वर ही प्रधान रहे। इस स्वर के स्वरूप भिन्न भिन्न अक्षर रहे हैं। कभी प्राचीन भारत की ^{महत्ता} महत्ता के गुण-गान के रूप में यह भावना अभिव्यक्त हुई, कभी वर्तमान काल की दुर्दशा के चित्रण के रूप में, कभी अंगरेजों की स्वार्थ नीति के प्रति अभिव्यक्ति आक्रोश के रूप में, कभी भारत देश की प्राकृतिक विशेषताओं के गुणानुवाच के रूप में, कभी उद्बोधन और आह्वान के रूप में, आदि।

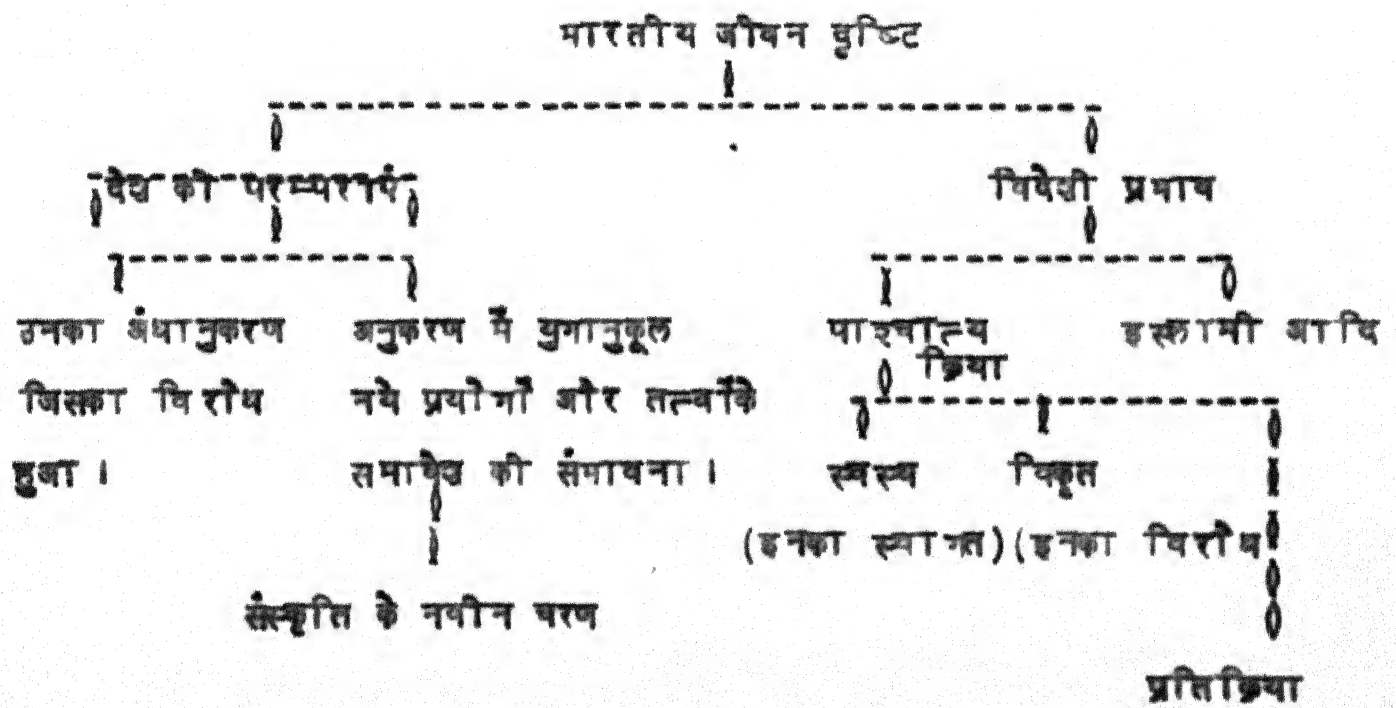
उपर्युक्त सभी प्रवृत्तियाँ आलोच्य काल में सक्रिय रहीं। अस्तु आलोच्य काल की भारतीय जीवन दृष्टिके विभिन्न तत्त्व निम्नलिखित हुए:-

1. 'स्वागत है' शीर्षक कविता

2. बालमुनिव्य गुप्त कृत स्तुत कविता- रामचन्द्र, पृ. 151

- (१) भारतीय परम्पराओं के अंधानुकरण का विरोध
- (२) भारतीय परम्पराओं के अन्दर युगानुकूल सुधार और नये प्रयोग।
- (३) पाश्चात्य प्रभावों के अकल्याणकारी अंशों का विरोध।
- (४) पाश्चात्य प्रभावों के स्वस्थ एवं कल्याणकारी अंशों का स्वागत।
- (५) पाश्चात्य संस्कृति रंग में पूर्णतः रंग जाने की प्रवृत्ति का विरोध

इसे हम यों भी देख सकते हैं :-



उपयुक्त प्रवृत्तियाँ का समुचित समन्वय अभी नहीं हो पाया है। अभी समाज और साहित्य में इनकी क्रियाएं-प्रतिक्रियाएं ही चल रही हैं। यही कारण है कि आलोच्य काल की संस्कृति सैक्रान्तिकालीन संस्कृति है और उसकी पृष्ठभूमि में निर्मित साहित्य सैक्रान्तिकाल का साहित्य समझा जाना चाहिए।

अध्याय-१

संस्कृतिक भेदना के आधार

(प्रश्न १ से ६२ तक)

हिन्दी साहित्य की व्युत्पत्ति का अर्थ -- संस्कृति का अर्थ -- संस्कार क्या है -- उच्चता और संस्कृति -- उच्चता और संस्कृति तथा कलाकारों की भूमिका -- संस्कृति के सम्वन्ध में विद्वानों के विचार -- विभिन्न व्याख्याओं के विभिन्न तथ्य -- परिभाषाओं का विवेचना -- निष्कर्ष -- संस्कृति और उच्चता का सम्वन्ध -- प्रसूत प्रबन्ध में उल्लेखित गया संस्कृति सम्वन्ध का दृष्टिकोण -- भारत की जातीय विशेषता -- भारतीय संस्कृति -- पश्चात्त्य संस्कृति का स्वरूप -- पश्चात्त्य संस्कृति की विशेषताएं -- दोनों संस्कृतियों में संघर्ष और सन्धि-विन्दु -- स्मृति का संस्कृति --

सांस्कृतिक चेतना के आयाम

हिन्दी साहित्य की व्यञ्जनात्मक अभिव्यक्ति

हिन्दी साहित्य एक प्रकार से भारतवर्ष का राष्ट्र-साहित्य है। भारतवर्ष की आत्मा का प्रतिनिधित्व करने की क्षमता रखने वाला यह साहित्य बहुत ही महत्वपूर्ण है। इस साहित्य में स्थानीय विविधताओं के होने पर भी प्रांतीयतावाद का दोष नहीं मिल सकता। इसमें समस्त भारत वर्षका दर्शन सुलभ है। इसमें भारतवर्ष के सभी वर्गों का, समस्त प्रांतों का, भारतवर्ष की दीनता और निर्धनता का, भारतवर्ष के तेज और गौरव का, भारतवर्ष के आन्दोलनों और संघर्षों का, भारतवर्ष के हृदय की विद्यालता का, मन की छटपटाहटों का, एवं आत्मा की, अन्तरता का चित्र मिलता है। बड़ा अनोखा साहित्य है यह। अस्तु, इस साहित्य को समझने के लिये इस राष्ट्र की संस्कृति का अध्ययन अनिवार्य है। भारतवर्ष की संस्कृति को समझे बिना हिन्दी साहित्य का वास्तविक महत्व न समझ सकते हैं और न इसका सही मूल्यांकन कर सकते हैं।

‘कृ’ का अर्थ है ‘करना’।

‘संस्कृति’ शब्द संस्कृत भाषा के ‘कृ’ धातु से बना है। ‘कृ’ का अर्थ है ‘किया हुआ’ और ‘कृति’ उसकी भाववाचक संज्ञा है। ‘सं’ उपसर्ग से इस ‘कृति’ में ‘मलीमांति’ का, ‘सम्बन्ध रूप से’ का अर्थ आ जाता है। यह परिष्कृत एवं परिमार्जित करने के भाव का सूचक है। तब ‘संस्कृति’ का अर्थ हुआ ‘सम्बन्ध रूप से, मली प्रकार से, किये गये या बने हुए कुछ कार्यों का भाव-रूप।

संस्कृति का अर्थ

ठीक इसी की बात पी.के. आचार्य ने भी लिखी है,

‘संस्कृति’ शब्द ‘सम्’ उपसर्गपूर्वक ‘कृ’ धातु से निष्पन्न होता है। यह परिष्कृत एवं परिमार्जित करने के भाव का सूचक है।^१ संस्कृति के लिये अंगरेजी में ‘कल्चर’ शब्द का प्रयोग होता है। उसकी व्याख्या करते हुए बलदेव उपाध्याय ने लिखा है, ‘कल्चर’ शब्द लैटिन भाषा के ‘कुल्टुरा’ शब्द से निकला है जिसका अर्थ पौधा लगाना या पशुओं का पालन करना है। इसका मुख्य अर्थ होता है मस्तिष्क तथा उसकी शक्तियों को विकसित करना। शिक्षा तथा शिक्षण के द्वारा मानसिक वृत्तियों को सुधारना।^२ ‘संस्कृति’ शब्द का भी अर्थ है मनको, हृदय को तथा उनकी वृत्तियों को संस्कार के द्वारा सुधारना तथा उदात्त बनाना। हजारप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, ‘कहते हैं, अंगरेजी के प्रसिद्ध प्रबंध लेखक बेकन ने इस शब्द को ‘मानसिक सेती’ के अर्थ में प्रथम बार प्रयोग किया था। इससे यह सिद्ध होता है कि अंगरेजी और हिन्दी दोनों ही भाषाओं में संस्कृति संज्ञा लगभग एक ही भाव का द्योतन करती है।’^३

संस्कृति क्या है?

गुलाबराय ने कहा है, ‘संस्कृति का संबंध संस्कार से है जिसका अर्थ है संगोपन करना, उत्तम बनाना, परिष्कार करना... जातीय संस्कारों को ही संस्कृति कहते हैं।’^४

संस्कार क्या है? ‘कृ’ धातु से ‘कार’ बनता है जो ‘कर्म’ ‘उपसर्ग’ से युक्त

१. ‘भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता’, पृ. १

२. ‘नार्य संस्कृति’, पृ. ४१४, ४१५

३. ‘सभ्यता और संस्कृति’, पृ. ५

४. ‘भारतीय संस्कृति की रूपरेखा’, पृ. १

होकर 'संस्कार' हो जाता है। व्यक्ति के रूप में हम इसे या समझ सकते हैं कि किसी एक व्यक्ति की चेतना पर तात्पर्य यह कि मनपर एक जीवन में या अनेक जीवनों में किये गये कार्यों का, वातावरणों का, जो अमिट प्रभाव पड़ता है उसे संस्कार कहते हैं। उन वातावरणों में पले हुए प्रायः सभी व्यक्तियों की अन्तः चेतना पर वातावरणों का प्रभाव लगभग एक-सा पड़ेगा। परिणाम यह होगा कि इन व्यक्तियों से जो समाज बनेगा उस समाज की मुख्य प्रवृत्तियों का आधार व्यक्तियों की अन्तः चेतना पर पड़ा हुआ यही प्रभाव होगा। युगों युगों के पश्चात् उस समाज के अनेक स्थितियाँ एवं परिस्थितियाँ से - क्रियाओं-और प्रतिक्रियाओं से गुजर जाने के पश्चात् इस प्रभाव का अनावश्यक, अस्थायी, एवं तत्त्वहीन अंश नष्ट हो जाता है और तब जो कुछ बच जाता है वह ऐसा होता है जो फिर मूलरूप से तो कभी भी नष्ट नहीं होता। हाँ, कुछ प्रमुख एवं आधारण समसामयिक परिस्थितियाँ ऐसी अवश्य होती हैं जो उस 'प्रभाव' को कुछ अंशों तक पुनः प्रभावित करने लगती हैं। कभी कभी तो ऐसा लगने लगता है जैसे वह 'प्रभाव' मूलतः परिवर्तित हो जायगा किन्तु ऐसा होता नहीं। कारण यह है कि उताड़ियोंसे अनुभूत वह मूल 'प्रभाव' ही उस समाज विशेष को उन आधारण परिस्थितियों में जीवित रहने और महत्वपूर्ण कार्य-सम्पादन करने की शक्ति देता है। वह प्रभाव ही उसका अपना तत्त्व होता है एवं उसका अपनापन होता है जिसे लौकर कोई भी व्यक्ति या समाज अपने व्यक्तित्व एवं अस्तित्व की विशिष्टता से बैठता है, उसका कोई भी महत्व नहीं रह जाता, और वह 'पर' में विलीन हो जाता है क्योंकि उसका 'स्व' कुछ भी नहीं रह जाता। किसी भी व्यक्ति में यह सामर्थ्य नहीं पाया जाता कि वह जाति से आज तक चले आतेहुए इन मूल प्रभावों एवं मौलिक तत्त्वों से अपने को अलग रख सके।

इन तत्त्वों प्रभावों अथवा मूल तत्त्वों की पुच्छभूमि में अथवा आधिप अवस्था में भौगोलिकता का प्रभाव अनिवार्य तथा महत्वपूर्ण है।

पडता है। गर्म तथा प्राकृतिक सौन्दर्य और वैभव^{वार} प्रदेश में रहने वालों के रहन-सहन, रीति-रिवाज, सान-पान, वस्त्र-आवास, व्यवहार-व्यवसाय के अतिरिक्त उन के स्वभावों, उनके सोचने की दृष्टिओं और विचारों उनकी आस्थाओं और विश्वासों तथा उनकी धारणाओं और मान्यताओं में जो विशिष्टताएं पाई जाएंगी वे ठंडे एवं मरुभूमि के निवासियों में नहीं पाई जा सकतीं।

सम्यक्ता और संस्कृति

इन प्रभावों की दो विशेष विशेषताएं होती हैं। एक विशेषता यह होती है कि उस भू-भाग विशेष के अन्दर रहने वाले समाज विशेष के व्यक्ति कुछ छोटे से, छोटे-मोटे, महत्वहीन, सारहीन एवं मौलिक तत्त्व-विहीन विभिन्नताओं के बावजूद भी एक विशेष ढंग से मकान बनाते हैं, एक विशेष प्रकार की वेशभूषा अपनाते हैं, एक विशेष प्रकार का उनका रहन-सहन होता है, एक विशेष प्रकार की उनकी शासन-व्यवस्था होती है और एक विशेष प्रकार के ही उनके रीति-रिवाज होते हैं, इत्यादि। प्रभाव की दूसरी विशेषता अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण होती है। इस विशेषता में हम यह पाते हैं कि जीवन सम्बन्धी उनका अपना दृष्टिकोण एक विशेष प्रकार का हो जाता है। बाह्य-वातावरण को देखने और समझने की उनकी अपनी एक विशेष दृष्टि हो जाती है। उनका भाव, उनका स्वभाव, उनकी मान्यताएं उनकी धारणाएं, उनके विश्वास, उनकी आस्थाएं, आदि एक विशेष प्रकार की हो जाती हैं। ये ऐसी होती हैं जो उनको (उस समाज और उसके समस्याओं की) एक विशिष्टता प्रदान करती हैं। उन्हें दूसरों से अलग करती हैं। उनकी ये विशिष्टताएं अवाध्यमिता से प्रवहमान सरिताधारा की तरह होती हैं जिसमें सामयिक परिस्थितियों की छोटी-मोटी सहायक नदियां आ-जाकर मिला करती हैं और उसे समृद्ध करती रहती हैं किन्तु उसके मूलको

आमूल परिवर्तित कर सकने में असमर्थ रहती हैं। मुख्यांश उनकी अपने में आत्म-सात् कर-करके बलवती, स्फूर्तिबन्धी एवं संप्राप होती रहती है। प्रभाव की पहली विज्ञा सत्यता है, और दूसरी विज्ञा, संस्कृति। दूसरी का अध्ययन पहले के बिना असंभव एवं अपूर्ण होता है और, इन दोनों के अध्ययन के बिना किसी समाज विवेचन एवं व्यक्तिविवेचन की प्रवृत्ति एवं प्रकृति का - उस की मलीमांति समझने का - प्रयास अधूरा, अस्फुट एवं भ्रामक सिद्ध होता है। दोनों एक पक्ष के दो पृष्ठों के समान होते हैं। हजारों प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि 'सत्यता का आंतरिक प्रभाव संस्कृति है।' ¹ इसी पुस्तक के चौथे पृष्ठ पर उक्त विद्वान् लेखक ने यह भी लिखा है, 'सत्यता और संस्कृति भी एकदूसरे के पूरक हैं।'

सत्यता और संस्कृति तथा कलाकार की चेतना

इन्हीं दोनों से मिलकर किसी व्यक्ति - संवेदनशील कलाकार - की उस चेतना का निर्माण होता है जिससे वह किसी को देखता और समझता है और संवेचना ग्रहण करता है। संवेचना ग्रहण करने की प्रक्रिया और उसके स्वरूप के विभिन्न तत्व भी इन्हीं दोनों से पर्याप्त एवं निर्धारित होते हैं। वचन से वह जो कुछ देखता और सुनता है, उसे जो कुछ समझाया और बताया जाता है, उसे जो कुछ लिखाया और पढ़ाया जाता है उसी के सहारे वह करना, देखना, सोचना और समझना प्रारम्भ करता है। मात्रा में न्यूनता अथवा अधिकता हो सकती है किन्तु स्वरूप और प्रकार एक-सा होता है। दूसरे की परीक्षा-लिखे एवं बुद्धि-प्राप्त सिद्धान्त एवं आदर्श उसकी आमूल परिवर्तित करने में असमर्थ रहते हैं। कलाकार की कृति की पृष्ठभूमि यही होती है और इसीलिये कलाकार की कृतियों को समझने के लिये इनका

1. 'सत्यता और संस्कृति', पृष्ठ. ६९९।

अध्ययन अनिवार्य होता है। इसे न समझ पाने पर उसका प्रतीति समझ सकना असंभव है। इसको पूरी तरह से समझ कर इसके मूलतत्त्वों को आधार बनाकर चलने से उनकी पथ के सम्बल रूप में स्वीकार करने से ही किसी व्यक्ति, समूह और राष्ट्र की उन्नति हो सकती है, लक्ष्य-प्राप्ति हो सकती है, कल्याण हो सकता है अन्यथा यह सब असंभव है। इन्द्रकिटा-वाचस्पति का मत है - "जो लोग संस्कृति को मारकर राष्ट्र को जिन्दा रखना चाहते हैं वे असंभव को सम्भव बनाना चाहते हैं"।

संस्कृति के संबंध में विद्वानों के विचार

संस्कृति के सम्बन्ध में विद्वानों ने निम्नलिखित विचार प्रकट किये हैं :- "संस्कृति जिन्वनी का एक तरीका है और यह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है जिसमें हम जन्म लेते हैं" - विन्कर।

महादेवी वर्मा ^{लिखा} ने है, "संस्कृति विकास के विविध रूपों की समन्वयात्मक समष्टि है।"

इन्द्र किटावाचस्पति का मत है :- "किसी देश की आध्यात्मिक, सामाजिक और मानसिक विभूति को उस देश की संस्कृति कहते हैं... संस्कृति शब्द में देश के धर्म, साहित्य, रीति-रिवाज, परम्पराओं, सामाजिक संगठन, आदि सब आध्यात्मिक और मानसिक तत्वों का समावेश होता है। इन सबके समुदाय का नाम संस्कृति है"।

१. "हिन्दू संस्कृति की रक्षा", पृ. ६९९

२. "संस्कृति के चार अध्याय", पृ. ६५३

३. "कर्मका", पृ. २३

४. "भारतीय संस्कृति का प्रभाव", पृ. १

सुमित्रानन्दन पंत ने लिखा है, "संस्कृति को मैं मानवीय पदार्थ मानता हूँ जिसमें हमारे जीवन के सूक्ष्म-स्थूल दोनों धरातलों के सन्ध्या का समावेश तथा हमारे उर्ध्व चेतना-क्षिति का प्रकाश और समष्टि जीवन की मानसिक उपत्यकाओं की छायाएं गुंफित हैं। उसके भीतर अध्यात्म, धर्म, नीति से लेकर सामाजिक रुढ़ि, रीति तथा व्यवहारों का सौंदर्य भी एक अंतर सामंजस्य ग्रहण कर लेता है।"

संस्कृति की व्याख्या करते हुए हजारि प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, "जो व्यक्ति के अन्तर का विकास हो....., मनुष्य के अतीत के आधार पर जिसकी दृष्टि हो, जो दूर की और दृष्टि रखती हो, "व्यवस्था के अतीत पर" दृष्टि रखती हो, जो "स्वाधी" हो वह संस्कृति है।"

जी. एस. पुरे महोदय का मत है कि संस्कृति वह कवच है जो जीवन-युद्ध की कठोरतम वास्तविकताओं का वीरतापूर्वक सामना करने के प्रयत्नों में सहायक होता है।"

जगद्गुरु संकराचार्य प्रभु श्रीज्योतिष्पीठाधीश्वर स्वामी श्री प्रज्ञानेश्वर सरस्वती जी महाराज ज्योतिर्मठ बरारिकाश्रम ने लिखा है, "मनुष्य की वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक आदि सभी क्षेत्रों में लौकिक - पारलौकिक अन्वेषण के अनुकूल वेहेन्द्रिय, मन-बुद्धि, चित्ताहंकार की चेष्टा ही उसकी मूलमूल सम्पूर्ण चेष्टा या संस्कृति है। (वेहेन्द्रिय की समस्त चेष्टाएं "आचार" के क्षेत्र में और मन-बुद्धि-चित्ताहंकार की चेष्टाएं "विचार" के क्षेत्र में अंतर्गत कही जाती हैं, इसलिये) संक्षेप में कहा जा सकता है कि

१. 'उत्तरा', पृ. १५

२. 'संस्कृति और संस्कृति', पृ. ४

३. 'कल्पर पैड सोसायटी', पृ. १२०

मनुष्य के लौकिक-पारलौकिक सर्वाध्युष्य के अनुकूल आचार-विचार ही संस्कृति है।^१

रामजी उपाध्याय ने संस्कृति की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "अध्युष्य के पथ पर निरन्तर प्रगति करते रहना मनुष्य के सांस्कृतिक जीवन की प्रथम प्रवृत्ति है।^२" इस प्रवृत्ति के अनुसार मनुष्य की प्रगति पर विचार करते हुए उसी पृष्ठ पर उन्होंने लिखा है, "मानव ने अन्य प्रकार की अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये योग - कर्म^{से} आत्मा और परमात्मा का अनुभव किया है, शिल्प और कला की परत की है, विज्ञान का अनुशीलन किया है और समाज की सुव्यवस्था के लिये योजनाएं बनाई हैं..... इस साधना के पीछे उसकी बुद्धि, वाणी, सौंदर्यभावना और सहाय्युक्ति की निरन्तर अपेक्षा रहती है। इनको सतत उच्चतर स्तर पर प्रतिष्ठित करते हुए ही मानव अपने व्यक्तिगत और सामाजिक सुख-सौंदर्य की सृष्टि करता है। मनुष्य की यही प्रवृत्ति उसकी संस्कृति है।^३" इसी विद्वान ने लिखा है कि "मानव की सहाय्यता और बुद्धि के वैभव का विकास ही संस्कृति है।^४

संस्कृति पर जीन अपना निश्चित मत देते हुए राधाकृष्णन ने लिखा है, "संस्कृति उत्पादन के साधनों की बाहरी रूपरेखा मात्र नहीं है हालांकि माकर्सवादी संस्कृति को यही समझते हैं।^५" उनका विचार है कि

१. 'कल्याण' पत्रिका का हिंदू संस्कृति शंक, पृ.

२. 'भारतीय संस्कृति की साधना', पृ. १

३. 'यही, यही

४. 'भारतीय संस्कृति का उत्पादन', पृ. ३

इसमें तो आदर्श, विश्वास, आध्यात्मिक शक्तियाँ, आध्यात्मिक परम्पराएँ, विभिन्न दर्शन, सामाजिक संस्थाएँ, आर्थिक व्यवस्थाएँ, वैज्ञानिक मान्यताएँ आदि अनेक तत्व समाविष्ट हैं।

हमारे प्राचीन विचारकों का एक मत यह था कि 'आत्म-संस्कृति वाँच शिल्पानि एतैर्यजमान आत्मानं संस्कृते'।^१ वहाँ अच्छे ढंग से व्यवस्था करने की, अच्छे ढंग से बनाने की अथवा उच्चकोटि का कार्य सम्पादन शिल्प कहा गया है। इन शिल्पों के द्वारा होता अपने यजमान की आत्मा का संस्कार करता है अर्थात् उसकी आत्मा संस्कृत होती है। जिनके द्वारा यह सब होता है वह संस्कृति है। रंगनाथ रामचंद्र धिवाकर का विचार है, 'मानव इतिहास के आरंभ से ही मानव-जीवन के विकास पर घटनाक्रम, परिस्थितियाँ, वातावरण और अन्य बातों का अपना अलग-अलग प्रभाव रहा है। इसीलिए मानव संस्कृति में विविधता आये बिना नहीं रही'।^२ इन दोनों परिभाषाओं को मिलाकर देखने से जो निष्कर्ष निकलता है वह एक ही है और वह यह है कि हम पर जो जो प्रभाव पड़ते हैं और उनसे प्रभावित होकर हम जो-जो करते हैं और जो कुछ बनते हैं वही हमारी संस्कृति का रूप है।

संस्कृति के संबंध में मन्मत उरण उपाध्याय ने कहा है कि 'संस्कृति जिस रूप में हम उसे जान मानने लगे हैं, इन विकास की मंजिलों की और उतना संकेत न कर अधिकतर उन सूक्ष्म तत्वों से संबंध रखती है जो विचार, विश्वास, उषि, कला, आदर्श आदि की दुनिया है.....'।^३ अन्यथा इसी

१. 'ऐतरेय ब्राह्मण', ५/५/१

२. 'कल्पना' पत्रिका, फरवरी, १९५२ ई., पृ. ९५

३. 'सांस्कृतिक भारत', पृ. ११

अन्यत्र इसी विद्वान का कहना है कि संस्कृति एक प्रकार का मानसिक विकास है, एक विशिष्ट दृष्टिकोण है जो सच्य मान्य में हो भी सकती है, नहीं भी हो सकती। यह एक प्रकार का संस्कार है, मानसिक निसार है.....।" देवराज ने संस्कृति की निम्नलिखित परिभाषाएं उद्धृत की हैं :- "मौलिक मूल्यों का क्षेत्र" (मैकाहवर), "वह जटिल तत्त्व है जिसमें ज्ञान, नीति, कानून, रीति-रिवाजों तथा दूसरी उन योजनाओं और आघतों का समावेश है जिन्हें मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के नाते प्राप्त करता है" (टायलर); "सामाजिक विरासत" (लिटन), "समस्त सामाजिक परम्परा" (लॉवा); "मनुष्य का सीला हुआ व्यवहार (हर्ष कोविट्स) और प्रसिद्ध विद्वान् ईलियट विशिष्ट वर्गों के पारस्परिक सघनतम संबंधों की रूपरेखा या उसके स्वरूप को संस्कृति^{मानता} है^२।" अन्यत्र इसी विद्वान ने लिखा है कि "नु-विज्ञान में संस्कृति का अर्थ समस्त सीला हुआ व्यवहार होता है ।" अर्थात् वे सब बातें जो हम समाज के सदस्य होने के नाते सीखते हैं। इस अर्थ में संस्कृति उच्च परम्परा का पर्याय है।" संस्कृति के स्वरूप को स्पष्ट करता हुआ लेखक लिखता है, "वस्तुतः संस्कृति उन गुणों का समुदाय है जिन्हें मनुष्य अनेक प्रकार की शिक्षा द्वारा अपने प्रयत्न से प्राप्त करता है। संस्कृति का संबंध मुख्यतः मनुष्य की बुद्धि, स्वभाव, मनोवृत्तियाँ (ऐटिट्यूड्स) से है।" अंत में वह जैसे निष्कर्ष निकालता हुआ कहता है, "वस्तुतः संस्कृति जीवन के महत्वपूर्ण एवं सार्यक रूपों की आत्म चेतना है।"^५

१. "भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण", पृ. २२३

२. "संस्कृति का पार्यायिक विवेचन"

३. "भारतीय संस्कृति", पृ. १९

४. वही, पृ. २१

५. वही, पृ. २५

विभिन्न ठाठ्याताओं के विभिन्न तत्व

उपर्युक्त परिभाषाओं को यदि हम संक्षेप में देना चाहें तो उन्हें इस रूप में पायेंगे :-

- (१) सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया हुआ जिंदगी का तरीका ;
- (२) आध्यात्मिक और मानसिक तत्वों का समुदाय (धर्म, साहित्य रीति-रिवाज, परम्परा),
- (३) जीवन के सूक्ष्म-सूक्ष्म धरातलों के स्तर, ऊर्ध्व चेतना - विस्तर का प्रकाश (अध्यात्म, धर्म, नीति, सामाजिक इडि, रीति, व्यवहार आदि।
- (४) व्यक्ति के अन्तर का विकास - भविष्य के, अतीत के आदर्श, पर दृष्टि
- (५) कठोर वास्तविकताओं से होने वाले जीवन युद्ध के सहायक तत्व
- (६) लौकिक-पारलौकिक सर्वाभ्युदय के अनुकूल आचार-विचार ;
- (७) (अ) आत्मा-परमात्मा का अनुभव, चित्पकता, विज्ञान, समाज-व्यवस्था की योजनाएं (व्यक्तिगत और सामाजिक सुख सौभाग्य की सृष्टि);
- (ब) सद्बल और बुद्धि के विकास का विकास ;
- (८) आदर्श, विश्वास, आध्यात्मिक शक्तियां, और परंपरा, विभिन्न जीवन-कर्म, सामाजिक संस्थाएं, आर्थिक व्यवस्थाएं, वैज्ञानिक मान्यताएं आदि।
- (९) आत्मा का संस्कार करने वाले चित्त ;
- (१०) प्रभावशाली घटनाक्रम, परिस्थिति, वातावरण आदि बातों का प्रभाव ;

(११) अ:- विचार, विश्वास, रुचि, कला, आवर्ध आदि,

आ:- मानसिक विकास, मानसिक नित्यार;

(१२) ज्ञान, नीति, कानून, रीति-रिवाज, आदि, यौग्यताएं, स्वभाव

(१३) सामाजिक चिरास्त;

(१४) समस्त सामाजिक परम्परा

(१५) समस्त सीसा हुआ ठकाहार;

(१६) विशिष्ट वर्गों के पारस्परिक सघनतम संबंध;

(१७) परम्परा

(१८) अ:- बुद्धि, स्वभाव, मनोवृत्ति आदि

आ:- जीवन के महत्वपूर्ण एवं सार्थक रूपों की आत्म-चेतना।

परिभाषाओं की विवेचना

संस्कृति की उपर्युक्त परिभाषाओं पर विचार करने से हमें ऐसा प्रतीत होता है कि पहली, तेरहवीं, चौदहवीं, पन्द्रहवीं और सत्रहवीं परिभाषाएं स्पष्ट रूप से एक ही बात की ओर संकेत करती हैं और वह बात है 'प्राप्त परम्पराएं'। दूसरी और तीसरी परिभाषाएं धर्म, साहित्य, सामाजिक रुठियां, नीति, और रीति-रिवाजों की बात करती हैं। ध्यान रखना चाहिये कि इन सभी तत्वों का मूलधार भी प्राप्त परम्पराएं हैं। इन परिभाषाओं में प्राप्त परम्पराओं का क्षेत्र निर्यस मात्र कर दिया गया है। मुक्तत्व यही है। आठवीं परिभाषा, अर्थात् आवर्ध, विश्वास, आध्यात्मिक वृद्धि और परंपराएं, विभिन्न जीवन-वर्धन, सामाजिक संस्थाएं, आर्थिक व्यवस्थाएं, वैज्ञानिक मान्यताएं, पर विचार करने से हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि इनमें से कोई भी तत्व ऐसा नहीं है जो प्राप्त परम्पराओं का आधार लिये बिना अपना वर्तमान अस्तित्व एवं अपना वर्तमान स्वरूप निर्माण

कर सकें। उदाहरणार्थ हमारी आध्यात्मिक शक्ति हमारे कवि-मुनियों आदि द्वारा प्राप्त अनुभवों की वही समष्टि तो है जो हमें विरासत के रूप में मिली है। एक और उदाहरण है। हमारी सामाजिक संस्थाओं और आर्थिक व्यवस्थाओं का निर्माण उन्हीं प्रवृत्तियों, मान्यताओं एवं सिद्धान्तों के आधार पर होता है जो समाज में पहले से चली आ रही हैं। यदि इनमें से किसी एक की भी स्थापना किसी ऐसे आदर्श, मान्यता, प्रवृत्ति या सिद्धान्त के आधार पर होती है जो हमारी अपनी नहीं है, हमारी अपनी परम्परा का नहीं है, हमारी अपनी संस्कृति का नहीं है तो जीवन में एक ऐसी अव्यवस्था आ जाती है जो उसे कुरूप बना देती है। उदाहरण के लिये हम भूमि को ले लें। हमारी संस्कृति धरती को माता कहती है। मां को कोई बेचता नहीं और भारत की धरती कृषि-विक्रय की चीज (कमाडेटी) नहीं थी। अंगरेजी साम्राज्यवाद ने धरती को (कमाडेटी) कृषि-विक्रय की वस्तु का स्वरूप दे दिया। परिणाम यह हुआ कि भारतवर्ष की भूमि-व्यवस्था आज तक अर्थ-शास्त्रियों के लिये एक ऐसी समस्या बनी हुई है जिसका निदान - हल - विस्तार नहीं पड़ता। असंख्य प्राणी इस कुव्यवस्था के शिकार बन चुके हैं। मर्यादक नरीबी हमारे माल पर पुठर की भाँति अंकित है। भारतीय जीवन जी-हल हो गया है - कुरूप हो गया है। अस्तु, प्राप्त परंपराओं की आधारशिला पर ही इन व्यवस्थाओं का सुमध्यम प्रासाद विनिर्मित हो सकता है। हम निश्चित रूप से यह कह सकते हैं कि हमारी आत्मा का संस्कार करने वाले शिल्प वे ही हो सकते हैं जिनकी रूपरेखा का आधार परंपरा से प्राप्त हमारे अपने तत्त्व हैं। अन्यथा हमारी आत्मा का संस्कार होना तो दूर की बात है, हमारी आत्मा का हनन, हमारे आत्म-स्वरूप की विकृति उसी प्रकार उसी प्रकार हो जायगी जिस प्रकार उन्नीसवीं सताब्दी के द्वितीयार्ध में कलकत्ते के हिन्दू कॉलेज से निकले हुए उन विद्यार्थियों की हो

जाती थी जो न यूरोपीय बन पाते थे, न भारतीय रह जाते थे, न अंग्रेज हो पाते थे, न हिन्दू रह जाते थे। इसी लिये नवीं परिभाषा की प्राणशक्ति प्राप्त परंपराओं पर ही आधारित है क्योंकि हमारी आत्मा का संस्कार उन्हीं तत्त्वों या शक्तियों से हो सकता है जो हमें परंपरा से प्राप्त हैं और जिनपर हमें विश्वास है। हम यह नहीं कहते कि सामयिक एवं तात्कालिक अनुभवों का कोई महत्व नहीं। उनका महत्व है और उनका महत्वपूर्ण योग होता है किन्तु वे हमारा विश्वास तभी पा सकते हैं, हमारी संस्कृति की कवा में तभी स्थान पा सकते हैं जब वे अनेक बार कसौटी पर चढ़ कर तरे सिद्ध हो जायें और जहाँ यह स्थिति आई वहीं वे प्राप्त परंपराओं की कोटि में आ जाते हैं। इस तथ्य को हृदयंगम कर लेने पर सत्तर्की, पसर्की, ग्यारहवीं और बारहवीं परिभाषाओं के अंदर भी हमें प्राप्त परंपराओं का तत्त्व ही मूल रूप से ध्यात्त वितलाई देना। एक बात पर और विचार कर लेना चाहिए। यह बात यह है - व्यक्ति का विकास क्या है तथा हमारी लौकिक और आध्यात्मिक उन्नति का अर्थ क्या है। विकसित व्यक्ति हम उसे कहते हैं जिसके अन्दर तत्त्वों और तथ्यों को सही ढंग से समझ कर व्यक्तिगत और सामाजिक सुख-समुद्धि के लिये उनका उपयोग करने की शक्ति एवं क्षमता हो। तत्त्वों को समझने का सही ढंग, व्यक्तिगत सुख-समुद्धि और सामाजिक सुख-समुद्धि - इन तीनों का आधार है। इन तीनों के स्वरूपों की सामाजिक स्वीकृति एवं सामाजिक मान्यता; और समाज उसी को स्वीकृत करता और मान्यता देता है जो उसके परंपरागत ज्ञान और अनुमान से आमुख भिन्न न हो। भूमि के रूप या मूल्य परिवर्तन को आज चौ-सी वर्षों से भी अधिक हो गये और व्यावहारिकता की सभी दृष्टियों और कसौटियों, विधानों और व्यवस्थाओं को देखते हुए हमें स्वीकार करना पड़ता है कि हमने भूमि को (कमाडिटी) द्रव्य-विक्रय की वस्तु मान लिया है - हमारी संवेदना इतनी समर्थ नहीं रह गई है कि हम कह सकें:-

समुद्रवसने! देवि! पर्यत-स्तनमंडले!

विष्णुपत्नि! नमस्तु^{म्}, पादस्पर्शं तमस्तु मे!

इसी प्रकार हमने जन्म को भी क्रय-विक्रय की वस्तु मान लिया है। उसकी देवता मानना छोड़ दिया है। इतने पर भी हमारी अन्तः चेतना ने, हमारी सामाजिक समष्टि ने, हमारी परम्परा ने क्रय-विक्रय की वस्तु मानने वाली प्रवृत्ति को न तो मान्यता दी है और न माता और देवता मानने वाली आस्था का उपहास उड़ाया है। आज भी बीज बोये जाने के समय धरती माता की समुचित रूप से पूजा की जाती है और विज्ञान के प्रकांड पंडितों को भी भोजन करने के पश्चात् थाली को प्रणाम करके उठते हुए देखा^{गया} है। समाज अपनी प्राप्त परंपराओं से आमुक्तः विभिन्न किसी भी तत्त्व को मान्यता नहीं देता। अस्तु, तथ्यों-तत्त्वों को समझने का सही ढंग वही है जिसे सामाजिक स्वीकृति प्राप्त है, और इसी प्रकार व्यक्तिगत और सामाजिक सुख-समृद्धि का स्वरूप भी वही है जिसे समाज परम्परा से मानता चला आया है। समाज की इस कसौटी पर जो व्यक्ति सरा नहीं उतरता वह पागल कहलाता है और पुली माना जाता है, और जो ज्ञान-विज्ञान सरा नहीं उतरता उससे समाज की सुख-समृद्धि नहीं प्राप्त हो सकती। अध्यात्मसंबंधी जिस ज्ञान और अनुभूति को भारत ने आदि युग से आज तक प्राप्त किया है उसके विपरीत प्रतीत एवं सिद्ध होने वाले ज्ञान एवं अनुभूति को हम आध्यात्मिक उत्कर्ष का साधक एवं साधन अथवा आध्यात्मिक ज्ञान-राशि के बीज का बहुमूल्य, अमूल्य, अथवा उत्कृष्टतम रत्न नहीं मान सकते। व्यक्तिगत सुख समृद्धि सर्वोपर्य का रूप और मापदण्ड निश्चित है। उसका अतिक्रमण नहीं किया जा सकता। जिस समाज ने यह मान रक्खा है कि लज्जा नारी का मुष्ण है वह बाँधकट वाली वाली तथा सैंडो कट बनियाहन - जैसे बाँह-पिहीन छलाउज या पुस्त कुर्ता पहन कर अपने रूप और आकर्षण को उभार-उभार कर उसे माजक बनाकर प्रदर्शित कर करके पुरुषों के बीज उठाका

मार-मारकर हंस्ने वाली नारी को देखकर चुप भले हो रह जाय, उसे आदर्श नहीं मान सकता। चूंकि शहर की नारियाँ का रूप स्वरूप देहात में मान्य स्वीकृत नारी-रूप के अनुरूप नहीं होता इसलिये, हमारा व्यवस्थित अनुभव है कि, शहर की नारियाँ देहात की गृहलक्ष्मियों के लिये अमान्य एवं अस्वीकृत होती हैं - बिडियाघर की कोई जीव मात्र होती हैं। पति-पुत्र विहा न किन्तु धन-संपत्ति से संपन्न महिला को सुखी मान लेना अभी हमारी चेतना के बाहर की बात है। कारण वही है कि ये रूप हमारी परम्परा के प्रति-कूल पड़ते हैं और इसीलिये ये हमारी संस्कृति के अंग नहीं बन सके। इस दृष्टि से देखने पर चौथी और छठवीं परिभाषाएं भी प्राप्त परंपरा के अन्दर ही आ जाती हैं। अब रह जाती है पांचवीं परिभाषा जो जीवन-युद्ध में प्राप्त होने वाले सहायक की बात करती है। किसी भी युद्ध में हम उसी को अपना सहायक मानते हैं जो हमारी शक्ति बढ़ाए और हमें विजयी बनाए। निश्चित है कि सहायक का स्वरूप शक्ति और विजय संबंधी हमारी धारणा और मान्यता पर आधारित होगा। ब्रिटिश साम्राज्यवाद से हमारा युद्ध था। इस युद्ध में शक्ति संबंधी हमारी धारणा थी उत्कृष्ट चरित्र और हमारे विचारों का समर्थन, और विजय संबंधी हमारी मान्यता थी अंग्रेजों की यह विश्वास दिला देना कि भारत पर उनका शासन करना किसी भी प्रकार से उचित नहीं। अस्तु, निश्चित हो गया कि हमारा सहायक वही हो सकता था जो भारतवासियों के चरित्र की कमियाँ को दूर कर सकता और हमारी विचारधारा का प्रचार कर सकता - न कि वह जो हमें अस्त्र-शस्त्र और सैनिक देता अथवा हमारी सहायता के लिये अंग्रेजों पर आक्रमण करता। एक दूसरा उदाहरण है। हमें गरीबी से लड़ना है। यदि इसका तात्पर्य यह है कि हमारे पास बहुत धन-संपत्ति हो जाय तो हमारा सहायक कुबेर माना जायगा। हमारी मान्यता है कि धरित्र वह नहीं है जिसके पास धन-संपत्ति का अभाव

है बाकिे परिश्रम वह है जो धन-संपत्ति के लिये निरन्तर हाय! हाय!! करता है। अतएव इस युद्ध में हमारे सहायक होंगे गांधी और विनोबा के विचार एवं ईशोपनिषद् का यह वाक्य :-

इसावास्यमिदं सर्वं यत्किंचि जगत्यां जगत् ।

तेन त्यक्तेन मुंजीषाः मा गृधः कस्यस्त्विष्यन्मृ ॥

इस जीवन-युद्ध में हमारा प्रतिद्वंदी कौन है ? वे विचार, वे परिस्थितियाँ, वे वातावरण, वे अवस्थाएँ, वे व्यक्त्याएँ जो हमें वह नहीं रहने देती और उस प्रकार से नहीं रहने देती जिस प्रकार से रहना हमने परंपरा से सीखा और पसन्द किया है। इसीलिये इस युद्ध के हमारे सहायक वे ही तत्व बाने जायेंगे जो हमें हमारी परंपरा के - हमारे अपने स्वरूप के - अनु-रूप रहने में उपयोगी सिद्ध हों। अस्तु, वे तत्व वे ही होंगे जिनका आधार प्राप्त परम्पराएँ ही हों। यही बात अठारहवीं परिभाषा के संबंध में भी है।

निष्कर्ष

निष्कर्ष यह निकला कि प्राप्त परंपराएँ ही संस्कृति है। इस परिभाषा को यदि और अधिक स्पष्ट करना है तो हम यह कह सकते हैं कि व्यक्ति और समाज के परिष्करण, उद्धारोत्थरण अथवा उसके सत्य, शिव, सुंदर स्वरूप-निर्माण के लिये उस व्यक्ति और समाज की उसके अस्तित्व के बाध युग से आज तक जो परम्पराएँ प्राप्त हुई हैं उन्हीं का नाम संस्कृति है। दूसरे शब्दों में हम इसे इस प्रकार समझ सकते हैं कि भीतर और बाहर से हम जो कुछ हैं, यही हमारी संस्कृति का स्वरूप है।

संस्कृति और सत्यता का संबंध

संस्कृति के साथ ही साथ एक और शब्द का प्रयोग प्रायः होता है। वह शब्द है 'सत्यता'। इसके विषय में महात्मा गांधी ने लिखा है,

‘सम्यक्ता तो आचार-व्यवहार की वह रीति है जिससे मनुष्य अपने कर्तव्यों का पालन करे।’^१ जी. एस. पुरे का कथन है कि सम्यक्ता सामाजिक उत्तराधिकार या विरासत का वह सम्पूर्ण योग है जो सामाजिक धरातल पर प्रतिष्ठित होता है....।^२ हजारिप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि सम्यक्ता का आंतरिक प्रभाव संस्कृति है।^३ तात्पर्य यह हुआ कि सम्यक्ता वह तत्त्व है जिसका आंतरिक प्रभाव संस्कृति है। हमारे अन्तर पर प्रभाव हमारे बाह्यवातावरण एवं स्थूल तत्वों का पड़ता है। निष्कर्ष यह निकला कि हम जिस वातावरण में रहते हैं उसका स्थूल, दृश्यमान एवं मूर्त रूप ही सम्यक्ता है।

इस प्रकार सम्यक्ता और संस्कृति दोनों एक दूसरे से अविच्छिन्न रूप से संबन्ध सिद्ध होते हैं। इसलिये जब टायलर यह कहता है कि सम्यक्ता और संस्कृति पर्यायवाची शब्द हैं तब व्यावहारिक दृष्टि से वह सत्य से बहुत दूर नहीं रहता। जी. एस. पुरे^४ और दिनकर^५ ने इन दोनों के संबंध में एक ही बात लिखी है और वह यह है कि सम्यक्ता वह चीज है जो हमारे पास है और जो कुछ हम हैं (जो हम में व्याप्त है) वह संस्कृति है। डानि-सला मैलिनाउस्की ने लिखा है कि ऊनी संस्कृति के एक सात पहलू को सम्यक्ता कहते हैं। यह सात पहलू उसका बाह्य स्वरूप या मूर्त रूप ही हो सकता है। इससे अधिक स्पष्ट अध्ययन हुआयुन स्मीर का है जो यह कहते हैं कि संस्कृति सम्यक्ता की कलमुत है। हजारि प्रसाद द्विवेदी का उपर्युक्त निष्कर्ष भी यही है। सत्यदेव जी परिब्राजक का विचार है, ‘सम्यक्ता है अपरा विवधा और

१. हिंद स्वराज्य, पृष्ठ. ६२

२. कैस्वर पैड सोसायटी, पृ. ३

३. ‘सम्यक्ता और संस्कृति’, पृ. ३

४. ‘कैस्वर और सोसायटी’, पृ. ३

५. ‘संस्कृति के चार अध्याय’, पृ. ३

संस्कृति है परा विद्वदा।^१ उन्होंने इन दोनों में 'आकाश-पाताल का अंतर'^२ पाया है। हमें यह दृष्टिकोण अतिवादी प्रतीत होता है। परा विद्वदा वाले की भी तो कोई न कोई सभ्यता होती है और अपरा विद्वदा वाले की भी कोई न कोई संस्कृति तो होती^३ है। दोनों को एक दूसरे का विरोधी मानना युक्ति-युक्त नहीं प्रतीत होता। संपूर्णानन्द जी का कथन है, 'सभ्यता और संस्कृति सर्वथा असम्बन्ध न होते हुए भी एक दूसरे से भिन्न हैं। संस्कृति आन्तरिक, सभ्यता बाह्य तत्त्व है। संस्कृति को अपनाने में देर लगती है, परन्तु सभ्यता की सवय नकल की जा सकती है।'^४ अस्तु, हम जिस वातावरण में रहते हैं उसका स्थूल, दृश्यमान एवं स्वरूप ही सभ्यता है और इन सबके प्रभावस्वरूप हम जो कुछ बन जाते हैं, जैसे कुछ हो जाते हैं वह है हमारी संस्कृति। इन्हीं दोनों के अध्ययन द्वारा ही हम किसी समाज या व्यक्ति का सम्पूर्ण अध्ययन कर सकते हैं - उसके वास्तविक रूप को ठीक से समझ सकते हैं - उसकी प्रवृत्तियों और विशेषताओं का उचित आकलन एवं समुचित मूल्यांकन कर सकते हैं। संस्कृति का अध्ययन सभ्यता के विभिन्न अंगों के अध्ययन के बिना संभव ही नहीं है। संभवतः इसीलिये जैसा पहले संकेत किया जा चुका है, संस्कृति का अध्ययन तभी पूर्ण एवं उपयोगी हो सकता है जब हम धर्म, साहित्य, रीति-रिवाज, सामाजिक संरचना, आर्थिक और राजनैतिक अवस्थाओं आदि का पूर्णरूपेण विश्लेषण एवं विवेचन करके उन्हें पूरी तरह से समझ लें। ऊपर हम वैसे चुके हैं कि संस्कृति इन्हीं सबके प्रभावस्वरूप उद्भूत होती है। इसलिये संस्कृति को समझने के लिये इन सबका अध्ययन अनिवार्य है।

१. 'कल्याण पत्रिका, हिंदू संस्कृति अंक, पृ. २१४

२. यही

३. यही, पृ. ६

प्रस्तुत प्रबन्धमें अपनाया गया संस्कृतिसंबंधी दृष्टिकोण

इस प्रबंध में हमें हिन्दी साहित्य (१९००-१९५० ई.) की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का अध्ययन करना है अर्थात् बीसवीं शताब्दी के इस पूर्वार्ध में हिन्दी साहित्य का जो रूप हमें मिलता है वह जिस सामाजिक राजनैतिक, ऐतिहासिक, आर्थिक, धार्मिक, धार्मिक, आत्मिक अवस्थाओं की पीठिका पर लिखा गया है, ऐसी जिन स्थितियों एवं परिस्थितियों से प्रभावित हुआ है, वे क्या थीं और कैसी थीं। तात्पर्य यह है कि हमें हिन्दी प्रदेश की बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध की संस्कृति का अध्ययन करना है। यह कहने की बात नहीं है कि संस्कृति की एक अविच्छिन्न धारा होती है और हिन्दी प्रदेश की संस्कृति की धारा का क्रम सौ-पचास वर्षों का नहीं, शताब्दियों का नहीं, बल्कि सहस्राब्दियों से अक्षुब्ध एवं अबाध गति से जड़त रूप से मिलता है। तो, हिन्दी प्रदेश की बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध की संस्कृति का अध्ययन करने के लिये और उसका महत्व समझने के लिये हमें अब तक के हिन्दी प्रदेश के जीवन की विविधताओं एवं संस्कृति के तत्वों का अध्ययन करके उन्हें समझना होगा, और उसके मूल्यों एवं महत्त्वों के लिये यूरोपीय संस्कृति से उसकी तुलना करनी होगी। अंत में हम इस निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि हमारी संस्कृति के मूल तत्व क्या हैं ? इसके बाद हमारी स्थिति यह हो जायगी कि हम इस हिन्दी प्रदेश की बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध की उन परिस्थितियों का (जो मिलकर संस्कृति की रूपरेखा निर्धारित करती हैं) चित्रण करके अपने हिन्दी साहित्य पर पड़ने वाले उनके प्रभावों का उल्लेख कर सकें

भारत की जातीय विविधता

अतः, हम हिन्दी प्रदेश के जीवन की सामान्य विविधताओं

पर एक दृष्टि ढालने का प्रयत्न करन जा रहे हैं। प्रत्येक देश या राष्ट्र की अपनी^{वोई} कोई विशिष्टता होती है। भारत की अपनी जातीय विशेषता है उसकी धार्मिकता एवं आध्यात्मिकता। राधाकृष्णन ने लिखा है, "यदि हम भारतीय जीवन की संप्राप्त अधिष्ठित धारा देखना चाहते हैं तो उसका दर्शन हमें उसके राजनीतिक इतिहास में नहीं, बरन् उसके सांस्कृतिक तथा सामाजिक जीवन में ही मिल सकता है"।^१ अन्ध्र उन्होंने भारतीय समाज की निम्न-लिखित विशिष्टताएं बतलाई हैं:- (१) समस्त जीवन जिस एक की अभिव्यक्ति है उस अमूर्त सत्य, उस अनंत उक्ति पर विश्वास, (२) आध्यात्मिक अनुभवों एवं अनुभूतियों के निरंतर वैयक्तिक होने पर विश्वास, (३) रीति-रिवाजों, मतों और अन्धविश्वासों के सापेक्षिक होने पर विश्वास, (४) बौद्धिक प्रतिमानों पर अडिग विश्वास, और (५) प्रतीयमान विरोधों में सामंजस्य स्थापित करने की आकांक्षा।^२ भारतीय समाज का महत्व धार्मिक विधि-निषेधों के समूह के रूप में उतना नहीं है जितना इस रूप में कि यह मानवता की आध्यात्मिक तृप्ति को तृप्त करने में समर्थ सजीव सत्त्यों का संकलन किये हुए है। हिंदी साहित्य में हिन्दुत्व का यही आदर्शरूप मिलता है। झुट्टियों से पूर्ण यथार्थ की झांकी हिन्दी के अपेक्षाकृत नवीन कथा साहित्य में ही मिल सकती है। हमारा भारतीय समाज इस आध्यात्मिकता पर इस हद तक आस्थावान हो चुका है कि उन्हें इस पंक्ति में हमें किसी भी प्रकार की अत्युक्ति नहीं दिखलाई पड़ती कि "किसी भी भारतीय को उसके आध्यात्मिक अस्तित्व का स्मरण कराये बिना उसके अंतर या बाह्य जीवन में कुछ भी नहीं किया जा सकता।" हमारी प्रवृत्तियों पर विचारकरते हुए

१. 'भारत की अन्तरात्मा', पृ. १९

२. 'इस्ट पैड वेस्ट', पृ. ४२

३. 'अधिति' पत्रिका, फरवरी, १९५६ ई., पृ. १००

देवराज ने लिखा है^१ कि हमारे देश में महत्वपूर्ण राजनीतिक क्रान्तियाँ नहीं हुईं। सम्भवतः इसका कारण यही है कि हमने राजनीति को बहुत अधिक महत्व नहीं दिया। हमने सदैव महत्व दिया है आध्यात्मिक विकास को, आत्मिक उत्थान को एवं धर्म और दर्शन को। हमारी आध्यात्मिकता के सम्बन्ध में उनका विचार^२ कि हम आध्यात्मिकता का यही अर्थ समझते हैं कि विवेकी व्यक्ति इस लोक के मूल्यों का उपयोग करते हुए भी उनमें ऐसी आसक्ति महसूस न करे कि उनके अभाव में व्याकुल बन जायें। यह सही है कि हम अनासक्ति को बहुत महत्वपूर्ण समझते हैं किन्तु यह कहना कि हमारी आध्यात्मिकता का अर्थ केवल अनासक्ति है, सर्वथा उचित नहीं प्रतीत होता। आध्यात्मिकता में और भी बड़ी बड़ी चीजें आ जाती हैं, जैसे :- आस्तिकता, कृतानुभूति की साधनाओं की अवस्थाएँ, आत्म-विस्तार की विभिन्न स्थितियाँ, आदि। भारतीय समाज की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता उसकी सहनशक्ति, सामासिकता की प्रवृत्ति और उसका समन्वयात्मक दृष्टिकोण है। गर्दभ एमरसन सेन ने लिखा है, "भारतवर्ष की अक्षय जीवनी-शक्ति का रहस्य विभिन्न विचारों, विभिन्न दृष्टिकोणों, विभिन्न प्रथाओं और ज्ञान एवं बोध के विभिन्न स्तरों को सहन कर लेने की उसकी अद्भुत क्षमता में निहित है।"^२ इस कथन में उपर्युक्त तीनों तथ्यों का समावेश है। राधा-कृष्णन ने भी इसी सामासिकता एवं समन्वयात्मकता की प्रवृत्ति की ओर संकेत किया है कि "आर्यों के भारत में प्रवेश करने के दिन से आज तक गंभीर जातीय एवं धार्मिक विच्छेदों का निरन्तर सामना करते रहने का जोरव अक्षय पुर्माञ्च भारत का सदा ही रहा है। एक विशेष अर्थ में भारतवर्ष संसार का एक छोटा संस्करण है। वह एक प्रयोगशाला है जहाँ संसार की समस्याओं से संबंधित जातीय अथवा धार्मिक संश्लेषण के प्रयोग किये जाते हैं।"^३ इस

१. "भारतीय संस्कृति", पृ. २०४-२०५

२. "क्लैरल युनिटीशफ इडिया", पृ. १२

प्रकार हम देखते हैं कि भारत की जनता ने आवि युग से लेकर आज तक बराबर यही प्रयत्न किया है कि वह विभिन्न धर्मों, विभिन्न संस्कृतियों एवं विभिन्न जातियों की विचारधारानों में अपनी संस्कृति के अनुरूप समन्वय उपस्थित करती रहे। उसने मिलाया सबको है किन्तु मिलाया है अपने मूल रूप को, अपनी मूल प्रवृत्ति को, अपने मूल सांस्कृतिक तत्व की सुरक्षित रखते हुए। परिणाम यह हुआ कि भारतवर्ष की सभी वर्गों की जनता के पास उस का अपना मूल सांस्कृतिक रूप संबल की तरह बराबर मौजूद है। इस संबंध में पंडित जवाहर लाल नेहरू का अनुभव विशेष रूप से उल्लेखनीय है। भारतवर्ष का कोई भी ऐसा प्रदेस नहीं है जहां वे न गए हों। उन्होंने सभी प्रदेशों के सभी वर्गों के व्यक्तियों का बड़ी ही सूक्ष्मता के साथ निरीक्षण किया है और तब वे जिस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं उसका उल्लेख उन्होंने इस प्रकार किया है, 'सभी जगह मुझे एक सांस्कृतिक पुच्छभूमि मिली जिसने उनके जीवन पर सशक्त प्रभाव डाला था। यह पुच्छभूमि लोक दर्शन, परम्परा, इतिहास, पौराणिक और काल्पनिक कथाओं का मिश्रण थी और इनमें से किन्हीं के बीच विभाजन ऐसा सौंचनी सम्भव नहीं थी। अशिक्षित किसानों के मस्तिष्क में भी एक चित्रशाला थी। इस चित्रशाला के अधिकांश चित्र पौराणिक कथाओं परम्पराओं, और रामायण-महाभारत के वीर पुरुषों और वीर नारियों के चित्रों से सजाई गई थी। ऐतिहासिक चित्र इनमें न्यूनतम थे। फिर भी ये चित्र काफी स्वीय थे।' ¹ अन्त्य वे कहते हैं कि वास्तविक जीवन में न कोई हिन्दू संस्कृति है और न कोई उससे भिन्न मुस्लिम संस्कृति। सब मिलकर एक ही गये हैं ²। निष्कर्ष यह निकलता है कि भारतीय जीवन न तो राजनीति प्रधान है, न ऐतिहासिकता प्रधान। वह अर्थ प्रधान भी नहीं है। इन सब की चेतना का अभाव नहीं है किन्तु वे गौण हैं। भारतीय जीवन में प्रधा-

1. 'डिस्कवरी आफ इंडिया', पृ. ५५

2. 'आटोबायोग्राफी', पृ. ४७१

नता है धार्मिकता और आध्यात्मिकता की, वास्तविकता और सांस्कृतिक चेतना की। भारतीय जीवन के जो चार पुरुषार्थ निश्चित किये गये हैं उनमें भी सर्वाप्रथम है धर्म। अर्थ, काम और मोक्ष बाद की बातें हैं। यह तत्त्व भारतीयों की चेतना के सभी स्तरों के कण-कण और अणु-अणु में समाया हुआ है। हाँ, यह अवश्य समझ लेना चाहिये कि यहाँ धर्म का अर्थ उसके कर्मकाण्ड वाले रूप से नहीं है। यहाँ धर्म का अर्थ है उसका तात्त्विक रूप। इसलिये भारतीय जीवन की विशेषताएं निम्नलिखित सिद्ध हुई :-

- (१) आध्यात्मिक दृष्टिकोण , (२) सांस्कृतिक चेतना (अपने धर्म, दर्शन और साहित्य के अनुसार), (३) धार्मिकता (४) सभी सत्त्यों का संकलन, (५) सहनशक्ति, (६) सामासिकता एवं समन्वयात्मकता की प्रवृत्ति, और (७) सामाजिक चेतना ।

भारतीय संस्कृति

भारतीय जीवन और दृष्टिकोण की इन्हीं विशेषताओं से भारतीय संस्कृति का निर्माण हुआ है। भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में निष्कर्ष निकालने के ^{पहले} विभिन्न विद्वानों की विचारधारा से परिचित हो लेना अनावश्यक न होगा। विदेशियों के संपर्क में आने के परिणामस्वरूप यद्यपि भारतीय जीवन में बहुत से परिवर्तन हुए हैं फिर भी मूल रूप से हमारी अधिकांश महान् पुरुषों का ^६सारा जीवन परम पुण्य, जगदीश्वर, एकमेव, निरपेक्ष एवं अनंत की इस सोच में ही होम दिया जाता है। और इस अपारंपरिक लक्ष्य का अनुसरण करने के लिये आज भी मनुष्य वाला जीवन, समाज, घर, परिवार तथा अपने अत्यंत प्रिय विषयों को एवं उस सबको, जो तर्क प्रधान मन के लिये सच्चा तथा ठीक मूल्य रखता है, त्याग देने में संतोष अनुभव करते हैं। यहाँ एक ऐसा देश है जिस पर अभी तक संन्यासी की पोछाक का गेरुआ रंग दृश्य

पक्का चढ़ा हुआ है, जहाँ अभी तक परात्पर का एक सत्य के रूप में प्रचार किया जाता है और मुख्य अन्य लोकों तथा पुनर्जन्म में और प्राचीन विचारों की उस संपूर्ण शृंखला में जीवंत विश्वास रखते हैं जिसकी सत्यता भौतिक विज्ञान के उपकरणों के द्वारा बिल्कुल ही नहीं परखी जा सकती। यहाँ योग के अनुभवों की वैज्ञानिक प्रयोगशाला के परीक्षणों के समान या उन से भी अधिक वास्तविक माना जाता है।^१ भारतीय अब भी मानता है कि 'प्रत्येक जीवन एक पग है जिसे वह पीछे या आगे की ओर उठा सकता है; अत्यंत प्रारंभिक अवस्थाओं से लेकर अंतिम परात्परता में पहुँचने तक उसका जीवन गत कर्म, जीवनगत संकल्प, उसका विचार और ज्ञान जिनके द्वारा वह अपने जीवन का नियंत्रण और परिचालन करता है, उसके मायी अस्तित्व या जीवन का निर्धारण करते हैं। यह विश्वास जीवनविवेक भारतीय विचार की धुरी है कि आत्मा का क्रमशः विकास होता है और अंत में वह एक ऊर्ध्व गति या लोकोत्तर स्थिति को प्राप्त होता है।'^२ अब भी हमारा विश्वास है कि एक ही अनंतचित्सुक्ति, कार्य संचालक शक्ति, परमसंकल्प बल या विधान, माया, प्रकृति, शक्ति या कर्म - सभी घटनाओं के पीछे अवस्थित है चाहे वे हमें अच्छी लगे या बुरी, स्वीकार्य लगे या अस्वीकार्य, सौभाग्यपूर्ण लगे या दुर्भाग्यपूर्ण।'^३ इन उद्धरणों में हमें ये तथ्य मिलते हैं - (१) सबके पीछे एक अनंत चित्सुक्ति, शक्ति को मानना, (२) जीवन का लक्ष्य उसी की तोज है, (३) इस लक्ष्य की प्राप्ति के सर्वस्व त्याग, (४) अन्य लोकों, पुनर्जन्म और प्राचीन विचारों की शृंखलायुक्तता में विश्वास, (५) आत्मा की विकासशीलता पर विश्वास, और (६) यही जीवन सब कुछ नहीं है बल्कि यह अनंत क्रम का एक

१. 'अधिति' पत्रिका, १९५६, पृ. ९५-९६

२. वही, पृ. ११०

३. वही, पृ. १४६

लघु अंश है। वास्तविकता तो यह है कि भारत एक भौगोलिक, आर्थिक एवं भौतिक इकाई मात्र नहीं है। ऐसा वह कभी भी नहीं रहा। उसे जन-संख्या, क्षेत्र आदि से कभी भी नापा नहीं जा सकता, समझा नहीं जा सकता करोड़ों के अन्तर की मांगे, पवित्रतम परम्पराओं को सुरक्षित रखने वाली स्मृतियाँ, अमिटस्मृत्य, चिर परिवर्तनशील सामाजिक विधान, असाधारण महत्व की साहित्यिक और सांस्कृतिक उपलब्धियाँ आदि भारतीय संस्कृति की आत्मा की उपलब्धियाँ हैं। अद्वितीय गहनता और दृढ़ता वाले धर्म, दर्शन और नैतिक सिद्धान्त आदि उसकी शक्ति एवं स्मृतिदायिनी आन्तरिक प्रवृत्तियाँ हैं। भारतीय संस्कृति ने बाह्य-तत्त्वों का पूर्णतः निरादर किया ही ऐसी बात नहीं है। उसने उन्हें उचित स्थान दिया है किन्तु उसे अपेक्षाकृत उच्चतर स्थान नहीं दिया। गम्भीरतापूर्वक देखें तो ऐसा लगता है कि भारत ने बाह्य तत्त्वों को आन्तरिक तत्त्वों से संबंधित कर दिया है और इस प्रकार उत्कीर्ण महत्व में भी वृद्धि कर दी है क्योंकि वस्तुतः महत्वपूर्ण तो वही है जो आश्रय है और अपरिवर्तनशील है और ऐसा तत्त्व सूक्ष्म ही हो सकता है अर्थात् आन्तरिक ही हो सकता है। भारत सामयिक महत्व और आश्रय महत्व का स्वरूप, उसका अन्तर, उसकी उपयोगिता को समझता है और हम को समुचित महत्व देना जानता है। सम्भवतः इसीलिये के. जे. जे. ने लिखा है, 'भारत बाह्य और आन्तरिक के भौतिक अन्तर को समझना जानता है। भारतीय संस्कृति को लक्ष्य है मन और इन्द्रियों की आत्मा के द्वारा सुचित रूप से नियंत्रित करके एक संतुलित और सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास करना। समग्र भारतीय संस्कृति में लौकिक और अलौकिक, भौतिक और आध्यात्मिक, सांसारिक और पारलौकिक, धार्मिक और व्यावहारिक का वह इस समुचित रूप से समन्वय किया गया है कि हमें एक ही ऐसा सामाजिक तत्त्व न मिलेगा जिसका कोई आध्यात्मिक अर्थ न हो और ^{एक} भी ऐसा आध्यात्मिक तत्त्व न मिलेगा जिसका कोई सामाजिक लक्ष्य न हो। यह

संस्कृति आत्मा के प्रति आदर की भावना पर आधारित है^१। निष्कर्ष यह निकलता है कि भारतीय संस्कृति की आधारभूत भावना है (१) आध्यात्मिकता और लौकिकता का समन्वय और (२) आत्मतत्त्व के प्रति अविचलित आस्था।

भारतीय संस्कृति अमर संस्कृति है। कारण यह है कि आत्मतत्त्व अविनाशीतत्त्व है। जो उस पर आधारित होकर चलेगा उसमें अस्थायी के प्रति कोई आस्था ज़रूरी न रह जायेगी। इसलिये भारतीय संस्कृति ने अस्थायी तत्वों को स्थायी महत्व नहीं दिया बल्कि उन्हें सापेक्ष एवं सामयिक महत्व की चीज समझा है। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति ने जीवन के विषय में जो चिन्तन किया है वह पूर्ण है और स्थायी महत्व का है। जीवन की इतनी ठ्यापक व्यवस्था और अभिव्यक्ति जीवन के संबंध में इतना सूक्ष्म गहन और स्थायी महत्व का चिंतन और कहीं भी नहीं मिलता। इसका एक कारण और है। भारतीय संस्कृति किसी एक व्यक्ति की ही, किसी एक वर्ग के व्यक्ति की ही, किसी एक प्रकार के ही व्यक्ति की देन नहीं है। राम जी उपाध्याय का कथन है, "इस सांस्कृतिक साधना में ब्रह्मचारियों से लेकर संन्यासियों तक चारों आश्रमों के लोगों का, आरण्यक वनजीवनी से लेकर अग्र-कव प्रासाद के निवासी महा राजा तक छोटे-बड़े लोगों का और चाण्डाल से लेकर ब्राह्मण्यन का योगदान रहा है"^२। भारतीय संस्कृति की व्यापकता पूर्णता, और अमरता का यही रहस्य है। अस्तु, जो इतना फिजाल है, इतना व्यापक है, इतना पूर्ण है उसका संकुचित, पक्षपाती एवं भेद-भावयुक्त होना कल्पनातीत है। वह सब कुछ सह सकता है, सबको अपना सकता है, सबको व्यवस्थित कर सकता है। इसीलिये बलदेव उपाध्याय ने लिखा है, "आर्य

१. 'सिडे स्टैंडर्ड', २९ जुलाई, १९६२ ई.

२. 'भारत की संस्कृति साधना', भूमिका।

संस्कृति का रहस्य है सब जातियों, सब मतों, सब जाचारों की तितिक्षा, सहन-शीलता विरोध का प्रघमन, अनेकता में एकत्व की दृष्टि, नाना के स्तरों में एकता की पहचान - यही है आर्य संस्कृति की कुंजी।^१ जवाहर लाल नेहरू ने भी लिखा है, 'भारतवर्ष के सांस्कृतिक एवं नस्ल संबंधी विकास की भी मुख्य प्रवृत्ति समन्वय थी।' इसी तथ्य को दिनकर ने इस प्रकार पोषित किया है कि भारतीय संस्कृति सामासिकता प्रधान है^२। राजेन्द्रप्रसाद ने लिखा है, 'यह बात अब आमतौर पर स्वीकार कर ली गई है कि हिन्दुस्तान संसार के धर्मों का सन्धिस्थल और विश्व के संस्कृति का एक संस्थल है।' ^३ महादेवी वर्माने भी लिखा है, '..... और भारतीय संस्कृति विविध संस्कृतियों की समन्वयात्मक समष्टि है।' वास्तविकता यही है कि भारतीय संस्कृति ने सदा-सर्वदा समन्वय के रूप में ही समस्याओं का समाधान उपस्थित किया है। समन्वय और एक उस क्रम पर विश्वास (जगत के विभिन्न नाम-रूप जिस एक की ही अमिष्यक्तियां हैं) ये दोनों तत्त्व भारतीय संस्कृति की आत्मा हैं। भारतीय संस्कृति की क्रमसंबंधी अडिग आस्था पर पहले भी लिखा जा चुका है। इस संबंध में कुछेक और विद्वानों की सम्मतियां इसके स्वरूप को कुछ और अधिक स्पष्ट करेंगी। सम्पूर्णानन्द ने लिखा है, 'भारत की संस्कृति की यह सुबुद्ध मान्यता है कि 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'। यह तत्त्व जिसकी उपासना की जाती है यह एक है, चाहे उसकी किसी नाम से पुकारा जाय, किसी भाषा में बुलाया जाय और भारतीय जीवन के ये दो आधार हैं कि धर्म का - कर्तव्य का, अधिकारों का नहीं, परित्याग कदापि न होना चाहिये और व्यग्रहार में

१. 'आर्य संस्कृति' सप्त, पृ. ४२६

४. पट्टटामि सीतामैयाकृत 'कांश्रि

२. 'हिस्कररी आफ इंडिया', पृ. ६४

का इतिहास' की प्रूमिका, पृ. ६

३. 'संस्कृति के चार अध्याय,

५. 'कनवा', पृ. २३

ध्यान रखना चाहिये कि "परस्परमावयन्तः श्रेयः परमेवाहेत्ययं" - एक दूसरे के हित साधन से ही परम श्रेय की सिद्धि होती है। समाज में मूर्खन्य स्थान विवधा, तप और त्याग का होना चाहिये। भारतीय संस्कृति का यही प्राण है।^१ स्पष्ट हुआ कि भारतीय संस्कृति का प्राण है विवधा, तप त्याग, दूसरे का हितसाधन, धर्म-पालन और यह विश्वास कि सारे संसार का उपास्यदेव तत्त्व एक ही है। श्री वासुदेव चरण अब्बाल ने लिखा है, "मध्य देश की संस्कृति का मूल-सूत्र ब्रह्म तत्त्व है नर वही है जिसका सत्ता नारायण है मध्य देश की गंगा के तट पर प्रतापील मानव ने देव-तत्त्व को अध्यात्मिक प्रणाम किया इदं सर्वं या विश्व, जगत् ईशावास्य है। यही भारतीय विचारों का मंगलघट है जिसकी स्थापना से प्रत्येक यात्री वेदी धन्य हुई है और मण्डप के नव यत्त-मंडप भी प्राग्द्वारों पर इसी पूर्ण कुम्भ की जोभा से अलंकृत होते रहेंगे।"^२ यहाँ भी हम यही पाते हैं कि मध्य देश की संस्कृति का मूल सूत्र ब्रह्म तत्त्व है। ऐसे उच्च एवं अनादि अनंत तत्त्व पर आधारित संस्कृति का प्रवाह यदि अस्पष्ट एवं अप्रतिहत है तो कोई आश्चर्य नहीं। सभी लोग मुक्त कंठ से यह स्वीकार करते हैं कि भारतीय संस्कृति के इतिहास की यह विशेषता है कि उसका प्रवाह कहीं टूटा नहीं। कन्हैया लाल माणिकलाल मुंजी ने लिखा है कि जैसे गंगा की धारा को नहीं अवरुद्ध किया जाता वैसे ही इस सांस्कृतिक गंगा की गति नहीं रोकੀ जा सकती। जैसे संन्यासी को नहीं बांधा जा सकता वैसे ही इसको नहीं बांधा जा सकता।^३ इन्द्रविद्यावाचस्पति ने भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ इस प्रकार बताई हैं:- उदार दृष्टिकोण, लचीलापन, अपना ब्रह्म लेने की शक्ति, आध्यात्मिकता, वेदों की मान्यता और आध्यात्मिक विचार।^४ रामाकृष्णन ने भारतीय संस्कृति की प्रवृत्तियाँ एवं विशेषताओं के साथ साथ उसके महत्व की अभिव्यक्ति की है।

१. हिन्दी साहित्य सम्मेलन पत्रिका का "लोक संस्कृति" अंक, पृ. २५

२. हिन्दी अनुशीलन पत्रिका, ११वें वर्षका पहला अंक, "मध्यदेशीय संस्कृति का मूल नामक लेख। (३) "मगधगीता एंड माडर्न लाइफ", पृ. ७, (४) "भारतीय संस्कृति का प्रवाह", दूसरी अध्याय।

इस प्रकार की है, "अपने रहस्यवाद-प्रत्यक्षवाद, अपनी दार्शनिक रुझानों और मुक्तिवादी प्रवृत्तियों के साथ भारतीय संस्कृति लगभग ४००० से भी अधिक वर्षों तक संसार में बहुत अधिक प्रभावशाली रही है।" भारतीय संस्कृति के विषय में यह प्रम कुछ कम व्यक्तियों को नहीं है कि वह एकमात्र अध्यात्ममूलक है। वस्तुस्थिति यह है कि ब्रह्म विद्या और आध्यात्मिकता पर अपेक्षाकृत अधिक जोर देते हुए भी भारतीय संस्कृति ने जीवन के प्रत्यक्ष एवं यथार्थ रूप की उपेक्षा कभी भी नहीं की। इस विषय में पंडित जवाहर लाल नेहरू के विचार बहुत स्पष्ट एवं उल्लेखनीय हैं, "...सब कुछ देखते हुए, हिंदुस्तानी संस्कृति ने जिंदगी से इन्कार करने पर कभी भी जोर नहीं दिया है, यद्यपि यहाँ के कुछ दर्शनों ने ऐसा अवश्य किया है।"^१ इस संबंध में साने गुरुजी के विचार इस प्रकार हैं - "भारतीय संस्कृति हृदय और बुद्धि की पूजा करने वाली उदारभावना और नित्य ज्ञान के योग से जीवन में सुन्दरता लाने वाली है। यह संस्कृति ज्ञान-विज्ञान के साथ हृदय का मेल बैठकर संसार में मधुरता का प्रचार करने वाली है। भारतीय संस्कृति का अर्थ है कर्म, ज्ञान, भक्ति की जीती-जागती महिमा - शरीर, बुद्धि और हृदय की सतत सेवा में लीन करने की महिमा। भारतीय संस्कृति का अर्थ है सहानुभूति। भारतीय संस्कृति का अर्थ है विजालता। भारतीय संस्कृति का अर्थ है बिना स्थिर रहे ज्ञान का मार्ग टूटते-टूटते जाने बढना। संसार में जो कुछ ^{दुंदर} वस्तु-वस्तु पिलाई दे, उसे प्राप्त करके बढती जाने वाली ही यह संस्कृति है। यह संसार के सारे ऋषियों-महर्षियों की पूजा करेगी। यह संसार की

सारी रस्तान की घंघना करेगी। संसार के सारे धर्म संस्थापकों का यह
 आदर करेगी। चाहे कहीं भी महान्ता दिखाई दे, भारतीय संस्कृति उसकी
 पूजा ही करेगी। यह आनन्द और और आदर के साथ उसका संग्रह करेगी।
 भारतीय संस्कृति संग्रह करनेवाली है। वह सबको पास-पास लाने वाली
 है। "सर्वेषामधिरोधेन ब्रह्मकर्म समारमे" ही यह कहने वाली है। यह संस्कृति
 संकुचितता से परहेज करने वाली है। इससे त्याग, संयम, वैराग्य, सेवा, प्रेम,
 ज्ञान, विवेक आदि बातें हमें याद आ जाती हैं।" उनके अनुसार भारतीय
 संस्कृति का अर्थ है सान्न्त से अनन्त की ओर जाना, अंधकार से प्रकाश की
 ओर जाना, भेद से अभेद की ओर जाना, कीचड़ से कमल की ओर जाना,
 विरोध से विवेक की ओर जाना, अठक्कास्था से ठयक्कास्था की ओर जाना,
 वे कहते हैं, "भारतीय संस्कृति का अर्थ है मेल - सारे धर्मों का मेल, सारी
 जातियों का मेल, सारे ज्ञान-विज्ञान का मेल, सारे कालों का मेल। इस
 प्रकार के महान् मेल पैदा करने की इच्छा रखने वाली, सारी मानव जाति
 के बेड़े को मंगल की ओर ले जाने की इच्छा रखने वाली यह संस्कृति है।"
 उनका कथन है कि हिंदुस्तान के उत्तर में जिस प्रकार गौरी चंकर का उज्ज
 खिलर स्थित है, उसी प्रकार यहाँ संस्कृति के पीछे भी उज्ज और मध्य तन्व
 एवं विचार हैं। आगे उन्होंने लिखा है, "अद्वैत भारतीय संस्कृति की आत्मा
 है।" इसी को और अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है, "यह भार-
 तीय संस्कृति की महान् विशेषता है। अभेद में भेद और भेद में अभेद, यही
 भारतीय संस्कृति का स्वरूप है। वे कहते हैं, "भारतीय संस्कृति में अंधकार
 के लिये स्थान नहीं है। यहाँ सर्वत्र विचारों की महिमा गाई हुई दिखाई
 देगी। वेद भारतीय संस्कृति के आधार माने जाते हैं लेकिन वेद का अर्थ क्या

१. "भारतीय संस्कृति", पृ. ५

२. वही. पृ. २०

३. वही, पृ. ११

४. वही. पृ. २३

है ? वेद छंद का अर्थ है ज्ञान। ज्ञान भारतीय संस्कृति का आधार है^१। उनके अनुसार "जीवन को सुन्दर बनाने वाला प्रत्येक विचार ही मानो वेद है^२।" आगे उन्होंने लिखा है, " भारतीय संस्कृति में त्याग और पवित्रता इन दो गुणों का बड़ा स्थान है।^३ उन्होंने जीवन के समस्त प्रयत्नों की सार्थकता की ओर संकेत करते हुए लिखा है, " भारतीय संस्कृति यही बात हम से कह रही है। शरीर, हृदय और बुद्धि की शक्ति प्राप्त करो, संगठन करो, संघ स्थापित करो, दातावरण तेजस्वी बनाओ और इस संगठन का महान् ध्येय के लिये उपयोग करो।^४ सम्भवतः सन्तुलन की भावना को ही ध्यान में रखकर उन्होंने लिखा है, " भारतीय संस्कृति कहती है कि मोग हो, लेकिन प्रमाण से हो, संमेल कर हो, गिनकर हो धर्म की नींव पर ही अर्थ-काम के मन्दिर की इमारत बनाइए। यदि अर्थ और काम के साथ धर्म होगा तो वे सुखदायी बनेंगे। वे बन्धनकारक न होकर मोक्षकारक होंगे।^५ यदि ऐसा हो सके तो जीवन पूर्ण हो जायगा। भारतीय संस्कृति इसी रूप में व्यक्त को पूर्ण देखना चाहती है और इसीलिये उसने चार पुरुषार्थों - धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष - की व्यवस्था की है। साने गुरुजी कहते हैं, " भारतीय संस्कृति कहती है कि संसार में चार वस्तुएं प्राप्त कीजिये, चार वस्तुएं जोड़िये। भारतीय संस्कृति केवल एक वस्तु पर ही जोर नहीं देती। वह व्यापक है, एकांगी नहीं।^६ भारतीय संस्कृति की एक और महत्वपूर्ण विशेषता है मृत्यु की भीषणता को समाप्त कर देना और यह कार्य उसने अनंत जीवनों की कल्पना करके और मृत्यु की एक विराम मात्रा का महत्व देकर किया है। इस विषय में साने गुरु जी ने लिखा है, " भारतीय संस्कृति ने

१. भारतीय संस्कृति, पृ. ३०४

४. वही, पृ. १३८।

२. वही, पृ. २४१

५. वही, पृ. १३८।

३. वही, पृ. २३८।

मृत्यु का डंक काट फेंक कर उसको सुन्दर और मधुर बना दिया है।" (यहाँ)

“मृत्यु का अर्थ है निर्वाण अर्थात् अनन्त जीवन सुलगा देना (पृ. ३०३)।

भारतीय संस्कृति में वर्ण का भी महत्वपूर्ण स्थान है। इसकी व्याख्या करते हुए साने गुरु जी ने लिखा है, “वर्ण ऊँच का अर्थ है रंग।..... ईश्वर ने हमें कौन-सा रंग देकर भेजा है। कौन-से गुण-धर्म देकर भेजा है। ‘कुछ’ बोलना कोकिल का जीवन रंग है।” सम्भवतः यह लिखते समय साने गुरु जी के मस्तिष्क में गीता का यह श्लोक था :- “चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण-कर्मविभागश्च।” । इस प्रकार निम्नलिखित विशेषताएं प्रमुख रूप से दिखाई पड़ती हैं (१) उदारभावना और निर्मल ज्ञानका योग, (२) कर्म, ज्ञान और भक्ति की महिमा, (३) पर-सेवा (४) सहानुभूति, (५) ज्ञान के सहारे अधिक रूप से प्रगति करना, (६) संग्रहीतता, (७) उदारता, (८) विशालता, (९) अद्वैतधारणा, (१०) समन्वय, (११) लक्ष्य के लिये समस्त साधनों के उपयोग करने की वृत्ति, (१२) चार पुरुषार्थ, (१३) कर्म व्यापकता, (१४) वर्ण, (१५) मृत्यु के भय को समाप्त करने की प्रवृत्ति। वासुदेव धरण अग्रवाल ने २० संक्षिप्त सूत्रों में हिंदू संस्कृति की विशेषताएं इस प्रकार बताई हैं :-

(१) धर्म, संस्कृति और जीवन - तीनों का समान विस्तार।

(२) समन्वय (विश्व के साथ अविरोध भाव)

(३) सहिष्णुता

(४) बहुत्व में एकत्व की पहचान

(५) संघर्षों के बीच समन्वय

(६) सत्यदर्शन के उद्देश्य से स्वके लिये धार्मिक, सामाजिक और व्यक्ति-गत स्वातंत्र्य।

१. “भारतीय संस्कृति”, पृ. ३०९

२. वही, पृ. ५४

३. बल्कि गीता, ४:१३।

- (७) जड़-चेतन का आपेक्षिक मूल्यांकन
- (८) महानु, नित्य, रस-परिपूर्ण और प्राप्त करने योग्य उस चैतन्य की प्राप्ति के लिये सवेष्ट प्रयत्न और उस पर तीव्र एवं पूर्ण विश्वास।
- (९) संसार और उसके उपयोग अल्प, सीमित, तुच्छ और जीतने योग्य हैं।
- (१०) सांसारिक जीवन की उपेक्षा उचित नहीं है।
- (११) साहित्य, कला, सौंदर्य और संवारे हुए जीवन के अनेक वरदानों की मान्यता।
- (१२) धर्म और जीवन का समन्वय।
- (१३) व्रत, सत्य, धर्म, ब्रह्म, चैतन्य की असाधारण महत्ता
- (१४) वैयक्तिक विकास के लिये आग्रह
- (१५) आध्यात्मिक साधना एवं ऊर्ध्वगति के लिये आग्रह
- (१६) धर्मानुमोदित कर्म की प्रतिष्ठा
- (१७) ठीक विधि से दिया जाने वाला कर्म ही योग है।
- (१८) आध्यात्मिक विजय से ही तृप्ति
- (१९) स्वार्णहारी राजसत्ता से जीवन के अधिकाधिक क्षेत्रों को बचाए रखना।
- (२०) प्रत्येक हिंदू का मन हिंदू संस्कृति का एक टुकड़ा है अर्थात् उधार, सहिष्णु, नूतन भावों का स्वागत करने वाला, त्याग का प्रयत्नक।^१

गुलाबराय ने उसकी बारह विशेषताएं गिनाई हैं^२। एक अन्य त्याग त्याग पर हिंदू संस्कृति की १६ प्रमुख विशेषताएं बताई गई हैं। इसी प्रकार

१. "कल्याण" पत्रिका, "हिंदू संस्कृति विशेषांक", पृ. ९७/९८

२. "भारतीय संस्कृति की रूपरेखा",

अन्य अनेक स्थानों पर भी हिंदू संस्कृति की विभिन्न विशेषताओं का उल्लेख किया गया है। यहां पर उन सबका उल्लेख करना निरर्थक इसलिए है कि इन सबका गम्भीर अध्ययन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि वासुदेवचरण अग्रवाल की उपर्युक्त 20 बातों में भारतीय संस्कृति की सभी की सभी विशेषताएं आ जाती हैं। अभी तक जितना कुछ लिखा गया है उन सबका सारतत्त्व इनमें उपस्थित है। व्याख्या, विवरण और विस्तार में अन्तर हो सकता है किन्तु मूल तत्वों को ध्यान में रखने पर समस्त विशेषताएं इन बीसों में सम्मिलित हैं। ये ही बातें भारत के जीवन में उसकी संस्कृति के आविष्कार से लेकर आज तक बराबर पाई जाती हैं। भारतीय जीवन में इन्हीं की निरन्तर उपस्थिति ही - सभी कालों में भारतीय जीवन का इन्हीं से अनुप्राणित, प्रभावित एवं प्रवाहित होते रहना ही भारतीय संस्कृति का बखूबी, व्यापक, एवं निर्विरोध प्रवाह है।

पार्श्चात्य संस्कृति का स्वरूप

आधुनिक युग में भारतीय जीवन पार्श्चात्य जीवन के संपर्क में आया। पार्श्चात्य जीवन का विकास ^{जि} भौगोलिक स्थितियों और परिस्थितियों में और जिस प्रकार हुआ है वे उस प्रकार से भिन्न थीं जिनमें भारतीय जीवन का विकास हुआ है। परिणामतः दोनों के स्वरूप, दृष्टिकोण और संस्कृति में पर्याप्त भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। चूंकि दोनों गोलार्धों के निवासी मानव हैं और मानव का मन मूलतः एक-सा ही होता है इसलिए वे दोनों स्थानों की संस्कृतियों में कुछ मूलभूत एकताएं - समानताएं निःसन्देह पाई जाती हैं और सम्भवतः इसीलिए राधाकृष्णन ने लिखा है, 'यदि हम इतिहास की व्यापक दृष्टि से' देखें तो हमें हास होना कि जीवन की ऐसी कोई विशेष पूर्वी दृष्टि नहीं है जो जीवन के पार्श्चात्य

दृष्टिकोण से भिन्न हो" ¹ । किन्तु जब हम जीवन और उसके स्वरूप को उसकी सम्पूर्णता में देखने का प्रयत्न करते हैं, उसकी रूढ़ानों, वृत्तियों और प्रवृत्तियों पर विचार करते हैं और विचार करते हैं स्वभावों और प्रभावों पर तो दोनों का अन्तर स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ जाता है। यह अन्तर मौलिक है और उत्प्रेक्षणीय है। आधुनिक पार्श्वात्य संस्कृति के विभिन्न प्रेरणास्रोतों के विषय में राधाकृष्णन ने लिखा है, "पार्श्वात्य संस्कृति ने अपनी प्रेरणा, प्रतिमान, मूल्य और संस्थाएं यूनान, रोम, और फिलिस्तीन से ली हैं। आलोचना की प्रवृत्ति, निरीक्षण एवं प्रयोग, राजनीतिक धारणाएं उसे यूनान से मिली हैं। धर्म निरपेक्ष कानून और संगठन के सिद्धान्त रोम से मिले हैं। फिलिस्तीन ने उसे एक देववाद और ईश्वरीय आत्माओं पर आधारित एक नीतिवान प्राणी के रूप में मानव की कल्पना प्रदान की है। यूरोप के इतिहास में इन सब का आवर्त समन्वय कभी नहीं हो पाया। इस प्रकार हम देखते हैं कि पार्श्वात्य संस्कृति के निर्माण में यूनान का बहुत ही महत्वपूर्ण योग रहा है। उसे वैज्ञानिकता की वृत्ति से समन्वित करने का श्रेय यूनान को ही है। मानव की तर्क और बुद्धि की शक्ति में विश्वास, संतुलन और समन्वय, बौद्धिक और नैतिक मान्यताएं, व्यक्तित्वगत स्वतंत्रता, नागरिकता की धारणा आदि यूनानी संस्कृति की ही देनी हैं। यह निश्चित है कि पार्श्वात्य संस्कृति का विकास किसी ऐसे तत्त्व पर आधारित होकर नहीं हुआ है जो वास्तव में ही। उसने आध्यात्मिक जीवन और उसकी समस्याओं में उतनी रुचि नहीं दिखाई जितनी मनुष्य के आचार, जीवन-यापन की नीति, गणित एवं विज्ञान-विशेष रूप से भौतिक विज्ञान में। यहाँ समाज की बल एवं भौतिक वृत्तियों और प्रवृत्तियों पर अधिक विचार, संघ :

विश्लेषण आदि किया गया है। उसमें बौद्धिकतत्व की प्रधानता है। वह व्यक्ति के भौतिक पक्ष पर अधिक बल देती है। वह मनुष्य के मन की लौकिकता की और उन्मुख गति और एतत् सम्बन्धी उसकी प्रकृति का अध्ययन और विश्लेषण करती है। वह मानव की बाह्य स्तर की और अधिक उन्मुख है। वह उसके स्वभाविक एवं प्राकृतिक स्तर तक ही पहुँच सकी। वह राजसिक है। वह हिंसा प्रधान है क्योंकि वह संघर्ष के द्वारा होने वाले विकास की बात करती है। यहां तक कि यह अस्तित्व के लिये भी संघर्ष अनिवार्य समझती है। 'स्ट्रगल फार एग्जिस्टेंस' वाली प्रचलित युक्ति इस बात का प्रमाण है कि उसने मानव को एक बायलॉजिकल बीइंग अर्थात् हाड-मांस का पुतला मात्र मान रखा है। उसकी नैतिकता का सीमाक्षेत्र है मनुष्य का बाह्य आचार-व्यवहार मात्र। पश्चिम में मनुष्य सदा ही प्रकृति का एक क्षणिक जीवमात्र रहा है अथवा वह एक ऐसी आत्मा रहा है जिसे जन्म के समय मनमौजी अष्टा अपनी मनमानी इच्छा के द्वारा रचता है और मोड़ पाने के लिये सर्वथा प्रतिकूल अवस्थाओं में रस देता है, पर कहीं अधिक संभावना यही होती है कि उसे एक नितान्त असफल व्यक्ति की भाँति नरक में जलते हुए कूड़े के ढेर में फेंक दिया जाय। अधिक से अधिक उसे यही भेष प्राप्त है कि उसमें एक तर्क-वितर्क करने वाला मन और संतुल्यव्यक्ति है और ईश्वर या प्रकृति ने उसे जैसा बनाया है उससे अचूका बनने का वह प्रयास करता है।¹ ध्यान रहे कि भारतीय संस्कृति में यही स्थिति सर्वोच्च एवं एकमात्र नहीं मानी गई है। सच्ची बात तो यह है कि भारतीय संस्कृति के अनुसार मानव की स्थिति का यह स्तर सबसे पहला और सबसे नीचा स्तर है। तो, भारतीय संस्कृति का अष्टम अंश जहाँ से प्रारम्भ होता है वहाँ पार्श्वोन्मुख संस्कृति जाकर समाप्त हो जाती है। पार्श्वोन्मुख संस्कृति का लक्ष्य है भौतिक सुख-सुविधा, भौतिक

1. 'अदिति' पत्रिका, फरवरी, १९४५, पृ. १०७।

उन्नति और भौतिक कार्यकुशलता। अरविन्द का विचार है कि "हमारे देश और यूरोप में प्रधान भेद यह है कि हमारा जीवन अन्तर्मुखी होता है और यूरोप का जीवन बहिर्मुखी होता है। हम भाव का आश्रय कर पाप-पुण्य इत्यादि का विचार करते हैं, और यूरोप कर्म का आश्रय कर पाप-पुण्य इत्यादि का विचार करता है। हम भगवान को अन्तर्यामी और आत्मस्थ समझ कर उन्हें अपने भीतर खोजते हैं और यूरोप भगवान को जगत का राजा समझ कर उन्हें बाहर देखता और उनकी उपासना करता है।"^१ इस संबंध में उन्होंने अन्यत्र भी लिखा है, "पाश्चात्य लोग प्रजातंत्र के बाहरी आकार और उपकरणों में ही फंस गये हैं...॥"^२ इस प्रकार हम पाते हैं कि बाहर के मिथ्या अनुभव में मग्न रहना तत्त्व की परछाई की शक्ति एवं नाम और रूप में अनुरक्ति पाश्चात्य संस्कृति की विशेषताएं हैं। इस संबंध में योगिराज अरविन्द का बहुत ही सुन्दर कथन इस रूप में मिलता है, "पाश्चात्य मन की साधारण गति है नीचे से ऊपर की और जीवन का विकास करना, प्राण और जड़ - सत्ता को ही उसका आधार समझ कर ग्रहण करना तथा ऊर्ध्व की सारी शक्तियों का केवल इसीलिये आह्वान करना कि ये इस प्रस्तुत पार्थिव जीवन को संशोधित और बहुत कुछ उन्नत बना देंगी। ... पाश्चात्य जीवन-प्रवाह इस समय प्रधानतः युक्तिवाद और जड़वाद से ही नियंत्रित हो रहा है...।"^३ जिसका प्रेरणा-स्रोत यह ही उससे किसी उच्चतम, अदृश्य एवं लोकोत्तर आदर्श विचार एवं कार्यक्रम की आज्ञा नहीं की जा सकती। जिसके प्रेरणा-स्रोत ये ही उसकी कथा भारतीय कथा की अपेक्षा कुछ दूसरी तो होनी चाहिये और वह कथा आरिका प्रसाद मिश्र के ऊर्ध्व में इस प्रकार है, "इधर बीस्वी खताह।

१. 'अधिति' पत्रिका, अप्रैल, १९४७ ई., पृ. २९

२. वही, फरवरी, १९४७ ई., पृ. ३८

३. वही, अप्रैल, १९४७ ई., पृ. ८

की कथा दूसरी ही है। उसने अपनी प्रत्येक संतान का यह धर्म बता दिया है कि वह आमोद-प्रमोद की सामग्री एकत्र करने में ही अपने जीवन की सार्थकता समझे..... केवल आज का स्वार्थ यही एक आदर्श यौतप के प्रत्येक युवा के लिये इस समय रह गया है।¹ माधव एम. स्रे के लेख में पश्चात्त्य जीवन का एक रूप इस प्रकार विन्दित किया गया है, "पश्चिमी देशों में यह बात नहीं पाई जाती। वहाँ के कुटुम्बों का संबंध आवश्यकता और इच्छा के अनुसार जोड़ अथवा तोड़ लिया जाता है। आदर्श के बदलने में कुछ देर नहीं लगती। इंडियन सिविल सर्विसेस के मेम्बर मिस्टर एच. कीलिंग हाल साहब लिखते हैं कि वहाँ पाठशाला के लड़कों को सब बोलना नहीं सिखाया जाता..... पहले से ही वे इस बात की शिक्षा पाते हैं कि किसी सत्य बात को उसके सिद्धस्वरूप में जान लेने की कोई भी आवश्यकता नहीं है। सिखाया केवल यह जाता है कि मौका पडने पर वह बात अपने पक्ष के समर्थन में किसी भी तरह कैसे काम में लाई जा सकती है..... यौतप आदि पश्चिमी देश कोरे भौतिकवादी हैं² यह भौतिकवादी सत्यता ही वह सत्यता है जिसे प्रेमचंद ने "महाजनी सत्यता" कहा है और जिसके विषय में उन्होंने लिखा है, "इस महाजनी सत्यता ने दुनिया में जो नई रीति-नीतियाँ चलाई हैं उनमें सबसे अधिक घातक और रक्त-पिपासु यही व्यवसाय वाला सिद्धांत है। मियाँ-बीबी में बिजनेस, बाप-बेटे में बिजनेस, गुरु-शिष्य में बिजनेस। सारे मानवी आध्यात्मिक और सामाजिक नेह-नाते समाप्त!"³ सब है कि जब बात का स्वरूप और उसके महत्व की कसौटी होगी मोके का रूप, और दृष्टि-कोण का रूप होगा व्यक्तिगत भौतिक स्थूल स्वार्थ, तब समस्त रागात्मकता, लोकोत्तरता और नीतिमत्ता की खव-यात्रा अनिवार्य हो जायगी। जब मानव

1. "सरस्वती" पत्रिका, 1922 ई. पृ. 499।

2. (1914 ई. में लिखा लेख) "सरस्वती" पत्रिका हीरक जयंती विशेषांक, 19 62

3. "हंस" पत्रिका, सितम्बर, 1935 ई., पृ. 46।

का मानव से किसी प्रकार का स्थायी संबंध न रह जायगा, जब समस्त मानव जाति को एकत्व के सूत्रमें सम्मिलित संग्रहित करने वाले किसी सर्वव्यापी तत्त्व के सत्य को हम कल्पना मान लेंगे, जब हम 'त्वम्' में 'अहम्' की प्रतीति करने वाली विचारधारा से वंचित रहेंगे तो केवल नीति के सैद्धांतिक आधार विनिर्मित संबंध- माधुर्य एवं व्यवहार सौष्ठव का प्रासाद स्वार्थ की वैगवती गांधी के आगे देखते ही देखते सिकता के मन्त्रावधेय मात्र में परिवर्तित हो ही जायगा। नीति की सुष्ठुता ही प्रासाद के दीर्घजीवन और उसके स्थायी सौंदर्य का रहस्य एवं प्रधान अथवा एकमात्र आवश्यक तत्त्व होता है। पश्चात्त्य संस्कृति में इसी का अभाव देखकर साने गुब्बी ने लिखा है, "पश्चिम के निवासियों में भौतिक विज्ञान के पीछे अद्वैत की मान्यता की कल्पना न होने के कारण वे संसार में हाहाकार फैलाने का आसुरी कर्म कर रहे हैं।" अपने उपर्युक्त कथन में प्रेमचंद जी ने विज्ञान की व्यापकता का जो उल्लेख किया है और उससे जिन नेह-वृत्तों की समाप्ति की बात की थी साने गुब्बी के इस कथन में उसीके परिणाम का उल्लेख मिलता है। नेह-नाते समाप्त होने तो हाहाकार का वातावरण अनिवार्यतः निर्मित होगा। कोई आश्चर्य नहीं कि जिस सत्यता का यह परिणाम हो वह गांधी जी की दृष्टि में धर्म न होकर अधर्म हो, क्योंकि उन्होंने लिखा है, "यह सत्यता अधर्म है।" उन्होंने पश्चात्त्य सत्यता की 'पक्की पहचान' का इस प्रकार उल्लेख किया है, "इस सत्यता की पक्की पहचान तो यह है कि उसकी नींव में पले हुए लोग बाहर की लीज और उरीर के सुत को ही जीवन की सार्थकता और परम पुत्रधर्म मानते हैं।" हमारा विचार तो यह है कि यह संस्कृति उतनी घुरी नहीं है जितनी अपूर्ण अथवा फकीरी। कारण यह है कि इस संस्कृति से भारत का थोड़ा बहुत लाभ अवश्य हुआ है।

१. 'भारतीय संस्कृति', पृ. ९४।

२. 'हिंद स्वराज्य', पृ. ३२।

उससे हमारे जीवन का और हमारी विचारधारा का रूप बखलने लगा है, उसने हमें फिर से कुछ बातों पर विचार करने, मनन करने, अध्ययन करने और निष्कर्ष निकालने के लिये विवश कर दिया है।¹ अत्युक्ति न होगी, यदि हम यह कहें कि उससे हमारी कुछ कमियाँ समाप्त हो रही हैं। अब यह बात दूसरी है कि स्वयं हम ही संतुलन बिगाड़ दें और हमारी कुछ हानि भी हो जाय, किन्तु इसके लिये दोषी वह संस्कृति न होगी। पार्श्वात्य संस्कृति की अच्छी देना के विषय में लिखते हुए आर्थर हुसैन ने लिखा है, "वैसे तो आसन्न राष्ट्र की हर बात में आसन्न जनों के लिये एक आकर्षण-सा होता है परन्तु सब यह है कि पार्श्वात्य संस्कृति का निहित गुण या उसका आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण और व्यावहारिक कार्य-कुशलता", "लेकिन उसने हमें आन्ति और व्यवस्था की और वैयक्तिक एवं राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य की एक नई अवधारणा दी जो हमारे माची राजनीतिक और सांस्कृतिक विकास के लिये इससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण और मूल्यवान् थी। उन्होंने सार्वजनिक जीवन की लोकतांत्रिक विधि का प्रारम्भिक पाठ हमें पढ़ाया।"² इतना सब होने पर भी यह मानना पड़ेगा कि यह संस्कृति मनुष्य को यंत्र बना देती है। यह यांत्रिक संस्कृति है।

पार्श्वात्य संस्कृति की विशेषताएँ

इतने विवेचन के उपरान्त हम निश्चित रूप से यह कह सकते हैं कि पार्श्वात्य संस्कृति की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :-

- (१) यांत्रिक होना।
- (२) इसमें भौतिक विज्ञान के पीछे अद्वैत की भावना का अभाव है।
- (३) यह पूर्णरूप से भौतिकवादी सभ्यता है।

१. 'राष्ट्रीय संस्कृति' पृ. ७९।

२. वही, पृ. ८२

- (४) इसका एकमात्र आदर्श है आज का स्वार्थ।
- (५) यह युक्तिवाद और जडवाद से ही प्रेरित होती है। इसमें तर्क की प्रधानता है।
- (६) इसका लक्ष्य है प्रस्तुत पार्थिव जीवन को ही संशोधित और उन्नत बनाना, भौतिक सुख-सुविधा, भौतिक उन्नति और भौतिक कार्य-कुशलता।
- (७) इसके अनुसार मानव प्रकृति का एक क्षणिक जीवमात्र है।
- (८) यह संघर्षशील एवं हिंसाप्रधान है। राजस्विक है।
- (९) इसमें बौद्धिक तत्वों की प्रधानता है।
- (१०) इसकी रूढ़ि मनुष्य के आचार, जीवन-यापन की नीति, एवं भौतिक विज्ञान की ओर अधिक है।
- (११) यह आलोचना-प्रधान एवं विश्लेषण प्रधान है।
- (१२) यह प्रत्यक्ष निरीक्षण और प्रयोग की विधि पर आस्था रखती है।
- (१३) यह वैज्ञानिकता की वृत्ति से समन्वित है।
- (१४) यह धर्म निरपेक्ष कानून और संगठनों एवं संस्थाओं पर विश्वास करती है।

दोनों संस्कृतियाँ मैं संघर्ष और संधिबिंदु

आधुनिक युग में भारत में ये दो विभिन्न दृष्टिकोण, ये दो विभिन्न धारणाएँ, ये दो विभिन्न आदर्श, ये दो विभिन्न परंपराएँ, ये दो विभिन्न जीवन पद्धतियाँ, ये दो विभिन्न प्रवृत्तियाँ, ये दो विभिन्न संस्कृतियाँ परस्पर टकराईं। इस पाश्चात्य संस्कृति के संघर्ष में और वेद भी आए। किन्तु ये इसके रंग में रंग नए। वास्तविक टकराहट भारत में ही हुई और भारतीय संस्कृति से ही हुई। चाहे भारतीय संस्कृति में ही इतना धम था कि यह हस्ते टक्कर ले सकती। मजे की बात तो यह थी कि हम जिसके गुलाम हुए

उसी की संस्कृति से हमारी संस्कृति को टककर लेनी पड़ी। संस्कृतियों की इस टकराहट की कहानी, इस सांस्कृतिक घातों-प्रतिघातों की कहानी, बार बचाव की कहानी, तलवार और कवच की कहानी, व्यक्ति और युक्ति की कहानी बड़ी ही रोचक है। एक ने दूसरे को मिटाने की पूरी कोशिश की। राज्य छीना, भूमि व्यवस्था बिगाड़ी, राज्य का स्वरूप बदला, आर्थिक मान्यताओं पर आघात किया, आदर्शवाक्य बदले, भाषा बदली, दूसरे की भाषा का तिरस्कार किया, पूरे साहित्य से अपने पुस्तकालय की एक अलमारी के एक काने को श्रेष्ठतर कहा, संसार के श्रेष्ठतम साहित्य को गहरियों का गीत कहा, नवयुवकों का स्वरूप बदला, उनकी धारणाएं, उनके विश्वास, उनका रहन-सहन आदि बदला, उन्हें आधा तीतर और आधा बटेर बना दिया। लगा कि संस्कृति मिट जायगी। लगा कि भारत आस्ट्रेलिया और अमेरिका हो जायगा, लगा कि उसके निवासी हब लोन आरण्यक हो जायेंगे, हंगलैंड हमारा फावरलैंड (पितृभू) हो जायगा किन्तु तभी सुदूर अतीत से पांचजन्य की गूंज पर तैरता उद्बोधन सुनाई पड़ा, "बुद्धं हव्यदीर्घत्वं त्यक्त्वा शिष्टं परंतप"। सुनाई पड़ा, "यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत, अयुत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।" भगवान के अंशवतार हुए - रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद, रामतीर्थ, दयानन्द, तिलक, गांधी। हमने जीता, रामायण, महाभारत रुपी कवच पहना। ये अंशवतार हमारे सेनानी बने। कैसरिया बाना पहने हुए, निहत्थे, किन्तु आत्म विश्वास एवं आत्मबल के तेज से प्रदीप्त माल वाले बन्दरों की सेना ने कहा - 'यतो धर्मस्ततो जयः.... यत्र योगीश्वरो कृष्णो यत्र पार्थ क्षुधरः, तत्र श्रीविजयो भूतिभुवानीतिर्मतिर्मम।' और आज हमें विश्वास है कि हमारी संस्कृति एक बार फिर इस संघर्ष से अपराजेय होकर निकल रही है। संघर्ष का प्रभाव उस पर दृष्टिगोचर न होता हो, ऐसी बात नहीं है किन्तु साथ ही यह भी स्पष्ट है कि उस संस्कृति के मूल तत्व सुरक्षित हैं। उनकी उपयोगिता और महत्व आज भी असंदिग्ध

सिद्ध हो रहा है। तभी तो श्री माधव पणिकर ने कहा है कि "विगत सताब्दी में भारतीय संस्कृति और पश्चिमी जीवन दर्शन के बीच जो टक्कर हुई थी उसमें भारतीय संस्कृति को ही विजय प्राप्त मिली है और इस प्रकार उसने अपनी संप्राप्तता सिद्ध कर दी है।

हमारी आज की संस्कृति

अस्तु, बीसवीं सताब्दी की हिन्दी प्रदेश की संस्कृति का तात्पर्य हुआ (१) हिन्दी प्रदेश की भारतीय संस्कृति अर्थात् हिन्दी प्रदेश की परंपरा से प्राप्त होने वाले भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व, (२) हिन्दी प्रदेश पर यूरोपीय संस्कृति के अर्थात् पाश्चात्य संस्कृति के पड़ने वाले प्रभाव और (३) इन दोनों संस्कृतियों के प्रभावों में से हमारे ऊपर किसका प्रभाव कितना और कितना गहरा पड़ा है। इतना अध्ययन कर लेने के पश्चात् ही हम अपने हिंदी साहित्य की वास्तविक आत्मा, उसके वास्तविक स्वरूप और उसके महत्त्व को समझ सकेंगे। जब तक हम इन प्रभावों के वास्तविक अनुपात और उसके सापेक्षिक महत्त्व का अध्ययन ^न कर लेने तक हमें से कोई यह कहता रहेगा कि आधुनिक हिंदी - साहित्य तो अंग्रेजी साहित्य की नकल है, कोई यह कहा करेगा कि हिंदी साहित्य संस्कृत का उच्छिष्ट मात्र है, किसी की यह धारणा होगी कि हिंदी में है ही क्या, जो उसे पढ़ा जाय, आदि। हिंदी का साहित्य है क्या ? हिंदी का आधुनिक साहित्यिक भावों से स्पन्धित होने वाली उस आधुनिक भारतीय चेतना का वास्तविक प्रतिनिधित्व करने वाला अंग है जो इस बीसवीं सदी में विकसित हुई है। हिन्दी की आधुनिक साहित्यिक चेतना का विकास और स्वरूप निर्माण आधुनिक भारत के विकास और स्वरूप-निर्माण के साथ साथ हुआ है। हिंदी का साहित्य जीवित साहित्य है। वह जीवन के स्पन्धनों से परिपूर्ण साहित्य है। वह उस टेप रेकार्डर की भांति है जिसमें नवीन भारत की समस्त छल्ललें समाहित हैं। वह उस दर्पण की भांति है जिसमें भारत की इस

शताब्दी की चेतना का कण-कण अपने वास्तविक रूप में प्रतिबिम्बित होता है। इस साहित्य का एक-एक अक्षर इस शताब्दी की चेतना का एक एक कण है। साथ ही साथ वह भारतीय संस्कृति के परम्परागत, मौलिक, एवं शाश्वत मूल्यों और उनके स्वरूपों को, उसके तथ्यों और तत्वों को यथासंभव सुरक्षित रखे रहने वाला साहित्य भी है। मूल रूप में वह उल्टे दूर गया भी नहीं है। हमारे प्रतिनिधि साहित्यकार ने वह लिखा जो उसने देखा। वह गाया जिससे उसका हृदय तरंगित हो उठा। वह सोचा जिससे सोचने के लिये उसे विवश होना पड़ा। निष्कर्ष यह है कि आज के हिंदी के साहित्यिक का वास्तविक रूप समझने के लिये हमें यह विचारना पड़ेगा कि इस युग में हमारे समाज में क्या क्या हुआ, वैसा क्या हुआ, कौन-कौन-सी वैसी बातें हुई जिन्होंने आज के भारतीय मन को सँकशोर दिया, कौन से ऐसे तत्व थे जिन्होंने भारतीय आत्मा को बल दिया, कौन-कौन से ऐसे तत्व थे जो हमारे चिन्तन के विषय बने, कौन से ऐसे प्रभाव थे जिन्होंने हमारी चिन्तनधारा को मोड़ दिया, भारतीय समाज में जो किया वह क्या किया, हम पर जो प्रभाव पड़े हैं उनमें से कितनों का प्रभाव केवल बाह्य जीवन पर ही पड़ा है, कितने ऐसे हैं जिन्होंने हमारे स्वभाव को बदल दिया है और कितने ऐसे हैं जो हमारी आत्मा की गहराई तक उतर गये हैं। ये ही सब हमारी संस्कृति के उपकरण हैं। इनका अध्ययन करने से ही हम आज की संस्कृति के वास्तविक रूप को समझ सकेंगे; और ये ही वे बातें हैं जो किसी न किसी रूप में साहित्य में अभिव्यंजित हुई हैं। तात्पर्य यह है कि दोनों का संबंध अभिन्न है। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व असंभव है। एक दूसरे को प्रतिबिम्बित करता है और एक को हम तभी समझ पा सकते हैं जब हम दूसरे का वास्तविक अध्ययन और विश्लेषण कर लें। इसलिये हमें इन सबका अध्ययन करना पड़ेगा। सुविधा के लिये और प्रचलित रीति के अनुसार इनका विभाजन हम ऐतिहासिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, धार्शनिक रूप में करेंगे। इसके पश्चात् हम हिन्दी प्रदेश की जनता का जीवन और दृष्टिकोण

देखकर उस पर पढ़ने वाले पाश्चात्य प्रभाव का अध्ययन करेंगे। इतना करने के पश्चात् हम यह विचार करने की स्थिति में आ सकेंगे कि हिंदीप्रदेश ने अपनी परंपरा को किस सीमा तक अपनाये रखने का प्रयास किया और इसमें वह कितना सफल रहा। यह सारे का सारा अध्ययन हमारे सामने हिंदी प्रदेश की वास्तविक संस्कृति का रूप उभारेगा। इन सबके साथ ही साथ हम यह भी देखते चलेंगे कि अमुक परिस्थिति या तत्त्व या प्रभाव ने हमारे साहित्य को कहां तक और किन किन दिशाओं में प्रभावित किया है। इन सबके निष्कर्ष से ही हम यह समझ सकेंगे कि आधुनिक संस्कृति का हमारे आधुनिक साहित्य से कितना घनिष्ट, अनिवार्य एवं अविभाज्य संबंध है। वास्तविकता यह है कि इन परिस्थितियों ने पहले एक व्यक्ति पर प्रभाव डाला और उसे सोचने को विवश किया। उसने अध्ययन, मनन और चिंतन द्वारा अपने मन पर पढ़ने वाले इन प्रभावों को पुष्ट एवं सुदृढ़ पृष्ठभूमि दी। उसने कुछ अन्य लोगों पर अपने नये विचार और उनके समर्थन में युक्तियां प्रकट कीं। इस प्रकार कुछ लोगों का एक दल बना जिसने प्रचार और ठोस कार्यों द्वारा समाज में एक नई विचारधारा फैला दी जिसे पहले कुछ लोगों ने माना और बहुतों ने नहीं माना और बाद में बहुतों ने माना और कुछ लोगों ने नहीं माना। पहले कुछ लोग ठिपकर मानते थे, अब कुछ लोग ठिपकर नहीं मानते। इस प्रकार व्यक्ति और समाज की चेतना और उसका मनोविज्ञान परिवर्तित एवं प्रभावित होता है। हिन्दी का आधुनिक साहित्यिक व्यक्ति के रूप में इन समस्त परिवर्तनों और क्रान्तियों का प्रभाव ग्रहण करता है और समाज के प्रतिनिधि के रूप में साहित्य में उन्हें अभिव्यंजित करता है। एक सच्ची सत्य यह भी है कि यदि व्यक्तिगत रुचियां एवं प्रवृत्तियां का अध्ययन कर लें तो हम पावेंगे कि इन व्यक्तिगत विशिष्टताओं पर तो कुछ कुछ, किन्तु इनके अतिरिक्त व्यक्ति की चेतना का जो सामाजिक अंश होता है उस पर पढ़ने वाला प्रभाव बहुत कुछ बही होता है जो समाज

का हुआ करता है। तभी तो व्यक्ति समाज का प्रतिनिधित्व करवाता है। अस्तु, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं हिन्दी साहित्यिकों पर पढ़ने वाले प्रभाव प्रायः वे ही हैं जिन्होंने व्यापक रूप से पूरे समाज को भी प्रभावित किया है। इस प्रकार समाज की तरह तरह से प्रभावित करने वाले तत्वों का अध्ययन उस व्यक्ति की चेतना का भी अध्ययन - और उन समस्त व्यक्तियों की भी चेतना का अध्ययन उपस्थित कर देता है जिन्होंने साहित्य की - और प्रस्तुत ग्रंथ के अन्दर, आधुनिक हिन्दी साहित्य की - रचना की है। परिणामतः इनका अध्ययन साहित्य के स्वरूप, उसके उस स्वरूप के कारण और उसके महत्व को समझाने, स्पष्ट करने में पूर्ण रूप से सहायता दे सकता है। जाने के पृष्ठों में इसी उद्देश्य को लेकर इसी प्रकार से अध्ययन करने का प्रयास किया जायगा।

हिन्दी प्रवक्ता आधुनिक इतिहास और उसके निर्माण की प्रक्रिया

(पृष्ठ १८२ से १८८ तक)

सांस्कृतिक इतिहास का तीसरा चरण -- हमारा इतिहास और हमारी संस्कृति --
 हमारी प्रान्तियां और तमो यूरोपीय आक्रमण - १८५७ का विद्रोह एक सांस्कृतिक
 आक्रोश - १८५७ का विद्रोह और नीति परिवर्तन - शान्ति के लिए सम्मन्वय की
 वृत्ति - विक्टोरिया की मृत्यु - भारतीय स्वतन्त्रता - गान्धी युग - भारतीय परतंत्रता
 की उम्र - कर्ज - बंग-बंग-मंग - एक ऐतिहासिक प्रवृत्ति - भारत में दो प्रकार के व्यक्ति -
 बंग-मंग विरोधी आन्दोलन की ताव्रता एवं उत्तम प्रभाव - इस आन्दोलन की धर्म -
 वायसरॉय - तिथियां और घटनाएं - युगकी प्रधान प्रवृत्तियां - दो महत्वपूर्ण घटनाएं -
 कम्पगोरने वाला अन्य घटनाएं: होमरूल, कम्पारन, मूस हड़ताल, सैडा, जिताफत,
 रोलट ऐक्ट-विरोध - बलियांवाला काण्ड और मार्शल ला - असहयोग आन्दोलन - तिलक
 स्मारक काण्ड-बहिष्कार-घरना जादि -- माडरेट लोगों का अलग होना और विद्रुह
 जन-आन्दोलन -- राजकुमार के स्वागत का विरोध -- चौरी चौरा काण्ड -- रचनात्मक
 कार्यक्रम -- काण्डा सत्याग्रह -- गुरु का बाग का सत्याग्रह -- जेल में सत्याग्रहियों पर
 बर्ताव -- साम्प्रदायिक दंगे -- साहमन समीक्षण -- बारदोली -- पूर्ण स्वतन्त्रता
 हमारा लक्ष्य -- बोरसद-नमक आन्दोलन -- गान्धी-हर्विन सम्मेलन -- क्रान्तिकारियों
 की फांसी -- अवध का कृषि आन्दोलन -- गोलमेज कान्फ्रेंस और दमन --
 साम्प्रदायिक निर्णय -- प्रथम चुनाव -- द्वितीय युद्ध -- नाटक की परम्परा --
 रक्तरेखित स्वतन्त्रता -- आतंकवादो आन्दोलन -- संवैधानिक सुधार -- साम्प्रदायिक
 दंगे -- युगकी प्रधान प्रवृत्तियां -- बलित भारतीय दृष्टिकोण -- राष्ट्रीयता और
 साहित्य -- राष्ट्रीयता और हिन्दी भाषा -- घटनाओं का साहित्य पर प्रभाव ।

हिन्दी-प्रवेश का आधुनिक इतिहास

और

उसके निर्माण की प्रक्रिया

सांस्कृतिक इतिहास का तीसरा चरण

कन्हैयालाल माणिकलाल मुंजी का विचार है कि भारतवर्ष के सांस्कृतिक उत्थान का तीसरा अध्याय १७०० ई. के पास से प्रारम्भ होता है। पंजाब के सिक्ख गुरु, दक्षिण के शिवाजी, राजस्थान की अनेक विभूतियाँ, उत्तर के अनेक वीर आदि ^{उत्तम मर्म} हुंकार उठे। किन्तु इसके पहले कि भारत इस पुनरुत्थान का फल चखने पाता, मांग्य ने उसके मध्ये इंग्लैण्ड की राजनीतिक और आर्थिक दास्ता मढ़ दी। फिर भी पुनरुत्थान की धारा इससे समाप्त न हुई। वह दूसरी दिशाओं में बह निकली। उसका रूप कुछ बदल गया। वह अप्रत्याशित स्वरूपों और केवों में प्रकट हुई। यह स्वाभाविक ही था क्योंकि वह शक्ति चाहे जिस उद्देश्य को ध्यान में रखकर अर्जित की गई हो किन्तु यदि कोई ऐसी परिस्थिति आ जाय जो शक्तियान के अस्तित्व को ही मिटाने पर तुली है, तो उस शक्ति का प्रयोग (पहले वाले उद्देश्य को किनारे करके) इस नवीन परिस्थिति का सामना करने के लिये, उसे पराजित करने के लिये और उसको अपने अधिकार में करने के लिये ही किया जायगा। यही बात भारत के साथ हुई। तीसरे सांस्कृतिक उत्थान से प्राप्त शक्ति की क्रियाशीलताएं इसी लिये अप्रत्याशित रूपों और केवों में दिखाई पड़ीं। १८५७ का विद्रोह, रामकृष्ण परमहंस, दयानंद, धिवेकानंद, तिलक, अरविन्द, टैगोर, गांधी आदि उसकी प्रगतिशीलता के विभिन्न प्रतीक हैं। इनकी कहानियाँ, इनकी प्रवृत्तियाँ ही हमारा इतिहास एवं हमारी ऐतिहासिक प्रवृत्तियाँ हैं। हमारी ऐतिहासिक प्रवृत्तियाँ

का स्वरूप इन्हीं से विनिर्मित होता है।

हमारा इतिहास और हमारी संस्कृति

हमारे देश के जीवन की गतिविधि की धिठा एवं उसके स्वरूप का निर्धारण हमारी सांस्कृतिक चेतना ही करती है। वही हमारे जीवन की नाडी है। १८ वीं शताब्दी तक पहुंचते पहुंचते हमारी सांस्कृतिक चेतना ने एक नवीन परिधान धारण किया था जिसका ताना-बाना हिन्दू और मुस्लिम - इन दो संस्कृतियों के तत्वों से विनिर्मित हुआ था। औरंगजेब के शासन का स्वरूप भारतीय संस्कृति के सामासिक स्वरूप से भिन्न था - बिगुल उलटा था। हम सबको मिलाकर रहने के कन्सा कायल थे, वह शिया-सुन्नियों तक में घातक भेद करता था, भारतीय संस्कृति हम में एक तत्व का दर्शन करती है, वह अपने सगे-पड़ों में भी एक तत्व नहीं देख सकता था; हमारी संस्कृति कहती है "पितृदेवो भव", और उसने "किले के ठौर बाप बावसाह साहजहाँ बाको कैद कियो मानो मक्के जागि लाई है", हमारी संस्कृति उदार थी; और तब हमारी संस्कृति - उस युग की सामासिक संस्कृति के प्रतीक समर्थ राम-दास ने अन्नीति - असंस्कृति - के विरुद्ध खीम प्रकट किया। उस खीम को उक्ति (तलवार) की भवानी ने। इस प्रकार हमारे देश के इतिहास की एक नई धान-धार कहानी बनी जिसका सांस्कृतिक उद्गमन भूषण ने प्रस्तुत किया। इतिहास का निर्माण करती हुई संस्कृति की वही गंगाधारा बड़ी। राज्य बढे, राजा बढे, नीतियां बढीं, उक्तियां बढीं। घटनाओं ने नई नई मोड़ें लीं।

हमारी सांस्कृतिक मूलें और सभी यूरोपीय जाग्रम

औरंगजेब की सांस्कृतिक मूलों का परिणाम देश की मुक्तता पडा।

१. जिसकी छवना शिवराज भूषण के "किले के ठौर बाप बावसाह साहजहाँ" वाले छंद में हुई है।

सांस्कृतिक बाढ में दरारें पड़ गईं जिन पर पलस्तर लगाने का काम जन-जीवन और दृष्टिकोण करने लगा। सन्तुलन बिगड़ गया। हम इस महत्वपूर्ण काम में लगे ही थे कि यूरोपीय संस्कृति के बाढ़ल अपनी समस्त शक्ति, क्षमता संकुलता एवं सघनता के साथ हम पर बरसने लगे। एक ठोड़ दे। ये ठयापारी विजेता राजनीतिक शक्ति का आयुध लेकर हमारी संस्कृति पर टूट पड़े। ये नवीनता का आकर्षण लेकर आये थे। संभवतः जनता इनकी कूटनीति न समझ सकी। इन्होंने जीवन सम्बन्धी हमारा दृष्टिकोण बदलना प्रारम्भ कर दिया क्योंकि ये हमको अपने सांस्कृतिक उपनिवेश का रूप देना चाहते थे। हम प्रेम के पुजारी थे, ये संघर्ष के समर्थक थे; हम ब्रह्मचारी थे, ये एकमात्र बौद्धिक थे; हम कर्ममय धर्म चाहते थे, ये स्वार्थप्रेरित कर्मवादी थे; हम अश्वेदवादी थे, ये भेदवादी थे, हमें शान्ति चाहिये थी, इन्हें उपया चाहिये था; हम उनसे मिलने के लिये बढ रहे थे, वे हमें हुकाने के लिये लड़ रहे थे; हम भीम की तरह आलिंगन करने की दिशा में चल रहे थे, वे हमें दबाकर हमें चूर-चूर करने के लिये अंधे धृतराष्ट्र की तरह स्वयं जल और हमें छल रहे थे। हमने इसे समझा तब जब हम उनकी शक्ति और कूटनीति के पाय में पूर्णतः आवद्ध हो चुके थे। जब हमने समझा तब उस आवद्धता-परवद्धता - अव्यक्ति - असहायता की अवस्था में भी मुक्ति के लिये हुंकार मरी, जोर लगाया और हाथ-पांव मारे।

१८५७ का विद्रोह - एक सांस्कृतिक आक्रोश

इतिहासकारों ने इसे १८५७ ई. का सैनिक विद्रोह कहा किन्तु वे भूल गये कि ये सैनिक जनता की मुक्ति की छटपटाहट और उसके आक्रोश के प्रतीक थे। उन्हें जनता का समर्पण प्राप्त था। यह असंतोष - आक्रोश न केवल सैनिकों का ही था और न केवल कुछ राजाओं और उनके कुछ नौकरों मात्र का ही - यह भारत-माता की आत्मा की ठयाकुलता थी। यह उसकी आहत

पुकार थी जिसको सुनकर तात्तों ने अपने तन-मन-जीवन-धन-सुख-समृद्धि-संतोष
 आदि की आइति दे दी। १८५७ की हुंकार भारतीय संस्कृति को स्वार्थ की
 मोथरी हुरी से रेतें जाने के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाली उसकी करुण
 चीत्कार के आह्वान के परिणामस्वरूप उठी थी। १७०० के आसपास उठने
 वाले सांस्कृतिक उत्थान की अजग्राधार से प्राप्त किन्तु उस समय क्षीणपूर्ण प्रतीत
 होने वाली शक्ति के पुनर्जागरण की क्षोभमयी एक करवट थी। "अंगरेजों की
 विजय के कारण जनता राजनैतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत पीड़ित थी।
 यह विद्रोह केवल फौजी बगावत न था मगर डा. डफ के ऊर्ध्व में यह बलवा
 और क्रान्ति दोनों एक साथ था। एक प्रकार से यह आगे जाने वाले स्वातंत्र्य
 संग्राम का विधिवत रिहर्सल था और उसमें से संयुक्त आन्दोलन की परम्परा ने
 जन्म लिया। पुराने समाज की सामाजिक परंपराएं १८५७ में अपनी शक्ति के
 पुनः संस्थापन के अंतिम प्रयत्न में पूरी तरह से विनष्ट हो गईं।" उसने भार-
 तीय इतिहास को फिर एक नई मोड़ पर ला सटा किया। स्वको सोचने के
 लिये विवश कर दिया। इस पर कुछ बाद में विचार किया जायगा। अभी
 यह देना है कि इस हुंकार का कारण क्या तबमुक्त सांस्कृतिक था। ईश्वरी
 प्रसाद ने लिखा है, "१८५७ ई. के विप्लव के कारण तो सालों के इस शासन से
 उत्पन्न अंतोष में ही मिल जाती हैं; चर्चों लगे कारतूस तोत्र अंतोष के इस
 वास्तवता में एक चिनगारी के समान थे।" अंगरेजों की भारतीय सम्राट के
 प्रति अवज्ञा और सामान्य रूप से पाई जाने वाली घृष्टता का उल्लेख करते
 हुए इसी लेखक ने लिखा है, "इसी प्रकार अवध के नवाब और झांसी की रानी
 के प्रति अंगरेजों के दुर्व्यवहार ने उनकी प्रजा के मन में अंगरेजों के लिये घृणा
 उत्पन्न कर दी थी"। ईश्वरीप्रसाद ने कुछ अंगरेजों के उद्धरण दिये हैं जो

१. 'आज का भारतीय साहित्य', पृ. ४८।

२. 'जवाहीर भारत का इतिहास', पृ. २८२।

३. वही. पृ. २८६।

इस विषय पर अच्छे ढंग से प्रकाश डालते हैं। उनमें से कुछ ये हैं - जस्टिन मेकाथी ने अपने ग्रंथ "हिस्ट्री आफ अवर टाम्स" में लिखा है, "..... (यह विद्रोह) एक राष्ट्रीय और धार्मिक युद्ध था।" यही सम्मति "ए इयर्स कैम्पेन फ्रॉम मार्च १८५७ टु मार्च १८५८" नामक पुस्तक के लेखक मेहले की थी है क्योंकि वह कहता है, "इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि भारत सन् १८५७-५८ ई. में सांस्कृतिक एकता के सूत्र में बंधा हुआ था" २८४। इससे निश्चित रूप से यह निष्कर्ष निकलता है कि विद्रोह सांस्कृतिक था और जो कुछ हुआ वह सांस्कृतिक प्रेरणा से हुआ। एडवर्ड स्टैन्फोर्ड द्वारा प्रकाशित "दिव काजेज आफ दि इंडियन रिवोल्ट बाइ ए हिन्दू आफ बंगाल" नामक पुस्तक में हमें यह महत्वपूर्ण उद्धरण मिलता है, "इस वर्ष (१८५७ ई.) के प्रारंभ में भारतीय सेना के अनेकानेक कर्नल सेना को ईसाई बनाने जैसी राक्षसी और बुद्धाध्य कर्म में निरत पकड़े गये।" मैल्कम ल्युइन ने "इंडियन रिवोल्ट" में लिखा है, "..... हमने उनकी जाति को अपमानित किया है, हमने उनके धाय-भाग के नियमों को भंग किया है, हमने उनकी विवाह-संबंधी प्रथाओं को खरबसा है, हमने उनके धर्म के पवित्रतम संस्कारों की अवहेलना की है, हमने उनके देवाल्यों की सम्पत्ति को हड़प लिया है..... हमने संसार के प्राचीनतम अभिजाते वर्ग को उखाड़ने और उसको अतिबुद्धों की स्थिति में धकेलने की चेष्टा की है।" यह पूरे का पूरा उद्धरण एक अंगरेज की इस बात के लिये गवाही है कि उसकी जाति ने भारत की संस्कृति को मिटाने पर तुल गई थी। हमें नालियां भी गई, हमारे संस्कारों का मजाक उड़ाया गया, हमारी प्रथाओं को जंगली कहा गया, हमारे देवताओं के लिये अपसृष्टों का प्रयोग किया गया और अपमानित किया गया, हमारे धर्म के स्वरूप की हंसी उड़ाई गई, हमारे महान् साहित्य का तिरस्कार किया गया, और उसे व्यर्थ एवं निरर्थक सिद्ध किया गया। इन्प्रविद्यावाचस्पति ने लिखा है, "प्रजा की वैधेनी का असली

१. ये सभी उद्धरण उपर्युक्त पुस्तक के दूसरे अध्याय में हैं।

कारण यह था कि अंग्रेज पादरी और शिक्षक मिलकर प्राचीन धर्म, संस्कृति और परम्पराओं की जड़ पर कुठाराघात कर रहे थे।' ईसाई लैतिक द्रव - बुबोई और ड्यूरेम्प - ने जो कुछ विषयमन किया है वह हिन्दू धर्म और संस्कृति के प्रति उनकी बदनीयती और उनके वास्तविक दृष्टिकोण का परिचायक है। इन बातों का तो हमें पता लग गया किन्तु नवीन अर्थ-व्यवस्था और नवीन शिक्षा संस्थाओं और नवीनतम जीवन पद्धति के द्वारा वे हमारे स्वरूप-रहन और दृष्टिकोण को जिस प्रकार नाष्ट कर रहे थे उसका पता उस समय तो बहुत कम लगा ही, मेरा तो यह अनुभव है कि हममें से अधिकांश आज तक उसके कुप्रभाव से नहीं बच पाये। आज उसे हम फैशन, क्रांति, परिवर्तन, सांस्कृतिक संगम, और प्रगतिशीलता जैसे महत्वपूर्ण एवं भारी मरकम शब्दों के ^{की} श्रेणी पर्याय समझ बैठने की गलती कर जाते हैं और कभी इनकी आड़ में अपनी उन दुर्बलताओं को छिपाते हैं। अस्तु, यह सांस्कृतिक विद्रोह हुआ। इतिहास ने नहीं करवट ली। विजित और विजेता - दोनों को सोचने के लिये मजबूर होना पड़ा। अंग्रेजों ने आज तक जो दृष्टिकोण बनाया था उसे उन्हें बदलना पड़ा। संभवतः उन्होंने सोचा था कि यूनान, मिस्र, रोम, चीन आदि की तरह भारतीय संस्कृति भी अत्यन्त पुरानी होने के कारण जीर्ण-शीर्ण, हत-व्यक्ति, समय के पीछे की चीज एवं नये जीवन की नयी प्रेरणा देने में पूर्णतः असमर्थ होगई है और इसलिये चायद उनकी यह धारणा भी बनी थी कि भारतीय संस्कृति के विभिन्न तत्वों को जिस तरह चाहो, उस तरह तोड़ो-मरोड़ो, उस तरह उसकी कुदयारूया करो, उस तरह उसे बदनाम और निरर्थक सिद्ध करो उसे अनुयायियों को जिस तरह चाहो उस तरह सभी दृष्टियों से छूटो, नेस्त नाबूद करो। हिन्दुस्तानी निर्भीक हो गया है। एच. सी. ई. जकारियाज ने लिखा है कि १८५७ के विद्रोह से अंगरेज पूरी तरह से डर गये थे^१। १८५७ के

१. 'हिन्दू मेनस', कस्टम्स ऐंड सेरेमनीज',

१८५७ का विद्रोह और नीतिपरिवर्तन

१८५७ के विद्रोह ने यह सोचने को मजबूर कर दिया कि जिसे वह अब समझ रहा था वह किसी सबल - स्विकृत का सुप्त-निष्क्रिय - निरक्षेत्र शरीर था। यह आयद समझ गया कि धर्म, सामाजिक परम्पराएं, आस्थाएं, अधिकार आदि के रूप में उसने शिव के तीसरे नेत्र को कौंध दिया है जिसकी आग की एक छोटी सी लपट इतनी भयानक है। वह समझ गया कि भारत राष्ट्र में अभी भी शक्ति और चेतना है। उससे प्रत्यक्ष उद्युता करके भारत में टिक सकना असम्भव हो जायगा। उसने नीति बदल दी। उसके बाद से भारत में अंग्रेजों और भारतीयों का उस रूप में युद्ध नहीं हुआ जिस रूप में १८५७ के पहले होता था। उसके बाद फिर भारत में साम्राज्य के विस्तार की नीति छोड़ दी गई, साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति और साम्राज्य के प्रभाव क्षेत्र को बढ़ाने की नीति अपनाई गई। हमें हथियारों की शक्ति से बंध में लाने की अपेक्षा कानून की शक्ति से बंध में लाने की नीति अपनाई गई। म्युर एवं प्रिय भाषा-शैली तथा स्वार्थ-संगत कार्यों और कानूनों का बोल-बाला हुआ। आक्रांता के चेहरे पर मैत्री और प्रशिक्षण का नकाच चढ़ाया गया। दिखाया गया कि हम आपको आपके सभी अधिकार धीरे धीरे दे देना चाहते हैं। देरी केवल उतने समय तक ही है जबतक कि आप यह सिद्ध न कर दें कि आप उन अधिकारों का उपयोग करने के योग्य हैं; और वास्तविकता यह थी कि वे हम पर अविश्वास करने लगे थे और सोचते यह थे कि भारतीयों को उतना ही दिया जाय जिससे अंग्रेजों की प्रभुता, उनकी शक्ति और उनके हितों पर कभी किसी प्रकार की आंच न आने पावे। सांस्कृतिक आक्रमणों की तीव्रता कम हो गई। आगे का इतिहास दो अविश्वासी जातियों के परस्पर प्रेम एवं समभावना प्रदर्शन का इतिहास है। यदि अंग्रेजों ने सोचा तो भारतीयों को भी सोचने के लिये मजबूर होना पड़ा। महारानी विक्टोरिया की घोषणा हुई कि अब अधिकृत प्रदेशों को नहीं बढ़ाया

जायगा, ईस्ट इंडिया कंपनी के द्वारा की गई सन्धियाँ और समझौतों को माना जायगा, सबको अपने कर्तव्य पालन की स्वतन्त्रता रहेगी, सबको धार्मिक कर्तव्यों एवं अनुष्ठानों को पालन करने एवं पूरा करने की स्वतन्त्रता रहेगी, शिक्षा-स्तर योज्यता और ईमानदारी के आधार पर सबको समान रूप से नौकरियाँ दी जायेंगी, बलपूर्वक धर्मपरिवर्तन कराने वाला बंड का भागी होगा, भारतीयों के भारत-प्रेम का सम्मान किया जायगा, तथा भारतीयों के अधिकारों और न्यायोचित मांगों को माना जायगा। सहज विश्वासी भारतीयों ने विश्वास कर लिया और उनका सारा श्राद्धोद्य सम्राट्त हो गया। वे राज-मक्त हो गये। उसकी तरफ से लड़ने-मरने को तैयार हो गये। कविभारतेन्दु ने आशीर्वाद दिया :- "पूरी जमाँ की कटोरिया-सी चिर जीवहु तुम पिकटोरिया रानी।" या "हे प्रभु रच्छहु भी महारानी" ^१ किन्तु सत्य की और से आँस कहीं तक मुँदी जातों। साम्राज्य के घोषणा पत्र पर पूरी ईमानदारी से जमल नहीं किया गया। विश्वासी अंधा तो नहीं होता। उसी भारतेन्दु की आखिर एक दिन "भारत-पुर्वदा" लिखनी पड़ी और कहना पड़ा "ये धन विदेश चलि जात यह अति ख़्तवारी" ^२ भारतीय राष्ट्र अंगरेजों के स्वरूप को पहचान गया किन्तु वह यह भी समझ गया कि अब भारत के रंगमंच पर से हथियारों के प्रयोग के दिन बहुत दिनों के लिये उठ गये। हथियारों का प्रयोग दोनों नहीं करना चाहते थे क्योंकि दोनों ने दोनों की तलवारों का पानी पेश लिया था और फिर अब एक कानूनी चिक्के में हो और दूसरा सर्वव्यक्तिसंयमन, तो दोनों में हथियारों की लड़ाई हो भी कैसे सकती है। भारत ने समझ लिया कि अब उसे हथियारों का सहारा छोड़ना है। १७७७ ई. के आत्मघात से वह मोड़ लेकर चली आने वाली सांस्कृतिक चेतना और व्यक्ति ने प्रेरणा दी। इति-

१. 'भारतेन्दु प्रभावली', भा. २, पृ. ८१४।

२. भारतेन्दु नाटकावली, पृ. ५९८।

हास ने एक नई मोड़ ली। युद्ध ने नया रूप धारण किया। इतिहास ने एक नई कहानी लिखना प्रारम्भ किया। हमने स्वयं हथियार छोड़ा तो उनके भी हथियार रखवा दिये। वे अपनी अनीति और दुनीति का समर्थन नीति और झूठ का सहारा लेकर करने लगे। भारतीय संस्कृति की जय हुई। हमने जबर-दस्ती का उत्तर अनुरोध, ठगाना का उत्तर ठगाना, दुर्वृत्ति का उत्तर सव-बुद्धि, घृणा का उत्तर प्रेम, दमन का उत्तर असहयोग, जबरदस्ती लावे गये कानून का उत्तर कानून भंग, कूटनीति का उत्तर स्पष्ट एवं सत्य कथन, मायाजाल के बादलों का उत्तर सत्य के सूर्य-प्रकाश, और हिंसा का उत्तर अहिंसा से दिया और १९४७ को इतिहास ने सुनहरे अक्षरों से अपना निर्णय लिख दिया - "सत्य-मेव जयते नानृतम्"। अस्तु, १८५७ के बाद भारत ब्रिटिश साम्राज्य का एक विधिवत् उपनिवेश बन गया। भारत के इतिहास में यह एक नई बात हुई। नया अनुभव प्राप्त। जवाहर लाल नेहरू ने लिखा है, "हिन्दुस्तान के इति-हास में पहली बार उसके ऊपर बाहर के किसी अन्य देश का राजनीतिक नियंत्रण स्थापित हुआ और उसके अर्थात् काकेन्द्रविन्दु किसी सुन्धूर देश में स्थापित हुआ। उन लोगों ने हिन्दुस्तान को आधुनिक युग का एक विचित्र उपनिवेश बना दिया। अपने लम्बे इतिहास में भारत पहली बार गुलाम देश बना।"^१

शान्ति के लिये सम्पन्नता की बलि

भारत को विकटोरिया-युग के साम्राज्य की बेनी को सम्पन्नतः निष्कर्ष रूप में उपस्थित करते हुए रमेशका ने लिखा है, "मविध्य के इतिहास-कारों को यह पुसमरी कहानी कहनी होगी कि (ब्रिटिश) साम्राज्य ने भारतीय जनता को शान्ति तो दी किन्तु समृद्धि नहीं दी, कारीगरों के हाथों से उनके उद्योग निकल गये, निरन्तर बढ़ते जाने वाले भारी भारी करों ने,

१. "हिस्वररी आफ इंडिया", पृ. २२३।

जिनके कारण बचत की कोई संभावना नहीं रह गई थी, किसानों को पीस डाला, देश की आय का अधिकांश भाग इंग्लैंड को रवाना कर दिया जाता था और करोड़ों की संख्या में जनता बार बार होने वाले प्रत्यक्ष अकालों से साफ कर दी जाया करती थी।^१ १८५७ ई. से १८९९ ई. तक के ब्रिटिश शासन की भी यही कहानी है। महारानी विक्टोरिया का प्रह घोषणा पत्र जून १ नवम्बर, १८५८ ई. को इलाहाबाद में आयोजित दरबार में सरकारी तौर से सुनाया था। इस घोषणा पत्र के अनुसार रानी ने भारत का शासन, अपने हाथों में ले लिया। ईश्वरी प्रसाद ने लिखा है, “भारतीयों के लिये रानी का भारत-शासन अपने हाथ में लेना एक नये युग का प्रारम्भ था; इस घोषणा का भारतीयों के अधिकार-पत्र के रूप में अभिनंदन किया गया।”^२ इस घोषणा पत्र से शासन में नई नीति का समावेश हुआ; देखी रियासतों की सीमाओं में ठेठ-ठाठ समाप्त हो गई; रियासती प्रदेशों को अंगरेजी राज्य में मिलाने की नीति समाप्त होगई, गोद लेने के अधिकार को भी स्वीकार कर लिया गया और इस प्रकार बेदखली की नीति समाप्त हो गई; शान्ति - समृद्धि की आशा होने लगी; अपने अपने धर्म की रक्षा का विश्वास हो गया, समान व्यवहार और योज्यता के अनुसार ऊंची ऊंची सरकारी नौकरी पा सकने की उम्मीद की जाने लगी। भारत में शान्ति और संतोष की भावना बनी। ध्यान रहे कि ये वादे डर कर किये गये थे न कि किसी सिद्धान्त एवं नैतिक भावना से प्रेरित होकर। यह हाथ मिलाना अपना अपना दाँव सेलते हुए हाथ मिलाना था। यह प्रवर्धन मात्र था। अभी तक इस प्रकार व्यवहार किया जाता था जैसे कोई स्वामी मालिक अपने मामूली गुलाम से करता कर है। अब इस प्रकार का व्यवहार कर दिया जाने लगा जैसे कोई मालिक अपने

१. “इंडिया इन दि विक्टोरिया एज”, भूमिका, पृ. ८-९।

२. “अर्वाचीन भारत का इतिहास”, पृ. ३३५।

अधीनस्थ उस नौकर से करता हो जिसकी शक्ति और संभावनाओं से वह स्वयं डरता हो। पहले स्वार्थ का नाच सुलकर बेधमी के साथ किया जाता था, अब कूटनीति के साथ किया जाने लगा। दिखाया गया कि हम आपकी भलाई के लिये आपको सब कुछ दे रहे हैं और सब कुछ करने के लिये तैयार हैं लेकिन दिया और किया वही गया जिसके लिये विवशता हो गई और वह भी, जहाँ तक हो सका अपने स्वार्थ और अधिकार को सुरक्षित रखते हुए। इस युग में दस वाय्सराय आये। शासन-अवधि के साथ उनके नाम इस प्रकार हैं:- लार्ड कैनिंग (१८५८-१८६२), लार्ड एल्लिन (१८६२-६३), लार्ड जान लार्सेस (१८६३-१८६९), लार्ड मेयो (१८६९-७२), लार्ड नार्थ ब्रुक (१८७२-७६), लार्ड लिटन (१८७६-८०), लार्ड रिपन (१८८०-८४), लार्ड डफरिन (१८८४-८८), लार्ड लेन्सडाउन (१८८८-१८९४), और लार्ड एल्लिन (१८९४-९९)। इस युग की सर्वप्रमुख विशेषता है भारत सरकार की शासन-नीति का विकास। १८७० ई. में लाल सागरीय केवल की स्थापना से शिमला और लंदन के बीच समाचारों का आदान-प्रदान मिनटों में होने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय कार्यों पर भारत-सचिव का नियन्त्रण बहुत बढ गया। इस नियंत्रण से भारत का प्रायः अहित ही हुआ। आर्थिक अधिकारों के वितरण की नीति इसी युग में अपनाई गई। इसके अनुसार छयय के कुछ विभागों जैसे जेल, सड़कें, पुलिस आदि को इनके साथ सम्बन्ध आये - सख्ति स्थानीय सरकारों के हाथ में रख दिया। प्रान्ता की केन्द्रीय सरकार से एक निश्चित धन प्रतिवर्ष मिलता था। प्रान्ता की वचत का धन अपने पास रखने और अपनी आवश्यकता के अनुसार छयय कर करने का अधिकार मिला। यह भी निश्चित किया गया कि गवर्नर जनरल, अपनी परिषद् सहित किसी भी विभाग में निरीक्षण और नियन्त्रण के अपने अधिकार तो न छोड़ेगा परन्तु हस्तांतरित राजस्व और सेवा आयोगों की व्यवस्था के छययों में हस्तक्षेप और प्रान्तीय आवश्यकता की उल्लंघनों से बचे हुए रहेंगे। निश्चय किया गया कि किसी ऐसे युद्ध में छोड़कर जिसमें केन्द्रीय सरकार के समस्त साधन समाप्त हो जाय, अन्य किसी

युग में प्रान्तीय सरकारों से कोई मांग न की जायगी। अकालों में शाही सरकार तत्काल सहायता पहुंचावेगी। स्थानीय स्वायत्त शासन का प्रारम्भ भी इसी युग में हुआ। ग्रामीण स्वायत्त शासन के अधिकार दिये गये। १८६१ से १८९९ के बीच ७ मयानक अकाल पड़े। सारा देश अकाल से पीड़ित हो उठा। इस युग में कृषि की दशा सुधारने के जो प्रयत्न हुए वे न होने के बराबर थे। व्यापार नीति ने कृषि पर और भी बोझ डाल दिया। यूरोप की औद्योगिक क्रान्ति और भारत में विदेशी पूंजीवाद के प्रवेश ने भारत के उद्योग धंधों का जीना घुमर कर दिया। कच्चा माल पाने और तैयार माल को सपाने के लिये मंडियाँ को अपने अधिकार में रखना इंग्लैंड की आर्थिक नीति थी। भारतीयों के उच्च पदों पर पहुंचने के मार्ग में तरह-तरह की बाधाएं लगी जाती रहीं। सिविल सर्विस की परीक्षा में, जो लंदन में होती थी, बैठने के लिये अधिकतम आयु पहले २२ (१८६० ई.) फिर २१ (१८६१) कर दिये जाने के कारण भारतीयों के लिये यह परीक्षा और उससे मिलने वाले पद दुरासामान्य रह गये। इसका कारण था अविश्वास की नीति। इससे लोगों में असाधारण असंतोष पैदा हो गया। १८७० ई. तक प्रेस स्वतंत्र रहा। तब तक यह अंगरेजों के ^{हाथ} में था। बाद में यह भारतीयों के हाथ में आ गया और राजनीतिक शिक्षा और जागृति का सन्देश बाहक बना। सरकार की आलोचनाएं भी होने लगीं। सरकार स्तर्क हो गई। १८७८ ई. में बर्नाकुलर ऐक्ट पार कर दिया गया। इससे प्रेस की स्वतंत्रता छिन गई। १८८२ में यह रद्द हुआ। १८८३ में इल्लर्ट बिल पास हुआ। इस बीच जातीय घृणा के भाव बहुत जोर पकड़ गये थे। काला आदमी यूरोपवासियों का मुकदमा देते, यह गौरव को अस्वा था। उन्होंने इसका विरोध किया। भारतीयों ने इस विरोध की निंदा की। भारतेन्दु युग की कविताओं में ये सारी दुरवस्थाएं बड़े ही मार्मिक रूप में अभिव्यक्त हुई हैं। अकाल संबंधी निम्नलिखित कविता देखिए :-

कोई पात पेहन के चाये, कोई माटी कोई घास चबाय।
 कोई बेटवा-बिटिया बेचै, अब तो भूख सही नहीं जाय।
 कोई घर घर भीसो मांगै, कोई लूटपाट के साथे ।¹

टैक्स और महंगाई के विषय में प्रताप नारायण मिश्र ने लिखा है :-

महंगी और टिकट के मारे सगरी वस्तु अमौली है" ²

प्रेमचन्द ने बड़ी ही दूरदर्शिता के साथ भारत की वास्तविक मांग इस प्रकार सामने रखी है :-

ये दुख अति भारी इक यह जो बढत दीनता
 भारत में संयति की दिन दिन होत छीनता
 दुख दुखालहू जिनहिं अकालहिं के समु ^{भारत} अस्ति
 कई कोटि जन सदा सहत भोजन की तांस्त
 भारंत को धन अन्न और उबंम ठयापाहिं
 रच्छहु बुझकरहु तांचे उन्नति आधारहिं ।³

इससे राष्ट्रीयता के विकास में पर्याप्त सहायता मिली। १८८५ में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई। सुधारों की मांगें प्रारम्भ हो गईं। प्रारम्भ से ही यह नरम दलीय और वैधानिक सुधारों वाली संस्था रही। इस युग की वृत्तियों की एक शृंखला महात्मा गांधी द्वारा लिखित निम्न पंक्तियों में मिल जाती है, "उनके शासन से हमारा देश कंगाल होता जा रहा है। वे साल ब साल हमारे देश का धन ढोये लिये जा रहे हैं। वे गौरे चमड़े वालों को ही उन्हीं जोहवे देते हैं, हमें गुलाम की ही चला में रखते हैं। हमारे साथ उछलपन से पैस जाते हैं और हमारे भावों की

१. 'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित, भारत-वर्ष युग' पृ. १२ से उद्धृत

२. 'होली है' शीर्षक कविता से

३. 'छायांक हर्षाचर्य', से

तनिक भी परवाह नहीं करते।^१ भारतेंदु हरिश्चन्द्र ने इसी भाव की अभिव्यक्ति इन पंक्तियों में की है:-

बाहर भीतर सब रस चुसै, हंसि हंसि कै तन मन धन मूसै
जाहिर बातन मैं छिपि तेज , क्यों सखि साजन, नहिं, अंगरेज!^२

इस समय की एक और बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है और वह यह है कि अंगरेज मुसलमानों से विशेष रूप से सिंचे रहे, क्योंकि वे, जैसा कि स्वाभाविक है, सोचते थे कि साम्राज्य हमने मुसलमानों से लिया है और इसलिये मुसलमान हमसे विशेष रूप से शत्रुता रखेंगे और विश्वास न करेंगे। इधर कुछेक कारणों से मुसलमान भी अंगरेज, अंगरेजी भाषा और अंग्रेजी संस्कृति से सिंचे रहे। इस युग की मानसिक प्रवृत्ति चित्रित करते समय मन्मथ नाथ गुप्त ने लिखा है, 'जब हफ्ता ४० साल गुजर चुके थे। इस बीच मैं ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध कोई भी धुं करने वाला नहीं था। बड़े आनंद से सरकार और उसके पिढुओं के दिन कट रहे थे। मालूम होता था कि यही बहार सदा रहेगी। भारतवासी ऐसे ही गुलाम रहेंगे।'^३ इस पृष्ठभूमि में हमारा आलोच्य काल अर्थात् बीसवीं शताब्दी का प्रथमार्ध प्रारम्भ होता है।

विक्टोरिया की मृत्यु

इस युग की सर्वप्रथम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना है बयासी बर्षीया महारानी विक्टोरिया का देहान्त। इस महारानी का जीवन इस १९वीं शताब्दी पर छाया हुआ है। इसका जन्मकाल मले ही १९ वीं शताब्दी का जन्म-

१. 'हिंद स्वराज्य', पृ. २२

२. 'भारतेन्दु ग्रंथावली', पृ. ८११

३. 'भारत में सस्त्र क्रांति चेष्टा का रोमांचकारी इतिहास', पृ. २१।

काल न रहा हो किन्तु इसकी मृत्यु अवश्य ही १९ वीं शताब्दी की मृत्यु थी। बयासी वर्ष का जीवन लगभग एक शताब्दी का जीवन होता है। विक्टोरिया १९ वीं शताब्दी की प्रतीक थीं। उन्नीसवीं शती विक्टोरिया की शती थी जिसे साम्राज्य विस्तार की शती कहा जा सकता है। यह इंग्लैंड के उत्कर्ष की शती थी। विक्टोरिया का देहान्त एक प्रवृत्ति का, एक दृष्टिकोण का देहान्त था। बीसवीं शताब्दी परिवर्तित प्रवृत्ति, परिवर्तित दृष्टिकोण की शताब्दी है मले ही आ मूलतः परिवर्तित प्रवृत्ति की शताब्दी - कम से कम उस समय न हो पाई हो।

भारतीय स्वतंत्रता

जिस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध की सबसे प्रमुख घटना थी १८५७ ई. की क्रांति या विद्रोह, जिसे कुछ इतिहासकारों ने सैनिक विद्रोह मात्र कहना चाहा था, वैसे ही बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध की सबसे प्रमुख घटना है १९४७ ई. की भारतीय स्वतंत्रता। २९ मार्च १८५७ ई. को मंगल पांडे की गोली ने विप्लव का सूत्रपात किया था और १५ अगस्त १९४७ ई. की मध्य रात्रि में १२ बजे नेहरू और पटेल के हस्ताक्षर द्वारा उस महान् विप्लव को समाप्त किया गया। एक यत्न पूरा हुआ।

गांधीयुग

८२ वर्ष की आयु विक्टोरिया की थी; ७८ वर्ष की आयु गांधी की मिली। यदि इंग्लैंड के इतिहास का यह युग महारानी विक्टोरिया का युग था; तो भारत के इतिहास का यह युग महात्मा गांधी का युग था। १९०१ के आते ही विक्टोरिया चली गई और १९४७ ई. में स्वतंत्रता पाते ही गांधी चले गये। प्रत्येक महापुरुष के जीवन का एक लक्ष्य होता है जिसकी प्राप्ति उनके जीवन की समाप्ति होती है। महाभारत की समाप्ति पर के पश्चात् अर्जुन बेकार

हो गये थे और गांधीव चलाना एवं विध्यास्त्री का प्रयोग करना भूल गये थे। १९४७ की स्वतंत्रता के बाद गांधी अस्हाय हो गये थे - उनकी कोई सुनता ही नहीं था। 'लास्ट फेज' में प्यारै लाल ने और प्रार्थना प्रवचन में कई जगह गांधी ने स्वयं कहा है कि आज मैं अकेला हूँ, मेरा कोई प्रभाव नहीं रह गया है, मेरी कोई नहीं सुनता। तात्पर्य यह कि गांधी युग समाप्त हो गया।

भारतीय परतंत्रता की उम्र

इस प्रकार, यदि परतंत्रता का अर्थ है दूसरे देशवासियों का दूसरे देशवासियों पर शासन तो भारतीय इतिहास के इतने लम्बे काल में भारत केवल ८८ वर्ष ४ महीने ही परतंत्र रहा - यह बात दूसरी है कि यह परतंत्रता इतनी मयानक थी कि लगता है कि गुलाम रहना और गुलामी के दोषों से 'दूषित' होना ही हमारा स्वभाव है। प्रचारका प्रभाव कितना मयानक होता है और वह गलत बात को भी 'विश्वास' में परिवर्तित कर देने में कितना समर्थ है - इसका उदाहरण कुछ लोगों की उपर्युक्त धारणा है। समन्वय एवं सामंजस्य हमारी सांस्कृतिक प्रकृति है अन्यथा किसी की दासता भारत ने अपने इस दीर्घकालीन इतिहास में कभी भी नहीं स्वीकार है। जिसने पराया बनकर भारत में रहना चाहा भारत की आत्मा ने उसे या उसके शासन को भी कभी भी नहीं स्वीकार किया - उसे स कभी भी धन से नहीं बैठने दिया। भाव दृष्टि से भारत कभी भी गुलाम नहीं रहा।

कर्जन

१८६९ ई. में एक बहुत ही योध्य और परिश्रमी आवामी भारत में आया और उसने १९०५ में कहा, "इसमें सन्देह नहीं कि पूर्व में, जहाँ चालाकी और कूटनीतिक चालवाजियों का हमेशा ही बहुत सम्मान होता रहा है, उच्च सम्मान प्राप्त करने के पहले सत्य पाश्चात्य देशों के नैतिक नियमों में बहुत ऊँचा

स्थान प्राप्त कर चुका था।¹ किन्तु वही व्यक्ति जब भारत से गया तब "उसकी दशा एक हताश व्यक्ति की सी थी; अपने ही देश के मंत्रिमंडल ने उस को हतोत्साह किया था, जिस जनता की प्रसन्नता के लिये उसे भेजा गया था, उसी की घृणा लेकर वह लौट रहा था; उसके सहयोगी और अधीनकर्मचारी उस पर धृष्ट या प्रेम रखने की अपेक्षा उससे भयभीत ही रहे थे। भारत से विदा होते समय उसका मानसिक सन्तुलन इतना बिगड़ गया था कि वह राजकीय जीवन के सामान्य शिष्टाचारों का भी पालन न कर सका।¹ भारत का अपमान करने वाले योग्य से योग्य व्यक्ति की यह दशा हो जाती है। भारत एक न्यायप्रिय, पवित्र एवं आध्यात्मिक अस्तित्व है। उसका अहित करने वाला फूलने-फलने नहीं पाता।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ ने देखा कि ब्रिटिश सरकार ने अपने वायसरॉय के रूप में भारत को एक बड़ी अच्छी चीज उपहार स्वरूप भेंट की है जिसका नाम है कर्जन और जिसे यह कहा था, "मैंने भारतीयों को राजनीतिक सुविधाएं इसलिये नहीं दी हैं क्योंकि मैं ऐसा करना भारत के हित में न तो बुद्धिमानी समझता था और न राजनीति-कुशलता ही अथवा जिसकी मनोबुद्धि इन शब्दों से स्पष्ट चलती है, "भारत में रहते हुए मेरी एक महान् आकांक्षा यह है कि मैं कांग्रेस के शान्तिपूर्वक समाप्त हो जाने में सहायता करूं।"

बंग-मंग

भारत ने कृतज्ञतापूर्वक इस उपहार को स्वीकार किया। इस उपहार का परिणाम १९ जुलाई, १९०५ ई. को बंग-मंग के विवरण के रूप में मिला। उपहार और बंग-मंग के लिये अन्त्यास प्रदर्शन के स्वरूप ही जैसे "१५ अक्टूबर को, जिस दिन सरकारी तौर पर बंगाल के विभाजन का उद्घाटन हुआ, उस दिन सारे बंगाल में राष्ट्रीय शोक-दिवस मनाया गया। लोगों ने सारा दिन उपवास किया, गंगा में स्नान किया, एक-दूसरे के हाथ में एकता और प्राप्त

१. "अर्वाचीन भारत का इतिहास", पृ. ४१०।

की प्रतीक रेशमी राखी बांधी और "बंदेमातरम्" के तुमल नाद के साथ उपय
ली कि जबतक बंग-मंग की योजना समाप्त नहीं कर दी जाती तबतक वे यथा-
सम्भव विदेशी वस्तुओं का परित्याग करेंगे^१ भारतवासी बहुत दिनों से यह
सौचते आ रहे थे कि उनका इंग्लैण्ड में बनी हुई वस्तुओं का व्यवहार करना
उचित नहीं है क्योंकि जब हम विदेशी वस्तुओं का उपयोग करते हैं तब एक
तो हम पराधीन होते हैं तथा "अपनपौ" खो बैठते हैं, और दूसरे अंगरेजों का
ठूथापार बढ़ता है और वे धन पाते हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र लिखा था :-

भारकीन मलमल बिना चलत कछु नहिं काम

परदेसी जुल्लान के मा न्हूं भय गुलाम

.....

परदेसी की बुद्धि अरु करि वस्तुन की आस

बरबस हवे कबलों कहौ रहिहो तुम हवे दास!^२

बालमुकुन्द गुप्त ने चाहा था कि :-

अपना बोया आप ही लावै

अपना कपडा आप बनावै

माल विदेशी दूर भगावै

अपना चरसा आप चलावै।^३

भारतेन्दु जी ने साधारण जनता के नाम एक अपील निकाली और स्वदेशी वस्तु
वस्तुओं के व्यवहार की मांग की थी - "हम सब लोग स्वार्न्तर्यामी सब
स्थल में वर्तमान सर्वव्रष्टा और निष्पक्ष सत्य परमेश्वरकी साखी देकर यह नियम

१. 'अर्वाचीन भारत का इतिहास', पृ. ३९७।

२. 'भारतेन्दु ग्रंथावली', पृ. ७३५-७३७।

३. स्मृत कविता, पृ. १९६।

मानते हैं और लिखते हैं कि सब लोग आज के दिन से कोई विलायती कपड़ा न पहिनेगे और जो कपड़ा पहले से मोल ले चुके हैं और आज की मिती तक हमारे पास है उनके जीर्ण हो जाने तक काम में लावेंगे पर नवीन मोल लेकर किसी भांति का भी विलायती कपड़ा न पहिरेंगे.।”¹

इस कार्यक्रम ने बंग-मंग के विह्वल होने वाले आन्दोलन में एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया और बाव में तो इससे लंकाघायर और मान-चेस्टर को तथा उनके संरक्षकों को आसमान के तारे तका दिये। स्वमुख वास्तविक कवि मविष्यप्रष्टा होता है। अस्तु, बंग-मंग का उत्तर भारत के स्वदेशी आंदोलन से दिया ^{गया}। बंग-मंग अस्कल हो गया, स्वदेशी आंदोलन झकल हो गया। यह आन्दोलन और यह सकलता की-व्रत्तिक-की सम्भवतः मविष्य के आंदोलनों और उनकी सकलताओं एवं महान्तम सकलता की प्रतीक थी - देश का इशारा था जिसे उचित समझ पर अंगरेज कभी भी न समझ पाया। भारतीय संस्कृति ने स्वाधीनता के आन्दोलन को वह स्वरूप दिया था कि स्वाधीनता की प्राप्ति में न एक बूंद रक्त बहने पाता, न एक बूंद पसीना! कास कि अंगरेज कुछ और दूरदर्शी होते, कुछ और समझदार !!

एक ऐतिहासिक प्रवृत्ति

इस युग की ऐतिहासिक प्रवृत्ति यह थी कि भारतवासी यह समझ गये कि ~~कानूनवन्सी~~ एकमात्र विनम्रतापूर्वक मांगते रहने से - प्रार्थना पत्र पेशी से रहने से - कुछ मिलने का नहीं। उसके लिये युक्ति बुद्धि, और तर्क के साथ - साथ जनमत का समर्थन - जनता की शक्ति - भी होनी चाहिये। महात्मा गांधी ने लिखा है, “अब तक हम यह समझते आ रहे थे कि हमें बाइबल के पास अपनी अरजी, करिबाद पहुंचानी चाहिये और वहां सुनवाई न हो तो

1. “कवि वचन सुधा”, मार्च 1938 ई.।

चुपचाप कष्ट, अन्याय सहन करते रहे, हाँ बीच बीच में अरजी जरूर भेजते रहे। बंगमंग के बाव लोगों ने देखा कि अरजी-प्रार्थना के पीछे कुछ बल होना चाहिये, लोगों में कष्ट, -सहन करने की क्षमता होनी चाहिये। नई भावनाओं की ही बंगमंग का मुख्य परिणाम समझना चाहिये..... जो बातें डरते हुए और लुके छिप कर कही जाती थी वे अब सुले सजाने कही जाने लगी..... अंगरेज को देखकर पहले छोटे-बड़े सभी डरकर भागते थे, अब डरना-कांपना बंद हो गया।¹ उनका यह भी विश्वास हो गया था कि भारतवर्ष पर अंग्रेजों का शासन किसी नीति, सद्बुद्देश्य एवं भारत के हित से प्रेरित होकर नहीं हो रहा है बल्कि उसके पीछे उनका राजनीतिक एवं आर्थिक स्वार्थ है, जिसकी पूर्ति के लिये वे कूटनीति से लेकर बर्बरतापूर्ण दमन तक कुछ भी करने को तैयार हैं। सांस्कृतिक पुनरुत्थान ने उनके अन्दर आत्म-विश्वास की भावना पूर्णरूप से भर दी थी। अंगरेज यह समझता था कि भारतवासी अयोग्य हैं, उनकी अयोग्यता से लाभ उठाना चाहिये, उन्हें थोड़ा-बहुत देकर फुसला लो, न मानें तो बक्ति-प्रयोग करके उन्हें बचा दो और अगर इतने से भी न काम चले तो कुछ और देकर उन्हें चुप करने का प्रयत्न करो। होता यह था कि जब तक वे कुछ और देने का निर्णय करते थे तब तक बीसवीं सताब्दी की तीव्रतम ऐतिहासिक प्रगतियाँ और प्रवृत्तियाँ हमें और भी जागरूक करके "कुछ और भी" माँगने को विवश कर देती थी और वे इन्कार करके हमें फिर बचाने-मारने लगते थे तथा हम नये तारे से नया आन्दोलन करने लगते थे। इन दोनों प्रवृत्तियों का सम्मिलन सन् १९४७ में हुआ जब एक ओर भारत के प्रतीक गांधी ने कहा था कि अंगरेजों को जल्दी से जल्दी भारत छोड़ कर चला जाना चाहिये और दूसरी ओर इंग्लैंड के प्रधान मंत्री ने घोषणा की थी कि वे अधिक से अधिक जून १९४८ तक सत्ता हस्तांतरित कर देना चाहते हैं। गांधी ने कहा था कि

जून, १९४८ से भी पहले उन्हें चला जाना चाहिए और वे अगस्त १९४७ को ही चले गये। इस प्रकार दोनों जहाँ मिल गये वहीं समस्या का समाधान प्राप्त हो गया।

भारत में दो प्रकार के व्यक्ति

इस युग में भारत के रंगमंच पर दो प्रधान दल थे - पहला, भारत की स्वतंत्रता के लिये सब कुछ बलिदान कर देने को कटिबद्ध देशभक्तों का दल, और दूसरा, किसी न किसी बहाने से भारत की परतंत्रता बनाये रखने को कटिबद्ध अंगरेजी शासक दल। देशभक्तों के पीछे भारत की समस्त देशभक्त, प्रगतिशील, स्वातंत्र्यप्रिय, निरीह-पीडित जनता एवं उज्ज्वल रक्त वाला तरुण वर्ग; अंगरेजी शासक दल की सहायता करने वाले वे लोग थे जिन्हें अंगरेजी शासन ने अपने स्वार्थ के लिये अधिकारों से विपन्न किन्तु मौन-धिलास के साधनों से संपन्न कर दिया था, जिनके लिये शरीर-सुख, शरीर को सजाने का सुख, भौतिक सुख एवं अधिकारी होने को स्वर्ग मरने का सुख भारत माँ के स्वातंत्र्य सुख से अधिक महत्वपूर्ण था, जो मन से अभासतीय थे, जो पस्त-दिल, भ्रष्टात्मा या हतात्म, अथवा नीच थे। इनमें से कुछ लोग ऐसे थे जो किसी न किसी अनिवार्य विवशता के कारण देशभक्तों का साथ नहीं दे पाते थे, एकांत में अपनी कायकलापर रोते थे, प्रत्यक्ष रूप एवं क्रियात्मक रूप से हमारा साथ नहीं दे पाते थे, कभी कभी स्वातंत्र्य विरोधियों का साथ भी देते थे किन्तु जिनके भावों का - अन्तर का - एक एक कण हमारे साथ था। वे लोग चोरी छिपे हमारी सहायता भी करते थे। और मैं तो यह मानता हूँ कि इस युग में जिसका हृदय एक बार भी परतंत्रता के कारण दुःख हुआ और स्वाधीनता के लिये छलपटाया उसके अन्तर का स्पन्दन भारत माँ के अन्तर से स्पन्दन का एक भाग हो गया। अपने अन्तर की भारतीय सांस्कृतिक पुनरुत्थान के अमृत से सींच कर उसमें अनुरंजित हो जाने वाली प्रत्येक चेतना भारतीय

चेतना थी - धन्य चेतना थी - माता की चेतना थी। मैं इन सबको वैद्यभक्त एवं वैद्यभक्तों के साथ मानता हूँ। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् दूसरे वर्ग के लगभग सभी लोगों ने अपने को इसी वर्ग का बताया और आजादी का फल अधिकांशतः ये ही लोग खा रहे हैं। हिन्दी साहित्य की सेवा सभी वर्ग वालों ने किसी न किसी रूप में अपने-अपने ढंग से करने का प्रयास किया है। मास्तर लाल चतुर्वेदी, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, पंत, निराला, रामकुमार वर्मा, श्री बाराधन चतुर्वेदी, 'नयीन', गणेश शंकर विद्याजी आदि इसके उदाहरण हैं।

बंग-भंग विरोधी आन्दोलन की तीव्रता एक उसका प्रभाव

अस्तु, इस युग के इतिहास की सर्वप्रथम महत्वपूर्ण घटना है बंग-भंग। इसके महत्व की ओर संकेत करते हुए पंडित जवाहर लाल नेहरू ने लिखा है, '१८५७ के विद्रोह के बाद पहली बार सत्त मारत लडने की क्षमता पिसा रहा था। विदेशी राज्य के सम्मुख पालतू पशु की तरह पराजित होकर खब नहीं रहा था।'^१ ३ सितम्बर, १९०३ ई. को यह प्रसिद्ध प्रस्ताव सामने आया। इस योजना के अनुसार 'पूर्वी बंगाल तथा आसाम' नामक एक नया प्रांत बनना था जिसमें आसाम के अतिरिक्त बंगाल के चटगांव, ढाका, तथा राजशाही प्रदेश सम्मिलित किये गये। सरकार ने कहा कि यह पुनर्ब्यवस्था शासन की सुविधा की दृष्टि से की गई है, जनता ने समझा कि यह बंगाल की राजनीतिक एकता भंग करने की, हिन्दुओं - मुसलमानों में भेद पैदा करने की, और नव जागृत राष्ट्रीय चेतना पर कुठाराघात करने की एक

१. 'जाटो यात्रा', पृ. २१।

चाल है। जनता ने इसका इतना तीव्र विरोध किया कि दिसम्बर, १९११ में राज्याभिषेक दरबार के समय (लार्ड मकडानेल के उद्घाटन में "प्लासी के युद्ध के समय के बाद से लेकर आज तक के बीच की गई सबसे बड़ी मूल" को सुधारना पड़ा और बंगमंग का विचार छोड़ देना पड़ा। भारतीय दृष्टिकोण से बंग मंग का विरोध सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात है। इसके विरोध ने ही उस स्वदेशी आंदोलन को जन्म दिया जिसे आगे चलकर लंकाशायर और मेनचेस्टर के मिल-मालिकों को असमान के तारे दिखलवा दिये थे। इसके विषय में सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी लिखते हैं, " नये प्रान्त के निर्माण की घोषणा बम के समान गिरी। हमने अनुभव किया कि हमारा अपमान किया गया है हमारे साथ चाल चली गई है जनता की बढ़ती हुई घृणता एवं आत्म चेतना पर आघात किया गया है।" महात्मा गांधी ने लिखा है, "जिसे आप सच्ची जाग मानते हैं वह तो बंग-मंग से पैदा हुई है।" कांग्रेस ने बंग-मंग को एक अखिल भारतीय समस्या का रूप दे दिया था जिसका परिणाम यह हुआ कि भारत का कोना-कोना इससे प्रभावित हो उठा था। बंगाल के इस आंदोलन का प्रभाव उत्तर प्रदेश के एक १०-११ वर्षीय बच्चे पर कैसा पड़ा, इसे उसी के शब्दों में पढ़िये, "सन् १९०७ ई. के बंगमंग के आंदोलन के समय देश की समस्या की ओर मेरा ध्यान पहले पहल गया था। उस समय मैं केवल १० वर्ष का था विदेशी कपड़ों का पहनना मैंने तभी से छोड़ा था... यह बंगमंग विरोधी आन्दोलन बड़े ही उग्र रूप में चला। सरकार के लिये इस प्रकार का आन्दोलन एवं सरकार का इस प्रकार का विरोध एक नया अनुभव था। उसी समझ कि यह कुछ स्वार्थी व्यक्तियों का हुडबंगाल है जो बढ़ता ही जा रहा है।

इस आंदोलन की ध्वनि

बंगमंग की घटना से कुछ प्रवृत्तियाँ पूर्वरूप से स्पष्ट हो गईं।

१. "हिंस स्वराज्य", पृ. १६।

२. "मेरी कालि डाकरी", ले. डा. धीरेन्द्र वर्मा, पृ. ८५।

एक बात तो यह थी कि अंगरेज शासक हमारी राष्ट्रीयता को फूलों-फलते नहीं देखना चाहता। दूसरी बात यह भी सामने आ गई कि अंगरेज इस बात को समझ गया था कि भारत में उसका शासन न तो अच्छे ढंग का है और न अच्छी नीकत से किया जा रहा है। इस संबंध में लाला लाजपत राय ने डा. बी. एन. थफोर्ड की निम्न सम्मति उद्धृत की है, "यह सरकार जनता की शिक्षा की अवहेलना करती है, गांवों में सफाई और चिकित्सा की व्यवस्था नहीं करती, शान्ति नहीं स्थापित रख सकती, निर्धनों के निवास की ओर ध्यान नहीं देती; ऋण देने वालों से ऋणों की रक्षा करने की परवाह नहीं करती, कृषि संबंधी बैंक नहीं खोलती; इसी प्रकार कृषिकों उन्नति और विकास की ओर ध्यान नहीं देती, भारतीय उद्योग धंधों की वृद्धि नहीं करती, द्राम आडियां चलाने, बिजली की रोजनी का प्रबंध करने और दूसरी सार्वजनिक सेवाओं में अंग्रेज व्यापारियों के पूरे बल को नहीं रोकती, और भारतीय करेंसी का लन्दन के हित में प्रयोग किये जाने की रोक थाम नहीं करती भारतवर्ष में जिस पद्धति के अनुसार ब्रिटिश शासन चलाया जा रहा है वह इस संसार में अत्यन्त निकृष्ट और पतित - एक राष्ट्र की दूसरे राष्ट्र द्वारा छूट-ससोट की - पद्धति है" इस अनुभूति ने उसकी नैतिक दुर्बलता को सतम कर दिया था। इसी से तीसरी बात यह है निकली कि वह अपनी कमजोरी को कूटनीति, अहंकार, अधिकार, शोष-दास, दूरता; प्रचलन एवं दमन आदि से ढंके रहना चाहता था। चौथी बात यह निकली कि उसने हमें हराने के लिये अपने को उतना सुदृढ़ करने का प्रयत्न नहीं किया जितना हमें बचिप्त रखने और हमें कमजोर करने का। इसका कारण यह है कि वह जान गया था कि भारतीय प्रवृत्ति प्रजासन्निक रियायतों और राजनैतिक अधिकारों के लिये प्रार्थना करने की जगह आंदोलन करने की हो गई है। अंगरेज हमारी शक्ति से आतंकित और हतासरी बढ़ती हुई राष्ट्रीयता से

आशंकित था। अंगरेजों ने जो बंग भंग की आयोजना रख कर दी उससे हमें अपने आंदोलन की सकलता पर विश्वास भी हो गया था। हम अंगरेजों की राजनीतिक और आर्थिक नीयत से परिचित हो चुके थे। इसलिये भारत की स्वतंत्रता को हमने अपना परम पुनीत कर्तव्य समझ लिया था। सांस्कृतिक पुनरुद्धान हमें सबल एवं उत्साह से पूर्ण किये हुए थे। इसी समय अर्थात् १९०५ ई. में जापान ने रूस पर सामरिक विजय प्राप्त की जिससे योरोप-वासियों की अजेयता के भ्रम का निवारण हो गया। भारतीय भी जीत सकता है, अंगरेज भी हार सकता है। वे देवर्ती नहीं हैं; हम बर्बर नहीं हैं। हम दोनों बराबर की स्थिति के हैं। इस राष्ट्रीयता की भावना को - कम करने के लिये - उसके प्रतिकार के लिये अंगरेज शासकों ने बड़े हर्ष के साथ १९०६ ई. में मुस्लिम लीग को जन्म दिया था। अंधकार की - ताम-सिक - शक्तियां भारतीय स्वतंत्रता की सबसे बड़ी बाधक प्रवृत्ति और उसके प्रतीक - प्रतिमूर्ति - को जन्म देने के लिये सारे प्रयत्न कर रही थी - उसकी तैयारी कर रही थी। दूसरी ओर परम पिता परमात्मा - या यह कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक प्रवृत्तियां या शक्तियां - भारत से हजारों मील दूर - दक्षिण अफ्रीका में - भारत के "बापू" - भारतीय स्वतंत्रता के मन्त्र प्रथम प्रतीक - स्वान्ध्रयुद्ध के अद्वितीय सेनानी का निर्माण कर रही थी। आतंक का उत्तर आतंक से देने के लिये भी भारतीय युवक तैयार हो गये थे। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी की प्रथम द्वा द्विद के समाप्त होते-होते भारत के रंगमंच पर उन सभी शक्तियों का उदय हो चुका था जो आने जाने वाले दिनों में भारत के इतिहास का नाटक खेलने में महत्वपूर्ण भूमिका लेने वाली थीं।

वायसरॉय

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में भारत के अन्दर निम्नलिखित

१. "आधुनिक भारत और उसकी समस्याएं", के पृ. १६१ जी।

वायसराय तथा गवर्नर जनरल आये:- (१) लार्ड कर्जन

की नियुक्ति।

(२) लार्ड मिन्टो (१९०५ - १९१०); (३) लार्ड

(४) लार्ड चेम्सफोर्ड (१९१५-१९२१), लार्ड (५) लार्ड

(६) लार्ड हरविन (१९२५-१९३१); (७) लार्ड विटि

(८) लार्ड लिंलिथगो (१९३५-१९४४), (९) लार्ड चैं,

(१०) लार्ड माउन्टबेटन (१९४७-१९४८), और (११) राजगोपालाचार्य

(१९४८-१९५०)।

तिथियां और घटनाएं

१८९९ - (१) प्लेग, मुम्बई (इस वर्ष २०० वर्षों के अन्दर सर्वाधिक अनावृष्टि)

मलेरिया, इन्फ्लुएंजा, कई लाख मौतें।

(२) लार्ड कर्जन का आगमन।

१९०० - (१) उत्तर-पश्चिम-सीमाप्रान्त बना।

(२) एग्रीकल्चरल बैंक और सहकारी समितियों की स्थापना

(३) नगरपालिका अधिनियम

१९०१ (१) पूसा, बिहार में कृषि अन्वेषण संस्था।

(२) इन्स्पेक्टर जनरल आव एग्रीकल्चर की नियुक्ति।

(३) सर कार्लिस्वल्ड स्काट मान्डीफ की अध्यक्षता में सिंचाई जांच
समिति की नियुक्ति।

(४) रेलमार्ग व्यवस्था की जांच के लिये टामस राबर्टसन की नियुक्ति

(५) शिक्षा विभाग के उच्चतम अधिकारियों और प्रमुख विश्वविद्या-
लयों के सरकारी प्रतिनिधियों का सम्मेलन

(६) महारानी विक्टोरिया का देहान्त

(७) ल्हीबुल्ला अफगानिस्तान के अमीर बने

- १९०२ - (१) सर ऐन्ड्रु फ्रेजर की अध्यक्षता में पुलिस जांच समिति की नियुक्ति ।
 (२) विश्वविद्यालय जांच समिति की नियुक्ति ।
- १९०३ - (१) दिल्ली दरबार (२) बंग-मंग प्रस्ताव सामने आया ।
- १९०४ - (१) कोआपरेटिव सोसाइटीज ऐक्ट
 (२) विश्वविद्यालय अधिनियम
 (३) सहकारी कृषिसमिति कानून
- १९०५ - (१) प्लेग के कारण के रूप में पिस्तुनों का ज्ञान
 (२) लैंड तथा आर्यसूट नामक प्लेग-~~अधिकारियों~~ अधिकारियों की हत्या
 (३) पुलिस-विभाग का नये ढंग से संगठन
 (४) बंग-मंग की घोषणा
 (५) बंग-मंग के विरोध में स्वदेशी आंदोलन का श्रीगणेश
 (६) वाणिज्य-उद्योग विभाग जुला
 (७) कर्जन का पद त्याग
 (८) रुस पर जापान की विजय
 (९) इंग्लैंड में लिबरल पल की सरकार
 (१०) मार्ले भारत सचिव बने
- १९०६ - (१) दादा भाई नौरोजी कलकत्ता कांग्रेस के समापति बने
 (२) मुस्लिम लीग का संगठन, तत्कालीन वायसराय के आखीर्वाह
 आखीर्वाह से और सलाह से
- १९०७ - (१) सूरत कांग्रेस में कांग्रेस का गरम-गरम पल में विभाजन - गरमपल
 उदय,
 (२) बंगाल के लेफ्टिनेन्ट गवर्नर को ले जाने वाली रेलगाड़ी ठलट
 दी गई और ढाका के भूतपूर्व मैजिस्ट्रेट की पीठ में गोली मार
 दी गई ।
 (३) समानियम अध्यादेश बना; इसी वर्ष राजप्रीहात्मक समाविधेयक

१९०८- (१) किंग्स कोर्ट के धोसे में मुजफ्फरपुर में श्री और श्रीमती कैनेडी की हत्या ।

(२) तिलक को ६ वर्षों की कैद ।

(३) कण्ड विधान संशोधक कानून

(४) प्रेस ऐक्ट (हत्याओं और हिंसाओं को उमाड़ने के अपराध में कण्ड और जब्ती की व्यवस्था ।

(५) "विस्कोटक प्रत्येकानून"

१९०९- (१) मिंटो मालें सुधार

(२) लंदन में विली और लाल काका का वध

१९१० - (१) लार्ड हार्डिज पर बम फेंका गया ।

१९११ - (१) राजद्रोहात्मक समा निषेध कानून

(२) प्रेस विधान

(३) कण्ड-विधान और संशोधक कानून

(४) राजधानी परिवर्तन

१९१२ - (१) बंग-भंग रघुव

(२) दिल्ली दरबार और सम्राट् जार्ज पंचम का भारत आगमन

१९१३ - (१) दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों के बारे में लार्ड हार्डिज की घोषणा

१९१४- } (१) प्रथम महायुद्ध

१९१८ } (२) महात्मा गांधी दक्षिण अफ्रीका से भारत लौटे

१९१५- (१) तिलक के नेतृत्व में उग्र बल का कांग्रेस में पुनः प्रवेश

१९१६ - (१) होमरूल लीग बनी - होमरूल आन्दोलन

(२) लखनऊ कांग्रेस में हिन्दू मुस्लिम समझौता

१९१७ - (१) मॉटिग्यू भारत सचिव बने

(२) भारत सचिव भारत आये

(३) कुली प्रथा समाप्त

(४) गांधी जी चम्पारन में

१९१८ - (१) प्रथम महायुद्ध समाप्त

१९१९ - (१) रौलट ऐक्ट

(२) ६ अप्रैल का प्रसिद्ध हड़ताल प्रदर्शन

(३) अमृतसर और जलियान वाला बाग के कांड और मार्चल ला

(४) टैगोर का "सर" की पदवी छोड़ना

१९२० - (१) तिलक का देहान्त

(२) अहिंसात्मक असहयोग आंदोलन का आरम्भ

(३) हंटर कमीशन की रिपोर्ट

१९२१ - (१) भारतीय ठेकास्थापिका सभा का उद्घाटन

(२) प्रिंस आफ वेल्स का भारत आगमन

(३) भोपला विद्रोह

(४) चेम्बर आफ प्रिंसेज की स्थापना

१९२२ - (१) चौराचौरा कांड जिसे आंदोलन बन्द

(२) गांधी गिरफ्तार

(३) गुरु का बाग कांड

१९२३ - (१) नमक कर विधिवत् स्वीकार कर लिया गया।

१९२४ - (१) कांग्रेस-लेबर बंगाल आर्गनैजेशन

(२) कांग्रेस में परिवर्तनवादी और अपरिवर्तनवादी -

(३) स्वराज्य दल और काँग्रेस में उसका प्रवेश

(४) गांधीजी का २१ दिनों का उपवास

१९२५ - (१) चितरंजदास का देहान्त

(२) मुडीमेन जांच समिति की रिपोर्ट

१९२६ - (१) कृषि के लिये शाही कमीशन

(२) कलकत्ता में हिंदू मुस्लिम दंगे

(३) स्वामी ब्रह्मानंद की हत्या

१९२७ - (१) फिर हिन्दू-मुस्लिम दंगे

(२) साइमन कमीशन की घोषणा

(३) 'रुपी स्टैबिलाइजेशन कानून

(४) काकोरी ट्रेन डकैती

१९२८ - (१) दिल्ली में सर्वदल सम्मेलन

(२) नेहरू रिपोर्ट

(३) भारतीय राजनीति में जिना का एक सांप्रदायिक नेता के रूप में पुनः प्रवेश

(४) साइमन कमीशन का बहिष्कार

१९२९ - (१) जिना की चौदह मांगें

(२) वायसराय की गाड़ी के नीचे बम फूटा

१९३० - (१) पूर्ण स्वराज्य के लक्ष्य की घोषणा

(२) २६ जनवरी स्वतंत्रता दिवस घोषित

(३) सविनय अवज्ञा (नमक) आंदोलन

(४) डांडी कूच

(५) प्रथम गोलमेज कॉन्फ्रेंस

१९३१ - (१) गांधी-इरविन समझौता

(२) मोतीलाल नेहरू का देहान्त

(३) द्वितीय गोलमेज कॉन्फ्रेंस

(४) सांप्रदायिक दंगे - गजेयंकर विधायी की हत्या

(५) मंगत सिंह की फांसी (आंतकवादी आंदोलन पूरे जोरों पर)

(६) चन्द्रशेखर आजाद (प्रयाग में उन्नीस हथ)

१९३२ - (१) कम्युनल अवाइ

(२) गांधीजी का अनशन और पूना समझौता

(३) कांग्रेस का धमन

(४) तृतीय गोलमेज कॉन्फ्रेंस

- १९३३ - (१) सामूहिक सत्याग्रह स्वयं गत और व्यक्तिगत सत्याग्रह चलता रहा
 (२) बिहारका भूकम्प
 (३) भीमती एनी बेसेंट की मृत्यु
- १९३५ - (१) भारत सरकार कानून
- १९३६-३७ (१) प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं के चुनाव और कांग्रेस की जीत
- १९३८ - (१) हिंदू-मुस्लिम समझौते के असफल प्रयत्न
 (२) सुभाष बोस के कारवर्ड ब्लाक की स्थापना
 (३) कांग्रेस मंत्रिमण्डल का पदत्याग और लीग का मुक्तिपिघस
- १९४० - (१) पाकिस्तान की मांग
 (२) व्यक्तिगत सत्याग्रह
- १९४१ - (१) जापान युद्ध में कूटा
- १९४२ - (१) सिंगापुर पतन तथा जापान की अन्य सकलताएं
 (२) असफल ब्रिक्स मिशन
 (३) "भारत छोड़ो" आन्दोलन
- १९४३ - (१) गांधी जी का उपवास
 (२) बैबल का आगमन
 (३) बंगाल का पुर्नवि
- १९४४ - (१) गांधी जी की रिहाई
 (२) गांधी जिना वार्ता
- १९४५ - (१) असफल शिमला सम्मेलन
 (२) मजपूर बल की जीत
 (३) आई. एन. ए. के मुखमै
- १९४६ - (१) नौसेना के कर्मचारियों की हड़ताल
 (२) कैबिनेट मिशन
 (३) संविधान सभा के लिये चुनाव
 (४) जिना की "प्रत्यक्ष कार्यवाही" और भयानक मर-संहार
 (५) अन्तरिम सरकार और जिना का "सीक रिजल"

१९४७ - (६) अंतरिम सरकार में लीग आई

(७) भारत भर में दंगों का दौरा

(८) गांधी जी नौआसाली में

(९) संविधान सभा की बैठक

१९४७ - (१) जून, ४८ तक भारत छोड़ने का अंगरेजों का निश्चय

(२) माउंट बैटन का आगमन

(३) भारत स्वतन्त्र हुआ

(४) मयानक दंगे

(५) माउंट बैटन स्वतंत्र भारत के प्र^थम गवर्नर जनरल

(६) पाकिस्तान को गांधी जी ने ५५ करोड़ रुपये दिलाये

(७) गांधी जी का ~~महान्नीममहा~~अधिनियम

(८) देशी रियासतों पर से अंग्रेजों का अधिराज्य समाप्त और
उनका निम्न भारत-विलयन

(९) पटेल की प्रमुखाता में स्टेट डिपार्टमेंट की स्थापना

(१०) काश्मीर भारतीय संघ में सम्मिलित

१९४८ - (१) हैदराबाद भारत में मिला

१९४९ - (१) राधाकृष्णन आयोग की स्थापना (विद्या के लिये)

(२) जूनागढ़ भारतीय संघ में

१९५० - (१) भारत कानून संविधान जनवरी, ५० से लागू

(२) राजेंद्र प्रसाद भारत के प्रथम राष्ट्रपति

(३) आयोग - आयोग की स्थापना

(४) जमींदारी उन्मूलन अधिनियम

युग की प्रधान प्रवृत्तियाँ

उपर्युक्त तथ्यों पर विचार करने से यह बात पूर्ण रूप से स्पष्ट
हो जाती है कि इस युग की सर्वप्रधान प्रवृत्ति थी भारतीयों की स्वाधीनता :

प्राप्ति की इच्छा और तत्संबंधी प्रयत्न और अंगरेजों को उसे असफल कर देने और बचाये रखने के सभी प्रकार के प्रयत्न। इस प्रकार की बाधाओं को पूरी तरह से कुचल डालने को तैयार रहते थे। वे धमन को उदधत थे और भारतीय अपनी आकांक्षा की दुर्दमनीयता सिद्ध करने को कटिबद्ध थे। वे गाया करते थे कि 'सर फरीशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है, देसना है जोर कितना बाजुप कातिल में है।' कारण यह था कि उनकी प्रेरणा-शक्ति (भारतीय संस्कृतिक पुनरुत्थान - प्राचीन गौरव के पुनः प्राप्त करने की अभिलाषा) असाधारण रूप से बलवती थी। इस असाधारण इंजेक्शन से वे दुनियादारी के दृष्टिकोण से अपना मानसिक सन्तुलन खोकर दीवाने हो गये थे। उन्हें और कुछ नहीं चाहिये था, वे केवल भारत की आजादी चाहते थे और इसके लिये बड़ी से भी बड़ी कीमत चुकाने को तैयार थे। सब कुछ बलिदान करने का उत्सुक थे और इस रूप में 'सर बांधे ककनियां हो सहीदों की टोली निकली'। दीवाने का यह चल पूरी तरह से निर्णय था। वास्तविकता यह है कि धर्म के प्रेमा-लापों की बात छोड़ दें तो, इस संसार में मय का कारण होता है मोह और मोह का स्वरूप है किसी भी प्रकार से अपनी प्रिय वस्तु को जाने न देना। यहाँ प्रियता का केन्द्रविन्दु थी भारत की स्वतंत्रता। महावीर प्रसाद द्विवेदी जी ने लिखा, 'जिस्को न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है।

वह नर नहीं, नरपशु निरा है, और मुक्त समान है।

उसके अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु उतनी प्रिय नहीं थी - जीवन के भी नहीं, परिवार भी नहीं। वस्तु और परिवार के मोह के अभाव ने बंधन तोड़ दिये; शरीर के मोह के अभाव ने मृत्यु - मय से मुक्त कर दिया; अपने व्यक्तित्व के महत्त्व - अपने नाम की आकांक्षा के अभाव ने कल्पनाओं और आकांक्षाओं से मुक्ति दिलाकर लगन से ठोस कार्य करने को तत्पर करा दिया। सब और ही वैराग्य ने विश्ववृत्ति को एक ओर निरोधित करके एक के प्रति भक्ति पैदा कर दी। भारत की आजादी के ये दीवाने पूर्णतः निर्णय हो

गये। एक वह युग था कि अंगरेज की सूरत देखते ही, उसका नाम सुनते ही, लाल पगड़ी देखते ही लोग ऐसे मागते थे जैसे बिल्ली के आगे चूहे और एक वह दिन आ गया जब जेल ससुराल हो गई, गांधी बाबा घुस्सा हो गये, सुभाष-जवाहर सहबाला हो गये, बीबानाँ ने बारातियाँ का रूपक अपनाया, ब्रिटिश सम्राट स्तब्ध हो गया, और जेलों तथा जेलों के बाहर आदी की यह "गाली" गाई जाने लगी :- "गांधी बाबा जेवन बइठे गौरव गावत गारी जी वाह वाह" आदि। निर्भयता का एक दूसरा उदाहरण देखिए :- "कुछ समय बाद पंडित मोती लाल नेहरू विरोधी दल के नेता और धी बिट्ठल-माई स्वीकर हो गये। उस समय विरोधी दल की ताकत बहुत बढ़ गई... उनके स्वीकर बुने जाने से पहले एक बार एक सरकारी सदस्य ने भारत में ब्रिटिश शासन का औचित्य साबित करने के लिये यह कह कर चुनौती दी कि "क्या सदन में कोई भी ऐसा सदस्य है जो छाती पर हाथ रखकर कह दे कि वह चाहता है कि ब्रिटिश शासन भारत से चले जाएं।" उस पर बिट्ठल-माई ने अपने दोनों हाथ छाती पर रखकर यह घोषणा कर नाटकीय दृश्य उपस्थित कर दिया कि "मैं ऐसा सदस्य हूँ और मैं चाहता हूँ कि सभी ब्रिटिश शासन अपना बोरिया - बिस्तर बांधकर भारत से बिदा हो जायें। हम अपने देश का शासन खुद चला लेंगे।"¹ निर्भयता का इससे भी अधिक उत्कृष्ट नवीय उदाहरण इन्होंने बिट्ठल माई पटेल के जीवन में हमें तब मिलता है जब इन्होंने एक स्वीकर की हेतुवता से हिंदुस्तान के बड़े लाट साहब यानी बायसराय को यह धमकी देते हुए कि यदि वे स्वयं न गये तो उन्हें अपने आचमियाँ द्वारा निकलवा दिया जायगा,² सदन से बाहर निकाल दिया या और जिससे अपमानित अनुभव करके बायसराय ने कहा था कि आज एक काले आचमी ने हमें सदन से बाहर निकाल दिया। जनता में कितनी निर्भयता आ गई थी इसका उत्कृष्ट राजेन्द्र बाबू ने इस प्रकार किया है, "पर इन्होंने

१. 'मोतीलाल नेहरू जन्म शताब्दी स्मृति ग्रन्थ', पृ. ९४।

इतना सुन लिया था कि उनकी मदद करने वाला कोई पास के जिला मुजफ्फरपुर तक आ गया है और न मालूम उनके दिल में यह विश्वास कैसे आ गया कि वह उनका उधारक है। न मालूम वह डर, जो उनको हमेशा सताया करता था, कहां चला गया.....¹ ...“ये लोग वही तुरैयत थे जो डर के मारे कभी कचहरी के नजदीक किन्न नीलवारों के खिलाफ नाखिल करने नहीं आते थे; पर आज गवर्नमेंट के हुक्म की अवज्ञा करने वाले के मुकदमे की पेशी देखने वहां हजारों की तादाद में आ जुटे और जब मजिस्ट्रेट के पहुंचने पर मुकदमे की पेशी हुई तो कमरे के अन्दर घुस्ते में इतना कोलाहल और धक्कम-धुक्का हुआ कि किगाड़ों के खीसे भी टूट गये और पुलिस हक्का-बक्का ताकती रही। न मालूम वह डर कहां चला गया और जोश और हिम्मत कहां से आ गई”² यही अभीष्ट भी था क्योंकि आगे राजेन्द्र बाबू ने लिखा है, “बात यह थी कि सारे प्रोग्राम की तह में यह निहित था कि या तो उसके ब्रिटिश गवर्नमेंट का रोब और दबदबा इस देश में कम हो जाय..... (हम) आत्म-निर्भरता सीखें निर्भीकतापूर्वक स्वतंत्र विचार करना सीखें.....”³ अंगरेजों के भय और आतंक सेमुक्ति का उदाहरण आतंकवादियों के कार्यों में भी मिल जाता है और नव-युवकों की मनोवृत्तियां भी इसी के अनुसार थीं। इसका एक बहुत अच्छा उदाहरण, “अध्यापक: जिसकी जेब में भरी पिस्तौल रहती थी” के इस उद्धरण में मिलता है, “हेड मास्टर साहब, एक बात मैं स्पष्ट कह देना चाहता हूं। मेरी जेब में भरी हुई पिस्तौल हमेशा रहती है।” यह था निर्भयता का प्रतीक, “एक भारतीय आत्मा।”

दो महत्वपूर्ण घटनाएं

इस युग की दूसरी महत्वपूर्ण घटना है प्रथम महायुद्ध^{स्त} ने सारे

1. 'बापू के कदमों में', पृ. ६

2. वही, पृ. ८

3. वही, पृ. ७८

संसार में क्रांति की एक लहर फैला दी थी। उसी ने भारतीयों में भी महान् परिवर्तनों के एक युग का सूत्रपात किया। इस युद्ध के अंत के पश्चात् सारे संसार में एक आर्थिक संकट आ गया था और उस आर्थिक संकट का प्रभाव भारत पर भी पड़ा था। युद्ध के अन्त में यह अनुभव किया गया था कि इस समय भारत किसी प्रकार अपनी उत्तेजनाओं को दबाये हुए चुप बैठा है। आंशिक औद्योगीकरण के कारण पूंजीपति वर्ग की शक्ति और पूंजी दोनों बढ़ गई थी। ऊपर के कुछ लोग प्रभुता के लोभी थे और अपनी बचत के धन को किसी उद्योग में लगाने के अवसर के लिये उत्सुक और इस प्रकार अपना धन बढ़ाने के लिये प्रयत्नशील थे। सामान्य जनता इतनी मान्यताशाली नहीं थी। वह स्व बोझ को, जो उसे दबाये और मारे डाल रहा था, कम करने की आज्ञा लगाये थी। मध्यवर्ग किसी बड़े संवैधानिक परिवर्तन की आज्ञा लगाये था - ऐसा परिवर्तन जिससे कुछ हद तक स्वशासन मिले जिसके परिणामस्वरूप उनकी पक्वृद्धि, धन-वृद्धि और मानवृद्धि हो तथा विकास के नये रास्ते खुलें। किसानों और सैनिकों में बड़ा असन्तोष था। पंजाब में सैनिकों की मर्तियों के संबंध में जो ज्यादातियां हुई थीं उनकी स्मृति अभी धुंधली नहीं हुई थी। इस संबंध में राजेन्द्रप्रसाद ने लिखा है, 'जर्मन युद्ध के समय भारतवर्ष ने सरकार की सहायता की थी, पर जो कुछ सहायता अपनी खुशी से की थी उसके अलावा जोर-जबरदस्ती से भी बहुत सहायता ली गई थी जिसके कारण देश में बहुत असन्तोष भी फैला था'। लौटे हुए सैनिकों में भी बड़ा असन्तोष था। टर्की के साथ किये गये व्यवहार को लेकर मुसलमान भी बैठे थे। फिर भी लोग प्रतीक्षा कर रहे थे, आशाएं लगाये थे, मगर कुछ-कुछ आशंकाएं भी थी, डर भी था। इस युद्ध से सबसे बड़ी बात यह हुई थी कि गोरों - अंगरेजों का - होवा समाप्त हो गया था। वे हमारे ही जैसे हैं - हम उनसे किसी भी रूप में और किसी भी मानी में कम नहीं - यह भावना पैदा हो गई थी

क्योंकि 'महायुद्ध' के अवसर पर, १९१४ की कड़ाके की सर्दी में फ्लेण्डर्स और फ्रांस के मैदानों में जर्मन सेनाओं के आक्रमणों का भारतीय फौजों ने जिस अद्वि-
मुक्त वीरता, धैर्य और सहनशीलता के साथ सकलतापूर्वक मुकाबला किया था
उससे पश्चिमी और यूरोपीय देशों पर भारतवासियों की तासी अच्छी धाक
बैठ गई थी"।" जिन गोरों को हम अपने से कुछ अनोखे प्राणी समझते थे उन्होंने
के भाई-बन्धुओं और उन्हीं की महिलाओं का आर्क्षरूप देता और ड्रव्मन सुना
था और अपने सिपाहियों को उनके उधारक के रूप में देता था। उन्हीं के
देश में हमारे सैनिकों को गोरी जाति वालों की कृतज्ञता, उनका समर्पण,
उनकी श्रद्धा, उनका सत्कार आदि मिला था। वे हमारे लिये वह न रह गये
जो भारत का अंगरेज शासक अपने को समझता था क्योंकि पहली बार इस युद्ध
में हम पश्चिमावासी भारतीयों ने निर्भय होकर यूरोपवासियों से युद्ध किया
था और उन लोगों को विपन्नावस्था में डर कर भागते हुए देखा था।
इस युद्ध की समाप्ति हमारे अंदर साहस और आशा का प्रकाश लेकर आई थी।
ईश्वरप्रसादने भी लिखा है, "इस युद्ध को जीतने में भारत ने जो सहायता की
वह उसके साधनों से कहीं अधिक थी.... यह सहायता कुछ उन प्रवंशजों और
वचनों का परिणाम थी जो प्रमुख अंगरेज राजनीतिज्ञों ने भारत पर बरसा रहे
थे..... बार-बार की थे वे थे..... कन्सन्स घोषणाएं कि वह युद्ध स्वतंत्र-
श्रुता का, जनतंत्र का और मानवीय अधिकारों का युद्ध है, भारतीयों के मन
में समा गया..... कांग्रेस ने सरकार के साथ फिलहाल समझौता कर लिया..
और सरकार को भारतीयों से सहायताएं इतनी तीव्र गति से और प्रचुर मात्रा
में मिलने लगी कि वह चकित रह गई.... (पृ. ४५४-४५५).... और अंत
में भारत को क्या मिला उसकी तो इस युद्ध के फलस्वरूप आर्थिक
विवालिवापन, लकड़ी की टांगें, विधवाएं और अवीध कीरी प्रवंशारं,
कुछ उपाधियां और थोड़े से विक्टोरिया क्रॉस ही प्राप्त हुए... युद्ध के

बाद भारत की आँखें खुल गईं और इंग्लैण्ड के प्रति अविश्वास की भावना
 जाग उठी.....।¹ सहस्र और आधा का प्रकाश लेकर आई थी
 और इससे किसी भी प्रकार कम महत्वपूर्ण द्वितीय महायुद्ध नहीं था। इस
 महायुद्ध ने अंग्रेजी शक्ति को इतना तोसला सिद्ध कर दिया और उनकी
 अपनी ही दृष्टि में उनको इतना हीन और व्यर्थ का सिद्ध कर दिया, तथा
 भारत को इतना महत्वपूर्ण सिद्ध कर दिया था कि इस महायुद्ध की समाप्ति
 पर भारतीय स्वतंत्रता एक अनिवार्य परिणाम सिद्ध हो चुकी थी। इस युद्ध
 के बीच में अंग्रेजी राज्य अपनी प्रभुता, अपनी शक्ति और अपने सामर्थ्य का
 अनुभव करना चाहता था। उसने भारत रत्न कानून की धांधलियाँ चलाईं।
 देश की आर्थिक स्थिति को बिगड़ जाने दिया। किसान मजदूर फिंसा। ठेके-
 दारों और चोर बाजार के नायकों की पाँचों अंगुलियाँ धी में हुईं। चारों
 ओर लूट और बेइमानी का बोल-बाला हो गया। अधिकारियों और उम्मी
 तनखाहों वालों की तो चाँदी ही थी। पुलिस का राज्य था। राष्ट्रीय
 और आत्मिक आंदोलनों का दमन किया जाता रहा। कांग्रेस वालों को जेल
 भेजने में लोगों को बड़ा आनन्द मिलने लगा। लगा कि भारतीय राष्ट्रीयता
 स्वयं के लिये मिटा दी गई है। दूसरी ओर हमने देखा कि ये अंगरेज जापा-
 नियों के सामने केवल चतुराई और सकलता के साथ पीछे हट जाना ही जानते
 हैं। हम समझ गये कि इनमें कोई दम नहीं। ये हमारी रक्षा नहीं कर सकते।
 ये जापानियों के झूठ के आगे भी डुम दबाकर भागने वाली बिल्ली हो गये हैं।
 ये केवल अहिंसक भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के दमन में ही डेर हैं। द्वितीय महा
 युद्ध ने अंग्रेजी साम्राज्य पर से हमारे हर एक वर्ग का विश्वास खत्म कर दिया।
 वे स्वयं अपनी योग्यता और कार्य-क्षमता पर सन्देहशील हो उठे थे। सन् १९४२
 के आंदोलन के दमनकार्य में बुझो हुए दीपक में आखिरी चमक मारी थी - जैसे

१. 'अर्वाचीन भारत का इतिहास', पृ. ४५७।

यम तौडते हुए शेर की आसिरी गुराहट हो। ऐसा लगता था कि जैसे किसी व्यक्ति से उसकी अधिकृत बहुमूल्य वस्तु वापस ली जा रही हो और वह लोभ के कारण उसे न देना चाहता हो और इसलिये मार-पीट, तडक-मडक, झूठ-बेइमानी, नीति-कुनीति, आदि सभी उपाय उसे अपने पास रखने के लिये अपना रहा हो। इस महायुद्ध ने भारत को तीन चीजें दी :- (१) भारत छोड़ो आंदोलन, (२) बंगाल का अकाल, और (३) आई. एन. ए. के मुकदमे। पहली भारतीयों की स्वतंत्रता प्राप्ति की वैधनी और उसके लिये बलिदान करने की युक्ति की द्योतक थी, दूसरी, अंगरेजों की भारतीय जीवन के प्रति उपेक्षा, अपनी स्वार्थप्रियता और प्रशासनिक अक्षमता तथा व्यवस्था एवं आयोजना की रुचि के अभाव की, और तीसरी इस तथ्य की द्योतक थी कि अब भारतीय स्वतंत्रता की मांग को दबाया नहीं जा सकता और यह कि उसे जितना ही दबाया जायगा वह उससे भी अधिक वेग के साथ अवसर पाकर फिर उमरेगी और उसका प्रभाव क्षेत्र और अधिक बढ़ जायगा। नौसेना की हड़ताल ने यह सिद्ध कर दिया कि फौज भी राष्ट्रीयता के रंग में रंगने लगी है और संभवतः इस तथ्य ने अंगरेजों को और भी अधिक कमजोर कर दिया और वे समय रहते चेत गये जिसके लिये वे बधाई के पात्र हैं। इस प्रकार ये दोनों महायुद्ध भारतीय स्वाधीनता के दृष्टिकोण से बड़े ही ऐतिहासिक महत्व की घटनाओं के रूप में दिखाई पड़ते हैं।

झकझोरने वाली अन्य घटनाएँ -

(१) होमरूल :- इसके पश्चात् अब हम उन घटनाओं के स्वरूप और महत्व की ओर आते हैं जिन्होंने एक के बाद एक घटित होकर भारतीय राजनीति और भारतीय जनता के अंग-प्रत्यंग को इस बुरी तरह से झकझोर दिया कि उसका कोई भी अंग, कोई भी अंग, कोई भी कण चेतना-विहीन और इसलिये निष्क्रिय रह ही न सका।

सन् १९१५ के आसपास देश की वास्तविक अवस्था कुछ अच्छी न थी। नरमदल वालों के हाथ से शक्ति निकल चुकी थी। देश का नेतृत्व प्रायः वे लोग करने लगे थे जिनकी मनोवृत्ति नौकरसाही वाली थी। राष्ट्रीय दल अभी तक अपने को संभाल नहीं पाया था। १९१४ तथा १९१५ में भीमती एनी बेसेन्ट ने दोनों दलों को मिलाने का प्रयत्न किया अवश्य था परन्तु वह असफल हो चुका था। इस प्रकार १९१५ के आसपास देश को किसी कार्यक्रम और किसी नेता की आवश्यकता थी। १९१७ में भारत ने उत्तरदायी शासन की माँग की और भीमती बेसेन्ट "होमरूल" का आन्दोलन लेकर कार्यक्षेत्र में उतरीं। महात्मा गांधी ने लिखा है, "होमरूल की लगन लोगों में पैठ गई है। होमरूल के बिना लोगों को कभी सन्तोष न होगा। वे समझते हैं कि उसके लिये जितना बलिदान किया जाय उतना कम है"^१। राष्ट्रीय कवि चक्रवर्त्त ने गाया था - "मैं लै बहिस्त भी हम होमरूल के बदले।" राजेन्द्रप्रसाद ने भी लिखा है, "भीमती एनी बेसेन्ट ने 'होमरूल' लीग कायम करके सारे देश में १९१७ में ही बड़ी हलचल मचा दी थी। प्रायः सभी प्रान्तों में उसकी शाखाएं कायम हो गई थीं। लोग तब जोरों से प्रचार के काम में लग गये थे। सरकार इससे कुछ घबरा सी गई। उसने भीमती एनी बेसेन्ट को, उनके दो साथियों के साथ नजरबन्द कर दिया था। इस पर आन्दोलन ने और जोर पकड़ा।"^२

(२) चम्पारन :- इसी सुसला में गांधी जी का चम्पारन-अभियान भी जाता है। नील के व्यापार में अत्यधिक लाभ देखकर गोरों ने चम्पारन जिले में नील की खेती करवानी प्रारम्भ कर दी थी। इस जिले के अपने गरीब किसानों पर वे इस प्रकार हावी थे जैसे जमींदार या तालुकदार हुआ करता है। सरकार इन्हीं गोरों का पक्ष लेती थी। इनकी ज्यादातियाँ बहुत बड़

१. गांधी जी का "आत्मकथा", पृ. १८८।

२. "आत्मकथा", पृ. १२९-३०।

गई थी।" १९१६ के दिसम्बर में कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में इनके प्रति-निधियों ने गांधी जी से चम्पारन आकर इनकी हालत देखने का निमंत्रण दिया। गांधी जी आये और पाया, "चम्पारन के रैयत इतने अरसे से स्ताये गये थे कि वे लोग हरपोक हो गये थे और उनकी हिम्मत नीलवरी के खिलाफ कुछ कहने की भी नहीं होती थी..... उनके जुल्म की खबर स्थानीय अफसरों को मिला करती थी, पर वे भी रैयतों की कोई विशेष मदद नहीं कर सकते थे बलवा - फसाद का नतीजा यह होता कि वे और भी पीसे जाते। कचहरियाँ द्वारा फाँसी और कैद की सजा.... उनके स्त और घर सब लूट लिये जाते, माल-मवेशी सब मगा दिये जाते, घरों में आग लगा दी जाती और वे खुद भी पीटे जाते तथा बहुतेरों की तो बहु-बेटी की इज्जत भी बरबाद की जाती..... बहुत दिनों तक जिला भर में मौत की सी छांति घिराजती पुलिस का स्तर^{सा} सर्व भी गवर्नमेंट उन्हीं से वसूल करती.... उन्हीं मजिस्ट्रेट के सामने ही इजलास पर से घसीट लाकर खूब पीटते....."।^१ गांधी जी ने सब्बाई और इमानदारी तथा निर्भीकता और लगन के साथ जांच शुरू की। छोटे मोटे लोगों, अफसरों, और उनकी सिफारिश पर स्वयं सरकार ने भी गांधी जी को रोकना चाहा किन्तु वे न रोके जा सके। एक बार तो उनके और उनके साथ के लोगों के जेल जाने की सम्भावना पैदा हो गई थी। यहाँ बिहार के कार्यकर्ताओं ने पहली बार गांधीमार्ग के दर्शन किये। सत्य, अहिंसा, कर्ण-निष्ठा, स्वावलम्बन, साधगी, जन-आंदोलन चलाने का ढंग जादि प्रत्यक्ष हुआ। राजेन्द्र बाबू गांधी जी के प्रमुख सहायकों में से थे और उनका मत है कि चम्पारन का आन्दोलन उस बड़े आन्दोलन की भूमिका थी जो एक दिन सारे भारतवर्ष में स्वाधीनता प्राप्ति के लिये फैलने वाला था। गांधी जी के इस आंदोलन ने उस समस्त

क्षेत्र की जनता में आस्था और विश्वास के साथ सामूहिक रूप से अहिंसात्मक ढंग से लड़ने का हौसला भर दिया। उनमें असाधारण एवं आत्मचेतना जागड़ी।

(३) मूक हड़ताल :- चम्पारन से अवकाश पाते ही गांधी जी को विप्लव होकर अहमदाबाद के मजदूरों के अधिकारों के प्रश्न को उठाना पड़ा। उन्होंने मजदूरों को हड़ताल की राय दी। यह हड़ताल २१ दिनों तक चली जिसके अंतिम तीन दिनों स्वयं गांधी जी को उपवास भी करना पड़ा था। इस कार्य में भी सौजन्यता, सौहार्द्र, अहिंसा और सत्य का उन्होंने सहारा लिया। इसने अवकाश मजदूरों के अन्दर एक चेतना पैदा कर दी।

(४) सेडा :- १९१८ ई. में ही बेदखली के प्रश्न को लेकर गुजरात के सेडा जिले के काश्तकारों और सरकार के बीच संघर्ष चला था। गांधी जी ने काश्तकारों की सही बातों का समर्थन किया और वहाँ शांतिपूर्ण प्ररिोध संगठित किया। इस आंदोलन को भी सफलता मिली और सरकार को मुक्तना पड़ा। उस क्षेत्र के किसानों तथा समस्त पीड़ित जनता के सामने आंदोलन करके अपने अधिकारों को पाने का एक मार्ग दिखाई पड़ा।

(५) सलीफत :- जैसे इटली के रोम का प्रधान पादरी पोप संसार भर के रोमन कैथोलिक पादरियों का प्रधान होता है वैसे ही मुसलमानों में सलीफा होता है। पहले बगदाद के अबसिद वंश के शासक प्रधान होते थे किन्तु सन् १२५८ में मंगोलों ने उनको हराकर उनके प्रभाव को कम कर दिया था। १५२७ में टर्की के प्रथम सलीम ने सलीफा की उपाधि धारण कर ली। भारत के मुसलमानों को सलीफा की अनिवार्य आवश्यकता थी। अलाउद्दीन खिलजी के समय से ही समस्त व्यावहारिक दृष्टिकोण से भारत के मुसलमान शासक अपने को भारतीय मुसलमानों का सलीफा यानी धर्मगुरु भी मानने लगे थे। बहादुर

बाह्र जकर के बाद भारतीय मुसलमानों के सामने एक कठिन प्रश्न यह उपस्थित हो गया कि वे किसे अपना सलीफा मानें। अंगरेज अपर धर्मानुयायी होने के कारण इस स्थान की पूर्ति कर नहीं सकता था। अतएव भारतीय मुसलमान टर्की के सुल्तान को अपना सलीफा मानने लगे और इनकी सहानुभूति उनके साथ हो गई। प्रथम महायुद्ध में टर्की जर्मनी के साथ और अंगरेजों के विरुद्ध था। इधर मुसलमानों में सर सैयद अहमद के समय से राजमर्दि की - अंगरेज और अंगरेजी के समर्थन, अनुकरण एवं अपनाने की - प्रवृत्ति चल पड़ी। भारतीय मुसलमान द्विविधा में पड़ गया। मित्र राष्ट्रों को विजयी से विभूषित कलें प्रथम महायुद्ध समाप्त हुआ और उसके साथ ही साथ टर्की के सुल्तान के मान्य पर भी मुहर लग गई। अपने सलीफा की यह दुरवस्था भारतीय मुसलमानों का अन्तर्घात बन गई। मुहम्मद अली, चौकत अली, जिना, आसफ अली, मौलाना अबुल कलाम आजाद आदि मुसलमान नेताओं ने आशा की थी कि उनकी माननाओं का ध्यान रखकर अंगरेज संधि-पत्र में टर्की के प्रति दया दिलायेगा। किन्तु प्रति-शोध और निर्ममता के अंधकार का निवारण असंभव था। जब यह विचार तथ्यका रूप धारण करने लगा तो हमारे मुसलमान भाइयों के हृदय की आवाज निराशा का रूप धारण करती हुई शोक में परिवर्तित हो गई जिसकी अभिव्यक्ति सिलाफत आन्दोलन के रूप में हुई। साधारण व्यक्ति राजनीति की इतनी बातें क्या जानें? उसने सिलाफत का अभिधात्मक अर्थ ही स्वीकार किया - अर्थात् विरोध - अंगरेजों का विरोध। इस प्रकार भारत का एक एक मुसलमान - स्वतन्त्र और नासमझ दोनों - अंगरेजों के विरोधी हो चले। एक केन्द्रीय सिलाफत समिति स्थापित की गई। देश भर में इस समिति की शाखाएं खोली गईं। घोर आंदोलन छिड़ गया। दिन प्रति दिन यह आन्दोलन तीव्र से तीव्रतर होता गया। १९१९ में गांधी जी की राय इस आंदोलन को भी मिली। कांग्रेस का और इस आन्दोलन का पारस्परिक सहयोग हुआ जिसका परिणाम उस समय देश की हिन्दू मुस्लिम एकता के रूप में मिला। इस आन्दोलन ने देश में राजनीतिक असन्तोष रूप भड़का दिया। हिन्दू मुस्लिम एकता के

साथ साथ यह आंदोलन सूब प्रगति करता रहा। देश की संघर्षात्मक प्रकृति को प्रोत्साहन और बल दिया। आंदोलन ने ऐसा जोर पकड़ा कि राज्य सचिव श्री मांटेग्यू और वायसरॉय लार्ड रीडिंग भी चौंक पड़े। यह आंदोलन अस्त-योग आन्दोलन की समाप्ति के साथ-साथ समाप्त हो गया। इसी आंदोलन के मंच पर से भारतीय राष्ट्रीयता को "अस्तयोग" या "नान-कोऑपरेशन" उद्भव मिला। १९१६ में गांधी जी दिल्ली के खिलाफत सम्बंधी कांग्रेस में बुलाये गये थे। लुई फिजर ने लिखा है, "गांधी रंगमंच पर बैठे हुए थे और उनका मस्तिष्क किसी उपयुक्त कार्यक्रम की योजना के आविष्कार में व्यस्त था। वे किसी प्रोग्राम की ओर उसके लिये किसी ऐसे उपयुक्त उद्भव की तोज में थे जो नारै की तरह हो और जिसके अन्दर से उस कार्यक्रम की संक्षिप्त ध्वनि निकलती हो अन्ततोगत्वा उन्हें यह मिल गया और जब उनसे बोलने के लिये कहा गया तो वे बोले "नान-कोऑपरेशन"।^१ इस पर विचार करने के पूर्व हमें एक और तूफान का वर्णन करना आवश्यक है।

(६) रौलट ऐक्ट विरोध:- ऊपर यह कहा जा चुका है कि गांधी और भारत ने प्रथम महायुद्ध में अंगरेजी सरकार की मुक्त-हृदय से सहायता इस-लिये की थी कि अंगरेजों के प्रति उनका विश्वास अभी बना था। युद्ध की समाप्ति पर भारत की आत्मा चावों का प्रत्यक्ष, व्यावहारिक एवं क्रियात्मक रूप देखना चाहती थी। विश्वास का भाव आलम्बन से उसके अनुभव की अपेक्षा करने लगा था। और मिला क्या? १९१८ में युद्ध समाप्त हुआ और १९१९ में इम्पीरियल लेजिस्लेटिव काउन्सिल में यह बिल पेश हो गया - जिसके पिता थे सरसिडनी रौलट - कि संकटकालीन स्थिति का विश्वास करते, "गवर्नर जनरल सार्वजनिक जीवन को समाप्त करने के लिये पुलिस और कार्यकारिणी को

१. "पि लाइफ ऑफ महात्मा गांधी", भाग. १, पृ. २३५।

असीमित अधिकार दे सकता है। ये अधिकार इतने ठ्यापक थे कि इनके आगे नागरिक स्वतंत्रता का कोई भी अर्थ नहीं रह जाता था। १९१९ में ही ये रौलट ऐक्ट विधेयक कानून भी बन गये। निश्चित था कि यह उपाय भारतीय राष्ट्रीयता के दमन के लिये ही अपनाये गये थे। लुई फिचर ने लिखा है, "सारे देश को जैसे बिजली का एक धक्का लग गया। क्या यही औपनिवेशिक स्वराज्य का प्रारंभ है ! युद्ध में भारत ने जो खून बहाया, क्या यह उसका पुरस्कार है।" सरकार को बहुत समझाया गया किन्तु परिणाम कुछ न निकला। विरोधी आंदोलन उग्रतर हुआ। इस आंदोलन की लहरें देश के प्रत्येक भाग और प्रत्येक वर्ग में फैल गईं। अनेक स्थानों पर उपद्रव और हत्याएं तक हुईं। सशस्त्र नौकरशाही निःशस्त्र प्रदर्शनकारियों पर अमानुषक चोटें कर रही थीं। लाठियों और गोलियों की बौछारें हुईं। सभी तरफ से निराश होकर गांधी जी ने ६ अप्रैल को हड़ताल कराने का निश्चय किया। दिल्ली में यह हड़ताल ३० मार्च को मनाई गई और बम्बई तथा देश के अन्य भागों में ६ अप्रैल को। राजेन्द्र बाबू ने लिखा है कि यह ठीक पहला समय था जब हिंदुस्तान में... गांधी जी ने सामूहिक रूप से कानून तोड़ने का कार्यक्रम देश के सामने रक्खा।^२ लुई फिचर ने "द लाइफ ऑफ महात्मा गांधी" में इसे भारतवर्ष की अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध गांधी जी का "पहला कार्य" माना है। सचमुच भारत में यह उनका प्रथम राजनीतिक कार्य था। यह गांधी युग की उषा है। गांधी जी ने प्रतिज्ञा पत्र पर हस्ताक्षर करके मेजने को कहा। सत्याग्रह समा के नाम से देश भर में कमेटियां नियुक्त हुईं। देश भर में उत्साह उमड़ रहा था। हड़ताल के दिन गांधी जी ने देश को उपवास करने, सब कारबार बन्द रखने, जुलूस निकालने तथा सभाएं करके विरोध प्रस्ताव पास करने का आदेश दिया। उन्होंने यह भी कहा कि उस दिन सभी लोग अपने अपने धर्म के अनुसार अपने-अपने देवाल्लों में प्रार्थना करें। इसका स्वरूप बंग मंग विरोध का आंदोलन के स्वरूप से कुछ अधिक भिन्न न था लेकिन लगा कि यह अनोखी चीज है। बंगमंग

(१) द लाइफ ऑफ महात्मा गांधी, पृ. २२३। (२) बापू के कथनों में, पृ. ७।

के रद्द हो जाने के बाद लोग उसे मूल से गये थे। हाँ, जो उग्र मिजाज के थे, वे क्रान्तिकारी दलमें खरीक हो गये। क्रान्तिकारी लोग उन हिन्दुस्तानी और अंगरेजी अफसरों को मार डालते थे जो बहुत ही अत्याचार करते थे। निश्चित था कि यह कार्य गुप्तरीति से किया जाय। यही कारण है कि उस का जनता पर अधिक प्रभाव या प्रचार नहीं हो पाया। रौलट बिल के विरुद्ध होने वाले आन्दोलन में भाग लेने वालों के अन्दर असाधारण उत्साह था और इस उत्साह के अभूतपूर्व दृश्य दिखाई पड़े। हड़ताल हुई। पटना के इतिहास में उस दिन सबसे बड़ी सभा आयोजित हुई। किसी भी प्रकार की सवारी या गाड़ी किसी को भी न मिली। गंगास्नान किया गया। बंदिरों में प्रार्थनाएं हुई और मस्जिदों में दुआएं। वो ढाई मील लम्बा, जुलूस चला। नंगे-सिर, नंगे पैर लोग जुलूस में थे। देहातों में न हल जोते गये और न बैलगा-
 (रिक्त स्थान -----) ढियां चलीं। गांधी जी ने लिखा है, "न जाने कैसे सारी व्यवस्था हो गई समूचे हिंदुस्तान में - खहरों में और गांवों में - हड़ताल हुई। वह दृश्य मध्य था।" दिल्ली में उस दिन ऐसी हड़ताल हुई वैसी पहले कभी न हुई थी। ऐसा जान पड़ा मानों हिन्दुओं और मुसलमानों के दिल एक हो गये हैं। अन्नानन्द जी को जामा मस्जिद में निमंत्रित किया गया और वहां उन्हें भाष्य करने दिया गया। अधिकारी यह सब नहीं सह पाये और स्टेशन की तरफ जाते हुए जुलूस को रोक कर गोलियां चला दीं। बहुत लोग घायल हुए। बहुतों के प्राणगये। बम्बई में खेरे खेरे हजारों लोग चौपाटी पर गये और वहां से माधव बाग जाने के लिये जुलूस खाना हुआ। मुसलमान भी पर्याप्त संख्या में थे। सरोजिनी नायडू और गांधी जी से मस्जिद में भाष्य करवाया गया। यहाँ कानून की सविनय अवज्ञा की तैयारी कर रही गई थी। निश्चय किया गया था कि या तो बिना आज्ञा नमक

बनाया जाय या ऊत पुस्तकें बेची जायें। दूसरों अधिक पसंद किया गया। शाम को उपवास छूटने के बाद और चौपाटी की विराट् समा के विसर्जित होने के बाद कई स्वयंसेवक, स्वयं गांधी जी और सरोजिनी नायडू बेचने निकलीं। सभी प्रतियां बिक गईं। 'एक प्रति का मूल्य चार आना रखा गया था। पर मेरे हाथ पर अथवा सरोजिनी नायडू देवी के हाथ पर शायद ही किसी न चार आने रहे होंगे। जिसकी जेब में जो था सो सब देकर कितने सरीखने वाले बहुतेरे निकल आये। कोई कोई दस और पांच के नोट भी देते थे। मुझे स्मरण है कि एक प्रति के लिये ५० रुपये के नोट भी मिले थे। लोगों को समझा दिया गया था कि सरीखने वाले के लिये भी जेल का सतरा है लेकिन दण्ड भर के लिये लोगों ने जेल का भय छोड़ दिया था। भारी भीड़, हर्षो-माव, 'बन्दे मातरम्' और 'अल्हा से अकबर' के गगन भेदी नारे, पुलिस के घुड़सवार उनके लिये ईंटों की बौछारें, वातावरण को आतंक-पूर्ण बनाये रहीं। गांधी जी ने फिर लिखा है, 'जुलूस को रोकने के लिये घुड़सवारों की एक टुकड़ी सामने ले आ पहुंची। वे जुलूस को किले की ओर जाने से रोकने की कोशिश कर रहे थे। लोग वहां समा नहीं रहे थे। लोगों ने पुलिस की पांत को चीरकर आगे बढ़ने के लिये जोर लगाया। वहां हालत ऐसी न थी कि मेरी आवाज सुनाई पड़ सके। यह देखकर घुड़सवारों की टुकड़ी के अकसर ने भीड़ को तितर बितर करने का हुक्म दिया और अपने मालों को घुमाते हुए इस टुकड़ी ने एकदम घोंठे बौड़ाने शुरू कर दिये। लोगों की भीड़ में दरार पड़ी। मगबह मग गईं। कोई कुचले गये। कोई घायल हुए। घुड़सवारों को निकलने के लिये रास्ता नहीं था। लोगों के लिये आसपास बितरने का रास्ता नहीं था। वे पीछे लौटें तो ऊपर भी हजारों ठसाठस भरे हुए थे.... घुड़सवार और जनता दोनों पानल जैसे मालूम हुए।' ^१ ऐसी ही हड़ताल अहमदाबाद में हुई। गांधी जी को यह निश्चय करना पड़ा कि अबतक लोग सविनय

१. गांधी जी की 'आत्मकथा', पृ. ४००।

२. वही, पृ. ४०२-४०३

मंग का मर्म न समझ लें तब तक सत्याग्रह मुक्तवी रखा जाय।

(७) जालियांवाला काण्ड और मार्शल ला :- इस प्रसंग में पंजाब में जो कुछ हुआ उसने मानवता को रूखा दिया तथा बर्बरता और दानवता ने अपने आश्रयस्थल की स्थिति सुदृढ़ पाकर मुक्त अटूटहास किया। पंजाब में दो घटनाएं हुईं। एक घटना है जालियान वाला बाग की और दूसरी है अमृतसर का मार्शल ला। अमृतसर में एक समाचार यह मिला कि वहां के स्थानीय नेता डा. सत्यपाल और डा. किचलू को गिरफ्तार करके निर्वासित कर दिया गया है। इस समाचार से जनता क्रुद्ध हो उठी। नेताओं की गिरफ्तारी का समाचार पाकर जनता एक जुलूस बनाकर डिहटी कमि-ह्वर के बंगले की ओर बढ़ी। सैनिक टुकड़ी और घुड़सवार पुलिस ने जुलूस को रौका। कुछ गड़बड़ी मची कि सत्कार की ओर से अन्धाधुन्ध गोलियों की बौछार कर दी गई। इस अत्याचार से कुछ भावुक व्यक्ति अत्यन्त क्रुद्ध हो उठे। परिणामतः एकाध स्थानोंपर आग लगी और कुछ यूरोपीय अपनी संपत्ति और अपने प्राणों से हाथ धो बैठे। अंगरेजों की एक विचित्र प्रवृत्ति थी। हजारों भारतीय मर जाय तो कोई चिंता की बात नहीं। एक जांच समिति बैठा दी जायगी। दो-सारा अंगरेज भी मारा जाय तो समस्त निरीह - जनता से खून के बदले सूरजे के अनुसार निपट पहले लिया जायगा - जांच समिति उसके बाव। अस्तु, अमृतसर का नियंत्रण जनरल डायर को सौंप दिया गया। गौली बर्षा के विरोध में अान्तिपूर्वक प्रदर्शन करने के लिये निःशस्त्र प्रदर्शनकारी जालियांवाला बाग में एकत्र हुए थे। इस बाग में एक घाट था जिसपर इस अत्याचारी के सैनिक एकत्र थे। बाग के चारों ओर ऊंची ऊंची बहार दीवारी थी। बिना चेतावनी दिये हुए डायर ने गोलियां चला दीं। जब सैनिकों के पास की सब गोलीयां समाप्त हो गईं तब यह बर्षा रुकी। इस अमानुषिक घटना के परिणामस्वरूप सारा पंजाब रोष और क्रोध से उबल उठा। सारा भारत तड़प उठा। सरकार ने पंजाब से

समाचारों और मनुष्यों के आने जाने को रोक दिया। नलों का पानी बंद कर दिया गया। पेट के बल रैग रैग कर चलने की आज्ञा दी गई और जब लोग इस प्रकार घिसटते थे तो उनको देखकर हंसा जाता था। बिजली काट दी गई। लोगों को नंगा करके सबके सामने ही बैठ लगाये जाते थे। सभी साइकिलें फौज के अधिकार में कर ली गई थीं। दूकानें जबरदस्ती खुलवाई जाती थीं। जो नहीं खोलता था उसे या तो गोली से उड़ा दिया जाता था या उसकी दूकान खींचकर वहां का सारा सामान लोगों में मुफ्त बांट दिया जाता था। वकील तथा दलालों को शहर से बाहर नहीं जाने दिया जाता था। जिनके मकान की दीवारों पर फौजी कानून की नोटिस चिपकाई जाती थी वे ही उसकी विफाजत के उत्तरदायी थे। यदि कोई उसको फाड़ दे बिगाड़ दे तो वण्ड मकान का स्वामी पायेगा और वह भी तब जब उसे घर से बाहर निकलने की आज्ञा नहीं थी। भारतीयों की मोटरें और साइकिलें फौज में जमा करवा ली गई थीं जिन पर अधिकारी चढ़ते थे। हाजिरी देने के लिये सभी तांगे वालों को शहर से बाहर बुलाया जाता था। अपनी उपस्थिति सूचित करने के लिये अप्रैल की उस मयानक गर्मी में विद्यार्थियों को शहर से बाहर ४ मील दूर जाना पड़ता था। लड़के बेहोश होकर गिर पड़ते थे। जहां भीड़ जमा हो जाती वहां बम और मशीन गन का प्रयोग किया जाता था। कर्नल जो ड्रायन ने यह आज्ञा प्रसारित करवा दी थी कि जब कोई हिंदुस्तानी किसी अंग्रेज अफसर से मिले तो वह उसको सलाम करे, यदि किसी सवारी या घोड़े आदि पर हो तो उतर जाय, और यदि छाता लगाये हो तो उसे नीचे झुका दे। स्टेशन के पास एक बड़ा-सा पिंजरा बना दिया गया था जिसमें सन्वेहास्पद व्यक्तियों को डूंस दिया जाता था। सुले आम फांसी लगाने के लिये एक फांसी पर बना दिया गया था। स्कूल के लड़के तीन तीन बार परेड करते और छण्डे की सलामी देते थे। कितने ही बच्चे छू लगने से मर गये। उन को बार बार कहना पड़ता था, 'मैंने कोई अपराध नहीं किया है, मैं कोई'

अपराध नहीं करूंगा, मुझे अफसोस है, मुझे अफसोस है, मुझे अफसोस है।" चौपायों की तरह चलाने की भी आशा थी। ऐसी और इस तरह की कथानियाँ को लिखने का तात्पर्य यह नहीं है कि किसी जाति के प्रति विद्वेष पैदा हो बल्कि इनसे उन ओतों और प्रवृत्तियों पर प्रकाश पड़ता है जिन्होंने हमारे मन और मस्तिष्क को छूकर हमारे स्वभाव और साहित्य को बदल दिया। इन घटनाओं के परिणामस्वरूप सरकार की नैतिक प्रतिष्ठा को बड़ा धक्का लगा, स्वातंत्र्य आंदोलन का नैतिक पक्ष और अधिक प्रबल हो गया, टैगोर ने "नाइट" का और गांधी ने "कैसरे हिंद" पदक और बीअर युद्ध में पाये गये पदकों का परित्याग कर दिया; कवि और दार्शनिक तक अंगरेजों के विरुद्ध हो गये। कांग्रेस ने इन घटनाओं का की जांच के लिये जो समिति बनाई थी उसकी रिपोर्ट के प्रकाशित होते ही देश भर में आंदोलन ने उग्र रूप धारण कर लिया। जब इस बात का पता चला कि डायर ने कहा है कि अगर उसने लोगों को सजा देने और सबक सिखाने के लिये जानबूझकर यह हत्या कांड करवाया था वना इसकी कोई आवश्यकता न थी। अपने इस कार्य के लिये डायरको कोई दुःख नहीं बल्कि दुःख है तो इस बात का कि वह इससे अधिक कुछ दया न कर सका और अधिकारियों ने भी उसका समर्थन किया तब भारतीयों का हृदय अपनी आवश्यकता और अंग्रेजों के प्रति क्रोध की भावना से उबल उठा। राहुल सांकृत्यायन ने लिखा है कि सेना ने निरुद्धे स्त्री-पुरुषों बाल-बुढ़ों पर जो अत्याचार किये उनकी कथाएं सुनकर बून लौलने लगता था। बेगुनाही की कांसी, लम्बी लम्बी सजाएं, भगवान पर रोष आता था। उसका न्याय कहाँ गया। उनका चमत्कार कहाँ !! 1922 के अपने प्रसिद्ध अहमदाबाद वाले बयान में उन्होंने स्वीकार किया है कि उन्हें पहला धक्का रोलट पैक्ट ने दिया जिसके बाद पंजाब के हत्याकांड का नम्बर आया और उनकी सारी आवाएं धूल में मिल गईं। इसने राजकमल गांधी को पिप्रोही

बना दिया । १९२२ के अपने प्रसिद्ध अहमदाबाद वाले बयान में उन्होंने स्वीकार किया है कि उन्हें पहला धक्का रोल्ट ऐक्ट ने दिया जिसके बाद पंजाब के हत्याकांड का नम्बर आया और उनकी सारी आशाएं धूल में मिल गईं । अनेक समयदार अंग्रेज भी इस अमानुषिक कार्य से चर्मित हुए । वायसराय नेम्सफोर्ड ने डायर के उस दृष्टिकोण को जोरदार ढंग से मत्सर्नीय समझा ; मांटेग्यू ने 'सच्ची सरकार की प्रत्येक कसौटी को कुदर कर देने वाला' समझा । हण्टर कमीशन ने 'मयान्तक मूल' और सर वेलेन्टाइन चिराल ने 'ब्रिटिश भारत के इतिहास का काला दिन' कहा । डायर के इन कुकृत्यों ने देश को मजबूर कर दिया कि वह कोई बड़ा कदम उठाए । गांधी जी अभी सत्याग्रह नहीं करना चाहते थे । १९१९ में अमृतसर में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ जिसमें गांधी का महत्व स्वीकार कर लिया गया और तभी से भारत के राजनीतिक मंच पर 'महात्मा गांधी की जय' का घोष गूंजने लगा । कलकत्ता में कांग्रेस के एक विधेय अधिवेशन ने उनके असहयोग प्रस्ताव को बहुमत से स्वीकार कर लिया । और नागपुर के वार्षिक अधिवेशन में फिर उसी का आग्रह हुआ ।

(८) असहयोग आंदोलन :- अन्तर्गत १९२० में यह आन्दोलन छेड़ दिया गया । इसके मुख्य कार्यक्रम थे सरकारी नौकरियों में न लेना और मिली हुई को भी छोड़ना , काँसिल के चुनाव में न सभा होना और न वोट देना , स्कूलों-कालेजों - अदालतों का बहिष्कार , विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार चत्तार-सद्वर-राष्ट्रीय-शिक्षा-पंचायती अदालतों का कार्यक्रम अपनाना । गांधी जी ने एक शर्त यह रखी थी कि सत्याग्रह वहीं शुरू करेंगे जहां साधी का प्रचार हो और रचनात्मक कार्यक्रम के अंग यथासाध्य पूरे किये गये हों । इसका परिणाम यह हुआ कि जगह जगह इन शर्तों को पूरा करने की तैयारियां की जाने लगीं । भारत एक घम घबल गया । उसकी राष्ट्रीय पुष्पता तीव्रतम हो गई । इस प्रकार राष्ट्रीयता जन-जन तक पहुंच गई । धीरेन्द्र वर्मा ने

लिखा है, "बंग-मंग के आन्दोलन के फलस्वरूप राजनीतिक जागृति समाज के मध्यवर्ग में पहुंची किन्तु स्वतंत्र भारत के सन्देश को जनसाधारण तक पहुंचाने का श्रेय महात्मा गांधी को है।" ¹ कुछ ऐसे लोग भी थे जो इस आंदोलन के महत्व की कल्पना नहीं कर पाते थे। साधारण जनता में भी ऐसे लोगों की कमी न थी। इससे कुछ अधिक-समझदार-लोगों-ने ऊपर के वर्ग वाले लोग यह कहते थे कि जेल जाने से कहीं आजादी मिलती है ? इससे कुछ अधिक समझदार लोगों ने इसका मजाक उड़ाया जिनके शीर्ष बिन्दु पर तत्कालीन वायसराय थे। जिनका कथन था कि असहयोग समस्त मूर्खतापूर्ण योजनाओं में भी सबसे अधिक मूर्खतापूर्ण है। जो लोग राष्ट्रीय थे और फिर भी इसके महत्व को समझने की अंतर्दृष्टि से वंचित थे उनमें सबसे अधिक उल्लेखनीय नाम भीमती पनी बेसेन्ट का है जिन्होंने शुरू से ही असहयोग आन्दोलन का विरोध बड़े जोरों से किया था और एक बार तो यहां तक लिख दिया था कि गांधी जी अंधकार की उक्तियों के प्रतिनिधि हैं। (रिप्रजेन्ट्स दि फोर्सेज आफ डार्कनेस)। गांधी जी ने असहयोग को इतना व्यक्तिगत रूप दे दिया था कि प्रत्येक व्यक्ति यह सोचने को विवश हो गया कि यदि वह सरकार से असहयोग न केन्द्र करेगा तो स्वराज्य-प्राप्ति में विलम्ब हो जाएगा। १९२० में ही गांधी जी ने यह आश्वासन दिया था कि यदि लोग पूर्णतः अहिंसात्मक ढंग से असहयोग करें तो एक वर्ष में स्वराज्य मिल जाएगा। मोतीलाल नेहरू जवाहरलाल नेहरू, चित-रंजनदास, बल्लभ भाई पटेल आदि हजारों ने असहयोग किया, मादक द्रव्यों का सेवन त्याग। १९२० में तिलक का देहान्त हो गया और गांधी भारत के एकमात्र नेता हो गये।

(९) तिलक स्मारक फंड : बहिष्कार, धरना आदि :- इसी बीच गांधी जी ने तिलक स्मारक फंड के लिये चन्दा एकत्र करना प्रारंभ किया। स्वराज्य

फंड के लिये भी प्रयत्न किया गया। अंत में ही तिलक-स्वराज्य फंड लक्ष्य-
 तीत धन एकत्र हो गया। इसी बीच ७ महीने तक गांधी जी ने सारे देश
 का दौरा किया। विदेशी वस्त्रों की होलियां जलाई गईं। विदेशी वस्त्रों
 और शराब की दुकानों पर धरना दिया गया। राजनीतिक होते हुए भी
 इस आन्दोलन का स्वरूप धार्मिक हो गया। राजेन्द्र बाबू के कथनानुसार,
 'असहयोग ने राजनीतिकों अंग्रेजी पढ़े-लिखे कुछ वकील बैरिस्टर्स और बड़े
 बड़े तन्त्रजिनों व्यापारियों के अंग्रेजी तरीके से सजे कमरों से बाहर निकाल
 कर गांवों के बरखदों के साथे के नीचे और गांवों के सेत सल्लिहानों तक पहुंचा
 दिया था।'^१ इस प्रकार गांधी जी का यह आंदोलन जन साधारण में पहुंच
 गया। इसका चित्रण राहुल सांकृत्यायन ने बड़े ही मार्मिक ढंग से उपस्थित
 किया है, 'एक ने कहा - देवता ने सिर पर आकर घोषित किया - 'हम
 सभी देवता गांधी बाबा के साथ हैं, न हमें बलि चाहिए न गांजा, न
 शराब। गांधी बाबा के हुक्म के खिलाफ जो इन चीजों को बढ़ावेगा, हम
 उसका नाश कर देंगे।'^२ जनता गांधी जी के दर्शनों के लिये पागल थी।
 दर्शों दिखावा को गुंजाने वाले नारे लगाये जाते थे। स्टेशनों पर अनन्त जन
 समूह दिखाई पड़ता था। चलती रेलगाड़ी के किनारे लाइन पर सटे होकर
 लोग अपनी ब्रजा और विश्वास प्रकट करते थे। विराट सभाएं होती थीं।
 देश आजादी के लिये दीवाना हो गया था। नारियां भी घर और पदार्थ छोड़
 कर अपनी आहुतियां देने निकल पड़ी थीं। हिंदू मुस्लिम एकता पूर्ण रूप से
 स्थापित दिखाई पड़ती थी।

(१०) माडरेट लोगों का अलग होना और विपुल जन-आन्दोलन :-

जब यह आन्दोलन जन साधारण का हो गया तब इसमें बेपटे, असह्य, गैवार

१. 'आत्मकथा', पृ. १५५।

२. 'मेरी जीवन यात्रा', पृ. ३५०।

गंदे, रूखे, देहाती, किसान, मजदूर आदि भी आने लगे। कुछ 'बड़े आव-
मियों' को यह सहन नहीं हुआ। वे कांग्रेस से अलग हो गये और शायद
इसलिये भी अलग हो गये कि उन्होंने अपना अच्छा साना और अच्छा पहनना
भारत माता की स्वतंत्रता से अधिक प्यारा लगा। त्याग की उक्ति के
अभाव और भोग की प्रवृत्ति की प्रवृत्तियों ने उनका कांग्रेस-संबंध विच्छेद कर
दिया। जवाहरलाल नेहरू ने अपनी 'अटो बायोग्राफी' में इस युग का बड़ा
ही कलात्मक ढंग से चित्रण किया है। उन्होंने लिखा है कि माडरेट या क्लि-
रल कांग्रेस से अलग हो गये। वे सरकार में रूप गये। वे सरकारी दृष्टि बौण
से समस्याओं पर विचार करने लगे। वे जो चाहते थे मिल गया परन्तु
प्रसन्न वे भी नहीं थे। जन-आन्दोलन ऐसा नहीं होता कि वह अपने विरोधि-
यों के प्रति दयालुता दिखाये। ऐसा आन्दोलन अपने सहयोगियों को संजी-
वनी और स्फूर्ति देता है और विरोधियों को मनोवैज्ञानिक ढंग से हलाक कर
डाक़ता है। भारत में भी यही हुआ। आन्दोलन ने जनता का सर ऊँचा कर
दिया उसकी टूटी कमर और रीढ़ में व्यक्ति संजीवित करके उसे सीना तानकर
सठे होने का साहस दे दिया। देश ने स्वराज्य की मांग की। १९३१ में अधि-
कांस कांग्रेसियों के ऊपर जैसे नज़ा चढ़ गया था। अवैध, अशुद्ध, असाधारण,
उत्साह, और लक्ष्य पर मर मिटने वालों की मस्ती एवं खुशी से लोग निकले।
एक दिलकश बीबानगी थी। न डंका, न हिचक। सामने रास्ता साफ़ है।
आगे बड़े चले जा रहे हैं। परस्पर एक दूसरे को उत्साहित करते हैं। आगे
बढ़ने की प्रेरणा देते हैं। अपूर्व लगन और परिश्रम से काम करते हैं क्योंकि
जानते हैं कि सरकार से संघर्ष करना होगा। इन सबके बावजूद आजादी का
खाल बराबर बना रहता था और उस आजादी के लिये हम में एक उच्च-
कोटि के गौरव की - गर्व की भावना थी। दमन और पत्थरी की भावना
पूरी तरह से हवा हो गई थी। अब न तो फुसफुसाहट होती थी और न
अधिकारियों के जंगल से बचने के लिये गोल-मोल बातें। जो कुछ अनुभव किया

जाता था उसे साफ साफ बिलग कर कहा जाता था। परिणाम की चिंता किसी को भी नहीं होती थी। जेल जाने के लिये तो जैसे सदैव तैयार बैठे रहते थे। सी. आई. डी. और सुफिया पुलिस वालों की स्थिति बड़ी ही खनीय होती थी। वे रिपोर्ट दें भी तो क्या ! यहाँ कोई चीज गुप्त या छिपी होती ही नहीं थी। सिर्फ यही सन्तोष नहीं था कि लोग एक ऐसा प्रभावशाली राजनीतिक कार्य कर रहे कि जो भारत के बाह्य रूप को उनकी आंखों के सामने ही बदले दे रहा था और आजादी को पास ला रहा था। बल्कि उन्हें यह भी निश्चित रूप से अनुभव हो रहा था कि वे नैतिक दृष्टि से अपने विरोधियों से ऊंचे हैं। इनका लक्ष्य बेहतर था, इनका ढंग भ्रम था। गांधी और गांधी के बताये मार्ग पर लोगों को विश्वास ही नहीं, गर्व भी था। इसके विपरीत, सरकार की नैतिकता का ह्रास हो रहा था। वह समझ नहीं पा रही थी कि क्या हो रहा है। वे देख रहे थे कि उनकी आंखों के सामने ही, देखते ही देखते, उनकी पुरानी परिचित दुनिया को न मालूम क्या होता जा रहा है। वह डहती जा रही है। वह बदलती जा रही है। सरकार का आत्म-विश्वास, उसकी आक्रामक भावना, उसकी निर्भीकता मिटती जा रही थी। छोटे पैमाने के बमन या छोटे नेताओं के प्रति कुछ करने से आन्दोलन को बल मिलता था। बड़े पैमाने पर या बड़े नेताओं के खिलाफ कुछ करने से सरकार हिचकती थी। सरकार समझ नहीं पा रही थी कि क्या होने जा रहा है। वह किस पर विश्वास करे, किस पर न करे! लार्ड रीडिंग ने कहा था कि सरकार 'प्रान्त एवं उद्भिन्न' है। अंगरेज अक्सर की नौ डीली हो गई थी। उनके ऊपर बेहद बोझ पड़ रहा था। उनके सिर पर असहयोगियों की मेघमालायं गर्जन कर रही थीं। चूंकि साधारण अंग्रेज अहिंसा की समझता नहीं, इसलिये वह समझता था कि कोई मयानक रहस्यमय बात होने जा रही है। उसकी नाँव हराम होगई थी। १९१९-२१ में अंगरेज इसी तरह धक्का रहा था। डक, सन्देश, धक्काहट, अविश्वास, आसंका आदि में सरकारी वातावरण भीतर ही भीतर आतंकित था। गांधी की धार्मिकता

और मौलानाओं के रंगदंग के कारण आन्दोलन की धजा-कता कुछ धार्मिक भी हो रही थी। इस प्रकार १९२१ का वर्ष असाधारण था। इस वर्ष राष्ट्रीयता और राजनीति का तथा धार्मिकता, रहस्यवाद और कट्टरता का अनोखा सम्मिश्रण दिखाई पड़ता था। इन सबके पीछे कृषि संबंधी कठिनाइयाँ और बड़े सहरों में, धार्मिक वर्ग का उठता हुआ आंदोलन था। राष्ट्रीयता और आदर्शवाद ने इन सबको मिलाकर एक कर दिया था। ५ अक्टूबर १९२१ को कांग्रेस कार्यसमिति ने यह प्रस्ताव पास किया कि प्रत्येक भारतीय सैनिक तथा नागरिक का यह कर्तव्य है कि वह सरकार से अपना संबंध कटोते कर ले और आजीविका का कोई दूसरा साधन ढूँढ ले। जो सरकार से संबंध न तोड़े उसे कांग्रेसी और जनता दोनों में सरकारी पिटू कहा जाता था। पंजाब में इनको 'कुत्ते' या 'सौली चुक्क' कहा जाता था। बीस की उम्र से नीचे तक के नवयुवक बालंटियर बनाए जाते थे। इसी युग में कांग्रेस का शंका भी तैयार हो गया। १९२१ की सितंबर में मोहम्मद अली जinnah बना लिये गये। ऐसे तनाव की परिस्थिति में संभवतः अपने डहते हुए सम्मान और प्रतिष्ठा को बचाने के लिये सरकार ने इंग्लैंड के राजकुमार की भारत-यात्रा करवाली। व्यक्तिगत रूप से कोई भी उनके स्वागत न था किन्तु युद्धरत राष्ट्र विरोधी के प्रतीक के स्वागत में विलम्ब नहीं कहाँ से विलम्ब! वह वैसा मुँह कहाँ से लाए, मले ही भारत के लिये अतिथि वेव होता है किन्तु हर चीज की एक-सीमा होती है! और जिस उद्देश्य से वे बुलाये गये वह हमारे राष्ट्रीय लक्ष्य के लिये अहितकर था अतएव उनके स्वागत का बहिष्कार किया गया। संघर्ष अनिवार्य हो गया।

(११) राजकुमार के स्वागत का विरोध:- राजकुमार ने भारत प्रवेश किया और प्रत्येक स्थान पर उनका स्वागत सुनी सहकौ, नंगे-बूचे बाजारी मुँह मार्गी और विधवा जैसे प्रतीत होने वाले नगरों ने किया। बम्बई में

जो लोग स्वागत करने चले उन पर आक्रमण हो गया। रक्तरेजित उपद्रव अर्थात् वंगा-फसाद हाथ लगा। गांधी ने इसके विरोध में उपवास किया। कुल मिला कर देखें तो यह बहिष्कार असाधारण रूप से सकल हुआ, कुछ सरकार बदला देने पर उतर आई। बंगाल और यू. पी. में खूब गिरफ्तारियां हुईं। ऐसा करके सरकार कांग्रेस का काम ठप कर देना चाहती थी। कांग्रेस के प्रमुख कार्य-कर्ता, सामान्य वालंटियर उत्साह और जोश में डूबे हुए थे। बच्चे और वि-याधी, बुद्ध और युवक, नारी और पुरुष, धनी और गरीब, वकील और मुव-किल, किसान और जमींदार, मजदूर और मास्त्रि, देहाती और उहराती, शिक्षित और अशिक्षित सभी वर्गों के लोग बन्दीगृह गये। सभी जै बन्दीगृह कृष्णमंदिर बन गया। मोहनदास "मोहन" हो गए। चर्चा सुवर्णन चक्र बन गया। (चार्ज-बिलन-हने-जेल-जाने-वाले-उत्साहियों-के-संख्या-भी-कम-न-थी-—जेल अफसर-परेखान-ये-कि-इतने-अधिक) राजेन्द्र बाबू ने लिखा है, कि बिहार सरकार के नये प्रधान सचिव (चीफ सेक्रेटरी) ने एक दूसरी विनित्त निकाली जिसमें जिला अफसरों को प्रोत्साहन दिया गया कि वे विदेशी वस्त्र संबंधी प्रचार करें और जनता को यह बजावें कि विदेशी वस्त्र के बिना लोगों को बहुत कष्ट होगा, कपड़ा बहुत महंगा हो जायगा और जहां जहाँ कांफ्रेंस कहीं कांफ्रेंसी लोग और लगावें, गिरफ्तार किये जायें। उनके इस प्रचार में उन लोगों की मनोवृत्ति शारीरिक सुकुमारता और नजाकत ने अप्रत्यक्ष रूप से सहायता पहुंचाई जो लोग सादी का मोटा कपड़ा न पहन पाते थे, न संभाल पाते थे और जिन का शरीर उससे छिल जाता था। फिर भी चार्जट विना ही जेल जाने वाले उत्साहियों की संख्या भी कम न थी। जेल अफसर परेखान ये कि इतने और इन कैदियों के साथ क्या करें।

(१२) चोरीचोरा कांड :- इस समय जेल की स्थिति ऐसी थी कि

महात्मा जी के एक शब्द ने वह संग्राम ठेठ दिया होता जिसकी तुलना में १८५७ का विद्रोह बहुत ही छोटी चीज लगता" । अहिंसावादी गांधी ने ऐसा नहीं किया। उन्होंने बारदोली में बहुत बड़े पैमाने पर सत्याग्रह (असहयोग) आन्दोलन करने का निश्चय किया। यह १ फरवरी १९२२ की बात है और ५ फरवरी को चौराचौरा कांड हुआ। हिंसा !! गांधी जी ने सारा आंदोलन बन्द कर दिया। सारा देश मोचक़ा हो गया। कल्पनातीत धक्का लगा। लोग बौसला उठे। गांधी जी के इस निश्चय की प्रतिक्रिया में लोगों के हृदय रो उठे। सरकार, सरकारी आदमी, कांग्रेस, कांग्रेसी नेता, जनता और रजनीषामदत आदि भावी इतिहासकारों के लिये भी यह समझने में न आ सकने वाला आश्चर्य था। एक ओर विजयलक्ष्मी और गौरव की देवी हाथ में स्वागत की माला लिये खड़ी है और दूसरी ओर विजेता पराजय की घोषणा करता है। सच है, अष्ट्यात्म का पथ ऐसा ही होता है। उसके पथिक का सूक्ष्म विचार लौकिकता की समझ में आये भी तो कैसे। जवाहर लाल नेहरू क्रोध होकर जेल की कोठरी में इधर से उधर चक्कर काटते रहे, "क्या कुछ लोगों की भूल से इतना व्यापक आन्दोलन बन्द किया जा सकता है!" उनको गांधी का पत्र उद्बोधन- भी न संतुष्ट कर सका। १० मार्च को गांधी गिरफ्तार कर लिये गये। वायसरॉय लार्ड रीडिंग और उनके साथ अन्य विचारकों का मत था कि सत्याग्रह स्वयंसेवकों के कार्य के द्वारा गांधी ने अपनी राजनीतिक आत्महत्या कर ली है। ऐसे आदमी का साथ, जो ठीक समय पर धोखा देकर निकल जाय, कौन देगा। कुछ लोगों का यह भी विचार है कि उनके इस कार्य से लगने वाले मानसिक आघात और उससे उत्पन्न निराशा के परिणामस्वरूप ही उनके बाव दैव में साम्प्रदायिक दंगों का चौरचौरा चल पड़ा। गांधी जी पर मुकदमा चला और उन्होंने वहीं अपना अहमदाबाद का प्रसिद्ध बयान दिया था जिसमें उन्होंने अंग्रेजी सरकार के उन दोषों और अत्याचारों का उल्लेख किया जिन्होंने उनको विद्रोही बना

दिया था। उन्हें ६ वर्ष के कारावास का वंड मिला। १९२४, १९२५, १९२६, और १९२७ में गांधी जी सद्वर के प्रचार, चर्चा के प्रचार आदि पर बहुत जोर देते रहे। १९२५ में उन्होंने सारे देश का दौरा किया था। तब लोगों ने गांधी जी को पूर्णरूप से अनैतिक पुरुष मानना प्रारम्भ कर दिया था।

(१३) रचनात्मक कार्यक्रम :- इसी समय से उन्होंने सादी, हरिजनो-
 धार आदि कार्यों के लिये चन्दा एकत्र करना प्रारम्भ किया और लोगों ने
 आघातीत ढंग से उनकी मांग पूरी की। महिलाओं ने आमूष्य उतार दिये।
 पुरुषों ने जेबें खाली कर दीं। इसी वर्ष सारे भारत में उनकी ५३ वीं वर्षगांठ
 मनाई गई। उनकी अनुपस्थिति में कस्तूर बा ने उनका काम चलाते रहने का
 प्रयत्न किया। १९२४ में सरकार ने उनकी बीमारी के कारण उन्हें
 बिना अर्त के छोड़ दिया। तब तक कांग्रेस दो दलों में बंट चुकी थी - अपरि-
 वर्तनवादी और परिवर्तनवादी। अपरिवर्तनवादी गांधी के मार्ग पर चलते
 हुए सरकार से अस्थयोग करके ही अपना कार्य करना चाहते थे जबकि परिवर्तन-
 वादी इस नीति में कुछ परिवर्तन करके कौंसिलों में जाकर सरकार का विरोध
 करना चाहते थे। गांधी जी ने दोनों दल वालों के बीच देश का कर्तव्य बांट
 दिया। अपरिवर्तनवादी रचनात्मक कार्य करें और परिवर्तनवादी कौंसिलों में
 जाकर सरकार का विरोध करें क्योंकि दोनों ही अच्छे कार्य हैं। मोतीलाल
 नेहरू, चितरंजनदास आदि परिवर्तनवादी थे। इन्होंने स्वराज्य पार्टी की
 स्थापना की थी। ये लोग कौंसिलों में जाते और वहाँ भी सरकार को घेन
 घन न लेने दिया। अन्त में इन लोगों ने अनुभव किया कि उनके इस कार्य से
 उन सबके चरम लक्ष्य - स्वतंत्रता - की प्राप्ति में कुछ अधिक मदद नहीं मिल
 सकती।

(१४) घंटा सत्याग्रह (१५) गुरु का बाग का सत्याग्रह :- नागपुर में
 घंटे के प्रश्न पर कुछ दिनों तक कांग्रेस को आन्दोलन चलाना पड़ा किन्तु इस
 अवधि का सबसे भयानक आन्दोलन या गुरु का बाग का। पतित मठाधीशों
 से मठों को मुक्त करने के लिये सिक्कों ने यह आन्दोलन किया था। इसमें
 सरकार मठाधीशों के साथ थी। सत्याग्रहियों को खूब पीटा जाता था।
 उनके सिर फूट जाते थे। वे रक्तस्नान हो उठते थे किन्तु असाधारण थी उन
 की अहिंसा की निष्ठा कि चुपचाप स्ते जा रहे थे। एक के बाद एक सत्या-
 ग्रहियों के घल जाते ही जा रहे थे। ऐंड्रूज ने इस कांड के बारे में कहा है कि
 अब तक मैंने जितने हृदयविदारक और कलपाजनक दृश्य देखे हैं, यह उनमें सबसे
 बड़का है।

(१६) जेल में सत्याग्रहियों पर अत्याचार :- इधर यह हाल था और
 उधर जेल में सत्याग्रहियों के ऊपर अमानुषिक अत्याचार किये जा रहे थे। उन से
 चक्की चलाना और कोल्हू पेरवाना तो मामूली बात थी। अगर आज्ञा के
 अनुसार पूरा काम न हो तो उसके लिये अलग से सजा होती थी। पैंतों में
 बेड़ी, डंडा-बेड़ी, लड़ी हथकड़ी, चट्टी कपड़ा जो जेल की सजाएं हैं बहुतों
 को भोगनी पड़ीं। कहीं कहीं बेल भी लगाये गये। मुसलमानों की संख्या भी
 जेल में काफी थी। इसलिये विहार में उनसे अजान के मामले को लेकर सरकार
 से मुठभेड़ हो गई। अधिकारियों ने इसे बन्द करने की आज्ञा दी। वे न
 माने। इसके लिये भी उन्हें सजाएं मिलीं। नगरों में सरकार और सरकारी
 आदमियों की कृपा और व्यवस्था के कारण बड़े सांप्रदायिक बंगे दिन प्रति-
 दिन बढ़ते ही जा रहे थे। और बढ़ती जा रही थी किन्तु मुसलमान के बीच
 की साई - पारस्परिक वैमनस्य। इसका भयानकतम रूप उस स्वामी मठानंद
 की हत्या के रूप में प्रकट हुआ जिसे जामा मस्जिद के भीतर बुलाकर ठगाना
 पिलाया गया था। १९२६ में उनकी हत्या हुई और सारे भारतवर्ष में प्रकंपित

कर देने वाली एक आतंक की लहर दौड़ गई। सांप्रदायिकता के विषय का यह भयानक परिणाम था जो संभवतः उस समय के २० वर्ष बाद की उन कूरताओं की ओर उठी हुई उंगली जैसा था जिनको देखकर हलार्ड और चेंगेज सां की रुह भी धरा गई होगी। जिस्के आने पशुता और दानवता भी धरा गई होगी परन्तु जिन्हें देखकर उनका एकमात्र जिम्मेदार अंग्रेज जरा भी न पसीजा। गांधी जी से यह स्वर न देखा गया और उन्होंने १९२४ में सांप्रदायिक एकता के लिये २१ दिन का उपवास कर डाला। देश भर में घूम घूम कर, ठयाख्यान दे देकर, बातें करककके, गांधी जी ने स्वराज्य संबंधी विचार और कार्यक्रम समझा समझा कर देश की स्वातन्त्र्य भावना जागरूक और तीव्रतर करते रहे जैसे कोई सैनिक अवकाश-बेला में अपने अस्त्र-यस्त्रों पर धार रस रसकर उसे तेज करता रहे, चमकाता रहे। शिक्षितता कहीं आने ही न पाई। कहीं राष्ट्रीय विद्यापीठ खुल रहे हैं, कहीं स्वदेशी प्रदर्शनी हो रही है। कहीं पार्टियों के अधिवेशन हो रहे हैं। कहीं सामाजिक समस्याओं पर विचार-विनिमय हो रहा है, कहीं राष्ट्रभाषा पर बातचीत हो रही है, कभी माफ्य होते हैं तो कभी चरखा सादी एवं सांप्रदायिक एकता के प्रयत्न हो रहे हैं। कहीं राष्ट्रीय कार्य के लिये बनने वाले भवन की आधारशिला रखी जा रही है तो कभी राष्ट्रीय नेताओं के चित्रों और मूर्तियों का अनावरण हो रहा है।

(१८) साइमन कमीशन :- इस प्रकार देखते ही देखते १९२८ आ गया और केवल अंग्रेजों अर्थात् गौरी चमड़ी वालों ने विनिर्मित एवं सुसज्जित और भारतीयों की हवा से भी सुरक्षित 'साइमन कमीशन' सर जान साइमन के नेतृत्व में भारत का मान्य निर्णय करने आया। भारत की आत्मा एक बार फिर तड़प उठी - यह है अंगरेज प्रभुओं की असली चकल! १९२९ में भारत

सचिव लार्ड बर्केन हेड ने बड़े ही लयात्मक स्वर में हाउस आफ लार्ड्स में कहा था, 'इस दिन में क्या कोई ऐसा व्यक्ति है जो यह कर सकता है कि वह एक पीढी, दो पीढीयों में और १०० वर्षों में भी कोई भी संभावना इस तथ्य को देख सकता है कि भारत की जनता लो सेना, नौसेना, नागरिक-नौकरियों पर नियंत्रण रखने की स्थिति में हो सकेगी, और ऐसा गवर्नर जनरल बना सकेगी जो केवल भारतीय सरकार के लिये ही उत्तरदायी हो - इस देश इंग्लैण्ड की किसी सत्ता के प्रति न हो।' यह थी भारत की नीति के ब्रह्माणों की दूरदर्शिता जो १६ वर्ष आगे हो सकने वाली घटनाओं की कल्पना मात्र तक नहीं कर सकती थी! इसी बर्केन हेड ने एक और अपमानजनक बात कही थी। उसने चुनौती दी थी कि भारतीय भारत के भाषी सरकार की रूपरेखा के संबंध में कोई ऐसी उपस्थित कर दे जो सभी भारतीयों को स्वीकार्य हो। इसका उत्तर भारत ने मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में निर्मित 'नेहरू-रिपोर्ट' से दिया। देश ने साह-मन कमीशन का बहिष्कार कर दिया। गांधी जी ने तो उसका बहिष्कार इस सीमा तक किया कि उसका नाम तक नहीं लिया। उनके जैसे उसका अस्तित्व ही नहीं था। देश के सभी राजनीतिक वर्गों ने उसका बहिष्कार किया। पट्टा-मिसीतारमैया ने लिखा है, 'यह जानकर आश्चर्य होगा कि जब कमीशन बंबई में घूम रहा था तब 'सर' की पदवी धारण करने वाले २२ नाइटों में से एकने भी कमीशन से मिलने की तकलीफ गवारा न की। देश में बहिष्कार की जो लहर फैली हुई थी उसका इससे ज्वलन्त प्रमाण और क्या मिल सकता है।' सारी भारतीय जनता नन्म अंग्रेजी नाम और 'मो बेने', इन दो अंग्रेजी शब्दों से परिचित हो गई। कमीशन के सदस्यों के बायकाट एक होवा हो गया था। आधी रात में बिस्लाते थे सियार और अपने होटलों में सोये हुए थे बेचारे समझते थे कि इस समय भी बायकाट के द्वारा हमारा पीछा नहीं छोड़ा गया। इसी विरोध के सिलसिले में लाठी चार्ज के कारण लाला लाजपत राय की मृत्यु

हो गई! अंगरेजों ने घेरे पंजाब को मार डाला! हमारे इतने बड़े नेता के साथ भी यह राक्षसी व्यवहार !! सारे भारत ने दुस से सिर नीचे झुका लिया और यही दुःख क्रोध और क्रोध में बदल गया। यह महाराष्ट्रीय अपमान है! सारा भारत दांत पीसने लगा। दिसम्बर २८ में लाहौर के प्रसिद्ध सुपरिन्टेन्डेंट "सान्डर्स" की हत्या कर दी गई! लुई फियर ने लिखा है कि १९२८ में अदृश्य रूप से स्वयं भी न जानते हुए और विदेशियों द्वारा भी न देसे जाते हुए भारतीय स्वतन्त्र हो चुके थे।^१ शरीर पर बंधलापं अब भी थीं किन्तु आत्मा बन्धनों से मुक्त हो चुकी थी। गांधी ने कुंजी घुमा दी थी। शत्रु के विरुद्ध अभियान करते हुए किसी भी सेनापति ने आज तक अपनी ~~कस्त्रबाहिनी~~ की गतिविधि इतनी पूर्ण कुशलता के साथ नहीं योजित की थी जितनी कि इस सन्त ने सत्य के कवच और नैतिक लक्ष्य के माले को लेकर की। १९३१ में अपने अंतिम वर्षों में मोतीलाल नेहरू ने गांधी से कहा था - "मैं जा रहा हूं, महात्मा जी! मैं स्वराज्य देखने के लिये जिन्दा नहीं रहूंगा लेकिन मैं जानता^२ कि आपने स्वराज्य जीत लिया है और आपको खींच फिल जायगा -। सुभाषचन्द्र बोस बंगाल में, उस बंगाल में जो अंगरेजी सरकार के लिये सदा से एक सिरदर्द बना रहा, आजादी की बुझा तीव्र से तीव्रतर और तीव्रतम कर रहे थे।^{अतः वहाँ} उनकी घोषणा थी कि आप हमें छुन दें और हम आपको आजादी दिला देंगे।

(१९) चारदोली :- १९२८ में ही गांधी जी के आजीवांदा के साथ चारदोली में सरदार बल्लभभाई पटेल के नेतृत्व में सत्याग्रह प्रारम्भ किया गया सरकार ने वहाँ के किसानों की सम्पत्ति छीनी प्रारम्भ की, उनके बैल सील लिये गये, बैलगाड़ियां छे ली गई, जमीन छे ली गई, लेकिन चौर सत्याग्रहियों

१. "वि लाइफ आफ महात्मा गांधी", पृ. ३२०-३२१

२. "मोतीलाल नेहरू जन्मशताब्दी स्मृतिगंध," पृ. ८४।

ने टैक्स नहीं दिया। बारदोली के वीर सत्याग्रहियों के समर्थन में गांधी जी ने सारे देश में हड़ताल कराया। बारदोली का समाचार देश-विदेश पहुंच गया। सारे देश ने सत्याग्रह करने की मांग की। अन्ततोगत्वा राष्ट्रीय - विद्रोही भारत की जीत हुई। इस सफलता के कारण सारे देश में उत्साह की लहरें उमड़ गईं। अब सब लोगों के दिल में यह विचार उठने लगा कि पूरा प्रयत्न अगर किया जाय तो सारे देश में बारदोली जैसा ही सत्याग्रह चल सकता है और इसी तरह सफलता भी प्राप्त हो सकती है। अब तक सत्याग्रह विचार में ही रहा करता था। इतने बड़े कैमाने पर उसका कोई प्रयोग नहीं हुआ था बारदोली में उसकी इस सफलता ने यह प्रमाणित कर दिया कि जनता भी अपनी ओर से उठी रहे, कमी भी बल्ला-फसाव न करे तो ब्रिटिश गवर्नमेंट को हार माननी पड़ेगी। गांधी जी ने भारत को निरस्त करके अंगरेजों के हथियार छर्च कर दिये। १९२९ में विदेशी वस्त्रों के ^{बाहेर} आयोजना बनाई गई। दिसम्बर १९२८ में ही यह प्रस्ताव भी पास किया कि यदि १९२९ ई. को अन्त तक औपनिवेशिक सरकार की घोषणा न हो जाय तो हम पूर्ण स्वतंत्रता को अपना लक्ष्य घोषित कर देंगे। १९२९ के ३१ दिसम्बर को १२ बजे रावी नदी के तट पर लाहौर में कांग्रेस का लक्ष्य भारत के लिये पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करना होगया। भारतीयों ने इसके लिये बड़े से बड़ा बलिदान दिया, अत्याचार सह्ये, कीमत चुकाई। सेती-हरी-पक-बदन-कन-हस्त

सत्याग्रह-समिति

(२१) बौरसव :- ऐसी ही एक घटना का उल्लेख १२ जनवरी के क्वेन्टर गार्जियन में बौरसव में ~~है~~ है - "बौरसव में भी इसी प्रकार की एक रोमांचकारी घटना हुई। वहाँ की महिलाओं ने बड़ी वीरता दिखाई। पुलिस प्रदर्शन को रोकने का निश्चय कर चुकी थी। स्त्रियों ने जुलूस वालों को पानी पिलाने के लिये विभिन्न स्थानों पर पानी के बड़े बड़े बर्तन रख छोड़े थे। पुलिस ने पहले इन बर्तनों को ही तोड़ा। फिर स्त्रियों को बलपूर्वक तितर-

वितर कर दिया। यह भी कहा जाता है कि जब स्त्रियाँ गिर गईं तब पुलिस वाले उनके सीनों को बूटों से कुचलते हुए चले गये। १९३० में मोती-लाल जी ने अपना सुन्दर मकान "आनन्द-मवन" कांग्रेस को दान में दे दिया।

(२२) नमक आंदोलन :- १२ मार्च १९३० को प्रसिद्ध दांडी-यात्रा प्रारम्भ हुई, जो ६ अप्रैल को दांडी में नमक कानून तोड़ने के रूप में समाप्त हुई। इस प्रकार नमक आन्दोलन या अहिंसक अवज्ञा आंदोलन प्रारम्भ हुआ। दस महीने के लंबे समय में ही नब्बे हजार स्त्री-पुरुषों और बच्चे घोंघी करार लेकर जेलों में ठूस दिये गये। यह कोई नहीं जानता कि मार कितनी पर पड़ी। लेकिन जितनी को कैद की सजा हुई थी, पिटने वालों की संख्या ^{उन्हे} तीन या चार गुनी अधिक थी। हाई कोर्ट के एक एडवोकेट को सताने के लिये एक एक करके उसके बाल उखाड़े गये और यह सिर्फ इसलिए कि उसने अपना नाम और पता नहीं बताया था। सारे भारत में नमक की ~~नूत~~ गुंज होने लगी और सारा देश नमक कानून तोड़ने पर उतारू हो गया। बड़े शहर, छोटे कस्बे, गाँव, देहात, जहाँ देखिये गैर कानूनी ढंग से नमक बनाया जा रहा है। बड़े जोर जोर से जुलूस, लाठी प्रहार, पकड़-धकड़, हड़तालें, आदि होने लगीं। विदेशी कपड़े और सराब की दुकानों पर भी धरना दिया जाने लगा। संग्रान्त परिवार की सैकड़ों महिलाएं आन्दोलन में कूद पड़ीं। कांग्रेस गैर कानूनी करार दी गई। एक दर्जन आर्डिनेन्स निकाले गये। भारतवर्ष व्यवहारतः कौजी कानून (मार्शल ला) के अन्धर था। जेल अधिकारियों से भी स्त्रियाँ-छियाँ की नक्की न बनी। वे माफी मँगवाने पर तुले थे। सजा, मारपीट, सख्त व्यवहार, सराब भोजन, पेचिड आदि विचारियों से जेल की कहानियाँ बनीं। जुमाने किये गये और कड़ाई के साथ उनको वसूल किया गया। जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है, "इस समय ऐसा लगता था मानों किसी ने घड़ी हुई स्प्रिंग को सहसा छोड़ दिया है। अजीब जादू था।" राजेन्द्र बाबू के

नेतृत्व में बिहार का नमक आन्दोलन एक असाधारण गौरव और मर्यादा के साथ चला। सत्याग्रह की सूचना डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट को पहले से दे दी जाती थी ताकि उन्हें चौबीसों घंटे सत्याग्रहियों की सोज और प्रतीक्षा न करनी पड़े। ठीक समय पर वे आये और सत्याग्रहियों को पकड़ कर जो कुछ करना चाहें, करें। गुड फ्राइडे और ईस्टर आदि धार्मिक त्यौहारों पर पुलिस वालों के धर्म-पालन में बाधा न पहुंचाने के उद्देश्य से इन विशेष धार्मिक दिनों में सत्याग्रह के स्थगन की सूचना पुलिस के अफसरों को दे दी जाती थी। इस प्रकार विरोधियों के प्रति मांझीवादी प्रेम की स्निग्धता लेकर बिहार का आंदोलन चला। फिर भी दमन की क्रूरता से बिहार भी न बचा। भीड़ हटाने के लिये डंडे और चाबुक का प्रयोग किया जाता था। कभी कभी मले मानुष कर्मचारी बहुत बचा बचा कर चार करते। लोगों के सिर फूटते, रक्त बहता, फिर भी शांत रहते। नमक बनाने के लिये एकत्र किये गये हांडी, बासन तोड़े फोड़े जाते। जलता दो-दो घंटे पानी में मीन कर माष्म देने वाले की प्रतीक्षा करती। माष्मकर्ता भीष्मता भागता जाता। पानी बरसते में माष्म होता। ज्यों-ज्यों मार अधिक पड़ती त्यों-त्यों और अधिक उत्साह के साथ सत्याग्रह किया जाता। कभी-कभी वीर सत्याग्रही प्रतिक्रिया को कार्यान्वित न कर पाने के कारण रौ-रौ उठते। मारपीट के अतिरिक्त अन्य प्रकार की कठिनाइयां और यातनाएं भी सत्याग्रहियों को ^{शोभा} बनती थीं। राजेन्द्र बाबू ने लिखा है, 'एक लड़के के कान में साइकिल का पम्प डालकर इतने जोर से हवा की गर्द कि उसके कान का पर्दा फट गया।' नेताओं को तथा अन्य सत्याग्रहियों को चोरी छिपे एक जेल से दूसरी जेल में भेजा जाता। मजिस्ट्रेट लोग कभी कभी सिर झुका कर मुकदमा करते, सजा सुनाते और घर जाकर रौया करते थे। कभी कभी मीटिंगों में

स्वयंसेवक या सत्याग्रही बेरहमी से पीटे जाते थे। इतनी मार पड़ती थी कि बेहोश हो-हो जाते थे। बेहोशी की हालत में घसीट कर उन्हें नाली और झाड़ियाँ में फेंक दिया जाता था जहाँ से उनको कांग्रेसी लोग हाट पर उठा कर कांग्रेसी अस्पताल में पहुँचाया करते थे। ऐसे समाचार सुनकर भी लोग सत्याग्रह करते थे। राजेन्द्रप्रसाद जी ने लिखा है, "बिहार में चौकीदारी डेक्स बंद करने का कार्यक्रम चल रहा था। सरकार सख्ती से उसे दबा रही थी - जहाँ किसी गाँव के लोगों ने डेक्स बन्द किया, सारा गाँव ही लूट लिया जाता। एक दूसरे गाँव में मैंने खुद जाकर देखा था, वहाँ घर में घुस कर गल्ले रखने की कोठियाँ तोड़ डाली गई थीं। सभी बासन-वर्तन घूर कर दिये गये थे, यहाँ तक कि चारपाइयों की बुनावट काट दी गई थी, मकान के लकड़ी के लम्बे भी काट दिये गये थे। एक गाँव की यह कैफियत थी कि पुलिस के चले जाने के बाद वहाँ गाँव में न एक घड़ा था और न एक रस्सी जिससे लोग कुएं से पानी निकाल कर प्यास बुझा सकें। जुमाने की जल्दी-जल्दी रकमों की वसूली में घर वालों के साथ ज्यादतियाँ की जातीं, एक के बदले दस का माल बरामद किया जाता।"¹ इस काल में सत्याग्रहियों को जो बात सबसे अधिक सलती थी वह थी बनाये हुए नमक का छीना जाना, क्योंकि गांधी जी ने कह दिया था कि सम्प्रति भारत का सम्मान एक मुट्ठी नमक में निहित है और स्वयं नमक से मरी हुई सत्याग्रहियों की मुट्ठी वह वज्र की मुट्ठी हो गई जिसे तोलने में महान ब्रिटिश साम्राज्य की शक्ति पसीने पसीने हो गई पर लौल न सकी। वह भारत के सम्मान की हीनतग्रह अक्षत रही। गांधी जी ने जो नमक उठाया था उसे एक डाक्टर कनुभा ने 1500 रुपये में खरीद लिया था। विधान परिषदों के अनेक सदस्यों ने सदस्यता से त्यागपत्र दे दिये जिनमें सबसे अधिक उल्लेखनीय नाम विठ्ठलमाई पटेल का है। कांग्रेस

1. "आत्म-कथा", पृ. 402।

अविध घोषित कर दी गई। उसके दफतरों को सरकार ने अपने अधिकार में ले लिया। लुई फिखर ने लिखा है, ' १९३० में गांधी ने दो बातें की :- उन्होंने अंग्रेज जनता को इस तथ्य के प्रति जागरूक कर दिया कि वे भारत को अत्यंत क्रूरतापूर्वक पराधीन बनाये हुये हैं, और उन्होंने भारतवासियों को यह विश्वास करा दिया कि वे सर ऊँचा करके और अपनी रीढ़ की हड्डी सीधी करके अपने कंधों पर से जुआ उठाकर फेंक सकते हैं! अंगरेजों ने भारतवासियों को डंडों और बन्दूकों के कुंवों से पीटा। भारतीय न तो गिड़गिड़ाए, न ऊँ उन्होंने शिकायत की और न पीछे ही हटे। इसने इंग्लैंड को शक्तिहीन और भारत को अजेय बना दिया।' ^१ खौलापुर में जनता ने पुलिस को अपने कब्जे में करके राष्ट्रीय झंडा फहरा कर अपने को अंगरेजी राज्य से स्वतंत्र घोषित कर दिया था। पेसावर में पुलिस ने ज़हर लालकुतीं दल वाले सत्याग्रहियों को सौंप दिया था। अंगरेजी सेना के एक भाग ने मुसलमानों पर गोली चलाने से इंकार कर दिया। उनका कोर्ट मार्शल हुआ और १४ वर्षों की सज़ा सजा मुग़तनी पड़ी। परिस्थिति बड़ी विकट हो गई थी। गिरफ्तारी के दो ही सप्ताहों के पश्चात् अधिकारियों ने जार्ज स्लोकाम्बी नामक अंगरेज को जो 'डेली हेरल्ड' के संवाद-दाता थे, मध्यस्थ बनाकर समझौते की बातचीत प्रारंभ की। नेताओं को जेलों में ही गांधी जी से बातचीत करने का अवसर दिया गया। इसी बीच १९३० के नवम्बर में पहली गोलमेज परिषद का अधिवेशन हुआ और वह निष्फल हो गई। २६ जनवरी १९३१ को २० अन्य नेताओं के साथ साथ गांधी जी बिना छतं रिहा कर दिये गये। ६ फरवरी को पं. मोतीलाल नेहरू का देहान्त हो गया। इस मृत्यु से सार देश में हाहाकार मच गया, लोक उमड़ जाया। देश भर में न मालूम कितनी समाधि हुईं। देश ने असाधारण क्षति का अनुमान किया। ~~दमन-दी-सुप्रसिद्ध~~

(२३) गांधी-इर्विन समझौता :- ५ मार्च १९३१ को सुप्रसिद्ध गांधी-इर्विन समझौता हुआ। यहाँ पहली बार भारत और इंग्लैंड के प्रतिनिधि बराबर की

हैसियत से बैठे थे, बातचीत की थी और एक दूसरे को अपने बराबर समझते हुए एक दूसरे के साथ समझौता किया था। यह एक बहुत बड़ी बात थी। इसके १७ वर्षों के बाद भारत और इंग्लैंड सबकुछ और सभी तरह से समान स्थिति के स्वतंत्र राष्ट्र हो गये। यह गांधी की बहुत बड़ी जीत थी। सम्भवतः इसीलिये सिलिल सर्विस वालों को यह अच्छा नहीं लगा। इरिनि के उत्तराधिकारी लार्ड विलिंगडन के भारत पहुंचतेपहुँचते हवा का रुख बदल गया। इस वर्ष कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन करांची में हुआ था। और द्वितीय गोलमेज कांग्रेस के लिये सर्व सम्मति से गांधी जी उसके एकमात्र प्रतिनिधि चुने गये थे।

(२४) कांग्रेस अधिवेशन के कुछ ही वर्षों पूर्व मगत सिंह को फांसी दे दी गई थी और लम्बे अन्तर्जन के कारण यतीन्द्रनाथ दास की मृत्यु हो गई थी। सारे देश में सलजली मच गई। झूकान-झूकान पर मगत सिंह की चित्र लगाये गये। गांधी जी ने इन युवकों की वीरता की सराहना करते हुए भी इनके ~~विरोध~~ हिंसा-त्मक कार्यों का समर्थन नहीं किया। देश का युवक वर्ग इनसे नाराज हो गया और गांधी जी के करांची जाते समय रास्ते भर विरोध का प्रदर्शन होता रहा। लोग अपना शोक, क्रोध और क्रोध दिताने के लिये गांधी जी को देने के लिये काले फूल लाये। गांधी जी ने इन फूलों को स्वीकार किया और कुछ भी क्रोध अथवा धराराहट के चिन्ह नहीं प्रकट होने दिये।

(२५) अवध का कृषि आन्दोलन :- इसी युग में अवध में कृषि आन्दोलन चला। हुआ यह था कि सरकार ने किसानों के लिये जो लगान निश्चित किया था वह सभी नेताओं, विचारकों, तथा किसानों के सामर्थ्य आदि की दृष्टि कहीं अधिक था। किसानों ने बजाहर लाल नेहरू से परामर्श किया और लगान न देने का आन्दोलन छेड़ दिया। यह आन्दोलन कांग्रेस से पूर्वतः पुष्क और स्वतंत्र था। इस तरह के किसान, मजदूर आन्दोलनों से सहानुभूति

रसते हुए भी कांग्रेस प्रत्यक्ष रूप से इनसे अपने को पृथक् रसती थी। इस युग में और व्यापारिक केन्द्रों में मजदूरों के आन्दोलन देशभर में आगे-पीछे चला करते थे और इसी प्रकार किसानों के भी आंदोलन थे। यह अवध का आंदोलन उदाहरण स्वरूप है। शहर, वहाँ के राजनीतियों, और वहाँ की राजनीति से किसी भी प्रकार की सहायता पाये बिना यह आन्दोलन चला था। यह अवश्य था कि इस आंदोलन के संसार के लिये गांधी का नाम राम-नाम की तरह था, गांधी का व्यक्तित्व इस जैसा था। गांधी का उद्देश्य इसकी आत्मा बन गया। ग्रामीण भाई अपने नेताओं का स्नात करके, उनको सुनने और उनकी आज्ञा मानने में असाधारण उत्साह दिला रहे थे। आवश्यकता पड़ने पर वे उनकी ओर अपने कंधे पर उठा लेते थे। पुलिस के लोग और अक्सर नेताओं इतना चलकर उनके साथ नहीं रह पाते थे, क्योंकि एक ओर नौकरी थी और दूसरी ओर लगन और उत्साह। बिना समझे हुए भौले-माले देहाती घंटों धूप पानी में बुपचाप बैठे लोगों की व्याख्याएं सुना करते थे। पदचलित किसान अपने में एक नवीन आत्म-विश्वास की भावना का अनुभव करने लगा था और अपना सर सीधा उठाकर चलने लगा था। जमींदार और पुलिस का डर कम हो गया था। जब बेदखली होती थी तो कोई भी आदमी बेदखल जमीन को लेने के लिये तैयार ही नहीं होता था। जमींदार के नौकर मार-पीट कर उतर आते थे मगर जैसे ही यह होता जैसे ही जांच करवाने की कोशिश की जाती थी। इस प्रवृत्ति से जमींदार और पुलिस एक अंधु के नीचे आ गये थे। ये जमींदार और तालुकदार प्रायः पूर्णरूपेण बुद्धिहीन होते थे फिर भी अपने को "मालिक", "माई-बाप" और "सरकार" समझते थे। ये सरकारी अफसरों के पैर अपने सिर पर रसते थे और अपने पैर आधीन कर्मचारियों और किसानों के सिर पर। कांग्रेस की विद्या के परिवामस्वरूप मुकदमे बाजी कम होगई। किसानों की अपनी पंचायतें बनने लगीं। अहिंसा के प्रचार के कारण किसानों ने हिंसात्मक कार्यवाही प्रायः नहीं की। फिर भी वे इतने साहसी हो गये थे कि एक किसान

ने एक जर्मींदार को ^{सबके} सामने इसलिये पट्टपड मार दिया कि वह अपनी पत्नी के लिये अनैतिक और असहनशील था। इस घटना का उल्लेख जवाहरलाल नेहरू ने अपनी "आटो बायोग्राफी" के ५८ वें पृष्ठ पर किया है। बिना सिताये हुंड के हुंड कितान बिना टिकट सफर करने लगे। लासों की संख्या में लोग कवहरी जाकर अपने स्त्रोत्रों को हुडाने में, सजा कम कराने में और मुकदमों को जेल के ही भीतर करवाने में सफल हो जाते थे। यह सब देखकर सरकार चौकन्नी हो गई। उसने सोचा कि ऐसे शासन नहीं चलेगा। ऐसे ही प्रश्न को लेकर राय बरेली में लोगों को गोलियों से भून दिया गया। चर्चा प्रतीक बन गया। चूंकि चर्चा कृषकों में लोकप्रिय था, इसलिये सरकार उसे पकड़-पकड़ कर जलाने लगी। हजारों गिरफ्तारियां हुईं। बहुत लोग सजाएं काटते-काटते ^{मर} दुनिया से ^{चले} बसे। यह पूरे का पूर्ण चित्रण जवाहरलाल नेहरू की "आत्मकहानी" के आधार पर प्रस्तुत किया गया है जिसे पढ़कर ऐसा लगता है कि (राष्ट्र अपने जन्मसिद्ध अधिकारों की प्राप्ति और उसके लिये संघर्ष करने की तन कर और जम कर सड़ा हो गया था। इस वातावरण में लोगों ने अनुभव किया कि गांधी इ विन समझौता हो तो गया किन्तु सरकार की ओर से समझौते की शर्तों का पालन करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। कांग्रेस ने आंदोलन बंद कर दिया था। किसी प्रकार मतभेद को समाप्त कर कराके गांधी द्वितीय गोलमेज परिषद में गये। वहां जार्ज पंचम और रानी मेरी से चम्पल, घुटना तक की धोती और चूबर वाले चेस में ही भेट की। वहां गांधी की भेंट लायड जार्ज, चार्ली पैपलिन, जार्ज कर्न बर्नार्डसा, हरविन, स्मट्स, केन्टरवरी के आर्चबिशप और डीन, हेराल्ड लास्की आदि से हुई। बच्चा नेहरू 'चाचा गांधी', बर्नार्डसा ने 'महात्मा माइनर' और मैडम मांटैसरी ने 'नोबुल मास्टर' कहा।

(२६) गोलमेज कान्फ्रेंस और दमन :- गोलमेज परिषद तो एक कठपुतली का तमाशा था। उसे निष्फल होना था, निष्फल हुआ। भारत के सम्मान के साथ किसी भी प्रकार का समझौता न करते हुए गांधी इंग्लैंड से सली हाथ

लौटे - समझदार अंग्रेजों को मंत्र मुग्ध करके किन्तु कूटनीति अधिकारियों और उनकी कठपुतलियों को अप्रभावित छोड़कर। हिन्दू-मुस्लिम समस्या वहाँ भी न हल हो सकी। लौटते समय वे पेरिस में रोम्यां रोला से मिले। २८ दिसम्बर १९३१ को वे बम्बई पहुंचे। जनता ने मठय स्वागत किया। उत्तरते ही सरकार के बदले हुए दृष्टिकोण और उससे निर्मित वातावरण का ज्ञान हुआ। बात यह थी कि अब न इधिन रहगये थे और न अंग्रेजों का मजबूरदलीय मंत्रिमण्डल। इस समय के इंग्लैंड के मंत्रिमंडल में अनुदारवल वालों की प्रधानता थी। इस नयी सरकार ने भारत की आजादी की नवीन भावना को कुचल देने का निश्चय किया। वायसराय ने गांधी से मिलने से इन्कार कर दिया। सरकार अपनी प्रजा से बराबर की हैसियत से कैसे मिल सकती है। ४ जनवरी १९३२ को गांधी फिर गिरफ्तार कर लिये गये। इस बार सरकार ने पूरी शक्ति, पूरी शत्रुता एवं बहुत बड़ी निर्वयता से आंदोलन को कुचल कर कांग्रेस को मिटाना चाहा किन्तु जिसके पीछे अमर सांस्कृतिक प्रेरणा कार्य कर रही है वह कैसे मिटे! फिर भी, संस्था अवैध घोषित हो गई, सभी नेता जेल में बन्द कर दिये गये। बीसवीं शताब्दी के इस पूरे पूर्वार्ध में दूरदर्शी अंग्रेजी सरकार यह एक मामूली बात न समझ पाई कि कांग्रेस के नेतागण बाहर रहकर देश में अपेक्षाकृत अधिक शांति और व्यवस्था बनाये रख सकते हैं। एक ओर तो उनके जेल जाने पर देश में भयानक अशांति, क्रोध, असन्तोष पैदा होता है और दूसरी ओर सरकार में इतनी कुशलता नहीं थी कि वह जनता को शान्त स्तुष्ट कर सकें। इसके साथ ही साथ सरकार को यह भी समझना चाहिये या कि समय और उसके साथ साथ विश्वास, धारणाएं और मनोविज्ञान परिवर्तित हो चुके हैं अतएव भारत की मांग को स्वीकार कर लेने में ही चतुराई है। सरकार के इन दो बातों के न समझ पाने से ही देश को असाधारण कष्ट उठाना और अतुलनीय बलिदान करना पड़ा। फरवरी १९३२ तक १७८०० देशवासियों जेल में पहुंच गये। बर्धल ने स्वीकार किया कि इस समय दमन के जो ठेग अपनाये

गये हैं वे १८५७ के विद्रोह के बाद से उठाये गये किसी भी दमन चक्र से अधिक भयानक हैं। सर जैम्स हॉर ने लोकसभा में कहा, "मैं स्वीकार करता हूँ कि हमने जिन अध्यादेशों की स्वीकृति दी है, वे बहुत कठोर और नृसिंहासनापूर्ण हैं।" लार्ड विलिंगडन का यह निश्चय था कि वे दो सप्ताह में आंदोलन समाप्त कर देंगे पर यह आंदोलन प्रायः दो वर्षों तक चलता रहा। उत्साह की कमी न थी। एक विद्यार्थी ने गोली साकर मरते दम पे छेद कर कहा, "मैं स्वराज्य के लिये मर रहा हूँ, लोकसाम्य तिलक के निकट पहुंच कर संदेश कहूंगा।" इसका सुन्दर चित्र राजेन्द्रप्रसाद ने अपने "बापू के कदमों में" के १७३वें पृष्ठों पर सींचा है। गिरफ्तारियां होतीं। फिर गिरफ्तारियां के बाद लम्बी लम्बी सजाएं होतीं। बड़ी बड़ी रकमों के जुमाने भी होते और बड़ी कड़ाई से वसूल किये जाते लगे। अगर कोई अपनी गाड़ी - चाहे वह छोटी गाड़ी हो या बैलगाड़ी या मोटर - सत्याग्रह के काम में लगा देता तो वह गाड़ी भी जब्त हो जाती। यदि कोई अपने मकान में सत्याग्रह का काम होने देता तो वह मकान भी जब्त हो जाता। बैंकों में जमा रुपये अगर सत्याग्रह के काम में लगाये जाते तो रुपये भी कुर्क कर लिये जाते - उनकी निकासी तक रोक दी जाती। इस तरह हर तरफ से रास्ता बन्द कर दिया गया ताकि सत्याग्रही न तो कुछ बोल सके, कहीं न जा-जा सके, न किसी से पैसे ले सके, न किसी के घर में आश्रय पा सके, न किसी प्रकार के धन पर कोई अधिकार रख सके, न कोई सवारी ही काम में ला सके। जिस पर सन्देह होता वही सत्याग्रही समझ लिया जाता और उस पर ये सब सक्तियां लाव दी जातीं। लाठी, गोली, जेल आदि का सामना जनता बड़ी वीरता के साथ करती थी पर सरकार जब धन सम्पत्ति हड़पने लगी तब लोग कुछ सहमने लगे। लगभग दो वर्षों के बाद आन्दोलन धीमा पड़ने लगा।

(२७) साम्प्रदायिक निर्णय :- १७ अगस्त १९३२ को रैमो डेकडानल्ड ने अपना "कम्युनल अवार्ड" (साम्प्रदायिक निर्णय) घोषित किया जिसके अनुसार

भारत के सम्प्रदाय या वर्ग के लिये पृथक् निर्वाचन क्षेत्र और सीटों की सुरक्षा का आश्वासन दिया गया था। यह भारतवर्ष की आत्मा को - मानस को - टुकड़ी-टुकड़ी में काट डालने का प्रयत्न था। भारत की आत्मा ने विरोध किया अर्थात् गांधी जी ने जेल में आमरण अनशन प्रारम्भ कर दिया। रक्तचन्द-वात्सलचन्द-के-मत-नै-यह-सुकरसत-की-मृत्यु-के-समय-के-समय-इनके-अनुयायियों को-पीडाप्रद-दान) दुःख एवं विषाद की काली छाया की दृष्टि से जो उस समय देश पर छा गई थी, टैगोर ने इसे सूर्यग्रहण कहा था। लुई फिशर के अनुसार यह पक्षवारा (पक्ष) भारत के आधुनिक इतिहास का सर्वाधिक उत्तेजना-पूर्ण इतिहास था। राजगोपालाचार्य के मत में यह सुकरात की मृत्यु के समय के समान इनके अनुयायियों को पीडाप्रद था। गांधी जी के अनशन से तबकी चकित कर दिया। उनकी युक्तियों को यदि एक और मैकडानल्ड न समझ पाये तो दूसरी ओर उनके होने वाले उत्तराधिकारी जवाहरलाल नेहरू भी न आत्म-सात कर सके। 20 सितम्बर 1932 को यह आमरण अनशन प्रारम्भ हुआ। टैगोर ने यह सम्भावना प्रकट की थी कि कदाचित् गांधी इस धाँव में हार जायें। स्पष्ट था कि परिणाम था उनका देहावसान। राष्ट्र इस संभावना से घरा गया। हिन्दुओं ने सौचना प्रारम्भ किया कि यदि इससे कुछ अनिष्ट होगया तो प्रत्येक हिन्दू को अपने को ही गांधी का हत्यारा समझना पड़ेगा। सबने इस स्थिति को न जाने देने का संकल्प करके कार्य करना आरम्भ किया। नेताओं में विचार-विनिमय हुआ। हरिजन प्रतिनिधि अम्बेडकर को संतुष्ट करना था। इधर गांधी की दशा बिगड़ती प्रारम्भ हो गई थी। टैगोर मिलने आये। एक एक क्षण महत्वपूर्ण था। सारा राष्ट्र स्तब्ध होकर, किंकांतव्य विमूढ होकर, चिंता से जड़-सा होकर बैस रहा था - प्रतीक्षा कर रहा था कि अब क्या होगा। समाचार जानने की उत्सुकता राष्ट्र को जितनी इस समय थी उससे अधिक संभवतः कभी नहीं थी। कोई भी माता अपने मरते हुए पुत्र की दशा और परिणाम जानने के लिये उतनी उत्सुकता न रही होगी जितनी भारतमाता इस समय

अपने इस लाल का समाचार जानने के लिये थी। कलकत्ता का कालीघाट मंदिर, बनारस का राम मंदिर, दिल्ली के अनेक मन्दिर, प्रयाग के एक दर्जन मंदिर, इस प्रकार हजारों मन्दिर हरिजनों के लिये भी खुल गये। बम्बई में जनता का निर्वाचन हुआ और लगभग ३०,००० लोगों ने अस्पृश्यता-निवारण के पक्ष में वोट दिया। स्वरूप रानी नेहरु, बनारस के प्रिंसिपल ध्रुव आदि ने जनता के सामने हरिजनों के हक से बनाया परीसा मोजन स्वीकार किया। देश भर में प्रस्ताव पास हुआ। अन्धन के प्रथम सप्ताह में देश भर में हरिजनों की जी स्मृति व्याप्त हुई और जितना काम हुआ उतना अनेक वर्षों में अनेक समाज-सुधारक भी कभी नहीं कर सके थे। गांधी की प्रेरणा से कभी राजनीतिक महत्वाकांक्षा के कारण देश में शकसोर उठता था तो कभी समाज सुधार की दृष्टि से सारे देश में मया क उकल-पुकल मच जाती थी। गांधी जी ने कितनी जीवर-हालिंग की है !! पूना पैक्ट के बाद २६ सितम्बर को यह उपवास समाप्त हुआ। बिलिंगडन सरकार फिर भी नरम न हुई। वह इनकी लाश को जलाने का प्रबन्ध कर रही थी। २९ अप्रैल, १९३३ को इन्होंने फिर २१ दिन के उपवास की घोषणा की। ८ मई को सरकार ने इन्हें छोड़ा। यह वह दिन था जब गांधी जी का उपवास प्रारंभ होना था। २९ मई को यह उपवास समाप्त हुआ। ९ मई को ६ सप्ताह के लिये सत्याग्रह आन्दोलन स्थगित कर दिया गया था। २६ जुलाई को व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आंदोलन प्रारम्भ किया गया। ७ अप्रैल, १९३४ को यह आंदोलन पूर्णतः स्थगित कर दिया गया। १९३४ ई. की १५वीं जनवरी को बिहार का कुप्रसिद्ध मुकम्म आया जिसके पीछितों की सहायता सारे देश के लोगों ने मुक्त हृदय से की। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अब देश एक व्यक्ति या एक प्रांत के दृष्टिकोण से न सोचकर समस्त राष्ट्र की दृष्टि से सोचता और अनुभव करता है। हृदय का स्पन्दन असल भारतीय होगया। इस कार्य को राजेन्द्र प्रसाद जी के नेतृत्व में गैर-सरकारी लोगों ने जिस ढंग से सकलतः पूर्वक संपन्न किया उससे यह स्पष्ट हुआ

कि भारतवासी किसी भी कार्य के करने में अक्षम नहीं हैं। इसके परिणामस्वरूप गांधी जी ने देश की यह इच्छा प्रकट की कि राजेन्द्र बाबू राष्ट्रीय कांग्रेस के सभापति बनें। इस प्रकार देश राजेन्द्र बाबू के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करना चाहता था। इस अभियक्ति का स्वरूप कितना मठ्य था इसका चित्रण राजेन्द्र बाबू ने इस प्रकार किया है, "बहुत धूमधाम से बंबई पहुंचा। जहां जहां रास्ते में गाड़ी ठहरी, स्वागत का हजूम रहा। फूलमालाओं से ढूँढ़ा भर गया। रंग विरंगी चीजें लोगों ने भेंट की। बम्बई स्टेशन पर इतनी भीड़ थी कि मुझे उतार कर स्वारी तक ले जाना कठिन था। लोगों ने चार घोड़ों की गाड़ी सर बढ़ाकर मुझे जलूस में ले जाने का प्रबंध किया था जलूस बहुत लम्बा था। शहर की तैयारी भी अनोखी थी। लोगों की भीड़ भी वैसी ही थी। तमाम दुकानें सजाई गई थीं। जगह जगह लोगों ने सुन्दर मेहराबें बनाई थीं। बाजार में जहां जिस चीज की मुख्यता थी, वहां उसी चीज की प्रधानता लगा-कट और मेहराब में नजर आती मैंने सुना कि उस मेहराब में जो बहुत ही विशाल थी लाख रुपये से अधिक की (छड़ी) गांठें लगी थीं। रास्ते भर मैं अनगिनत स्थानों पर लोगों ने फूल, माला, आरती इत्यादि से स्वागत किये। न मालूम कितनी ही चीजें भेंट देते गये। गाड़ी चीजों से बिल्कुल भर गई थी जलूस में प्रायः तीन घंटे से अधिक लगे। १९३४ से १९३९ तक देखें गांधी जी के नेतृत्व में हरिजनोद्धार, ग्रामोद्योग, चर्खा, स्वास्थ्यप्रवर्धन भोजन, स्वास्थ्य, गौ-सेवा, ग्राम-स्वातंत्र्य और ग्रामोद्धार, राष्ट्रभाषा हिन्दी, लघु उद्योगों की प्रधानता, औद्योगिकरण के घोष, रचनात्मक कार्य क्रम आदि पर ही जोर दिया।

(२८) प्रथम चुनाव :- कांग्रेस के १९३३ के दिल्ली वाले अधिवेशन में एक बात यह स्पष्ट होगई कि अब कुछ लोग फिर इस सत्याग्रह के कार्यक्रम से

अस्तुष्ट होकर चुनावों में भाग लेकर सरकार के भीतर घुस कर काम करना चाहते हैं। राजेन्द्र बाबू ने लिखा है, "यह सैद के साथ लिखना पड़ता है कि चुनावों के अनुभव ने मुझे यह मानने पर मजबूर कर दिया है कि बहुतेरे कांग्रेसी कार्यकर्ता अपनी सेवाओं का मूल्य आंकने लगे हैं। उसके बदले में कुछ न कुछ लौजने लगे हैं, चाहे वह असेम्बली या कौंसिल की मेम्बरी हो चाहे वह जिला बोर्ड या म्युनिसिपल बोर्ड की सदस्यता या कोई दूसरा पद हो, चाहे और कुछ न हो तो कांग्रेसकमेटीयों के अन्दर ही कोई प्रतिष्ठा और अधिकार का स्थान हो।" असिल भारतीय स्वराज्य पार्टी फिर से जीवित हुई। १९३४ में मनसातलेकर-सरनकर-के-मैतल-मुत्त-कर-कम-करन-करते भारत सरकार के १९३५ वाले ऐक्ट का विवरण प्रकाशित हुआ। कांग्रेस इसके पूर्णतः अस्वीकार करने के पक्ष में थी। जिना इसके प्रांतीय सरकारों वाले भाग मात्र को स्वीकार करने के पक्ष में थे। यही हुआ। इसका संघीय भाग कभी भी कार्यान्वित न हुआ। १९३५-३७ में प्रांतीय व्यवस्थापिकाओं के लिये चुनाव हुए। कांग्रेस और लीग दोनों ने भाग लिया। आम निर्वाचन क्षेत्रों में कांग्रेस की बहुमत से विजय हुई। साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्रों में लीग जीती। मद्रास, बिहार, उड़ीसा, मध्यप्रान्त, संयुक्त प्रांत, बम्बई और उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रांत में कांग्रेस के मंत्रिमंडल बने। सिन्ध और आसाम में संयुक्त मंत्रिमंडल का कांग्रेस ने उन प्रान्तों में, जहाँ उसका स्पष्ट बहुमत था, लीग के साथ मिलकर मंत्रिमंडल बनाना इंकार कर दिया। यह एक बड़ी मारी ऐतिहासिक भूल थी, जिसका परिणाम बड़ा भयानक हुआ। सरकार वैसे ही मुसलमानों को भड़काना चाहती थी, उसके संकेतों पर चलने वाले स्वाधीन लीग भी इस आज की भड़काने रखना चाहते थे, कांग्रेस की इस भूल ने भी यह अवसर दिया कि लीगों में यह भावना भर दी जाय कि आजादी पाने पर हिन्दू-प्रधान कांग्रेस मुसलमानों की इसी इसी तरह धबाकर रखेगी। इस्लाम सतरे में है। मुसलमान सवमुच संतुष्ट

होगया और बिड़ गया। इस मनोवृत्ति के दुष्परिणाम से आज तक भारत
 मुक्तता आरहा है। सांप्रदायिकता की आग पूरी तरह से जला ली गई। जो
 मुसलमान कांग्रेस में थे उन्हें जातिद्रोही और कांग्रेस के हाथ की कठपुतली कहा
 गया। लीग ने अपने को मुसलमानों का एकमात्र प्रतिनिधि घोषित किया और
 सामान्य मुस्लिम जनता ने निर्वाचनों के समय इसी घोषणा की पुष्टि की।
 अस्तु, मंत्रिमंडल बने। जहां तक हुआ कांग्रेसी मंत्रियों ने असाधारण परिश्रम
 योग्यता, कुशलता और धैर्य के साथ काम किया। १९३६-३७ तक देश जहां
 तक प्रगति कर गया था वहां पहुंच कर इस बात की आवश्यकता होनी स्वाभा-
 विक थी कि चूंकि निकटभविष्य में भारतवासियों को शासन संभालना ही है
 अतः उसका भी एक अनुभव हो जाना चाहिये। १९३५ के ऐक्ट ने यह अवसर दे
 दिया। इसकी उपलब्धियों के विषय में विचार करते हुए जवाहरलाल नेहरू ने
 लिखा है कि नए ऐक्ट से कोई भी लाभ नहीं हुआ। हां, मनोवैज्ञानिक परि-
 वर्तन असाधारण हुआ। सारे देश में चेतना की एक लहर दौड़ गई। जहर की
 अपेक्षा देहाती पर यह प्रभाव अधिक पड़ा। जहरों के ज्योगिक केन्द्रों के
 मजदूरों में भी यही प्रतिक्रिया हुई। एक इस ढंग की भावना थी मानों जनता
 को कुचलने वाला बहुत बड़ा बोझ हट गया हो और बहुत आराम घेन मिले।
 बहुत समय से बनी हुई सामूहिक शक्ति की मुक्ति मिली। कम से कम कुछ
 समय के लिये पुलिस और सुफिया विभाग का डर नाश हो गया। गरीब से
 गरीब किसान में भी आत्म-सम्मान और आत्म-विश्वास की भावना बढी।
 उसे पहली बार अपने महत्व की अनुभूति हुई। उन्होंने समझा कि वे सरकार के
 निर्माता हैं। सरकार का आतंक सत्तम होगया जैसे एक चार रुत की कोई सामान्य
 बुढ़िया जार को देखकर चिल्ला पड़ी हो - "अरे यह तो हमी लोगों की तरह
 एक आदमी है" - ऐसे ही जनता ने कौतूहल के साथ देखा कि सरकार कोई
 अनजान दैत्य नहीं है। जिनको हमने देखा है, जाना है, जिनको साथ रहे हैं,
 और जो हम जैसे ही हैं वे ही सब सरकार हैं। साथीपने का भाव पैदा हुआ।

वह रहस्यमय प्रांतीय स्टेडियट जहाँ कोई पहुंच नहीं सकता था, झांक नहीं सकता था, क्योंकि चेतना को आतंकित कर देने वाला रोबदार पहरा वहाँ था, जहाँ से ऐसी आशाएं निकलती थीं जिनको कोई चुनौती नहीं दे सकता, अब वहाँ अचानक ही झुंड के झुंड लोग घूम रहे हैं। जहाँ चाहते हैं, घूमते हैं। मिनिस्टर का कमरा झांका। पुरानी मशीनरी हट गई। पुरानी कसौटियां बेकार पड़ गई। यूरोपीय पोशाक का अब कोई महत्व नहीं रह गया था। असेम्बली के मेम्बरों और शहर-देहात से आये हुए आदिमियों में पहचान करना कठिन हो गया।

(२९) द्वितीय महायुद्ध :- ऐसे वातावरण और मनोबुविज्ञान की सृष्टि करके कांग्रेस के प्रथम मंत्रिमंडल फिर १९३९ में बाहर आ गये क्योंकि १९३९ में द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ होगया था और सरकार ने भारतवासियों की राय लिये बिना ही भारत को युद्ध में घसीट लिया था। यह भारत का घोर अपमान था। उसकी पराधीनता का चोतक था। कांग्रेस का झुष्टि कोण यह था कि द्वितीय महायुद्ध और उसके साथ भारत के संबंधों की रूपरेखा का निर्णय स्वयं भारतीयों के द्वारा किया जाना चाहिये। क्रियात्मक रूप से अंग्रेज का कथन था - तुम गुलाम हो। तुम्हें स्वतंत्र रूप से निर्णय करने का क्या अधिकार क्या ? इस तरह हम तुम्हारे शास्त्र हैं। हम जो निर्णय कर दें वही तुम्हारा निर्णय। फिर वही ^{आजारी} अंग्रेजी और गुलामी का प्रश्न !! फिर वही संघर्ष अनिवार्य होगया और इसकी अनिवार्यता ^आ जन्म और उसकी अनुभव तो उसी समय होगया जब इंग्लैंड के जन्म मान्यविधाता के रूप में भारतीय स्वतंत्रता का स्वसे बड़ा शत्रु चर्चित वहाँ का प्रधान मंत्री बना। इस संघर्ष का रूप गांधी के द्वारा कल्पित इसका उपयुक्त समय परिस्थितियों के द्वारा निर्धारित और इसकी व्यावहारिक रूपरेखा अंगरेज और उनके पिदुतुओं द्वारा निर्मित होती थी। इस युग में भारतवर्ष के अन्तर परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ और विरोधीशक्तियाँ

का विकट टकराव हो गया।

(३०) नाटक की चरम सीमा :- १९०० से १९४० ई. के बीच भारत-वासियों के रंगमंच पर विधाताओं जो नाटक सेल्फ रहा था उसकी चरम - सीमा १९४० से १९४५ ई. की अवधि में अभिनीत हुई। इस अवधि में भारत के अन्दर भारतीयों के विकट चिन्तन और मनन करना पड़ा, विकट तनाव और असामान्य उरोजनाओं का अनुभवकरना पड़ा। मरणान्तक कष्ट उठाने पड़े, इस अवधि के भारत का न गरीब प्रसन्न था, न अमीर और न अंगरेज ही, और चिढ़, लीझ और अस्हायता की विकटतम चुभन प्रताडित किये थी। भारत के रंगमंच पर प्रत्येक प्रवृत्ति अपनी पूर्ण क्षमता और कुशलता से सुककर सेली। स्वतन्त्र-मनोवृत्ति का संघर्ष गुलाम बनाये रखने की प्रवृत्ति से हुआ; क्रांतिकारी प्रकृति वालों का संघर्ष पराधीनता प्रियता से हुआ; राष्ट्रीयता का संघर्ष सांप्रदायिकता से हुआ, मान्यता-प्रेमियों का संघर्ष एकमात्र स्वार्थप्रेमियों से हुआ, उदारता और परिवर्तनशीलता का संघर्ष कट्टरता और हठवाद से हुआ; अमृत की संजीवनी-तच्छलता का संघर्ष चट्टान की जड़ कठोरता से हुआ; प्रेम का संघर्ष कूटनीति से हुआ। एक ओर अंगरेज था, एक ओर चर्चिल था, एक ओर पुराने सेवक और राजमक्त जमींदार और ताछकदार जाति थे, एक ओर जिना और उनके अनुयायी थे, एक ओर कम्युनिस्ट थे, एक ओर हुले-ठिपे, छोटे-बड़े, सखेव और काले गुंडे थे, और इन सबके बीच में सड़ा या प्रदीप्त मांस एवं स-स्मित आननवाला ७० वर्षीय बुद्ध - ७० वर्ष का अभिमन्यु जो अन्ततोगत्वा भारतमाता रुपी प्रौपदी की सेवा करते करते चलीव हो ही गया। जबतक अंगरेज यह जान गया था कि उसे अब भारत में अधिक दिनों तक नहीं रहना है। लुई फिचर ने लिखा है कि वायसराय की परिषद के होम मेम्बर सर रेजिनारल्ड मैकस्लेल ने उनसे कहा था कि तुम की समाप्ति के दो वर्षों के बाद ही अंग्रेज भारत से चले जायेंगे। स्वयं वायसराय ने भी ऐसी ही धारणा प्रकट की थी।^१

१. "वि लाइफ ऑफ महात्मा गांधी", द्वितीय भाग, पृ. १४७।

आश्चर्य होता है कि इतना सब जानते हुए भी अंग्रेजों ने भारत में इतनी हून-सराबी होने दी। चर्चिल एमरी लिबिलियनो ने यदि थोड़ी भी उदारता और समझदारी से काम लिया होता तो १९४२ का आन्दोलन न होता और मारुन्ट वेटन की सरकार के लोग यदि ईमानदारी, सच्चाई, निष्पक्षता और तत्परता से काम करते तो न बंगाल का अकाल पड़ता और न आई.एन.ए. होती न कलकत्ता काण्ड होता, न जोआसाली काण्ड, न बिहार-काण्ड होता, न गडमुक्तेश्वर काण्ड, न लाहौर काण्ड होता, न अमृतसर और रावलपिंडी - काण्ड! ये राजस्वा पर अधिकार भी जमाये थे किन्तु जब कुछ सख्त कार्य करने का मौका आता था तब 'हम तो अब जाने वाले हैं, हमें क्या करना है' वाली मनोवृत्ति दिलाते थे। एक बार भी ऐसा न किया कि जिस मंत्रिमंडल जिस मंत्री, जिस वर्ग एवं जिस व्यक्ति का दोष होता उसे सबक सिखा देते। उदासीनता दिलाकर उनका महत्व स्वीकार करके इन्होंने सदैव उनको प्रोत्साहित किया। इन सबके पीछे चर्चिल था। जिना शायद आखिरी समय तक तैयार न होता यदि उसे मारुन्टवेटन ने चर्चिल का गुप्त पत्र अपने भवन में झंझी आधी ^{रात में} अकेले में न दिलाया होता। सब उसी के हाथ में था। वही भारत-घनु था। विधि की बिडम्बना, लीलामय की लीला कि भारत की स्वाधीनता प्राप्ति के लिये जब पांच वर्ष रह गये तब भारतीय स्वतंत्रता के सबसे बड़े घनु को भारतपराजय करने, मनमानी करने और भारतीय स्वतंत्रता के निर्माताओं पर अमानुषिक अत्याचार का असंड एवं अबाध अधिकार मिला। कौन जानता है कि भारतीय स्वतंत्रता को भारतीयों के निर्दोष रक्त से इतने भीषण रूप में भीना हुआ देखकर भी चर्चिल और जिना को तृप्ति मिली या नहीं!! युद्ध के प्रथम चरण में सरकार ने यह घोषणा की कि केन्द्र में संघ-सरकार की योजना कर दी गई। लोग ने यह मांग की कि उसकी सहमति के बिना भारत का कोई भी संविधान स्वीकार न किया जाय। १९४० में उसकी यह मांग स्वीकृत घोषित की गई। कांग्रेस ने यह मांग की कि भारत की स्वतंत्रता

राष्ट्र घोषित किया जाय और वर्तमान समय में इस पद का यथासंभव अधिक-
अंश तक विस्तार किया जाय। वायसराय ने घोषित किया कि युद्ध के पश्चात्
सारी संवैधानिक योजना पुनः प्रचलित की जायगी और युद्ध काल में एक सलाह-
कार समिति नियुक्त की जायगी जिसमें भारत के विभिन्न वर्गों की प्रतिनि-
धित्व दिया जायगा। कांग्रेस मंत्री-मंडलों ने त्याग पत्र दिया और जिना ने
सारे भारत में मुक्ति विवस मन्त्राया। १९४० में जिना ने पाकिस्तान की मांग
की। उधर हिटलर विजय पर विजय प्राप्त करता जा रहा था। गांधी जी
ने यह कहा कि हम ब्रिटेन के विनाश में अपनी स्वतंत्रता नहीं सौजते, उसके साथ
हमारी नैतिक सहानुभूति है किन्तु सक्रिय सहायता स्वतंत्रता की घोषणा के
विना असंभव है। कांग्रेस ने कहा कि यदि स्वतंत्रता का आश्वासन मिल जाय
तो हम हर तरह से सहायता करेंगे। सरकार ने इस कहे पर कोई ध्यान नहीं
दिया और १९४० में सुभाष बोस गिरफ्तार कर लिये गये। सितम्बर १९४० में
व्यक्तिगत सत्याग्रह प्रारम्भ किया गया। दिसम्बर १९४१ में जापान भी युद्ध
में जुड़ा। उसकी सफलताओं ने सबको चौंकित कर दिया। अंगरेज बुरी तरह से
हारने लगे। १९ मार्च १९४२ को रंगून भी जापान के अधिकार में आ गया। अब
युद्ध भारत के द्वार पर था। उधर उत्तरी अफ्रीका में पूरी राष्ट्रों की विजय
बाहिनी का स्वागत अरब सागर करने को तैयार होने लगा। अफ्रीका से
जापान तक का भाग पूरी राष्ट्रों के अधिकार में आने की संभावना होगी।
भारतीयों का अंग्रेजों पर से विश्वास उठ गया। जन-भावना यह थी कि
यह तो होखियारी से पीछे हटना मात्र जानो है। बर्मा से नक्स-पाक
आये हुये भारतीयों ने अंग्रेजों की वीरता के बेकारनामे विलस-विलस कर
सारे देश में फैला ^{दिये} रखे थे। जब भारत पर जापान का आक्रमण होगा तब ^{के} भारत
की सम्पत्ति और उसके साधनों को नष्ट-व्रष्ट करते हुए पीछे हटते-हटते भारत
जापान की सीप बने। भारत-विनाश की यह लीला भारतीय बुधबाप पक्ष
बने देखते रहे क्या ? अन्तर्राष्ट्रीय दबाव पड़ने पर ब्रिटिश संवैधानिक सुधारों

की एक नई आयोजना लेकर भारत आये और चर्चिल की दुर्नीति के कारण सकलता की पहली सीढ़ी पर पहुंचते-पहुंचते असकल होकर वापस लौट गये। उनके जाने पर सारी आशाएं समाप्त होगई। फिर वही मय, आशंका, अनिश्चय और तनावपूर्णता का वातावरण होगया। जापानी आक्रमण की संभावनाएं बढ़ती जा रही थीं। बड़ा विकट प्रश्न उपस्थित होगया। यह विश्वास पक्का हो गया था कि अंग्रेज भारत को नहीं बचा सकते। जनता का संकल्प ही भारत को बचा सकता है। समय नाजुक था। कांग्रेस के लोग अथवा कोई भी यदि ऐसी बात कहता जिस्से युद्ध संचालन में बाधा पड़ती, तो वह निंदनीय घोषित किया जाता। देश की रक्षा के लिये कोई भी स्वतंत्र उपाय सोचा नहीं जा सकता था। सरकार अब भी भारत को अपनी सम्पत्ति के रूप में ही देखना चाहती थी। वह ^{जापानियों को भले ही न रखा} ~~जानकारी के बिना~~ ~~न कबो हथियारों के~~ ~~सके किन्तु~~ उसके पास इतनी शक्ति थी कि भारत की राष्ट्रीयता को पीस दे - कम से कम वह तो यही सोचना चाहती थी। महात्मा गांधी जी देश को भारत की रक्षा का भार उठाने की चेतावनी दे रहे थे। भारत समझता ^{था} कि इस बार चूका तो न मालूम कब तक के लिये गया। भारत की आत्मा ने मांग की कि अंगरेजों ! भारत छोड़ो" और चले जाओ। भारत की तमस प्रवृत्ति ने कहा, "भारत को बांट दो और चले जाओ।" कांग्रेस ने गांधी जी को अपना निर्देशक मान लिया और ८ अगस्त को गांधी जी ने भारत से कहा कि अब से भारत का प्रत्येक व्यक्ति अपने को स्वतन्त्र समझे। जागे जागिरी और सबसे मर्यादा एवं निर्भयात्मक संघर्ष होता है किन्तु उसकी रूपरेखा मैं बाद में बताऊंगा। पहले बायसराय से मिलूंगा। सरकार ने "पहले हमला कर दो" वाली नीति अपनाई। कुछ होते होते सरकार ने नेताओं को गिरफ्तार कर लिया। जनता समझ नहीं पाई कि क्या करें। तभी एमरी के एक वक्ता ने उसे तोड़-फोड़ का कार्यक्रम सुझा दिया। इस प्रकार भारत छोड़ो" आन्दोलन प्रारंभ हुआ। ऐसा लगा कि जैसे किसी ने दबी हुई स्प्रिंग को छोड़ दिया हो। उधरों में धूम मच गई। जुलूस निकले। सरकारी इमारतों पर राष्ट्रीय संकेत फहराये गये

यद्यपि इस कार्य में न मात्र कितने वीर बालक और युवक गोलियों से मृत
 गये। कन्हारियों को बन्द कर देना पड़ा। सवारियों का चलना मुश्किल हो
 गया। धडाधड गिरफ्तारियां होने लगीं। जेलों में जगहों की कमी हो गई।
 कैम्प जेलें बनाई गईं। स्कूल कालेजों, और विश्वविद्यालय के छात्रों ने जलूस
 निकाले और गोलियां सा-साकर पुलिस के सामने स्वातन्त्र्य भावना की जान-
 औरदान रसी। जनता काबू से बाहर हो गई। फौज और पुलिस की मदद ली
 गई। तारे काटे गये। धाने जल्ले जलाये गये। रेलवे स्टेशनों, बसों, डक-
 खानों आदि की आग की लपटों की मेंट कर दिया गया। रेल की पटरियां
 उखाड़ डाली गईं। रेलवे लाइन के आसपास के गांवों को असाधारण विपत्तियों
 और सामूहिक जुमानों से सरकार ने तबाह कर दिया। स्टीमरों का चलना
 सड़कों बन्द हो गया। सड़कों पर बड़े बड़े पेड़ों को काट कर गिरा दिया गया।
 पुलों को भी तोड़ने का प्रयत्न किया गया। कहीं कहीं से ब्रिटिश राज्य समाप्त
 कर दिया गया और स्वतंत्रता घोषित कर दी गई। सरकार ने गोलियों की
 वर्षा कर दी। फौज ने अपने जाने-जाने के रास्ते में पडने वाले गांवों को तहस-
 नहस कर डाला। गांवों में आग लगा दी गई। भागने वालों को संगीनों से
 से ठेक डाला। बच्चों को उछाल कर संगीनों पर लौका गया। नारियां और
 और पुरुषों पर ऐसे ऐसे अत्याचार किये गये कि दानवता भी रौं उठी। सरकार
 के पास जापान से लड़ने के लिये जो सामग्री थी उसका उपयोग भारत को पीस
 डालने के लिये किया गया। न्याय अंधा हो गया। जवाहरलाल नेहरू ने लिखा
 है, 'इस आंदोलन के पीछे किसी-भी-भरंजित--संभव-नहीं-है-१२' उस इत्कट
 भावना की प्रेरणा थी कि अब इस विदेशी निरंकुश शासन में रहना और उसको
 सहन करना किसी भी मांति संभव नहीं है।' आगे चलकर उन्होंने लिखा है
 'एक बार फिर वही पुराना वजन चढ़ चला। १८५७ के ^{एक} पहली बार १९४२
 में विशाल जनता ने भारतवर्ष के महानु अंग्रेजी शासन को फिर निःशस्त्र वदित

से बुनौती दी।" यह भारतवर्ष की फ्रांसीसी क्रांति कही जा सकती है। कुछलोगों ने इसे निरर्थक कहा है। हो सकता है कि यह मूर्खता ही रही हो किन्तु इसी देश का उत्कट स्वातंत्र्य प्रेम निःसन्देह रूप से अभिव्यंजित होता है। सरकार का यमन-चक्र तो बुझो हुए दीपक की आसिरी भटक थी - पूरे का पूरा गांव कोडों की मृत्यु पर्यन्त मार की सजा से घेड़ित हुआ। २५००० की मौत !! ५ लाख या २५ लाख का जुर्माना!!! भारत के स्वातंत्र्य संघर्ष के इतिहास में "भारत छोड़ो" आन्दोलन एक बहुत ही महत्वपूर्ण मोड़ है। यह एक मारक ही नहीं बल्कि आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिये संघर्षशील भारत की आत्मा का स्वल सिंहनाद था। इसको अधिकारियों ने कुछ समय के लिये दबा जरूर लिया था किन्तु इस आंदोलन ने जिस भावना - जिस आवेग को प्रबुद्ध कर दिया था वह निरन्तर गतिशील रहा। राजनीतिक बुद्धिमत्ता के अनुमान को तपस्वी की अन्तरात्मा ने एक बार फिर गलत कर दिया। उसकी मधिष्ठत वाणी सही सिद्ध हुई। पांच ही वर्षों के अन्दर अंगरेजों को भारत छोड़ने का कार्यक्रम स्वयं बनाना पड़ा। बन्दी गांधी स्वतन्त्र भारत की आत्मा का प्रतीक बन गया। जो गांधी जापानियों के आक्रमण के प्रतिकार की प्रेरणा से सक्रिय हो रहा था उसे अंगरेज सरकार संसार के सामने जापानियों के पिटू और देश के पांचवें घस्ती के रूप में रक्त रही थी। दक्षिण अफ्रीका के फील्ड मार्शल स्मट्स तक ने इस मनोवृत्ति को "जीमर नान्सेन्स" (मूर्खता मात्र) कहा था। अंग्रेजों का कांग्रेस और गांधी को इस आंदोलन का उत्तरदायी ठहरा रही थी। इस पर "भगवान का निर्णय" प्राप्त करने के लिये गांधी ने २१ दिनों का उपवास किया जो चिन्ताजनक स्थिति पर पहुंच कर भी सकलतापूर्वक समाप्त हो गया। अंग्रेज इस उपवास के अन्त में भी गांधी को न जला सके। सररी तैयारियां बेकार हो गईं। इसी समय बर्नार्डशा ने कहा था कि हमारे इस काम से हिटलर के विरुद्ध हमारे अभियान की सारी वैयक्तिकता लीसली पड़ जाती है। इस अवसरपर देश

गांधी के स्वास्थ्य और जीवन के प्रति जो जिज्ञासा, जैसी उत्सुकता, जैसी अनन्य भक्ति प्रदर्शित की उससे अंगरेजों को कुछ समझ जरूर आई होगी। इसी १९४३ में बंगाल को अंग्रेजी राज्य की एक और घेन मिली। यह घेन थी १९४३ का अकाल - जो सरकार की दुर्नीति के परिणामस्वरूप थी। इसने यह सिद्ध कर दिया कि भारत में अंगरेजों के अतिरिक्त अभी एक मुक्त- ऐसा वर्ग भी है जो भोग-वासना और सम्पत्ति की कामना की पूर्ति के लिये भारत की निर्दल जनता को भयानक से भयानक विपत्ति में पाकर भी अपनी लाभ और लोभवृद्धि को छोड़ने के लिये तैयार नहीं। जब मानव दमन के अन्दर से भी अनाज के कण पाने के लिये कुर्तों से लड़ रहा था, जब एक मुट्ठी चावल के लिये पिता अपनी पुत्री के दुष्क शरीर को भी सेठों की जहरीली आग में झोकने को मजबूर था, जब भोजन के लिये मां-बेटे में चोरी होती थी, जब अशक्त पिता के सामने अशक्त पुत्र की आंसू कौंधे निकाल ले जाते थे और पत्नी का शरीर कुंहे और सियार काट काट कर खाते थे तब ये नर राक्षस अपनी कोठियाँ और सड़ियाँ को चावल के बोरी से, तिजोरियाँ को सिक्का और नोटों से, और मन को नारकीय उत्तेजनाओं से भरते जा रहे थे। इस युग के भारत का चित्रण रामकुमार वर्मा ने इस प्रकार किया है, "वस्त्र के लिये हमने अपना व्यक्तित्व दे दिया है, अन्न के लिये हमने अपनी आत्मा बेच दी है..... जहाँ आत्मा के ऊपर मुसा शरीर बैठ गया है, जहाँ क्रय-विक्रय के कांटों पर रूप और सुंगार तुल गया है, वहाँ ऐसी परिस्थितियाँ मैं मान्यता कराह रही हूँ।" भारत की आत्मा तड़प उठी। अंगरेजों के दमन से रक्त-स्नात, जाहत भारत ने पूरी निष्ठा और सहानुभूति के और उदारता के साथ पीड़ितों की सहायता की। ऐसे समय में चर्चित एमरी की झूठ और मक्कारी ने अंगरेजों की शराफत और ईमानदारी पर से हमारा विश्वास हिला दिया। बंगाल का आर्थिक ढाँचा ढह गया। सारे भारत में जो हो रहा था उसी का भयानक रूप बंगाल में अधि-

व्यक्त हुआ। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के ३१वें वार्षिक अधिवेशन में साहित्य
 समाप्ति पद से भाषा करते हुए उक्त विद्वान् ने कहा था, "....आज के जीवन
 की अनुविधाओं ने तो उसे मानसिक भोजन की अपेक्षा शारीरिक भोजन की
 और अधिक यत्नशील बना दिया है। युद्ध की लपटों में हमारी आवश्यकताएं
 और भी तृप्ति हो उठी है।" इसी बीच भारत में अमेरिका की सेनाएं आईं।
 ये अमरीकी ब्रिटिश नौकरशाही के रंग-ढंग और चाल ढाल से अपरिचित थे।
 ये जिस मुक्तभाव से अपने देश में रहते थे वैसे ही भारत में भी रहने लगे। व्यव-
 हार में किसी प्रकार का - ऊँचे और नीचे का, धातुक और शास्त्रिक का,
 गरीब - अमीर का तथा देशी - विदेशी का भुमने वाला भेद-भाव नहीं। सरकारी
 रोक-स्तरे को इसके कारण भी पड़ा धक्का लगा। अक्टूबर १९४३ में लिनलिय
 गी गये। वेबेल आये और चेता कि नेताओं के सहयोग के बिना अस्तुष्ट और
 दुर्भिक्षित भारत से सहयोग नहीं प्राप्त किया जा सकता। गांधी जी बिना
 छूट छोड़े गये। जेल से छोड़े जाने पर गांधी जी का स्वागत जिस भारत वर्ष ने
 किया वह दीन-हीन-पीडित अवस्था था किन्तु अपराजेय रहा। सरकार का
 वमन पूरे जोरों पर था। ठिपे हुए कुछ कार्यकर्ता अब भी "भारत छोड़ो" जाँचो-
 लन चला रहे थे। राजनीतिक तनाव और गतिरोध बिना हुआ था। गांधी
 जी ने बिना से बात चीत करके साम्प्रदायिक समस्या का कुछ हल निकालना
 चाहा किन्तु सफलता न मिली। वेबेल कुछ राजनीतिक हल निकालने को कटि-
 बद्ध थे। उन्होंने धीरे धीरे नेताओं का छोड़ना प्रारम्भ किया। इन छूटे हुए
 नेताओं का स्वागत जनता ने जिस असाधारण उत्साह प्रदर्शन के साथ किया वह
 इस तथ्य का द्योतक है कि अंग्रेजों ने जिसमावना को क्या रता है वह भावना
 झुकानी नहीं है। जिस दिन हमरेगी उस दिन साम्राज्यवाद वह जायगा।
 जापानी आक्रमण का मय समाप्त हो न था। इसी वर्ष आजाद हिंद फौज के
 तीन बन्धियों पर दिल्ली के लाल किले में मुकदमे चले। इसी प्रसंग में सुभाष
 बोस के उन प्रयत्नों पर भी प्रकाश पड़ा जो उन्होंने जर्मनी और जापानों

भारतीय स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिये किये थे। आजाद हिंद फौज उसी
 उसी का परिणाम थी। पट्टाभि सीतारामैया ने लिखा है, "भारत में
 ऐसा शायद ही कोई व्यक्ति हो जिसका दिल फौज के रोमांचकारी अनुभवों
 तथा साहसिक कार्यों को जानकर हिल न उठा हो। जब, एडवोकेट की अदा-
 लत में जिन घटनाओं का बयान किया जाता था उन्हें भारत की साक्षर
 जनता बड़ी ही उत्सुकता से नित्य ही पढ़ती थी और निरक्षर जनता बड़ी
 उत्सुकता से सुनती थी। इन मुकदमों का विवरण सुनने के लिये निजी तथा
 सार्वजनिक रेडियों के आसपास भीड़ लगी रहती थी.... एक समय तो ऐसा
 जान पड़ता था कि कर्नल साहनवाज, कर्नल सहगल और कर्नल डिल्हन की ख्याति
 राष्ट्रीय नेताओं की ख्याति को भी ढंक लेगी..... अहिंसात्मक लड़ाइयों की
 याद धुपली बना देगी।" गांधी ने देश की राजनीतिक निराशा एवं अवसाद
 को समाप्त किया और आजाद हिंद सेना के मुकदमों ने फिर से उत्साह क उमंग
 को उत्तेजना दी। वेवेल के प्रखरों ने अंगरेजों के प्रति ठ्यापत असंतोष और
 बीम को कम कर दिया। जुलाई १९४५ में इंग्लैण्ड में अनुवार चल हार गया
 और चर्चिल एमरी का स्थान एटली -पैथिक लारेन्स ने लिया। ग्रहण काल
 समाप्त हुआ। आशा का सूर्य चमका। दृष्टिकोण बदला।

(३०) रक्त-रंजित स्वतंत्रता :- इसके बाद बहुत कुछ हुआ। अच्छा भी हुआ
 और बुरा भी हुआ। जो कुछ बुरा हुआ उसका उत्तरदायित्व इंग्लैण्ड के प्रधान
 मंत्री, भारत सचिव, वायसराय और राष्ट्रीय नेताओं पर नहीं है। उसके लिये
 उत्तरदायी है सड़ी-गली पुरानी निकम्मी अंगरेज नौकरशाही और जिना का
 जहरीला स्वार्थपरक अमानवीय दृष्टिकोण। कांग्रेसी नेता असहाय हो गये। वे
 अंग्रेज नौकरशाही और जिना की सांप्रदायिकता के विष को उमारने की कला

रुपी दो चक्कियाँ के पाट में पिछा गये। इसके बाद हमारे नेता शांति और मानवता के लिये तड़पे। गांधी का सात्विक हृदय छटपटाया। गुमराह जनता की क्रूरतम हत्याएं हुईं। इस निर्दोष रक्त की सरिता के बीच से कटे-छंटे पाकिस्तान और बंटे-फटे भारत का नक्शा उमरा। बेगुनाहों के सून से सना हुआ ताज जिना ने पहना। भारत ने उसे माउन्ट बेटेन को पहना दिया। इसी नारकीय दृश्य के बीच युग के सबसे बड़े महापुरुष गांधी की असाधारण, अलौकिक एवं तेजस्वी मूर्ति का दर्शन भी संभव हो सका। स्वतंत्रता देवी के दर्शन हुए। सभी हमारी कमजोरियाँ हमारे "बापू" को सा गईं। टयारेलाल ने लिखा है, सभी वर्गों और सभी प्रकार की जनता में निजी हानि की भावना पैदा करने वाली और इतने व्यापक क्षेत्र में दुःख एवं शोक की भावना उभार देने वाली किसी व्यक्ति की ऐसी मृत्यु शायद ही कभी हुई हो जैसी गांधी की हुई। भारतवर्ष के कुछ लोग तो इस दुःख समाचार के धक्के से ही मर गये और कुछ लोगों ने यह सोचकर कि अब उनके लिये संसार में कुछ रह ही नहीं गया आत्म करने का प्रयत्न किया।" भीमती पल्लव ने यह समाचार सुनकर कहा था कि एक बार फिर ईसा सूली पर चढ़ा दिया गया। सरदार पटेल की नीति के परिणामस्वरूप प्रायः सभी देशी रियासतें भारत में मिल गई हैं। अजादी पाने के बाद देश के नेता नये सिरे से भारत के पुनर्निर्माण में लग गये। पाकिस्तान के आक्रमण के कारण काश्मीर एक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या बन गया। पाकिस्तान से भागकर जान बचाकर आये हुए शरणार्थियों को फिर बसाने की समस्या सामने आई। युष्कालीन दमन और अनेतिकता के कारण विकृत जन मनोवृत्ति भी एक समस्या हुई। सधियों की गुलामी से उत्तराधिकार के रूप में मिली हुई अपनी कमजोरियाँ भी हैं। भयानक गरीबी, पहनने के लिये कपड़े, रहने के लिये मकान, व्यक्तिगत के नीचे-विकास के लिये समुचित शिक्षा, राष्ट्रीय चरित्र, राष्ट्र भाषा, पाकिस्तान के साथ समुचित संबंध आदि सेकड़ों समस्याओं को लेकर बीसवीं शताब्दी का पूर्वार्ध भारत से गया। स्वामी अहमद अहमद ने

१९५० के युग का चित्रण इस प्रकार किया है, "हिन्दुस्तान के इतिहास की तूफानी नदी में आज का युग आधा और संभावनाओं के जाबुई द्वीप की तरह अलग सड़ा है; और इस देश की उन्नति के बड़े आंदोलन में एक महत्वपूर्ण मंजिल की तरह से है। तूफान और अंधेरे की रात गुजर चुकी है।"^१

आतंकवादी आन्दोलन

लक्ष्य की दृष्टि से एक-सी, भावनाओं की तीव्रता से उससे कहीं अधिक, परन्तु साधन और कार्यप्रणाली की दृष्टि गांधीवाद से पूर्णतः भिन्न एक आन्दार कहानी है उन प्रयत्नों की जो भारतवर्ष को अंग्रेजों के अत्याचारों से मुक्ति दिलाने के लिये यहां के कुछ दीवाने नौजवानों ने किये थे। इन्हें किसी से कुछ लेना नहीं था, इन्होंने कुछ चाहा भी नहीं था, कभी मांगा भी नहीं - जो 'स्वाहा' होगये उन्होंने भी नहीं और जो आज भी जीवित हैं उन्होंने भी कभी नहीं। इन्हें आत्मसम्मान की फिकर थी। ये आजादी के दीवाने थे। इन्हें गुलामी से नफरत थी। इनका विश्वास था कि मांगने से कुछ नहीं मिलेगा। इनका रक्त उष्ण था और ये अत्याचार को चुपचाप बर्दाश्त नहीं कर सकते थे। बदला लेने को बेचैन हो उठते थे। इस प्रकार के कार्यों की प्रेरणा भी हमको नवोत्थान से ही मिली। भारतीय संस्कृति के अनुसार आत्मा अमर है और मृत्यु वस्त्र-परिवर्तन मात्र है। इस तत्त्व ने मारे जाने का मय मिटा दिया। भारत के अतीत के गौरव पूर्ण होने की धारणा और वर्तमान औद्योगिक अयोग्यता का कारण अंग्रेजी शासन के होने की अनुभूति ने आत्म-सम्मान और अंग्रेजों के प्रति असन्तोष की भावना को जागृत किया। राष्ट्रियता की सर्वव्यापी भावना ने व्यक्तित्वगत स्वार्थ से ऊपर उठने की प्रेरणा दी। विभिन्न देशों के स्वतंत्रता - संग्राम ने लड़कर स्वतंत्रता प्राप्त करने की उत्तेजना भर दी। राणा प्रताप और छिवा जी के उदाहरण ने राष्ट्र के लिये अर्पण

१. आज का भारतीय साहित्य, पृ. ७४।

कष्ट सहने का त्याग करने और बलिदान के लिये आगे बढ़ने का आह्वान किया। विवेकानन्द ने कृष्ण का पांचजन्य फुंका। गीता ने कहा, "कुं हृदयदौर्बल्यं त्यक्तव्योत्तिष्ठ परंतप!" "बन्दी जीवन" की भूमिका में और अपनी विद्रोह भावना और विप्लववादी भावना के विकास को चित्रित करते हुए अचीन्प्रनाथ सान्याल ने इन्हीं तत्वों का उल्लेख किया है, "..... भारत के इस विप्लववाद के अन्दर विवेकानन्द का ज्वलन्त आदर्श वर्तमान था और सर भारतीय विप्लवियों में से अधिकांश इसी महापुरुष की प्रेरणा से अनुप्राणित थे।" भारत के सन्यासी भी कितने विचित्र होते हैं ! ये कभी समाज सुधारक करवाते हैं तो कभी सम्राटों और साम्राज्यों के प्रति विद्रोह करवाते हैं। स्वामी विवेकानन्द ने स्वतंत्र और निर्भय होने का जो आह्वान किया उसका परिणाम यह विप्लववाद है। तिलक ने लिखा था, "यदि हमारे घर में चोर घुस जायें और हममें उन्हें मगाने की सामर्थ्य न हो तो हमें चाहिए कि हम बिना किसी हिचक के उन्हें चादरों में लपेट कर जीवित ही मरम कर दें। मगवान ने भारत के राज्य का पट्टा ताग्रथ पर लीव कर म्लेच्छों के नाम नहीं कर दिया है। कुं के मेढक के समान अपनी दृष्टि को संकुचित मत करो। जण्ड-विधान के घेरे से बाहर आ जाओ। "मगवगीता" की उच्चतम भूमि में प्रवेश करो और तब महापुरुषों के कार्यों पर विचार करो।" केसरी की यह दहाड़ सरकार नहीं सह सकती थी। तिलक को समा हुआ। उसी वर्ष रण्ड और आयरस्ट की हत्या ~~आधेकर~~ बन्धुओं ने कर दी। १९०९ ई. में मदनलाल धींगरा ने लंदन में सर कर्जन वाइली की हत्या कर दी। उसी वर्ष भारत में मि. बैक्सन की हत्या हुई और लार्ड और लेडी मिन्टो पर अहमदाबाद में बम फेका गया। १९०७ में बंगाल में गवर्नर की गाड़ी उठा देने के लिये दो पडयंत्र किये गये। १९०८ में मि. किंग्स फोर्ड के थोले में मि. केनेडी और उनकी पत्नी की हत्या हो गई। अलीपुर पडयंत्र भी इन्हीं दिनों हुआ। बाद में इसके

१. "बन्दी जीवन", पृ. १६२।

२. "केसरी" पत्र, १५ जून, १८९७ वाला अंक।

सरकारी वकील और डी.एस.पी. की हत्या हो गई। अलीपुर-मठमंज-मने
 १९१० में सतारा षडयंत्र रचा गया। २३ दिसम्बर १९१२ को फिर वाय-
 सराय पर बम फेंका गया। १९१३ में लाहौर के लार्सेन बाग में बम फूटा।
 'कोमागाटा मारु' और 'तोसा मारु' जहाजों के द्वारा भारत में विदेशों से
 अस्त्र-सस्त्र लाने का प्रयत्न किया गया। बनारस के सचीन्द्रनाथ सान्याल
 और बंगाल के रास बिहारी बोस ने सारे उत्तर भारत में एक ही दिन विप्लव
 मचा देने का प्रयत्न किया। फिर मेनपुरी में षडयंत्र रचा गया। राजा महेन्द्र
 प्रताप ने भी विप्लव कराने का प्रयत्न किया। इन क्रांतिकारियों से पुलिस
 वालों से मुठभेड़ भी हुई और आपस में गोलियां भी चलीं। १९१४ में बिलुची
 क्लैक्क फौज में गदर हुआ। १९१५ में सिंगपुर में भारतीय फौजों ने वंगा कर
 दिया। नागपुर में छात्रों ने मलका विक्टोरिया की मूर्ति तोड़ी और उसके
 मुसपर का लिख लगा दिया। नलिनी मोहन मुकुर्जी ने जबलपुर की फौजों में वंगा
 करने का प्रयत्न किया। बनारस षडयंत्र रचा गया। १९२३ में बंगाल में खंतीरी
 टीला कांड हुआ और चटगांव के सस्त्रागार पर डाका डाला गया। चटगांव कांड
 की जांच करने वाले दारोगा की हत्या कर दी गई। सर चार्ल्स टेर्नर के घोसे
 में 'डे' की हत्या हो गई। १९२४ में बूस की हत्या करने का प्रयत्न किया
 गया। धन की आवश्यकता होने पर चलती ट्रेनों के खजानों पर डाके डाले गये।
 प्रसिद्ध काकोरी केस इसी घटना के परिणामस्वरूप हुआ। कानपुर साम्यवादी
 षडयंत्र हुआ। छात्रों ने भी बम बनाना सीखा। बम बनाने की प्रक्रिया में ही
 अनेक होनहार युवक खहीब हो गये। १९२७ में देवघर में और १९२८ में मनमड
 में बमकाण्ड हुआ। लाला लाजपतराय की मृत्यु का बदला लेने के लिये सांडर्स
 की हत्या कर दी गई। १९२९ में लाहौर असेम्बली में मंगत सिंह ने बम फेंका।
 १९३१ में गौली का उत्तर गौली से देते हुए जगदीश मारे गये। इसी प्रकार
 कानपुर में डालीग्राम युक्ल खहीब हुए। जलालाबाद की पहाड़ी पर भयानक
 युद्ध हुआ। १९३० में हरिपद भट्टाचार्य ने पुलिस इन्स्पेक्टर को मार डाला।

इसी साल डाक में मि. स्टीवेंस की हत्या हुई। १९३१ में टिपरा में दो
 लड़कियों ने मजिस्ट्रेट मि. स्टीवेंस को गोली से उड़ा दिया। १९३२ में
 बीनादास ने बंगाल के गवर्नर पर गोलियां चलाईं। प्रयाग के आजाद पार्क
 में चन्द्र चेतन आजाद लड़ते हुए मारे गये। १९३८ में पिपरीडीह और १९४१
 में सहजनवा में दून डकैतियां हुईं। १९४० में लंदन में ऊधम सिंह ने जातियां
 वाला बाग के हत्यारे डाक को गोली से उड़ा दिया गया। १९४२ में
 बरकत, सुभाष, सुभा, काठियावाड़ी और वृद्धावाड़ी ने अपनी आहुतियां दीं। जिस
 प्रकार फिर से वे उद्दुर्ग ने हमारी मांओं तथा बहनों की इज्जत को बात की
 बात में नाश करने धम दिया और अंग्रेज धायव जिसे सौच भी नहीं सकते थे ऐसे
 अशुभ्य अत्याचार हमारे राष्ट्रीय वीरों पर किये हैं उन्हें पढ़कर भारत की अने
 वाली संतानें - गोदियां - सवियां सवियां सून के आंसू बहाया करेंगी-उत्तेजित
 हो उठेंगी। यहीच हुलेना प्रसाद ५ गोलियां साकर मरे। यह है एक
 हांकी रन काथी की जो इन विद्रोहवाधियों ने किये। इसमें आजाद हिंद फौज
 के और १९४२ के आंदोलनकारियों के कार्यों का उल्लेख नहीं किया गया है।
 इसकी प्रतिक्रिया में सरकार ने यह किया जो उरी जैसी सरकार को करना चाहिये
 था। क्रान्तिकारियों में से मुखबिर तैयार किये गये। क्रान्तिकारियों को पकड़ा
 गया। उन्हें जेलों की सख्त से सख्त सजाएं और क्रांतियां दी गईं। उनके परि-
 वार वालों को नारकीय खंजाएं दी गईं। वे भूत से तहमे। जेल में क्रान्ति-
 कारियों ने कुछ कहा और किया तो उन पर बैत लगे। बैत के घावों पर पवा
 नहीं लगाई गई। बंदी घसीट कर कोठरियों में ले जाये गये। सरदियों में फंवल
 तक न मिले। हर बात पर मार पड़ी। मार के कारण लोगों के मल-मूत्र तक
 निकल पडे। मंगियों से पि^टवाया गया। लाना न लाने पर मार, बीनारी के
 कारण काम न कर पाने पर मार, मारकर बेग-भंग करना, मार से कानों का
 फटना, गिराकर टांग उठाकर मारना, उलटे टांग कर भिड़ की धुनी देना,

इतना मारना कि मुंह से खून और टूटी से खून निकलना, भयांक गालियां, मुर्गा बनाकर मारना, नाखूनों में कीलें ठोकना, बर्फ की सिलों पर सुलाना, पानी न देना, सोने न देना, आदि असंख्य प्रकार की असहनीय यातनाएं इन वीरों ने सहनीं। न सह पाने पर अनेक मर गये। उचीन्द्रनाथ साय्याल ने लिखा है, "एक-एक दो-दो करके कितने लोगों ने कांसी के तख्ते पर जान न्योछावर कर दी, कैदखानों में बन्दी होकर उनके कितने साथी तिल-तिल करके प्राणों की बलि देने लगे और इसके कारण कितने ही परिवार बह्बाद हो गये, कितनी ही की माताएं ये सब दुःख अधिक न सह सकीं और पागल होगई, कितनी ही के पिताओं की सरकारी नौकरी चली जाने से उनका परिवार गरीबी की चक्की में फिसकर आश्रय की सोज में दर-दर फिरने लगा, समाज के अन्दर एक मर्मवेधी अन्तर्नाद यह उठा.....॥" ¹ इन क्रान्तिकारियों की वीरता पर राष्ट्र ही नहीं, राष्ट्र के विरोधी तत्व भी मंत्रमुग्ध थे। मन्मथ नाथ गुप्त ने लिखा है, "इसी समय वह गौरा (बोला), "आपरोते क्यों हैं? जिस देश में ऐसे वीर पैदा होते हैं, वह देश धन्य है। मरने तो सभी किन्तु ऐसी मौत कितने मरते हैं!" बुडिया साहामात्र के किनारे यतीन्द्र के युद्ध का वर्णन करते हुए अंत में उन्होंने लिखा है, "इस स्वर्गीय दुःख को देखकर पुलिस वाले रो पड़िये, नैतिक विजय थी! इस मुठभेड़ में पुलिस वाले विजयी हुए, किन्तु जब वे अपने द्वारा हराए हुए इन पांच वीरों के सामने आते हैं तो वे रो पड़ते हैं। एक पुलिस अफसर मनोरंजन (नाम ^{की} व्यक्ति) को रोक कर स्वयं पानी लेने गया। इन सब कार्यों का परिणाम क्या हुआ? निश्चित है कि इनसे भारत को आजादी नहीं मिली। किन्तु यह भी निश्चित है कि इन कार्यों का अनिश्चित-कबन-हुकम-? विदेशी शासकों पर असाधारण प्रभाव पड़ा है, भारत की इज्जत बड़ी है और संवैधानिक सुधारों की प्रगति और मोड़ी को निर्धारित करने में इनका महत्व असाधारण है। जाति की मुरतक़्क

हुई मनोवृत्ति पर उहीधों के सुन की यह वर्षा काफी इत्तेजक साबित हुई" ^१... यह बात बिना किसी अत्युक्ति के कही जा सकती है कि कन्होई लाल और सुधीराम बंगाल की चेतना के अन्तरंगतम स्तर में प्रविष्ट हो गये तथा बंगाल के राष्ट्रीय जीवन के उस हिस्से में घुस गये जहाँ से उन्हें कोई नहीं निकाल सकता याने लौरियाँ में, गानों में, बच्चों की कहानियों में, और जहाँ से वे राष्ट्रीय जीवन के उत्स स्थल को मजे में अपनी पवित्रधारा से पूत कर सकते थे ^२.....; "आँसिर चिता भी जल चुकी, सुधीराम की देह उसमें मस्मीभूत हो चुकी किन्तु जनता को अपने प्यारे उहीध की स्मृति प्यारी थी, वह झपट्टी उसकी रात के लिये। किसी ने उसकी तावीज बनवाई, किसी ने उसको सिर से मला, स्त्रियाँ ने उसे अपने स्तन पर मला! एक स्वर्गीय दृश्य था, और यह क्या ! हजारों आदमी एक साथ फूट फूट कर रो रहे थे..... सैकड़ों अस-बारों के जरिये से एक दल वर्षों में जितना जनता में प्रविष्ट नहीं हो पाता ये अलमस्त एक फाँसी से एक दिन के अन्दर उससे कहीं ज्यादा जनता के दिल में घर कर लैते थे ^३।" चन्द्रशेखर आजाद और भगत सिंह भी इसी प्रकार जनता के प्यारे हो गए हैं। देश के कोने कोने में राष्ट्रीयता और वीरता की भावना फैला देने में इन घटनाओं का महत्वपूर्ण योग है। ये युगान्तरकारी घटनाएँ हैं और इस अर्द्धशताब्दी के भारत के लिये गौरव हैं।

सैधान्तिक सुधार

इस अर्द्ध शताब्दी की अन्य उल्लेखनीय घटनाओं में विभिन्न सैधान्तिक सुधारों का भी नाम जाता है। ये सुधार हैं :- १९०९ का (मिन्टो मार्ले), १९१९ (मॉन्टेग्यू चेम्सफोर्ड), १९३५ का और फिर १९४७ का कानून।

१. 'भारत में सख्त फाँसी चेष्टा का रोमांचकारी इतिहास', भा. १ पृ. ५५।

२. वही, पृ. ५३।

३. वही, पृ. ११८, ११९।

इन सुधारों में ^{जा} कानूनों की विशेषताएं इस प्रकार हैं :- (१) इनसे धीरे धीरे भारतीयों को स्व-राज्य का अधिकाधिक अधिकार मिलता गया, (२) ये समय और परिस्थिति की प्रगति की दृष्टि से सदैव कुछ पीछे ही रहे; (३) इनसे देश की जनता और उसके नेताओं को कमी भी सन्तोष नहीं हुआ; (४) ये नये आन्दोलनों के कारण बना करते थे और पिछले आन्दोलनों के परिणामस्वरूप निर्मित होते थे और (५) ये राष्ट्र की प्रगति के अनुसार और अनुकूल कभी नहीं होते थे। इनसे जनता के जीवन का प्रत्यक्ष रूप से कोई भी संबंध नहीं था। अपने नेताओं के माध्यम से जनता इनसे संबंधित होती थी और उन्हीं की धारणाओं और सुझावों के अनुसार इसके प्रतिकूल या अनुकूल अपनी प्रतिक्रियाएं प्रकट करती थी।

सांप्रदायिक बंधे

इस अर्थ उताड़वी की एक अन्य प्रकार की उत्प्रेक्षणीय घटनाएं हैं सांप्रदायिक बंधे। न इनका उद्देश्य अच्छा था, न इनके प्रेरणा-स्रोत अच्छे थे, न इनके नेता अच्छे थे, न इनका स्वरूप अच्छा था, न इनके कर्ता अच्छे थे और न इनका परिणाम अच्छा था। उद्देश्य स्वार्थ था, प्रेरक स्वाधीन थे, प्रेरणा-स्रोत प्रतिक्रियावाद और भय एवं अविश्वास था, स्वरूप कायरता से भरा हुआ और गैर इरीफाना था, कर्ता नीच और जुंहे थे और परिणाम के रूप में युगों-युगों तक चलने वाला अविश्वास तथा संघर्ष का स्थायी साधन, माध्यम अथवा स्रोत निर्मित हो गया। ऐसा क्यों हुआ ?

धीसूनी उताड़वी के प्रारंभ होने के कुछ पहले तक मुसलमानों में दो वर्ग थे - एक धनी आदमियों का और दूसरे, गरीब आदमियों का। दूसरा वर्ग भारत की सामान्य संस्कृति में घुल मिल गया था, भारत का ही गया था और भारत के लिये ही गया था। उसके धर्म पर उसको कभी किसी प्रकार का

सतरा नहीं दिताई पडा। दूसरा वर्ग स्वार्थ-प्रधान था और इसलिये मनी-
 वैज्ञानिक ग्रंथियों वाला वर्ग था। साम्प्रदायिक समस्या मुस्लिम इसी वर्ग की
 समस्या थी। अंग्रेजों ने जब भारत पर अपना पूरा अधिकार कर लिया ^{तब} उनको
 अपना खुद समझा - लुटेरा समझा - क्योंकि ये अपने को भारत का असल समझते
 थे। उनसे मिलना, उनसे कुछ सीखना उनकी भाषा और उनके साहित्य का
 अध्ययन आदि इन्होंने अधार्मिक कार्य समझा। नव्य सांस्कृतिक उत्थान से प्रो-
 त्साहित हिन्दू भारतीय संस्कृति की सामासिक प्रवृत्ति के अनुसार अंग्रेज और
 अंग्रेजी संस्कृति से संपर्क स्थापित करने लगे। सांस्कृतिक आंदोलन के परिणाम-
 स्वरूप हिन्दू शांति संस्कृति सरोवर में छक छक कर नहाते हुये भी अपने प्राचीन
 कथियाँ, मुनियों महान पुस्तकें और महान विचारधारकों में डूब डूब कर
 मस्त हो रहे थे। परिणामस्वरूप ज्ञान-विज्ञान, समाज विकास और समृद्धि-
 सम्पन्नता आदि की दृष्टि से अपने मुसलमान भाइयों से आगे बढ़ गये। इधर
 ये भाई समझते थे कि हमने हिन्दुओं पर शासन किया है अतएव उनसे बेच्छ हैं।
 संभवतः महमूद गजनवी और औरंगजेब के कुकृत्यों के स्मरण ने इन्हें स्वयं इस
 योग्य न रखा कि ये हिन्दुओं की उदारता पर विश्वास कर सकें। अंग्रेजों से
 उन्नता और घृणा तथा हिन्दुओं के प्रति अविश्वास और ईर्ष्या उन्नीसवीं सताब्दी
 के अंतिम चरण के मुसलमानी मनोवृत्ति हो गई। नवोत्थान के परिणामस्वरूप
 हिन्दुओं में राष्ट्रीयता की जो मनोवृत्ति उषा उसकी बाह्यरूप रेशा का धार्मिक
 अर्थात् हिंदुत्व प्रधान होना अनिवार्य था। इससे भी मुसलमान भाई कुछ संक
 हुए। अगर अंग्रेज चले गये तो हमारा क्या होगा! मुसलमान भाई क्या करें ?
 धर्म परिवर्तन से किसी की पैतृक ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक परंपराएं नहीं टूट
 जाती - यह एक सत्य है परन्तु यह सत्य इन भाइयों की पकड़ में न आया।
 इसमें उन्हें इस्लाम के लिये सतरा दिताई पडा। कपि था नहीं। ये कट चले।
 मुगल और अकबान युग में इन्होंने डूबा लेकिन केवल उतने से रिक्त ता/न भर सकी।
 तत्पश्चात् इस्लाम के व्यापक इतिहास पर गौर फरमाया गया। धार्मिक आग्रह
 राष्ट्रीयता का तिरस्कार कर गया और भारतीय मस्जिदों में टकी के मुस्तान

का नाम आदर के साथ लिया जाने लगा। मनीषैज्ञानिक दृष्टि से अंतोष
 मिला जो प्रथम महायुद्ध के बाद कमाल पाशा ने पूर्णतः विनष्ट कर दिया।
 अपनी कमी का अनुभव करके सैयद अहमद सां ने मुसलमानों को अंग्रेजी भाषा
 संस्कृति-साहित्य के प्रति उन्मुख कर दिया और अंगरेजों को यह विश्वास
 दिला दिया कि उनके बहुत मुसलमान नहीं, हिन्दू हैं। परिणामतः मुसलमान
 पत्तिनियां सगलती थी और भारत पर शासन करने के लिये योनों का लड़ते
 रहना आवश्यक समझती थी। कुछ मुसलमानों ने समुच्च हिन्दुओं से सौतिया-
 डाह ठान लिया। सौतों के झगड़ों के कारण घर में शांति नहीं स्थापित हो
 पाती। एक सौत कुटिल निकल जाय तो घर बर्बाद होकर ही रहता है। यही
 भारत का हुआ। १९०६ में अंग्रेजों ने "एक बड़ी - बहुत बड़ी घटना" घटित
 की और वह थी मुस्लिम लीग की स्थापना। यह एक ऐसा जहर था जिसने
 एक बार यूरोप का सर्वनाश कर दिया था। मिस्ट्री ने लिखा था, "यह
 राजनीतिज्ञता का एक ऐसा कार्य है, जो भारत और भारतीय इतिहास को
 बहुत वर्षों तक प्रभावित करता रहेगा। यह कार्य ६ करोड़ २० लाख लोगों को
 राजद्रोहात्मक विरोध में सम्मिलित होने से रोक देने वाला है।" उसकी यह
 कल्पना अवरुद्ध सत्य हुई। जब जब अंगरेजी राज सतरे में जाया तब अंगरेजों के
 संकेत से इस्लाम सतरे में है का नारा बुलन्द किया गया। मरे हिंदू हिंदू
 और मुसलमान और स्थिति मजबूत हुई अंगरेजों की। कुछ स्वार्थियों की जेबें
 गरम हुई और भारत मां का जब उसके ही गरम रक्त से रक्त-स्नान हो उठा।
 पीपल कटता था तो हिन्दू धर्म के मिटाने की आकांक्षा पैदा कर दी जाती
 थी और मस्जिद के सामने बाजा बजता था ताजिये पर एकाध डेले फेंक दिये
 जाते थे तो इस्लाम धर्म के सतरे में होने की घंटी बजवा दी जाती थी। कई
 बार स्पष्ट रूप से इस बात का पता लगा कि डेले फेंकने वाले और इस प्रकार
 पैदा करा देने वाले ग्रीक सरकारी नौकर हैं। ऐसा कर करके ऐसे पंडित और
 मुस्लिम एकान्त में बख्शीच और श्वासी लेने जाया करते थे। असन्तोष आर्थिक

विषमता के कारण होता था और इन असन्तुष्ट व्यक्तियों को अतिरिक्त धर्म वालों से लड़ा दिया जाता था। इधर नौजाताली और उधर मौपला कांड की जड़ में यही था। बाद में एसेम्बली की सीटें और नौकरियों की प्राप्ति के लिये उनको लड़ा दिया जाता रहा जो कभी भी उन्हें प्राप्त करने का स्वप्न तक नहीं देख सकते थे। इन वर्गों की प्राप्ति का फल किसको मिला और किसको नहीं मिला - यह पाकिस्तान बन जाने पर स्पष्ट हुआ। गुजरात का जिना और यू.पी. का लियाकत गवर्नर जनरल और प्रधान मंत्री बन सकता था किन्तु पाकिस्तान पाने के लिये जिन्होंने सून की नदियां बहा दीं और जो उसे अपना "स्वर्ग" समझते थे उनके उस स्वर्ग प्रवेश पर बन्धन लगा दिया गया। गरीब जिन्से उजुता कर बैठा था इन्हीं से उसे फिर मित्रता करनी पड़ी। न कोई राम को गाली देता था न कोई मुहम्मद को; न कोई कृष्ण की निंदा करता था न कोई रसूल की; न किसी ने कुरान जलाई, न किसी ने गीता - रामायण को, उनके न किसी ने रोजा-नमाज को बुरा कहा, न किसी ने सन्ध्योपासना और व्रत उपवास को; न हज को बुरा कहा गया, न तीर्थयात्रा को, उनके मस्जिद को कोई सतरा नहीं था, उनके मंदिर पर कोई आपत्ति नहीं थी। व्यावहारिक जीवन में सब मिलकर एक हो गये थे। हम ताजिये पर सिन्नी चढ़ाते थे और वे होली के रंग में रंग उठते थे। हम सेवइयां खाते थे और वे "परसाव"। बहरावच में "सैयद सातार गाजी" के मेले में जलम ले कर ७० प्रतिशत से भी अधिक हिन्दू जाते हैं। इतनी ही मात्रा में लोग ताजिये भी उठाते हैं। किन्तु तारीफ़ है उस बुद्धि और चतुराई के स्तुपयोग वृत्ति की और वैयक्तिक, जाति मक्ति और धर्ममक्ति की कि वे गुनाहों के सून से धरती रंग उठी, गुनाहों की मयानकता से आसङ्गमान बर्रा उठा। वास्तविकता यह है कि यह समस्या सांप्रदायिक थी ही नहीं। यह राजनीतिक गुंडाबाही थी जिसे स्वार्थयज्ञ चलते रहने दिया गया। छवारे लाल ने लिखा है, "भारतवर्ष की सांप्रदायिक समस्या यहाँ के उस प्रतिप्रियावाद की सृष्टि है जिसका प्रतिनिधित्व

अंगरेजी साम्राज्यवाद यहां के कुछ रुढ़िवादी और कुछ मध्यवर्गीय नेताओं के साथ मिलकर करता है। राजनीतिक उक्ति पाने तथा उस राष्ट्रीय आंदोलन को विघटित करने के उद्देश्य से, जिसने उनके अस्तित्व के लिये सतरा पैदा कर दिया था, अंगरेजों ने साम्प्रदायिकता के हथियार को अपने हाथों में लिया था।¹ यह एक आश्चर्यजनक बात है कि मध्यवर्ग वाले कुछ स्वामी लोगोंने ने भौली भाली जनता की एक कमजोरी का इस प्रकार दुरुपयोग किया। ऐसी ठग विद्या उचित नहीं ली जा सकती। इस प्रवृत्ति का अन्त भारत की स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ साथ हुआ।

युग की प्रधान प्रवृत्तियाँ

यह है हमारे देश के इस अर्ध स्वतन्त्रता के इतिहास की एक संक्षिप्त शंकी। इस युग की प्रधान प्रवृत्तियाँ ये हैं :- (१) राष्ट्र के प्रति भारतवासियों का अनाध प्रेम (२) अंगरेजी शासन के स्वार्थपरक और भेद-भाव पूर्ण व्यवहार से भारतवासियों में उनके प्रति क्रोध; (३) अपने जन्मसिद्ध एवं स्वाभाविक अधिकारों को प्राप्त करने की भारतीयों की इच्छा (४) उस इच्छा की अभिव्यक्ति, और उसके लिये आन्दोलन करने की भी कटिबद्ध होना, (५) अंगरेजों का ऐसे आन्दोलनों को दबाना कभी कुछ संवैधानिक सुधार और कभी दूरता के साथ व्यवहार करके, (६) राष्ट्र भाव के जागरण के लिये प्राचीन इतिहास और गौरव की सोच में रुचि उसकी प्रचलित (७) भारतीयों के हिंसात्मक और अहिंसात्मक दोनों प्रकार के प्रयत्न, (८) राष्ट्र के प्रति हमारा प्रेम धार्मिक वृत्ति से, सांस्कृतिक वृत्ति से, किसानों और मजदूरों की दृष्टि से प्रकट हुआ (९) अराष्ट्रीय तत्त्वों की राजमक्ति और उसका स्वरूप (१०) दो दो महायुद्ध और हमारी राष्ट्रीय वृत्ति पर उनके प्रभाव (११) गांधी और कांग्रेस का महत्व, (१२) साम्प्रदायिकता, (१३) भारतीयों के प्रति अंगरेजों का अधिश्वास। मूल

रूप से इस युग की एक मात्र प्रवृत्ति है स्वाधीनता की प्राप्ति के लिये किये गये भारतीयों के प्रयत्न और उनको न सफल होने देने के लिये अपनाई गई नीतियाँ। इन्हीं की क्रीडा - क्रियाएं - प्रतिक्रियाएं - ही इस युग का इतिहास है। इस नाटक का प्रधान पात्र है गांधी, प्रधान संस्था है कांग्रेस और प्रधान नीति है सत्य और अहिंसा, इसके सलनायक हैं अंग्रेज शासक, प्रधान आन्दोलन इस युग की प्रधान घटनाएं हैं। उनको गति मिली है सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, प्रशासनिक और विश्वयुद्ध जन्य परिस्थितियाँ से।

असित भारतीय दृष्टिकोण

इस युग में असित भारतीय दृष्टिकोण या तो प्रशासन का था या फिर कांग्रेस का। महात्मा गांधी ने लिखा है, "कांग्रेस ने भिन्न भिन्न प्रान्तों के भारतीयों को इकट्ठा करके उनमें एक राष्ट्र होने की भावना पैदा की।"¹ पट्टाभि सीतारामैया ने लिखा है, "तात्पर्य यह कि सरकार को भी अगर योग्य भारतीयों की जरूरत हुई तो इसके लिये उसे भी कांग्रेसियों पर ही निगाह डालनी पड़ी और उनके राजनीतिक विचारों को उसने ऐसा नहीं, सलखा जो वह उन्हें सरकारी विश्वास एवं बड़ी से बड़ी जिम्मेवारी के ओहदों के लिये नाकाबिल मान लेती..... कांग्रेस का इतना महत्व स्वीकार करते हुए भी सरकार उसके प्रति सदैव सतर्क रहती थी....."² जवाहर लाल नेहरू ने लिखा है, "हिन्दुस्तान के इतिहास में तो इसका नाम है ही, बड़े हरकों में नाम है, क्योंकि कांग्रेस एक बड़ी संस्था थी। बड़े नेता उसने पैदा किये, लेकिन उससे भी बड़ी जो बात उसने की वह यह कि एक जमाने के लिये बरसों कांग्रेस एक मायने में एक नमूना हो गई, एक निशानी हो गई - हिन्दु-

1. 'हिंदस्वराज्य', पृ. 14।

2. 'कांग्रेस का इतिहास', पृ. 42।

स्तान की जनता की आरजूओं की और जज्बात की और ताकत की, कमजोरी की और हर चीज की और उसी ताकत से वह अंगरेजी हुकूमत से लड़ी -साली अपनी संख्या की ताकत से ही नहीं। वह एक चीज थी और इसीलिये करौड़ों की हमदर्दी उसकी तरफ हुई।¹ कांग्रेस को इतना महत्वपूर्ण बनाया गांधी ने क्योंकि उसके पहले तो कांग्रेस प्रस्ताव पास करने वाली और प्रार्थना पत्र देने वाली संस्था मात्र थी जिसके पास न कोई कार्य कम था और न कार्यकर्ता। अन्यत्र भी जवाहरलाल नेहरू ने यह लिखा है, "...गांधी जी ने हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन को नया रूप दिया और उससे निरराशा और तीक्ष्ण की भावना कम होगई। राष्ट्रीय भावनाएं बनी रहीं लेकिन जहां तक मेरा खयाल है और किसी दूसरे राष्ट्रीय आंदोलन में इतनी कम घुणा का भाव नहीं था।"² एक और हम यह कहते हैं कि "हम सब अहिंसक क्रांतिकारी हैं, हम आपके अनुचित कानूनों को न मानने के लिये अपने को संगठित करना चाहते हैं और आप के लिये यह असम्भव कर देना चाहते हैं कि उन कानूनों द्वारा देश पर शासन करे।"³ और दूसरी ओर यह भी शक्ति, "जब हम ब्रिटिश संबंधों को किच्छेद करने की बात कहते हैं तो उसका अर्थ यह नहीं होता कि हम सारे संबंधों को तोड़ दें, बल्कि उसका अर्थ होता है कि वर्तमान संबंधों में उपयुक्त परिवर्तन।"⁴ इसी दृष्टिकोण का परिणाम है कि अंगरेजों में भी - उन अंगरेजों में भी जो हिन्दुस्तान में सदैव बाहरी, विदेशी और बेमेल तथा विराने और पराये बने रहे - अनेक लोग इन राष्ट्रीय नेताओं के आबन्ध प्रवृत्तक, अनुयायी और मित्र बने रहे। बात यह है कि मित्रता और तज्जन्य छांति हमारी सांस्कृतिक प्रवृत्ति है। हम लड़ने और मिलने की जगह और तरीके जानते हैं। इसलिये प्रकट

1. 'हिन्दुस्तान की समस्याएँ' पृ. २०।

२. वही, पृ. २०७।

३. 'मोतीलाल नेहरू जन्म शताब्दी स्मृति ग्रंथ', पृ. ८३।

४. वही, पृ. ११६।

जहाँ भारत ने शत्रुओं के सामने अस्त्राय होकर घुटने कभी भी नहीं टेके, दुलामी और बन्धनों को आत्मा से कभी भी स्वीकार नहीं किया, आक्रान्ता के आगे पूरी तरह से घुटने कभी भी नहीं टेके, जहाँ भारतवर्ष के इतिहास का व्यापक पर्यवेक्षण करने से यह प्रतीत होता है कि यूरोप की अपेक्षा भारत ने शान्ति और सुव्यवस्था के युगों का आनंद बहुत अधिक काल तक प्राप्त किया है। जवाहर लाल नेहरू ने यह माना है कि यह धारणा कि अंग्रेजी शासन ने भारतवर्ष से पहली बार शान्ति और व्यवस्था स्थापित की है असंयोज्य रूप से ग्राम्य है।^१ अस्तु, गांधी ने हमारी राष्ट्रीयता में से विरोधियों के प्रति घृणा उन्से प्राप्त निराशा, उसके प्रति भय और आतंक की प्रवृत्तियाँ निकाल दी। उन्होंने हमारी राष्ट्रीयता को व्यापक सत्य और व्यापक अहिंसा के सौन्दर्य से समन्वित करके संसार का असाधारण तत्त्व बना दिया। इसके कारण उसमें प्रेम, सहानुभूति समझौता, सद्भाव था प की भावनाएँ उत्तम भर गई। इनका परिणाम यह हुआ कि हम स्वतः, निर्भय, और सहिष्णु हो गये। हमें अंग्रेजों का घमन न कमजोर कर सका, न उसकी स्वार्थयुक्ति हमारे अन्दर घुसा पैदा कर सकी। और न हम उनसे आतंकित हुए।

राष्ट्रपिता और साहित्य

इस रंग ने सबको रंग लिया - सबको प्रभावित कर दिया। बेहान का किसान, मिल का मजदूर, जड़ नौकरशाही और अरुन्धता से ग्रस्त घुकाऊ-दार जब इससे अप्रभावित न रह सका तब तरलसरल चेतना और सुधामयी न भावुकता वाले कवि और साहित्यिक^{का} इससे अप्रभावित रह सकना आश्चर्य और असंभावना की कोटि की बात होती। अधिकतर कवियों ने भारतीय चेतना अपना ली। स्विदेजी पर्यं सद्भर अपना लिया। उनकी चेतना और उनके

सा हित्य में देशभक्ति भर गई। इस उतावली के प्रारम्भ से ही प्रमुख साहित्यिक पत्रिकाने ठापा, "

"जग में जन्म भूमि सुखायी। जिस नर पशु के मन न समाई।

उसके मुख दर्शक नरनारी। होते हैं अध के अधिकारी।

गुष्क वैज्ञानिकता और प्रसर बुद्धिवाद के अन्तर में भी अमृत सलिला रागावली सरस्वती गुप्त रूप से तरलित हुआ करती है।" धीरेन्द्र वर्मा लिखते हैं, "

"राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग न लेने वाले के कारण मेरे हृदय में कभी कभी भारही संग्राम होने लगता है। जब हम पड़े-लिसे व समझदार लोगों ने ही कायरता दिखाई है तब औरों से क्या आजा की जा सकती है?... माडरेट दल के सदस्यों को कहने में तो हम लोग जयवंद की बेणी में रस्ते हैं किन्तु कार्य के समय हम लोगों में व माडरेटों में कोई अन्तर नहीं रह जाता है"^१। इन्होंने बंग-मंग के युग से ही विदेशी का यथासंभव बहिष्कार प्रारम्भ कर दिया था।

नये, युशक्ते, उतावली, रहस्यावी, हसला वादी, संस्कृति प्रेमी, सभी ने राष्ट्रगीत गाये। जमिन्मानन्धन पंत ने लिखा है, "मैंने देश के आंदोलन में बाहर से तो कभी भाग नहीं लिया और न भाई की तरह मैंने कारावास ही जेल पर हमारे राष्ट्रीय जागरण के आन्दोलन का जो भीतरी पव रहा है उससे मैं निरन्तर जुड़ा रहा और अपनी सामर्थ्य के अनुसार मैंने उसका कण भी जुड़ा था।"^२ अपनी काष्ठ्य साधना के विकास का संस्मरण प्रस्तुत करते हुए राम

कुमार वर्मा लिखते हैं, "१९२१ में असहयोग आन्दोलन अपनी भरपूर उमंग पर सन् ^{मैंने उसी उमंग में स्कूल छोड़ दिया} था। और कांग्रेस का काम करना आरम्भ किया। प्रतिदिन प्रभात फेरी में खंडा लेकर अपने साथियों के साथ निकलता और उस समय समाचार पत्रों में

१. 'सरस्वती', १९०२-३ ई., पृ. ५१

२. 'मेरी कालिज डाकरी', पृ. ८०।

३. वही, पृ. ६८।

४. 'साठ वर्ष - एकरसिकन', पृ. ३०।

प्रकाशित राष्ट्रीय कविताएं प्रभात फेरी में गाया करता ।..... एक दिन प्रभात फेरी के लिये मैंने एक गीत बनाया और अपने सटूटे-मीठे स्वर में गाया :-

कर्मवीरों का है क्या खेल । मुस्कुराते जावेंगे खेल ॥

प्राण की तनिक नहीं परवाह हृदय में नहीं किसीसे डार ।

यही^{है} केवल उनकी चाह, देश प्यारा बस ही न तवाह ॥

सत्य हित संकट लेंगे खेल..... ।^१

१७ वर्ष की अवस्था में इन्होंने इनकी देशसेवा विषय पर लिखी गई कविता के ऊपर कानपुर के बेनीमाधव सन्ना द्वारा आयोजित प्रतियोगिता में ४१ रुपये का पुरस्कार मिला । उस कविता की कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं :-

जिस भारत की धूल लगी है मेरे तन में

क्या मैं उसको कभी भूल सकता जीवन में

चाहे घर में रहूं, रहूं अफगा में वन में

पर मेरा मन लगा हुआ है इसी बतन में

सेवा करना देश की बस मेरा उद्देश्य है

मैं भारत का हूं/स्वयं भारत मेरा देश है ।

मैथिलीशरण गुप्त ने लिखा है :-

न्यायधर्म के लिये लड़ी तुम कृत-हित समझी कृष्ण,

अनय राज, निर्दयीसमाज से निर्मय होकर बूझी ।

प्रसाद ने लिखा है :-

हिमाद्रि तुंग तुंग से

प्रबुध बुध भारती

स्वयं प्रभा समुज्ज्वला

स्वतन्त्रता पुकारती

१. "धर्मयुग" साप्ताहिक पत्रिका, ८ सितम्बर, १९६३, वाला संक.

२. "वापरे"

अराति सैन्य सिन्धु में
 सुभाडवाग्नि से जलो
 प्रवीर हो, जंघो बनो
 बड़े चलो,, बड़े चलो ।^१

चिनकर गरज उठे :-

गरज कर बता सको मारे किसी के
 मरेगा नहीं हिन्द देश
 लहू की नयी तैर कर जा गया है
 कहीं से कहीं हिन्द देश
 लहारे के मैदान में चल रहे हैं
 लेके, हम, उसका उड़ता निशान
 लडा हो जवानी का झंडा उड़ा
 ओ मेरे देश के नौजवान।

महादेवी ने अपने जोर भारत का संबंध स्पष्ट कर ते हुए उन्होंने 'ठायावादी'
 पैली में कहा :-

मैं कम्पन हूँ तू कलम राग
 मैं आंसू हूँ तू है धिपाव
 मैं मधिरा तू उसका सुमार
 मैं ठाया तू उसका अवार
 मेरे भारत, मेरे विशाल
 मुझको कह लेने दो उवार
 फिर एक बार, बस एक बार ।^२

मेरे बन्धन आज नहीं प्रिय,
 संस्कृति की कड़ियाँ देखो
 मेरे गीले पलक हुआ मत
 पुरखाने कलियाँ देखो ।^३

१. चंद्रगुप्त नाटक,
 २. वही, -पृ. १५१।

(२) कलक, यामा, पृ. ३३

तत्पश्चात् जैसे झकझोरती हुई कहती हों :-

धिर सजग आंसें उनीची, आज कैसा ठयस्तवाना

जाग तुझको दूर जाना ।^१

सीहन लाल दिनेची बालियान गीत गाये :-

बन्धना के इन स्वरों में एक स्वर मेरा मिला लो

बन्धिनी मां को न भूलो

प्रेम में जब मत्त झूलो

हो जहां बलि शीघ्र अगणित एकसर मेरा मिला लो ।^२

कारिका प्रसाद मिश्र ने लिखा :-

प्रिय स्वतन्त्रता कलेश जेहि तेहि पे वारहु प्राण

प्रिय वासता-विभूति जेहि, सुत-हूँ सो मरु ^{गएल} समान^३

मेथिली उरण गुप्त, 'एक भारतीय आत्मा', बालकृष्ण उमा नवीन, 'दिनेकर', सीहनलाल दिनेची, प्रेमचन्द्र, जेनेन्द्र, हस्तिना 'प्रेमी', 'त्रिभूल', सियाराम उरण गुप्त, सुमप्राकुमारो चौहान आदि असंख्य साहित्यकार तन, मन, धन से राष्ट्रीयता के रंग में रंग गये। जेल गये और जो जेल नहीं भी गये उनका मानस जेल जाने वाला-जैसा हो गया। यह सही है कि क्रान्तिकारियों का दृष्टिकोण स्वस्थ-विचार-दर्शन न बन सका किन्तु उनकी वीरता की प्रशंसा जन-जन ने की। साहित्यिक भी पीछे नहीं रहे। 'रक्तमंडल' नामक जासूसी उपन्यास पढ़ते समय ऐसा लगता है जैसे हम भारत के क्रान्तिकारियों की कहानी पढ़ रहे हैं। राहुल सांकृत्यायन का 'सौने की ढाल' नामक जासूसी उपन्यास कभी लक्ष्य राष्ट्रीय बना दिया गया है। जेनेन्द्र के उपन्यासों और कहानियों में अपने ढंग से ये क्रान्तिकारी उपस्थित हैं। निराश प्रेमियों को वैधमक्षि की ओर

१. आभा, २३४

२. मेरवी - पहला गीत

३. कृष्णायन

मोड़ देना कहानियों की एक प्लॉट योजना हो गई। दासता के समस्त मान-
सिक बन्धनों को तोड़ फेंकते हुए देसने का और इस प्रकार निर्णय होकर कर्म-
निर्णय करने की वास्तविक सम्मान पूर्ण स्थिति तक उठते हुए देसने का अनुभव
बड़ा अव्युक्त ज्ञाया - बड़ा अनोखा किन्तु इसने कम अव्युक्त और अनोखा अनुभव
हमें 'रंगभूमि' के सूरदास की कथा मानसिक चबुओं से देसकर भी नहीं होता।
'रंगभूमि' और 'कर्मभूमि' उस युग के सत्याग्रह आन्दोलन की प्रतिबिम्बित छवि लगे
लगते हैं। कहा जाता है कि प्रेमचन्द के उपन्यासों को पढ़कर जेल के अन्दर

सत्याग्रही शक्ति और प्रेरणा प्राप्त किया करते थे। इस आंदोलन से प्रभावित
अनुप्राणित एवं उत्साहित/बोम लिहरण से सिकन्दर को और चन्द्रगुप्त से सिक-
न्दर को हरवा कर मिटाया। युकाने और नौकरियां न छोड़ सकने का दुःख
युग को ही छोड़कर मिटाया। इन्होंने युग छोड़ा या युग के लिये शक्ति-
श्रोत ढूँढने के लिये। इन आंदोलनों में हमारे नारी समाज ने जिस त्याग, जिस
बलिदान, जिस कष्ट सहिष्णुता और जिस वीरता का अनुपम उदाहरण हमारे
सामने रखा था उसने सीता-सावित्री, दुर्गावती-चांदबीबी, मेनादेवी और लक्ष्मी
बाई की याद ताजी कर दी और कोई आश्चर्य नहीं कि इसी प्रांजल एवं प्री-
ज्ज्वल स्वरूप ने युग के सबसे बड़े कवि प्रसाद की आत्मा को भावोन्माद
की किसी अव्युक्त घड़ी में पुलार से हुकर ऐसा तरंगित कर दिया कि साहित्य
को अलका, देव सेना, कमला, ध्रुवस्वामिनी आदि मिल गई। अलका के व्य-
क्तित्व में से सरोजिनी नायडू अथवा ४२ की अरुणा का, देवसेना के व्यक्तित्व
में से कमला नेहरू का, कमला के व्यक्तित्व में से स्वरूप रानी का, ध्रुवस्वामिनी
के व्यक्तित्व में से आजाद हिंद सेना की कैप्टेन लक्ष्मी का, पर्यटन के व्यक्तित्व
में से पटेल अथवा मोतीलाल नेहरू का, स्कन्दगुप्त के व्यक्तित्व में से अयाहरलाल
नेहरू का, लिहरण के व्यक्तित्व में से अय्यकाव नारायण का, चन्द्रगुप्त के
व्यक्तित्व में से सुभाष बोस का किसी न किसी रूप में दर्शन किया जा सकता है।

{ किन्तु अपनी सीमाओं और विशिष्टताओं से बाधित होकर हमारे अनेक साहित्यिक चन्द्रगुप्त और
स्कन्दगुप्त आदि के युगों तक पहुँच गये। यहाँ अंग्रेजों को न हार माने का

"कामायनी" में इडा के राज्य की जनता के विद्रोह में इस राष्ट्रीय आंदोलन की आत्मा है और उसकी अथा तो जैसे गांधीवाद की आत्मा का प्रतीक है। एक बार फिर सिद्ध हो गया कि हिन्दी विद्रोह और राष्ट्रियता की भाषा है क्योंकि इस युग का हिन्दी का कोई भी महान कलाकार इस राष्ट्रियता के दायरे से बाहर नहीं जा सका। अंगरेजी राज्य में भारत की जो दुर्दशा हुई है उसका चित्र और विदेशी बहिष्कार का चित्र "कामना" के पृष्ठों में मिल जाता है। द्विवेदी युग का साहित्य विशेष रूप से राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत है। इसका कारण यह है कि उस युग में देश के अन्दर एकमात्र गांधी का ही प्रभाव था और देश को एक ही धुन थी अर्थात् भारत को अंगरेजों के आधिपत्य से छुड़ा लेना। यह अभी दर्शन नहीं बना था क्योंकि गांधी की विचारधारा कार्यों के माध्यम से देश के सामने अभी आ रही थी। धीरे धीरे वह विचार के क्षेत्र में आई और उसने विचारधारा का स्वरूप अपनाया। गहराई में पहुँच गई। इस समय तक हमारे अन्दर मातृभूमि के सौंदर्य दर्शन की भावना का उदय हो चुका था। सांस्कृतिक पुनरुत्थान के प्रभाव ने प्राचीन संस्कृति के प्रति गौरव की भावना और वर्तमान के प्रति क्रोध की भावना पैदा कर दी। परिणामस्वरूप "भारत भारती" के कवि का उदय हुआ। चूंकि हमारी राष्ट्रीयता में द्वेष और घृणा का भाव नहीं था अतएव हमारे राष्ट्रीय साहित्य में अंगरेजों के प्रति द्वेष की भावना से उतनी नहीं मिलती जितनी अपनी दुर्दशा का ज्ञान, प्राचीन गौरव और उत्थान के प्रति मोह, और तुलना के परिणामस्वरूप आचरण, उपबोधन, उत्थान, आत्मस्वरूप की अनुभूति और अपनी कमजोरियों को मिटाने की ललकार। हमारे देश-प्रेम ने भारत की भूमि को "माता" के "देवी" के स्वरूप में देखा। इसका पहला स्पष्ट उल्लेख स्वामी रामतीर्थ ने किया। हमने जनता को जनार्दन कहकर पुकारा। इस राष्ट्रीय भावना का प्रवेश प्राचीन विषयों में संबंधित कविताओं में भी हुआ और सत्यनारायण कवि रत्न ने "अमर गीत" में ब्रजप्रवेश की मातृभूमि के रूप में देखा जिसकी प्रतिभूति यही

जसोदा । पं. रामनरेख त्रिपाठी को 'स्वप्न' नामक काव्य में स्वदेश भक्ति की भावना अभिव्यक्त हुई है । काका मगवानदीन की कविताओं में भी यही भावना मिलती है कि 'वीरों का सुख गान है अभिमान कलम का' । द्वारका प्रसाद मिश्र ने 'कृष्णायन' में भी ^{रसी} राष्ट्र भावना की किसी न किसी प्रकार अभिव्यक्त की है । डा. केसरी नारायण शुक्ल ने लिखा है, "राष्ट्र जीवन की विवशता और उसके उत्साहपूर्ण बलिदान की झलक" (और) धमन चक्र और दरिद्रता के परिणामस्वरूप जो निराशा जानी उसकी अभिव्यक्ति प्रायः सभी छायावादी कवियों की रचनाओं में मिलती है ।" निराला की कविताओं में तो देश का तत्कालीन जीवन और उसकी संस्कृति पूर्णरूप से अभिव्यक्त हुई है उनकी प्रारंभिक और छायावादी कविताओं में राष्ट्रीयता का संस्कार विद्यमान है । "जागो फिर एक बार" की अन्तःप्रेरणा राष्ट्रीय है । राष्ट्रीय प्रभाव ने हमारी कविताओं को वैतालिक के स्वर और योद्धाओं के सिंहनाद का स्वरूप दे दिया है । हमारी छायावादी कविता पर भी गांधीवाद का प्रभाव पड़ा है । दोनों का दर्शन एक ही है अर्थात् सर्वात्मवाद । गांधीवाद के दार्शनिक और नैतिक पक्ष की अनुभूति ने सियारामस्वरण गुप्त को हिंदी का एकमात्र विद्युद्गु गांधीवादी कविवर्र बना दिया है । शेष कवि भी गांधीजी से भिन्न भिन्न प्रकार की प्रेरणाएं ले लेकर कविताएं लिखते रहे । सुमित्रानंदन पंत ने लिखा है कि गांधी के संसर्ग में मुझे सदैव आत्मबल तथा आत्म विश्वास मिला है । इसकी अभिव्यक्ति पन्त की उन कविताओं में हुई है जो "ज्योत्स्ना" और "ग्राम्या" के बाव लिसी गई हैं ।

राष्ट्रीयता और हिन्दीभाषा

जब हिन्दी फिर एक बार फिर से विद्रोह कीभाषा, विद्रो-
हियों की भाषा, देशभक्त की भाषा और राष्ट्रीयता की भाषा हो गई तो

१. आधुनिक काव्यभारा का सांस्कृतिक स्रोत", पृ. १८९

२. "साठ वर्ष - एक रेखांकन", पृ. ६७ ।

इस और वैद्यभक्त राजनीतिज्ञों का भी ध्यान गया। इस बात का अनुभव किया गया कि यदि भारत को स्वतंत्र होकर एक राष्ट्र बनना है तो उसकी अपनी राष्ट्रभाषा होनी चाहिये। अनेक कारणों से यह निश्चित हुआ कि वह राष्ट्रभाषा हिन्दी ही होगी। यह निश्चित होते ही सभी के सभी वैद्यभक्त हिंदी अपनाने, पढ़ने, सीखने और लिखने के लिये तैयार होगये। तब यह आश्चर्य की बात नहीं रह गई यदि "हिंदी साहित्य सम्मेलन" की स्थापना की प्रेरणा राजेन्द्रप्रसाद ने दी और मालवीय जी ने उसको स्वरूप दिया तथा पुरुषोत्तमदास टंडन ने आजीवन उसका संरक्षण और मार्ग प्रदर्शन किया। तिलक, गांधी, पटेल, सुभाष आदि हिन्दी के शुभचिन्तक हुए। इन नेताओं ने हिंदी के प्रचार में अपना अपना महत्वपूर्ण योग दिया है। इसके परिणामस्वरूप नेताओं की प्रकृति की विभिन्नता के अनुरूप भाषा के विभिन्न स्वरूप सामने आये। नेताओं की रुचि और प्रकृति के अनुसार हिंदी को अनेक ढ़ैलियां मिलीं। राष्ट्रीयता के परिणाम स्वरूप संभवतः पहली बार हिंदी साहित्य में विभिन्न विषयों की पुस्तकें लिखी जाने लगीं। नेताओं ने हिंदी का भंडार अनेक प्रकार के विचारों और विचारधाराओं से समृद्ध करना प्रारंभ कर दिया। हिन्दी में अनुवाद कार्य पर विशेष ध्यान भी इसी का परिणाम है। चूंकि राष्ट्रीयता का स्वरूप अखिल भारतीय या अतएव हिंदी ने भी अखिल भारतीय स्वरूप अपनाना प्रारंभ किया और इस प्रकार आसाम से उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रांत तथा काश्मीर से कन्या कुमारी तक हिंदी चली गई। अब हिंदी का कार्यक्षेत्र कविता-कहानी अनाटक आदि से विस्तृत होकर साहित्येतर विषयों तक पहुंच गया। हिंदी प्रचार की योजनाएं बनीं और अखिल भारतीय स्तर पर उसकी परीक्षाएं आयोजित की जाने लगीं। तानवती वसंतर ने लिखा है, "वास्तव में हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि के लिये पचास वर्षों में जितनी प्रेरणा राष्ट्रीय भावना से मिली, इतनी संभवतः और किसी तत्त्व से नहीं मिली।" इसका मूल्यांकन उन्होंने बड़े ही

सुंदर ढंग से यों किया है, कि 'हिन्दी भाषा के इतिहास में राष्ट्रीय आंदोलन विशेषकर कांग्रेस के कार्यक्रम द्वारा, जो प्रोत्साहन मिला है, महत्व की दृष्टि से उसकी तुलना हम मध्ययुगीन भक्ति साहित्य (आन्दोलन ?) से ही कर सकते हैं ।' इसने हिंदी को पुस्तकें दीं, लेखक दिये, विषय दिये, प्रेरणाएं दीं, साहित्य दिया और साहित्य की प्रवृत्तियां दीं । हिंदी का कोई भी लेखक इससे अछूता न बचा - अलग न रह सका । आंदोलनों की असफलताएं साहित्यिक को अंतर्मुखी कर देती थीं और सफलता की आशा, मुखरित । दमन का आतंक ऐसे साहित्य को जन्म देता था जो छपते ही जळत हो जाय । उन पर विस्तार से बाद में लिखा गया किन्तु उस समय भी कभी न कभी कुछ न कुछ ऐसे साहित्य की रचना हो ही जाया करती थी ।

घटनाओं का साहित्य पर प्रभाव

राजनीतिक घटनाओं ने हमारे जीवन और मन को इतना आक्रांत कर दिया है कि हम किसी भी बात को अथवा किसी भी भावना को लेकर बहुत दूर तक और बहुत देर तक उलझे रहने - उसमें स्थित रहने में असमर्थ हो गये । घटनाएं हुई, हमारे अन्दर भावनाएं उठीं, प्रतिक्रिया हुई और कुछ दिनों में हम आगे बढ़ गये क्योंकि उसके समान या उससे अधिक प्रभावपूर्ण घटनाएं होने लगीं । हम नन्हें नन्हें भाव की छींटों से ही समाज को चीतल करने लगे । इसने एक और भावप्रधान लघु गीतों, लघु कथाओं, लघु निबन्धों और एकांकियों आदि की प्रवृत्ति पैदा की और दूसरी ओर थोड़े ही समय के अन्दर साहित्य की प्रवृत्तियां और धाराओं को बदलने में सहायता दी । बस-बस बारह-बासठ वर्षों की आयु के बादों का युग आया । ४० वर्षों के अन्दर हिंदी काठय ने छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के युग देखे । साहित्य के विषय भी जल्दी-जल्दी बदले । कभी हमने बंगाल के अकाल पर कविताएं और कहानियां

लिखीं और कभी सांप्रदायिक वर्गों पर। कभी आजाद हिंद फौज के वीरों पर साहित्य रचा गया और कभी गांधी जी की मृत्यु पर। कोई भी महत्वपूर्ण घटना ऐसी नहीं हुई जिसने कुछ न कुछ साहित्य न लिखा लिया हो किंतु ऐसा कोई भी साहित्य स्थायी मूल्य का नहीं हो पाया। महायुद्धों से प्रेरणा प्राप्त करके भी कवियों ने कविताएं लिखीं किंतु चूंकि उनका प्रभाव हिंदी प्रवेश पर सीधा नहीं पड़ा था अतः ये भी स्थायी न हो पाईं। ये कविताएं चारण कालीन कविता की भांति न तो पैरवी का गुल्य बन सकीं और न उनके किसी प्रकार की प्रेरणा ही मिली। द्वितीय महायुद्ध में सरकार ने आत्मा संघ के ढंग पर "आत्मा" लिखाया किंतु कहां आत्मा-ऊदल और कहां नौकर-सिपाही!! अंत में जन-माधना ने 'जन-साहित्य' के नारे को जन्म दिया।

अध्याय- 3

राजनीतिक प्रष्ठभूमि

(पृ० १८२ से २४० तक)

परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों का जोड़ा-जोड़ा -- विद्रोह की भावनाओं को दबाने में सरकार की सतर्कता -- दुर्दमनीय राजनीतिक घेतना -- संवैधानिक सुधार और उसके लिए होने वाले आन्दोलन -- अपूर्ण एवं अध्याप्त संवैधानिक सुधार -- राजनीतिक आन्दोलनों की प्रकृति और भाव-भाव -- साम्यवादी राजनीति -- साम्प्रदायिकता -- भारत और अंगरेजी राजनीति -- हमें किसने बताया -- राष्ट्रियता -- सुधारवादो आन्दोलनों का प्रभाव ।

राजनीतिक पृष्ठभूमि

परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों का झीड़ा क्षेत्र

रजनीपामवर्त^१ और राजेन्द्रप्रसाद^२ का विचार है कि आधुनिक आधुनिक भारत समस्त विश्व का लघुतम संस्करण हो गया है। संसार की सभी प्रकार की प्रवृत्तियाँ भारत में मिल जाती हैं। हमारी सम्पत्ति और साधन तथा हमारा जीवन और श्रम लोलुपों के हस्तक्षेप, छूट, आक्रमण और अन्ततो-गत्या वासता के लक्ष्य रहे हैं। हमारे देश में एक प्राचीन एवं ऐतिहासिक सम्यता के मन्नावशेषों के बीच, जो आधुनिक विजेताओं के अस्हनीय बोझ के नीचे दब कर सांस नहीं ले पा रही है, आधुनिक ढंग का शोषण, निम्नतम कौटि की अर्थव्यवस्था, गरीबी और गुलामी है। जावकाओं से मुक्त कृषि, अकाल, ऋण, वास्तव्य जाति व्यवस्था के बन्धन, छूतछात की घुंस्लापें औद्योगिक शोषण, धन का असम एवं विषम वितरण, घटिया किस्म की अमीरी और घटिया किस्म की ही गरीबी, धार्मिक और सामाजिक संघर्ष, वर्गसंघर्ष आदि विश्वजनीन समस्याएँ भारत में साबात हैं। इसका कारण सोजने पर हमें सुमित्रानन्दन पंत के शब्दों में यही कहना पड़ता है, 'मैं जानता हूँ कि यह हमारी दीर्घ पराधीनता का दुष्परिणाम है।'^३ अस्तु, इस पराधीनता को मिटाना हमारी इस अर्ध सताछपी की समस्त क्रियाशीलताओं का लक्ष्य एवं प्रेरणा-स्रोत रहा है और ऐसा न होने देना सरकार और उसके अनुयायियों की। राजनीति का क्षेत्र इन परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों का प्रधान 'झीड़ा क्षेत्र' रहा है। इसका उल्लेख व्याप्य-व्यापक का संबंध है।

१. 'इंडिया टुडे', की भूमिका

२. 'पदटापि सीतारामैया के 'कांग्रेस का इतिहास' की भूमिका।

३. 'ज्वारा', पृ. १२।

विद्रोह की भावनाओं को दबाने में सरकार की स्तर्कता

यद्यपि स्पष्ट रूप से पूर्ण राजनीतिक स्वतंत्रता की मांग हमने १९२९ ई. में की किन्तु इस मांग का बीज हमारे हृदयों में अनन्त काल से पड़ा था और उसका एक भयानक विस्फोट १८५७ ई. में हुआ जो प्रतिकूल परिस्थिति पाकर एक बार फिर दब गया था। यह एक आग थी जो भीतर ही भीतर धधक रही थी। उसकी लपटों के विस्फोट को रोकने का प्रयत्न सरकार बराबर करती रही। लपटें बाहर निकलने के लिये भट्ठी की भिड़टी को फोड़ कर छेद कर लिया करती हैं और भट्ठी वाला उस छेद को गीली भिड़टी से बन्द कर दिया करता है। यह क्रम दोनों में से किसी एक की समाप्ति तक बराबर चला करता है। ठीक इसी प्रकार कुछ छूट, कुछ सुविधाएं और कुछ छोटे-मोटे राजनीतिक अधिकारों की गीली भिड़टी से सरकार हमारे राजनीतिक असंतोष की ज्वाला की जिह्वा को मुक्ति देने से रोक करती थी। हमारे राजनीतिक असंतोष को सरकार पूरी तरह समझती थी किन्तु वह न तो हम पर विश्वास कर पाती थी और न हमारी योग्यता पर। कल्पित स्वार्थ और साम्राज्यवाद की क्रियाशीलता की प्रवृत्ति ऐसी ही होती है।

दुर्घमनीय राजनीतिक चेतना

१८५७ ई. में अंगरेजों ने हमारे साथ क्रूरता करने में कोई कसर उठा नहीं रखी किन्तु स्वाधीनता की हमारी मांग एवं पराधीनताजन्य हमारा असंतोष मिटा नहीं। हम भीतर ही भीतर उबल रहे थे जिसकी अभिव्यक्ति समय समय पर हो जाया करती थी। अंगरेज इस बात को जान गया था कि वातावरण खतरनाक हो रहा है, विद्रोह की प्रत्यक्षकारी आंधी के आने के पहले की भयानक शांति वाला बुद्धि वातावरण है, असंतोष के आवेग से सारा देश प्रकंपित हो रहा है, और यदि कुछ किया न गया तो इस ज्वालामुखी के

विस्फोट में सरकार जलकर तलक हो जायगी। वह अपनी कमजोरी - कमजोरी स्थिति - को भी जानता था। शंकर कृष्णराव जाधवकर ने लिखा है, "जिन अंगरेज अधिकारियों ने हिन्दुस्तान पर कब्जा कर लिया था वे भी इस तथ्य से वाकिफ थे। वे कहते थे, 'हमने भारत को नहीं जीता है। मोहवश वह हमारे आधीन हो गया है। जब अपनी असली ताकत का पता उसे चल जायगा तब एक पल भर के लिये भी उसे अपने काबू में हमारे लिये असंभव है। लाख डेढ़ लाख लोग बीस बाइस करोड़ की संख्या वाले किसी राष्ट्र को सदा के लिए अपने आधीन नहीं रह सकते।'¹ परिणाम स्वरूप एक चतुर अंगरेज हथुम ने १८८५ में कांग्रेस की स्थापना की। कांग्रेस मिल की एक चिमनी की तरह थी जिसका लक्ष्य था विद्रोह के धुएँ बांध कर ऊपर हवा में उड़ा देना। सरकार ने हमारी राजनीतिक चेतना और हमारे राजनीतिक असंतोष को कभी भी स्नेह और सहानुभूति की दृष्टि से नहीं देखा क्योंकि वह जानती थी कि थोड़ा घास से प्रेम करे तो साय कया? हमारी राजनीतिक चेतना का स्वरूप यह था कि हम अपने देश की राजनीतिक लक्ष्य, उसकी विद्या और उसके स्वरूप के निर्णय में अपना हाथ चाहते थे और इसी के अनुरूप हमारे राजनीतिक असंतोष का स्वरूप यह था कि भारत पर राज्य करने में भारतवासियों का अधिकाधिक हाथ नहीं रहता, इसमें उन्हें सहयोग करने का अवसर नहीं दिया जाता और प्राथमिकता और महत्व विदेशियों - विशेष रूप से अंग्रेजों - को दिया जाता है। महत्वपूर्ण पद उनके लिये थे और अधिकाधिक वेतन उनके लिये थे। वे मालिक और हम नौकर थे जबकि उन्हें नौकर और हमें मालिक होना चाहिये था। निश्चित था कि इसका अंतिम परिणाम 'अंगरेजों का भारत छोड़ना' था। अंगरेज जानता था कि भारतीयों एक दिन यही माँग करेगा। लार्ड मॉर्ले ने अपने एक व्याख्यान में कहा था कि सुधारों की स्पर्शा बनाते समय

हमें तीन प्रकार के लोगों को अपने सामने रखना पड़ता है जिनमें से कुछ ऐसे शक्की हैं जो एक दिन हमको भारत से निकाल मगाने की मूर्खतापूर्ण स्वप्न देखते हैं। दूसरे वर्ग में ऐसे लोग आते हैं जो उपनिवेशों के ढंग के स्वशासन या स्वाधीनता की आशा करते हैं। औपनिवेशिक स्वराज्य चाहते हैं।

तीसरे वर्ग के लोग हमारे ^{प्रशासन} प्रशासन में अपना सहयोग देना चाहते हैं और जनता की आवाज जोरदार ढंग से प्रभावशाली शैली में और स्वतंत्रता के साथ हम तक पहुंचाना चाहते हैं। मेरा विश्वास है कि सुधारों का उद्देश्य दूसरे प्रकार के लोगों को तीसरे वर्ग में ला देना है।

संवैधानिक सुधार और उसके लिये होने वाले आंदोलन

१८९२ ई. में पार्लियामेंट ने एक नया इंडिया काउंसिल अधिनियम बनाया जिसके अनुसार विधान परिषदों का अधिकार क्षेत्र बढ़ा दिया गया था। कुछ शर्तों और प्रतिबंधों के साथ ये परिषदें अर्थ-सम्बन्धी वार्षिक बजट पर विचार विनिमय कर सकती थीं। जनता के हित संबंधी बातों पर परिषद के सदस्य सरकार से प्रश्न पूछ सकते थे जिसके लिये ६ दिनों पूर्व सूचना देनी होती थी। सभापति बिना कारण बताये ही किसी प्रश्न का पूछा जाना रोक सकता था। विषय-क्षेत्र पर भी गवर्नर जनरल या गवर्नर प्रतिबन्ध लगा सकता था। सुप्रीम कोर्ट में अतिरिक्त सदस्यों की संख्या १० से १५ के बीच तथा बम्बई और मद्रास में ८ से २० तक हो सकती थी। बंगाल की संख्या २०, अवध तथा उत्तर पश्चिमी प्रान्त के लिये १५ थी। अतिरिक्त सदस्यों की २/५ संख्या गैर सरकारी होती थी। सरकार ने नियम की सीमा के भीतर ही भारत में चुनाव की आशा दे दी थी फिर भी ये निर्वाचित सदस्य सरकार द्वारा नियुक्त किये जाने पर ही अपनी सीट पर बैठ सकते थे। इस अधिनियम से दो ही महत्वपूर्ण बातें हुई - निर्वाचनप्रणालि का अपनाया जा और कार्यकारिणी पर विधान परिषदों का आधिक

नियंत्रण - नहीं तो, यह अधिनियम मुझे तो ऐसा ही लगता है मानों कोई दूर एवं निरंकुश व्यक्ति किसी से सीधे बोलने लगा हो अथवा यह कह दिया कि तुम बोल सकते हो किन्तु बोलने के पहले मुझसे पूछ लेना अनिवार्य है क्योंकि तुम बोलना नहीं जानते। स्पष्ट था कि यह अधिनियम व्यवहार में जानेपर बड़ा ही सौसला सिध होता। स्पष्ट था कि यद्यपि अंग्रेज भारत में धीरे-धीरे उत्तरदायित्वपूर्ण शासन लागू करने का नाटक कर रहे थे किन्तु वे भारतीय स्वराज्य के शत्रु थे और वे लार्ड कर्जन के अनुसार ही यह मानते थे कि भारत-वासी कोई भी उत्तरदायित्वपूर्ण पद संभालने की योग्यता नहीं रखते और यदि अंग्रेजों की ओर से भारतीयों के हाथों में अधिकार सौंपने की उदारता दिखाई गई तो वह मगवान की इच्छा के प्रतिकूल होगी। परिणामतः एक ओर जापान की रूस पर विजय, आयरलैंड की स्वतंत्रता, रूस के स्वातंत्र्य आंदोलन की सफलता, मिस्र के राष्ट्रीय आंदोलन, सर्व-इस्लामवाद के आंदोलन, नये चीन की गतिविधि, १९०६ के चुनाव में उदारदल की जीत भारतीयों की धुरंधरा और उनके प्रति होने वाले दुर्व्यवहार, भारतीयों के क्रोध और इन सबके परिणामस्वरूप हमारी विद्रोहात्मिकव्यक्तियों से डर कर अंग्रेज अधिकारी हमारी भावनाओं को खाने के लिये हमारे दमन पर कटिबद्ध हो गये और दूसरी ओर हमारी राष्ट्रीयता को लंगड़ा करने के लिये १९०६ ई. में मुस्लिम लीग की स्थापना कर दी। इसकी प्रतिक्रिया यह हुई कि अपने राजनीतिक अधिकारियों को मांगने का हमारा ढंग, प्रकार और अन्दाज - सब बदल गया। दमन का आतंकवाद से अर्थात् हत्याएं करके, बलात् किसी योजना को लावने का उत्तर संगठित आंदोलन से, वक्तव्यों का उत्तर वक्तव्यों से तथा कानून का उत्तर उसकी कटु आलोचना से ^{देना} प्रारंभ किया ^{गया}। नरम कांग्रेस गरम हो गई और नरम-गरम धर्मा में बंट गई। शासकों को कुछ और झुकना पड़ा और १९०६ ई. की इंडिया कॉमिल अधिनियम बना जिसके सुधार मिंटो-मार्ले सुधार कह-

लाए। इसके अनुसार विधान परिषदों के सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई।
गवर्नर जनरल की परिषद के सदस्यों की अधिकाधिक संख्या ६०, मद्रास, बंगाल
यू.पी., बम्बई, बिहार और उड़ीसा की ५०, पंजाब, बर्मा और असम की
३०, झाड़ी विधानपरिषद में सरकारी सदस्यों की ३७ और गैर सरकारी
सदस्यों की ३२ हो गई। झाड़ी विधान परिषद के २८ सरकारी और ५ गैर
सरकारी सदस्यों की नियुक्ति गवर्नर जनरल के हाथ के बात थी। सरकारी
सदस्यों में से श्रेण ९ में १ गवर्नर जनरल, परिषद के ७ सामान्य सदस्य और
एक कोई असाधारण सदस्य होता था। परिणामतः (३७ + ३२) ६९ में से
४२ सरकार के अपने आदमी हो गये। उत्तरदायी शासन के नाटक का एक
स्वरूप यह था। प्रान्तीय विधान परिषदों के अधिकांश सदस्य यद्यपि गैर-
सरकारी थे परन्तु चूंकि बहुत से गैर सरकारी सदस्यों को गवर्नर नामजद करता
था इसलिये वहां भी सरकार के सदस्यों का ही बहुमत रहता था। भारत में
सरकार क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व के त्याग पर भिन्न भिन्न वर्गों एवं विभिन्न
स्वार्थ वालों का विभिन्न प्रतिनिधित्व विभिन्न भारतीय विधान मंडलों में
करवाना अधिक ठीक समझती थी। जैसे मुसलमानों का अलग, जमींदारों का अलग
व्यापारियों का अलग इत्यादि। इससे पृथक् निर्वाचन या विशेष निर्वाचन
की नींव पड़ी। एक को अनेक में बांट कर उस अनेक के एक-एक को स्वतंत्र मान
लेना और उन्हें स्वतन्त्र एवं पृथक् व्यक्तित्व के अधिकारों के योग्य अनुष्ठात
करना ब्रिटिश साम्राज्य की एक प्रमुख नीति यदि राजनीतिज्ञों रही, जैसा
कि ऊपर के विवरण से स्पष्ट है, तो अन्य क्षेत्रों में भी थी। आधुनिक भार-
तीय आर्यभाषाओं के वर्गीकरण में त्रिसंस्कृत की ज्ञात या अज्ञात रूप से यही
नीति प्रतीत होती है। कुछ भी हो, विधान परिषदों के काम बढ़ा दिये गये।
झाड़ी विधान परिषद में वित्तीय विवरण (बजट) के वाद-विवाद संबंधी
नियमों बना दिये गये। कर लगाने, कर-परिवर्तन, कृष लेने, प्रस्तावित
स्वायत्त शासन या स्थानीय सरकार को अतिरिक्त सहायता देने आदि के संबंध

मैं प्रस्ताव उपस्थित कर सकने का अधिकार सदस्यों को दिया गया। कृषि के
 व्याज, धार्मिक व्यय या रेल आदि के विषय पर विवाद कर सकने का अधि-
 कार नहीं दिया गया। किसी विशेष दृष्टिकोण को और अधिक स्पष्ट करने
 के लिये प्रश्न या पूरक प्रश्न पूछने का अधिकार तो दिया गया किन्तु देने या
 न देने की स्वतंत्रता उस विभाग के सदस्य को दे दी गई। सदस्यों को प्रस्ताव
 उपस्थित करने का अधिकार दिया गया और समापति को यह अधिकार दिया
 गया कि वह पूरे प्रस्ताव को या उसके किसी अंश को सकारण या अकारण ही
 रोक दे। जनता के सामान्य हितों के विषय में वाद-विवाद होने सकने के संबंध
 में भी नियम बना दिये गये। अधिकार देने के विचार की इससे अधिक मंटेती
 ही भी क्या सकती थी! इसको हम यों समझें कि कोई कहे कि हम आपको
 अधिकार देते हैं किन्तु अमुक अमुक बातों पर आप नहीं बोल सकते, आप बोल
 तो सकते हैं किन्तु वहस नहीं कर सकते, आप वहस तो कर सकते हैं किन्तु हम
 उत्तर न देने के लिये स्वतंत्र हैं, और आप प्रार्थना कर तो सकते हैं किन्तु आपके
 प्रार्थना पत्र को रद्दी टोकरी में फेंकने के लिये हम स्वतंत्र हैं। किया गया
 उत्तरदायी ज़ासन देने का वादा और हमको दी गई उदार-हृदय तानाशाहि!
 कहा गया 1000 पौंड का चेक देने को और दिया गया जाली चेक! पृथक् निर्मा-
 चन पद्धति के परिणाम स्वरूप, पं. जवाहरलाल नेहरू के छब्बीस में, भारतीय
 मुसलमानों के चारों ओर एक घेरा डाल दिया गया जिसने उनको छेप भारत
 से अलग कर दिया - स्नेह ऐतिहासिक ब्रुतियाँ की दिया मोड़ दी। कन्हैया
 लाल माणिक लाल मुंजी ने इसे पनपती हुई प्रजातंत्रात्मक पद्धति की पीठ में
 दुरा मौकना कहा है। गांधी जी ने कहा था कि इस सुधार ने हमें मिटा
 दिया। इस पैक्ट के द्वारा देश में अंगरेजों के पिद्दू वर्ग के निर्माण की प्रेरणा
 मिली। माले साहब को देशभक्तों को देशप्रोहियों में बदल देने के कार्य में -
 अर्थात् दूसरे वर्ग की तीसरे वर्ग में बदलने में भी इन सुधारों से कोई सहायता
 न मिली। यह प्राणहीन प्रेत था। कुछ आन्तरिक और कुछ बाह्यकारणों से

मुसलमान भी अंगरेजों से असन्तुष्ट हो चले। १९१५ में तुर्की और जर्मनों का एक बल काबुल आया और वहाँ उससे औबैदुल्ला मुहम्मद अली आदि भारतीय मुसलमान मिले और अंगरेजों को निकालने की योजना में लग गये तथा एक अस्थायी भारत सरकार की रूपरेखा बना डाली। मुस्लिम लीग ने भी अपना दृष्टिकोण बदला और १९१६ में दोनों ने अंगरेजों के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चा बना लिया। अंगरेजों की रंग भेद की नीति हमें बहुत चुपती थी। युद्ध काल मेंही आयरलैण्ड की समस्या सुलझाने वाला अंगरेज हमारी मांग पर युद्ध-व्यस्तता का बहाना कर करके हमें और भी विबुध कर रहा था। कुछ अंग्रेज अधिकारियों के मूर्खतापूर्ण वक्तव्यों से भी यह कटुता बढ ही रही थी। इस सभाचार ने कि अंगरेज युद्ध के बाद अपने साम्राज्य का एक संघ बनाएंगे और इस प्रकार हम भारतीयों अन्य उपनिवेशों के भी दास बना दिये जायेंगे, हमें और भी उत्तेजित कर दिया। भारतीय लार्ड क्रिची के इस वक्तव्य ने कि वे अपने से भिन्न नस्ल वाले लोगों को अपने संसद के नियन्त्रण से मुक्त करके स्वायत्तता देने की प्रयोगात्मक स्थिति में भी लाने की तैयार नहीं, नरम बल वालों को भी अंगरेजों के विरुद्ध कर दिया। बड़ी सन्धी से क्रांतिकारियों के मुकदमों करने और उसके निर्णय की अपील न होने देने की संभावना ने हमें और भी क्रुद्ध कर दिया। देश-विदेश में क्रांतिकारी संगठन बनने लगे। क्रांतिकारी आन्दोलन ठौर-ठौर भारत में तेजी से फैलने लगा। होमरूल लीग ने भी भारत को एक करेला। वायसरॉय बनने के बाद लार्ड चेम्सफोर्ड इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ब्रिटिश साम्राज्य के अधिन्न भाग के रूप में स्वायत्त भारत अंगरेजी शासन का लक्ष्य है जिसकी पूर्ति तीन प्रकार से की जा सकती है (१) नगरों, कस्बों गाँवों आदि क्षेत्र में स्वायत्त शासन की स्थापना का अधिकार प्रदान करके भारतीयों को शासन करने की ट्रेनिंग देकर और उनमें उत्तरदायित्व की भावना विकसित करके, (२) भारतीयों को उत्तरदायित्वपूर्ण पदों पर नियुक्त करके, और (३) विधान मण्डलों का विकास करके। १९१७ में 'मोन्टेग्यू-चेम्स भारत सचिव हुए। इसी बीच

मद्रास की एक संस्था ने, जिसका नाम मद्रास पार्लियामेंट था, "कामनवेल्थ आफ इंडिया" नामक एक संविधान बनाया। पंजाब चीफ्स एसोसिएशन ने पंजाब के लेफ्टिनेन्ट गवर्नर के पास भारत में युद्धोत्तर सुधारों की रूपरेखा का एक स्मरण पत्र भेजा। जब सितम्बर १९१६ में साही विधान मण्डल की श्रमिका में बैठक हुई तो उसके सदस्यों ने इस बात पर खीम प्रकट किया कि भारत सरकार ने उनसे परामर्श किये बिना अपने प्रस्तावित सुझाव भेज दिये थे। परिणामतः इस विधान परिषद् के १९ निर्वाचित सदस्यों में, जिनमें जिना, सुरेंद्र नाथ बनर्जी, श्री निवासदास्त्री आदि थे, स्वतंत्र रूप से एक स्मरण पत्र भेजा। १९१६ के दिसम्बर में सुप्रसिद्ध कांग्रेस लीग स्कीम निकली। स्मरण पत्र में कहा गया था, "भारत को एक अच्छे शासन की ही आवश्यकता नहीं है वरन् उस सरकार की भी आवश्यकता है जो जनता को मान्य हो और जिसका जनता के प्रति उत्तरदायित्व हो। यद्यपि युद्ध के पश्चात् भी व्यावहारिक रूप से भारत की बही स्थिति रहती है जो युद्ध के पूर्व थी तो समान संकट के विरुद्ध भारत और इंग्लैंड के समान प्रयत्नों का अपूर्ण आश्वासनों की दुःसमयी स्मृति के अतिरिक्त और कोई परिणाम न होगा।" लार्ड विलिंग्डन के कहने पर १९१५ ई. में गौसले ने उन सुधारों की एक रूपरेखा बनाई थी जो युद्ध के बाद भारत में किये जायें। इसे "गौसले का राजनीतिक टेस्टामेन्ट" कहते हैं। राउन्ड टेबुल ग्रुप की स्थापना १९०६ ई. के लगभग दक्षिण अफ्रीका में हुई थी। वहाँ उसे जो सकलता मिली उससे उत्साहित होकर उसने न्यूजीलैंड, आस्ट्रेलिया और कनाडा का भी प्रमण किया। "कामनवेल्थ आफ नेशन्स" के द्वितीय भाग को लिखते समय उन्हें भारतीय समस्याओं पर भी विचार करना पड़ा। कुटिंस महोदय की प्रार्थना के अनुसार सर विलियम ड्यूकने, जो बंगाल के लेफ्टिनेन्ट गवर्नर रह चुके थे और जो इस दल के सदस्य भी थे, दल के सम्मुख अपना सुप्रसिद्ध-स्मरण पत्र रखा। भारतीय समस्याओं का अध्ययन करने कुटिंस १९१६ ई. में भारत पधारे।

कुछ कारणों से उनके सम्बन्ध में यह धारणा बन गई कि वे भारत देश की आशाओं और महत्वाकांक्षाओं को नष्ट करने के पथ्य में लगे हैं। इसी बीच उन्होंने अपने सुधारों की रूपरेखा बनाई। उनके विचारों ने भारत के मातृ शासन विधान को बहुत अधिक मात्रा में प्रभावित किया। भारत के प्रति मांटेग्यू का दृष्टिकोण अपेक्षाकृत अधिक उदार था। २० अगस्त १९१७ को उन्होंने घोषणा की कि सम्राट और उनके सरकार की नीति यह है कि भारतीयों को प्रशासन के सभी विभागों में अधिकाधिक सहयोग देने का अवसर मिले और स्वशासित संस्थाओं को धीरे धीरे विकसित किया जाय जिससे ब्रिटिश साम्राज्य के अधिसाम्राज्य अंग की स्थिति या हैसियत में ही भारत के अन्दर उत्तरदायित्व पूर्ण सरकार की स्थापना का आदर्श प्रगतिशील रूप में धीरे धीरे कार्यान्वित किया जा सके। यह कार्य क्रम से ही हो सकता है। कब, कैसे और किन किन ढंगों से ऐसा होगा - इसका निर्णय ब्रिटिश सरकार और भारत सरकार ही करेगी। इसमें दूसरों की राय अवश्य ली जायगी। मांटेग्यू महोदय की इस घोषणा से भारतवर्ष के राजनीतिक इतिहास में एक युग की समाप्ति और दूसरे युग का प्रारम्भ होता है। मांटेग्यू महोदय एक शिष्ट मण्डल के साथ भारत आये और ५½ महीने भारत-भ्रमण करके तथा बहुतों से विचार-विनिमय करके लन्दन वापस गये। कुछ दिनों के पश्चात् उनकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई। नरम दल वालों ने इस रिपोर्ट का स्वागत किया और गरम दल वालों ने विरोध। भीमती एनी बेसेन्ट ने कहा कि ये प्रस्ताव ऐसे नहीं हैं जिन्हें इंग्लैंड जैसा देश हमारे सम्मुख रखे या जिन्हें हम स्वीकार करें। तिलक ने इसे 'पूर्णतः अस्वीकार्य' कहा। कांग्रेस ने कांग्रेस-लीग समझौते पर ही फिर अपना विश्वास प्रकट किया। १९१८ के दिसम्बर में कांग्रेस ने फिर अपने कुछ प्रस्ताव उपस्थित किये। मन्ट-फोर्ड योजना ने कांग्रेस के नरम और गरम दलों में स्थायी रूप से मतभेद उपस्थित कर दिया। २ जून १९१९ को श्री मांटेग्यू ने अपना भारत

सरकार विधेयक उपस्थित कर दिया। उसकी मुख्य बातें इस प्रकार थीं:-

(१) भारत सचिव का वेतन इंग्लैंड के राजस्व से दिया जायगा। भारत सचिव के कुछ कार्य उससे लेकर भारत के हाई कमिश्नर को दे दिये गये जिसकी नियुक्ति भारत - सरकार द्वारा होनी थी और जिसका वेतन भी भारत सरकार द्वारा दिया जाना था। उसे गवर्नर जनरल और उसकी परिषद के अधिकर्ता (एजेंट) के रूप में कार्य करना था। कुछ विभाग भी उसके अधीन हो गये। प्रांतीय क्षेत्र के स्थानान्तरित विभागों में भारत-सचिव के अधिकार कम कर दिये गये। भारतीय विषयों का अधीक्षण, निर्देशन और नियन्त्रण भारत सचिव के ही हाथों में रहा। उसकी आत्ताओं का पालन गवर्नर जनरल का कर्तव्य था।

(२) केन्द्र में दो सदनों वाली व्यवस्थापिका सभाएं स्थापित होनी थीं - एक केन्द्रीय विधान सभा और दूसरी राज्य परिषद्। राज्य परिषद् के ६० सदस्यों में से ३३ निर्वाचित और २७ नामजद अर्थात् मनोनीत और केन्द्रीय विधान सभा ^{के} १४५ सदस्यों में १०३ निर्वाचित और ४२ मनोनीत होने थे। निर्वाचन क्षेत्र का आधार पूर्ववत् स्थापित ही रहा, क्षेत्रीय न हो सका।

(३) केन्द्रीय विधान सभा की आयु ३ वर्षों की और राज्य परिषद की ५ वर्षों की रखी गई। कार्यकाल को बढा देने का अधिकार गवर्नर जनरल को दिया गया।

(४) दोनों सदनों के लिये प्रत्यक्ष निर्वाचन करवाने का निर्णय किया गया।

(५) मत देने का अधिकार सबको नहीं दिया गया। उसके लिये आयका आय, लगान या सार्वजनिक कार्यों के शुभव आदि की छतें लगा दी गईं।

(६) गवर्नर जनरल को भवन की बैठक बुलाने, बढाने और मंग कर सकने का अधिकार दे दिया गया। उसे दोनों सदनों के सदस्यों के सम्मुख भाषण देने का भी अधिकार था।

(७) केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभाओं को बहुत ही व्यापक अधिकार थे। वह पूरे भारत केलिये विधान बना सकती थी, बने विधान को मंग कर सकती थी या उसमें परिवर्तन कर सकती थी। केवल उच्च न्यायालय को मंग कर सकने और इंग्लैंड की संसद द्वारा लिखित या अलिखित विधान आदि पर उसका कोई अधिकार नहीं था। अनेक महत्वपूर्ण विषय ऐसे थे जिनसे संबंधित विधेयक उपस्थित करने के लिये गवर्नर जनरल की पूर्व अनुमति आवश्यक थी। पारित प्रस्तावों पर सम्राट की स्वीकृति अनिवार्य थी। गवर्नर जनरल, भारत सचिव संसद और अंगरेजी राज्य को सामने रखकर भारत में जो चाहे सो कर सकता था। उसका अपना मूल ही कानून था। उसके द्वारा लगाये गये अध्यादेश कानून की ही तरह मान्य थे। आवश्यकता पडने पर गवर्नर निषेधाधिकार का भी प्रयोग कर सकता था।

(७) कित्तीय विवरण में कुछ मर्दे ऐसी भी थीं जो मतदान की सीमा के परे थीं। मतदान की सीमा के अन्दर आने वाली मर्दों पर भी गवर्नर जनरल को स्वेच्छापूर्वक निर्णय लेने का अधिकार था। वह अपारित को पारित और पारित को अपारित कर सकता था। कार्यकारिणी पर व्यवस्थापिकाओं का कोई भी अधिकार नहीं था।

(८) लोगों ने सही कहा है कि केन्द्रीय सरकार उत्तरदायित्वशील तो थी किन्तु उत्तरदायित्वपूर्ण या उत्तरदायी नहीं थी।

(९) विषयों को केन्द्रीय और प्रान्तीय दो मार्गों में विभाजित कर दिया गया था। सिद्धान्त यह था कि जिनका संबंध अनेक प्रांतो से हो वे

केन्द्रीय और जिनका एक प्रांत से हो वे प्रान्तीय। अवशिष्ट विषयों को भी केन्द्रीय और प्रांतीय भागों में विभाजित किया ^{गया} था। विभाजन सुस्पष्ट और सुनिश्चित कभी नहीं रहा।

(१०) प्रांतीय विधान सभाओं की रूपरेखा विस्तृत कर दी गई। ७० प्रतिष्ठित सदस्यों का निर्वाचन अनिवार्य कर दिया ^{गया} था। सदस्यों के कार्यक्षेत्र और अधिकार भी बढ़ा दिये गये। यह सब हुआ किन्तु इन सबको गवर्नर की इच्छा के अधीन कर दिया गया।

(११) प्रांतों में द्वैध शासन स्थापित कर दिया गया। इस प्रणाली के अनुसार प्रांतीय सरकारों के विषयों को दो भागों में विभाजित किया गया - रक्षित और हस्तांतरित या स्थानान्तरित। रक्षित विषय गवर्नर और उसकी कार्यकारिणी परिषद के अधीन कर दिये गये और हस्तांतरित विषय गवर्नर और उसके मंत्रियों के। परिषद के सदस्यों को मनोनीत और व्यवस्थापिका सभाओं के सदस्यों में से मंत्रियों का चुनाव गवर्नर ही करता था। जैसे केन्द्र में गवर्नर जनरल सर्वाधिकार संपन्न सर्वोत्तम था वैसे ही प्रांतों में गवर्नर था।

अपूर्ण एवं अपर्याप्त संवैधानिक सुधार

कहने की आवश्यकता नहीं कि ये सुधार भी पूर्णरूप से असंतोषजनक सिद्ध हुए। लक्ष्य की पूर्ति में इनके कारण बहुत असुविधाएं, कठिनाइयां और बाधाएं उपस्थित होती थीं। १९१९ के अपने वार्षिक अधिवेशन में कांग्रेस ने अंगरेजी सरकार से अनुरोध किया कि वह औप्रातिशील भारतवर्ष में उत्तरदायित्वपूर्ण स्वायत्तशासन की स्थापना की और कदम बढ़ाये और यह आश्वासन भी दिया कि इन सुधारों को कार्यान्वित करने में सहयोग दिया जायगा। इसका उत्तर सरकार ने रोलट ऐक्ट बनाकर दिया। इसकी प्रतिक्रिया में जब हमने ६ अप्रैल, १९१९ को हड़ताल किया तब जलियां वाला बाग और मार्शल ला

के कुकृत्यों से हमको जवाब दिया गया। भारत ने खिलाफत और सत्याग्रह का मार्ग अपनाया। सत्याग्रह बन्द्य किये जाने के पश्चात् स्वराज्य पार्टी ने व्यवस्थापिकासभाओं में सदस्य बनकर सरकार का विरोध इस क्षेत्र में भी किया। जांच के लिये आये हुए साइमन कमीशन का बहिष्कार किया गया। १९२८ में लार्ड बर्केन हेड की चुनौती के उत्तर में नेहरू रिपोर्ट प्रकाशित हुई जिसमें अंगरेजी साम्राज्य के अन्तर्गत स्थापित स्वराज्य की मांग की गई थी। इसी बीच इंग्लैंड में रैम्से मैकाडानल्ड की उदारवादी सरकार बनी। भारत को इस सरकार से बड़ी आशाएं थीं। १९२९ में देश की आन्तरिक उथल-पुथल बहुत बढ़ गई थी। इधर मजदूर सरकार से भी निराशा ही प्राप्त हुई। परिणामस्वरूप जब १९२९ में ही नमक आंदोलन प्रारम्भ हुआ तब सरकार ने सभी प्रकार के नैतिक एवं अनैतिक साधनों से हमारे आन्दोलन को कुचल डालने का जो कुर प्रयास किया उससे सारे देश में इस सरकार के प्रति अपूर्व एवं असाधारण घृणा पैदा हो गई। १९३० में साइमन कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित हुई जिसमें संघात्मक शासन, गवर्नर जनरल के पहले ही जैसे व्यापक अधिकारों, ब्रिटिश व भारत और रिवास्तों के प्रतिनिधियों द्वारा सम्राट से निर्मित एक भारतमंडल की स्थापना, आंतरिक मामलों में प्रांतों को पूर्ण स्वतंत्रता-प्रदान, मताधिकार में वृद्धि, सेना के खर्च, खर्च: भारतीयकरण आदि का सुझाव दिया गया। भारत ने इस रिपोर्ट को 'रद्दी टोकरी में फाड़कर फेंक देने योग्य' समझा। इसके बाद अंगरेज सरकार ने पहला गोलमेज सम्मेलन आयोजित किया जो कांग्रेस के असहयोग के कारण निरर्थक हो गया। बाद में गांधी-इरविन समझौते के परिणामस्वरूप कांग्रेस के प्रतिनिधि गांधी ने दूसरे गोलमेज सम्मेलन में भाग लिया। तब तक इंग्लैंड में अनुदार दल की सरकार बन चुकी थी और 'राष्ट्रीय आंदोलन के विरुद्ध रचा गया यह षड्यंत्र' भी असफल होकर रह गया। फिर भी इस सम्मेलन से संघीय न्यायपालिका, प्रान्तों तथा केन्द्र के बीच आर्थिक साधनों के विभाजन, संघीय व्यवस्थापिका के निर्माण, संघ में राजवाड़े^{on} सम्मिलित होने

आदि की रूपरेखा निश्चित हो गई। इधर राष्ट्रीय आंदोलन उग्रतर हुआ
 उधर मुस्लिम लीग के नेताओं ने नौकरशाही का साथ दिया। अंग्रेजों को
 और सांप्रदायिक मामलों को ध्यान में रखकर मेकडानल्ड ने अपना "साम्प्रदा-
 यिक परिनिर्णय" घोषित किया जिसके विरोध में गांधी जी ने अपना आभरण
 अनशन प्रारम्भ किया जो "पूना समझौते" के बावजूद टूटा। १७ नवम्बर १९३२ ई.
 को तृतीय गोलमेज सम्मेलन बुलाया गया जिसमें केवल ४५ प्रतिनिधियों ने भाग
 लिया। मार्च १९३३ ई. को सरकार ने अपना स्वतंत्र प्रकाशित किया जिसमें
 भारत के नये संविधान की रूपरेखा थी। यह अत्यन्त अनुपार तथा प्रतिक्रिया
 वादी था और था हमारी राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं का अपमान। भारत
 के विरोध के बावजूद भी ५ फरवरी १९३५ को भारत सचिव सैम्युएल होर ने
 यह विषयक उपस्थित कर दिया। यह अधिनियम एक लम्बा और पेचीदा
 विधान था। इसके अनुसार अखिल भारत संघ की स्थापना होनी थी जिसके
 अन्तर प्रांतों का सम्मिलित होना अनिवार्य था किंतु रियासतों के लिये - चाहे वे के
 चोटे बड़ी - स्वेच्छा की बात थी। सम्मिलित हो जाने के बाद उन्हें बाद में निकल
 सकने का अधिकार नहीं था। एक निश्चित संख्या में देशी राज्यों का संघ में
 सम्मिलित होना अनिवार्य था। देशी राज्यों को इस विषय में पूर्ण स्वतंत्रता
 थी कि वे अपने कौन से विषय और विभाग संघ को हस्तांतरित करें। किस
 राज्य के लिये संघ में कितनी सीटें होंगी इसका निर्धारण किसी एक सिद्धान्त
 पर आधारित नहीं था। कहीं उसका आधार था जन संख्या और कहीं महत्त्व
 और साम्राज्य के प्रति की गई पिछली सेवाएं। राज्यों को विशेष प्रतिनिधित्व
 भी प्रदान किया गया था। उनके सदस्य वासकों द्वारा मनोनीत होने थे।
 केन्द्रीय सरकार देशी रियासतों पर केवल दो ही प्रकार के कर लगा सकती थी
 - निम्न कर और आयकर पर विशेष अधिकार। राज्य के वासकों को निवेद्य
 अधिकार भी दिये गये थे जिससे वे संघ की सारी योजनाओंको नष्ट कर सकते
 थे। इस विधान के अनुसार द्वैधवादी प्रांतों से समाप्त करके केन्द्र पर लागू कर

दिया जाने वाला था। संघीय व्यवस्थापिका में दो सदन होने थे - संघ-
 सभा और राज्यपरिषद्। इन व्यवस्थापिकाओं की शक्तियां असाधारण रूप
 से सीमित थीं। संघीय न्यायालय के सभी न्यायाधीशों की नियुक्तियां सम्राट्
 द्वारा होनी थीं जिनको हटाने के लिये ब्रिटिश प्रिवी कौंसिल की राय अनिवार्य
 थी। भारत सचिव ^{की} भारत-परिषद् समाप्त होनी थी। उसके स्थान पर
 परामर्शदाताओं की एक परिषद् बननी थी। स्व विवेकानुसार कार्य करने के
 लिये गवर्नर जनरल और उसके माध्यम से गवर्नर जनरल भारत सचिव के प्रति
 पूर्ण रूप से उत्तरदायी थे। विशेष परिस्थितियों में गवर्नर जनरल निरंकुश शासक
 के समस्त अधिकार ग्रहण कर सकने के लिये स्वतंत्र था। यह संविधान अपरिवर्तनीय
 था। इसमें परिवर्तन केवल इंग्लैंड की सरकार ही कर सकती थी। प्रांतों
 को बहुत स्वतंत्रता थी किन्तु उस स्वतंत्रता का अपहरण करने के लिये गवर्नर को
 अधिकार थे। इसके अन्तर्गत गवर्नर जनरल, चर्चिल के शब्दों में, "एक हिटलर
 अथवा मुसोलिनी की सारी शक्तियां से सुसज्जित है। तन्कि-सा कलम धुमाकर
 वह सारे संविधान को छिन्न-भिन्न कर सकता है.....।" प्रांतों का गवर्नर
 मंत्रिमंडल तथा व्यवस्थापिका सभाओं के नियंत्रण से मुक्त था, बल्कि वे ही इस
 के नियंत्रण में थी। इस अधिनियम को लीग और कांग्रेस दोनों ने अस्वीकार
 कर दिया। जवाहरलाल नेहरू ने कहा कि यह संविधान एक ऐसी मशीन है
 जिसके ब्रेक तो बहुत मजबूत हैं मगर जिसमें इंजिन ^{ओई} भी नहीं। के. टी. राव
 ने कहा कि संघ की जड़ें सड़ी हुई हैं, ढांचा कुरूप है और ऊमरी सजावट और
 चित्रकारी भी घुणित है। सी. यादव, चिन्तामणि ने इसको "भारतविरोधी
 अधिनियम" कहा। पटेली के अनुसार इसकी मुख्य विशेषता थी "अविश्वास"।
 मदन मोहन मालवीय ने इस ढोल में पोल ही पोल बैसी। समुच्च यह उपयो-
 गिता दून्य आभूषण था। पता नहीं कि इसके निर्माताओं ने क्या सोच कर
 इसका निर्माण किया था। यदि उन्होंने भारतीयों का इतना भुल समझा हो
 कि वे इसके दोष समझने की भी बुद्धि नहीं रखते और इसलिये इसे स्वीकार

बने एमरी। यह भी घोषणा की गई कि एटलान्टिक चार्टर भारत के लिये नहीं है। युद्ध की परिस्थिति बिगड़ी और अंग्रेजों के जीवन - मरण का प्रश्न उपस्थित हो गया। तब ८ अगस्त १९४० को वायसराय लिनलिथगो ने एक वक्तव्य प्रकाशित किया। जिसकी मुख्य बातें ये थीं :- (१) गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी का विस्तार और एक युद्ध परामर्शदात्री समिति की स्थापना (२) ब्रिटिश सरकार " ऐसी किसी सरकार को सत्ता हस्तांतरित नहीं करेगी जिसके अधिकार को भारत के राष्ट्रीय जीवन का कोई बड़ा तथा शक्तिशाली अंग स्वीकार न करता हो।" तात्पर्य यह कि मुस्लिम लीग ^{के} समर्थन के बिना भारत के लिये कोई भी संविधान नहीं बन सकता और न कोई राष्ट्रीय सरकार बन सकती है। (३) युद्ध के बाद भारत अपना संविधान स्वयं बनायेगा (४) राष्ट्रमंडल के इस संकटकाल में वैधानिक समस्याओं पर कोई भी निर्णय न होगा। युद्ध के बाद भारत के प्रतिनिधियों का एक संगठन आयोजित होगा जो नये विधान का निर्माण करेगा। उस समय तक अंग्रेज सरकार देश की विभिन्न संस्थाओं को विधान के व्यापक सिद्धान्तों पर एकमत होने में सहायता करेगी। (५) इस अंतरिम काल में देश के सभी राजनीतिक पक्ष युद्ध-प्रयासों में सहयोग करें और भारत के लिये अंग्रेजी राष्ट्रमंडल में समानता का स्तर प्राप्त कराने में सहयोग दें।

इस प्रकार जब हमने पूर्ण स्वराज्य मांगा तब ये औपनिवेशिक स्वराज्य देने को तैयार और वह भी युद्ध के बाद। विफल होकर १० अक्टूबर १९४० को कांग्रेस ने व्यक्तिगत सत्याग्रह प्रारम्भ किया। मित्रराष्ट्रों के दृष्टिकोण से युद्ध की स्थिति अत्यंत गंभीर होने लगी। पूर्व में जापानी सेनाएं विजय पर विजय प्राप्त करने लगीं। भारतपक्ष भी सतारा बढ़ गया। तब अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति तथा प्रगतिशील देशों के साथ सक्रिय सहानुभूति की कामना से कांग्रेस ने व्यक्तिगत सत्याग्रह रोक दिया। चर्चिल और एमरी का

भी दृष्टिकोण कुछ बदला सत्याग्रही छोड़े जाने लगे २२ फरवरी १९४२ को अमेरिका के राष्ट्रपति ने घोषित किया कि एटलान्टिक चार्टर सारे संसार के लिये है। २७ फरवरी को आस्ट्रेलिया के विदेश मंत्री डा. इवाट ने भी भारतीय स्वतंत्रता का समर्थन किया। २३ मार्च १९४२ को सर स्ट्रैफोर्ड क्रिप्स अपना मिशन लेकर भारत आये। उन्होंने आते ही विभिन्न वर्गों के नेताओं से परामर्श करना प्रारंभ कर दिया। कई बार ऐसा लगा कि समझौता हो ही जायगा पर हुआ नहीं और २९ मार्च १९४२ को उन्होंने अपना प्रस्तावित घोषणा पत्र प्रकाशित किया :- (१) युद्ध के बाद स्वतंत्र भारतीय संघ का निर्माण हो जिसे पूर्ण उपनिवेश का स्तर प्रदान होगा और ब्रिटिश राष्ट्र संघ से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर सकने की भी इसे स्वतंत्रता होगी। (२) युद्ध के बाद एक भारतीय विधान निर्मात्री सभा का निर्माण होगा। उसके बनाये हुए विधान को ब्रिटिश सरकार तभी स्वीकार करेगी जब :- (अ) यदि ब्रिटिश भारत का कोई प्रान्त इस नये संविधान से सहमत न हो तो उसे अपनी वर्तमान वैधानिक स्थिति बनाये रखने का अधिकार होगा (ब) यदि वह जाने चत्कर चत्कर संघ में सम्मिलित हो ना चाहे तो इसकी भी व्यवस्था होगी; (स) देशी राज्यों को भी पूर्ण स्वतंत्रता होगी कि वे नये संविधान को स्वीकार करें या न करें (द) संविधान सभा तथा इंग्लैंड की सरकार के बीच एक सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर किये जायेंगे जिसमें पूर्ण उत्तरदायित्व हस्तांतरित होने के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली संभावनाओं तथा ब्रिटिश सरकार के पूर्ण आश्वासनों के अनुसार अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा की व्यवस्था होगी (३) युद्धकाल में भारत की सुरक्षा का भार ब्रिटिश सरकार पर ही रहेगा, गांधी जी ने कहा कि यह एक ऐसी हुंछी है जिस पर जाने की तिथि पड़ी हुई और सो भी ऐसे बैंक के नाम जिसके बिना लिया होने में सन्देह नहीं रह गया है। इस प्रस्ताव में भारत विभाजन की पूरी व्यवस्था भी क्योंकि देशी राज्यों को अपने अपने राज्यों से संविधान सभा के लिये सदस्यों की नियुक्ति का अधिकार था, प्रांतों

को अलग होने का अधिकार था और मुस्लिम लीग के अपनी हर मांग मनवा
 सकने का अधिकार था। कांग्रेस ने इसे अस्वीकार कर दिया। ब्रिटिश भारत
 को उत्तेजित अवस्था में ही छोड़कर इंग्लैंड चले गये और अपनी असफलता का
 उत्तरदायित्व कांग्रेस पर डालकर उन्होंने ११ अप्रैल को अपने प्रस्ताव वापस ले
 लिये। अब संघर्ष के सिवाय और कोई चारा नहीं रह गया। नेहरू जी ने
 प्रयाग के एक भाषण में "आग के साथ खेलने की" और "दोधारी तलवार" की
 बात की, राजेन्द्र बाबू ने "गोली साने और तोप का समना करने के लिये
 तैयार" रहने की कहा, पटेल ने थोड़े दिनों के किन्तु बहुत मयानक संग्राम की
 और संकेत किया, और गांधी जी ने कहा - "मैं जिना साहब के हृदय परि-
 वर्तन की बाट नहीं देख सकता..... यह मेरे जीवन का अंतिम संघर्ष होगा।"
 ८ अगस्त १९४२ ई. को असिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने "भारत छोड़ो" प्रस्ताव
 पास किया। ९ अगस्त १९४२ को देश के कोने कोने में नेताओं और कार्यकर्ताओं
 की गिरफ्तारियां शुरू हो गईं। जनतात्तापागल हो उठी। साथ ही सम्पूर्ण
 नौकरशाही सब प्रकार के अमानुषिक अत्याचारों से इस राजनीतिक आन्दोलन
 को दबाने में लग गई। सरकारी अनुमान के अनुसार २५० रेलवे स्टेशन और ५००^{अकधर}_१
 नष्ट हुए। १५० से अधिक यानों पर आक्रमण हुए, १९४२ के अन्त तक ५३८ अ-^ज
 सरों पर गोली चलाई गई. ९४० व्यक्ति मरे, १६३० घायल हुए और ६०,०००
 व्यक्ति आबल-तुब गिरफ्तार हुए। फिर गांधी जी ने इससे संबंध में कांग्रेस
 की नीति स्पष्ट करने और वर्किंग कमेटी के सदस्यों से मिलने का अवसर मांगा
 जिसके न मिलने पर उन्होंने २१ दिन का अनशन किया। इस संबंध में एमरी
 और लिनलिथगो की दूर नीति से असन्तुष्ट होकर उनकी कार्यकारिणी के एच.
 पी. मोदी, नलिनी रंजन सरकार और एम. एस. जे के त्याग पत्र दे दिया।
 १९४३ में बंगल में मयानक अकाल पड़ा जिसमें लगभग ५० लाख आदमी मर-
 गये। इसका एकमात्र उत्तरदायित्व सरकारी कुप्रबन्ध था। उड़ीसा, मालाबार

काठियावाड आदि में भी हजारों आदमी मारे। अक्टूबर सन् १९४३ ई. में लार्ड वेवेल भारत के वायसराय होकर आये और ६ महीने के मौन के बाद कहा कि उन्हें भारत की समस्या सुलझाने में किसी प्रकार की उतावली नहीं है। अप्रैल १९४४ में गांधी जी बीमार पड़े। इस बीमारी ने वेवेल को भी विचलित कर दिया और हत्या के कलंक से बचने के लिये ६ मई को उन्हें कारागृह से मुक्त कर दिया गया। इसी अप्रैल १९४४ में सुभाष बाबू की (जो जनवरी १९४१ ई. को भारत से छिपकर भाग गये थे और जिन्होंने अफगानिस्तान, इटली फिर जर्मनी होते हुए जापान आकर हिंदू सेना का संगठन किया था) आजाद सेना ने अंगरेजी सेनाओं को हराकर आसाम में कोहिमा पर अपना अधिकार कर लिया था। जापान की हार के बाद युद्ध सामग्री की कमी और भयानक वर्षा के कारण इस सेना ने आत्म समर्पण कर दिया। उनके तीन सेनानायकों (सहगल, डिलन तथा आहनवाज) पर लाल किले में मुकदमा चलाया गया जिस के बाद में उन्हें निरपराध घोषित करके छोड़ दिया गया। आजाद हिंदू सेना के इन अनेक वीरों पर चले वाले मुकदमों ने देश के कोने कोने को आलौहित कर दिया। स्वस्थ होने पर गांधी जी ने कांग्रेस कार्यकारिणी के सदस्यों से बैठक करने की सुविधा वायसराय से मांगी जो अस्वीकृत हो गई। फिर जिना साहब के सामने गांधी जी की स्वीकृति से कांग्रेस-लीग समझौते की अपनी ^{योजना} रक्खी। इस योजना की मुख्य बातें ये थी :- (१) मुस्लिम लीग स्वतंत्रता की मांग का समर्थन करे तथा संक्रान्तिकालीन अस्थायी सरकार के निर्माण में कांग्रेस के ^{समर्थ} सहयोग करे। (२) युद्ध समाप्त होने पर भारत के उत्तर पश्चिमी तथा पूर्वी भागों में समीपस्थित मुस्लिम बहुसंख्यक क्षेत्रों की सीमा निर्धारण करने के लिये कमीशन नियुक्त किया जाय। तत्पश्चात् वयस्क मताधिकार प्रणाली के अनुसार इन क्षेत्रों के निवासियों की मतगणना करके भारत से उनके संबंध विच्छेद के प्रश्न का निर्णय किया जाय। परन्तु समीपवर्ती उपक्षेत्रों की अपनी इच्छानुसार एक अथवा दूसरे राज्य में रहने का अधिकार रहे। (३) मतगणना के पूर्व सब घरों को पूर्ण अथवा

दृष्टिकोण के प्रचार की पूर्ण स्वतंत्रता हो, (४) संबंध विच्छेद की वशा में रखा, यातायात तथा अन्य आवश्यक विषयों में पारस्परिक समझौते की व्यवस्था हो (५) निवासियों की बदला-बदली उनकी स्नेहता पर हो, (६) उपर्युक्त जो उसी वशा में मान्य होंगी जब इंग्लैंड भारतीयों को पूर्ण अधिकार तथा उत्तरदायित्व देना स्वीकार कर ले। जिना साहब ने इसे स्वीकार नहीं किया। इसी वर्ष गांधी जी ने बम्बई में कई दिनों तक रहकर जिना साहब से मिलकर उनसे बातें करके समझौते का एक प्रयास और किया किन्तु जिना साहब न माने। ऐसी ही कितने असफल प्रयत्न राम ने और कृष्ण ने भी किये थे किन्तु तीनों के हठी प्रतिबन्धी नहीं माने। जनवरी १९४५ में मूलाभाई देसाई और लियाकत अली खां ने आपस में बातचीत करके एक योजना सूत्र तैयार किया किन्तु कांग्रेस और लीग में समझौता न हो सका। १४ जून १९४५ को मि. एमरी ने ब्रिटिश लोकसभा में तथा लार्ड वेवेल ने भारत में साथ-साथ घोषणा की कि कांग्रेसी नेता शीघ्र ही छोड़ दिये जायेंगे तथा छिमे में सब दलों के नेताओं का एक सम्मेलन होगा। उन्होंने एक नई तथा जनमत की प्रतिनिधि कार्यकारिणी परिषद् बनाने के लिये केंद्रीय तथा प्रान्तीय राजनैतिक स्थानैतिक दलों के नेताओं को नियंत्रित किया जिसमें 'सभी सम्प्रदायों के प्रतिनिधि सम्मिलित हों तथा 'सर्व-हिंदुओं और मुसलमानों की संख्या समान अनुपात में हो।' यह परिषद् तत्कालीन संविधान के अन्तर्गत वास्तव करने वाली थी। वायसराय तथा प्रधान सेनापति के अतिरिक्त इसके सब सदस्य भारतीय होने थे। ब्रिटिश भारत का विदेश-विमान भी किसी भारतीय को ही सौंपा जाना था। इस अस्थायी सरकार का उद्देश्य स्थायी समझौते का मार्ग प्रवृत्त करना था। २५ जून १९४५ को प्रसिद्ध छिमला सम्मेलन प्रारम्भ हुआ। जिना साहब ने इस बात पर विशेष बल दिया कि (१) कार्यपालिका के सभी मुसलमान सदस्य लीगे ही हों और (२) यह बात कांग्रेस मान ले कि यह निश्चित रूप से कुलीन हिंदुओं की ही संस्था है। कांग्रेस इस स्थिति को बिल्कुल ही नहीं स्वीकार कर सकती थी। वाय-

सराय लीग के सहयोग के बिना कुछ भी नहीं कर सकते थे। सम्मेलन मंजूर हो के गया। जुलाई सन् १९४५ ई. के साधारण निर्वाचन ने इंग्लैंड में मि. एटली के नेतृत्व में मजदूर दल की सरकार स्थापित कर दी। परिणामस्वरूप हार्ड पैथिक लार्सेस भारत सचिव हुए। प्रान्तीय तथा केन्द्रीय धारा समाजों के लिये १९४५-४६ के इतिहास में साधारण निर्वाचन की घोषणा इनसे परामर्श करने के बाद हुई। वेवेल ने १९ सितम्बर की घोषणा में बताया कि निर्वाचन के पश्चात् एक संविधान सभा का निर्माण होगा तथा प्रमुख राजनैतिक दलों के सहयोग से कार्यपालिका का पुनः संगठन होगा। निर्वाचन हुए। सभी प्रांतों में लगभग उत्प्रतिष्ठा और मुस्लिम कांग्रेस को मिले। अनेक स्थानों में कांग्रेस ने कुछ मुस्लिम स्थान भी प्राप्त किये। अप्रैल १९४६ में सिन्ध तथा बंगाल के अतिरिक्त सभी प्रान्तों में कांग्रेस ने शासन संभाला। पंजाब में संयुक्त मंत्रिमण्डल बना। कांग्रेस की इस अद्भुत विजय से अंग्रेज आश्चर्यचकित हो गये। बम्बई, करांची, तथा मद्रास के भारतीय नायकों ने विद्रोह कर दिया। भारतीय सेनाओं ने इन पर गोली चलाने से इन्कार कर दिया। अम्बाला आदि स्थानों पर भारतीय वायुसेना ने भी विद्रोह कर दिया। आजाद हिंद सेना के सैनिकों वाले मुकदमे ने भारत में रणोन्मुख राष्ट्रीयता की आग भड़काई। राष्ट्रीय जागरण सेना में पहुंचा। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इंग्लैंड की महत्ता बहुत घट गई। अस्तु, भारतीय गतिरोध को जीप्रातिघीप्र दूर करके समस्या का मैत्री पूर्ण समाधान निकालना अनिवार्य हो गया। ४ दिसम्बर, १९४५ ई. को भारत सचिव ने मन्त्रिमण्डल मिशन की नियुक्ति की घोषणा की। २४ मार्च सन् १९४६ को यह मिशन दिल्ली पहुंचा। इसके पहले १५ मार्च को प्रधान मंत्री ने यह घोषणा की कि अल्पसंख्यकों की बहुसंख्यकों की प्रगति की राह में रुकावट नहीं डालने दी जायगी। इस मिशन के दो कार्य थे :- (१) ऐसा सुझाव उपस्थित करे जिसके आधार पर भारतीय विधान बनाया जा सके, और (२) अन्तरिम राष्ट्रीय सरकार स्थापित करे। अंगरेज सरकार द्वारा अल्पमतों को दिये गये वचन अब इस मिशन के कार्य में

बाधा उपस्थित करने लगे। लीगी नेताओं ने खुले आम धमकियाँ दीं और उनके द्वारा दिलाई गई उत्तेजनाओं के परिणामस्वरूप देश में वे दंगे हुए जिन्होंने मानवता के पवित्र आनन को कलंकित कर दिया। किसी स्वतंत्र देश में ऐसे व्यक्तियों और दलों का ^{का} किया जाता, इसे सोचने के लिये किसी बड़ी कल्पना की आवश्यकता नहीं है किन्तु अंग्रेज लीग और लीगी नेताओं पर कोई भी अंकुश लगाने के बदले उनकी मांगों का समर्थन खुले और छिपे दोनों ढंगों से करने लगे।

१ अप्रैल से १७ अप्रैल १९४६ तक कैबिनेट मिशन विभिन्न दलों और वर्गों के नेताओं से मिला। कांग्रेसी और लीगी नेताओं का एक सम्मेलन छिमला हुआ जो १२ मई को असफल होकर समाप्त हो गया। तब मंत्री मण्डल मिशन ने अपनी यह योजना प्रकाशित की :- (१) एक भारतीय संघ की स्थापना हो जिसमें ब्रिटिश भारत के प्रान्त तथा देशी राज्य सम्मिलित हों। वैदेशिक संबंध, रक्षा, तथा यातायात विभागों पर संघ का अधिकार हो। इन विषयों की व्यवस्था के लिये वह आवश्यक अर्थ-संग्रह कर सकेगा। (२) संघ में ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों के प्रतिनिधियों, एक कार्यपालिका और व्यवस्थापिका हो। किसी महत्व-महत्वपूर्ण साम्प्रदायिक समस्या से संबंधित किसी प्रश्न का व्यवस्थापिका में निर्णय करने के लिये दोनों प्रमुख स्तुवनिक-समस्या-से सम्प्रदायों के उपस्थित तथा मतदाता प्रतिनिधियों एवं सब उपस्थित तथा मतदाता सदस्यों का बहुमत आवश्यक होगा। (३) संघ वाले विषयों के अतिरिक्त अन्य सब विषयों तथा अवशिष्ट शक्तियों पर प्रान्तों का अधिकार होगा। (४) देशी राज्यों को ये सारे अधिकार होंगे जो उन्होंने संघ शासन को नहीं दिये हैं। (५) प्रान्तों को अपने वर्ग अलग अलग बनाने का अधिकार होगा। इन वर्गों की अपनी कार्यपालिकाएं तथा व्यवस्थापिकाएं होंगी और प्रत्येक वर्ग निश्चय करेगा कि प्रान्तीय सूची में से किन किन विषयों की सम्मिलित व्यवस्था हो। प्रान्तों के तीन वर्ग होंगे :-

(१) मद्रास, बम्बई, संयुक्त प्रान्त, मध्य प्रान्त, बिहार तथा उड़ीसा (२) उत्तर पश्चिम सीमा प्रांत, पंजाब, सिन्ध, (३) ^अद्राणा, आसाम। (४) संविधान सभा

में ब्रिटिश भारत के २९६ (सामान्य २१०, मुसलिमान ७८, सिख ४, तथा
 चीफ कमिश्नरों द्वारा शासित क्षेत्रों से ४, और देशी राज्यों के अधिकाधिक
 ९३ प्रतिनिधि सदस्य होंगे। ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधि प्रान्तीय व्यवस्था-
 पिका समार्यों के निम्न आंगारों द्वारा अनुपाती प्रतिनिधित्व प्रणाली द्वारा
 निर्वाचित होंगे। देशी राज्यों के प्रतिनिधि मन्त्रणा द्वारा निश्चित होंगे।
 प्रारम्भिक अवस्था में देशी राजाओं का प्रतिनिधित्व एक विशेष मन्त्रणा समिति
 करेगी। (७) संविधान सभा में ब्रिटिश भारत के सदस्य अ वर्ग से १९०, ब से ३६,
 और स वर्ग से ७० अर्थात् २९६ होंगे। (८) प्रमुख राजनैतिक दलों की एक
 अस्थायी सरकार बने परन्तु वायसराय के विशेष अधिकार पूर्ववत् रहें। देशी
 राज्यों से संबंधित ब्रिटिश शासन क़त्ता का प्रभुत्व नई सरकार को नहीं दिया
 जायगा। (९) संविधान लागू होने के दस वर्ष ³ ~~अ~~ मरान्त तथा इसके बाद भी दस
 वर्षों के अन्तर से कोई भी प्रान्त अपनी व्यवस्थापिका सभा के बहुमत द्वारा
 संविधान की धाराओं में संशोधन करवाने की मांग कर सकेगा। (१०) विधान
 सभा और इंग्लैंड की सरकार क़त्ता हस्तांतरण संधिपत्र पर हस्ताक्षर करेंगी।

ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत विभाजन रोकने का यह अन्तिम
 प्रयास था। गांधी जी ने इस योजना को ब्रिटिश सरकार का सभसे महत्वपूर्ण
 निर्णय माना। कांग्रेस ने इसके संविधान सभा वाले अंश को स्वीकार किया।
 मुस्लिम लीग ने इसे पूरे का पूरा स्वीकार कर लिया। सिक्खों ने पूर्णतः
 अस्वीकार कर दिया। कैबिनेट मिशन २९ जून १९४६ को लौट गया। उसने
 संविधान निर्माण की संभावना पर संतोष प्रकट किया और इस बात का दुःख
 प्रकट किया कि अन्तरिम सरकार ^न बन सकी। अन्तरिम सरकार के बनाने की
 योजना (~~की पहली दी गई स्वीकृति वापस करवा ली~~ ^न संघर्ष के वैधानिक साधनों) को
 टाल देने से जिना साहब इतने क्रुद्ध हुए कि उन्होंने मुस्लिम लीग से योजना की
 पहली दी गई स्वीकृति वापस करवा ली। संघर्ष के वैधानिक साधनों को

तिलांजलि" दे दी। उन्होंने १६ अगस्त को सारे भारत में "प्रत्यक्ष आंदोलन दिवस" मनवाया। कलकत्ता, नौशाहली, बिहार तथा बाघ में सारे भारत के अन्तर साम्प्रदायिक दंगे हुए। अंग्रेज सरकार ने इसे रोकने का कोई प्रयत्न नहीं किया। देश की आन्तरिक स्थिति बिगड़ने लगी और कांग्रेस को विघ्न होकर केन्द्रीय सरकार में जाना पड़ा। लार्ड वेवेल ने उस समय के कांग्रेस-सभापति पं. जवाहरलाल नेहरू से सरकार बनाने के लिये ^{कहा} बुलाया। जिन्होंने २/२ सितम्बर १९४६ को उपय ग्रहण किया। मुस्लिम लीग इसमें सम्मिलित नहीं हुई। सम्भवतः साम्प्रदायिक दंगों से उसे सन्तोष मिल रहा था। १३ अक्टूबर

१९४६ को मुस्लिम लीग ने भी इस सरकार में सम्मिलित होने का निश्चय कर लिया ताकि पाकिस्तान की लड़ाई सरकार के भीतर से भी लड़ी जा सके। वहाँ कुछ तो क्षेत्र और विषय ऐसे थे जिसे वे अधिकारी होते और जिसे वे बिगाड़ सकते थे। अब केन्द्रीय सरकार का वातावरण दूषित और तनावपूर्ण हो गया। सरदार पटेल ने कहा कि लीग और लार्ड वेवेल का उद्देश्य कांग्रेस को सरकार से निकालना था और नेहरू जी का मत था कि ये लोग कैबिनेट को "नितान्त निष्क्रिय बना देना चाहते हैं" जुलाई ४६ में संविधान सभा के चुनाव हुए और ९ दिसम्बर १९४६ को उसकी पहली बैठक हुई। मुस्लिम लीग ने इसमें भाग नहीं लिया। डा. राजेन्द्र प्रसाद इसके स्थायी सभापति बने। ब्रिटिश प्रधान मंत्री एटली ने कैबिनेट योजना की रक्षा करने के लिये लन्दन में एक सम्मेलन आयोजित किया। यह सम्मेलन इसे ६ दिसम्बर १९४६ तक होतोरहा पर कोई समझौता न हो सका। ५ दिसम्बर ४६ को अंग्रेज सरकार ने "भारतीय जनता के बहुत बड़े भाग का प्रतिनिधित्व" विधान सभा के लिये अनिवार्य घोषित करके विधान सभा के प्रभाव पर कुठाराघात कर दिया। २० फरवरी १९४७ को लार्ड वेवेल के स्थान पर लार्ड मण्टेगेटेन की नियुक्ति घोषित की गई और यह कहा गया कि अंग्रेज ३० जून १९४८ तक अवश्य भारत से चले जायेंगे। इस घोषणा से साम्प्रदायिक दंगों ने और भी भीषण रूप धारण कर लिया।

को दे देना, भारत में अंग्रेजों की की गई सभी संधियों की समाप्ति, भारत सचिव के पद और कार्यालय का अंत, सम्राट की उपाधियों में से भारत के सम्राट का निकाल दिया जाना आदि बातें थीं।

संविधान ^{सभा} सत्र ने दिसम्बर (४६) - जनवरी (४७) को ही अपना उद्देश्य प्रस्ताव (~~~~~) पास कर दिया था। इस १३ दिसम्बर ४६ को पं. जवाहरलाल नेहरू ने प्रस्तुत किया था जो २२ जनवरी ४७ को स्वीकृत हो गया। इसके बाद भिन्न उद्देश्यों के लिये भिन्न भिन्न समितियां बनीं। २९ अगस्त १९४७ ई. को एक प्रारूप समिति (~~~~~) डाक्टर अम्बेडकर की अध्यक्षता में बनी। यह समिति विभिन्न समितियों द्वारा प्रस्तुत निर्णयों के अनुसार संविधान बनाने के लिये थी। मार्च १९४८ का संविधान का प्रारूप प्रकाशित हो गया। २६ नवम्बर १९४९ ई. को उस पर विचार विनिमय का कार्य समाप्त हो गया। २६ जनवरी, १९५० से यह नया संविधान देश पर लागू हो गया। इसके पश्चात् तीन वर्षों तक हम पराधीनता के अंतिम दिनों के अभिशापों से अपने को मुक्त करने के प्रयास में उलझ गये।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अशोभनीय और दुःखद परिस्थितियां निराकरण के लिये जिन राजनैतिक अधिकारों की अपेक्षा करती थीं वे मांगने पर उचित समय पर दिये नहीं जानते थे। परिणामस्वरूप हमें अनुकूल वातावरण और वास्तविकता की अनुभूति कराने के लिये राजनीतिक आंदोलन करने पड़ते थे। ये आंदोलन और परिस्थितियां एवं ऐतिहासिक घटनाओं का चक्र हमारी अनुभूति को प्रस्तरतर और तुषा को तीव्रतर कर देता था। सरकार बहुत दूर तक देखती अवश्य थी किन्तु पीछे की ओर देखती थी। उसके कदम ठठते अवश्य थे किन्तु समय के बहुत बाद और इसीलिये उपयोगी एवं सन्तोषप्रद नहीं होते थे। राजनीतिक सुधार कुछ राजनीतिक आंदोलनों के परिणाम होते थे और स्वयं

भावी आन्दोलनों के लिये कारण स्वरूप हो जाया करते थे। इन राजनीतिक आंदोलनों की प्रकृति पर भी विचार कर लेना अनुपयुक्त न होगा।

राजनीतिक आन्दोलनों की प्रकृति एवं भाव जगत

१८८५ ई. से १९०५ ई. तक राष्ट्रीय कांग्रेस की यही मांग रही कि अंगरेजी शासन व्यवस्था में इतना सुधार हो जाय कि हिंदुस्तानियों को कुछ अधिक प्रतिनिधित्व मिल जाय। १९०१ में रमेशचन्द्र दत्त ने कहा था कि भारतीय जनता एकाएक होने वाले परिवर्तनों और क्रान्तियों को पसन्द नहीं करती, वह मौजूदा सरकार को और मजबूत बनाना चाहती है, साधारण लोगों से उसका घनिष्ठतम संबंध स्थापित करना चाहती है, वायसराय की कार्यकारिणी परिषद् तथा प्रत्येक प्रान्त की कार्यकारिणी परिषद् में कुछ और भी भारतीय सदस्य चाहती है। सर सुरेन्द्र बनर्जी अंगरेजी राज्य के स्वरूप को और अधिक उदार बनाना चाहते थे। इसके कार्य का स्वरूप था प्रार्थना-पत्र देते जाना - विन्ती करते रहना। ऐसी कांग्रेस को भी लाई कर्जन क्रान्तिपूर्वक बनाना चाहते थे।

इसके बाद के तीन दो तीन वर्षों का समय लक्ष्य और उसके स्वरूप परिवर्तन का समय है। कांग्रेस के अधिवेशन दिन-दिन अधिक उत्साह से, अधिक महत्वपूर्ण ढंग से और अधिक महत्वपूर्ण होने लगे। एक नवीन स्वामि-मानी राष्ट्रीय पक्ष संगठित होने लगा। तिलक, लाजपतराय, विपिनचन्द्र पाल आदि गरम बल के नेता साम्राज्यवाद से समझौते की नीति को त्याग कर संघर्ष की नीति अपनाना चाहते थे। पडे - लखे नवयुवकों, छात्रों, बेकारी के शिकार तथा कम वेतन पाने वाले बुद्धिजीवियों को इन नेताओं की बातें जरा ज्यादा अच्छी लगती थी। बाबामाई इत्यादि यह प्रयत्न कर रहे थे कि कांग्रेस को

स्वामिमानी उग्रदल और विनीत प्रागतिक दल दोनों के सहयोग से और अधिक सुस्पष्ट एवं संयुक्त किया जाय। उग्र विचारधारा वालों का विश्वास था कि संघर्ष अनिवार्य है। उसके बिना न हमारी इज्जत अक्षत रह सकती है और न सरकार कोई सुधार या सुविधा इज्जत के साथ देगी। यह बात भी स्पष्ट है होती जा रही थी कि आगामी क्रांति दो चार दस बड़े आदमियों तक न तो सीमित रह सकती है और न इनके द्वारा की ही जा सकती है। यह क्रांति प्रजातन्त्रात्मक होगी। यह क्रांति मध्यम श्रेणी के बुद्धिवादी मानव स्वार्थत्यागी नेता तथा गरीब किसानों की संयुक्त शक्ति के द्वारा ही संपन्न की जा सकेगी। जन-भावना का प्राधान्य होगा, न कि राजाओं, महाराजाओं का। इसमें राजा, महाराजा तलवार उठाकर सिपाहियों के आगे आगे न तो मारकाट करेंगे और इसलिये न उनका उतना महत्व होगा। प्रधानता बुद्धि की होगी, महत्ता, त्याग की होगी। और जिस दिन यह तै हो गया उसी दिन यह भी तै हो गया कि अब साहित्य से भी राजाओं-महाराजाओं की विरुद्धावली का युग चला गया। अब युग आया है झांगी और बुद्धिमान् नेताओं तथा त्याग और बलिदान करने वाली सामान्य जनता का। अब सिपाहियों की नहीं, उहीचों की टोलियों का महत्व होगा। अब "सट सट सट सट तेजस बोलें बोलें छपक छपक तरवारि" का स्वर सन्त हो जायगा और

ले कृषक सन्देशकर बलि-बन्धना, ध्वज तिरंगे की करोत्सव अर्चना।

धूमता चरखा लिये गिरि पर चढ़ो, ले अहिंसा उस्स आगे ही बढ़े का स्वर प्रबुध होगा। अब "जैसे पान तमोली कहरे जैसे कहरे सेत किसान, तेसे ऊबल दलवाँ पड़े सव दल कुतर-कुतर धरि जाय" की जगह "चल पड़े जिधर दो पग मग मैं चल पड़े कोटि पग उसी और" का स्वर सुनाई पड़ेगा। अब पहला जनता-जनार्दन की होगी - "छीन्दी की टोली" की होगी। नये लोग राष्ट्रीय आन्दोलन के कहर हिन्दुत्व और अध्यात्म प्रधान प्राचीन भारतीय आर्य संस्कृति की श्रेष्ठता के आधार पर सहा करना चाहते थे। शिवाजी, गीरवा, गणपति-

पूजा, कालीपूजा आदि को राष्ट्रीय रूप दिया गया। भारत देश "माता" हो गया। परिणाम यह हुआ कि जिस निःसंस्कार और संसृष्ट क्रांतिवादी का जन्म हुआ और जिस राष्ट्रीय शक्ति को कांग्रेस की राजनीति के पक्ष में नियोजित करने के लिये तिलक आदि ने मनीरथ प्रयत्न किया उसकी प्रथम अभिव्यक्ति बंग-मंग के प्रतिकार के रूप में हुई। अब राजनीतिक दृष्टि से जागरूक भारतीयों ने पश्चिम के राजनैतिक और नैतिक इतिहास की जानकारी का उपयोग अपने राष्ट्र के हित में करना प्रारम्भ कर दिया था। अंगरेजों की ही कसौटी पर हम अंगरेजों के कथन और कार्य की परीक्षा करने लगे। अयोग्य कह कर अंगरेजों का हमें उत्तरदायित्व और पदों से वंचित रखने, देशशासन के प्रति अंगरेजों की ईमानदारी, हमारे राजनीतिक अधिकार देने के पहले सामाजिक अधिकार देने के पहले सामाजिक एकता स्थापित होने की अंगरेजों वाली नीति राज्य कर सकने की हमारी अयोग्यता, हमारी शिक्षा आदि प्रश्नों पर नैतिक और न्या-संबंधी दृष्टिकोणों से विचार किया जाने लगा। हम समझने लगे कि राष्ट्रोन्नति एक नैतिक लक्ष्य है। बीच में एक प्रश्न यह भी उठा कि हमारा कर्तव्य केवल भारत राष्ट्र के ही प्रति है (गरम धल) या अंगरेजों और राष्ट्र दोनों के प्रति (नरम धल)। तिलक ने राष्ट्र को ही प्रधानता दी। १९वीं शताब्दी के हिंदुत्व के पुनरुत्थान की पृष्ठभूमि में गणपति उत्सव, वेदांत के पुनरुत्थान, शिवाजी, राजा प्रताप आदि से राष्ट्र का प्रत्यक्ष संबंध हो गया। अध्यात्म, ईश्वर, और धर्म, देशभक्ति के आन्दोलन की सहायता में नियोजित किये गये। मैथिलीशरण गुप्त के राम इस पृथ्वी को स्वर्ग के समान बनाने के लिये अवतार लेतेहुए बिसाई पड़ने लगे। इस दृष्टि से अरविन्द का उद्धरण इस दृष्टि से विशेष रूप से द्रष्टव्य है, "राष्ट्र के इतिहास में कभीकभी ऐसा अवसर आता है जब उसके सामने परमात्मा की ओर से बस एक ही उद्देश्य, एक ही कार्य, का निर्देश रहता है और उस उद्देश्य तथा कार्य के सामने शेष सारे कार्यों और उद्देश्यों का - चाहे वे कितने भी उदात्त और महान् क्यों न हों, परित्याग

कर घेना पड़ता है। हमारी मातृभूमि के लिये ऐसा ही समय उपस्थित है जब कि उसकी सेवा से बढ़कर कोई भी वस्तु प्रिय हो नहीं सकती, जबकि हमारे सारे कार्यों का लक्ष्य मातृभूमि की सेवा होना चाहिए। यदि आप लोग अध्ययन करना चाहते हैं तो मां के लिये ही अध्ययन कीजिये, अपने शरीर मन और आत्मा का संस्कार मां की सेवा के लिये ही कीजिए....।" अरविन्द का विचार था कि ईश्वर का आदेश हो चुका है कि भारत स्वतंत्र हो और वे आधुनिक भारतीय राष्ट्रीयता को परमात्मा की अवतार-शक्ति मानते थे। हमारी राष्ट्र-अन्तर्प्रेरणा को वे एक देवी लीला मानते थे और इसीलिये उन्हें आध्यात्मिक मोक्ष और राष्ट्रीय स्वातंत्र्य के लिये कोई भी भेद दिसलाई नहीं पड़ता था। वेदान्त ने उन्हें राष्ट्रीय कर्तव्य की ओर बढ़ने की प्रेरणा दी। उपनिषद् के दो पवित्रों की एक कथा का आधार लेकर अरविन्द ने उसे राष्ट्रीय जीवन पर घटित करते हुए कहा था कि विदेशियों का शासन एक माया है जिस का जाल हमारी आत्मा पर भी फैल गया है। जब हमने बंग-मंग के कहुए फल का स्वाद चखा तो हम समझ गए कि हमारा स्वराज्य हमारे ही अन्दर है और उसे पाने तथा उसका साक्षात्कार करने की शक्ति भी हमारे ही अन्दर है। उन का विश्वास था कि भारत की आजादी मंगवान का ही कार्य है और वह हमसे यह कर लेना चाहता है। परिणामतः "बन्दे मातरम्" एक मंत्र हो गया। एक शक्ति हो गया। एक प्रेरणा बन गया एक सत्य बन गया। उसने एक अनुभूति का स्वरूप धारण किया। आज के कुछ विचारक उस समय की इस राजनीति की प्रतिक्रियावादी अथवा सांप्रदायिकतावादी मनोवृत्ति की कहते हैं। वे इस राजनीति की तात्कालिक सांस्कृतिक पुष्टभूमि को भुला बैठते हैं। उस समय के राष्ट्र प्रेम और स्वातंत्र्य संघर्ष के आंदोलन का स्वरूप इस चिंतन का भी परिणाम था कि हम आज पश्चिम पर बहुत अधिक आशरित हो गए हैं और इसलिये इस विदेशी आधार का परित्याग करना चाहिए। प्रश्न उठता कि हमें फिर किस

स्वरूप अपनाना चाहिये। हमारी प्रेरणा का स्रोत क्या हो। आज इसमें कोई भी सन्देह नहीं रह गया है कि हिंदू-युग का भारत भारत के इतिहास में सर्वाधिक गौरवपूर्ण रहा है। हमारी संस्कृति का आविर्भाव और असाधारण ढंग से दीप्तरूप वही है। यदि पाश्चात्य संस्कृति की आंधी रौकनी है तो हिन्दू युग के भारत से शक्ति प्राप्त करनी होगी। उस युग का भारत अरंड था एवं अद्वितीय था। जिस समय इस्लाम टर्की के शाह को सलीफा समझकर उनका आदर करने तथा अंगरेजों को उपयोगी समझ कर उनका अनुकरण करने की ओर प्रवृत्त हुआ। उस समय हिन्दुत्व इस स्थिति को पीछे छोड़कर चन्द्रगुप्त, अशोक, उपनिषद् गीता, और ऋषियों-मुनियों की ओर देखने और उस युग की संस्कृति को अपनाने की ओर बढ़ चुका था। इसको साम्प्रदायिकता की दृष्टि से देखना इसके साथ अन्याय करना है। यह विद्युत् रूप से राष्ट्रीय था। इसी पृष्ठभूमि में रहकर तिलक की विचारधारा का सही मूल्यांकन कर सकते हैं और इसी पृष्ठभूमि में रहकर हम "भारत-भारती", "हिन्दू", "गुरुकुल" के कवि के दृष्टिकोण का सही महत्वांकन कर सकते हैं और "चंद्रगुप्त", "स्कंदगुप्त", "राजर्षी", आदि के नाटककार के दृष्टिकोण को उस ही ढंग से समझ सकते हैं।

तिलक के साथ मध्यवर्ग कांग्रेस में आया और अरविन्द के साथ मध्यवर्ग प्रत्यक्ष संघर्ष के क्षेत्र में कूद पड़ा। इसी दृष्टिकोण का जब प्रभाव क्षेत्र बना तो गांधी के उच्च-निम्न-निम्न वर्ग भी आ गया। टामसन और मेरेट ने लिखा है कि लार्ड कर्जन के शासनकाल ने शिक्षित भारतीयों को राजनीतिज्ञतात्मक रूप से सोचना और अपने देश को देश संसार से संबद्ध करके उस रूप में देखना सिखा दिया¹। ज्यों-ज्यों हमारी स्वाधीनता का संघर्ष तीव्र से तीव्रतर होता गया त्यों-त्यों सारे संसार के और स्वतः इंग्लैंड के भी कुछ हद तक विचार वाले हमारी व्यास को हमारी आकांक्षाओं को सही रूप में समझने और उनसे सहानुभूति रखने लगे। इस प्रकार हमारा संबंध सारे संसार के और विशेष रूप से इंग्लैंड के - समाजवादी

1. "राइज ऐण्ड फुलफिलमेंट आफ ब्रिटिश रूल इन इंडिया", पृ. ५१०।

भिवारधारा वाले बलों के साथ हुआ। उस आध्यात्मिक दृष्टि एवं विश्वास और इस विश्वव्यापी स्थानुभूति ने हमारी राष्ट्रीयता को निर्भीकता का तत्व दिया। हम कष्ट और मृत्यु का स्वागत करने लगे। उसको सहन करके गौरव का अनुभव करने लगे। बंगाल के १९०७ के आंदोलन में जब एक युवक को लम्बी सजा मिली तो उसकी बूढ़ी माता ने अपने पुत्र की इस देश-सेवा पर हर्ष प्रकट किया और बंगाल की ५०० स्त्रियाँ उसे बधाई देने उसके घर गईं।

इस पुच्छभूमि में हमारी राजनीति अपने विकास की दूसरी स्थिति में आती है और उसकी प्रवृत्ति परिवर्तित हो जाती है। अब हमारे क कार्य संघर्ष की प्रेरणा से प्रेरित होकर सम्पन्न होने लगे। प्रार्थना पत्रों और नम्र निवेदनों का युग बीत गया। नैतिकता के तत्व ने तुली चुनौती देकर कार्य करने का साहस दिया। हमारे नेता और कार्यकर्ता क्वहरियों में सटे होकर यह वक्तव्य देने का साहस करने लगे कि वे इस सरकार और इस शासन को समाप्त करना अपना पुनीत कर्तव्य समझते हैं। इस समय तक मध्यवर्ग और निम्न वर्ग दोनों राजनीतिक संघर्ष में भाग लेने के लिये आगे बढ़ गये किन्तु चूंकि आंदोलन चलाने के लिये धन की आवश्यकता पड़ी, संगठन आदि के लिये प्रभावशाली व्यक्तित्व की आवश्यकता पड़ी और कूटनीति एवं युद्धि प्रधान शासकों की कानूनी भाषा का जवाब देने के लिये वकीलों और बुद्धिवादियों की आवश्यकता पड़ी इसलिये स्वाभाविक रूप से प्रधानता मध्यवर्ग की हो गई। कुछ लोग नेता हो गये और शेष लोग अनुयायी एवं कार्यकर्ता। जब कांग्रेस राजनीतिक स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिये सरकार के खिलाफ संघर्ष में जनता का नेतृत्व करने वाली राजनीतिक पार्टी हो गई। जन-आंदोलन चले।

प्रथम महायुद्ध के अंत तक हमारी राजनीति में अंगरेजों के प्रति

विश्वास का अंश महत्वपूर्ण था। हमारी राजनीति प्रार्थनात्मक न होती हुए भी राजभक्ति स्वरूपा थी। स्वयं गांधी महायुद्ध में अंगरेजों की जीत चाहते थे और इस बात के लिये प्रयत्न किया था कि देश अंगरेजों की सहायता करे किंतु महायुद्ध की समाप्ति ने तस्ता पलट दिया। अंगरेजों ने अपने विभिन्न कार्यों से हम पर जो अपना अविश्वास प्रकट किया वह बहुत बड़ी बात हो गई। यह सही है कि उस समय की जनता की दुर्धनता, महंगाई की मार और अंधाधुंध नफाखोरी के परिणामस्वरूप होने वाली हमारी तबाली और बरबारी, युद्धार्थ बलात् लिये गये बन्दों और सहायताओं एवं सैनिक मर्तों आदि से उत्पन्न असंतोष, होमरूल आंदोलन, रूसी क्रान्ति की सकलता, आयरलैण्ड की स्वतंत्रता, जापान की रूस पर विजय आदि अनेक तत्त्व इस उग्रतर संघर्ष के लिये ठकड़ा रहे थे किन्तु फिर भी आने वाले संघर्ष इतने भयानक न होते यदि अंगरेजी साम्राज्यवाद भारतीयों के अन्दर स्थित अपने प्रति असाधारण विश्वास की घूटों की ठोकरी न भाँसा, पेट के बल न रेंगाता, चौपायों की तरह चलने के लिये मजबूर न करता, उस पर गोलियाँ न सलाता, उस पर घोड़े न दौड़ाता, उसे हंटरों से न मारता। भारतीय असाधारण रूप से विश्वासी होता है किन्तु अपमान धूल का भी अच्छा नहीं होता और वह भी तब जब हम सजग एवं जागरूक होकर यह समझ गये हों कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में हमारे विरोधी का प्रभुत्व महत्व और सम्मान घट चला है, सांस्कृतिक विकास के पथ में वह एक विघटनकारी एवं विनाशकारी तत्त्व है, लोकतंत्र और राष्ट्रीयता का पाठ पढ़ाने के लिये उनके अवतार लेने की बात कोरी वैसी और ढोंग है। उन्हें वास्तविकता एवं यथार्थ को समझ कर उसके अनुसार चलना चाहिये बाज़ और नस्ल की बेछता की बात मुला देनी थी। हमने ऐसा मुला दिया कि हमारे इस पूरे युग के साहित्य में नस्ल संबंधी बेछता को लेकर एक पंक्ति भी नहीं लिखी गई किंतु अंगरेज नौकरशाही न मुला सकी क्योंकि पंडित जवाहरलाल नेहरू के ऊर्ध्व में भारतीय नौकरशाही 'सामन्तवादी' और आधुनिकतम नौकरशाही की मशीन

का ऐसा संघटन है जिसमें अच्छाइयां किसी की नहीं हैं मगर बुराइयां दोनों की हैं^१। अंग्रेजी प्रशासन के साम्राज्यवादी नौकर अपनी प्रभुता और विभुता, शक्ति और सामर्थ्य तथा हमारी अर्धजनता एवं असमर्थता को जन्म सिद्ध समझने और इस समझ को प्रदर्शित करने से नहीं चूके और परिणामस्वरूप वह कर गुजरे जिसने गांधी जैसे नरम विचारधारा के व्यक्ति को मथानक विद्रोही बना दिया। गांधी ने ठीक ही समझा था कि अंगरेजों ने भारत को धोखा दिया है। टामसन और मेरेट ने लिखा है कि जलियानवाला बाग का कांड भारत - इंग्लैण्ड - संबंधों के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण मोड़ बन गया - लगभग उतना ही महत्वपूर्ण जितना १८५७ का गदर^२। इसके परिणामस्वरूप संघर्ष हमारी राजनीतिका प्रमुख स्वरूप बन गया। हिंदू, मुसलमान, ईसाई, सिक्ख, नरम, गरम आदि सभी ने संयुक्त होकर स्वराज्य की हलचल करने का निश्चय कर लिया। शंकरदा जाव-हेकर के शब्दों में "..... गांधी जी को लगा कि अब वैध राजनीति का युग समाप्त हुआ व उन्होंने निश्चय किया कि भारत को निःशस्त्र क्रान्ति की शिक्षा दी जाय।"^३ अब भारतीय राजनीति का केन्द्र बिन्दु गांधी हो गया। हम यह भी कह सकते हैं गांधी भारत की दुनिया का ब्रह्म हो गया। उन्होंने कानून क्या तोड़ा, शंकर का जड़-धनुष तोड़ दिया। उनका सत्याग्रह आन्दोलनों के लिये आश्रम निर्माण जैसे राम का बनवास हो गया। उनका जेल जाना मानी राम का युद्ध करना था। स्वाधीनता की प्राप्ति के समय उनका कलकत्ते में रहना और जवाहर-पटेल का स्वतंत्रता-परिपत्र पर हस्ताक्षर करना मानी राम का शिविर में ही रहना और लक्ष्मण का सीता को लंका से लाने जाना था और क्या आश्चर्य कि गांधी जी का शेष जीवन अधूरा क्वकुछ काण्ड बन गया। कहते

१. 'आटी वायफ्राफी', पृ. ११४।

२. 'राइज ऐण्ड फुलफिल्लैड आफ ब्रिटिश इल इन इंडिया', पृ. ५४८।

३. 'आधुनिक भारत',

हैं कि राम ने अयोध्या के गुप्तार घाट पर जल-समाधि ली थी; कोई आश्चर्य नहीं कि इस आधुनिक राम को पिस्तौल - समाधि लेनी पड़ी॥ जैसे धनुष-यज्ञ प्रसंग में राम - लक्ष्मण को देखकर :-

देखहिं रूप महा कहरन-धीरा । मनहुं वीर रस धरे सरीरा ।
 डरे कुटिल नृप प्रभुहिं निहारी । मनहुं मयानक भूरति भारी ॥
 रहे असुर छल छो निप बेधा । तिन्ह प्रभु प्रगट कालसम देखा ॥
 पुरवासिनन्हदेसे बौर भाई । नर भूषन लोचन सुख दाई ॥
 नारि बिलोकहिं हरषि हिय निज निज रुचि अनुरूप ।
 जनु सोहत सिंगारधरि भूरति परम अनूप ॥
 विभुषन्ह प्रभु विराटमय दीसा । बहु मुसकर पग लोचन सीसा ॥
 जनक जाति अवलोकहिं कैसे । सजन सगे प्रिय लागहिं जैसे ॥
 सहित विदेह बिलोकहिं रानी । सिसु सम प्रीति न जाति बला नी॥
 जोगिन्ह परम तत्वमय भाषा । सोत सुध सम सहज प्रकासा ॥
 हरि भगतन्ह देसे बौर प्रीति । दृष्ट देव इव तब सुख दाता ॥
 रामहिं बिईतव मायें जेहि सीया । सो सनेहु सुख नहिं कयनीया ॥

निष्कर्ष कि :- एहि विधि रहा जाहि जस भाऊ । तेहिं तस देखेउ कोसल राऊ ।
 अर्थात् :- जाकी रही भावना जैसी । प्रभु भूरति देखी तिन्ह तैसी ।
 ठीक उसी प्रकार जब भारतीय राजनीति के मंच पर गांधी रुपी बाल पतंग का उदय हुआ तब भीमती एनी बेसेन्ट ने उन्हें राजनीति की दृष्टि से दुध-मुँहे बछ्हे के समुदाय देखा, नरमवल वालों ने इनको एक ऐसे नेता के रूप में देखा जिसका निः-
 चरित्र प्रतिकार उनको उनका अपना पहले वाला बहिष्कार योग ही प्रतीत हुआ,
 नरमवल वालों को इनकी अहिंसा और राज्यमक्ति संख्यातीत पिसाई पड़ी,
 सुधारकों को वे उस सुधारक के रूप में पिसलाई पड़े जो हमारी कमजोरियों को
 ही हमारी गुलामी का कारण समझकर पहले उनका सुधार करना आवश्यक सम-
 जता है, धर्मसुधारकों को वे भाग्यवत धर्मी सुधारक स्तर की तरह लगे; सनातनियों

को वे चातुर्वर्ण्य पालक सनातनी महात्मा के रूप में दिखाई पड़े, नास्तिकों को वे मूलतः सत्य का पालन करने वाले की तरह प्रतीत हुए जो सत्य को ही परमात्मा समझता है, क्रान्तिकारियों को वे 'होशियार क्रान्तिकारी' लगे, उग्रवादी उन्हें सरकारी खुफिया समझते थे, साम्यवादी उन्हें बुर्जुआ प्रवृत्ति का समझते थे, अंगरेजों को वे राजनीतिक सुधारवादी लगे, आदि। कुछ भी हो किन्तु इस महामानव के नाम का जादू सबके सिर पर चढ़ कर बोलता था। इस महामानव ने न मालूम कौन-सा आकर्षण था कि जो इसके सम्पर्क में आता था वह इसका अनुयायी होजाता था - कम से कम, इसके रंग में रंग अवश्य जाता था। देश में उससे अच्छे बक्ता थे, उससे अधिक बुद्धिवादी थे, उससे बढ़कर कानून के विशेष्ठा थे, उससे बढ़कर कार्यकर्ता थे, उससे बढ़कर त्यागी थे - सब कुछ था किन्तु इसमें कुछ ऐसा विशेष था जो सबको इसके चरणों पर न्यौछावर कर देता था। इसका विश्लेषण आज तक न हो सका। राजेन्द्र बाबू ने लिखा है कि इन्हें मानने वाले सब अन्यविश्वासी ही रहे हों, ऐसी बात नहीं है किन्तु फिर भी न मालूम क्यों सब इनकी बात यथाशक्ति मानते चले जाते थे।^१ इनके विरोधी भी इनका आदर करते थे। इसका सबसे बड़ा उदाहरण चोरी चोरा कांड के पश्चात् सत्याग्रह - स्थगन के पश्चात् मिलता है। गांधी जी ने पूरे आंदोलन को बन्द कर दिया। सारा देश हक्का बक्का रह गया। एक-एक भारतीय क्रोध हो उठा! क्रोध और दुःख से पागल हो गया। चारों तरफ पस्ती छा गई। गतिरोध और जड़ता का वातावरण था। किन्तु फिर भी सब लोग, गांधी को न छोड़ सके। उन पर विश्वास इतना था कि लोग उनसे मतभेद रसकर उनके अलग भी हो जाते थे किन्तु संकट की घड़ी ^आअस पड़ने पर फिर सभी उनको अपना एकमात्र पथ-प्रदर्शक मानकर उसकी आज्ञा पर चलते थे। और, इस महामानव ने राजनीतिक चेतना को सटके भले ही दिये हों किन्तु उसके साथ धोखेबाजी कभी नहीं की। जिस खुल्ला से इस नेता ने देश की राजनीतिक चेतना और गति

विधि का नेतृत्व किया है उससे स्पष्ट है कि यह पुरुष असाधारणरूप से सुयोज्य कलाकार था। इससे अधिक कलाकुशलता के साथ कोई प्रबन्धकार कवि महाकाव्य की कथावस्तु की योजना नहीं कर सकता। एकांत में बैठकर सोच-विचार कर जिस नाटकीयता, कलात्मकता और रस के साथ कोई कहानी या नाटक लिखता है उतनी ही नाटकीयता, कलात्मकता और आत्मा की सरसता के साथ इस कलाकार ने राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व किया है। देश की जनता को गतिशील किया है। और यह बहुत बड़ी बात है। इसके द्वारा चलाये गये आन्दोलनों और कार्यक्रमों की मदद में तपकर हर बार नयी और पहले से अधिक पुष्ट राष्ट्रीय एकता और प्रगतिशील प्रवृत्तियों के साथ, आत्मविश्वास और गौरव के साथ निकलती रही। यह कार्य इतना नाजुक था कि यदि एक बार भी तनिक सी भी कमी दूरदर्शिता में रह जाती तो निःशस्त्र क्रांतिवादी तंत्र, शास्त्र व तत्त्वज्ञान असफल हो जाता और संभवतः देश हिंसाप्रधान युद्ध करता एवं पूर्णरूपेण साम्यवादी हो जाता। इस महात्मा के आगे अंगरेजों की यह इच्छा और प्रयत्न असफल होगे कि इस महाद्वीप को अनेक राज्यों में बदल दें। और जब इसकी बात से तनिक भी लोग हटे तो देश दो भागों में बँट गया। संसार के सभी नृसिंह विचारक और राजनीतिज्ञ भारत की इस अपूर्व राजनीतिकने देखने लगे। तनिक-से सान्तिपूर्वक (?) अर्थात् बिना रक्त बहाव होने वाले शासक परिवर्तन की इंग्लैण्ड की घटना को इंग्लैण्ड का इतिहासकार 'ग्लोरियस रेवोल्यूशन' कहता है यद्यपि वहाँ राजा डर के मारे चुपचाप भाग गया था किन्तु भारत का यह 'रेवोल्यूशन' कितना 'ग्लोरियस' - कितना, कितना अधिक 'ग्लोरियस' है - कि यहाँ एक शासक नहीं, एक पूरे का पूरा - विशालतम और महत्त्वम साम्राज्यवाद बदला गया, यहाँ का शासक डर कर भागा नहीं, अपनी इच्छा से अपने मनके स्वरूप व्यवस्था करके स्वयं तिथि निश्चित करके उसके बाध सुधी-सुधी, जाने का विधान बनाकर गया, यहाँ हटाने वालों ने हटाने वाले के अंतिम प्रतिनिधि को अपना बनाकर अपना पहला शासक नियुक्त किया, यहाँ जाने वाला मार ल

लाकर हार कर नहीं गया, यहां संस्कृतिपूर्वक मगाने वालों ने मारसाई, यहां
 हारने वाला जीत गया और जीतने वाला हार गया, और इतना सब हो गया
 किन्तु किसी भी पैमाने पर युद्ध नहीं हुआ !!! यह स्वरूप था यहां की राज-
 नीतिक गतिविधियाँ का! यह असाधारणता थी यहां की राजनीतिक प्रवृत्तियों
 की !! यह नेतृत्व था गांधी का ! इन सबके पीछे रहस्य क्या था ! किसे
 यहां की राजनीति को इतना गौरवपूर्ण बना दिया ! किसने यहां की राष्ट्री-
 यता से आधुनिक राष्ट्रीयता के सभी दोषों का निराकरण कर दिया ? इसका
 उत्तर एक है और वह है "सांस्कृतिक पृष्ठभूमि" । यह विशेषता है भारतीय
 संस्कृति की ! यह अमूल्यपूर्वता मिली भारतीय संस्कृति के कारण ! इस गौरव का
 भेय है उसी की । उसी भारतीय संस्कृति के रंग में गांधी रंगे थे और इसलिये
 उसी भारतीय संस्कृति के रंग में गांधीवाद रंग गया जो तत्कालीन भारतीय
 जीवन और राजनीति की सबसे बड़ी, सबसे प्रमुख और सबसे अधिक प्रभावशाली
 प्रवृत्ति थी । बात यह है कि राजनीतिक उद्देश्यों और लक्ष्यों की प्राप्ति के
 लिये गांधी जी ने अपने राजनीतिक आंदोलनों को जो स्वरूप दिया वह सत्या-
 ग्रह कहलाया । इस, सत्याग्रह के 'बाह्य और आन्तरिक दोनों पक्षों का निर्माण
 भारतीय संस्कृति के असाधारण तत्वों से हुआ है । (आ) हमारे चारों ओर
 व्याप्त या फैले हुए (सत्य) सत्य को (ग्रह) ग्रहण करना ही सत्याग्रह है ।

प्रभवश कुछ लोग इसे सत्य का हठ या सूची जिद समझ बैठे हैं । सत्य नाम
 परमेश्वर का है । उसके लिये जिद नहीं की जाती । उसका ग्रहण किया जाता
 है । हम समझते थे कि आसपास के वातावरण में एक यह तथ्य परमेश्वर की तरह
 व्याप्त है कि अंगरेजों का भारत में शासन करना ठीक नहीं है । इस सत्य का
 ग्रहण उन्हें भी करना था । हम समझते हैं कि विदेशी वस्तुओं का व्यवहार भारत
 के लिये अहितकर है, कि नमक-कर, अमानुषिक है, कि मदिरा-पान को सभी युवा
 समझते हैं और क्योंकि इसका संबंध आपसे भी है, अतएव आपको भी इस सत्य
 को ग्रहण करना चाहिये । यदि आप ऐसा नहीं करते तो हम अपने आपको अधि-

का धीक कष्ट में डालकर उसे सहकर उसकी अनुभूति करवाना चाहेंगे क्योंकि परमात्मा अर्थात् सत्य का अंग होकर सत्य से विमुख रहना असत्य की ओर प्रवृत्त होना है और "असतो मा सद्गमय" भारत की सांस्कृतिक प्रार्थना है। इसमें विरोधी के प्रति घृणा नहीं होती। उसको कष्ट पहुंचाने की मनोवृत्ति नहीं होती। उसकी हानि करने का लक्ष्य नहीं होता। उद्देश्य यह होता है कि दूसरे पक्ष वाला व्यक्ति सत्य को ग्रहण करके उसी के अनुसार आचरण करे। इसी रास्ते पर चलकर ही हमें राजनीतिक स्तरों की भी अनुभूति करनी - करानी है और राजनीतिक अधिकारों की भी प्राप्ति करनी है। इसमें व्यक्ति की भावना जीतनी होती है। उसकी गतिविधि परिवर्तित करनी होती है। सत्य का ग्रहण और सत्य का आचरण भारतीय संस्कृति का मूल तत्त्व है। अहिंसा भारतीय संस्कृति का एक अमूल्य तत्त्व है। गांधी जी ने इसका महत्व समझा और अपने अनुयायियों को भी समझा दिया। श्री हरिभाऊ उपाध्याय ने लिखा है, "अगर दुनिया के हत्याकांडों का इतिहास हमें कुछ सिखाता है तो कम से कम इतना तो साफ बताता ही है कि कभी हिंसा के सहारे सत्य और न्याय की जय नहीं हुई है लेकिन अगर एक एक बड़े परिवार का इतिहास लीखा जाय तो अहिंसा उपायों से पारिवारिक कलह सकलतापूर्वक मिटाये जाने के सैकड़ों उदाहरण मिल जायेंगे।" गांधी जी ने राजनीति के क्षेत्र में इसका प्रयोग इस प्रकार किया कि हमें अपने विरोधी के प्रति द्वेष-भाव ही नहीं रखना है। न मारना ही अहिंसा नहीं है। द्वेष-भाव का अभाव ही अहिंसा की प्रतिष्ठा है। यह तभी हो सकता है जब हमारे अन्दर उसकी आत्मा के प्रति आत्मभाव हो। हम उसके अपने बीच अद्वैत तत्व की अनुभूति कर लें। जो हमारे अन्दर है वही अंगरेजों के अन्दर भी है। तब कौन किससे द्वेष करे। बस, बात इतनी सी है कि इस समय वह थोड़ा प्रेम में प्रसूत हो गया है। इसलिये प्रेम की निराई

करनी है प्रमित की नहीं। इसीलिये पाप से घृणा करनी है, पापी से नहीं। इसलिये हमारी लड़ाई अंगरेज से नहीं - कुछ अंगरेजों की असद्वृत्ति से है। यही कारण ग्रह है कि हमारा पूरे का पूरा स्वतंत्रता - संग्राम घृणा और द्वेष की भावना से मुक्त रहा है। इस प्रकार धर्म और राजनीति का समन्वय हो गया। श्री कृष्णदत्त पालीवाल ने लिखा है, "महात्मा जी ने राजनीति में धर्म का सम्मिश्रण केरकरके चारांगना राजनीति को योगिनी बना दिया है"। इस आजादी की प्राप्ति को गांधी जी भारतवर्ष के लिये उसके आत्म-स्वरूप, सांस्कृतिक स्वरूप की पुनर्प्राप्ति का एक साधन मानते थे न कि भौतिक समृद्धि मात्र का एक मार्ग। उनके इस मार्ग पर चलने से राजनीतिक सत्ता का प्रभुत्व जीवन के समस्त क्षेत्रों पर सर्वग्राही या सर्वमयी प्रभाव नहीं डालने पाया। अहिंसा और सत्य के इस मार्ग पर चलने और देश को चलाने के लिये गांधी जी को कितना सतर्क रहना पड़ता था, कितनी सूक्ष्मता से सोचना पड़ता था, यह कर्म उन्हें कितनी कुशलता के साथ करना पड़ता था कि कुछ आदमी जोरीचोरा में मारे गये और सारे देश का आंदोलन रोक देना पड़ा। जो तत्त्व को नहीं समझ पाये वे गांधी जी के उस भयानक कदम का औचित्य आज तक नहीं समझ पाये। इस को कहते हैं योगः कर्मसु कौशलम्। और सत्याग्रही के लिये जिसे एकाक्षर व्रत का विधान गांधी जी ने किया है वह जीवन के लिये भारतीय संस्कृति का सारभूत अमृत तत्व कहा जा सकता है:-

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, असंग्रह,
 धरीरक्षम, अस्वार्थ, सर्वत्र मयवर्जन,
 सर्वधर्मसमान्त्व, स्वदेशी, सर्वभाषा,
 विनम्र व्रतनिष्ठा से ये एकाक्षर सेव्य हैं

(सियारामचरण गुप्त द्वारा किया गया अनुवाद)

यह व्रत कितना असाधारण है इसकी ठ्याख्या के लिये एकाध तत्व की ओर संकेतमात्र पर्याप्त होगा। गांधी जी स्वदेशीका अर्थ अपने पड़ोसी के प्रति अपना कर्तव्य समझते थे। स्वदेशी का अर्थ सद्वर्ष या भारतवर्ष में बने सामान से हीन था। उनका कहना था कि जो तुम्हारा पड़ोसी है उसके प्रति तुम्हारा कर्तव्य यह है कि पहले उसके द्वारा बनाई गई उसकी वस्तु सरीसों और उसका उपयोग करो। असंग्रह का महत्व वे यह समझाते थे कि शाश्वत संग्रह किसी को उसके उपयोग से वंचित रखता है और परिणाम स्वरूप पापकेरने को मजबूर करता है। आप संग्रही न हों, कोई धिग्रही न रह जायगा। आप हकदुठा न करें, कोई चोरी न करेगा। इसीलिये कंगूस को चोर का बाप कहा गया है। ब्रह्मचर्य केवल यही नहीं है कि आप नारी के संपर्क से दूर रहें, एकांत में उसके साथ बैठे बोलें, और हंसी मजाक न करें, दर्पण न देखें, झुंगार न करें, ठयर्थ-चिन्तन और काम-चिंतन न करें, चटपटी और मसालेदार एवं उत्तेजक मौज्य का उपयोग न करें।
 आदि; वास्तविक ब्रह्मचर्य तो यह है कि उसके प्रभावित होकर विपरित योनि का ठयक्ति योनिमेव का पूर्ण रूपेण तिरस्कार कर दें। जैसे मां अपने पुत्र के साथ और पुत्री अपने पिता के साथ सोते समय योनि-मेवभाव भूल कर 'सेक्सलेसनेस' का अनुभव करती हुई निःशुंक रहती है वैसी ही निःशुंकता पूर्ण ब्रह्मचर्य की कसौटी है। गांधी जीकेजीवन में होने वाले इस प्रयोग का उल्लेख 'वि लास्ट फेज' में प्यारेलाल जी ने उस समय किया है जब गांधी जी नौआसाली अभियान में निरत थे और एक स्थिति ऐसी आई थी जब इसके लिये उन्होंने मनु को माध्यम बनाया था और वे और मनु एक ही बिस्तर पर एक साथ सोते थे। राम नाम को ही ^{०८५५५५५५}समस्त व्यक्तियों की एक मात्र औषधि मानने पर गांधी जी का अखंड विश्वास और इसीलिये प्राकृतिक चिकित्सा को ही सर्वश्रेष्ठ चिकित्सा समझना उनकी भारतीय संस्कृति पर होने वाली अखंड एवं अटूट अग्ना एवं आस्था का यथोक्त है। सत्याग्रह करने के पूर्व अपने विरोधी को सत्याग्रही का नाम, पता, सत्या-
~~ग्रह करने के पूर्व अपने विरोधी को सत्याग्रही का~~

ग्रह करने का स्थान और सत्याग्रह करने की तिथि आदि सूचित कर देना राजनीति में नैतिकता के समावेश की अन्यतम स्थिति है। विरोधियों के धार्मिक त्यौहारों आदि का ध्यान रखकर उन दिनों सत्याग्रह न करने की सूचना देना वह असाधारण भारतीय नैतिक भूमिका है जिसका उदाहरण और कहीं भी नहीं मिल सकता। भारतीय संस्कृति की पुण्यभूमि में ही यह सब संभव है। हंसते हंसते काष्ठ सहना, बिना कटुता का अनुभव किये फांसी पर झूल जाना, बर्बा जेल की मरणांतक यातना भुगतते रहना और फिर भी गौरव का अनुभव करना उसी के लिये संभव है जो अद्वैत की अनुभूति करता हो, सांसारिक सुखों को असाधारण एवं अन्यतम महत्व न देता हो। सांसारिक सुखों का सहर्ष परित्याग उच्चतम लक्ष्य के प्रति अनन्य निष्ठा एवं उसका तुलना में इन सुखों की हीनतम स्थिति की अनुभूति का ही परिणाम हो सकता है। एक-एक सत्याग्रही सत्याग्रह आंदोलन की विचारधारा एवं विचार-दर्शन की एक लघुतम इकाई या - अंशरूप में प्रतिनिधि था। इस आध्यात्मिक विजय से राजनीति के क्षेत्र में भी लोगों को तृप्ति होती थी। यह तुच्छ घर महान की विजय थी। इस प्रकार हमारी राजनीति को उच्चतम नैतिक भूमिका प्राप्त थी। भारतीय संस्कृति के मूल तत्वों से वह अनुप्राणित थी। जवाहर लाल नेहरू ने स्वीकार किया है कि गांधी जी राजनैतिक समस्याओं और दिन प्रतिदिन के जीवन की कठिनाइयों को हल करने के लिये नैतिकता के रास्ते के अवलम्बन पर हमेशा जोर देते थे।^१ शंकर वत्तात्रेय जाबडेकर ने लिखा है, "आत्मोन्नति और आत्मसुख को ही वे स्वाम्भ्य प्राप्त का मार्ग बताते थे..... वे मानते^२ कि समाज के राजनैतिक तथा धार्मिक व्यवहारों पर से धर्म का नियंत्रण हट जाने से यूरोपीय सभ्यता का नाश हो रहा है।^२ भारतीय संस्कृति रुपी कामधेनु से डूबे हुए बुध की तरह जो नैतिक और धार्मिक मान्यताएं गांधी जी को मिलीं

उनसे उनका जीवन, उनके विचार और उनके कार्य और उनके अनुयायियों के भी तन-मन-जीवन अनुरजित हो उठे। उनसे प्रेरित भारतीय राजनीति का स्वरूप भी ऐसा ही था। गोपीनाथ धवन ने लिखा है कि उनका राजनीतिदर्शन और उनकी राजनीतिक टेक नीक उनके धार्मिक और नैतिक सिद्धांतों के सहज परिणाम मात्र हैं। उनके अनुसार धर्म-विहीन राजनीति एक मृत्यु-जाल है क्योंकि वह आत्मा की हत्या करती है।¹ इसीलिये भारतीय राजनीतिक हलचलों को उन्होंने ऐसे तत्वों से सम्पन्न किया जो राजनैतिक लक्ष्य की पूर्ति में सर्वथा समर्थ थे और जिन से, साथ ही साथ, व्यक्ति का आत्मा का विकास भी होता है। सत्याग्रह की लड़ाई बाहरी शक्तियाँ और साधनों से नहीं लड़ी जाती। इस लड़ाई में जीत मिल्ती है प्रत्येक व्यक्ति की अपनी आन्तरिक, चारित्रिक आनसिक और आध्यात्मिक शक्ति से। यह शक्ति जिस्से प्राप्त होती है वही समुचित साधन है, वही अस्त्रयस्त्र है। इसी तत्व^{प्र} स्थित-आसीन-व्यक्ति इस युद्ध में आगे बढ़ सकता है। इसीलिये इसके वास्ते रथ की उपमा दी जा सकती है। तुलसीदास जी ने राम-रावण युद्ध के बीच राम को इसी रथ से सम्पन्न विलाया है :-

सौरज धीरज तैहि चाका^{रथ} । सत्य सील डुढ ध्वजा पताका ॥
 बल बिबेक दम पर-हित धौरे । उमा कृपा समता रजु जोरे ॥
 ईस मजन सारथी जुगाना । धिरति धर्म संतोष कृपाना ॥
 दान परमु बुधि सक्ति प्रबंधा । बर बिज्यान कठिन कोबंधा ॥
 अमल^चबल मन आन समाना । सम जम नियम सिली^{जुग}नाना ॥
 कवच अघेद विप्र गुरु-पूजा । एहि सम विजय उपाय न पूजा ॥
 ससा धर्ममय अस रथ जाके । जीतन कहं न कतहुं रिपु ताके ॥

और गांधी जी की 'आश्रम मजनावली' में इन पंक्तियों को महत्वपूर्ण स्थान

१. 'वि पोलिटिकल फिलासफी आफ महात्मा गांधी', पृ. २८।

मिला है। भारत का गांधी - यानी भारत की राजनीति क-स्व का योद्धा सैनिक - सत्याग्रही - इन्हीं से सुविभूषित होता था। यही कारण है कि भारतीय राजनीति के रंग मंच पर गांधी द्वारा प्रेरित आन्दोलनों का स्वरूप और आन्दोलनकारियों का रूप, अधिकाधिक सात्विक था - और संभवतः इसीलिये इस पृष्ठभूमि में लिखे गये एवं गांधी से प्रत्यक्षतः और बोधकतः प्रभावित समस्त हिंदी साहित्य का रूप अधिकाधिक सात्विक है - कम से कम, उतनी मात्रा में सात्विक तो अवश्य ही है जितनी मात्रा में हमारी राजनीतिक नतिविधियां सात्विक थीं। आज यह बात कहने की नहीं रह गई है कि गांधी जी का सुराज्य का आदर्श "राम-राज्य" या अर्थात् प्रेम का राज्य था, सम-वितरण का राज्य था, सहयोग का राज्य था, सेवा और सर्वोदय का राज्य था, संयम का राज्य था, न्यूनानातिन्यून नियंत्रण का राज्य था, सात्विक धर्म का राज्य था, छोटे-मोटे उद्योग-धंधों का राज्य था, अधिकाधिक स्वतन्त्रता का राज्य था, इकाइयों के स्वातंत्र्य और विकास का राज्य था, स्नेह-सहानुभूति एवं प्रेम का राज्य था, आत्मोन्नति का राज्य था, अहिंसा और सत्य का राज्य था, धर्म और आस्था का राज्य था, सात्विकता का राज्य था। कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने लिखा है, "हमारे सांस्कृतिक पुर्नजागरण ने हमारे साहित्य, कला और शिक्षा को एक नवीन रूप दिया किंतु एक पीढ़ी से भी अधिक समय तक यह सांस्कृतिक जागरण..... इस पूरे युग में प्राधान्य गांधी जी का था जो नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों के समर्थक थे। उन्होंने मनुष्य के संघर्षों को हल करने के लिये अहिंसा कानूनी रूप से उपयोग किया। उनकी अहिंसा की व्याख्या में संसार में मानव-संघर्षों के समाधान का एक नया ही रूप देता।"¹

1. 'आवर प्रेस्टेस्ट नीड', पृ. २४३।

साम्यवादी राजनीति

गांधीवाद के अतिरिक्त देश में एक और राजनीतिक विचारधारा का प्रवाह इस अर्धशताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ। यह विचारधारा थी साम्यवाद की। बात यह है कि देश के अन्दर सभी लोग एक ही स्वभाव के नहीं हुआ करते। जिन लोगों का विश्वास अहिंसा आदि भारतीय तत्वों पर था वे गांधी के अनुयायी बन गये किंतु जिन नवयुवकों के हृदय में क्रान्ति की ज्वाला तो धधक रही थी परन्तु अहिंसावाद मान्य नहीं था वे इस के साम्यवादी क्रान्ति शास्त्र की ओर झुक गये। इस विचारधारा के लोगों का विश्वास है कि समाज धर्म का उदय होना चाहिये। समाज धर्म के अभाव में राजनीतिक क्रान्तियाँ अधूरी रहती हैं क्योंकि ऐसी स्थिति में राजनीतिक शक्ति एक वर्ग के हाथ से निकल कर उसी मनोवृत्ति वाले दूसरे वर्ग के हाथों में चली जाती है। अन्य कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता। विपन्न वर्ग पूर्ववत् शोषित होता रहता है; पहले जैसा ही उसका दमन होता रहता है। इस क्रान्ति से वर्ग-विहीनता का जन्म नहीं हो सकता। व्यक्तिगत सम्पत्ति और उसे बढ़ाते रहने की कामना करने वाला व्यक्ति भले ही आज पूंजी विहीन हो किंतु मनोवृत्ति की दृष्टि से है वह पक्का पूंजीवादी। लेनिन ने लिखा है कि वर्गस्वार्थों का सार्वजनिक होना के कारण ही राज्य की उत्पत्ति होती है। मार्क्स के कथनानुसार राज्य की उत्पत्ति वैयक्तिक सम्पत्ति और सामाजिक संबंधों की रक्षा के लिये हुई है। वस्तुतः राज्य एक ऐसा डीपियार है जिसके द्वारा किसी विशेष युग में कोई सम्पन्न श्रेणी अन्य सभी वर्गों पर अपनी प्रभुता कायम किये रखती है और इस प्रकार उत्पादन के साधनों पर एकाधिकार स्थापित किये रखती है। एक सशक्त प्रोलिटारियत या विपन्न वर्ग राजनैतिक शक्ति को अपने हाथों में लेकर उत्पादन के साधनों पर प्रोलिटारियत की तानाशाही का अधिकार घोषित कर देता है। यह प्रोलिटारियत वासन सत्ता एक दिन स्वयं पुरखा जाती है और श्रेणी हीन समाज

की स्थापना हो जाती है यद्यपि इस प्रक्रिया में बहुत लम्बा समय लग जाता है। लेनिन कहता है कि प्रोलिटारियत तानाशाही की स्थापना हिंसात्मक क्रांति के बिना असंभव है। वे वर्ग संघर्ष को आवश्यक समझते हैं कि जहाँ वर्ग-संघर्ष की चेतना न हो वहाँ उसे पैदा करने का प्रयत्न करना चाहिये। प्रोलिटारियत तानाशाही की पहली अवस्था में मजदूरों को उनकी मेहनत का उचित फल मिलना संभव नहीं है। लेनिन का भी यही कहना है कि साम्यवाद की प्रारम्भिक अवस्था में न्याय और समता संभव नहीं है। स्वयं मार्क्स का यह कहना है कि लोगों के अधिकार बराबर होने के बदले कम ज्यादा होने चाहिये। वह लोगों की अपरिहार्य असमता या विषमता पर विश्वास करता था। सरकार की पुरानी मशीनरी को पूरी तरह से नष्ट-भ्रष्ट कर देना प्रोलिटारियत तानाशाही का धर्म है। चूंकि जन साधारण की चेतना पर प्राचीन परम्पराओं का असाधारण बोझ लदा रहता है इसलिये वह सुपुष्ट, उदासीन और एकता विहीन होता है। उसको संगठित करके राज्य को नष्ट करने का कार्य सुवृद्ध, सुगठित और लौह अनुशासनवाली पार्टों ही कर सकती है। कम्युनिस्टों को इस बात में विश्वास नहीं कि संसदीय चुनावों के यान्त्रिक उपायों से, आम चिन्तासंधी आर्थिक, तथा सहयोग-भावना के विकास के द्वारा सामाजिक क्रांति हो सकती है। वे भूले संघर्ष, आम, हड़ताल, सर्व साधारण के विद्रोह, व्यक्ति-प्रयोग और बल-प्रयोग पर विश्वास करते हैं किंतु यह करना तब चाहिये जब पूरी तैयारी हो अन्यथा क्रांति की प्रतिक्रिया हो जायगी। क्रांतिकारी मनोवृत्ति पैदा करने के लिये, यदि संभावना प्रतीत हो तो, संसदीय निर्वाचनों में भाग लिया जा सकता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि उपर्युक्त विचारधारा का आविष्कार मानव समाज की वैचारिक प्रगति की एक महत्वपूर्ण क्रांतिकारी मोड़ का बोधक है। मानव के दलित पीड़ित वर्ग के प्रति उत्पन्न होने वाली सच्ची एवं आंतरिक तथा क्रांतिकारी सहानुभूति से प्रेरित होकर असाधारण मानव प्रतिभाओं ने अपने अथक परिश्रम, चिंतन और मनन के पश्चात् ये निष्कर्ष उपस्थित किये हैं

निर्मल कुमार बोस ने लेनिन का भाव चित्र इस प्रकार उपस्थित किया है, "लेनिन एक असाधारण योद्धा की भांति है जिसने मानव जाति को बड़ी बड़ी आशाएं बंधा रखी हैं। इस महान् योद्धा की आत्मा उस आदर्श लोक के सपनों में डूबी हुई है जहां कोई भी व्यक्ति न अत्याचारों व निर्ममताओं से पीड़ित होगा, और न कोई निरक्षर। प्रत्येक व्यक्ति प्रेम से स्निग्ध होकर अपनी प्रतिभा का सक्रिय सहयोग मानव जाति के कल्याण के कार्यों में समर्पित करेगा।" ¹ आगे चल कर बोस मोक्ष ने लेनिन की उपमा उस कारीगर से दी है जो अपने सर के ऊपर मंडराते हुए मयानक अंधकार से बेखबर होकर अपने अन्तर की आकांक्षाओं से स्वयं प्रज्ज्वलित दीपक के आलोक में रात-रात भर अपनी तिहाई के सामने बैठ कर लगन और तल्लीनता के साथ अपनी स्वप्न-कल्पना को पूर्ण रूप देने में जुटा रहता है। ² इसमें कोई सन्देह नहीं कि लेनिन का कार्य असाधारण रूप से सराहनीय एवं अनुत्तरीय रूप से महत्वपूर्ण रहा है। राधाकृष्णन ने लिखा है, "साम्यवाद का महत्व स्थापन करते हुए लिखा है, "साम्यवाद केवल इसीलिए आकर्षक नहीं है कि मानव की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का वादा करता है, उसका आकर्षक इसमें भी है कि वह मानव को सामाजिक प्रतिष्ठा, समानता, आर्थिक एवं राजनीतिक दृष्टिकोणों से दूसरों की दासता और उनके अत्याचारों से मुक्ति का आश्वासन भी देता है।" ³ असाधारण से भी असाधारण व्यक्ति की भी सीमाएं हुआ करती हैं। लेनिन का साम्यवाद भारतीय सांस्कृतिक पृष्ठ-भूमि के अनुरूप न सिद्ध हो सका और विडंबना कुछ ऐसी हुई कि भारत के साम्यवाधियों ने उसे सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय सांघे में डालना चाहा भी नहीं। परिणामतः भारतीय साम्यवाद हर मामले में इस का मुलापेक्षी लक्ष्य होकर भारतीयता से विमुख होकर अराष्ट्रीय, अप्रिय एवं अस्थिर हो उठा और उसकी हिंसा प्रियता भारतीय प्रकृति के पूर्ण प्रतिकूल पड़ी। सामने भारतीयता का साक्षात् प्रतीकअथवा अवतार गांधीवाद का सूर्य भारत में चमक रहा था। अस्तु भारतीय

1. 'स्टडीज इन गांधीज्म', पृ. २४८।

(३) 'इस्ट पैड वेस्ट', पृ. १११

२. यही पृ. ३४९।

राजनीति के रंग-मंच पर साम्यवाद कोई ऐसी महत्वपूर्ण भूमिका न प्रस्तुत कर सका कि वह जन-जन के मन-मन में अनुभूत हो उठता। उसने केवल इतना ही किया कि जिस मजदूर आन्दोलन में कांग्रेस ने कोई हाथ नहीं लगाना चाहा उसको इसने प्रभावित कर लिया। ऊपर कहा जा चुका है कि हड़ताल को साम्य-वाद भी स्वीकार करता है। भारतीय साम्यवादियों ने कई बड़ी बड़ी मजदूर हड़तालें करवा दीं। इस्ते अधिक इसका कोई भी राजनीतिक महत्व नहीं रहा। इसी के अनुकूल साम्यवाद की भूमिका में हिंदी साहित्य ने एक नया और महत्वपूर्ण दृष्टिकोण पाया। मजदूरों की हड़तालें, धनिकों अथवा पूंजीवादियों की मनोवृत्तियों का पार्श्विक नृत्य, दलित-दमित-मानवता (नारी और मजदूर) का चित्रण, राजनीतिक दृष्टि से भी विभिन्न वर्ग का मूल्योत्थान, नारी की मुक्ति और उसकी ^{येहनाकी} भी बंधन-मुक्ति, साहित्य की रसवादी प्रवृत्ति की जगह विमुक्त मानवतावादी प्रवृत्ति की प्रधानता तथा अलंकार-विहीन भाषा-शैली आदि के ऊपर पढ़ने वाले साम्यवादी प्रभावों को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इन प्रवृत्तियों के उदय के पीछे साम्यवादी पृष्ठभूमि अनिवार्य रूप से प्रतीत होती है।

साम्यवायिकता

प्रायः यह देखा गया है कि हंसी के बीच में कौजा आ पुस्तक है। भारतीय राजनीति के रंगमंच पर राष्ट्रीयता एवं राष्ट्रोत्थान के अनुरंजित वातावरण में जब राष्ट्रप्रेम के परिणामस्वरूप मिल सकने वाली स्वतंत्रता रूपी अमृत कलश बिसाई पढ़ने लगा - उसकी संभावना की कल्पना मात्र हुई - तभी १९०६ में भारत के राजनीतिक रंग मंच पर ^{एक} अ-राजनीतिक, एक अधार्मिक, एक अवांछित राक्षस चुपके से घुसाकर उपस्थित कर दिया गया। "चाहे जो कुछ हो, ~~कह~~ चाहे जिस धर्म से चाही, इस अमृत को पीकर तुम सबल सशक्त होकर देव-

तार्थी को कमजोर करो फिर अमृत से संभव परिणाम को वांछनी से प्राप्त
 पा गलपने में बदल दो। यह कार्य सौंपा गया और इसमें कोई सन्देह नहीं
 कि यह कार्य उसने बड़ी ही सफलता के साथ पूरा किया। जैसा कि कई
 बार कहा जा चुका है, चतुर अंगरेजी ने इस शताब्दी के प्रारम्भ होते-होते भां
 भमें लिया था कि भारत में एक स्वतंत्र और स्वयत्त राष्ट्रीयता का उदय हो
 चुका है और यह उनके लिये सबसे बड़ा खतरा है। इसका प्रतिकार - राष्ट्रीय-
 यता का स्फुटन तभी किया जा सकता है कि जब यह विश्वास दिला दिया
 जाय कि भारत में दो राष्ट्र के लोग बसते हैं। ब्राह्म, सरकार बात-बात में
 हिन्दू और मुस्लिम का पक्ष लगाने लगी। हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच की
 एकता को तो पीछे हटाकर मुला दिया गया, टूट कर खोजा यह जाने लगा
 कि दोनों में मतभेद एवं विभिन्नताएं कहाँ कहाँ है ? तत्पश्चात् हर संभव
 उपाय से उन्हीं पर जोर दिया जाने लगा - उन्हीं को सामने लाया जाने
 लगा - उन्हीं को प्रमुक्ता दी जाने लगी - इतनी कि वही स्वयंसेवक लोगो के
 मन में बस जाय - मनोविज्ञान का अनिवार्य अंग हो जाय। रजनी पामवत ने
 इस बात का उल्लेख किया है कि साम्प्रदायिकता अंगरेजी साम्राज्यवाद की
 विशेष देन है।¹ राष्ट्रीय आन्दोलन को कमजोर करने के लिये अंगरेजी ने इस
 समस्या की सृष्टि कर दी थी - कभी मुसलमानों को बढावा देकर और कभी
 हिंदुओं का साथ देकर। साम्प्रदायिक चुनाव क्षेत्र और साम्प्रदायिक प्रतिनि-
 धित्व ने इस रोग को खूब उभाड़ा। वास्तविकता यह थी कि हिंदू धर्म और
 हिन्दू समाज की क्रान्तियाँ और उसके घुम परिणाम के कारण प्राप्त होने
 वाली हिन्दुओं की शक्ति और उसकी तेजस्विता तथा उसके व्यावहारिक स्वरूप
 को देखकर मुसलमानों ने भारतीय राष्ट्रीयता के विकास को हिन्दू धर्म के पुनरु-
 त्थान तथा इस्लाम धर्म के पराजय के रूप में देखा। संवेह, जायंका और फूट

आदि का बीजारोपण हो गया। "आर्नेस्ट ट्वेन्सी" ने लिखा है कि भारत नामक उप-महाद्वीप के अन्दर एक संयुक्त हिंदू-मुस्लिम राज्य के अन्दर मुसलमानों को यह डर था कि हिंदू बहुमत उनको बहाले जायगा। उनको अपने निकटतम भूत की याद, उच्चतम मनो-प्राप्ति और हिंदू-संस्कृति की शाश्वत शक्ति की याद हीनतम मनोप्राप्ति में उलझाये रखी।¹ इसी साम्प्रदायिक समस्या का विश्लेषण करते हुए जवाहर लाल नेहरू ने लिखा है, "अस्तु, वास्तविक संघर्ष का धर्म से कोई संबंध न था यद्यपि धार्मिकता कभी कभी वास्तविक प्रश्न पर पदां अवश्य डाल देती थी। वास्तविक संघर्ष उन दो वर्गों में था जिनमें से एक जो राष्ट्रीय, लोकतन्त्रीय और सामाजिक दृष्टि से क्रान्तिकारी नीति में विश्वास करता था, और दूसरा वह जिसका उद्देश्य सामन्तवादी प्रशासन की अवशिष्ट परंपराओं को बनाए रखना चाहता था।"² उनमें एक वर्ग ऐसा था जो पढा-लिखा और सम्पन्न था। यह अपनी नौकरी, जमींदारी, और प्रभुत्व को बनाए रखना चाहता था। उसके इस मार्ग में उसे उन्नत, समर्थ और राष्ट्रीय हिंदू भाइयों से स्तरा दिखाई पड़ता था। इस वर्ग को गरीब मुसलमान भाइयों भाई-भारता रक्षता, मिलना-जुलना, उतना ही नापसंद था, अरुचि कर था जित राजा को अपने चमरासी से। उनके इस प्रयत्न में सहायता अंगरेजों से मिल सका थी क्योंकि जनतंत्रवादी एवं समुन्नत राष्ट्रीय हिंदू से अंग्रेज भी अनुता रसे था जिसका कारण यह था कि ऐसा वर्ग उनके आर्थिक शोषण प्रधान साम्राज्यवाद में बाधक था। इस वर्ग के विरुद्ध लड़ाया किसे जाय, यह प्रश्न था। इसके लिये उसे धार्मिक दृष्टि से अत्यन्त नाजुक एवं भावप्रवण गरीब वर्ग मिला जो आर्थिक दृष्टि से हिंदू जमींदारों के अत्याचारों से पीड़ित होकर उनसे क्रुध्य भी था। कटवाने वाला मिल गया, कटने वाला मिल गया, हंसिया मिल गई, हंसिये का

1. 'दि वर्ल्ड ऐंड दि वेस्ट', पृ. ३८।

2. 'डिस्कवरी आफ इंडिया', पृ. ३९९।

का बंट मिल गया और भारत का राजनीतिक रंगमंच लाखों से घुणिततम रूप में पट गया। यह सही है कि हिंदुओं और मुसलमानों में कुछ अन्तर और कुछ विषमता थी अवश्य किन्तु इतनी नहीं थी जितना उभार कर उसे सामने रक्का गया। चूंकि यह दृष्टिकोण उन दिनों इतने स्पष्ट रूप से हमारे सामने नहीं उभर पाया था इस^{लिए अब}से बड़े विचारकों और चिन्तकों ने इस उपेक्षणीय मतभेद को वास्तविकता समझ लिया। संभवतः इसीलिये टैगोर ने लिखा है कि हिंदुओं और मुसलमानों के बीच का अन्तर एवं मतभेद वास्तविक है जिसकी उपेक्षा कर सकना बिल्कुल ही संभव नहीं क्योंकि उनके बीच वास्तविक और सम्पूर्ण एकता विकसित नहीं हो सकी।¹ टैगोर के विचार में यही कारण है कि राजनीतिक क्षेत्र में उन्हें एक करने के प्रयत्नों^{ने} आशंका और अविश्वास उत्पन्न कर दिया। हरिद्वय राम 'वचन' ने लिखा है, '१८५७ के विद्रोह के बाद भी और उसके तीस वर्ष बाद देश के राजनीतियों द्वारा इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना की जाने के बाद भी - इस देश के दो प्रमुख वर्गों - हिंदुओं और मुसलमानों की सांस्कृतिक और साहित्यिक हलचलें अलग अलग माध्यम से अलग-अलग दिशाओं में चलती रहीं। कांग्रेस के राष्ट्रीय दृष्टिकोण का साहित्यिक एवं साहित्यिक आंदोलन इस देश में सकल नहीं हो सका क्या कोई ऐसा मुसलमान पैदा किया जा सकता था जो वेदों से लेकर मुसलमानों के आक्रमण तक की भारतीय संस्कृति को अपनी समझ कर उस पर गर्व करे ? क्या कोई ऐसा हिंदू पैदा किया जा सकता था जो मुसलमानों द्वारा इस्लाम की पराजय की स्मृति से क्रुद्ध न हो ?'² प्रश्न बड़ा ही महत्वपूर्ण है और इसका उत्तर भी साधारण एवं सरल नहीं। प्रश्न यह है कि क्या जब तक इसका समुचित उत्तर एवं समाधान नहीं मिल पाता तब तक हम एक दूसरे को लाल आंखों से घूरते ही रहेंगे ! ऐसे स्थलों एवं अवसरों पर उसका धैर्यत्व अधिक हो जाता है जो अधिक बड़ा, अधिक सम्पन्न, और अधिक

१. 'टुवर्डस यूनिवर्सल मेन', पृ. १४५

२. 'नये पुराने धरोहर', पृ. ११८।

समर्थ हो। उससे अधिक त्याग और उदारता की मांग की जा सकती है। अत्यन्त दूरदर्शी, सूक्ष्मदर्शी और मर्म हू सकने वाले गांधी जी ने इस सांप्रदायिक समस्या का समाधान बहुमत वाले वर्ग की अल्प मत वालों के प्रति असीमित सहभावना और उदारता के व्यवहार के द्वारा सौजना चाहा था। संपन्न। तत्कालीन परिस्थितियों में इससे अधिक सुन्दर उपाय और कोई था भी नहीं। हमें उन्हें जीतना था, उनका विश्वास प्राप्त करना था न कि उनके साथ सौदा करना। दुःख है कि सब लोग न इसे समझा पाये और न ^{अप}ना पाये जिसका परिणाम हुआ कलकत्ता, नौआसाली, बिहार, गढमुक्तेश्वर, अमृतसर, लाहौर, रावल पिंडी, उत्तर पश्चिम सीमाप्रान्त के सुनने वालों को भी धर्रा देने वाले बंगे। इससे लोगों के दिल बांटने शुरू कर दिये, दिमाग बांटने शुरू कर दिये, व्यवहार बांटने शुरू कर दिये। यह बात सही है कि भारत माता को बांटने के पहले लोगों के दिल बांट दिये गये थे। माया भी इससे अछूती न बच सकी; साहित्य भी इससे अछूता न बच सका। लोगों ने संस्कृत को हिन्दू और फारसी-अरबी को इस्लाम मान लिया, देवनागरी लिपि को हिन्दू और फारसी लिपि को मुसलमान मान लिया। आश्चर्य है कि जायसी, रहीम, रसखान, घनानन्द, आलम, घेस, आदि के बंजारे ने उसकी रसमरी बोली और साहित्य का परि-त्याग कर दिया। इस प्रकार उर्दू को हिंदी के विरोध में सड़ा कर दिया गया। आधुनिक हिन्दी साहित्य को मुसलमानों की वस्तुस्थिति की प्रतिमा का वास्तविक और समुचित योग-दान न प्राप्त हो सका और इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस में योही बहुत हानि अवश्य हुई है। इस प्रवृत्ति से होने वाली दूरताओं ने कहा था 'राम-रहीम' और इन्सान मर गया' जैसी दो स्थायी महत्व की कला-कृतियों की सृष्टि करवा ली। तो, -इस

भारत और अंगरेजी राजनीति

तो, इस अर्थशास्त्री में भारत अंगरेजी के हाथों से निकल

गया । उनकी राजनीतिक गुलामी से छुट्टी पा गया । उसे कलम और प्रीति-
 रीति से वापस लौटा दिया — जिसे कभी तलवार और कूटनीति से लिया था।
 सचमुच भारत का महत्व इंग्लैंड यूरोप के लिये असाधारण था। भारत की ^{विजय} भावना
 ने एका २०० वर्षों तक यूरोप के इतिहास की रूपरेखा निश्चित की है और गति-
 विधियाँ निर्धारित की हैं। इसी की लालच में अनेक युद्ध लड़े गये। इसीने इंग-
 लैंड की भीतरी राजनीति तथा सारे राजनीतिक और सामाजिक ढाँचे की रूप-
 रेखा निश्चित की है। भारत ब्रिटिश साम्राज्य का रथ रहा है। ब्रिटिश पूंजी-
 वाद् की रूपरेखा उसका ढाँचा और उसका विकास भारत ने ही बनाया है।
 इस भारत की अंगरेजों ने आसानी से नहीं छोड़ा है। उनकी विधेयता या उन
 की कालमसाहत या अच्छाई इतनी अवश्य रही कि वे ठीक समय पर ठीक से चले
 गये। इस सब का श्रेय क्लेमेन्ट फटली को ही है - नहीं तो, इस समय भी इंग-
 लैंड में बर्चिल जैसे अनुदार लोगों की कमी नहीं थी। इन लोगों से प्रारम्भ से
 अंत तक भारत को पराधीन बनाये रखने में कुछ कसर बाकी नहीं रखी। इस
 बीसवीं शताब्दी में अंगरेजों ने भारत की दकियानुसी शक्तियों को जीवित रक्खा,
 सक्रिय रक्खा, उनकी सहायता की और उनसे सहायताएं लीं। चतुराई के साथ
 भारत को फूट, धोसा, घमन और पुरानेपन को बनाए रखने की उनकी प्रवृत्ति
 बराबर बनी रही। वे हिंसात्मक रहे। वेसी राजाओं नवाबों, बड़े बड़े और
 छोटे-मोटे जर्मींदारों, तालुकेदारों और नवाबों को ये लोग बराबर बनाए रहे।
 इनकी ^{कठ} पुतलियों में सर पर कलंगीदार साधे और ^क बंगल में लटकती तलवार
 के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं था। न तो साफे के नीचे बुद्धि छी थी और न
 तलवार की म्यान की पार्श्ववर्ती कलाइयों में बल। इनकी मूर्खता की एक शलक
 मुल्कराज आनन्द के प्रसिद्ध उपन्यास 'एक था राजा' के नायक के क्रियाकलाप
 और चरित्र से मिलती है। इनके सौतेलेपन का एक उदाहरण 'गोदान' के 'होरी'
 के नाँव के जर्मींदार और 'सीधीसादा ^{रा} अस्ता' के नवाब के रूप में मिल जाता है
 और समस्त विशिष्टताओं के साथ मिलता है। ये जनता पर मनमाना कृत्या-

चार कर सकते थे। इन्हें कानूनों को उठाकर ताक पर रस देने की इजाजत थी। इनके देश की वास्तविक और निर्णायिका राजनीतिक शक्ति अंगरेजों के ही हाथों में थी। ये राजा-लगाव बौद्धिक दिवालियेपन के प्रमाण थे। मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से ये पिछड़ेपन की सबसे भयानक स्थिति में थे। गुलामी, बेगारी, दमन, कुशासन, पतन, अत्याचार और ब्रह्म-चार का इन रियासतों में नंगा नाच होता था। साम्राज्यवादी अंग्रेज सबसे पहले तो इस बात को ही मानने के लिये नहीं तैयार था कि भारत एक राष्ट्र है। उनके अनुसार अंग्रेजी शासन ने ही सबसे पहले भारत में राष्ट्रीय एकता स्थापित की। वास्तविकता तो यह है कि भारत को निर्बल करने के लिये हमारे अंग्रेज प्रभु ने भारत को एक छोटा-सा महाद्वीप कहा, विभिन्न धर्मों की उपस्थिति को एक राजनीतिक उलझन का स्वरूप दे दिया, जातियों और वर्गों की विभिन्नता आदि परजोर दिया, छूत-अछूत के भेद-भाव को बढ़ाकर हमारे सामने रक्खा, और भाषाओं की संख्या में निरन्तर वृद्धि करने का प्रयत्न किया। एक पीढ़ी पहले अछूतों और दलितों की संख्या लगभग ३ करोड़ थी, १९१० में ~~मानसिक-नैतिक~~ वेलेण्टाइन विरोल ने उसे ५ करोड़ बताया और १९२९ में वीरा ऐंस्टी महोदय ने ६ करोड़। १९०१ में भारत में १४७ भाषाएं थीं, १९२१ में २२२ भाषाएं हो गईं। काबुई ४ आदिमियों की, गांधी ९ आदमी की और गोर २ आदमियों की भाषाएं थीं। वैसे ये कितनी ही नगण्य हैं किंतु भाषा वृद्धि के लिये तो महत्वपूर्ण थीं ही। स्पष्ट है कि ये प्रवृत्तियाँ अरा-
^{प्रधान-अर्थव्यवस्था के हिंदी साहित्य में शारीरिक श्रम के परिणामस्वरूप और वास्तविकता के आगुह के परिणाम}
 राष्ट्रीय यौन और राष्ट्रीय स्वरूप इन प्रवृत्तियों को कोई भी महत्व या प्रयत्न नहीं मिला। उसमें भारत एक अलंङ्कृत व्यक्तिवाले सजीव अस्तित्व - माता - के रूप में प्रतिष्ठित है। वहाँ धर्मों की बाहरी विभिन्नताओं का उल्लेख तक नहीं है। वहाँ धर्मों के प्राणतत्त्व को अपनाया गया है। जातियों की विभिन्नता आधुनिक हिन्दी साहित्य का विषय न बन सकी। वर्ग-भेद साम्यवादी साहित्यकारों की कृतियों में अवश्य कुछ मिलता है किन्तु वह साधन है समस्त जन-

समूह के अन्तर्गत उन्धान के लिये। वहाँ विभिन्न भाषाओं को कोई भी महत्व नहीं दिया गया। यहाँ तक कि ब्रजभाषा और सड़ी बोली के स्वतंत्र अस्तित्व को भी कोई महत्व नहीं दिया गया। सबको मिलाकर जैसे एक राष्ट्र कहा गया वैसे ही समस्त बोलियों को एक ही संता - हिन्दी - से अभिहित किया गया।

हमें किसने जगाया ?

सब तो यह है कि भारत के राष्ट्रीय जागरण का श्रेय अंगरेजों की शासन-नीति को उतना नहीं है जितना विश्वव्यापी विचारधाराओं की क्रान्ति और अनिवार्य परिस्थितियों को। यदि साम्राज्यवाद अपने मन से पराधीन राष्ट्र की राष्ट्रीय चेतना का वैताग होता तो संसार का इतिहास कुछ और ही होता। साम्राज्यवादी अंगरेज यह कहते हैं कि हमको बर्क, मेकाले, गैल्टन आदि ने जगाया। १९१८ ई. में मांटेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट के लेखकों ने भारतीय जागरूक वर्ग को बौद्धिक रूप से अपनी सन्तान माना है। शायद शोषक वर्ग मां-बाप का पद लेने में बहुत कम खरमाता है। भारत के जमींदार और तालुकदार भी शोषितों से अपने लिये 'मां-बाप' का संशोधन सुनने में संतोष का अनुभव करते थे। ध्यान रहे कि अंगरेजी शिक्षा और अंगरेजी साम्राज्यवाद - ये दोनों चीजें हैं। बर्क, मिल, डेली, पटली और क्लाइव, हेस्टिंग्स, डलहौजी चर्चिल, किप्लिंग - ये दोनों दो वर्ग हैं। वेराभिलेस डीन ने लिखा है कि गांधी यह जानते थे कि अपने देश के अन्दर अंग्रेज जाति को विभिन्न विचारों में विभक्त है प्रथम - साम्राज्य को बनाये रखने की तीव्रतम इच्छा और द्वितीय, जिन उपायों का उपयोग करने में हिटलर और स्टैलिन की तन्त्रिणी भी हिंसक न होती ^{विपक्ष} सम परिस्थितियों में भी उन उपायों को भारतीय राष्ट्रवाद के विरुद्ध प्रयोग करने में अक्षम और धुरा।" पं. जवाहर लाल नेहरू ने भी इसी प्रकार को इंग्लैंड की कल्पना की है। इनमें से एक का श्रेय दूसरा नहीं ले सकता;

१. "न्यू पैटर्न ऑफ डिमांडेरी", पृ. ७३।

एक का घोंघ दूसरे के सिर पर नहीं लाया जा सकता। हिंदी जनता और हिंदी साहित्य पर प्रभाव दूसरे इंग्लैंड का पडा है। अस्तु, रुपये का लालची इंग्लैंड और साम्राज्य का सूता अंगरेज जिस दिन से भारत में आया उसी दिन से इस उसके विरुद्ध हो गए। हम १७५७ में लड़े, १८५७ में लड़े, और १९४२ में लड़े। जनता की बरबादी, भारतीयता का विध्वंस और जनता का शोषण उनका इतिहास है, अस्तौष, बेचैनी तथा राष्ट्रीय जीवन और संस्कृति की रक्षा के लिये संघर्ष और बलिदान हमारी कहानी है। १८३५-३६ में भारत के गवर्नर जनरल मेटकाफ ने लिखा था, "पूरा भारत हर घड़ी फूट मनाया करता है कि हमारा तख्ता उलट जाय। हमारे विनाश पर हर जगह लोग तुम्ही खुशियां मनाएंगे..... और ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है जो उस घड़ी को नजदीक लाने में अपनी पूरी ताकत लगा देंगे।" मि. ए. जी. ह्यूम की जीवनी के लेखक सर विलियम वेडर बर्न ने लिखा है कि दुर्भाग्य से सरकार ने जिन प्रति-क्रियावादी उपायों से काम लिया और जिन तरीकों से पुलिस के द्वारा दमन किया उन सबका यह नतीजा हुआ कि लार्ड लिटन के जमाने में भारत में चन्द दिनों के अन्दर एक क्रान्तिकारी विस्फोट होने की आशंका पैदा हो गई।

१८५७ के बाद अंगरेजी साम्राज्यवाद ने सामन्तवादी उक्तियों से मिश्रता कर ली। अंगरेज उनके क्रियाचारों और आचारों को बर्दाश्त करने लगे और ये अंगरेजों के भारत शोषण को सुपचाप सहने लगे। किन्तु तब तक जनता का पक्ष समर्थन करने के लिये और उसकी सहायता करने के लिये एक उदार और प्रगतिशील तथा भारत की राष्ट्रीयता तथा संस्कृति का समर्थक मध्यम वर्ग जन्म लेकर क्रियाशील होने लगा था। उसकी स्वामी विवेकानन्द के पांचजन्य के इस उद्घोष ने प्रबुद्ध कर दिया था कि 'पहले देखो ही पीछे धर्म। अपने निर्धन देशवासियों से इसी भाँति प्रेम करना सीखो जिस प्रकार तुम्हारे देव तुम्हें सिखाते हैं।'

219

इस मध्य वर्ग का हित और स्वार्थ अंग्रेजी पूंजीवाद और साम्राज्यवाद से टकराया। इस टकराव के साथ संघर्ष अनिवार्य होगया। अंग्रेजी पूंजीवाद ने भारतीय पूंजीबतियों और व्यापारियों और अंगरेजों को ही ऊंची और कठ्ठी नौकरी देने की नीति ने भारतीय बौद्धिक प्रतिभा का अपमान किया। स्वार्थ ने राजभक्ति को ठकेल बाहर किया। भारत का प्रत्येक वर्ग अंगरेजों के विरुद्ध था। उद्योगपति इसलिये विरुद्ध थे कि अंगरेजों के संपूर्ण नियंत्रण और पक्षपात पूर्ण नीति के कारण इनका विकास और इनकी उन्नति नहीं होने ^{प्राप्ती} पक्षी थी। पड़े-ल्ले वर्ग वाले अपनी योग्यता के अनुसार ^{नौ} करी ^न पाने के ^{आप} लिये अप्रसन्न थे। किसान लगान और भूमि व्यवस्था के कारण अपनी मयानक गरीबी का कारण अंगरेजों को समझने के कारण उनसे ^{यदि} विरुद्ध था। मजदूर वर्ग उन्हें अपनी स्थिति के सुधार मार्ग का रोडा समझता था। परिस्थितियां ऐसी थीं कि राष्ट्रीयता का उदय अवश्य होता। कौन कह सकता है कि ^{यदि} पंडित जवाहरलाल नेहरू, गांधी, तिलक, पटेल, आदि अंगरेजी न जानकर केवल संस्कृत ही जानते होते तो भारत में वह न करते कर-केवल-संस्कृत-ही-जानते-होते-तने जो किया!" क्या आत्मा और स्वभाव विचारों की अभिव्यक्ति के माध्यम भाषा और बाह्य साहित्य के बलीभूत होकर क्रियाशील होता है। भारत की राष्ट्रीय चेतना यहाँ की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक पुर्गति का परिणाम है। हमें घोषण और अपमान की तीली जु चुपन ने स्वाधीनता की मांग के लिये मजबूर कर दिया था। रजनी पामफा ने लिखा है, "भारत के राष्ट्रीय आंदोलन का इतिहास उसकी विकसित होती हुई चेतना का इतिहास है। राष्ट्रीय स्वतंत्रता के इस आंदोलन का मूलधार है यहाँ का विशाल जन-समूह"। इसी प्रकार चंकर कलात्रेय जावडेकर ने अरविंद का यह कथन उद्धृत किया है, "राष्ट्रवाद के संदेश का जन्म निराशा से नहीं हुआ है..... इसका जन्म भीकृष्ण की तरह मन्वीगृह में हुआ है। जिन्हें

अनियन्त्रित किन्तु उदार सुराज्य वाला हिंदुस्तान जेल की काल कोठरी की तरह असल मालूम होता था उनके हृदय में इसका जन्म हुआ है। श्री कृष्ण का लालन पालन जैसे दरिद्र और अज्ञानी जनता के अज्ञात घर में हुआ उसी तरह यह राष्ट्रवाद सन्यासियों की गुहा में, फकीरों के बेध में, युवकों और लड़कों के हृदयों में, (बलिदानियों के) अंतःकरण में और (त्यागियों के) जीवनो में धीरे-धीरे बढ़ा और पनपा है.....। यह राष्ट्र धर्म एक अवतार ही है..... यह परमात्मानियुक्त व्यक्ति है और वह ईश्वर नियोजित कार्य को पूरा किये बगैर विश्व की चित् व्यक्ति में, जहां से कि उसका उद्गम हुआ है, फिर नहीं मिलने की।^१ इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह विश्वात्मा से उद्भूत एक विश्वव्यक्ति थी क्योंकि समस्त विश्व में यह ठयाप्त होगई थी। सभी देशों में स्वाधीनता का राष्ट्रीय आंदोलन एवं जन-आंदोलन सागर की उमंग भरी उमड़ती हुई तरंग-समूह की भांति आगे बढ़ा। साम्राज्यवाद के पैर डगमगाए। औपनिवेशिक स्वतंत्रताकी आंधी में ठूठ साम्राज्यवाद की इसी-इसी निष्प्राण जड़ें हिल उठीं। जन-जागरण और राष्ट्रीय असन्तोष की ठफनती हुई लहरें गरज-गरज कर घोषित कर रही थीं - "भारतीय झाम्ति सकल हो", "इन्कलाब जिन्दाबाद"। एटली ने कहा था कि "मुझे पूरा विश्वास है कि इस समय भारत में और सारे एशिया में राष्ट्रीयता की धारा पूरी तेजी से बह रही है।" इसी राष्ट्रीयता की पुच्छभूमि में आधुनिक हिंदी साहित्य का जन्म हुआ है और इसी के साथ-साथ उसका विकास भी हुआ है। दोनों में बहुत कुछ समानताएं हैं। श्यामसुन्दर दास ने लिखा है, "हिंदी बोलने वाला गंवास समझा जाता था। वह बड़ी हेय दृष्टि से देखा जाता था"^२। जिस प्रकार राष्ट्रीयता का विकास यमन और जेल के वातावरण में हुआ है उसी प्रकार आधुनिक

१. 'आधुनिक लिक्वर्स' भारत', पृ. १४५-१४६।

२. 'मेरी आत्म कहानी', पृ. २०-२१।

हिंदी साहित्य का विकास भी मर्यादा उपेक्षा और अवज्ञा के प्राणांतक वातावरण में हुआ है। हजारों प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, "संसार के इतिहास में ऐसी दूसरी भाषा शायद नहीं है जो स्वयं और से उपेक्षित रहते हुए भी इतनी व्यक्ति अर्जन कर सकी हो आधुनिक हिंदी भाषा का साहित्य प्रतिकूल और विसंगत परिस्थितियों के बीच रचा गया है एक और साहित्यकारों को उपेक्षा का शिकार होना पड़ा है, दूसरी ओर अवज्ञा की चोट सहनी पड़ी है। इस दुहरी मार के कारण साहित्यकार को अधिकांश व्यक्ति परिस्थितियों से जूझने में संघर्ष करनी पड़ती है लेकिन हिंदी के महाप्राण साहित्यकार विचलित नहीं हुए यह कहानी जितनी ही सेदजनक है उतनी ही स्तुतिदायक"¹ इस साहित्य का राष्ट्रीयता से इतना तात्पर्य है कि उपर्युक्त उद्धरण में यदि हिंदी की जगह "भारत", "साहित्य" की जगह "देश", "साहित्यकार" की जगह "देशभक्त" कर दें तो यह कहानी भारतीय राष्ट्रीयता की होयगी। जैसे भारत की राष्ट्रीयता सम्मिलित व्यक्ति वाली भारतीय जनता के मानस में पनपी वैसे ही आधुनिक हिंदीसाहित्य (के) निर्माण का मार उन लोगों पर पड़ा जिनकी व्यक्ति परिमित थी"²। निम्न मध्यवर्ग के गरीब देशभक्तों की तरह, इन साहित्यकारों में प्रतिभा और बुद्धि उतनी नहीं थी जितनी लगन, ईमानदारी, कष्ट, सहिष्णुता, परिश्रम, राष्ट्रभाषाभक्ति, आत्म-सम्मान और राष्ट्र-प्रेम। इनको सुख, आराम, खान-पान और रोबदाव की उतनी चिन्ता नहीं थी जितनी एक उच्चतर नैतिक सन्तोष की। उन्हें इस बात की इतनी चिन्ता नहीं होती³ कि उनका कार्य या उनकी कृति महत्व और कला की दृष्टि से किस कोटि का है। लिखना एक कर्तव्य है इसलिये लिख और पवित्र कार्य करने का सन्तोष पा लिया। देशभक्तों का कार्य जितना निष्काम था उतना ही इन साहित्यकारों का भी। वे प्रेम भी करते थे। स्नेह भी

१. 'हिन्दी साहित्य', पृ. ५०७।

२. 'मेरी अपनी कथा', पृ. ८१, पद्मलाल पुन्नालाल बख्शी।

करते थे। देश और ईश्वर से भी प्रेरित होते थे। उनका दावा महात्मापने का नहीं था। उनका दावा विश्व साहित्य का नहीं था। फिर भी उन्होंने जिसका सृजन किया वह राष्ट्रीयता की ही भांति महत्वपूर्ण है। कारण यह है कि दोनों की पृष्ठभूमि एक ही थी - और कुछ हद तक दोनों के कार्यकर्ता भी एक ही थे।

राष्ट्रीयता

और राष्ट्रीयता है क्या ? इस बात को यदि हम ठीक से समझ लें तो आधुनिक हिंदी साहित्य और राष्ट्रीयता के इस घनिष्ठतम संबंध का कारण समझ लेंगे। ए. आर. वेत्सर्ड ने राष्ट्र और राष्ट्रीयता संबंधी बात धारणा इस प्रकार अभिव्यक्त की है कि राष्ट्र मनुष्यों के उस समुदाय का नाम है जिसमें निम्नलिखित विशेषताएं हों :- (१) उस पूरे समुदाय की एकमात्र एक ही सरकार हो, (२) उस समुदाय के सभी व्यक्तियों के सम्पर्क की एक निश्चित निकटता और उसका एक स्वरूप होना चाहिये, (३) उसकी एक निश्चित सीमा-रेखा हो, (४) उसकी अपनी कुछ ऐसी विशिष्टताएं हों जो उसे अन्य राष्ट्रों या राष्ट्रीयता विहीन वर्गों से स्वतंत्रतः सिद्ध कर सकें; (५) व्यक्तियों के कुछ सामान्य स्वार्थ या हित हों, और (६) लोगों के मस्तिष्क में उस राष्ट्र का जो चित्र है उस चित्र से संबंधित कुछ अनुभूतियां, भावनाएं या इच्छाएं कुछ हद तक लोगों में सामान्य रूप से पाई जायें। नत युगों का सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास, वर्तमान राजनीतिक आर्थिक और सामाजिक ढांचा, समाज के विभिन्न वर्गों की मनोवैज्ञानिक और आर्थिक प्रवृत्तियों की कुछ सास विशिष्टताओं आदि के आधार पर किसी देश की राष्ट्रीयता का स्वरूप निर्मित होता है और विकसित होता है। आज के मानव समुदाय में राष्ट्रीयता की मनोवृत्ति

सर्वप्रमुख, सर्वप्रधान और सर्वाधिक शक्तिशाली एवं वेगवती मनो-
भावना हो गई है। विश्वराजनीति के विश्वकोष में "राष्ट्रीयता को ऐसी
सामुदायिक मनोभावना माना गया है जिसका मूलधार राष्ट्रीय विशिष्टताएं
हों जैसे भाषा और संस्कृति आदि। इसकी प्रवृत्ति है राष्ट्रीय इकाइयों के बीच
के अन्तर को अधिक महत्व देना। इस मनोभाव को खूब बढ़ा बढ़ाकर उपस्थित
करना भी राष्ट्रीयता माना जाता है। एक दूसरे प्रसिद्ध विश्वकोष में राष्ट्रीय-
ता भक्ति का एक ऐसी स्थिति को कहा गया है जिसमें किसी व्यक्ति की
समस्त एवं सर्वोच्च शक्ति अपने राज्य के कारण और उसके लिये ही होती है।^१
यहां राजा या राष्ट्र का जनता के साथ पूर्णरूप से तादात्म्य हो जाता है।
जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है, "विगत उपलब्धियों, ~~जैसे~~ परम्पराओं और अनु-
भवों का सामूहिक स्मरण ही मूल रूप से राष्ट्रीयता है।"^२ उपर्युक्त परिभाषाओं
पर विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि राष्ट्रीयता का मूलधार संस्कृति है
अर्थात् हम यह कह सकते हैं कि भारतीय राष्ट्रीयता भारतीय संस्कृति से अनुरं-
जित एवं अनुप्राणित है। भारतीय संस्कृति का आधार आस्तिकता, उच्च-
कोटि की नैतिकता, साधना के साधनों की पवित्रता, सात्त्विकता, आदर्श के
प्रति निष्ठा, अद्वैत भाव की प्रतीति आदि है। परिणाम यह हुआ कि हमारी
राष्ट्रीयता का आधार हो गया वैयक्तिक नैतिकता। व्यक्तिगत पवित्रता,
व्यक्तिगत महानता, व्यक्तिगत साधना, साधन-बुद्धि, हृदय-परिवर्तन, अस्पृश्यता
निवारण, हिंदू-मुस्लिम एकता की भावना, चरखा, अहिंसा, पारवात्य संस्कृति
के प्रति आदर रखते हुए उसके केवल सच्चे अंशों को ही अपनाने की प्रवृत्ति, असहयोग
बहिष्कार प्रामोदध्यान, व्रत, उपवास, अन्नदान आदि हमारी राष्ट्रीयता के अनि-
वार्य अंग हो गये। किसी भी देश का राष्ट्रीय आन्दोलन और उसकी प्रेरणा-

१. 'एनसाइक्लोपीडिया आफ वर्ल्ड पोलिटिक्स', पृ. ३०१।

२. 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका', पृ. १४९।

३. 'डिक्शनरी आफ इंडिया', पृ. ५२८।

शक्ति राष्ट्रीयता इतनी पवित्र, आत्मोत्थान में इतनी सहायक, इतनी रचनात्मक एवं सुधारात्मक, तमसु से इतनी मुक्त, समझौता-सहयोग-सद्भावना से इतनी युक्त, एकमात्र जागरण एवं उत्थान की भावनाओं से परिपूर्ण तथा विपक्षी के प्रति घृणा एवं विनाश की भावनाओं से अकलुषित एवं अमलीन नहीं जितनी भारत की। इसलिये हमारे देश की राष्ट्रीयता में विश्व की सामान्यतः प्रचलित राष्ट्रीयता के दोष नहीं आने पाये। हमारी राष्ट्रीयता आक्रमणशील न होकर, रचनात्मकता एवं उत्थानात्मकता थी। यही कारण है कि इस राष्ट्रीयता की भावना से प्रेरित हमारा आधुनिक हिन्दी साहित्य भी सात्विकता-प्रधान है। बहुत अधिक हुआ तो उसमें थोड़ी बहुत रजसु की भावनाएं आ गईं। इसीलिये इस साहित्य में आस्तिकता की प्रधानता है। इसमें किसी जाति के प्रति घृणा नहीं व्यक्त की गई। बहुत हुआ तो विरोधी के अत्याचारों व अन्यायों का चित्रण मात्र कर दिया गया। इसमें भी समाज के उत्थान की भावना की ही प्रधानता है। हमारा यह साहित्य आक्रमणशील नहीं है। हमारे इस साहित्य में विनाश का आह्वान उतना अधिक नहीं है। वह किसी को उत्तेजित नहीं करता। इस सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से वंचित ही कोई लिख सकता है कि पूर्व पूर्व है और पश्चिम, पश्चिम, , दोनों कभी मिल नहीं सकते। हमने सामूहिक रूप से यह कभी नहीं लिखा कि हे हिटलर "स्वर लेने बाकिंगम की जो अब की बार तुम जाना, हमारे नाम से भी चार गोले फैकले जाना" या हमने अंगरेजों से यह नहीं कहा, "बकत लिखलेना कसाना एक नये मजदूर की, जिसकी सुर्ती को जरूरत है तुम्हारे शून की।" ये ठरूँ साहित्य की पंक्तियाँ हैं।

लोकतन्त्र :-

शासक और शासित का एक संबंध हुआ करता है और इस नाते वे दोनों एक दूसरे को प्रभावित किया करते हैं। इस नाते भी हम अंगरेजों की लोकतन्त्रात्मक पद्धति से बहुत प्रभावित हुए। यह लोकतंत्र या डेमोक्रेसी है क्या?

"डेमोक्रेसी" शब्द यूनानी भाषा के दो शब्दों से मिलकर बना है। जिनमें से एक का अर्थ है "जनता" और दूसरे का, "राज्य करना"। विश्वकोष के अनुसार डेमोक्रेसी सरकार का वह रूप है जो जनता के स्वशासन पर आधारित है और जो आज कल प्रतिनिधि संस्थाओं द्वारा स्वतंत्रतापूर्वक निर्वाचित प्रतिनिधियों पर आधारित है। यह जीवन की एक पद्धति है जो सभी व्यक्तियों की समानता की मौलिक एवं मूलभूत धारणा पर आधारित है और जिसका आधार है जीवन का, स्वतंत्रता का (जिसमें विचारों और उसकी अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता भी मिली है) और सुख की प्राप्ति के लिये किये जाने वाले प्रयत्नों को कर सकने का अन्य किसी के भी समान बराबर अधिकार। इस प्रणाली में प्रत्येक व्यक्ति समान रूप से महत्वपूर्ण समझा जाता है। अपनी योग्यता के अनुसार जो भी जो चाहे, बन सकता है। प्राप्त कर सकता है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिये और सुसंपूर्ण जीवित रह सकने के कारण लिये स्वतंत्रता होती है। ऐसा नहीं है कि यह प्रणाली असमताओं, विषमताओं और भेदों को न स्वीकार करती हो। वह इनकी अपेक्षा समानताओं, समताओं और स्निग्धताओं को अधिक महत्व देती है। इसमें सहिष्णुता समझौता और मतेक्य एवं अधिकाधिक मतेक्य के अनुसार कार्यों के करने पर बल दिया जाता है। यहाँ सरकार जनता के प्रति उत्तरदायी होती है और जनता जब चाहे तब सरकार को बदल सकती है। स्पष्ट है कि अंगरेजी साम्राज्यवाद की उपस्थिति में यह लोकतंत्र पूरी तरह से यहाँ नहीं बन सकता था और इसलिये नहीं बन पा किन्तु उसका नाटक, हो सकता था सो किया गया। उसे देखकर उसकी एक छाँकी हमें अवश्य मिल गई। हाँ, लोकतंत्र के स्वरूप को बोझिल दृष्टि से समझने, उस पर विचार करने और तत्संबंधी साहित्य के अध्ययन मनन का हमें अवसर अच्छी तरह से मिल सकता था और हमने इस अवसर का उपयोग किया। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्यक्ष रूप से नहीं, किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से

हमारा आधुनिक साहित्य इस लोकतंत्र की भावना से प्रभावित अवश्य हुआ है। जो स्वयं एक भगवान को देखता है और एक भगवान में ही सभी को देखता है वही सच्चा जानी और सच्चा समझदार है, यह भावना हमें गीता सिखाती है। इस सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में हमने लोकतंत्र को ग्रहण किया। परिणाम यह हुआ कि आधुनिक हिंदी साहित्य में किसी रामचन्द्र ने किसी तपस्वी ब्रूह्म को मारने का धार्मिक या कानूनी समर्थन नहीं पाया और न किसी परशुराम ने पृथ्वीतल पर से किसी जाति के उन्मूलन का अनुष्ठान किया क्योंकि लोकतंत्र की धारणा के अनुरूप आधुनिक भारत में कानूनों का स्वरूप जनतात्मक था। एक जाति के रूप में आधुनिक हिन्दी साहित्य में ब्राह्मण, क्षत्रिय, या किसी भी विशेष वर्ग के लिये कोई विशेष प्ररिचायत नहीं थी। सभी के लिये एक से सिकके, सभी के लिये एक-से कानून, सभी के लिये एक-सी शिक्षा, पद्धति, सभी के लिये प्रशासन की एक-सी भाषा-बैली और सभी के लिये एक-सी अर्थ व्यवस्था। आधुनिक हिन्दी साहित्य में यदि ब्राह्मण कहीं विशेष रूप से प्रतिष्ठित है तो इसलिये कि भारतीय संस्कृति के अनुसार ब्राह्मणत्व मनुष्य का श्रेष्ठतम और आवश्यकतम स्वरूप है। नहीं तो, डा. राम कुमार वर्मा के 'कौमुदी महोत्सव' का क्षत्रिय चन्द्रगुप्त ब्राह्मण चाणक्य के अंड अधिकार पर प्रश्न चिन्ह लगा देता है।

सुधार आन्दोलनों का प्रभाव

गांधी जी की राष्ट्रीयता में समस्त आधुनिक सुधार आन्दोलन की प्रवृत्तियाँ एकत्र थीं और इस राष्ट्रीयता से प्रभावित आधुनिक हिंदी साहित्य ने इन समस्त आन्दोलनों के प्रमुख तत्वों को अपना लिया है। अपने से पहले के सुधारकों के द्वारा तैयार की गई पृष्ठभूमि का गांधी ने सदुपयोग किया और उन्होंने राजनैतिक आन्दोलनों को एक जानदार इमारत तैयार कर दी। उन्होंने

राष्ट्रीयता, धार्मिकता, सामाजिकता, नैतिकता आदि का आश्चर्यजनक अद्भुत और गौरवपूर्ण समन्वय किया। हिन्दी साहित्य में सुमित्रा कुमारी चौहान की "छाँसी जाली रानी", कविता तथा वृन्दावन लाल वर्मा का "छाँसी की रानी" नामक उपन्यास इसी राष्ट्रीय भावना की कृतियाँ हैं। रांगेय राघव का "सीधा सादा रास्ता" और भगवती चरण वर्मा का "टेढेमेढे रास्ते" आदि अनेक उपन्यासों के पीछे राष्ट्रोत्थान की ही भावना है। "नये पुराने छरोसे" में बच्चन ने लिखा है कि विनकर ने गांधी के चलितों द्वारा आंदोलन से प्रभावित हो कर बुद्ध पर कविता लिखी और सियारामचरण गुप्त का "एक फूल की चाह" का भी विषय अहूतों द्वारा ही है। प्रेमचन्द आदि के उपन्यास, दिनकर-भारतीय पद्मभट्टा-सोहनलाल द्विवेदी आदि की कविताओं में राष्ट्रीय संघर्ष प्रतिष्ठित है। गुप्त जी की कविताएं प्राचीन हिंदुत्व और भारतीय गौरव के सबलतम तथा प्रभावशाली चित्रों से परिपूर्ण हैं। अंगरेजों के यमन की प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप होने वाले आतंकवादी आन्दोलन^{में} "रक्त मंडल" आदि जासूसी उपन्यास बंदीजीवन" आदि आत्मकथाएं, तथा "भारत में सस्त्र क्रांति का इतिहास" आदि ऐतिहासिक ग्रंथों का प्रणयन हुआ। "राम-रहीम" की पृष्ठभूमि साम्प्रदायिक आन्दोलन हैं। राजनीति के एक अनुचित पक्ष के प्रभाव का चित्रण करते हुए सुमित्रानन्दन पंत ने लिखा है, "उस युग का साहित्य, विशेष कर आलोचना क्षेत्र किस प्रकार संकीर्ण, पकांगी, पक्कर तथा बाधग्रस्त है और उसमें तब की राजनीतिक बलबन्धियों के प्रतिकूल स्वरूप किस प्रकार मान्यताओं तथा कला-रुचि संबंधी साहित्यिक संबंधियां रही हैं।" ~~२१~~ ^{उला} ने तथा राष्ट्रीयता और आधुनिक हिंदी साहित्य का संबंध दिसाते हुए नन्द ^{उला} कुमार बाजपेयी ने लिखा है, "हम तो यहाँ तक कहना चाहेंगे कि इस व्यापक राष्ट्रीय जागृति की हलचल में ही हमारा यह साहित्य पनपा और फला-फूला है..... नव जागृत राष्ट्रीयता की

प्रेरणा से कितने ही कला नपकवि और लेखक नया साहित्य निर्माण करने लगे।

ये।^१ इसी प्रकार अतुलबन्धु चटर्जी ने लिखा है कि भारतीय सेना में "कमीशन पाये हुए भारतीयों की संख्या वस्तुतः शून्य थी और भारतीय सैनिकों की

तरक्की की और नेतृत्व के पद तक पहुंचने की कोई भी संभावना नहीं थी।"^२

तात्पर्य यह कि द्वितीय महायुद्ध तक भारतीय सरकार भारतीयों को मिलिटरी के गौरवपूर्ण पदों से प्रायः अलग किये रही। १८५७ की भारतीय बुरता वह भूल

ही कैसे सकती थी? इसका परिणाम यह हुआ कि इस अछड़ताछड़ी के साहित्य पर युद्ध का कोई भी ^{विशेष या प्रभाव} प्रभाव नहीं पड़ने पाया। मूलरूप से हिंदी साहित्य युद्ध

साहित्य की दृष्टि से विपन्न है। "उसने कहा था" जैसी एकाध कहानियों की

पृष्ठभूमि भले ही कहने के लिये युद्ध की हो किन्तु आत्मा उसकी भी युद्ध की

नहीं, वह भारतीय प्रेम और बराफत की है। आधुनिक हिंदी गद्य की एक

सबसे बड़ी विशेषता है राजनीतिक पत्र-पत्रकारिता से उसका घनिष्ठतम संबंध।

इसने साहित्य के लघु रूपों के विकास और उसकी वृद्धि में बहुत सहायता पहुंचाई

है और जिनमें बहुत लिखे गये। ज्ञानवती दरबार ने लिखा है, "हिन्दी की

राष्ट्रीय स्वरूप प्राप्त हो सका, इसका श्रेय बहुत अंश में हमारे नेताओं को ही

है। राष्ट्रीय भावना से पूरित हमारे नेता हिंदी की ओर आकर्षित तो हुए ही,

किन्तु उन्होंने भाषा को भी राष्ट्रीय उन्नति के मूल में देखने का प्रयास किया।

इसीलिये उन्होंने अपने जीवन के आदर्शों, राष्ट्रीय भावनाओं और देशोन्नति की

आकांक्षाओं को जन-जीवन तक पहुंचाने के लिये हिन्दी को अपनया... हिंदी

को राष्ट्रभाषा का पद मिला और साहित्य उससे मुक्तिरित हो उठा।"^३ प्रभाकर

सोनवलकर ने इस बात का उल्लेख किया है कि लोकमान्य तिलक हिन्दी को

राष्ट्रभाषा होने के योग्य मानते थे और चाहते थे कि देवनागरी लिपि में

१. 'आधुनिक साहित्य', प्र. भूमिका पृ. २१-२२।

२. 'न्यू इंडिया', पृ. ८४।

३. 'भारतीय नेताओं की हिंदी सेवा',

मराठी के समान ही गुजराती, बंगला आदि भाषाएं भी लिखी जांय।^१

लेखक ने इस बात का भी उल्लेख किया है कि गांधी जी के कहने पर तिलक ने एक बार १५-२० मिनटों तक हिन्दी ही में भाषण दिया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारा आधुनिक हिन्दी साहित्य हिन्दी प्रदेश की और पूरे भारत की राजनीतिक परिस्थितियों और प्रवृत्तियों से उतना प्रभावित हुआ है जितना किसी सजीव साहित्य को होना चाहिये। व्यापक संस्कृति के इस अंग ने अपना प्रभाव इस युग के साहित्य पर डाला है।

१. साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान', २८ जुलाई, १९६३ वाला अंक।

अध्याय- ४

आर्थिक प्रचलन

(पृष्ठ २५८ से २९२ तक)

अर्थ का महत्व -- भारत और कृषि -- गावां की बड़ता और गतिहीनता का
कारण -- हिन्दी का साहित्यिक और देहात -- कमाई के सभी प्रोत्तों की अस्तन्तीन-
जनक अवस्था -- उद्योग धर्मों की श्रेणिया -- ग्रामीण शिक्षा एवं उद्योग -- बड़े
पैमाने के उद्योग -- व्यापार -- नौकरी और नौकर -- गरीब भारत -- गरीब देश या
बुटा हुआ देश -- भारत की प्रवृत्ति उद्योगी थी या कृषि वाला -- अंगरेज और भारत --
औद्योगिकरण -- बुद्धि और दृष्टि प्रष्ट कर दो गया -- बड़ मूल पर आजात
और उससे उत्पन्न विषमता -- आर्थिक परिवर्तन की भी बात सीची गयी -- साम्यवाद -
गान्धी नीति -- आर्थिक जीवन और साहित्य --

आर्थिक पृष्ठभूमि

अर्थ का महत्व

अर्थ का व्यक्ति और समाज के जीवन में बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान हुआ करता है। आर्थिक परिस्थितियाँ मनुष्य और समाज के मन तथा मनोविज्ञान को असाधारण और कभी कभी स्थायी रूप से प्रभावित किया करती हैं। वे देवता को मनुष्य और मनुष्य को मानव तक बना देने में समर्थ हैं। सम्भवतः इस बात को पूरी तरह समझने के पश्चात् ही मार्क्स और एंजिल्स आदि ने अर्थ को ही समस्त मानव संस्कृति और सम्यक्ता का आधार मान लिया है। भारतीय संस्कृति ने भी अर्थ का महत्व स्वीकार किया है और तभी मनुष्य के चार पुरुषार्थों में इसे एक प्रमुख स्थान दिया है। अबाधित होकर अर्थ अनर्थ में परिवर्तित हो जाता है। यही सोचकर इस्ते अधिक प्राथमिकता धर्म को दे दी गई। लोक तो धर्म को भी इसके बाद स्थान देने की प्रवृत्ति प्रदर्शित करता हुआ कहता है "मुझे मजन न होय गोपाला, ते लो आपन कंठी माला।" अंगरेज इस बात को समझता था। वह भारत इसलिये आया था कि यहाँ से यूरोप को जाने वाले मसालों आदि के व्यापार को हथिया सके। उसके इस मार्ग में जो राजनीतिक शक्तियाँ आईं उन्हें पराजित करने के लिये उसने सामरिक शक्ति को बढाने का प्रयत्न किया। सामरिक शक्तियों निर्बाध गति से बढाने तथा उचित अनुचित दोनों ढंगों से रुपये कमाने के लिये उसने पर्याप्त राजनीतिक अधिकार प्राप्त किये। बंगाल की दीवानी प्राप्त करते ही अंगरेज ने जिस तरह रुपये निबोडना प्रारम्भ किया वह इस तथ्य का प्रमाण है। इस दृष्टिकोण से प्राप्त किये गये राजनीतिक अधिकार एक दिन उसे एक-दो रियासतों और चार-छः राजाओं के ऊपर ही नहीं - सारे भारत पर प्राप्त हो गये। भारत उसका उपनिवेश हो गया। अस्तु भारत का शासन अंगरेजों का लक्ष्य नहीं था, लक्ष्य था

भारत का आर्थिक शोषण। पहला तो बाघ वाले का साधन मात्र था। इस दृष्टिकोण का परिणाम यह हुआ कि अंगरेजी शेर ने भारत रुपी गाय का जिस प्रकार से धन चूसा और और जितनी बेरहमी से ^{चूसा} चूसा है और जितना अधिक चूसा है उसकी अपेक्षा कहीं अधिक दया, प्रेम और दुलार से जंगली शेर अपने शिकार का रून चूसता और मांस खाता होगा। इस शोषण ने भारत के आर्थिक इतिहास को अत्यन्त मार्मिक और कष्टमय बना दिया है। भारत की अर्थ-व्यवस्था कंकालमात्र होकर रह गई है। भारत का सम्पूर्ण आर्थिक जीवन अत्यन्त दयनीय हो उठा है। अस्तु, अंगरेजों ने जहाँ हमारे राजनीतिक अधिकारों का शोषण किया वहाँ उसी अधिक मयानक रूप से हमारी आर्थिक संपन्नता का भी शोषण किया। राजनीति जीवन के ऊपरी स्तर पर ही प्रभाव डालती है और राजनीतिक क्षेत्र के कुप्रभावों का निराकरण खींच भी हो सकता है जैसा कि हमने १९४७ के पश्चात् कर लिया किन्तु आर्थिक कुव्यवस्था का प्रभाव सीधे जाकर मन और मनोविज्ञान को विकृत करने के रूप में पड़ता है और उसमें सुधार खींचना के साथ नहीं हो सकता। इसीलिये अंगरेजों के जाने के बाद आज तक भी हम अपने समाज के इस प्रकार विकृत स्वभाव और मन को बदलने में सफलता नहीं पा रहे हैं। आइए, पहले हम अपनी दयनीयता देखें।

भारत और कृषि :

भारत में कृषि का बहुत बड़ा महत्व है। भारत की कुल जनसंख्या का लगभग तीन चौथाई भाग कृषि कार्य में व्यस्त रहता है। देश के आर्थिक ढांचे में कृषि का विशेष हाथ है। यह हमारी सम्यक्ता और संस्कृति तथा उन्नति एवं समृद्धि की आधारशिला है। भारत को मिटाने के लिये भारत की कृषि को मिटाना अनिवार्य था। भारत के शोषण की प्रथम स्थिति है वहाँ की कृषि का शोषण। व्यापारी अंगरेज संप्रथम इसे समझता था और इसलिये उसने सबसे पहले वहाँ की कृषि-व्यवस्था में अपना हाथ लगाया और आज

क्लाउडस्टन के शब्दों में, "भारत में दलित जातियाँ हैं और उन्हीं के समान दलित उद्योग भी हैं, दुर्भाग्य से कृषि-उद्योग भी उन्हीं से एक है।" किसानों के सेत, सेतों की स्थिति, सेतों के औजार, ताव, बीज, सिंचाई, पशु-पालन सहायक उद्योग धन्धे आदि सभी की दृष्टियों से हमारा कृषि उद्योग अत्यन्त पिछड़ी दशा में है। उत्का पतन चरम सीमा को पहुँच गया है। १८ वीं शताब्दी के द्वितीयांश से लेकर १९ वीं शताब्दी के अन्त तक हमारे कृषि उद्योग को शोषण, दुर्भिक्ष और बाढ़ में उपेक्षा के द्वारा इस प्रकार से बर्बाद किया गया कि इन सबका उत्तरदायी स्वयं सुधारों का ढोंग रचने के लिये मजबूर हो गया। १९ वीं शताब्दी के अन्तिम तीन दशकों में भारत में मर्यादक दुर्भिक्ष पड़े। १८९६-१८९७ में पानी न बरसने के कारण ३००,००० वर्ग मील भूमि सूखी रह गई। १८-१९ लाख टन गन्ने की हानि हो गई। रमेशचन्द्र ने लिखा है, "यह एक ऐसा दुर्भिक्ष था जो अब तक के सभी दुर्भिक्षों में, जिनका इतिहास में वर्णन मिलता है, क्षेत्र में अधिक विस्तीर्ण था। इसने उत्तरी भारत तथा बंगाल, मध्यप्रान्त, मद्रास तथा बम्बई को उजाड़ दिया।" प्रताप नारायण मिश्र, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रेमचन्द आदि की कविताओं में दुर्भिक्ष की दुरवस्थाओं का मार्मिक चित्रण मिलता है। इसमें कुल १० लाख व्यक्ति मारे गये। १८९९ के दुर्भिक्ष में ४७५,००० वर्ग मील भूमि तथा ५९,५००००० लोगों को मुग़तना पड़ा। इन दुर्भिक्षों के पश्चात् बीमारियाँ और संक्रामक रोगों ने तबाह किया। इन दुर्भिक्षों का एक मात्र कारण है कृषि के सर्वांगीण विकास का अभाव और दुर्भिक्ष के प्रारम्भ होते ही दुर्भिक्ष की बात छिपाने के बदले तत्परतापूर्वक लावण सामग्री पहुँचाने में सुस्ती। १९०१ ई. में हमारे भारत की जन संख्या साठे तेइस लाख के लगभग थी, जो १९५१ में बढ़कर साठे पैंतीस लाख के लगभग हो गई। वृद्धि लगभग साठे तेरह प्रति शत की हुई। इसके विपरीत लावण सामग्री के उत्पादन का औसतन ह्रास ही

१. कृषि आयोग रिपोर्ट,

२. "एकनामिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया", पृ. ४५५।

हुआ है जिसका एक मात्र कारण यह है कि इसकी और पर्याप्त ईमानदारी, लगन और तत्परता से कोई भी कार्य नहीं किया गया। बीसवीं सताब्दी के प्रथम कुछ वर्षों में आर्थिक अवस्था थोड़ी बहुत संमली । १९०५ के आसपास का समय स्वदेशी आन्दोलन का समय था जिसमें लोगों का ध्यान अपने देश में बनने वाली वस्तुओं की ओर गया । १९०७ से १९०९ के प्रारम्भ में अकाल के कारण थोड़ा-बहुत अवसाद का युग रहा । १९०९ ई. से १९१८ ई. तक अवस्था फिर संमली रही । १९१८-१९१९ के आसपास फिर दुर्भाग्य का युग आया । पानी कम बरसा । यूरोप विश्व में आर्थिक अवसाद रहा । युद्ध के बाद तरह तरह की चीजों की मांग बढ़ी और बीजों के दाम बढ़ गये । १९२० के बाद मयानक रूप से मन्दी आ गई । भारत पर भी उसका प्रभाव पड़ा । आय कम हुई । गरीबी, भुखमरी और बेकारी बढ़ी । १९२९ में सारी दुनिया में बीजों की कीमतें फिर गिरीं । १९२९ - १९४७ तक कृषि की उन्नति अपेक्षाकृत कम हुई । ऐसे परिवर्तनों का मयानक प्रभाव उच्च वर्ग पर अधिक नहीं पड़ता क्योंकि कुछ भी हो उन्हें दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये कमी भी बिलखना या तक्रार नहीं पड़ता था । निम्न वर्ग पर भी कोई महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं पड़ता । क्योंकि चाहे यह स्थिति हो चाहे वह, उसे जितनी मेहनत और मुसीबत उठानी पड़ती, बराबर उठानी पड़ती थी । प्रभाव उच्च वर्ग की तिजौरी मात्र पर पड़ता है और निम्नवर्ग को इस तरह से तिजौरी मरने या उसके साली होने की समस्या पर कमी विचार भी नहीं करना पड़ता । इन परिवर्तनों से मुगलता वह है वर्ग अधिक है जिसे हम मध्यम वर्ग कहते हैं और इसी मध्यवर्ग ने अधिकांश हिन्दी साहित्य की रचना की है । इस कारण इन परिवर्तनों का हिन्दी साहित्य पर किसी न किसी प्रकार से और किसी न किसी रूप में प्रभाव अवश्य पड़ता रहा । हाँ, इन प्रभावों की अभिव्यक्ति के स्वरूप अवश्य भिन्न भिन्न रहे ।

गाँवों की जड़ता और गतिहीनता का कारण

तत्कालीन सरकार ने प्रोत्साहन और सहायता की जगह जब खोपण और उपेक्षा करनी प्रारम्भ की तब आजीविका का एक मात्र आधार कृषि (क्योंकि कि उद्योगों के समाप्त होने के पश्चात् ही लोग इधर आये थे और बड़े पैमाने के उद्योगों की प्रचुरता थी नहीं जिसमें मजदूर के रूप में संपत हो सके) की प्रकृति परम्परा-मुक्ती, जड़ एवं गतिहीन हो उठी थी। साम्राज्यवादी अर्थशास्त्री तथा उनकी बौद्धिक सन्तानें भारतीय कृषि की समस्याओं में इस तत्त्व का उल्लेख तो अवश्य करती हैं किन्तु मूल कारण का स्पष्ट कथन करने में हिचकिचाती हैं। छोटे मोटे तथा इधर-उधर बिखरे हुए खेतों में भारत का गरीब और मजबूर किसान (जो कभी कभी सराब जमीन भी जोतने के लिये मजबूर हो जाता है) खेती करता है। पीढ़ी - दर - पीढ़ी के अनुभवों ने उसे सिखा दिया है कि इस खेती से पेट भरने भर को उपज हो जाय तो इसे ही अन्तिम समझना चाहिये और फिर भी खेती नहीं छोड़नी चाहिये, क्योंकि यह अपनी है जिस पर अपना अधिकार तो है और इसलिये जो गाड़े वक्त भी आधा पेट ही सही, कुछ दे तो देगी। इसके परित्याग कर तो आजीविका का स्थायी रूप से विश्वसनीय अपना साधन कोई भी न रह जायगा। - ध्यान रहे कि ^{प्र६}संतोष नहीं, मजबूरी है। मजबूरी की बुझन ही कुछ काल के पश्चात् सन्तोष का रूप धारण करने लगती है और २०० वर्षों का समय 'कुछ काल' से कहीं अधिक बड़ा होता है। जो लोग भारतीय कृषक को संतोषीमात्र कहकर उसकी दुरवस्था का दायित्व उसी के ऊपर डाल देते हैं उन्हें मैं उस तरह का व्यक्ति समझता हूँ जो यह कहें कि हमारे नौकर को घूस ली और फल अच्छे ही नहीं लगते, इन्हें साबू उसका स्वभाव ही नहीं है और इसलिये ये वह मरता है तो मरने दो, दायित्व उसी का है। मेरे एक मित्र ने एक बार अपने बूढ़े नौकर की शिकायत की - दिन भर पड़ा रहता है, कोई भी काम हम उससे करवाते नहीं, मगर उससे यह नहीं

होता कि अस्पताल चला जाया करे और दवा ले आया करे। अब आप ही बताइये, भरता है तो हम क्या करें। मैं जानता था कि वह नौकर दवा लाने क्यों नहीं जाता? ६२ वर्ष के इस वृद्ध मरीज का औषधालय या अस्पताल साढ़े तीन मील दूर था और यह ज्वर से पीड़ित था !! सेती के साधन घटिया कि किस्म के और अपर्याप्त होते हैं। जोताई, गोडाई और बांवाई उचित ढंग से नहीं होती। बांट-बांट कर सेती के टुकड़े टुकड़े कर दिये गये हैं क्योंकि ऐसा करने के लिये हमारा किसान विवश है। साम्राज्यवाद कहता है कि संयुक्त परिवार प्रथा भी कृषक की आर्थिक दुरवस्था का एक कारण है। तात्पर्य यह है कि जैसे ही किसान का लड़का बड़ा और विवाहित हो जाय तैसे ही उसको अपने से अलग कर दिया जाय तो आर्थिक दृष्टि से अच्छा होगा। प्रश्न यह है कि अलग होकर वह क्या करेगा? किसान की सम्पत्ति घराबीधे से पिघल कर बीस बीधे हो न जायगी। उद्योग धंधों का विकास आप होने नहीं देते क्योंकि उससे मानचेस्टर का मजदूर भूतों मरने लगेगा (गांधी जी से मानचेस्टर में यही बात कही गई थी)। परिणामतः अलग होकर वह जमीन का भी अपना भाग अलग करना चाहेगा और जब इस प्रकार हमारे, सेत बंट जायेंगे तब कहा जायगा कि सेती का छोटा और दूर दूर होना किसानों की गरीबी का कारण है। साम्राज्यवादी चिन्तन कितना - कितना दुष्टतापूर्ण होता है !! अस्तु, हमारा किसान इन छोटे छोटे सेती पर पुराने हल और कुदाल का प्रयोग करने को विवश है। दो-दो चार-चार बीधे जमीन पर देखकर वह चलावेगा कैसे और उसे चलाये भी तो सरीदे कैसे! हाथ से बंदाई होती है। कभी डन्डे से कूटकूट कर और कभी बैलों को उस पर घुमवा कर यह काम किया जाता है। ओसाई झुप और हवा के सहारे होती है। बीज के लिये कोई विशेष प्रबंध नहीं। विवशता के परिणामस्वरूप जैसा भी अनाज मिला, बी दिया गया। कभी कभी तो सराब बाने भी बी दिये जाते हैं। जमीन ठीक से तैयार नहीं की जाती। निराई न तो काफी होती है, न ठीक से। पशु-पालन के भी वैज्ञानिक ढंग से न होने

की सिकायत की जाती है। सबको एक ही बाड़े में - एक ही जगह - रसने से
 उनमें बीमारियाँ फैलती हैं। उनकी देखभाल, दवाई, चरागाह - कोई भी बात
 ठीक और व्यवस्थित नहीं। मैं यह सब मानता हूँ। कहना केवल इतना ही है
 कि जिस देश में शोषण प्रधान साम्राज्यवाद की कृपा से मानव के भी भोजन
 की समुचित और वैज्ञानिक व्यवस्था नहीं हो पाती, एक ही कमरे में बाप-बेटे
 सास-बहू-प्रजनन-पोषण-प्रसूति-भोजन आदि सबकी व्यवस्था होती है वहाँ जान-
 वरों के लिये इससे बेहतर व्यवस्था की जा सकती हो भी कैसे सकती है। जिस
 किसान का परिवार दवा के अभाव में मिट जाता है वह किसान बैल की दवा
 करे भी तो किस मन से और किन साधनों से !! कृष लेने की व्यवस्था भी ठीक
 नहीं है। जिस किसान ने एक बार भी कृष लिया कभी कभी उसकी पीढ़ी-दर-
 पीढ़ी उस कृष से मुक्त नहीं हो पाती। पश्चिम के सम्पर्क ने वस्तु विनिमय की
 व्यवस्था मिटा दी। धन का, रुपये पैसे का, महत्व, आधारण रूप से बढ़ा
 दिया। हर कार्य और हर चीज के लिये धन- चाहिए। उसके पहले का भारतीय
 जीवन धन पर उतना अधिक आधारित नहीं था जितना अधिक सहयोग, स्थायता
 प्रेम, और स्थापना -जन्य पारस्परिक व्यवहारों पर। अब समस्या यह हुई कि
 यह धन आप कहाँ से। किसान अब भी मूलतः आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये
 ही उत्पादन करता है किन्तु अब उसकी आवश्यकताओं का स्वरूप और प्रकार
 भिन्न हो गया। एक छोटा-सा, सीमित समाज अब उनकी पूर्ति कर नहीं सकता
 था। क्रय की आवश्यकता पड़ी। उसके लिये धन चाहिये। इधर कहा गया है
 कि 'ठ्यापारै बसति लक्ष्मी' और इसीलिये देहात के ठ्यापारी-साहु जी - के
 पास किसानों की अपेक्षा अधिक धन पहुँचा। अन्ततोगत्वा कृषक ने उसी से कृष
 लेना प्रारम्भ किया। साहु जी का सामाजिक महत्व बढ़ता गया क्योंकि किसान
 पर कृष बढ़ता गया। छोटे-मोटे सेत, बेलों की मँति, समुचित सुरक्षा की व्यवस्था
 के अभाव में उपज की अनिश्चितता, जमींदारों की जयाधतियाँ और उनकी धन-

लोभता, सामाजिक अवसरों पर अनावश्यक और हैसियत से अधिक व्यय आदि
 अधिकाधिक कृण लेने के लिये कृणकों को विवश कर देते हैं। एक बार कृण लेने
 के पश्चात् किसान उसे प्रायः चुका नहीं पाता, कारण यह है कि जिन कारणों
 से विवश होकर वह लेता है उनका अभाव नहीं होता ! वे बराबर मौजूद
 रहते हैं और उपज इतनी अधिक बढ़ती-^{ती} नहीं ~~होती~~ जितना कृण अमन्य-~~नहीं~~-हनेसक
 बढ़ता है अर्थात् इतनी अधिक नहीं होती कि सर्वा करने के पश्चात् कुछ बचाकर
 उससे कृण चुकाया जाय। किसान के पास दूसरा कोई व्यवसाय नहीं। व्याजकी
 दर संसार भर की अपेक्षा सबसे अधिक। किसान की चीज साहु जी ही खरीदेंगे
 और वे ही बेचेंगे। कम से कम दाम पर लेंगे, अधिक से अधिक दाम पर बेचेंगे।
 किसान कुछ बचाप कमाए तो कैसे ? साहु जी या जमींदार साहब ही हिसाब
 किताब रखते हैं। अपठ किसान यह कर ही नहीं सकता। कृण का धन ये जितने
 चाहें, कर दें। इसमें कोई भी चीं-चपड कर नहीं सकता। जमींदार साहब
 लगान ले लेंगे परन्तु रसीव देंगे नहीं। मांगने की धृष्टता का दंड देना स्वयं,
 स्वयं समर्थ और स्वयं "मालिक" बहुत अच्छी तरह से जानता है। परिणामतः
 किसान कानून की दृष्टि में कभी लगान चुकाता ही नहीं। जमींदार और साहु-
 कार के हाथों में किसान की गर्दन सदैव रहती है। जब चाहें, नाप दें। किसान
 आश्वत कर्जदार होता है। "नजर", और "घूस" और मुकदमे भी किसान के कर्ज
 को बढ़ाते रहते हैं। किसान कर्ज में पैदा होता, कर्ज में जीता और कर्ज में ही
 मरता है। बनिया उपयोगी और अनुपयोगी, रचनात्मक और आडंबर प्रधान,
 उत्पादक और अनुत्पादक - दोनों प्रकार के कार्यों के लिये कृण छे देता है।
 सुझाव के, समझाने के, और मजबूर कर देने आदि के द्वारा वह किसान को कृणी
 बना लेता है। तत्काल अयायगी के लिये कभी दवाब नहीं डालता। यह
 प्रवृत्ति यहाँ तक बढ़ गई है कि इस पर उद्बुद्धियाँ प्रचलित हो गई हैं, जैसे "बनिया
 मारे जान, ठग मारे अनजान", "न बनिया भीत, न बेत्या सती", "बनिया
 दुई की तरह भीतर घुसता है और तलवार के रूप में निकलता है", आदि। कर्ज

लेने और "नजर" न देने का चित्रण प्रेमचन्द के "गोदान" तथा अन्य उपन्यासों और कहानियों में बड़े ही कलात्मक रूप में मिलता है। अपनी सरकार ही किसानों को इससे बचाने के बारे में सोचने का कष्ट कर सकती है, और ईमानदारी से प्रयत्न कर सकती है। किसान की तमाम उपजाऊ जमीन उसर पड़ी रहती है। अपर्याप्त अनिश्चित और अनियमित रूप से पानी मिलता है। पानी कभी कम बरसा, कभी देर-सबेर बरसा, कभी बहुत अधिक बरसा, और कभी बिल्कुल नहीं बरसा। सिंचाई के साधन अपर्याप्त हैं और पुराने तथा औशानिक हैं, जैसे कुआँ, ताल, नहर, रहंट आदि। नहरों के निर्माण की ओर सरकार ने कुछ ठय अवश्य दिया था किन्तु बिल्कुल ही अपर्याप्त था। १९३८-३९ तक १५२.८ करोड़ रुपये इसमें लगाये गये थे। १९००-१ में प्रमुख नहरों तथा उनकी शाखाओं और सहायक नहरों की कुल लम्बाई ३९१४२ मील थी। इस वर्ष सिंचाई के कार्यों में लगभग ४२ करोड़ रुपये लगाये गये थे। इससे स्पष्ट है कि भारत जैसे विशाल देश के लिए, जिसका क्षेत्रफल (१५,८१,४१० वर्गमील) की लगभग ५० प्रतिशत से भी अधिक भाग जोता बोया जाता है, इतना धन कितना अल्प है। १८७८-७९ में सिंचा गया क्षेत्र १०५ लाख एकड़ था जो १९४१-४२ तक ३४० लाख एकड़ हो गई। भूमि व्यवस्था बौधपूर्ण है जिसका प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व सरकार पर पड़ता है। पोषक तत्वों की प्राप्ति के अभाव में मिट्टी सत्वहीन हो रही है। स्वस्थ शरीर और अतृप्त मन वाले मनुष्यों का जहाँ सरकार द्वारा सनातन अभाव उपस्थित कर दिया गया हो वहाँ योग्य और कुशल मजदूर मिलेभी तो कैसे ? फसल ठीक नहीं होती और जितनी होती भी है उसमें कीड़े लग जाते हैं। सेती के बारे में कोई एक स्थानुभूति पूर्ण राष्ट्रीय नीति नहीं है। जानबूझ कर ऐसा वातावरण पैदा किया गया और ऐसी लालच दी गई तथा कभी कभी ऐसी जबरदस्ती की गई कि अनाज की सेती कम की जाय। इसका निश्चित परिणाम जब यह हुआ कि अनाज की कमी हुई तो विदेशों से उसका आयात किया गया। विदेशी विनिमय कम हुआ। तमाम खंडे पैदा हुई। अनाज

बचने की व्यवस्था भी दोषपूर्ण और अवैज्ञानिक है - । बाजार की व्यवस्था भी ठीक नहीं। बेचने की व्यवस्था अवैज्ञानिक, असुविधाओं से पूर्ण और असुंदर है। शताब्दियों से दलित, दमित और इसलिये साहसहीन, मुदादिल, तथा अधिच्छ के प्रचार के कारण अंधविश्वासी, मजदूर, रुढ़िवादी तथा जाहिल प्राणी भारतीय कृषि-उद्योग का प्रथम पुरुष है। ऐसा महा मानव अपने ऐसे अनाज को बैलगाड़ियों में भरकर अपनी ऐसी विकसित बुद्धि के सहारे ~~अविज्ञान~~ बेचने निकलता है। विद्रुप के मार्ग में अदतिया, बलाल, तौला - सब उससे अधिक से अधिक लाभ उठाना चाहते हैं। बेईमानी करते हैं। किसान को कमीशन, दलाली, सफाई, बढाई, उतराई, तौलाई, मराई, सिलाई, दान, धर्मादा आदि सबके लिये अनाज देना पड़ता है। ६० से ८० प्रतिशत ^{तक} बेहाती ^{और} अपनी सारी उपज कुछ सस्ते ही बाजारों में बेच देनी पड़ती है क्योंकि वह गरीब होने के कारण कर्जदार है और अपद होने के नाते अपने हर एक काम के लिये पराभित है। ये किसान साल के काफी दिनों में सली रहते हैं। गांव की पंचायत केवल सामाजिक और धार्मिक दृष्टिकोण से ही जाने वाले अपराधों के निराकरण के लिये गतिशील होती हैं। इसलिये धार्मिक दृष्टि से उनका होना न होना बराबर है। यह किसान ^{अलग} अलग भारत है। छोटी, मद्धी, स्वास्थ्य की दृष्टि से निकुष्ट झोपड़ियों में ये किसान रहते हैं। इन झोपड़ियों में न सिंढकी, न रोशनदान। ये बरसात में प्रायः टपकती भी हैं। जाड़े में लोग प्याल पर पुआल पर सोते हैं। राधा कर्मल मुखर्जी ने लिखा है, 'बहुत से किसानों के लिये झोपड़ी केवल रात में पैर फैलाने और सो जाने भर के लिये होती है। बाकी उनकी जिन्दगी बाहर या बरामदे में बीतती है। एकान्त के अभाव के कारण अक्सर लोगों में से लाज, उर्म और ~~स्वार्थ~~ हथा का स्वाल ही सतम हो जाता है। मर्द और औरतें, छोटे और बड़े - सब एक ही जगह लिपटे पड़े रहते हैं। ज्यादा से ज्यादा हाथ-पै हाथ का अन्तर रहता है। पास ही सोने वालों में गाय, बैल, और बकरियां भी होती हैं। इस तरह ये लोग जाड़े में सोते हैं। वह घर जिससे मन और मस्तिष्क पर सुन्दर

तम सामाजिकता, सुष्ठुता, व्यावहारिक सौन्दर्य, सुशीलता और कलात्मकता का प्रभाव पड़ना चाहिये, प्रायः बीमारियाँ और मुसीबतों की याद जैसा होता है, जहाँ लोग कीड़ों^{की} तरह पैदा होते और मरा करते हैं।" ऐसे व्यक्ति से नती पर्याप्त परिश्रम हो सकता है, न कार्य में एकाग्रता और एक चिन्तता । भारत में एक आदमी औसतन २.६ एकड़ भूमि पर खेती करता है जबकि ~~संयुक्त~~ इंग्लैंड में १७.३ एकड़ पर । अमेरिका की एक ग्रामिक महिला औसतन १०० पौंड रूई बुन्ती है और मिश्र की ६० पौंड तक मगर एक भारतीय महिला कुल ३० से ४० पौंड तक ही बुन पाती है। अंगरेजों के आने से पूर्व हमारे ये गाँव पूर्णरूप से स्वतन्त्र और आत्म-निर्भर होते थे। अब इनकी यह विशेषता बहुत हद तक समाप्त हो गई है। प्रत्येक गाँव के इर्द-गिर्द मील दो मील तक ग्राम निवासियों के खेत फैले रहते हैं। ^{सामान्यतः} सम्मिलित किसान गाँव में ही रहता है। जिनके पास बीस-पच्चीस मील या इस्ते मी अधिक दूरी पर भी खेत होते हैं वे वहाँ भी एक छोपड़ी बना लेते हैं जहाँ कभी कभी परिवार का माछि या और कोई तथा वहाँ की व्यवस्था देखने के लिये कोई एक नौकर प्रायः रहा करता है। यद्यपि हमारे इन गाँवों में सिक्कों और नोटों का प्रवेश हो गया है किन्तु अब भी वस्तु विनिमय की प्रथा देखी जा सकती है। आवश्यकतानुसार लोग अनाज के बदले नमक या तेल या गुड आदि ले लिया करते हैं। प्रत्येक गाँव में एक बडई, एक लोहार, नाई, तैली, कुम्हार आदि भी पाये जाते हैं जो गाँव भर की पतत सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति किया करते हैं। इसके बदले उन्हें कार्य के अनुसार पारिवारिक के रूप में तीन महीने या ६ महीने पर अनाज मिल जाया करता है। प्रतिस्पर्धा के स्थान पर सहयोग अब भी गाँवों के जीवन का आधार बना है। लोग एक दूसरे का काम करवा दिया करते हैं। किसी कारण यदि कोई खेती नहीं कर पाता तो अपने खेत खेती करने के लिये दूसरों को वे देता है और उपज का समुचित बँटवारा दोनों के बीच हो जाता है। पटवारी गाँव और खेत से सम्बन्ध रखने वाले जरूरी कामकाज तैयार रखता है। यह अपनी इच्छानुसार खेतों के क्षेत्रफल अथवा उनके

स्वामित्व के बारे में लिख दिया करता है जो आगे चलकर मयानक मुकदमे बाजी का कारण बनता है। अब जमीन भी लेन-देन और क़य-क़ि़य की वस्तु बन गई है। जमीन के मालिक किसान न होकर वे जमींदार हैं जो सेती को करते नहीं, करवाते हैं या बहुत करदे तो वे अपने सेतों का गुंठ भी नहीं देस पाते क्योंकि यह सारा काम उनके मैनेजर, मुख्तार या कारिन्दे किया करते हैं। सेती से इनका संबंध केवल इतना ही है कि वे उससे पैसे पा जाया करें, यर्ना प्रायः वे लोग शहर में रहा करते हैं। इनके चरण बड़े ही महत्वपूर्ण होते हैं। इसलिये इनकी ही सेती की मिट्टी जैसी तुच्छ और गन्दी वस्तु को उनके स्पर्श तक का सामान्य क़सी नहीं मिलता। छोटे छोटे किसान अपने सेतों के लिये किसान होते हैं और दूसरों के सेतों के लिये मजदूर। इस प्रकार वे किसान भी होते हैं और मजदूर भी। हर किसान के पास दो चार पशु अवश्य होते होते हैं। उनसे गोबर मिलता है। जब जानवर अधिक होते हैं और उनका गोबर अधिक होता है तब उसे घर के पास कहीं एक जगह बराबर फेंकते रहते हैं। और समय पर उसे मजदूरों से उठवाकर सेतों में डलवा दिया जाता है। अगर गोबर कम ^{मिला} ~~लगा~~ तो उसी छोटे-छोटे उपले या कंड़े बना लिये जाते हैं जो जलाने के काम आता है। बरसात में इन सूखे कंड़ों के कारण ही गांव के सामान्य जीवन की ईंधन की समस्या हल हो जाती है ? इसके लिये हमारे गरीब किसान केवल को बहुत दोष दिया जाता है कि वह इतनी अच्छी साद को जला डालता है। गुलामी को पूर्णतः अंगीकार कर लेने के कारण चिंतन की स्वतन्त्रता और मौलिकता के अभाव में लकीर पीटना और चापलूसी ही विद्वत्ता हो जाती है। और तब लोग अजीब अजीब बातें किया करते हैं। ऐसे ही एक महाशय लिखते हैं कि 'भारतीयों की हानि कारक आदतों में से एक गोबर को जलाने की आदत है। हमारी इस 'आदत' को रोकना वे परमावश्यक समझते हैं और इसके लिये 'जंगल लगवाने तथा उसके लिये सस्ते रेल-माडे की सम्भावना पर पूर्ण तरह विचार करने की सिफारिश

करते हैं। उनको यह नहीं मालूम कि 'गांव के आसपास बेकार पड़े हुए मैदानों में प्रायः पेड़ होते हैं और गांव के लोग उनकी एवं आसपास के जंगलों की सूखी टहनियों को जलाते हैं और उससे जब पूरा नहीं पड़ता और गीली लकड़ियां फूंकते आंस फूटने लगती है और फिर भी वे नहीं जलती तब यह कंड़ा ही काम आता है। धुआं इसमें भी होता है किन्तु उसके बाध आग अच्छी मिलती है। "कंड़ा" जलाने का अर्थ अनाज जलाना होता है यह मानने में कोई भी आपत्ति नहीं किन्तु फिर भी "कंड़ा" जलाना "आवत" नहीं, मजबूरी है जो आगे चलकर खताछिदियों के व्यवहार के कारण प्रथा और अंधविश्वास बन गई। कोई बात कठिन नहीं। आप पतलून, टाई, बूट उतारिए। आप अपठ किसानों से मिलने और बोलने में अपमानित न अनुभव करें और घिनाएं नहीं। अपने बदन और कपड़ों को नायिका के मुख की तरह मिट्टी से सदा ही दूर न रखना चाहें। अंगरेजी दास्ता छोड़िए। कुछ स्वतंत्र चिन्तन की आवत डालिए। फिर देहात की ओर चलिए। किसान आवश्यकतानुसार अपनी सभी साराब आवतें छोड़ देगा। मैं जोर देकर कहना चाहता हूँ कि हमारा किसान जड़ नहीं है। वह उतना जड़ नहीं, उतना अंधविश्वासी नहीं, उसमें साहस, उद्यम, सूक्ष्मबुद्धि और परिश्रम की उतनी कमी नहीं है जितनी मार्शल, वेन्चर, वीरासेन्स्टी आदि के (हीनता-अंग्रेज से अग्रगते वाले इन) आशाकारी बौद्धिक सन्तानों में है। हमारा किसान मजबूर है। उसके चारों ओर दीवारें खड़ी हैं। आजादी के बावजूद अपने कमजोर हाथों से इन्हीं दीवारों को तोड़ने में लग है। अपनी असीम शक्ति और अधिकारों से मुसज्जित सरकारें और बहुत कुछ तो विदेशी सरकार की कुप्रवृत्तियों की विरासतें इन किसानों की उन्नति के रास्ते में आकर ^अखड़े लगती हैं। सद्भावना और सहानुभूति से पूर्ण, ईमानदार और सच्चे प्रशासन की सहायता चाहिए और चाहिए मौलिक, क्रांतिकारी भारतीय दृष्टि कोष वाली प्रेरक नीति।

हिन्दी का साहित्यिक और देहात

हिन्दी के अनेक स्वनामधन्य साहित्यिकों का जन्म देहात में हुआ।

है, बचपन देहात में बीता है और आगे चलकर भी उनका संबंध इन देहातों से किसी न किसी प्रकार बना ही रहा। पंत और निराला का जन्म और शैशव देहात में बीता। सियारामधरण गुप्त और मैथिलीशरण गुप्त का आजीवन संबंध देहात से रहा। महावीर प्रसाद का संबंध देहात से बराबर बना रहा। प्रेमचंद की चेतना देहात-मय थी। राम नरेश त्रिपाठी और 'सनेही' का देहात से अभिन्न संबंध रहा है। राम विलास वर्मा, बृन्नावनलाल वर्मा, हजारी प्रसाद द्विवेदी, 'कौशिक', रामचन्द्र शुक्ल, लक्ष्मीनारायण मिश्र, राहुल सांकृत्यायन, 'हरिऔध' ठाकुर गोपालधरण सिंह, गुरुमक्त सिंह 'भक्त', अनूप, श्यामनारायण पांडेय, आदि अनेक साहित्यिकों की साहित्यिक चेतना एवं सामान्य जीवन का संबंध देहात के जीवन से घनिष्ठतम रहा है। देहातों के प्राकृतिक सौन्दर्य कठोर हृदय धनपति भी प्रभावित होते हुए देखे गये हैं। ऐसी स्थिति में ये तरल हृदय भावप्रधान साहित्यिकों का प्रभावित होना अनिवार्य था। इनके द्वारा रचित हिन्दी साहित्य में 'प्रकृति-सौन्दर्य' के अनेक सुन्दरतम और कलात्मक चित्र मिलते हैं। इसीलिये आधुनिक हिन्दी साहित्य की भी एक प्रमुख विशेषता उसका प्रकृति चित्रण है। जिसका विषुद रूप देहातों में ही मिलता है। प्रकृति का यह चित्रण अनेक रूपों में और अनेक प्रकार से किया गया है। यह प्रकृति काठय का भी विषय बनी है और गद्य का भी। प्रकृति मय देहात का भावात्मक चित्र कविता में मिलता है और विषय विवरण पूर्ण चित्रण गद्य में - विशेष रूप से कहानियों और उपन्यासों में। ये चित्र आदर्श प्रधान भी हैं और तथ्य प्रधान भी। संयुक्तः देहात के इसी प्राकृतिक वातावरण के कारण भी हिन्दी साहित्य का स्वरूप मूल रूप से भावात्मक रहा है। इन देहातों की आर्थिक दुरवस्था भी कम प्रभाव डालने वाली नहीं है। उनकी गरीबी, उनकी मजबूरी, उनकी सीमाओं उनकी कठिनाइयाँ और इस प्रकार इनसे निर्धारित जीवन का चित्रण क्या साहित्य में - प्रेमचंद में विशेष रूप से - मिलता है। इस दृष्टि से 'गोदान' 'मेरा आंचल' आदि उपन्यासों वहे ही महत्वपूर्ण हैं। जिस लेखक का देहाती जीवन से जितना ही अधिक सम्पर्क रहा है

उसके चित्र उतने ही अधिक सशक्त और प्रभावशाली रहे हैं। इनको देखने का दृष्टिकोण विशेष चित्रों के प्रभाव को विशेष प्रकार का बना देता है। वर्ग संघर्ष के सिद्धान्तों से प्रभावित लेखक के चित्र गांधीवादी लेखकों के चित्रों से कुछ भिन्न प्रभाव वाले होते हैं। प्रभाव के "तितली" का प्रभाव वैसा ही नहीं पड़ता जैसा "गौदान" या "मैला आंचल" या नागार्जुन के उपन्यासों का। ये चित्र विवरण प्रधान भी होते हैं और ठेकेदार प्रधान भी। प्रेमचन्द ने ग्रामीण कविता और "नजर" घूस की तीव्रता का ठेकेदार प्रधान ^{चित्र} "गौदान" में वहाँ उपस्थित किया गया है जहाँ कण लेने वाला कहता है कि हुजूर ये बाकी रुपये भी ले लीजिये लिये जाय क्योंकि छोटी ठकुराइन साहब, बड़ी ठकुराइन साहब आदि सबकी "नजर" का हिसाब जोड़ने पर ये पूरे के पूरे उसमें ही खप जाते हैं। कवियों ने भी इस पुर्वथा के चित्र यत्र तत्र उपस्थित किये हैं। पन्त ने अपनी प्रसिद्ध कविता "भारत माता" में भारत को देहाती में ही मानकर कहा :-

"भारत माता ग्रामवासिनी"

ध्यान रहे कि गांधी जी भी वास्तविक भारत देहाती में ही ^{जाते} मड़े थे। इस प्रकार इस "भारतमाता" की दीनता का ^अवचित्र उन्होंने बड़े ही मार्मिक रूप में उपस्थित किया है :-

धूल मरा मैला-सा आंचल
गंगा जमुना में आंसु जल
मिट्टी की प्रतिमा उषा सिनी
धैर्य जड़ित अपलक नत चितवन
अधरों में चिर नीरव रोदन
युग युग के तम से विकण मन
कह अपने घर में प्रवासिनी
तीस कोटि सन्तान नग्न तन
अर्ध धुधित, धीपित, निरन्न जन

मूढ़, असम्य, अशिष्ट, निर्धन

नत मस्तक तरुवर निवासिनी ।^१

यथार्थवादी दृष्टिकोण^{का} उनका निम्न चित्र उल्लेखनीय है :-

दैन्य दुःख अपमान ग्लानि मर, चिर बुधित पिपासा मृत अभिलाषा
बिना आय की कलान्ति बन रही, उसके जीवन की परिभाषा
जड़ अनाज के ढेर सघुस ही, वह दिन मर बैठा गव्दी घर
बात बात पर झूठ बोलता, कौड़ी की स्वप्ना में मर मर ।^२

दुर्बला किसान की ही नहीं, सारे समाज की है। मगवतीचरण वर्मा ने लिखा -

जिसमें मानवता की दानवता फैलाए है निज राजपाट
साहूकारों के पर्दे में जहां चौर और गिरहकाट
है अभिजातों से लदा जहां पशुता की कछिपित ठाट-बाट
उसमें चांदी के टुकड़ों के बदले में लुटता है अनाज
उन चांदी के ही टुकड़ों से ही चलता है स्व राजकाज ।^३

तात्पर्य यह कि कर्ज लेने वाले विवश और विपन्न किसान के कर्ज की भी पूरी की पूरी सम्पत्ति कर्ज लेने के प्रयत्नों अर्थात् कर्ज दिलाने वालों में ही चुक जाती है। ग्रामीण जीवन के चित्र उपस्थित करने वाले ये लेखक चूंकि राष्ट्रीय दृष्टिकोण के भी होते हैं और इन्हें ग्रामीण भाइयों की सुख-समृद्धि भी अभीष्ट होती है तथा इनके पास इन ग्रामीण भाइयों के लिये अवयव सहायुध होती है अतः अपनी अपनी धारणा के अनुरूप ये लेखक इनके सुधारने और उनके आदर्श रूप का कल्पना-प्रधान चित्र भी उपस्थित करते हैं। चण्डीप्रसाद 'हृदयेक' का 'मंगल प्रभात', प्रेमचन्द श्रेष्ठ के उपन्यासों के आदर्शवादी युवक जमींदार और उनके आश्रम आदि

१. 'आधुनिक कवि', भाग २

२. 'ग्राम्या'

३. 'मैसा गाड़ी', दीर्घक कवित

ऐसे ही चित्रों से परिपूर्ण हैं। इनमें से अधिकांश के पीछे गांधीवादी दृष्टिकोण प्रधान होता है। हिन्दी साहित्य में साम्यवादी दृष्टिकोण से कल्पित आदर्श गांव और उसके किसान का कोई चित्र नहीं मिलता।

कमाई के सभी श्रोतों की अस्तोपजनक अवस्था

हमारे समाज में एक उक्ति प्रचलित है "उत्तम सेती, मध्यम बान, अधम चाकरी भीर नदान"। अंगरेजी सरकार ने ऐसा वातावरण उपस्थित कर दिया था कि हम यह मानने लगे कि "बेच्छ चाकरी", घट्टा बान, अधम किसान, भीर महान"। सेती करवाना चाहे कुछ अच्छा काम भी मान लिया जाय, किन्तु सेती करने से बढ़कर अधम कार्य और कुछ नहीं होता। बहुत अधिक मेहनत पड़ती है, कपड़ों के उजलेपन में गंदगी लग जाती है, छाथ-पैर में मिट्टी लग जाती है, सुले में काम करना पड़ता है और इन सबके बदले में कुछ विशेष प्रत्य की प्राप्ति भी नहीं होने पाती जबकि नजाकत नफासत यानी रिफाइनमेंट से रिश्ता टूट जाता है। अस्तु, कृषि कार्य वही करे जिसके पास कुछ अन्य साधन न हों। कृषि के बाव आर्थिक व्यवस्था में दूसरा प्रमुख स्थान उद्योग या व्यापार का जाता है। इस संबंध में हमारा दुर्भाग्य यह रहा है कि ^{हम उसे,} उतना ही और तभी उत्पादन कर सकते थे जो जितना और जब अंगरेजी साम्राज्यवाद करने दे और अंगरेजी साम्राज्य उन्हीं का, उतना ही और तभी उत्पादन करने दे सकता था जब उसका लाभ हो। परिणाम यह हुआ कि हम स्वाभाविक और समुचित रूप से न तो उत्पादन करने पाये और अच्छे ढंग से व्यापार करने पाये। हमारे यहाँ उद्योग धंधों का विकास होने ही नहीं दिया गया।

उद्योग धंधों की श्रेणियाँ :- ग्रामीण क्षिप्य एवं उद्योग

भारतीय उद्योग-धंधों को तीन भागों में बांटा जा सकता है :-

(१) ग्रामीणक्षिप्यकारण, (२) ग्रामीण्योग, कारीगरों तथा सामान्यजनों के लिये

योग और उपयोग में आने वाली चीजों के उद्योग और उद्योगशालाओं की चीजों, के उद्योग, तथा (२) बड़ी बड़ी मशीनों। आधुनिक युग की औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप और अंग्रेजी साम्राज्यवाद स्वार्थमय की नीति के परिणामस्वरूप हमारे कुटीर उद्योग का भयानक विनाश, ह्रास और उपेक्षा हुई है। इस युग के अन्त-तुर्क और बीसवीं सदी हमारे पास जो उद्योग धंधे बाकी बचे थे या जिनका विकास होने को रह गया था वे थे - चारपाई आदि का ढांचा बनाना और उनका बुनना, रस्सी सुतली बंटना, सिल-बट्टा बनाना तथा उन्हें घूम घूम कर डोना, चौका-बेलन बनाना, हल-कुदाल-सुरपा आदि बनाना, बेलगाड़ी बनाना, चटाई, डलिया-मौनी-हैंची आदि बोन लेना, पास छीलना और चारा काट लेना, पहनने के कपड़े सिल लेना, गंदे कपड़े धोना, गुह बनाना, मिट्टी के दिये सकोरे और देहाती बच्चों के खेलने योग्य खिलौने बना लेना, आदि। भारतीय अर्थ - व्यवस्था के लिये जिन कुटीर उद्योगों का इतना अधिक बुनियादी महत्व है वे किसी न किसी मांति आज तक देश में जीवित अवश्य रहे गये हैं। ये कुटीर (उद्योग इस स्थिति में रहे गये हैं कि वहां की हर एक वस्तु जीवित रहते हुए भी जीवन के लिये तरफ़्त है। इस लिये इस देश की कोई भी वस्तु - कला, कलाकार की भावना, कलात्मक वस्तुएं - आदि - साहित्य का विषय नहीं बन सकीं। वातावरण के चित्रण में कभी कभी इनका वर्णन मात्र अवश्य हो जाता है, जैसे किसी मग्न महिला को स्वेटर बुनते हुए दिखाना, आदि। हां, साहित्य में उन्हें को थोड़ा बहुत स्थान अवश्य मिल गया है किन्तु इसका कारण उसका हस्तकला वाला रूप बल्कि कुटीर उद्योग होना नहीं है। इसका कारण है महात्मा गांधी का पारस जैसा व्यक्तित्व जिसे छूकर मिट्टी भी सोना हो जाती थी। उनकी ही प्रेरणा के परिणामस्वरूप सुती ^{कास्ती} ~~कस्ती~~ उद्योग, रेशम उद्योग, ऊनी उद्योग, चर्म उद्योग, काष्ठकला उद्योग, तेल धानी उद्योग, हाथ के बने कागज, मधुमक्खी पालन, हाथ के कुटे चावल, तेल ^{श्री. जोर} ~~यानी~~ उद्योग आदि कांग्रेसियों, कांग्रेसी सरकारों का ध्यान गया और ये सब एक उन्नति के पथ पर गतिशील हैं।

बड़े पैमाने के उद्योग:- जब हमारा ध्यान बड़े पैमाने के उद्योगों की ओर जाता है तो वहाँ भी कुछ ऐसी ही नीति और स्थिति पाते हैं। हमारे यहाँ १९०० ई. में १९३ सूती मिलें थीं जिनकी संख्या १९४९ में ४३० हो गई। भारत में पहली सूती मिल १८५४ में बंबई में लौली गई थी। १८५६ में इस देश में कुल तीन जूट मिलें थीं जबकि १९४७ में उनकी संख्या ११३ हो गई। भारत में आधुनिक चीनी उद्योग की नींव १८९९ में पड़ी और १९०१ में गन्ने के सुधार के लिये एक गवेषणा केन्द्र खोला गया तथा १९२९ ई. से "भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद्" चीनी उद्योग के विकास की बात सोचने लगी। उस समय देश में २७ कारखाने थे जो इस समय तक बढ़कर १५९ हो गये हैं। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में हमारे यहाँ कागज की ३ मिलें थीं जिनकी संख्या १९५४ के आसपास २१ हो गई। १९०७ ई. में "टाटा आइरन स्टील लैण्ड कम्पनी" स्थापित हुई। कोयले की खोद और अन्य सानों के भी खोदने का काम प्रारम्भ हुआ। जल विद्युत उद्योग भी बहुत ^{में} बाढ़ प्रारम्भ हुआ। १९०४ में भारत में सर्वप्रथम "पोर्टलैंड सीमेंट" का निर्माण प्रारम्भ हुआ। १९५२ तक सीमेंट के २३ कारखाने देश में खुल गये। १८९५ में हमारे यहाँ दिसलाई का एक ही कारखाना था जिसकी संख्या १९४९ में १९२ हो गई। मोटर उद्योग का प्रारम्भ १९४६ में, वायुयान का १९४० में, साइकिल का १९१८ में, वनस्पति घी का १९३० में, सूती बैटरी का १९२६ में, संग्रह बैटरियों का १९३९ में, कैबिल और तारों का १९२१ में, बिजली के पंखों का १९२४ में, हरीकेन लालटेनों का १९२६ में और सिलाई की मशीनों का १९३६ में प्रारम्भ हुआ। उत्पादन भी इसी हिसाब से बढ़ा है। १९०० से १९०४ के बीच चाय के उत्पादन का ^{और} अंश २००१ करोड़ था जो १९५० में ६०.३ करोड़ हो गया। १९२६ में ३१७८१ टन कागज बनता था जो १९३७ में ७०२७३ टन बनने लगा। १९२९-३० में ३१३००० टन चीनी बनी, और १९४४-४५ में १०३९५०० टन। दोनों महायुद्धों के काल में देश का औद्योगिक विकास अधिक हुआ। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि हमारा औद्योगिक विकास अपर्याप्त और अत्यन्त मन्दगति से हुआ है। जो

कुछ विकास हुआ है वह कुछ विशेष क्षेत्रों में ही। अब भी हमें मशीनों, औजारों तथा अन्य बहुत-सी आवश्यक वस्तुओं के लिये विदेशों पर निर्भर रहना पड़ता है। विदेशों से कुशल कारीगर मंगाने पड़ते हैं। इन औद्योगिक क्षेत्रों के सभी पक्षों पर विदेशी शक्तियों का अत्यन्त गहरा प्रभाव है १९४८ तक भारत में विदेशों की विनि-योजित पूंजी, ५९६ करोड़ रुपये थी। हुआ यह कि हमको हर तरह से अपंग और असमर्थ करने के बाद यह नीति अपनाई गई कि भारत में भारतवासी तथा भारत के अतिरिक्त अन्य देशों के लोग भी बिना किसी प्रतिबन्ध के व्यापार कर सकते हैं। परिणामतः विदेशी माल की प्रतिस्पर्धा ने हमारे अनेक उद्योगों को मिटा दिया। हमारे राजनीतिक स्वामी सस्ते दामों पर हमसे कच्चा माल खरीदते थे और मंगले महंगे दामों पर उससे बनी चीजों को हमारे हाथ बेचते थे। १८९० से लेकर प्रथम विश्व युद्ध तक रैलवे की मन्दगति से हमारा विकास हुआ। प्रथम महा-युद्ध के दौरान में आधुनिक वृहत् उद्योगों की नींव पड़ी। १९२० से १९३२ तक यह विकास फिर अवरुद्ध हो गया। उसके बाद से हमारे देश में सीमित साधनों और उचितियों के अन्तर्गत फिर विकास प्रारम्भ हुआ। १९३९ ई. से १९४५ तक का काल भारतीय उद्योगों की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण काल माना जा सकता है। लंगड़ी कल्पना वाले भले ही इसे स्वर्णयुग मान लें। स्वर्णयुग अभी न मालूम कितने दिनों बाद आएगा। ओमप्रकाश कैला के अनुसार "अब भारत का संसार के अच्छे औद्योगिक देशों में दसवां नम्बर है" (पृ. ३६३, "भारतीय अर्थशास्त्र का विवेचन") और यह तब है जब कि "इकनामिक डेवलपमेंट ऑफ इंडिया" की सुप्रसिद्ध लेखिका बीरा पेन्स्टी ने उक्त पुस्तक के ३५९ वें पृष्ठ पर यह स्वीकार किया है कि ब्रिटिश सरकार ने भारत में औद्योगीकरण के लिये जो कुछ किया वह परिस्थितियों और वातावरण से मजबूर होकर किया, किसी निश्चित सिद्धांत और उद्देश्य से प्रेरित होकर नहीं। परिणाम यह हुआ कि १९०० से ही अंगरेजों द्वारा परिचायित रेलवे कम्पनियों ने फायदा उठाना प्रारम्भ कर दिया। चर्म मेद और वस्त्र-मेद की भावना का भी प्रचार इन रेलवे कम्पनियों से उठकर किया। यात्रा

करते समय भी बड़े-छोटे, धनी-गरीब का भेद बना रहे इसलिये इन कम्पनियों ने जो प्रथम श्रेणी, द्वितीय श्रेणी, अन्तरिम श्रेणी और तृतीय श्रेणी में जूने (रेलवे से दो जाने वाली सुविधाओं और उनके अनुसार) डब्बों का वर्गीकरण ^{किया} तो आज तक किसी न किसी रूप में चला आता है। यद्यपि रेलवे कम्पनियों को सबसे अधिक लाभ तृतीय श्रेणी के यात्रियों से होता रहा है किन्तु सुविधाओं से सबसे अधिक वे ही वंचित रहे गये। और होता भी क्यों न! प्रथम श्रेणी और द्वितीय श्रेणी में सबसे अधिक अंगरेज और उनके अतिरिक्त सेवक ही तो चलते थे। लाभ उठाने ही की दृष्टि से १९२५ में रेलवे को सामान्य बजट से अलग कर दिया गया था। यह भी तो साम्राज्यवादी अर्थशास्त्र है। पटरियाँ, डिब्बे, इंजन, पुर्जे आदि सब कुछ विदेशों से मंगाये जाते थे। कम्पनियाँ विदेशियों की थीं। रेलों में यदि कुछ स्व-
 केही था तो कुली, मजदूर, यात्री, छोटे मोटे स्टेशनों के स्टेशन मास्टर और दर्जों के यात्री। यह कुछ ऐसा ही हुआ कि सरीकने वाले हम, "कितने का सरीका जाय" इसके निर्णायक हम, "कहाँ से सरीका जाय" इसके निर्णायक हम केवल धन आप का और जान-बूझ यह कि आपको इसके बारे में कुछ भी पूछ सकने का कोई भी अधिकार नहीं। तो फिर रहक्या जाता है? एक स्रुं हजार रुपयाँ में भी सरीकी जा सकती है !!!

उद्योग:- जब सेती और उद्योगों की यह स्थिति है तो उद्योग की कल्पना कर सकना कोई बड़ी कठिन बात नहीं। ध्यान रहे कि भारत वह देश है जिसका उद्योग इन्सा से ३००० वर्ष पूर्व भी बेबीलोन से था। भारत की बनी हुई वस्तुओं की रोम में बड़ी मांग थी। चीन, अरब, फारस, जावा, सुमात्रा, बनेरियो आदि देशों तक हमारा उद्योग था। इंग्लैंड, हालैंड, फ्रांस आदि देशों में भारतीय लिनेन, छोट, छोरे, ^{जरी} और के काब किये हुए कपड़े, ऊनी वस्तुएं बहुत पसन्द की जाती थीं। इन भारतीय वस्तुओं के बदले में भारत को देने लायक कोई भी चीज इन देशों के पास न थी। परिणामस्वरूप इन्हें भारत को नकद रुपया देना

पड़ता था। इस प्रकार प्राप्त होने वाले धन के कारण ही भारत सोने की
 चिड़िया हो रहा था। जधार और बेरी ने इस संबंध में बड़ा ही रोचक
 तथ्य लिखा है¹, '1 इंग्लैण्ड ने भारत में काफी दिनों तक मुक्त व्यापार की
 नीति चलाई है अर्थात् जो चाहे भारतीय बाजारों में निर्यात रूप से अपना माल
 बेचे और उसके माल पर कोई भी विशेष कर या प्रतिबन्ध न लगेगा। इसी इंग्लैण्ड
 ने अपने देश के वस्त्रोद्योग की उन्नति और अपने देश का धन व्यापार द्वारा
 भारत में ^{आने} आने के लिये सत्रहवीं शती के अन्त में भारतीय कपड़ों का प्रयोग
 दण्डनीय अपराध घोषित कर दिया था। ... इसके लिये या तो भारतीय
 कपड़ों पर इतना अधिक आयात कर लगाया गया कि उसका आयात विलकुल बंद
 हो जाय या उसके प्रयोग की विलकुल मनाही कर दी गई। उन्नीसवीं शताब्दी
 के पूर्वार्ध तक भारत ~~उन्नीसवीं~~ उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक
 का आयात करने लगा जिसका वह जब तक निर्यात करता आया था। 1804 ई.
 तक प्रायः सभी निर्यातकर उन्मूलित कर दिये गये और 1862 तक सभी आयात
 कर। 1893 ई. के आते आते भारतीय बाजारों पर से अंगरेजों का एकाधिकार
 समाप्त हो गया। फिर भी भारत की रेलों में लगी अंग्रेजी पूंजी बैंकिंग और
 जहाजरानी पर इंग्लैण्ड के नियन्त्रण, विभिन्न अंगरेज-संगठन जैसे ब्रिटिश साम्राज्य
 मंडल ब्रिटिश निर्यात - गृह आपूर्ति, और देश की वित्तीय नीति के संचालन के
 अधिकार आदि के कारण भारत पर इंग्लैण्ड का ही प्रभुत्व रहा। जब हम भार-
 तीय व्यापार की बात करते हैं तो उसका तात्पर्य भारत की सरकार द्वारा
 आयोजित व्यापार - न कि भारतवासियों के हित में आयोजित व्यापार।
 नवीन शताब्दी के प्रथम चौबह वर्षों में, विशेष कर 1904 के बाद, भारत का
 विदेशी व्यापार 205 करोड़ हो गया था। 1912 से 1919 के बीच आयात
 में बहुत ह्रास हुआ। इतना ह्रास निर्यात में नहीं हुआ। 1912 में 18 ^{आप्रत} 18
 करोड़ रुपये का और निर्यात 248 करोड़ का था जबकि 1914-19 में यह क्रमशः
 42 और 130 करोड़ का हो रह गया। युद्ध समाप्त होते ही मीषण मन्दी का

समय आया और फिर १९२१-१९२२ के बाघ भारत के व्यापार की स्थिति सुधरने लगी। उसका विवरण इस प्रकार है :-

	आयात	निर्यात
१९१९-२०	२२२	३३६
१९२०-२१	३४७	२६७
१९२१-२२	२८२	४४८ करोड़ रुपये
१९२२-२३	२४६	३१६
१९२९-३०	२४९	३१८

१९२९ में न्यूयार्क के वालस्ट्रीट के आर्थिक विघटन के पश्चात् सारे संसार में एक अधोमुखी प्रवृत्ति प्रारम्भ हो गई। इस प्रकार १९२९-३० से १९३३-३४ तक व्यापार की दृष्टि से भारत में भी मन्दी रही। निर्यात में आयात की अपेक्षा कमी रही। इस वर्ष से कुछ प्रगति होनी प्रारम्भ हुई। यह धीमी धीमी प्रगति १९३६-३७ तक होती रही। द्वितीय महायुद्ध की भूमिका में १९३७-३८ में फिर हमारे व्यापार को धक्का लगा। देश युद्ध की तैयारियों में लगे थे। १९३७ में प्रारम्भ होने वाली ^मन्दी ने व्यापार को हानि पहुंचाई किन्तु कच्चे माल की मांग बढ़ी और ^{अप्रै ३९} कच्चे माल देने वाले भारत का व्यापार बढ़ा। युद्ध के बीच और व्यापार का स्वरूप करोड़ रुपयों में इस प्रकार है :-

	आयात	निर्यात		आयात	निर्यात
१९४०-४१	१५७	१८७	१९४३-४४	११८	१९९
१९४१-४२	१७३	२३७	१९४४-४५	२७४	२१०
१९४२-४३	११०	१८७	१९४५-४६	२३२	२२९
-----			१९४६-४७	२९२	२६६
१९४८-४९	४७०	४२८	१९४७-४८	३३४	३२०
१९४९-५०	६२२	४२८ *			

इस व्यापार में इंग्लैंड का भाग बड़ा ही महत्वपूर्ण रहा है। १९०९-१० में हमारे देश में बाहर से जितनी चीजें आती थीं उनमें औसतन ६२.८ प्रतिशत इंग्लैंड की थीं। १९४९ में यह औसत घटकर २७.८ रह गया। अन्य देशों का भाग इससे कम ही रहा। इंग्लैंड हमारा मालिक धान! हमसे अधिकाधिक लाभ उठाने का सबसे पहला अधिकार उसी का था न!! करोड़ों की जनता वाले इस देश में उपर्युक्त व्यापार अथवा औद्योगिक स्थिति में से कुछ की कुछ अर्थशास्त्रियों ने कभी-कभी बड़ी ही प्रशंसा की है, जैसे "पर्याप्त उन्नति हुई", "प्रोत्साहन दिया गया", "बहुत बुद्धि हो गई", "बहुत उन्नति हुई", "विकास हुआ", "आश्चर्यजनक उन्नति हुई", "स्वर्णकाल है" आदि। ये सारे कथन सापेक्ष दृष्टिकोण से ही कहे जा सकते हैं। यह ऐसे ही है जैसे कोई भूखी मरता हो या नंगे रहता हो। और यदि उसे रोज आधी थाली जूठन मिलने लगे या उसके बदन पर फटी कमीज बराबर रहने लगे तो हम कहने लगें कि यह उसकी आर्थिक अवस्था का स्वर्णयुग है। यह सब बकवास है। भारत जैसे लम्बे-चौड़े उपमहाद्वीप के लिये, इंग्लैंड जिससे एक सूबे के बराबर भी नहीं है, वस्तुतः यह विकास कितना अपर्याप्त है इसका पता तो तब चलता है जब हम अपनी अवस्था की तुलना उनसे या संयुक्त राष्ट्र अमेरिका से करें। बीराष्ट्रेन्स्टी महोदया "दि एकानामिक डेवलपमेंट आफ इंडिया" में कई स्थानों पर यह यकालत करती हुई प्रतीत होती है कि इसमें सरकार का कोई दोष नहीं और सरकार के आलोचक इन मजबूरियों, परिस्थितियों आदि पर विचार नहीं करते। प्रश्न यह है कि हम क्या विचार करें। सर्व प्रमुख बात नीयत की होती है जब नीयत ही साफ नहीं है तो विचार क्या किया जाय? कुछ - सब बहाने तो हर चीज के लिये बुद्धि निकाल ही लेती है। साम्राज्यवादी अर्थशास्त्रियों ने भारत की इस आर्थिक स्थिति का दोषारोपण भारत और भारतीयों पर करके अंगरेजों की उससे बचाने के लिये ऐसा तर्क कुतर्क न जाने कितने किये हैं। किन्तु वास्तविक स्थिति यह है कि इन्होंने हमारे यहाँ बुद्धि का पैता-

निक ढंग से विकास नहीं होने दिया। अपने स्वार्थ को ध्यान में रखकर उसके अनुसार एक विशेष ढंग से विदेशी व्यापार में भारत को लगाया किन्तु आंतरिक या अन्तर्वेष्टीय व्यापार ठीक से विकसित नहीं होने दिया। हमारा अन्तर्वेष्टीय व्यापार बहुत कम था। तटीय व्यापार की दृष्टि से भी यही स्थिति रही। जिस भारत का समुद्र तट ३५०० मील लम्बा है किन्तु आश्चर्य है कि उसमें दो-चार ही अच्छे बन्दरगाह बने। १९३९ ई. तक हमारे कुल तटीय व्यापार का केवल २५ प्रतिशत ही भारतीय जहाजों द्वारा होता था। हमारा देश इस स्थिति में है कि उसमें पुनर्व्याप्त व्यापार का संगठन अच्छा किया जा सकता था किन्तु संतोषजनक रूप से नहीं किया गया। हिन्दू भारत की अपनी एक बैंकिंग व्यवस्था थी और वह बहुत पुरानी थी। श्रीम प्रकाश केला ने लिखा है, "जब देश में मुसलमान आक्रमणकारियों का आगमन हुआ तो देश की बैंकिंग व्यवस्था को भी बड़ा आघात पहुंचा। बैंकिंग संस्थाएं प्रायः नष्ट हो गईं, हां व्यक्तिगत महाजन लोग धीरे धीरे अपना कार्य करते रहे।" अंगरेजों के आने से देश में एक नवीन बैंकिंग व्यवस्था का आगमन हुआ और बैंकिंग संबंधी एक नया वातावरण ही बन गया है। आज हमारे देश में देशी बैंक, सहकारी बैंक, भूमिप्राधिक बैंक, पोस्ट ऑफिस सेविंग बैंक, मिश्रित पूंजी वाली बैंक, विदेशी विनिमय बैंक, बीमा कंपनियां, स्टॉक तथा बुलेटिन एक्सचेंज, और भारत का रिजर्व बैंक आदि आठ प्रकार के बैंक हैं। बैंकों की विविधता अच्छी बात है। १९४९ तक हमारे देश में ५८३ सहकारी बैंक, ६२ विनिमय बैंक, ३६७ इम्पीरियल बैंक, २४८४ अन्य प्रामाणिक बैंक और १७८१ अप्रामाणिक बैंक थे। ९४६५ डाकतानों में सेविंग्स बैंक का कार्य करते थे। हमारे यहां के लिये इतने बैंक पर्याप्त हैं या नहीं इसका अनुमान १९४९ की निम्नतकलिखित तालिका से किया जा सकता है

<u>देश</u>	<u>बैंकिंग कार्यालय</u>	<u>क्षेत्रफल</u>	<u>जन संख्या</u>	<u>बैंकों की संख्या</u>
ऑस्ट्रेलिया	२९७५ हजार वर्ग मील		८० लाख	३५९०
कनाडा	३६९० " " "		१३० लाख	३३२३
इंग्लैण्ड	८९ " " "		५ करोड़	११४६१
अमरीका	६७४ " " "		१४ करोड़ ^३	
			७० लाख	१८९७५
भारत	१२२१ " " "		३४ करोड़	
			२० लाख	५२७७

बैंक सम्बन्धी उपर्युक्त आंकड़े हमारी आर्थिक दुरवस्था और पिछड़ेपन की कहानी बड़ी सफलतापूर्वक कहते हैं। जिसका दायित्व न हमारे ऊपर है, नहीं हमारे भूगोल पर, न जलवायु आदि पर। बेहतर और छोटे मोटे कर्जों तक अभी ये बैंक नहीं पहुंच पाये थे।

नौकरी और नौकर

कृषि और उद्योग दोनों की दुर्दशा के चित्र हम देख चुके। जब जम्मा आचमी के पास करने के लिये न रेली हो और न ठ्यसराय तब विवश होकर आजीविका के लिये उसे एक ही मार्ग का अवलम्बन वैच रह जाता है और वह मार्ग है नौकरीका। इस क्षेत्र में भी हमारा पतन अत्यन्त घयनीय स्थिति तक हो चुका है। भारतवर्ष का नौकरी का क्षेत्र अजीबोगरीब प्रवृत्तियों और विचित्रताओं से भरा हुआ है। इस अर्थ उताड़वी में भारत वर्ष के अन्दर प्रायः नौकर मालिक रहा है और मालिक नौकर। किसी तानाशाह से भी अधिक शक्ति और अधिकार से सम्पन्न वायसराय एक तरह से भारतीय जनता का नौकर ही तो था मगर किस मालिक से कम था। यहाँ की जनता के सेवक अर्थात् बड़े-छोटे अफसर जनता द्वारा 'मालिक' या 'सरकार' ही कहकर पुकारे जाते हैं। इस क्षेत्र में मालिक

गरीब और नौकर धनी हुआ करता है। वायसराय की तनख्वाह संसार में सबसे अधिक और जनता की प्रति व्यक्ति आय सबसे कम अनुमानित की गई है। इस प्रकार हमारे यहां की नौकरी की सबसे ऊंची स्थिति यह है। दूसरी ओर, हमारे यहां नौकरियों की स्थिति इस युग में यह भी थी कि बेचारे नौकर को माह भर में जितना वेतन मिलता था उसका कई गुना अधिक धन साहबकेबुत्ते पर व्यय हुआ करता था। प्रारंभिक क्वार्जों के अध्यापकों का वेतन इतना ही था। अतः, हमारे भारत में सबसे अधिक वेतन संसार भर में सबसे अधिक, और सबसे कम वेतन संसार भर में सबसे कम था !! सबसे अधिक ^{वेतन} ~~वेतन~~ विदेशी प्रतिनिधि पाता था; सबसे कम वेतन वैसी अध्यापक पाता था !!! के. टी. झा ने १९१३ ई. में भारत की विभिन्न नौकरियों के प्रतिष्ठत का इस प्रकार उल्लेख किया है। :-

<u>वेतन</u>	<u>अंगरेज</u>	<u>भारतीय</u>	<u>पेंगलोइंडिया</u>
२०० - ३००	१२/	६४/	२४/
३०० - ४००	१४/	६२/	१७/
४०० - ५००	३६/	४९/	१५/
५०० - ६००	५८/	३१/	११/
६०० - ७००	५४/	३६/	१०/
७०० - ८००	७८/	१४/	८/
८०० - ९००	७३/	२१/	६/
९०० - १०००	९२/	४/	४/

अर्थात् वेतना जितना ही कम होता था अंगरेज उतने ही कम और भारतीय उतने ही अधिक नियुक्त किये जाते थे और वेतन जितना ही अधिक होता था अंगरेज उतने ही अधिक और भारतीय उतने ही कम नियुक्त किये जाते थे। यहां का एक नौकर अपने से बड़े नौकर का पैर अपने सिर पर रखता था और अपना पैर अपने से छोटे नौकर के सिर पर रखता था। यह

कुँसला सभी जगह और जा दि से अन्त तक बराबर मिलती थी। यहाँ छोटे नौकर और बड़े नौकर में मानवता के आधार पर या सामाजिकता के आधार पर कोई भी संबंध नहीं स्थापित हो सकता था। संबंधों का आधार या मिलने वाला वेतन और प्राप्त अधिकार। यहाँ कालेज का प्रिंसिपल, थाने का दारोगा, कलेक्टर आदि कालेज, थाने या कचहरी में भी प्रिंसिपल, दारोगा या कलेक्टर होता है और कलत्र में, सांस्कृतिक उत्सवों पर, शादी छयाह में आयोजित सहभाजों पर भी वह प्रिंसिपल, दारोगा या कलेक्टर ही होता है। उसके अधीनस्थ कर्मचारी और उसके साथी भी उसे इसी संता से अभिहित करते हैं। बेचारा प्रिंसिपल ह्मसान कहीं भी नहीं हो पाता। इसलिये पुलिस के सुपरिन्टेन्डेन्ट साहब द्वारा असिस्टेन्ट सुपरिन्टेन्डेन्ट पर उनके सामने डांटों की बौछारें मने देली है। सदैव डर यही लगा रहता है कि कहीं साहब अप्रसन्न न हो जायें। सम्भवतः अंगरेज अफसरों द्वारा तिरस्कृत भारतीय अफसर अपने अधीनस्थ को वैसे ही डांट कर अपने भीतर के अंगरेजकृत अपमान का बदला लेकर अपने अन्तर का क्षोभ मिटाता था और फिर उसी अधीनस्थ से अपने को हर तरह से पूजित करावा कर और आदर-सम्मान पा कर अपनी हीनता की भावना का प्रतिकार करता था। इसका परिणाम यह हुआ कि अधीनस्थ का एकमात्र कर्तव्य हो गया साहब को खुश करना। फलतः में खुश रखने की अपेक्षा घर और फलतः दोनों जगह खुश करने से साहब इसे खुश होकर "तरक्की" देते थे। यह साहब कर्तव्य पालन से उतना प्रसन्न नहीं होता था (क्योंकि वह प्रसन्नता बड़ी गंभीर और सात्विक होती है) जितना चापलूसी खुशामद और "ढाली लगाने" से। अस्तु, काम एक और पड़ा रह जाता था। यहीं से भारतीय नौकरियाँ में कर्तव्य का तत्परतापूर्वक पालन सपने की बात होने लगा। मैज पर काइलें पड़ी हैं, छः छः महीने तक छात्रों की अभ्यास-पुस्तिकाएं बिना जांची हुई पड़ी हैं, पुस्तकें पढाई नहीं जा रही हैं किन्तु कोई चिन्ता नहीं, क्योंकि अपना अफसर खुश है तो कुछ कहेगा नहीं। साहब को

मालूम है कि उनके घर की फरमाइशें पूरी करने में बहुत समय लग जाता है और इसलिये काम पूरा नहीं हो सकता। हम प्रिंसिपल साहब को प्राप्ति परीक्षा की उत्तर-पुस्तकें जांच कर उन्हें प्रसन्न करें या लड़कों की कापियां जांचें। यही कारण है कि भारतीय नौकर उत्तरदायित्व की भावना से मूर्ख हो जाता है। भारत में नौकर या चपरासी सिर्फ दफ्तर या विभाग का ही नौकर नहीं होता, दफ्तर या विभाग में ही नौकर नहीं रहता, दफ्तर या विभाग के ही समय नौकर नहीं होता और दफ्तर या विभाग के ही लिये नौकर नहीं होता बल्कि चार बजे के बाद में साहब के हुक्म से साहब के घर के लिये या उनके दोस्त के घर के लिये तरकारी लाने और गेहूं पीसवाने आदि के लिये भी नौकर होता है और सुस्लम जुल्मा होता है। साहब खुश रहें - चाहे जो हो जाय। भारत में नौकरी का पद केवल "साहब" को ही नहीं मिलता, साहब के परिवार को भी मिलता है और इसलिये साहब चाहे अपने को प्रिंसिपल साहब कुछ कम ही मानें किन्तु उनसे ज्यादा में साहब प्रिंसिपल पद के अधिकार का भोग करती हैं। वे "मास्टर साहब" को भी डांटती हैं, मास्टर साहब की बीबी को अपना मातहत समझती हैं और कभी कभी तो नियुक्तियां भी वे ही करवाती हैं और निकलवा भी वे ही देती हैं। और जब महारानी साहब का यह हाल है तो राजकुमारी ही अपने को राजा से कम क्यों समझें!! यह बीड़े^१यहां की नौकरशाही की मनोवृत्ति। भारत में नौकरशाही का अर्थ हो गया साम्राज्यवादी, सामन्तवादी, पूंजीवादी और तानाशाही अनिष्टकारी प्रवृत्तियों की समष्टि। इस प्रणाली का प्रभाव यह हो गया है कि आज तक नौकरी के क्षेत्र में - चाहे वह सरकारी हो, चाहे किसी की निजी - जनतंत्रात्मक मनोवृत्ति का समावेश या प्रवेश भी नहीं होने पाया है। नौकर टालू, उत्तरदायित्व-विहीन, चापलूस, झुगमगी, चुगलखोर, बुद्धि-विवेकविहीन, आशापाक, सम्मान और आत्मसम्मान विहीन हो गया है। नौकरी और इज्जत दोनों दो चीजें हो गई हैं। बेकार रीबर्गाठने, धींस जमाने,

और झूठी ज्ञान वित्ताने की प्रवृत्ति बढ गई। अनुशासन की एकमात्र कसौटी रह गई। अनुशासन की एकमात्र कसौटी रह गई आजापादन और उसका एक मात्र उपाय माना गया आतंक। चूंकि भारत में नौकरों और नौकरी लौजने वालों की ही संख्या बढ गई और नौकरी का स्वरूप ऊपर कहा ही गया है इसलिये राष्ट्र में अधिकांशतः चरित्र, वृद्धता और कर्तव्य पालन और ठोसपने का अभाव हो गया। राष्ट्रीय चरित्र का अभाव हो गया। नौकरियों की इसी प्रवृत्ति को नौकरशाही कहा गया है। ये दोष व्यक्ति के दोष न रहकर व्यवस्था एवं प्रणाली अथवा परम्परा बन गये। अब यह बात दूसरी है कि परमात्मा की इच्छा अर्थात् राष्ट्रीयता की माचना क्वं सांस्कृतिक पुनरुत्थान से ये भी अछूते न बच सके और अपनी समस्त सीमाओं के होते हुए भी अपनी अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार 'नौकरों' ने भी राजनीतिक आन्दोलनों, साहित्य-सर्जना, समाज-सुधार, मातृभाषा की सेवा आदि पुनीत कार्यों में भाग लिया और महत्व-पूर्ण भाग लिया।

नौकरी का दूसरा पैदा है मिल मालिकों की मजदूरी। इस ज़ताब्दी के अधिकांश भाग में मजदूरों की मजदूरी उनका जीवन चलाने के लिये काफी नहीं होती थी और वे बेचारे क्रम के चंगुल से बच नहीं पाते थे। किराया देने, घर का सचा चलाने, छादी-ढाहा, उत्सव त्यौहार आदि के लिये क़ण लेना ही पड़ता था। प्रायः ये मजदूर अनाज आदि भी उधार सर ही लिया करते थे। ढयाज की सामान्य दर १ आना प्रति क़्मचा मासिक होती थी अर्थात् ७५/ वार्षिक !। कहीं कहीं तो यह २०० या ३०० प्रतिवत्त तक बढ जाती थी। मजदूरी की इस स्थिति को मजदूर तो ग़लीग़ालिती समझता ही था। इसलिये उसने देहात और सेती से अपना संबंध विच्छेद नहीं किया। उन्होंने निर्मूल और पूर्णतः निराधार होना पसन्द नहीं किया। मजदूरी परवशता है। पता नहीं क्व धोसा दे जाय। अतएव अपने पेट भरने का सहारा देहात में बनाए रखते थे। इन मिल-मजदूरों के पास

इनके गांवों में इनकी सेती रहती है। उसकी देखभाल करने वे कभी कभी जाते रहते हैं। मजदूरी अपनी आमदनी या सम्पत्ति बढ़ाने के लिये की जाती है। औद्योगिक क्षेत्र में जब तक इनकी मजदूरी सन्तोषजनक और स्थायी रूप से सुदृढ़ न कर दी जाय तब तक इनकी इस दोहरी प्रवृत्ति के लिये इनको दोष देना या इसे इनकी कमी बताना उचित कुशलता का द्योतक भले ही हो किन्तु है वह सहाय्यता सूच्यता और इव्यहीनता एवं अव्यावहारिकता। ये मजदूर जहाँ मजदूरी करते हैं वहाँ इनकी स्थिति बहुत ही दयनीय होती है। इनकी स्थितियाँ और इनके बच्चों का रहन सहन, असाधारण रूप से अस्वास्थ्यकर और सामाजिक दृष्टि से अपांडित है। भीड़-भाड़, स्वस्थ वस्त्रों और वातावरण का अभाव, तराब मकानों के कारण संभावित नैतिक पतन, विधवाएं आदि अमानवीय और अस्वास्थ्य हैं। हमारा जवाहर कानपुर में मजदूरों की ऐसी बस्ती, ऐसी स्थिति एवं ऐसी दुर्दशा देखकर बौसला उठा था। मजदूरों की इसी दुर्दशा ने जाने बल्कर देश में मजदूर आंदोलन को जन्म दिया। मजदूरों ने मिलों में हड़तालें कीं। इनके नेता प्रायः साम्यवादी विचारधारा के थे। ये हड़तालें और मजदूरों तथा मजदूरियों की परवृत्ति जन्म पतिततावस्था, अधिकारियों के अनाचार और अत्याचार का बना बन गये। इन पर मार्क्स कहानियाँ और उपन्यासों की रचनाएं हुईं। यह अवश्य है कि इस स्थिति ने अभी हमें गौरी और डिकेन्स नहीं दिया। एकमात्र प्रेमबंध एकमात्र अपवाद ठहरते हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, सेती अच्छी सभ्य और लाभदायक काम रह नहीं गया और व्यससाय के लिये पूंजी चाहिये और उस क्षेत्र में भी उन्नति की संभावनाएं रह नहीं गईं और इधर नौकरी में अधिक अधिकार और बिना अधिक धन किये काफी पैसा मिलने लगा। इसलिये अधिकाधिक जनता सरकारी नौकरी के पीछे पाक होने लगी। ऐसी नौकरी चाहिये जिसमें 'ऊपर की आमदनी'

अर्थात् घूस की संभावनाएं अधिक हों। परिणाम यह हुआ कि छोटी-सी थानेदारी हजारों रुपयों की आमदनी वाले व्यवसाय से भी अच्छी मानी जाने लगी। यह न मिले तो फिर और कोई नौकरी मिले। हम नौकरी-प्रिय हो गये। और यह एक मानी बात है कि नौकरियाँ इतनी अधिकता से संभव नहीं जितनी अधिकता से नौकरी लौजने वालों की संख्या बढ़ती है। यहाँ से बेकारी की नींव पड़ गई। सच्ची बात है कि बेकारी का निराकरण कृषि और व्यवसाय को अधिक प्रोत्साहन देकर बनाने से हो सकता है। यह इस युग में संभव नहीं हो पाया। कृषि क्षेत्र में बेकारी, बड़ी, औद्योगिक क्षेत्रों में बेकारी बड़ी, और पड़े-लिसे लोग बेकार होने लगे। दफ्तरों में 'नो वेकन्सी' की तस्वियतों उठकाई जाने लगीं। पराजय, बीम, निराशा, हताशा, पस्ती और आत्महत्याओं की अधिकता हो गई। इसका सबसे अधिकत्ती शिकार हुआ मध्यम वर्ग। प्रथम महायुद्ध के बाद १९२८ के आसपास जब व्यापार के क्षेत्र में विश्वव्यापी मंदी का युग आया तब भारत में बेकारी इतनी अधिक बढ़ी थी कि बी.ए. पास लॉग २०-२० या २५-२५ रुपये महीने पर भी नौकरियाँ ढूँढते हुए पाये गये थे। बेकारी ने बड़ा ही भयानक रूप धारण किया था। किसान बेकार, मजदूर बेकार, पड़े-लिसे बेकार! लगता था जैसे देश का सारा जन आर्थिक ढाँचा चरमराता हुआ टूट जायगा।

गरीब भारत

परिणाम यह हुआ कि हम गरीब हो गये। धीरे-धीरे वर्मा ने लिखा है, "आर्थिक दृष्टि से अंग्रेजी शासन काल भारत तथा मध्य देश के इतिहास में अत्यन्त दुरवस्था का काल कहा जा सकता है।" देश की जनता गरीबी के लिये भारत सारे संसार में एक कहावत बन गया। भारत के लिये अपने हृदय में स्थापुन्यता का मायावेशपूर्ण अवयव कोष लिये हुए भीमती वीरा ऐंस्टी ने भारत

भारत की गरीबी पर बड़ा आश्चर्य प्रकट करते हुए लिखा है, "भारतवर्ष में सहसा ही आया हुआ कोई भी यात्री यह देख कर आश्चर्य चकित हुए बिना नहीं रह सकता कि इस देश में भौतिक उन्नति^{की} कितनी अधिक संभावनाएं हैं और इस देश की जनता के अधिकांश भाग ने उनसे कितना कम आर्थिक लाभ उठाया है।" श्रीमती जी को सचमुच इस स्थानुभूति के लिये बहुत बहुत धन्यवाद है किन्तु यदि दृष्टि को पक्षपात और साम्राज्यवादी धुंध से साफ करके एक बार भी वे अपनी जाति के उन्नीसवीं शताब्दी के अधिकारियों की करतूत देखें तो उनको न केवल आश्चर्य न हो बल्कि अपनी जाति वालों के कुकृत्यों के कारण उनका सिर भी झम से झुक जाय। उन्हें समझना चाहिए कि^{हम} इस उन्नति की संभावनाओं को वास्तविकता में परिवर्तित करना जानते थे और उसके शोकीन भी थे जिसका प्रमाण दक्षिण और उत्तर भारत की इमारतों की आश्चर्योत्थापक कला-कारीगरी आदि है किन्तु हमें यह करने नहीं दिया^{गया} ~~जमा~~। यदि थोड़ी भी ईमानदारी उनमें होती तो उन्हें इस बात पर आश्चर्य न होता कि "... जनता ने उनसे कितना कम आर्थिक लाभ उठाया है", बौध्द अवश्य होता कि उनकी जाति वालों ने कितना कम आर्थिक लाभ उठाने दिया कोई जाति इस हद तक नीचे उतर सकती है। मानवता का तकाजा यह नहीं है कि अपनी जाति के दोषों का आरोपण शोषित जाति की सामाजिक, पारिवारिक, दार्शनिक परम्पराओं आदि पर डाला जाय, जैसा कि श्रीमती जी ने किया है। यह विषमता सचमुच अपनी ओर ध्यान आकृष्ट कर लेती है। एम. एल. डार्लिंग का कथन है, कि भारतवर्ष के विषय में सबसे अधिक अपनी ओर आकृष्ट कर लेने वाला तथ्य यह है कि उसकी मिट्टी (उपजाऊ) है) संपन्न है मगर वहाँ के लोग विपन्न (गरीब) हैं^२। विभाजन के पूर्व ब्रिटिश भारत में राष्ट्रीय आय

१. "दि एकनामिक डेवलपमेंट आफ इंडिया", की भूमिका।

२. "पंजाब पीजेंट इन पावटी" फुड डेट

का जो अनुमान लगाया गया उसका विवरण नीचे दिया जा रहा है:-

<u>हिसाब लगाने वाला</u>	<u>हिसाब का समय</u>	<u>प्रतिव्यक्ति वार्षिक आय</u>
दादा भाई नौरोजी	१८६७ - ७०	२० रु.
क्रौमर तथा बार्बर	१८८२	२७ रु.
डिग्बी	१८९९	१७ रु. ८ आ. ५ पा.
लार्ड कर्जन	१९००	३० रु.
डिग्बी	१९०१	१८ रु. ८ आ. ११ पा.
एटकिन्सन	१८७५	३९ रु. ८ आ.
एटकिन्सन	१८९५	३९ रु. ८ आ.
बा डिया और जोशी	१९१३-१९१४	४४ रु. ५ आ. ६ पा.
शाह और सम्बत	{ १९०० - १९१४	३६ रु.
	{ युद्ध के बाद	३८ रु.
फिन्डले शिराज	१९२१	१०७ रु.
फिन्डले शिराज	१९२२	११६ रु.
साइमन कमीशन	१९२९	११६ रु.
डा. राव ...	१९२५-२९	७६ रु.
डा. राव ...	१९३१-३२ ग्रामीण	५१ रु.
	उहरी का	११६ रु.
ग्रिग	१९३७-३८	५६ रु.
स्टूडेन्ट कामर्स	१९३८-३९	३६ रु.
स्टूडेन्ट कामर्स	१९४२-४३	१४२ रु.
	१९५०	२५५ रु.

भारत की अपेक्षा ब्रिटेन की प्रति व्यक्ति आय कम से कम ५ गुना अधिक और अमरीका की लगभग ७ गुना अधिक समझी जा सकती है। जयपुर और वैरी

ने लिखा है, "यदि केवल भारत के प्रांतों को ही लिया जाय तो यह २०४ रुपये होगी। अन्य देशों की संख्याएं इस प्रकार थीं: ऑस्ट्रेलिया १७९९ रुपये, कनाडा २८५८ रुपये, इंग्लिस्तान २३५५ रुपये, संयुक्त राज्य ४८५८ रुपये।" ^१ यह अनुमान १९४५-४६ ई. वाले वर्ष का है। इस अनुमान के अनुसार ब्रिटेन की प्रति व्यक्ति आय भारत की अपेक्षा ११ गुना अधिक लगभग २३ या २४ गुना अधिक ठहरती है। पट्टाभिसीतारामैया ने लिखा है, कि इंग्लैंड में फी आदमी की औसत आयदानी ४२ पाँड थी और भारतवासी की एक ही पाँड। ^२ भारत को कितना गरीब कर दिया गया है, कितना अधिक !!! विवेकानंद जी ने ठीक ही कहा, "आप लोग (अंग्रेज) एक वर्ष में जितना संचय कर देते हैं, वह एक भारतीय के लिये जीवन भर की सम्पत्ति के बराबर है।" ^३ लाला लाजपत राय ने लिखा है कि इस संसार में भारतवर्ष के निवासी सबसे अधिक गरीब हैं। यदि ऐसी दरिद्रता योरोप और अमेरीका के किसी देश में होती तो अब तक लोगों ने सरकार का तत्त्वा उलट दिया होता।" ^४

गरीब देश या लुटा हुआ देश

एक अमेरीकी पादरी ने १९०२ ई. में लिखा था कि भारतवासी जी नहीं रहे हैं केवल जीवधारियों में उनकी गिनती पर होती है। ^५ पराधीन भारत को गरीब होना ही चाहिये। हिन्दुस्तान में अंगरेजी साम्राज्य को बनाये रखने के लिये नियुक्त अंगरेज सैनिक पर ७७५ रु. वार्षिक व्यय किया जाता था जबकि स्वयं इंग्लैंड में उन पर होने वाला व्यय २८५ रु. मात्र था। इसी के लिये लाला लाजपत राय ने लिखा है, "वर्तमान परिस्थिति यह है कि ब्रिटेन

-
१. 'भारतीय वर्काल्स', संड. २, पृ. १४२ (४) 'पुली भारत', पृ. ३४५
 २. 'कांग्रेस का इतिहास', पृ. ४७ (५) वही, पृ. ३४८
 ३. 'मानयोग', पृ. २१२

साम्राज्य के विनीत के लिये बाजा बजाता है और बाजा बजाने वाले का वेतन देता है भारतवर्ष यह बाजा बजाने वाला प्रायः स्वयं ब्रिटेन ही होता है।^१

दुली भारत के ऊपर कण का भार डाल डाल कर भी उसे निर्धन बनाया गया है। १९२३-२४ में स्थिति यह थी कि विदेशी लैन-वेन का हिसाब चुकता कर देने पर व्यापार में भारतवर्ष को १५० करोड़ रुपये की^{अर्थात्} होती थी किन्तु उस पर जो तकाजा होता था उसका योग १७८ करोड़ रुपये तक पहुंचता था, अर्थात् प्रतिवर्ष ३० करोड़ का कर्षी हो जाता था। यह कण भी क्या था? साम्राज्य की रक्षा के लिये युद्ध किये जाते थे, सर्व भारत पर लाद दिया जाता था; भारतवासियों की राष्ट्रियता के दमन के लिये सेनाएं रसी जाती थीं, सर्व भारत पर, १८५७ में हमें कुचला गया और कुचलने का सर्व भी हमसे लिया गया आदि। दादा भाई नौरोजी के एक व्याख्यान से उंकर दस्त्रेय जावडेकर ने यह कथन उद्धृत किया है, "महमूद गजनवी ने १८ बार हिंदुस्तान को लूटा। उसकी सारी लूट आपकी एक साल की लूट से भी कम है।..... आपका यह पैम्पवाली साम्राज्य हिन्दुस्तानियों के धन और सुन पर सड़ा है।"^२ यह बात तो कई अंगरेज लेखकों ने भी, जो सभी प्रकार से योग्य थे, स्वीकार की है कि भारतवर्ष ने ग्रेट ब्रिटेन को धनी बनाया है और ग्रेट ब्रिटेन ने भारतवर्ष को दरिद्र कर दिया है। कम से कम माघ पर भारतवर्ष का करोड़ों मन अनाज विदेशों को भेजा गया जिसके परिणाम स्वरूप लाखों भारतीय भूख मर गये और साथ ही साथ देश दरिद्र भी हो गया। विदेशी साम्राज्यवाद ने भारतीय पूंजीवाद को विकसित भी नहीं होने दिया और सामन्तवादी प्रणाली को जीवित भी रखा। यहां पूंजीपति और सामन्त वर्ग का गठबंधन हो गया है, क्योंकि राजाजी, जमींदारों, तालुकदारों और नवाबों ने उद्योग धंधों में पूंजी लगा रखी है। परिणाम यह हुआ कि भारतीय

१. 'दुली भारत', पृ. ३५७

२. 'आधुनिक भारत', पृ. ७८।

आर्थिक जीवन में पूंजीवाद और सामन्तवाद दोनों के दोष आ मिले। इन सबके साथ साम्राज्यवाद ने मिलकर तुलसीदास की यह उक्ति चरितार्थ कर दी :

ग्रह ग्रहीत पुनि बात बस तैहि पुनि बीछी मार
ताहि पिजाइहि बाकी कहहु कौन उपचार !

इसका परिणाम यह दिवनाथ ने इस प्रकार उपस्थित किया है, 'हत्याघन के साधनों पर एकाधिकार व्यक्तिगत संपत्ति की रक्षा और समाज के आर्थिक शोषण में ये दोनों वर्ग एक हो गये.... यहाँ पूंजीपतियों ने प्रजा स्तात्मक क्रांति नहीं की' ^१। उच्च वर्ग ने मध्यवर्ग का भी शोषण किया और उसे निम्न वर्ग की स्थिति में पहुँचा दिया। हिंदी के लेखक प्रायः इसी मध्य-निम्नवर्ग से निकले हैं और उन के अन्तर्मानस में शांत या अशांत रूप से इस शोषक वर्ग के प्रति असन्तोष और खोश था। इसलिये हिन्दी के साहित्यिकों में शोषक वर्ग अर्थात् सामन्तवादियों और पूंजीपतियों के लिये विभाभाव अधिकान्तः नहीं रहा। बूँकि पुस्तकों के प्रकाशन का उद्योग प्रायः इसी वर्ग के हाथ में था अतः इन्हें पुस्तक समर्पित करने का रिवाज मजबूरन बला देना पड़ा। समाज पर इस प्रवृत्ति का प्रभाव यह पड़ा कि धनी बनने के लिये एक व्यक्ति पूंजीवादी शोषण और सामन्तवादी अत्याचार करने लग गया। एक धनी बना, लाखों गरीब हो गये। स्वामी विवेकानन्द ने कहा है, 'एक व्यक्ति धनी हो जायगा इसलिये लाखों मनुष्यों को पीसा जा रहा है - एक व्यक्ति धनवान बने इसलिये सहस्रों मनुष्य दरिद्र से दरिद्रतर से हो रहे हैं।' ^२ वैज्ञानिक आविष्कारों का दुरुपयोग, दरिद्रता, शोषण, विनाशकारी आविष्कार, बकालत, वैश्यावृत्ति आदि कुवृत्तियाँ इसी पूंजीवाद की ही देने हैं। हिन्दी साहित्य में इन कुवृत्तियों का चित्रण और इनके निराकरण की कामना बराबर मिलती है। इस प्रकार देश गरीब और अमीर दो वर्गों में विभाजित होने लगा। फिलिपी एक उताऊवी में भारत का जो आर्थिक विकास हुआ उसकी

१. 'आधुनिक साहित्य की आर्थिक भूमिका', पृ. ७३।

२. 'ज्ञानयोग', पृ. २२।

एक प्रधान प्रवृत्ति रही है विषमता। आर्थिक गतिशीलता बम्बई, कलकत्ता आदि बड़े नगरों में ही रही। सामान्य नगरों और देहातों तक नहीं पहुंची। भारतीय उद्योगों की गति ऊपर से नीचे की ओर हुई। बड़े से बड़े छोटे की ओर हुई। उसकी गति ऊर्ध्व नहीं, अधोमुखी रही। परिणामस्वरूप शहर और देहात के जीवनस्तर और सांस्कृतिक स्तर में आकाश-पाताल का अन्तर हो गया। एक बड़ी सार्ई खुद गई। दोनों को एक सूत्र में पिरोना कठिन हो गया। संभवतः इसीलिये जब 'गोदान' में 'प्रेमचन्द' ने सम्पूर्ण भारतीय जीवन का एक ठयापक चित्र उपस्थित करना चाहा तो दोनों में अविभाज्य संबंध न स्थापित कर सके। देहात की कहानी स्वतंत्र लगती है, शहर की स्वतंत्र। दोनों को कुशलतापूर्वक अलग करके दो स्वतंत्र और पूर्ण उपन्यासों का स्वरूप इसे दिया जा सकता है।

भारत की प्रवृत्ति उद्योगी थी या शैली वाली ?

अस्तु, हमने देखा कि भारत एक गरीब लोगों का देश है। फिर भी हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि यह गरीब देश नहीं है। समुच्च भारत निर्धन नहीं था। भारत के सिर्फ प्राकृतिक साधन ही इतने अधिक हैं कि यदि शैली और उद्योग धर्मों का मिला-जुला विकास किया जाय तो देश समृद्धि के चिखर तक पहुंच सकता है। अंगरेजों के आने से पहले आर्थिक विकास की दृष्टि से भारत संसार के सभी देशों में अग्र जगत् था। कलकत्ते के दैनिक 'स्टेड्समैन' के सम्पादक सर एल्फ्रेड वाइसन ने १९३३ ई. में रायल एम्पायर सोसाइटी की एक बैठक में कहा था, 'यद्यपि भारत में एक महान् औद्योगिक देश बनने के लिये सभी आवश्यक बाह्य इकरातों के साथ मौजूब हैं मगर फिर भी आज वह आर्थिक दृष्टि से दुनिया का एक पिछड़ा हुआ देश है और उद्योग-धर्मों की दृष्टि से तो बहुत ही पीछे है.....।' भारत में चावल, गेहूं, बाजरा, जौ, दाल, तरकारी, गन्ना, रूई, तिल, चाय, तम्बाकू, फल जंगल आदि सब कुछ प्रकृति ने दे रखा है।

वैज्ञानिक ढंग से यदि इन सब की व्यवस्था की जाय तो भारतवर्ष में आश्चर्यों की सृष्टि की जा सकती है। मगर अंगरेजी साम्राज्यवाद ने कुछ न होने दिया। हमारे हाथ, पाँच बाँध दिये और खुद भारत के लिये कुछ किया नहीं। हमारे देश में औद्योगीकरण के लिये भी बहुत संभावनाएँ थीं। आजकल प्राचीन भारत की जो कुछ कृतियाँ अवशिष्ट रह गई हैं वे यही कहानी कहती हैं। यदि हम उद्योग प्रधान नहीं थे तो वह मसाला और वह प्रक्रिया कहां से संभव हुई जिससे कुतुबमीनार के पास सड़े उस लौहस्तम्भ की रचना की जिस पर इतने दिनों की शीत-ताप-वर्षा आदि के बावजूद भी जंग नहीं लगने पाया। यदि हम इंजीनियरिंग की कला नहीं जानते थे तो ऐसी इमारतें कैसे बनीं जो इतनी चिकनी हैं कि उस पर चींटी भी सीधी न चढ़ सके। वह रंग कैसे बना जो शताब्दियों बाद आज भी अजन्ता की गुफाओं के चित्रों पर सुरक्षित है। उस स्थान का पता कैसे लगा जहां सड़े होकर आप बोलें तो पूरी छत पर सड़े लोगों को सुनाई पड़ जाय और उससे तनिक भी हट कर बोलें तो पास सड़े धी-चार आदिमित्रों के अतिरिक्त और किसी को न सुनाई पड़े। कहां तक गिनारें। भारत में औद्योगीकरण के लिये विपुल साधन हैं। भारत में जितना जल बहता है उसका ६ प्रतिशत ही उपयोग में आता है। इस उपयोग की मात्रा में से लगभग १ प्रतिशत से ही जल-विद्युत पैदा की जाती है। इसका विकास औद्योगीकरण में सहायक हो सकता है। असम के ^{शिलांग} सीलांग पठार, उड़ीसा (भेरा) के कुछ पठारी भाग, जम्मू, उत्तरी राजस्थान, बिन्ध्य की पहाड़ियाँ, आदि हमें विपुल राशि कोयलों की दे सकती हैं। भारत में जल-विद्युत के पश्चात् खनिज तेल की संभावनाएं बहुत ही अधिक हैं। भारत के मैदानी भाग के लगभग ४ लाख वर्गमील से यह प्राप्त हो सकता है। अणु शक्ति के विकास के लिये भारत में यूरेनियम और थोरियम बहुत अधिक मात्रा में संचित हैं। भूगर्भ वैज्ञानों ने निरन्तर अनुसंधान करके यह स्पष्टतः सिद्ध कर दिया है कि आधुनिक युग में जिन विन खनिजों की आवश्यकता औद्योगिक विकास के लिये होती है वे सब भारत में वर्तमान हैं। भारत में लोहे की

संचित मात्रा उसके वर्तमान उत्पादन से कहीं अधिक है। मैंगनीज, अभ्रक, तांबा, क्रोमाइट, टंगस्टन, मैग्नेसाइट, फास्फेट, गंधक, खोरा, सल्फेट आदि सनित्र पदार्थों की संभावनाएं भी भारत में अधिक हैं। छोटा नागपुर का पठार, आरा वली की पहाड़ियां, नीलगिरि, मैसूर आदि क्षेत्रों से ये प्राप्त की जा सकती हैं। इस प्रकार भारत में औद्योगीकरण के लिये अनंत संभावनाएं हैं। किन्तु हमारे अंगरेज महाप्रभु ने हमें यह रटा दिया है कि भारत एक कृषि प्रधान देश है। हम सेती किये जाय और उन्हें कच्चा माल दिये जाय, इसे अधिक उन्हें चाहिए ही क्या था ? माना कि भारत में बहुत सेती होती है किन्तु सेती अमरीका में भी कम नहीं होती और न वहां अनाज ही कम होता है किन्तु अमरीकी बच्चे यह नहीं रटा करते कि अमरीका कृषि प्रधान देश है। साम्राज्यवाद कितनी निर्भीकता से झूठ बोलता था!!! साम्राज्यवादी नीति के ही कारण हमारे देश के पुराने उद्योगों को नष्ट कर दिया गया और संतुलित आर्थिक विकास होने नहीं दिया गया।

अंगरेज और भारत का औद्योगीकरण

अंगरेज भारत का औद्योगीकरण चाहता ही नहीं था। समय, परिस्थितियाँ और भारतीयों की माँग ने उसे इस और कुछ कदम उठाने के लिये मजबूर कर दिया। अस्तु, किसी से जबरजस्ती जितना कुछ कराया जा सकता है, अंगरेजों ने भारत का औद्योगीकरण उतना ही किया। उनका दुष्टिकोण भी ठीक था। उन्होंने भारत को हानि और अपमान सह सहकर, दूरताप और बेईमानियाँ कर-करके इसलिये तो नहीं कीं जीती थी कि उसकी वैज्ञानिक और औद्योगिक उन्नति कराएं!! उनकी आर्थिक नीति का प्रभाव हमारे ऊपर यह प्रभाव डाला कि व्यक्ति के अन्दर से आगे बढ़कर काम करने, प्रतिबन्धिता में भाग लेने, साहसपूर्ण और बड़े-बड़े उत्तरदायित्व के कार्य हाथ में लेने का साहस नहीं रह गया। अंग्रेजी साम्राज्यवाद ने भारत को जितना भी बन देना चाहता

यह सब जितनों को दिया अथवा आर्थिक दृष्टि^{से} जितनों को कुछ अच्छा रसना चाहा वे थे सामन्तवादी दृष्टिकोण के लोग। उनकी संख्या बहुत कम थी। धन और अधिकार ने उनको समाज के शीर्ष बिन्दु पर बैठा दिया। समाज के अधिकांश लोग उनकी राय से चलने और उनके ही ढंग पर सोचने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत का महत्वपूर्ण भाग आज तक मध्ययुगीन प्रवृत्तियों वाला ही रह गया। आधुनिकता, आधुनिक विचार और आधुनिक वस्तुएं कुछ ही लोगों तक पहुंचने पाईं। वास्तविक भारत तक ये पहुंचने ही नहीं पाईं। यही स्थिति आधुनिक हिन्दी साहित्य की भी है। राष्ट्रीयता के अतिरिक्त अन्य आधुनिक क्रांतिकारी दृष्टिकोण उसमें उभरता हुआ नहीं दिखाई पड़ता। आधुनिक युग की दृष्टि से जो तत्व विशुद्ध ही निरर्थक सिद्ध हो गया जैसे जातिवाद, द्विजों की प्रभुता, राजा को ईश्वर मानना आदि उनकी प्रशंसा और समर्थन तो नहीं मिलता, किन्तु आधुनिक की क्रांतिकारी प्रवृत्तियों पर भी यह साहित्य प्रधानतः आधारित नहीं हो सका। उत्पादन के मध्ययुगीन साधनों और मध्ययुगीन आर्थिक प्रवृत्तियों को ही इसके एक मात्र कारण न होने पर भी उनका इस प्रवृत्ति पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है; क्योंकि जीवन और मनोवृत्ति विज्ञान पर अर्थ का प्रभाव कुछ कम नहीं पड़ा करता। और इस तरह का साहित्य जितना रूढ़िवादी भी गया उसमें जीवन की व्यावहारिकता-जनित अनुभूति की सच्चाई कम सिद्धांतों की बौद्धिक स्वीकृति का आग्रह ही अधिक है।

बुद्धि और दृष्टि प्रष्ट कर दी गई

यह है हमारे आर्थिक जीवन की पुर्नजा का चित्र। पिछली एक सताब्दी का समय संसार में वैज्ञानिक उन्नति की प्रगतिक का समय रहा है और दुर्भाग्य की बात है कि यह समय राजनीतिक दृष्टि से भारत की पराधीनता का और आर्थिक दृष्टि से भारतीयों के पैंगु किये जाने तथा शोषित किये जाने का समय है। जब सब लोग पीड़े चले जा रहे हैं तब किसी एक का हाथ-

पैर बांधकर डाल देने से जो होता है वही भारत का भी हुआ। हम मयानक रूप से पिछड़ गये। १८ वीं शताब्दी तक कृषि के क्षेत्र में हम संसार के बड़े से भी बड़े देश की प्रतिस्पर्धा में विजेता के रूप में खड़े हो सकते थे। यह बात श्रीमती बीरा ऐन्स्टी ने भी स्वीकार किया है। उनसे एक बड़ा ही विनम्र प्रश्न है कि क्या उस समय भारत संसार की वणिक, बूढ़ और माया नहीं समझता था ? क्या यह प्रवृत्ति १९वीं और २०वीं शताब्दी में पैदा हुई है ? क्या उस समय हम मान्यवादी नहीं थे ? क्या उस समय हम प्राकृतिक शक्तियों को देवता समझ कर (सूर्य, वर्षा के देवता वरुण, पृथ्वी को माता, उषा को देवी, पवन को देवता आदि समझकर) उनकी आराधना नहीं करते थे ? क्या हमारे अन्दर

सन्तौक्य नहीं थी ? क्या उस समय हम अहिंसक नहीं थे ? क्या उस समय जाति-प्रथा हमारे समाज में नहीं थी ? क्या उस समय के भारत की रीति-रिवाज, धर्म-विश्वास, रुढ़ियाँ और प्रथाएँ १९ वीं और २० वीं शताब्दी से भिन्न थीं ? नहीं। और फिर भी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "विश्वनामिक डेवलपमेंट आफ इंडिया" में बीरा ऐन्स्टी ने हमारे पिछड़ेपन और आर्थिक दुरवस्था का कारण यही बताया है। क्या ये सब दोष हमारे अन्दर १९ वीं और २०वीं शताब्दी में पैदा हो गये जो हमारा भारत १९ वीं शताब्दी के समाप्त होते-होते लड़खड़ाते, कटारते, लोहारते, बेलगाड़ियाँ और लोमड़ेवाले तथा केरी-वाले का - कच्चा माल और कुछ साधन पैदा करके उन्हें बाहर बेचने वाला तथा विदेशों से तैयार माल, लोहे और इत्यादि की बनी चीजें, मशीनें और मशीनों के पुर्जे आदि खरीदने वाला राष्ट्र हो गया। केवल ये ही कहती हैं या उनके भाई बन्धु ही कहते तो भी कोई बात नहीं थी। उन लोगों ने तो भारत में जन्म लेने वाले अपने (अ) भारतीय बेटों को वह सब इस तरह से रटा दिया है कि आज तक भी वे लोग इसे न भूल सके। भारतीय माँ-बाप से उत्पन्न होने वाले ये अमात्य बेटे तरह तरह की ठूल-बलूल बातें किया करते हैं। एक पुस्तक में उल्लिखित कुछ वाक्य उद्धृत कर रहा हूँ :- "यह (भारत) अपेक्षाकृत गर्म देश है।

प्राचीनकाल में यहाँ लोगों की आर्थिक आवश्यकताएँ कम थीं जो साधारण श्रम से पूर्ण हो जाती थीं। यही कारण है कि प्राचीन कृषियों का जीवन-आदर्श सादा-जीवन की ओर रहा। कालान्तर में हिन्दू सभ्यता पर सर्व मुल्कों से आने वाले अफगानियाँ और तुर्कों ने आक्रमण किया और अपना राज्य स्थापित किया। किन्तु गर्मप्रदेश में कुछ शताब्दियों तक रहने के उपरान्त उनकी शक्ति बीज हो गई और उनसे भी अधिक शीत-प्रदेश इंग्लैण्ड में रहने वाली जाति ने उन्हें परास्त करके अपना राज्य स्थापित कर लिया। लगभग २०० वर्ष गर्म देश में रहने के उपरान्त अंगरेज जाति भी अपने प्रारम्भिक साहस, श्रम सहिष्णुता तथा कार्य-व्यवस्था को लौ बैठी; परिणामतः उनके राज्य का भी अन्त हो गया।^१

ध्यान रहे कि यह पुस्तक १९५७ में छपी थी। इससे अधिक विवेकहीन, असत्य और अराष्ट्रीय वक्तव्य और क्या दिया जा सकता है? सही ढंग से सोचने की शक्ति का इतना अभाव इन महानुभावों में हो गया है कि पढ़कर आश्चर्य होता है। यह है बौद्धिक दासता का उदाहरण और "वीर/एन्ड को" की बौद्धिक कूटनीति का प्रभाव। हमारी इस दुरवस्था की ओर पिछले पृष्ठों में यदा-कदा कुछ संकेत किया जा चुका है। उसकी एक झांकी पालेना असंभव न होगा। इसका मूल कारण है हमारी आर्थिक जीवन और उसकी व्यवस्था को उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से इस प्रकार उखाड़ फेंकना जैसे कोई निर्मम माली सुगन्धित पुष्पों को किसी पौधे की निर्ममतापूर्वक उसकी अपनी बगिया की क्यारी से उखाड़ फेंके। व्यवस्था रुपी पौधा जब सांस्कृतिक तत्वों रुपी साव से परिपुष्ट वातावरण रुपी क्यारी में उगता है तब उसमें हरापन और सुख-आनंद देने वाले तत्वों रुपी फूलों की संभावना होती है। विच्छेद की अवस्था में जड़े गहरी नहीं हो पातीं। फल मुरझाए हुए और फल कीड़े, कड़म और हानिकारक पेदा होते हैं। यही अवस्था हमारी अर्थव्यवस्था की हुई।

जड़भूल पर आघात और उससे उत्पन्न विषमता

सभी देवों के अनुसार ही भारत की भी अर्थव्यवस्था का प्रधान पक्ष होती है। भारत की ग्राम्य संस्कृति और जीवन का मूलधार ही होती और ग्रामोद्योग था। आत्म-निर्भर एवं स्वावलम्बी ग्राम्यजीवन पर ही हमारी आर्थिक क्रियाशीलता एवं आर्थिक समृद्धि की नींव पड़ी थी। जड़ यह थी। यहाँ से विकास प्रारम्भ हुआ था जिसका समुन्नत रूप राजधानियों और बड़े-बड़े नगरों में चमकता हुआ दिखाई पड़ता था। उसको नष्ट करने के लिये इस जड़पर आघात करना जरूरी था। १७५६ ई. में जब मुगल सम्राट शाह आलम ने कलाइव की बंगाल की दीवानी के अधिकार दे दिये तब से बंगाल और उड़ीसा की संपूर्ण भूमिपर अंगरेजों का स्वामीत्व स्थापित हो गया। अभी तक भूमि गांव की थी, अब सरकार की हो गई। अभी तक भूमि माता थी, अब वही माता सरीदी, बेची एवं नीलाम किये जाने वाली चीज हो गई। अभी तक अन्न देवता था, अब उसकी तुलना सिक्कों और बाटों से होने लगी। अब वह देवता ड्रय-विड्रय की वस्तु हो गया। हम यह प्रार्थना "समुद्रवस्ते देवि, पर्वतस्तनमंडले, विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पावस्पर्शं वमस्य मे" मूलने लगे। यहीं से हमारी अर्थ-व्यवस्था की सांस्कृतिक जड़ कट गई। अब जमीन उनके पास चली गई जो सरकार को अधिकाधिक रुपया दे सकते थे। अब महत्व उपज या धन का नहीं रह गया, रुपयों या सिक्कों का हो गया। प्रजापालक जमींदार जमीन से वंचित हो गया, लुटेरे साहूकार जमीन के मालिक हो गये। जिस संस्कृति में धर्म, प्रेम, व्यवस्था और व्यवहार - प्रधान था वहाँ जड़ सिक्के की प्रधानता हो गई। यह दूसरा सांस्कृतिक आघात था। भारतीय उद्योगों को पुष्टतापूर्वक नष्ट करके कारीगरों के बंगूठे काटकर उन्हें निराश्रित करके लेती की ओर जाने को मजबूर करना और इस प्रकार कृषि पर अधिकार मार डालना और कुटीर उद्योगों एवं ग्रामोद्योगों को नष्ट करना एक तीसरा सांस्कृतिक आघात था। कृषि का स्वामित्व कृषि करने वालों के लिये

से लेकर उन्हें दे देना जो लेती नहीं करते थे या गांव से दूर रहते थे, कृषि और कृषि के मालिक के रागात्मक संबंध को नष्ट करने का कारण बन गया। खेतपराई सम्पत्ति हो गई। उसको उन्नत करने के अपनत्व प्रेरित प्रयत्न नष्ट कर दिये गये। यह भी एक सांस्कृतिक अपराध था। इस प्रकार गरीबी से भरे

हुए मजदूर लोग कृषि कला के कर्ता और कृषिकार्य से पूर्णतः अभिन्न धनपति लोग उसके स्वामी हो गये। ~~अ-निति~~^{अपनिति} अनिवार्य थी। इंग्लैंड की औद्योगिक क्रांति के कारण मशीनों से बनाई गई जड़ एवं कलात्मकताविहीन सस्ती वस्तुओं की बाढ़ ने उच्च कीर्ति की कलात्मक कृतियों की मांग सत्तम कर दी। हाथ कट गये, मशीन खल हो उठी। कारीगर मिट गया। यह भी कलात्मक एवं सांस्कृतिक आघात था। उपभोक्ताओं से उत्पादकों का प्रत्यक्ष संबंध टूट गया। प्रेम भाव समाप्त हुआ। यूरोपीय फैशन के अनुकरण ने छिछलापन बढ़ा दिया। ठीस चरित्र का अभाव हो गया। स्वपेक्षा की उपेक्षा होने लगी। अपनी संस्कृति के प्रति निष्ठा के अभाव का बीजारोपण हो गया। मानसिक और बौद्धिक दास्ता की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। उत्पादन की प्राथमिक इकाई के रूप में हमें वह नन्हा-सा महत्वहीन व्यक्ति दिखाई पड़ता है जो कभी स्वतंत्र, कभी नौकर के रूप में; कभी अपने घर पर और कभी ग्राहक के घर पर, कभी अपने आप और कभी "गार्डर" पाकर उत्पादन करता है। कभी ठेके पर काम होता है, कभी मजदूरी पर। कभी कभी इनाम, बख्शीश, भेंट, की प्रशस्ति प्राप्ति होती है और कभी-कभी केवल बेगारी ही रह जाती है। रेलों और मोटरों ने भी भारत की पुरानी अर्थ-व्यवस्था को नष्ट करने में कम महत्वपूर्ण योग नहीं दिया है। इनके द्वारा विदेशी चीजें और फैशन देहाती और कस्बों तक पहुंचे। पुराने उद्योग टूटे। प्राचीन आर्थिक मान्यताएं, विधिष्ठताएं और प्रकृतियां समाप्त हो गईं। गांवों का संबंध बाहर से हो गया। आर्थिक स्वावलम्ब्य समाप्त हुआ। देहाती का पुष्टि-कोण, वातावरण एवं पुनियां बखल गईं। अपना सांस्कृतिक स्वरूप खो गया। जिस हिसाब से जन संख्या बढ़ी उस हिसाब से उत्पादन बढ़ने नहीं दिया गया।

ये परिवर्तन यदि हमारे समाज की प्रगति के साथ साथ हुए होते तो संभवतः इतना अनर्थ और अनिष्ट न होता। किन्तु घृणा और आतंक की पात्र साम्राज्यवादी मनोवृत्तियाँ ने ये परिवर्तन इतनी दूरतापूर्वक और छिद्रतापूर्वक तथा अस्वाभाविकता और परायेपन के साथ हम पर लादे और प्रत्येक परिस्थिति में हमारे शीर्ष का ही दृष्टिकोण इतना प्रधान रखा कि भारतीय समाज इस परिवर्तन के धक्के या झटके को संभाल न सका और आर्थिक जीवन विघटित हो गया।

आर्थिक परिवर्तन की बात भी सौची गई : साम्यवाद

सांस्कृतिक पुनर्जागरण की पृष्ठभूमि में हमारा ध्यान अपनी आर्थिक दुर्गति की इस चरम सीमा की ओर भी गया। हम इस स्थिति को बदलने अर्थात् आर्थिक दृष्टि से भी अच्छे होने की बात सोचने लगे। राजनीतिक दृष्टि से हम पराधीन थे ही। नीति और नियम^{बदल} बनाने का कोई भी अधिकार हमें अब भी नहीं था। व्यवस्था के आमूल परिवर्तन की ओर अब भी कोई महत्वपूर्ण कदम नहीं उठाया जा सकता था। प्रश्न हुआ कि क्या किया जाय, जिससे हमारी हालत अच्छी हो जाय। इसमें कोई सन्देह नहीं कि राष्ट्रीय आंदोलनों के सामने इस^{से} आर्थिक सुधारों के आन्दोलनों की बात कुछ कीकी पड़ गई। १९०० ई. के भी पहले से हम आर्थिक दुर्गति की सु^धभन का अनुभव कर रहे थे। प्रथम महायुद्ध तक यह मनन और चिन्तन एवं विचार-विनिमय का ही विषय बना रहा। बंगमंग के विरोध में होने वाले आंदोलन का विदेशी बहिष्कार पक्ष का एक आर्थिक पक्ष था अवश्य किन्तु वह उतना प्रधान न बन सका। प्रथम महायुद्ध के बाद ही इस में मार्क्स - एंगिल्स - लेनिन-स्टालिन के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप उस पैर में आश्चर्यजनक कर देने वाली विचार-क्रांति और राज्य-क्रांति हुई। यह क्रांति असाधारण रूप से मौलिक थी। नई थी। सारा संसार चौंक उठा। सारे संसार की विचारधारा पर इसका प्रभाव पड़ा। संसार में एक नया पल ही बन गया। संसार के सभी साम्यवादियों को एक सूत्र में बांधने

के लिये एक अन्ताराष्ट्रीय संगठन भी बना। इस विचार क्रांति का प्रभाव भारत पर भी पड़ा। हमारे भी सोचने के ढंग पर इसका प्रभाव पड़ा। अर्थशास्त्र के क्षेत्र में मार्क्सवाद की विशेषता है पूंजीवादी आर्थिक संगठन का बौद्धिक एवं वैज्ञानिक विश्लेषण। इस विश्लेषण के अनुसार पूंजीपतियों का ही प्रभुत्व उत्पादन के साधनों- पूंजी और भूमि - पर होता है। उत्पादन के साधनों पर कार्यकर्ताओं का कोई भी अधिकार नहीं होता। वे इनके अपने नहीं होते। परिणामतः कार्यकर्ताओं को अपना श्रम पूंजीपतियों के हाथ बेचना पड़ता है जिसके बदले में उन्हें मजदूरी मिलती है। इस प्रकार समाज के अन्दर दो महत्वपूर्ण वर्ग बन जाते हैं - पूंजीवाद और कार्यकर्ता, बुर्जुआ और प्रोलेता रियत, हजूर और मजूर, संपन्न और विपन्न, या जो भी कहिये। पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था की दूसरी विशेषता है बड़े पैमाने पर उत्पादन करने वाली बड़ी बड़ी मिलें जिनमें अधिकाधिक मजदूर उत्पादनार्थ नियोजित किये जा सकें। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में चीजें इसलिये नहीं बनाई जाती कि वे बड़ी उपयोगी होती हैं बल्कि वे इसलिये बनाई जाती हैं कि वे बाजार में बेची जायें। सरपया इसलिये लगाया जाता है कि उससे बनी हुई चीजें और अधिक रुपया दे सकें। यहां लक्ष्य रुपया होता है वस्तु की उपयोगिता एवं अधिकाधिक प्राप्ति की सु-सुविधा नहीं। रुपया इसलिये होता है कि उससे दूसरे के श्रम का अपहरण अपना रुपया बढ़ाने के लिये दिया जा सके। इसी को कहते हैं कि रुपया रुपये को सँचता है। अस्तु, हम उस वस्तु को अधिक बनवाना चाहेंगे जो अधिक रुपये ला सके। मान लीजिए एक "क" और "स" दो वस्तुएं हैं। दोनों की कीमत एक एक रुपये है। "क" के बनाने में एक मजदूर को दो घंटे लगते हैं किन्तु "स" के बनाने में केवल एक ही घंटे। इस स्थिति में "क" और "स" का सापेक्षिक मूल्य २:१ हुआ। अब यदि बाजार में दोनों का दाम एक एक रुपया हो हुआ तो "क" को बनवाने में फायदा नहीं होगा। फायदा होगा "स" के ही बनवाने में। पूंजीपति "स" का उत्पादन इतना अधिक करवायेगा कि बाजार उससे भर जाय। "क" का उत्पादन

कम हो जाय। 'स' के उत्पादन इतना मैं मजदूर अधिक लगाये जायेंगे। अब यदि 'स' का उत्पादन करने वाला पूंजीपति 'अ' है तो सभी पूंजीपति 'अ' बनने का प्रयत्न करेंगे। सभी 'स' का उत्पादन करेंगे और अपने 'स' को अधिक से अधिक लोगों में और अधिक से अधिक कीमत पर बेचना चाहेंगे। यह उद्योग प्रतिस्पर्धा का पिता बन जाता है। 'स' के उत्पादक किसी ऐसी वस्तु का मान लीजिए 'ग' प्रकार और अधिक उत्पादन न होने देना चाहेंगे जिससे 'स' का अवमूल्यन हो जाय। तो 'स' और 'ग' के उत्पादकों में प्रतिस्पर्धा होगी। 'स' के उत्पादन को अधिक महंगा भी वे नहीं होने देना चाहेंगे। इसलिये ये श्रम की सरीवदारी को सस्ता बनाना चाहेंगे जबकि श्रमिक अपने श्रम की अधिकाधिक कीमत चाहेंगे तो, मिल मालिक और श्रमिक में प्रतिस्पर्धा हुई। पूंजीपति श्रम को क्रय-विक्रय की वस्तु समझता समझता है। इसके लिये उसके पास कोई भी मानवीय या रागात्मक अनुभूति नहीं होती है। वह पैसा देता है और श्रम सरीवता है। मजदूरी इसलिये होती है कि श्रमिक जीवित रहे और अपनी श्रमशक्ति को बनाए रहे। मान लीजिए कि जीवित रहने के लिये उसे पांच रुपये का सामान प्रति दिन सरीवना है। उसको ५ रुपये प्रतिदिन मिलने हैं। उसको इतने घंटे काम करना चाहिये जितने में वह ५ रुपये खर्च करने पर का सामान पूंजीपति के लिये बना सके। यदि इतना उत्पादन वह ५ घंटे में कर सकता है तो ५ ही घंटे का श्रम उससे लेना चाहिये। किन्तु पूंजीपति उससे ८ घंटे काम करवाता है। अब यह ३ घंटे का श्रम ही अतिरिक्त श्रम हुआ। इस तीन घंटे में वह जितनी चीज बनाकर देगा उससे मिलने वाला धन अतिरिक्त धन हुआ। कार्य करने के घंटे बढ़ा कर मजदूरी कम करके अतिरिक्त धन या अतिरिक्त मूल्य बढ़ाया जा सकता है। यही शोषण है। प्रत्येक पूंजीपति इस शोषण का अपराधी है। यह अपराध पूंजीवादी व्यवस्था में अनिवार्य रूप से निहित है। इस पूंजीवादी व्यवस्था का अंतिम परिणाम यह होता है कि पूंजी एकत्र हो जाती है, बेकारी बढ़ती है क्योंकि आगे चलकर पूंजीवादी मानव श्रम की अपेक्षा मशीनों में अधिक ^{लाभ} देसने लगता है,

और समाज में विषमता तीव्रतम हो उठती है। उत्पादन की अधिकता एकस्थिति के बाद उपभोग की कमी का कारण बन जाती है। लाभ की दर कम हो जाती है। इन असंगतियों और विरोधियों से पूंजीवादी व्यवस्था स्वतः आक्रान्त है। इस तरह बौद्धिक विश्लेषण के पश्चात् मार्क्स ने इसका निराकरण सौजा। उनके निष्कर्षों के अनुसार उत्पादन के साधनों को किसी एक की व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं होने देना चाहिये। उन्हें सामूहिक एवं सामाजिक रूप से ही कार्यकर्ताओं को देना चाहिये। भूमि और धन पर से व्यक्तिगत अधिकार यहां भी समाप्त रहेंगे। उपभोग व्यक्तिगत रूप से हो किन्तु उत्पादन और वितरण पर अधिकार पूरे समूह या समाज का होना चाहिये। वर्ग संघर्ष की भावना के अनुसार यह समाजवाद केवल अधिक ही अपने लिये ला सकते हैं। चूंकि सरकार पर पूंजीपतियों का ही अधिकार होता है अतएव मार्क्सवाद वैधानिक उपायों पर विश्वास न करके कि राजनीतिक क्रान्ति पर विश्वास करता है। यह बलपूर्वक हिंसात्मक साधनों द्वारा भी राजनीतिक अधिकार छीन लेने का समर्थन करता है।

यह व्यवस्था अच्छी है किन्तु भारत की सांस्कृतिक और सामाजिक परिवेश के अनुरूप नहीं है। भारतीय संस्कृति व्यक्ति के व्यक्तिगत महत्त्व को स्वीकार करती है। उत्पादन के साधनों पर से और इसीलिये उत्पादन पर से भी व्यक्ति के व्यक्तिगत अधिकारों को अस्वीकार करके मार्क्सवाद उत्पादन के मामले में व्यक्ति की अपनी रुचि एवं तत्जन्य कार्यान्वयन की संभावना समाप्त कर देता है। वर्ग संघर्ष की बात भी भारतीय संस्कृति के प्रतिकूल है। भुक्तियां विश्व-भेद का संकेत देती है, मार्क्स वर्गसंघर्ष की बात करता है और जहां न हो, वहां उभारने की बात करता है। भारतीय संस्कृति समस्याओं का समाधान संघर्ष और हिंसा में नहीं सोचती। वहां दान का विधान है। साम्यवाद की प्रायोगिक सफलता हमारे सामने बीसवीं शताब्दी के द्वितीय दशक में आई थी। उसके बाद उसने पहले हमारे विचारों को प्रभावित करना शुरू किया। विदेशी

(रूस विरोधी-पूँजीवादी-साम्राज्यवादी) सरकार ने और भी इस दिशा में कुछ करने न दिया। साम्यवादियों का अराष्ट्रीय दृष्टिकोण एवं महात्मा गांधी के व्यक्तित्व एवं उनकी विचारधारा के कारण भी हमारी आर्थिक क्रियाशीलताओं पर साम्यवाद या समाजवाद का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ेगा पाया। अधिक से अधिक इतना हुआ कि साम्यवादियों ने मिलों के मजदूरों को संगठित करके कुछ हड़तालें करवा दीं। जिस प्रकार साम्यवाद ने हमारी आर्थिक क्रियाशीलताओं की अपेक्षा हमारे दृष्टिकोण एवं हमारी विचारधारा को अधिक प्रभावित किया। उसी प्रकार साहित्य में भी इस्ते एक नया दृष्टिकोण ही दिया। चूंकि भारतीय आर्थिक जीवन में उसका कोई भी प्रामाणिक रूप सामने नहीं आया इसलिये हमारे साहित्य में भी साम्यवादी आर्थिक जीवन के कोई भी चित्र नहीं मिलते। कार्यक्रम और योजना की जगह साम्यवाद का विश्लेषण पक्ष अधिक स्वतंत्र और प्रभावशाली है इसलिये हमारे साहित्य में मजदूर, किसान, नारी, मिलमालिक, सामंतवादी पूँजीवति, पुरुष अर्थात् शोषितों और शोषकों के स्वतंत्र और सशक्त चित्र अवश्य मिलते हैं। कथाल केकई उपन्यासों और कई कहानियों में ऐसे चित्र घरे पड़े हैं। किंतु क्रान्तिकारी आर्थिक योजनाओं और कार्यक्रमों के साहित्यिक चित्र हमें नहीं मिलते।

गांधी-नीति

मार्क्सवाद की अपेक्षा गांधीवाद हमारी सभ्यता और संस्कृति के अधिक निकट एवं अनुरूप था और इस योग्य था कि तत्कालीन वातावरण में उस के अनुसार कार्य किया जा सके। यही हुआ भी। मुझे ऐसा लगता है कि गांधी में अध्ययन इतना विचार एवं बुद्धिबल उतना प्रसर एवं पुसर नहीं था जितना मार्क्स में और मार्क्स में आध्यात्मिक शक्ति, मानसिक शक्ति अथवा हृदय बल इतना सक्रिय नहीं था जितना गांधी में। एस. एन. अग्रवाल ने लिखा है,

‘यद्यपि विश्व के महान्तम पुरुषों में गांधी जी ने सबसे कम अध्ययन किया था किन्तु अपने देश की नाडी टटोलकर उसकी व्याधि का समुचित ज्ञान करके उसके लिये सवमुक्त अच्छा प्रभाव डालने वाली औषधि तैयार कर लेने की क्षमता उनमें असाधारण और विलक्षण थी।’¹ गांधी का जीवन दर्शन समग्र जीवन - दर्शन था। उन्होंने कुछ पढ़ा, उन्हें कुछ जंचा, और उसके अनुसार उन्होंने प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया। बौद्धिक विश्लेषण की जगह गांधी के जीवन में प्रयोगशीलता की प्रधानता थी - ऐसी प्रयोगशीलता की, जिसमें व्यक्ति प्रधान हो और ऐसा प्रथम व्यक्ति प्रायः गांधी स्वयं ही हुआ करता था। अपनी धारणा को कार्यान्वित करके व्यावहारिक रूप में उपस्थित करने की विधि ने लोगों को बहुत प्रभावित किया। अस्तु, गांधी के आर्थिक कार्यक्रमों को देखने अपने सामर्थ्य और उक्ति के अनुसार अपनाया - यहां तक कि अपनाया कि लंकाशायर और मानचेस्टर हिल उठा।

गांधी के उदय के पूर्व भारत का आर्थिक जीवन और कार्यक्रम पार्श्वात्म्य दृष्टिकोण से अनुप्रेरित एवं अनुप्राणित हो रहा था। इसके अनुसार मीन-विकास की अधिकता होनी चाहिये, जीवन स्तर को उच्चतर करने का तात्पर्य था देखने में विशाल, बारीक, सुंदर और चेतना को आतंकित करने वाली होने में चिकनी, मन को आकृष्ट करने वाली, याम में कीमती, और जालों के लिये कमकदर वस्तुओं का अधिकाधिक उपभोग होना चाहिये।^{अस्तु} अपनी सन् आवश्यकताओं को अधिकाधिक बढ़ाते रहना और उनकी पूर्ति के लिये उचित अनुचित सभी उपायों से धन प्राप्त करते रहना चाहिए।^{यहां} आर्थिक दृष्टिकोण की आध्यात्मिकता, नैतिकता एवं मानवता की मान्यताओं एवं धारणाओं से दूर

करते जाना अनिवार्य है, व्यक्तिगत दृष्टिकोण या लाभ की भावना की प्रधानता ही जानी अनिवार्य है, बड़ी-बड़ी मशीनों का प्रयोग होना चाहिए जिसके परिणामस्वरूप इस शोषण की प्रवृत्ति अनिवार्यतः क्रियाशील हो उठती है। जीवन में भौतिक दृष्टिकोण, निजी स्वार्थ और हित की भावना, कैशन, आर्डर, हिंसा संघर्ष आदि पाश्चात्य अर्थ व्यवस्था के अनिवार्य परिणाम हैं। गांधी की व्यक्तित्व और उसकी चिन्तन धारा एवं उसके विश्वास तथा उसकी मान्यताएं पूर्णरूपेण भारतीय संस्कृति में डूबी हुई थी। इसके परिणामस्वरूप उसकी अर्थनीति पाश्चात्य अर्थनीति से मूलतः भिन्न हो जाती है। पाश्चात्य अर्थव्यवस्था से भारत में दो वर्गों को बहुत लाभ हो रहा था - (1) व्यापारी और (2) जमींदार। राष्ट्रादियों का यह विचार था कि भारतीय परतंत्रता का प्रधान कारण है अंगरेजों द्वारा हमारी सैनिक शक्ति ह्रास और आर्थिक शोषण। इसका परिणाम यह हुआ कि गांधी जी का स्वराज्य आर्थिक स्वराज्य भी हो गया। वे देश के सभी नर-नारियों के भोजन, वस्त्र और आवास की प्राप्ति के साधन जुटाना चाहते थे। सबके लिये काम चाहते थे। सबको समान रूप से सुविधा, सुख और विकास के अवसर प्राप्त कराना चाहते थे। अंगरेजों की आर्थिक दासता से मुक्ति चाहते थे। व्याधि के मूल कारण को ही - पाश्चात्य आर्थिक मान्यताओं और धारणाओं को ही - उन्मूलित कर देना चाहते थे। लक्ष्य की प्राप्ति प्रति-योगिता में जीत कर नहीं पर दृष्टिकोण के परित्याग और अपने दृष्टिकोण के ग्रहण द्वारा करना चाहते थे। "स्वधर्मो रक्षितः भवति परधर्मो भयावहः" - यह गीता वाक्य है। इस प्रकार हमारा आर्थिक कार्यक्रम एक और हमारे सांस्कृतिक दृष्टिकोण के अनुसार होकर धर्म और नैतिकता से संबद्ध हो गया और दूसरी ओर भारत की स्वतंत्रता और राष्ट्रीयता के भी अनुकूल हो गया। गांधी जी ने लिखा है कि मैं यह स्वीकार करता हूँ कि मैं अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र

के बीच कोई भौतिक भेद या स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं खींचता हूँ। महादेव प्रसाद के ऊर्ध्व में इसका परिणाम यह हुआ कि '..... गांधी जी एक ऐसी अर्थव्यवस्था चाहते हैं जिसमें सबको काम करने का बराबर अवसर देकर जनता में उत्पादन का समान वितरण किया जाय, जिसमें व्यक्तिगत और परिवारों को उनकी आजीविकाओं पर पूरा, पर्याप्त एवं समान नियंत्रण प्राप्त हो और जो व्यक्ति के समुचित विकास के लिए उचित वातावरण निर्मित कर सके।'¹ बात यह है कि उपभोग और उत्पादन को एक जगह कर देने से ओके कठिनाइयों का अंत हो जाता है। युगों से चली आती हुई भारत की आर्थिक विधि-व्यवस्था के स्वरूप का सांस्कृतिक आधार भी यही है। कर्ता फल के उपभोग का प्रथम और अनिवार्य अधिकारी होता है। भारतीय संस्कृति किसी भी मानव को नहीं हीन या उपेक्षणीय नहीं मानती। वहाँ सर्वभूतेषु आत्मवत् दृष्टि डालने का आदेश है। मगधगीता के १३वे अध्याय के २७वें श्लोक में लिखा है कि जो नष्ट होते हुए सब चराचर में नाश रहित परमेश्वर को सम भाव से देखता है, वही देखता है। उपनिषद् का भी कथन है कि इस संसार में जो कुछ है उस सब में ईश्वर का वास है। शंकराचार्य तो ईश्वर या ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ मानते ही नहीं। इसी भारतीय संस्कृति की धारणा के अनुसार गरीब, अमीर, विद्वान, मूर्ख, पढ़े-लिखे, अनपढ़ आदि सभी मनुष्यों के विकास के लिये गांधी जी सोचते थे। उनके हृदय में सबके लिये धर्म था। इसीलिये वे गरीब को भी नहीं मरने देना चाहते थे और अमीर को भी नहीं नष्ट होते देख सकते थे। इसीलिये गांधी जी के आर्थिक कार्यक्रमों में वर्गसंघर्ष के लिये कोई स्थान नहीं है। वहाँ सर्वोदय है - सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः, सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखमाप्नुयेत्। गांधी जी के अर्थशास्त्र में मानव-मन की असाधारण प्रतिष्ठा है।

उसे वे सबके लिये अनिवार्य समझते थे। मजीनों का सर्वग्राही प्राधान्य स्वीकार
 करके वे मनुष्य की अम-व्यक्ति को ठयर्थ एवं निरापुत्र सम्बन्धों नहीं करना
 चाहते थे। उत्पादन का यन्त्रीकरण उन्हें अमान्य था। जैसे भारतीय संस्कृति
 के कृषि-मुनि जीवन और जगत की प्रधान समस्याओं पर अद्वितीय रूप से विचार
 करते हुए भी आवश्यक अम करते रहते थे। वैसे ही गांधी जी, रवीन्द्र, और
 रामन के लिये भी उरीर-अम अनिवार्य समझते थे। गांधी जी चर्से को एवं सूत
 की कताई को इसीलिये प्रधानता देते थे। जैसे राम के साथ धनुष-बाण का, हृद्र
 के साथ वज्र का, अर्जुन के साथ गांडीव का, सरस्वती के साथ वीणा का, कृष्ण
 के साथ मुरली का एवं विष्णु के साथ सुदर्शन चक्र का अभिन्न सम्बन्ध है एवं एक
 का नाम दूसरे का स्मरण बन जाता है वैसी ही स्थिति गांधी और चरवा^{प्रह} की
 है। उन्होंने लिखा है, "चरत्ता तो सूरज है और दूसरे जो उदयोग हैं वे ^{प्रह} मुद्द हैं,
 जो सूरज के इर्ध-गिर्ध घूमते हैं।" उत्पादन को निर्जीव, निरात्म एवं अकलात्मक न
 होने के देने के लिये ही गांधी जी ने उसका प्रत्यक्ष संबंध मनुष्य के हाथों से बनाए
 रखा। यही कारण है कि गांधी जी ने ग्रामोदयोग एवं कुटीर उदयोग का असा-
 धारण रूप से समर्थन किया है। संघर्ष को शान्त करने के बजाय उसे और अधिक
 उत्तर करने वाले रसी वर्ग संघर्ष की भावना भी गांधी की अप्राप्त थी। सब मैं
 परमात्मा का निवास है और परमात्मा मूलतः बुरा नहीं हो सकता। इसलिये
 कोई भी मनुष्यनवहे वह धनी हो चाहे गरीब बूझ रूप से बुरा नहीं हो सकता।
 यदि माया-बस वे बुरे हो गये और मौलिक रूप से बुरे नहीं हैं तो उनका हृदय
 परिवर्तन हो सकता है। इसलिये गांधी जी की अर्थनीति मैं धनी लोगों को
 अपनी सम्पत्ति धरोहर रूप में समझनी चाहिए और अपने को उसका ट्रस्टी समझना
 है। "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्त्विदमम्" वाला भारतीय आदर्श गांधी
 जी के सामने रखा है। अपना लाल बजास आदि अनेक धनिकों ने क्याव्यक्ति इस
 नीति को माना। इस प्रकार गांधी जी के अर्थशास्त्र मैं रुपये का स्थान गीन

रखा गया है वहाँ मानव श्रम, पशु-प्रयोग, एवं प्रेम तथा सहयोग की नीति को आधार बनाया गया है। भारतीय^{के} के देहाती में सहयोग एवं सहानुभूति की इस भावना की अभिव्यक्ति आर्थिक कार्य-व्यापार में बराबर होती रहती है। भारतीय दर्शन का आदर्श है "न विज्ञेन तर्पणीयो मनुज्यः"। ईशोपनिषत् समझता है, "कस्यस्विधनम्"। सारी भारतीय संस्कृति "सादे जीवन" के आदर्श से अनुप्राणित है। हमारी सांस्कृतिक अर्थ-नीति है :-

साई इतना धीजिय जाये कुटुम समाय

मैं भी भुला ना रहूँ, साधु न भुला जाय ।

इसी धन की चटक-मटक से दूर, सादे गांधी जी थे, गांधीवादी थे और उसी के अनुरूप आधुनिक हिन्दी-साहित्य भी है। न कागज आकर्षक, न छपाई आकर्षक, न जिल्द आकर्षक, न दाम आकर्षक, और न उसमें अभिव्यक्त भाव या विचार उत्तेजक। अपवाद सभी जगह होते हैं किन्तु प्रधान रूप^{में} यह अपने भारतीय सांस्कृतिक स्वरूप को प्राप्त करने की दिशा ही है।

भारतीय संस्कृति का विश्वास है कि वासनाओं की पूर्ति से प्रयान्त नहीं किया जा सकता। आवश्यकता का जन्म वासना और इच्छा के प्रबुद्ध होने से होता है। दूसरे को जितना ही बढ़ने दिया पहला उतना ही बढ़ता जायगा। जस जस सुरता बदन बढ़ावा, तासु दुगुन कपि रुप देतावा। इसलिये न वासनाओं अर्थात् आवश्यकताओं की कोई सीमा है और इसीलिये न उनकी पूर्ति की संभावना ऐसी स्थिति में उचित यही है कि उनको संयमित अनुशासित एवं दमित रखा जाय। उनको बढ़ते देखकर हाय हाय करते रहना कोई बुद्धिमानी नहीं है। गांधी जी का भी यही कहना है कि हमें केवल उन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति करने का प्रयत्न करना चाहिये जो हमारे जीवित रहने के लिये अनिवार्य हैं। इसी बात को बड़े ही विद्वत्तापूर्वक ढंग से जे. के. मेहता ने इस प्रकार कहा है, "अतः उपयोगिता की चरम सीमा तक बढ़ा देना वही चीज है जो पीडा को कम से कम कर देना है।"

.... इसलिये पीडा से मुक्ति पाने का तात्पर्य केवल इतना ही नहीं है कि
 विशेष समय या अवस्था में प्रतीत होने वाली आवश्यकताओं को मिटाया हटा
 दिया जाय या शान्त कर दिया जाय बल्कि यह भी है कि यह वेस्तै हुए रहा
 जाय कि भविष्य में उस प्रकार की नई आवश्यकताओं का फिर उदयन हो। आव-
 र्कताओं जितनी भी कम हों दुःख उतना ही कम होगा अस्तु अच्छी सूझ
 बुझ वाले मानव के लिये अर्थशास्त्र एक ऐसा विज्ञान है जो अन्ततोगत्वा मनुष्य के
 दुःख को कम करने लिये किये जाने वाले मानवीय व्यवहारों का अध्ययन करता
 है। गांधी जी की अर्थव्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति का अपने पड़ोसी के प्रतिभी
 कर्तव्य होता है। इसी कर्तव्य भावना से एक और धान की बात पैदा होती है
 और दूसरी और स्वदेशी की। हमारे पड़ोसी ने जो वस्तु उत्पादित की है उस
 का उपयोग करना हमारा प्रधान धर्म है। इसलिये अपने गांव, जिले, प्रदेश, प्रान्त
 एवं देश के कुम्हार, ठठेरे, सोनार, दर्जी, बढई, बैल, जुलाहे आदि के उत्पादन
 का उपयोग ही स्वदेशी है जिस पर गांधी जी इतना जोर देते थे। यह दृष्टि-
 कोण भी भारत का अपना सांस्कृतिक दृष्टिकोण है। गांधी जी की अर्थनीति के
 अनुसार हमारा प्राथमिक क्षेत्र है गांव, लक्ष्य है गरीब मानव, और साधन हैं
 हाथ और हमारे सहयोगी धरतू पशु। गांधी जी का अर्थ शास्त्र विभिन्नताओं
 की एकता की अनुभूति करके ही चलता है और यह भारत की सांस्कृतिक विशेषता
 है। गांधी जी की अर्थनीति में शोष के लिये कोई भी स्थान नहीं। गांधी जी
 वैसास को आर्थिक दृष्टि से भी स्वावलम्बी बनाना चाहते हैं। गांधी जी ऐसी
 आर्थिक हलचलों में विश्वास करते हैं जो उत्पादक एवं रचनात्मक हों। इसीलिये
 वकालत, व्याज एवं वैश्यावृत्ति, सट्टा आदि उन्हें अमान्य थे। प्रमाण देने की
 आवश्यकता नहीं है। गांधी जी के आर्थिक प्रोग्राम ने देश के आर्थिक जीवन
 और हलचलों पर अपना स्थायी प्रभाव डाला है। इसका नवीनतम प्रमाण है भुयान
 बान्दोलन जिसने सेठ गोविंद दास से नाटक लिखा लिया और बिनकर तथा भवि-
 षी-सुराज गुप्त आदि से कविताएं। भारत के वातावरण में सचपरा की सात्त्विकता
 1. 'स्टडीज इन एडवान्स थियरी आफ एकनामिक्स',

कैलाश, गांव-गांव और शहर-शहर में चर्चे चलने लगे, गोसेवा केन्द्र खुल गये, ग्रामो-
दयोगी और कुटीर उद्योगों को असाधारण रूप से प्रोत्साहन मिला है, शरीर-
श्रम को आदर की दृष्टि से देखा जाने लगा है, आदि। मैथिलीकरण गुप्त ने
वस्त्रहीनों को लक्ष्य करके लिखा :-

तुम अर्ध नग्न क्यों रहो अक्षय समय में
आओ, हम कार्ते बुने गान की लय में^१

शान्तिप्रिय भिवेदी ने ठीक ही लिखा है, "जीवन की स्थूल आवश्यकताओं की
समिधि बनाकर उसने (गांधी जीने) एक आध्यात्मिक महायज्ञ की रचना की।
कटुतर अपरिवर्तनवादियों को छोड़कर जो लोग साहित्य, समाज और राजनीति
में विविध रूपों कुछ भी गतिशील थे वे सभी इस आध्यात्मिक महायज्ञ (गांधी-
वाद) में मिलकर एकाकार होगये।"^२

आर्थिक जीवन और साहित्य

समाज की आर्थिक व्यवस्था का प्रभाव हमारे जीवन पर पड़ता
है हमारे साहित्य पर भी पड़ता है। हमारे आधुनिक हिन्दी साहित्य पर
भी हमारी आधुनिक आर्थिक स्थिति का प्रभाव पड़ा है। हमारे देश के आर्थिक
ढांचे का सामन्तवादी स्थिति से औद्योगिक अवस्था तक का विकास स्वाभाविक
रूप से नहीं हुआ। इस अस्वाभाविक परिवर्तन (न कि विकास) के कारण
देश में जिस मध्यवर्ग का उदय हुआ वह अस्वाभाविकताओं से भर गया। वह
आस्थाओं और विश्वासों से भारतीय और रहन-सहन आदि से अ-भारतीय
हो गया। वह न पूर्वी रह गया, न पश्चिमी हो सका। उसका मन एवं उसकी
चेतना विकृत हो गई। इस विकृत चेतन वर्ग द्वारा रचित हमारा साहित्य,
मध्यवर्ग की ही स्थिति के अनुसार न बहुत ऊंचा ही हो सका और न बहुत हीन

कोटि का ही। अंगरेजों से अपनी आर्थिक स्थिति की तुलना करने पर इस वर्ग को जिस हीनता का अनुभव होता था उसी हीन ग्रंथि ने इनकी कल्पना की उड़ान को सीमित कर दिया। इसका अनुभव हमें तब होता है जब हम अपने साहित्य की तुलना एच. जी. वेल्स, कार्लोइल, बर्नाडशा, लेगुई और कजाभियां, रूसी, वाल्टेयर, पल्लक आदि के साहित्य से करते हैं। भारत के जड़ कलकों एवं नौकरों का साहित्य आसिर पहुंचेगा भी तो कितनी ऊंचाई तक। यह एक विचित्र तथ्य है कि हिन्दी साहित्य को जिन पर नाज है वे पन्त, वे प्रसाद, वे निराला, वह महादेवी, वह भगवती चरण वर्मा, वह प्रेमचन्द, आदि आर्थिक दृष्टि से अंगरेजी साम्राज्यवाद के दास (नौकर) नहीं थे। इसलिये आर्थिक दृष्टि कोण वाली हीन ग्रंथि से बचे थे। परन्तु दुःस की अनुभूति से वे भी न बचे। इनमें से कुछ गरीबी मुक्त चुके थे और कुछ गरीबी से पूरी तरह परिचित थे मगर इनमें से कोई भी गरीबी से पराजित नहीं हुआ। टूट गया, अथ रोग में ग्रस्त होकर मर गया, पा गल हो गया मगर उससे हार न मानी। इसलिये ये लेखक गरीब समाज और गरीबों की मनोवृत्ति का सकलतापूर्वक चित्रण कर सके। उच्चतम कोटि की अमीरी से इनका परिचय नहीं था इसलिये अमीरी और अमीरों के मनोविज्ञान के चित्रण में अनुभूति की प्रधानता उतनी नहीं हो सकी जितनी उसके सैद्धांतिक पक्ष की। इनमें से अधिकांश लेखक शोषित हुए हैं। इसलिये निम्न मध्यवर्ग या निम्नवर्ग की प्रतिमाओं के शोषित किये जाने के मार्मिक चित्र हमारे साहित्य में मिलते हैं। मध्यवर्ग के मनोविज्ञान और जीवन के भी मार्मिक चित्र मिलते हैं। "निरती दीवारें" आदि सैकड़ों उपन्यास इसके उदाहरण के रूप में उपस्थित किये जा सकते हैं। असाधारण गरीबी के कारण इनका साहित्य समाज में उतना नहीं बिकने पाया जितना होना चाहिए। परिणामस्वरूप लेखक प्रशंसा और यश से भी भरा और आर्थिक "पुरस्कार" से भी। लेखक गरीब का गरीब रह गया। उसका आदर कम हो गया। मामूली डिप्टी क्लर्क भी अपने को हिन्दी के कवि

और लेखक से अधिक योज्य समझता था और आवर पाता था। न मालूम कितने लोगों ने लिखा छोड़ दिया। न मालूम कितनी कृतियाँ समय पर छप न पाईं और उनमें से बहुत काल के खोल में समा गईं। मध्यम की ढाँग मरी आर्थिक संपन्नता ने साहित्य के क्षेत्र में भी ढाँग फैला दिया। ऐसे चित्र छप जो समाज में कहीं भी नहीं पाये जाते। जीवन का झूठ और ढाँग और अनुकरण साहित्य में भी आ गया। अधिकांश साहित्य वास्तविकता प्रधान एवं तथ्यप्रधान और सच्ची मनोवैज्ञानिकता से दूर होने लगा। कुछ ने अपने साहित्य को सिद्धान्तों के आधार पर ही ढाल दिया। सिद्धान्तों को उभारने के लिये ही साहित्य रचा। यशपाल का अधिकांश साहित्य इसी दृष्टिकोण से लिखा गया है। सामन्तवादी अर्थ-व्यवस्था के टूटने के कारण साहित्य राजदरबारों से बाहर निकल आया। ऐसे भी साहित्यिक छप जिन्होंने अर्थ संकट तो सहा किन्तु किसी राजदरबार में जाने को तैयार न हुए। बच्चन ने "नये पुराने सरोसे" में अपने जीवन की उस घटना का उल्लेख किया है जब उन्होंने गिरिधर चर्मा के कहने पर भी ~~महाराज~~ ~~का~~ दरबारी कवि बनना नहीं पसन्द किया। इसका अच्छा ही परिणाम हुआ। इसका एक दूसरा परिणाम यह हुआ कि साहित्य वहाँ से निकल कर पूँजीपतियों और नेताओं के घुंघुल में फँस गया। समाचार पत्र, पत्रिकाएँ और प्रकाशन संस्थाएँ - सब पूँजीपतियों के लिसे हुए साहित्य का प्रकाश में आ सकना असम्भव था। इसी आर्थिक मजबूरी के कारण इस युग में क्रान्तिकारी, साम्राज्यविरोधी और पूँजीवाद विरोधी साहित्यकी अधिक रचना न हो सकी। भारतीय समाज के दोष निकालने और उनके लिये सीमित क्षेत्र तक के सुझाव चित्रित होने देने में दोनों में से किसी को भी आपत्ति नहीं हो सकती थी। इसलिये हमारा क्या साहित्य समाजसुधार प्रधान एवं व्यंग्य प्रधान हो गया। प्रथम महायुद्ध के बाद आर्थिक संकट उपस्थित हुआ था। बेकारी बढ़ी थी। पूँजीवादी अधःप्रारम्भ हो गया था। कोई भी एक व्यक्ति पूरी

धी-धी-धी से सामान्य शाही के चंगल में इस प्रकार पूँजीपतियों के और सामान्य शाही के चंगल में 2

व्यवस्था से नहीं लड़ सकता। संकटग्रस्त की विवशता उसे पलायनवादी बना देती है - "ले चल मुझे गुलाब देकर मेरे नाविक धीरे धीरे"। निराशा, सस्ती, मायुकता, हल्का आदर्शवादी रोमांस सस्ती उत्तेजना, कल्पना की अतिशयता ऐसे विषय से व्यक्ति की विविष्टता बन जाते हैं। बीसवीं सदी के द्वितीय और

तृतीय दशक के हिन्दी साहित्य में इन्हीं प्रवृत्तियों की प्रधानता थी। पूंजीवादी समाज की संस्कृति और उसका साहित्य भी पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के अनुसार ही व्यक्तिवादी होता है। सामन्तवादी समाजव्यवस्था में साहित्यिक को जो स्वतंत्रता नहीं मिलती उसको पाने के लिये मायुक साहित्यिक पूंजीवादी युग में प्रयत्न खिल होता है। बड़े ऊँचे ऊँचे सपने देखते हुए आता है। उसके साहित्य में एक नये समाज की रचना की कल्पना - रंगीन कल्पना - होती है। पंत, प्रसाद, बंड़ीप्रसाद इदयेष्ट आदि में ऐसी कल्पनाओं की प्रचुरता पुराने बन्धन टूटते हैं। नये की चाह होती है। "घुत सरो जगत के बीर्ण पत्र" पंत गाता है। ठंड-बांध टूटते हैं। नये स्वर, नया ताल, नयी लय, नये गीत - यह छायावादी प्रमुख विशेषता है :-

नव गति, नव लय, ताल-ठन्द नव, नवलकण्ठ, नवजलप मन्द रव

नव नम के नव विहग वृन्द को नव पर नव स्वर दे - वरदे, वीणाविविनी
वर दे।

सब कुछ पुराना सलने लगता है। कवि इतना नया हो जाता है कि उसे समझना समझाना कठिन हो जाता है। साहित्यिक फिर अपने को झोला पाता है। समाज के लिये भी यह नवीनता सदैव आकर्षक नहीं रह पाती। इधर पूंजीवादी अर्थव्यवस्था कवि के मधुर सपनों को सकलौर देती है। वह देखता है कि रुपये के पीछे मनुष्य मनुष्यता लो बैठता है। अपनी को आत्मीयता नष्ट हो जाती है। कोई किसी का नहीं। सब पैसे के गुलाम हैं। मानव की रागात्मकता, ठंधी-ऊँची मान्यताओं की हत्या हो जाती है। संत ने इस तरह सपनों के टूटने

की बात कही है। अब कवि को दूसरा रास्ता अपनाना पड़ता है। पंत, निराला, महादेवी, मगवती चरण वर्मा, प्रेमचन्द आदि सब की दिशाएं बदल जाती हैं।

दृष्टिकोण व्यंग्यप्रधान, जागरण प्रधान, अथवा समाजवादी हो जाता है। साहित्य के क्षेत्र में अर्थव्यवस्था एक बार फिर परिवर्तन उपस्थित करती है। छायावाद के बाद प्रगतिवाद का युग आता है। आदर्शवाद का स्थान यथार्थवाद ले लेता है।

आर्थिक जगत में विषमता से पीड़ित एकाकी और अंतर्मुत्ती कलाकार कभी प्रकृति सुन्दरी का आंचल ओढ़ना चाहता है और कभी हाला-प्याला की बात करता है।

बच्चन ने "मधुखाला" जिन दिनों लिखी थी वे दिन उनकी आर्थिक पीड़न के थे।

शौक वर्ग के पास साहित्य को समझने के लिये न समय है और न उसे इसकी आवश्यकता ही है। कविता की प्रशंसा करने या प्रयत्न करके समझ लेने से उसकी मिल्

का उत्पादन कभी नहीं बढ़ सकता। उसकी साहित्य प्रशंसा, उसका साहित्य प्रेम झूठा होता है - ढोंग होता है। काव्य प्रेम या साहित्यानुराग पूंजीपति के

बच को सुशोभित करने वाला एक तमगा मात्र होता है। इससे अधिक बढ़ने पर उपेक्षा और तिरस्कार मिलता है। उसके सामने जो सरस्वती अथवा वृहस्पति

अथवा वीणापाणिनी की वीणा का अवतार लगता है अकेले में वह स्वयं अपनी कलब सोल देता है, क्योंकि जानता है कि यह निरीह, मुक्तक, असमर्थ कवि या

लेखक उसका कुछ बिगाड़ ही नहीं सकता। साहित्य की आत्मा तडप उठती है। साहित्यकार टूट जाता है। वह अज्ञानात्मक हो जाता है। उसके सामने

जिसकी रचना की झुंझकर प्रशंसा की जाती है उसकी बेटी की दवा वह इसलिये

न कर सके कि पास पैसा नहीं - यह बात कम गहरा नहीं होता। निराला पागल हो जाता है। हितैषी लोहा बेचने लगता है। रामेश्वर प्रसाद जीवास्तव

कहानी लिखना छोड़कर टामसन इन्टर कॉलेज का प्रिंसिपल मात्र रह जाता है।

यह एक तथ्य है कि अभी हिन्दी का समाज पैसा नहीं है कि उसका साहित्यकार साहित्यरचना के सहारे रह कर आराम से कुकुम्ब चला सके और इज्जत के साथ

जीवन बिता सके। 'पद्मलाल पुन्नालाल बत्ती' ने लिखा है, 'साहित्य को जिन

लोगों ने अपने जीवन - निर्वाह का साधन बनाया है उनकी सब प्रकार से कष्टमय जीवन ही व्यतीत करना पड़ता है^१ । निराला की आर्थिक स्थिति के बारे में महादेवी ने लिखा है, "जिसकी निधियाँ से साहित्य का कोष समृद्ध है उसने मधुकरी माँग कर जीवन-निर्वाह किया है, इस कटु सत्य पर आने वाले युग विश्वास कर सकेंगे, यह कहना कठिन है।"^२ सुमद्राकुमारी चौहान के बारे में उन्होंने ये पंक्तियाँ लिखी हैं, "सुमद्रा जी की आर्थिक परिस्थितियों में जेल जीवन का ए और सी बराब समान ही था। एक बार जब मूस से रौंती बालिका को बहलाने के लिये कुछ नहीं मिल सका तब उन्होंने अरहर दलने वाली महिला कैदियों से थोड़ी सी अरहर की दाल ली और उसे तवे पर मून कर बालिका को खिलाया..

.... घर से बाहर बैठकर वे कोमल और जीज भरे छन्द लिखने वाले हाथों से गोबर के बबकडर-ने-इत-युन- कंठे पाथती थीं।"^३ वे लिखती हैं कि "अर्थ संकट के इस बबकडर ने इस युग के अधिकांश साहित्यकारों को कमी साईं में गिराकर और कमी पर्वतों पर पटक कर घूर कर दिया है।"^४ देवी क्याल चतुर्वेदी 'मस्त' ने यही बात लिखी है, "और, प्रतिकूल परिस्थितियों की विषम तथा ऊबड़-साबड़ भूमि पर चलते चलते हिन्दी साहित्यकार को जब प्रकाशकों की अनुदारता और उदासीनता की कठोर चोटानों से बराबर टकराना पड़ता है तब उसका मन उ गहन विषाद की जिस काली छाया से आवृत हो जाता है, जो कुहासा उसके अन्तराल में छा जाता है, उससे उसका अपना असीम अहित तो होता ही है, हिन्दी का भी कम अकल्याण नहीं होता।"^५ कौन कह सकता है कि निराला जो दूसरी 'झुठी की कली' 'राम की शक्तिपूजा', 'तुलसीदास', आदि न लिख सके और 'अभिमा', 'बेला', 'नये पत्ते' आदि में उनकी काव्यकला ने जो विभूषण धारण किया है उसके पीछे भारत में प्रचलित पुंजीवादी अर्थतंत्र एवं मनोविज्ञान

१. 'मेरी अपनी कथा', पृ. ३७।

२. 'पय के साथी', पृ. ५६।

३. 'पय के साथी', पृ. ४१-४२।

४. वही, पृ. ३०।

५. 'आजकल' जनवरी १९६०, ई., पृ. ३३।

का बहुत अधिक हाथ नहीं था। मनसुखलाल जवेरी ने लिखा है, "अब साहित्य एक व्यवसाय बन गया है। अब वह केवल स्वान्तः कुल की वस्तु नहीं रहा... जो पैसा देगे, वे अपना नाच नचायेंगे।... साहित्य की समस्या इस प्रकार अर्थसाहित्य के प्रश्न से अप्रतिबिम्बित नहीं रहती। अब यदि कवि अपने आश्रय-दाता की मर्जी के बिना तनिक भी इधर उधर नहीं चल पाता तो वह जनसाधारण और पाठक की रुचि की उपेक्षा भी नहीं कर सकता।" हम इतना और कहना चाहेंगे कि यह व्यवसाय बड़े घाटे का व्यवसाय है। यह व्यवसाय करने वाला टूट जाता है। अस्तु, पूंजीवादी युग में साहित्य कल व्यवसाय न हो तो क्या हो? यदि हमारे पीछे सात्विकता और धर्म की इतनी बड़ी परम्परा न होती तो हमारे हिन्दी साहित्य का अन्तरंग और बहिरंग दोनों ही व्यावसायिक हो जाता। फिर भी व्यवसाय वृत्ति की प्रधानता के नाते इस साहित्य के आकार-प्रकार, स्वरूप अंजना, भाव और विषय पर ग्राहक, पाठक, की रुचि का प्रभाव काफी पड़ा है। ऐसा या कविता इतनी छोटी न हो कि पुरस्कार ही न मिले, इतनी बड़ी न हो कि छपने को जगह ही न मिले। इतनी गम्भीर न हो कि उसे पाठक पढ़ना ही न चाहें। इसीलिये गम्भीर, स्वतंत्र, विमुक्त, साहित्यिक रचना उतनी नहीं छपती जितनी पाठ्यपुस्तकें। पूंजीपतियों के द्वारा हमारे साहित्यिकों की आत्मसम्मान की भावना को बड़ी ही गहरी चोट पहुंचायी जाती थी। उनका अहंभाव जागृत हो उठता था। इस प्रकार आर्थिक विषमता साहित्य के अन्तर वैयक्तिकता को सृष्टि करती है जिससे विद्रोह की भावना उत्पन्न होती थी। अर्थ के अभाव में यह साहित्यिक मजबूर भी तो होता है। इसलिये साहित्य में हुंकार या विद्रोह का आंतरिक या सैद्धान्तिक रूप ही प्रकट हो पाता है। गर्म खून वाले ऐसा नकली विद्रोह का आवेष्ट लिये साम्यवादी या समाजवादी बन जाते हैं। जो यह भी नहीं कर पाते वे कुंठा

के चिकार हो जाते हैं। यह अर्थजन्य कुंठा बड़ी ही तीव्र होती है। इस कुंठा के द्वारा साहित्य पर पढ़ने वाले प्रभाव का विवेचन करते हुए नगेन्द्र लिखते हैं, "कुंठा और काव्य का सीधा संबंध है कुंठाओं की तीव्र प्रेरणाओं^{में} जो गीत फूट उठते हैं वे मानव मन को सहज ही प्रिय होते हैं।" भावदृष्टि से बचन की लोकप्रियता का एक रहस्य यह भी है। उमंग और उत्साह, साहस और स्फूर्ति रहित भारत की आर्थिक हलचलों का साहित्य पर यह प्रभाव पड़ा है कि हमारा जासूसी और रोमांचकारी साहित्य पश्चिम का अनुकरण मात्र हो कर रह गया है। उसमें बुद्धि के चमत्कार और कल्पना के कोयल का चमत्कृत कर देने वाला रूप नहीं मिलता। सुस्त आर्थिक जीवन ने हमारी साहित्यिक कल्पना को भी सुस्त और अरुतुद कर दिया है। समस्त प्रेम-साहित्य का ढांचा एक ही सा और इसीलिए प्रायः अरुतुद होता है। उसमें कोई भी बात नई या तजीब नहीं दिखाई पड़ती। अर्थनीति का साहित्य पर दो प्रकार से प्रभाव पड़ा करता है। हमारा आर्थिक जीवन जिस प्रकार कड़ है वह पृष्ठभूमि और विषय बनकर साहित्य में चित्रित हो जाय। गांधीवादी आर्थिक जीवन इस रूप से हमारे आधुनिक हिन्दी साहित्य में पर्याप्त रूप से चित्रित हुआ है। मैथिलीशरण गुप्त के "साकेत" में चर्खा कातने का उल्लेख हुआ है। सोहनलाल द्विवेदी ने "भैरवी" नामक काव्य संग्रह में "साथी के धागे धागे में अपनेपन का अभिमान भरा" जैसा साहित्य लिखा है। आदर्शवादी जीवन के चित्रण में गांधीवादी आर्थिक जीवन ही मूर्त हो उठता है। प्रेमबंध की कहानियाँ और उपन्यासों में भी यह मिलता है। विशेष रूप से "रंगभूमि" के सूरदास का उल्लेख किया जा सकता है। अर्थशास्त्र के सिद्धांतों पर तो कोई कवि कविता लिखने बैठता नहीं। मार्क्सकी "सरप्लस वैल्यू" तो कविता का विषय नहीं बन सकती। उसके पीछे का दृष्टिकोण अवश्य काव्य का विषय बन सकता है। साहित्य का विषय बन सकता है। उसका भावपद एवं उसके पीछे की राजनीतिकता अवश्य साहित्य को जन्म देना सकती है। गांधीके

आर्थिक सिद्धान्तों में इतनी भावात्मकता ~~अव्यक्त~~ है, इतनी तरलता है
 इतनी रागात्मकता है कि कभी कभी वे स्वयं काष्ठ्य बन जाते हैं। गांधी जी
 आर्थिक विचार ^{को लीक} उरीरधम करके शक्ति और कृषक की महत्ता प्रतिपादित करता
 है और सोहनलाल द्विवेदी ^{रजी} "भैरवी" में मानव जाति के सभी बेछठ निर्माणा या
 उत्पादनों को श्रम संभव बताता हुआ कहते हैं :- वह तेरी हिम्मत पर किसान,
 वह तेरी मिहनत पर किसान आदि। युग की विचारधारा के प्रभाव को अ-
 स्वीकार न करते हुए भी यह कहा जा सकता है कि यह गांधी की अर्थनीति एवं
 उसके भी मूल स्रोत गांधी दर्शन का प्रभाव है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य में
 विशेष मानव की जड़ सामान्य मानव की प्रतिष्ठा हो गई है। जिस मानव
 की प्रतिष्ठा हो गई है उसका स्वरूप भी गांधीवादी ही है। इस प्रवृत्ति के
 प्रतीक के रूप में प्रेमचन्द की होरी और सुरदास है। प्रसाद की "गुब्बारा" कहानी
 का नायक "हृदय परिवर्तन" के सिद्धान्त की सच्चाई सिद्ध करता है। गांधी जी
 के अर्थ आर्थिक सिद्धान्तों के परिणामस्वरूप हमको नयेनये आदर्श वाक्य एवं सूक्तियाँ
 मिल रही हैं, जैसे "मेहनत सेवा राम की, मेहनत बंदी श्याम की"। सिद्धान्त -
 प्रधान ऐसा साहित्य अधिक नहीं है क्योंकि गांधी जी के ढंग पर जीवन बिताने
 वाले एक तो कुछ साहित्यिक न रहकर प्रायः राजनैतिक कार्यकर्ता बन जाते थे, ^{और इसे,}
 गांधी की बू-बास आने मात्र से लेखक सरकार का कौप-माजन बन जाता था।
 और भाव के म पहुँच कर गांधी के आर्थिक सिद्धान्त नीति, धर्म, और दर्शन
 बन जाते हैं जिनका विवेचन आगे होना है।

अध्याय-५

शैक्षणिक पृष्ठभूमि

(पृष्ठ २१२ से २२६ तक)

भारत की समृद्धतम शिक्षा-परम्परा -- प्राचीन-काल में शिक्षा का महत्त्व -- काल विभाजन -- ब्राह्मण शिक्षा व्यवस्था -- बौद्ध शिक्षा व्यवस्था -- मुसलमानी शिक्षा-व्यवस्था -- अंगरेजी शिक्षा का प्रारम्भ -- शिक्षा -- अनावश्यक पढाई और देशात -- शिक्षा के लिए देशात शहर का मुतापेक्षा -- शिक्षा की प्रगति -- राष्ट्रीयता और शिक्षा -- भारत में शिक्षा -- दूषित शिक्षा का परिणाम -- सच्ची शिक्षा के प्रयत्न भी असफल -- दूषित शिक्षा, दूषित दृष्टिकोण, महा अनर्थ -- हिन्दी और हिन्दी वालों का अद्वितीय महत्त्व -- गान्धी और शिक्षा -- अंगरेजी अथवा संस्कृत-हिन्दी -- क्या हिन्दी अंगरेजी की मुतापेक्षा है -- आधुनिक शिक्षा व्यवस्था और हिन्दी साहित्य --

वैशेषिक पुच्छभूमि

भारत की समृद्धतम शिक्षा परंपरा

इसमें कोई भी सन्देह नहीं कि किसी देश का भविष्य उस देश की शिक्षा के स्वरूप और उसकी प्रगति पर आधारित होता है। हमारी आकांक्षाओं और आकांक्षाओं, स्वप्नों और कल्पनाओं को मूर्तरूप तभी दिया जा सकता है जब हमारी नई पीढ़ी के लिये अनुरूप अनुकूल, सच्ची-वास्तविक, तथा उपयोगी और उचित शिक्षा की व्यवस्था संभव हो जाय। इस प्रकार की शिक्षा की कल्पना और आयोजना करने में भारत कभी भी अक्षम एवं असमर्थ नहीं रहा। उताड़ियों की निर्मम पराधीनता ने कल्पना के पंख तोड़ दिये हैं, भावनाओं को कुचल अक्षत कर दिया है, उद्मादना-व्यक्ति को अपंगु कर दिया है और मौलिकता विमूर्छित है। आज हम सोच भी नहीं पाते कि यदि अंग्रेजों के द्वारा प्रचारित शिक्षा व्यवस्था को छोड़े दें तो कैसे छोड़ दें। हम सोचते हैं कि यदि ऐसा हुआ तो हम असमर्थ, पतित, मूर्त-गंवार और पिछड़े हुए रह जायेंगे। आज के भारत के किसी 'बड़े आदमी' को यह विश्वास दिला सकना एक ठोड़ी सीर है। यद्यपि है यह सत्य, कि इस सन्नाहकयित समर्थ शिक्षा-पद्धति को पाकर हम जितने समर्थ, महान् और उन्नत हो सके हैं उससे कहीं अधिक बेच्छ, उन्नत एवं महान् हम तबब ये जब इस शिक्षा पद्धति का जन्म ही नहीं हुआ था। जिस देश ने वाल्मीकि, व्यास, कालिदास जैसे कवि-पुंगव, नीता, उपनिषद् वेद जैसे ग्रंथों के महानतम प्रणेता, पाणिनि-जैसा संसार का सर्वबेच्छ वैयाकरण, राम-कृष्ण जैसे महामानव, आदि पैदा किये हैं उस देश में कोई असाधारण रूप से बेच्छ शिक्षा व्यवस्था न रही हो - यह कैसे संभव है। अरकाट लक्षण स्वामी मुदालियर ने बिलकुल सही कहा है, भारतवर्ष वैशेषिक प्रगति की समृद्धतम परंपराओं वाला देश है। यहाँ की शिक्षा का इतिहास उन युगों से प्रारम्भ होता है जब आज के तथा-कथित अनेक आधुनिक एवं उन्नत देश अभी मूढताओं और अज्ञानताओं से पूर्ण

अंध युगों की आदिम स्थितियों को ही पार कर रहे थे और जब इन देशों में से कुछ के सभ्य नागरिक अभी वृक्षों की डालियों से तनों तक कूद-फांद ही मचाया करते थे।^१

प्राचीनकाल में शिक्षा का महत्व

शिक्षा मनुष्य को ज्ञान और सामर्थ्य देती है। शिक्षा न मिले तो हम न तो विदधा प्राप्त कर सकते हैं, न ज्ञान ही। भारतीय संस्कृति में इन दोनों को बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। विदधा हमको मुक्तिप्रदान कराने वाली होती है। कहा गया है :-

मातेव रवति पितेव हिते नियुक्ते

कांतेव चापि रमयत्पनीय सेदम् ।

लक्ष्मी तनोति वितनोति च विमु कीर्तिं

किं किं न साधयति कल्पलौक विदधा ॥^२

विदधाविहीन की तो हमारे यहां पशु माना गया है। हमारे देश की परंपरा ज्ञान, समान भेद भाव और कोई मानती ही नहीं और कहती है :-

ज्ञानं तृतीयं मनुजस्य त्रै

समस्ततत्त्वार्थविलोकदधम् ।

तेजोऽनपेक्षं विगतान्तरायं

प्रवृत्तिमत्सर्वजगत्त्रयेपि ॥^३

संसार के विभिन्न कार्यों को सही ढंग से समझने और उचित ढंग से संपादित करने के लिये समुचित और यथायोग्य अन्तर्दृष्टि हमें ज्ञान से ही प्राप्त हो सकती है। सत्य की शिक्षा से भ्रम का निवारण ही जाता है, अज्ञानता का अंधकार

१. 'पञ्चकण्ठन इन डंडिया', पृ. ४

२. 'सुभाषित रत्नमण्डार', पृ. ३०, भा. २।

३. 'सुभाषित रत्नसन्धोह', पृ. १९४।

हट जाता है, कठिनाइयाँ रास्ते से हट जाती हैं, मनुष्य जीवन का वास्तविक महत्व समझने लगता है और इस प्रकार वह एक आदरणीय तथा आत्मनिर्भर नागरिक बन जाता है। ए. एस. अल्तेकर के शब्दों में कहें तो "एक शब्द में यह कहा जा सकता है कि शिक्षा हमारी शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक शक्तियाँ और सामर्थ्य के संतुलित और उत्तरोत्तर विकास का प्रवर्तन करते हुए हमारी प्रकृति की कायापलट करके उसे उदात्त एवं प्रौज्ज्वल कर देती है।"¹

काल-विभाजन

आजकल बौद्धिक वमताओं और संभावनाओं के विकास मात्र को ही शिक्षा समझा जाने लगा है। इस दृष्टि से देखने पर भारतीय शिक्षा के तीन युग सामने आते हैं :- प्राचीन, मध्ययुगीन, और आधुनिक। ए. एस. अल्तेकरने भारत की प्राचीन शिक्षा व्यवस्था का अध्ययन उसे चार मार्गों में विभाजित करके किया है²

- (1) वैदिक युग - प्रारम्भ से लेकर 1000 ई. पू. तक
- (2) उपनिषद्-सूत्रम्हाकाव्यकाल - 1000 ई.पू. से 200 ई. पू. तक
- (3) धर्मशास्त्र काल या

जुग-सातवाहन-वाकाटक-गुप्त काल 200 ई.पू. से 400 ई. तक

- (4) पुराण और निबन्ध काल :- 400 ई. से 1200 ई. तक

इसी अन्तिम युग में बौद्धशिक्षा व्यवस्था भी जाती है। मध्ययुग में मुसलमानी शिक्षा व्यवस्था प्रचलित हुई और आधुनिक युग में अंग्रेजी शिक्षा-व्यवस्था। कोई भी शिक्षा-व्यवस्था एक युग में प्रचलित होकर बाध में दूसरा युग आने पर पूर्णतः नष्ट नहीं हुई। उसका स्वरूप और महत्व अवश्य परिवर्तित हो गया।

1. 'एजुकेशन इन ऐन्डियन्ट इंडिया', पृ. 244।

2. वही, पृ. 249-250।

ब्राह्मण-शिक्षा व्यवस्था

व्यक्ति और समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप ही प्राचीन भारत की शिक्षा-व्यवस्था का विकास हुआ था। ए. एस. अल्तेकर के कथनानुसार "ईश्वर भक्ति तथा धार्मिकता की भावना, चरित्र-निर्माण, व्यक्तित्व का विकास, नागरिक तथा सामाजिक कर्तव्यों का पालन, सामाजिक कुशलता (सोशल एफीशियेन्सी) की उन्नति तथा राष्ट्रीय संस्कृति का संरक्षण और प्रसार प्राचीन भारत में शिक्षा के मुख्य उद्देश्य एवं आदर्श थे।" ^१ यह ठीक है कि शिक्षा आजी-विका की समस्या को हल करने में समर्थ है किन्तु "प्राचीन भारत में शिक्षा को जीविका का साधन नहीं माना गया और जिन्होंने ऐसा व्यक्त किया उनकी घोर निन्दा की गई।" ^२ अस्तु, महान् लक्ष्य को सामने रखकर भारतीय मनीषियों ने भारत में शिक्षा का प्रारम्भ किया था। हमारे यहां शिक्षा की भूमिकाएँ तो गर्भाधान की रात्रि से पूर्व से ही बननी प्रारम्भ हो जाती थी किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से भारतीय शिक्षा-रत्न को मुख्य रूप से तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है :- माता के प्रभाव से होने वाली शिक्षा और संस्कार, पिता के प्रभाव से होने वाली शिक्षा और संस्कार तथा आचार्य के प्रभाव से होने वाली शिक्षा और संस्कार। आजकल इस अन्तिम को ही शिक्षा की संज्ञा दी गई है। आगे इसी प्रकार की शिक्षा के स्वरूप पर दृष्टिपात किया जायगा।

एफ. ई. की ने लिखा है, "भाषा का छात्सीय ज्ञान और स्तब्ध पिता के द्वारा पुत्र को प्रदान किया जाता था और इसमें कोई संदेह नहीं कि ब्राह्मण-युग की शिक्षा का प्रारम्भ इसी से होता है।" ^३ बुर बुर में

१. 'एजुकेशन इन ऐन्वियेन्ट इंडिया', पृ. ८-९

२. 'भारत में शिक्षा', लेखक बी.पी.जोहरी और पी.डी.पाठक, पृ.

३. 'ए हिस्ट्री ऑफ एजुकेशन इन इंडिया एंड पाकिस्तान', पृ. २-३

शिक्षा केवल ब्राह्मण-पुरोहित वर्गों के ही लिये थी। इसीलिये उस जाति युग की पाठशाला को "पुरोहित शाला" की संज्ञा दी जा सकती है। पुरोहित का कार्य करने के लिये ब्राह्मणों के छोटे-छोटे बच्चों को शिक्षा दी जाती थी। बाद में अर्थात् ५०० ई.पू. आसपास से क्षत्रिय और वैश्य भी पढ़ने लगे। उपनयन संस्कार के बाद बालक की शिक्षा प्रारंभ हो जाती थी। ब्राह्मण बालक की शिक्षा पाँचवें वर्ष से, क्षत्रिय बालक की शिक्षा छठवें वर्ष से और वैश्य-बालक की शिक्षा आठवें वर्ष से प्रारंभ होती थी। नये छात्र का जीवन कठोर संयम, अनुशासन और अक पश्चिम का जीवन होता था। छात्र गुरु के आश्रम में रहता था और गुरु के घर और रेत का काम किया करता था। वह गुरु के अग्निहोत्र का सारा प्रबन्ध करता था। पशु-चारण और भिखाटन भी इसी का दायित्व था। गुरु का देवता और धर्मदेव पिता की तरह आदर किया जाता था। छात्र गुरु की आज्ञाओं की सदा प्रतीक्षा किया करता था। योग्य और प्रख्यात गुरु की सोज में शिष्य बहुत दूर - दूर तक जाया करते थे और मिल जाने पर हर प्रकार उसे प्रसन्न करने का प्रयत्न करते थे। गुरु की सेवा से जब अवकाश मिलता था तब वेदाध्ययन होता था। शिष्य केवल दो बार भोजन करता था। उसका पूर्णरूपेण सात्विक होता था। अति भोजन उसके लिये वर्जित था। हाथ में घण्टा होता था और कमर में मुँज की माला। वस्त्र साधारण होते थे और वे सिले हुए नहीं होते थे। जलंकार और प्रसाधन उनके लिये पूर्णतः वर्जित थे। उन्हें सादी जादों की शिक्षा दी जाती थी। कहा गया है - 'विद्यार्थी भवेत् वा सुतार्थी भवेत्' अर्थात् 'सुतार्थिनः कुतो विद्या नास्ति विद्यार्थिनः सुतम्'। इसीलिये दैनिक स्नान, तपस्वियों-वैसा जीवन, दिन में न सोना, अपने स्वभाव पर नियन्त्रण, आचरण पर मर्यादा और अनुशासन का संयम, संन्यास-व्रत और हवन तथा अलंकार-प्रत्यय का पालन उनके जीवन का स्वरूप था। शिक्षा की अवधि एक वर्ष में साढ़े चार या पाँच महीनों तक की होती थी, अर्थात् वर्षा ऋतु और जाड़े की ऋतु में अध्ययन-अध्या-

पन होता था। एक वेद में पारंगत होने के लिये लगभग चारह वर्षों का समय लगता था और इस प्रकार चारों वेदों के अध्ययन में अठतालीस वर्ष लग जाते थे। सभी छात्र चारों वेद नहीं पढ़ते थे। साहित्य तथा धर्मशास्त्र का अध्ययन दस वर्षों में समाप्त हो जाता था। गुरु ब्रह्मनिष्ठ हुआ करते थे। अपराधी छात्रों को कठोरतम दंड मिलता था। शिक्षा निःशुल्क होती थी। शिक्षा की समाप्ति पर समा^वर्त्तन संस्कार होता था और इस समय शिष्य को गुरु की इच्छा के अनुरूप गुरु-दक्षिणा चुकानी होती थी। ए. एस. अल्तेकर ने लिखा है, "भारतीय शिक्षा प्रणाली में किसी भी प्रकार की वार्षिक या नियतकालिक परीक्षा का कार्यक्रम नहीं था। नयापाठ तब दिया जाता था जब आचार्य सन्तुष्ट हो जाता था कि शिष्य ने पुराने पाठ को पूर्णरूपेण हृदयंगम कर लिया है। शिक्षावधि की समाप्ति किसी, बड़ी, लम्बी या विस्तृत परीक्षाओं के परिणामस्वरूप नहीं होती थी। छात्र को केवल अन्तिम पाठ सुना देना होता था और उसकी व्याख्या भी करनी होती थी। न किसी प्रकार की डिग्री दी जाती थी, न डिप्लोमा।" शिक्षा-प्रणाली व्यक्ति-प्रधान थी। पहले गुरु प्रत्येक शिष्य को अलग-अलग पढ़ाता था। कभी कभी सामूहिक रूप से भी पढ़ा दिया जाता था। कुछ आर्ष-ग्रन्थों को रटना भी पड़ता था। शिक्षा बाल-नियन्त्रणों से पूर्णतः मुक्त थी। स्त्री-शिक्षा का भी विधान था। व्यावसायिक शिक्षा की भी व्यवस्था थी। पीढ़ा और प्रायः शिक्षा भी कार्यशाला (वर्कशॉप) में ही होती थी। इस क्षेत्र में अध्ययन के विषय का निर्णय प्रायः पितृ-परंपरा के अनुसार होता था। यह सब समाज विवेक की दृष्टि-रेखा में होता था। अध्ययन का मुख्य स्थान या गुच्छुल। कभी-कभी परिषदों, सम्मेलनों और राजदरबारों में भी जाकर लोग शिक्षा ग्रहण किया करते थे। अध्ययन के विषय थे :- रसायन, बीजगणित, सामान्य गणित, फलित ज्योतिष, सगोल विद्या, शरीर विज्ञान, औषधि विज्ञान, व्याकरण, दर्शन, धर्म-

शास्त्र, विधिशास्त्र, अर्थात् कानून, भूगोल, व्यापार, भाषा, युद्ध-कला, अस्त्र-
 शस्त्र-विज्ञान, राजनीति, वेद, इतिहास, पुराण, पौराणिककथाएँ, उपनिषद्,
 नीतिशास्त्र, सर्पविद्या, ब्रह्मविद्या, मृतविद्या, शास्त्रविद्या। इस शिक्षा-ठक-
 वस्था में कुछ ऐसे ठोस एवं शाश्वत महत्त्व के तत्त्व थे कि सहस्राब्दियों के बीत-
 जाने के बाद आज भी वे किसी न किसी रूप में भारत के अन्दर मिल ही जाते
 हैं। एफ. ई. की ने ठीक ही लिखा है, "प्रारंभ से लेकर आज तक ब्राह्म-शिक्षा-
 पद्धति की प्रमुख विशेषताएँ लगभग वे ही की वे ही रह गई।"

बौद्ध-शिक्षा-ठकस्था

बौद्ध युग की शिक्षा पद्धति जार्यों की शिक्षा-पद्धति से कुछ भिन्न
 थी। इस युग की शिक्षा का आधार वेदाध्ययन मात्र ही नहीं था। अध्यापक
 का प्रायः ब्राह्मण या पुरोहित मात्र ही नहीं हुआ करते थे। यहाँ शिक्षा केवल
 तीन उच्च वर्गों के ही लिये न होकर सबके लिये थी। छात्रों का यह कर्त्तव्य था
 कि वह आचार्य अर्थात् शिक्षक की सेवा सभी प्रकार से करें। गुरु-सेवा, शिक्षा
 की प्रमुख विशेषता थी जिसके बदले में आचार्य विद्य को सभी प्रकार की बौद्धिक
 एवं आध्यात्मिक शिक्षा देता था। गुरु में ऐसा कर सकने की क्षमता होती थी
 क्योंकि गुरु या आचार्य बही हो सकता था जिसके अन्दर उच्च कोटि की नैति-
 कता, आत्मनिग्रह, बुद्धिमत्ता, यौन्यता, निर्भीकता, विनम्रता, धर्मभीक्षा के
 साथ साथ पाप से डर अनाचारिता का अभाव, सुचिक्कण-सामर्थ्य आदि विशेष-
 ताएँ हों। बुद्धसंघ में दीक्षित होने पर प्रत्येक नवार्हंतुक को एक आचार्य की देख-
 रस और उसके नेतृत्व में दस वर्षों तक रहना पड़ता था। प्रव्रज्या ग्रहण करने के
 पश्चात् नवार्हंतुक "भग्न" हो जाता है। बीस वर्षों के पश्चात् उसे "उपसंन्यास"
 मिलती थी और तब वह "भिक्षु" कहलाता था। भग्न को "सिद्धिपिहारिका"
 भी कहा जाता था। इस युग की शिक्षा अधिकांशतः बौद्ध भिक्षुओं और आचार्यों

के ही हाथों में थी। इस पर उनका एकाधिकार-सा था। एक आचार्य अनेक नवांगतुकों को पढ़ा सकता था। छात्र की प्रगति एवं उसके कल्याण का दायित्व आचार्य के ऊपर होता था। इस युग की शिक्षा दो भागों में विभक्त थी:- सामान्य, और विशेष या उच्चतर। स्त्री-शिक्षा का भी विधान था क्योंकि नारियाँ को भी प्रव्रज्या ग्रहण करने की अनुमति गौतम बुद्ध को देनी पड़ी थी। इन मिथुणियों के लिये पहले अलग पाठशालाएँ थीं। बाद में इनका स्वतंत्र अस्तित्व समाप्त हो गया। इतने पर भी नारी-शिक्षा समाप्त नहीं होने पाई” और बौद्धयुग में अनेक सुविधिता मिथुणियों के नाम मिलते हैं ; जैसे - संधिका, शुभा, अनुपमा, सुमेधा, प्रमुदेवी, सिलामट्टारिका, विजयनका, नयनिका, प्रभावती गुप्त, अदि। ये महिलाएँ बड़े घरों की थीं। सामान्यतः नारी-शिक्षा को बहुत अधिक प्रोत्साहन नहीं मिल सका। व्यावसायिक शिक्षा इस युग में भी दी जाती रही। मेगास्थनीज को भारत के समाज में दर्शन और विज्ञान के प्रति आकर्षण मिली थी।¹ तर्कशास्त्र और औपधि विज्ञान भी अध्ययन के महत्वपूर्ण विषय थे। दौर्धर्म और दर्शन का अध्ययन अध्यापन विशेष रूप से होता था। कताई, बुनाई, कपड़े की छपाई, सिलाई, गणना, चित्रकला, आयुर्वेद, सत्य, लिखाई आदि का भी अध्यापन होता था। गुरुकुल प्रणाली की जगह इस युग में शिक्षा की विहार-प्रणाली प्रचलित हुई। तद्विला, नालंदा, पलमी, विक्रमविला, औदंतपुरी, नाविया, मिथिला, जगद्वाल आदि इस युग में शिक्षा के प्रमुख केन्द्र थे।

मुसलमानी शिक्षा-व्यवस्था

भारतीय शिक्षा के इन महत्वपूर्ण केन्द्रों को मुसलमानी आक्रमण-नारियाँ ने पूरी तरह से नष्ट किया। पुस्तकालयों में लूनाई गई आग महीनों तक नहीं बुझी। ११९२ ई. में मुहम्मद गोरी ने भारत पर आक्रमण किया और

अजमेर के मंदिरों को तोड़ कर उनकी जगह मस्जिदों और स्कूलों को बनवाकर भारत में मुसलमानी शिक्षा-पद्धति का सूत्रपात किया। की ने भी मुहम्मद गौरी को ही भारत में मुसलमानी शिक्षा-प्रणाली का संस्थापक माना है।¹ भारतवर्ष के मुसलमान शासकों ने सामान्यतः शिक्षा की ओर बहुत अधिक दिलचस्पी दिखाई है। उनमें से बहुतों ने अपने-अपने साम्राज्य के विभिन्न स्थानों में शिक्षा संस्थाओं और पुस्तकालयों की स्थापना कराई है। फरिश्ता के अनुसार अलाउद्दीन खिलजी के समय में कला और विज्ञान के पैंतालीस विशेषज्ञ आचार्य (डाक्टर आफ आर्ट्स ऐंड साइंसेज) थे जो उच्चकोटि के शिक्षा-केन्द्रों में अध्यापन का कार्य करते थे। सिकंदर लोधी के राज्यकाल में हिन्दू भी मुसलमानी शिक्षा पद्धति में शिक्षित होने लगे।

ज्ञान का प्रकाश देना, इस्लाम धर्म का प्रचार, इस्लामी नैतिकता का प्रचार, इस्लामी सिद्धान्तों, कानूनों तथा सामाजिक प्रथाओं का प्रचार मुसलमानों को धर्मपरायण बनाना, सांसारिक ऐश्वर्य की प्राप्ति और मुसलमानी शासन को सुगुद बनाना मुसलमानी शिक्षा का उद्देश्य था।

इस युग में शिक्षा और साहित्य की गतिशीलता मस्जिदों और स्कूल राजमणियों में केन्द्रित थी। मुसलमानों की शिक्षा-संस्थाएं "मकतब" और "मदरसा" संज्ञाओं से अभिहित थीं। "मकतब" एक प्रकार की प्रारंभिक पाठशाला थी। "मकतब" प्रायः मस्जिदों से संबद्ध होते थे। इनका उद्देश्य था कुरान के उन भागों की शिक्षा देना जिन्हें सबेरे याद रखना एक मुसलमान के लिये अनिवार्य माना गया है। इनकी आवश्यकता पूजा-पाठ या अन्य धार्मिक अनुष्ठानों के समय पड़ा करती है। धनी लोगों के बच्चों के लिये उनके अपने "मकतब" हुआ करते थे मगर उस क्षेत्र विशेष के सामान्य लोगों के बच्चे सार्वजनिक "मकतबों" में ही पढ़ने जाया

1. 'य हिस्ट्री आफ एजुकेशन इन इंडिया ऐंड पाकिस्तान', पृ. 109।

करते थे। कभी-कभी सबनकाहों और दरगाहों में भी यह प्रारंभिक शिक्षा दी जाती थी। इनमें मौलवी पढ़ाता था और दरगाह बनवाने वाले उसे नियुक्त किया करते थे। उसका पालन पोषण प्रायः चढावे से होता था। चार वर्ष, चार माह और चार दिन की आयु के बालक इनमें प्रवेश पाते थे। "बिस्मिल्लाह" से शिक्षा का प्रारंभ किया जाता था। लिखना, पढ़ना, प्रारंभिक गणित, कुरान की कुछ आयतों को रट लेना, फारसी भाषा और उच्चारण, फारसी की कुछ कविताएँ, लिपि का ज्ञान, फातिहा, शुद्धतम उच्चारण, सात्त्विक बारी, करीमा, मामकिमाह, मुलिस्तं, बोसतां, पैगम्बरों की कथाएँ, मुसलमानों की कहानियाँ, मुकुत जुलैसा, लैला-मजनून, सिकन्दरनामा आतशीत का डंग, पत्र-लेखन, अर्जी-निवेदन आदि पाठ्यक्रम था। शिक्षा निःशुल्क होती थी। अध्यापन का समय प्रातः और अपराह्न था। सरकंदे की कलम और तरबती से लिखने का काम होता था।

"मदरसा" में उच्चतर और उच्चतम कक्षाओं की शिक्षा दी जाती थी। कीरोजवाह तुगलक के बनवाये हुए "मदरसों" में शिक्षक और शिष्य साथ-साथ रहते थे। ऐसे "मदरसे" दिल्ली, लखनऊ, रामपुर और इलाहाबाद आदि नगरों में थे। इनका शिक्षा-काल बारह वर्ष का होता था। इनमें लौकिक और धार्मिक दोनों प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। लौकिक शिक्षा में अरबी साहित्य, उच्चारण तथा गद्य, गणित, इतिहास, भूगोल, दर्शन, नीतिशास्त्र, तर्कशास्त्र, अर्थशास्त्र, फ़ारसी चिकित्सा, ज्योतिष, कानून, कृषि आदि विषय थे। धार्मिक शिक्षा के लिये कुरान, मुहम्मद साहब की परंपरा, इस्लामी कानून, इस्लामी इतिहास पढ़ाया जाता था और कुरान को कढ़ाव करवाया जाता था। व्यावसायिक शिक्षा कार्यशालाओं में और राजकाज तथा युद्ध संबंधी शिक्षा राजमहलों में आयोजित होती थी। सैद्धान्तिक शिक्षा प्रायः मौलिक होती थी। विद्वान

लैंग छात्रों के सामने भाषा दिया करते थे। स्वाध्याय वृत्ति को बहुत अधिक प्रोत्साहित किया जाता था। चिकित्सा, हस्तकला, शिल्पकला, संगीतकला, आदि की शिक्षा प्रयोग प्रधान थी और धर्म, दर्शन, तर्कशास्त्र, राजनीति आदि को तर्कप्रधान। शिक्षा का माध्यम प्रायः अरबी था। उच्च कक्षाओं के यौन्य छात्र निम्नकक्षाओं के विद्यार्थियों को पढ़ा दिया करते थे। परीक्षाएं नहीं होती थीं। शिक्षकों के मतानुसार विद्यार्थी ऊंची कक्षा में पहुंचा दिया जाता था। अध्यापकों की नियुक्ति में राज्य सरकारों का भी हाथ होता था। इनकी प्रबंध समिति प्रायः गैर-सरकारी होती थी। राज्य-सरकारें इन "मदरसों" को धन और जमीन दिया करती थीं। अपराधियों को कठोरतम दण्ड दिये जाते थे। गुरु-शिष्य का सम्बन्ध बड़ा ही सुन्दर होता था। गुरु का बहुत आदर किया जाता था। पिछले युगों की तुलना में इस युग के छात्रों के जीवन में सुख और सुविधाएं अधिक थीं। अद्वितीय प्रतिभा और गहनतम अध्ययन वालों को तमने, सन्देश, छात्र-वृत्तियां और बाद में नौकरियां भी मिल जाती थीं। दर्शनशास्त्र और तर्कशास्त्र के पारंगत विद्वान् को "फाजिल", धर्मशास्त्र के असाधारण विद्वान् को "आलिम" साहित्य के अधिकारी विद्वान् को "काबिल" की उपाधियां दी जाती थीं। कुछ विद्वान् अपने अपने घरों पर भी पढ़ाया करते थे। स्त्री-शिक्षा की कोई समुचित व्यवस्था नहीं थी। राजकुमारियां और कुछ सामन्त गणों की कन्याओं के लिये व्यक्तिगत रूप से शिक्षा का प्रबंध कर दिया जाता था। शिक्षा की व्यापकता का अभाव था और प्रान्तीय भाषाओं की उपेक्षा हो गई थी।

अंगरेजी शिक्षा का प्रारंभ

यह सब चल ही रहा था कि अंगरेज आ गये और वह वेही शिक्षा व्यवस्था जो युग के अनुकूल अपने में थोड़ा बहुत परिवर्तन करके भारत की कल्याण-कारिणी शिक्षापद्धति बन सकती थी, उपेक्षित हो गई। पहले, मुन्शी, पलकिंस्टन और लेटनर आदि वेही शिक्षा के पुनरुत्थान के समर्थक थे परन्तु उनके सुझावों के

प्रस्तावों पर कोई भी ध्यान नहीं दिया गया। पाश्चात्य मिशनरियों ने ईसाई-धर्म प्रचार के लिये आधुनिक शिक्षा का सूत्र पात कर दिया। १७९२ में विल-बर फोर्स ने यह विचार प्रकट किया कि भारत में अंगरेजी शिक्षा का प्रचार किया जाना चाहिये। बाद में राजाराम मोहन राय ने भी इसी मत का समर्थन किया। मेकाले तो इसके बड़े ही प्रबल समर्थक थे। १८०० में "फोर्ट विलियम कालेज" का शिलान्यास हुआ ताकि कम्पनी के तरुण कर्मचारियों को उचित शिक्षा दी जा सके। कूटनीति और कूट नीति के निष्णात साम्राज्यवादी शासकों ने एक और जगह-जगह स्कूल अंगरेजी स्कूल खोलना प्रारम्भ किया और दूसरी ओर हिन्दुओं और मुसलमानों को प्रसन्न रखने तथा उन्हें मिलने न देने के लिये "बनारस संस्कृत कालेज" के साथ-साथ "कलकत्ता मदनरा" भी खोल दिया। १८५४ में "सर चार्ल्स" बुड ने "भारत में अंगरेजी राज्य का पैगनाकाटा" उपस्थित किया क्योंकि १८३३ तक की अनिश्चयात्मक नीति को १८३९ में आक्टों ने समाप्त कर दिया था और भारत में वर्तमान अंगरेजी शिक्षा की नींव डाल दी थी। यह एक रोचक संयोग की बात है कि १८५७ में भारतीय स्वतंत्रता का प्रथम विद्रोह हुआ था और उसी वर्ष भारतीय बुद्धि और चेतना को विकृत, अस्वस्थ, और निष्क्रिय करने वाली विश्वविद्यालयीन शिक्षा का सूत्रपात हुआ अर्थात् कलकत्ता, बम्बई, और मद्रास के विश्वविद्यालय बने। १८६२ में एक "एजुकेशन कमीशन" बैठा और १९०२ में एक "यूनिवर्सिटीज कमीशन"। लार्ड कर्जन ने अपने शासन काल में विश्वविद्यालयीन शिक्षा को एक सुव्यवस्थित रूप दे दिया था।

शिक्षा

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में होते होते भारतवर्ष की न तो कोई अपनी राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति रह गई थी और न राष्ट्रीय शिक्षा का कोई स्वरूप ही तब सामने था। पुराने ढंग के मुसलमान अपने बच्चों को मकतबों में कुरान

रटवाते थे और पुराने ढंग के ब्राह्मण संस्कृत पाठशालाओं में अपने बच्चों को "सिधांत कौमुदी" रटवाते थे। इनका लक्ष्य था बच्चों को इस योग्य बना लेना कि वे भीमदुर्गा गवध अथवा स्कन्धनारायण जी की कथा बाँच सकें, संस्कार संपन्न करवा सकें और "फाटा" दे सकें। संस्कृत साहित्य के विधिवत एवं ठकुरस्थित अध्ययन का कोई भी प्रबंध नहीं था। इधर उधर बिसरे हुए विद्वान् वस-वस बारह विधा थीं लेकर अपने अपने घरों पर उन्हें पढ़ाते थे। यह कार्य कभी कभी संन्यासी भी किया करते थे। संस्कृत पढ़ने की इच्छा रखने वाले छात्रों अथवा उनके अभिभावकों को ऐसे विद्वानों की प्रायः सौज करनी पड़ती थी और व्यक्तिगत रूप से उनके घर पर जाकर पढ़ना पड़ता था। किसी निश्चित व्यवस्था के अभाव में ये विद्वान् अपनी अपनी ठीक, अपनी अपनी सनक के अनुसार पढ़ाया करते थे। ये नितान्त निराकांक्षी हुआ करते थे। प्रदर्शन से दूर भागते थे। इनकी ख्याति भी प्रायः नहीं होती थी। बनारस आदि धर्मस्थानों में संस्कृत के अध्ययन की थोड़ी बहुत व्यवस्था थी। कभी कभी उदार प्रवृत्ति वाले लोग यहाँ के अध्यापकों और इन पाठशालाओं को दान दक्षिणा भी दे दिया करते थे। बनारस संस्कृत अध्ययन का केन्द्र था। इन अस्तव्यस्त तपस्वी बंधीधियों की हड्डियों पर तथा धार्मिक सांस्कृतिक अनुष्ठानों के कारण ही संस्कृत भाषा और साहित्य का अध्ययन लुप्त होने से बच गया और आज फिर उसके गौरव की अनुमति हम करने लगे हैं।

पढाई अनावश्यक और देहात

इसके अतिरिक्त देहात के निवासी को विशेष पढ़ने-लिखने की आवश्यकता का अनुभव ही नहीं होने पाता था। पढाई नौकरी के लिये थी और देहात के आदमी को करवानी थी लेती। अधिकांशतः तो लोगों ने अक्षर-ज्ञान भी नहीं प्राप्त किया। सदा बैंगुठा लगाने को तैयार रहते थे। किसी-किसी गाँव में प्राइमरी स्कूल अवश्य थे जिनमें दो-दो तीन-तीन मील दूर से लड़के पढ़ने के लिये आया करते थे। ये लड़के झुण्ड बनाकर आया करते थे। इन्होंने

लोअर प्राइमरी स्कूलों में से अनेक के साथ साथ अपर प्राइमरी स्कूल भी होते थे।
 कस्बों के प्राइमरी स्कूलों के छात्रों के लिये कहीं कहीं छात्रावास भी होते थे।
 जो छात्र उनमें नहीं रह पाते थे वे धर्मशाले, ठाकुरद्वारे अथवा संबंधियों के घर
 ठहर जाया करते थे। नंगे सिर स्कूल अर्थात् मंदरसे जाना कायदे के खिलाफ था।
 जूता भी पहनना अनुचित था। बरसात में बड़ीदार सड़ाऊं चलती थी। साल में
 दो तीन महीने ही पढ़ाई होती थी। वेप समय गुरु सेवा अथवा सेल-कूद में
 बीतता था। प्रायः लोग उर्दू पढ़ते थे। उन्हें पट्टी पर स्याही से लिखना
 पड़ता था। हिन्दी वाले अपनी पट्टी को कजली से पोतकर घुट्टे (बौतलों के
 नीचे का भाग) से रगड़ कर उसे चमकाकर घुली हुई सड़िया मिट्टी से लिखते थे।
 कभी कभी पंडित जी चारपाई पर बैठकर भी पढ़ाते थे। पढ़ाते-पढ़ाते सो भी
 जाते थे। मुंशी जी के जगने के पहले लड़के हुक्का मरे तैयार रखते थे। पाठ न याद
 रहने पर या अनुधियाँ और मूर्खों पर विद्यार्थियों के ऊपर छडियाँ बरसती थीं। यह
 सामान्य प्रवृत्ति थी। इसेन मास्टर बुरा मानत था, न संरक्क और न आने चल
 कर स्वयं छात्र ही। मिडिल स्कूलों के हेडमास्टर सातवें दर्जे के छात्रों को रात
 में भी पढ़ने के लिये स्कूल में बुलाते थे। जहाँ उनकी देखभाल में छात्र कई रात-रात
 मर रहते थे। पढ़ाई का स्वरूप रटनात्मक था। मनोवैज्ञानिकता के लिये कोई
 भी गुंजाइश नहीं थी। इस कच्चा के विद्यार्थियों के लिये सेल-कूद एवं मनोरंजन
 सभी वर्जित थे। प्राइमरी स्कूलों आदि की कुछ वार्षिक परीक्षाओं के लिये विद्या-
 लय निरीक्षक, उपनिरीक्षक अथवा उनके भी अधीनस्थ निरीक्षक पहुंचाया करते थे।
 पास (उत्तीर्ण) होने पर विद्यार्थियों को 'हक्क' (अधिकार) देना होता था।
 हेडमास्टर का 'हक्क' दो रुपये, वेवता का 'हक्क' पांच आने का 'परसाद'
 और परिचिन्ता तथा साक्षियाँ आदि का 'हक्क' पेडे या बताये या लड्डू आदि
 होता था। अपर प्राइमरी परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद मेधावी छात्र बजीफा
 पाने के लिये एक अतिरिक्त परीक्षा देते थे। अध्यापक जब बड़े ही निष्ठावान

एवं "पंडित" जीबडे ही कर्मकाण्डी हुआ करते थे। प्रतिदिन स्नान, किसी का हुआ न साना, पूजापाठ आदि में किसी भी प्रकार का व्यथाघात अस्स था। इनका वेतन इतना कम होता था कि बिना "हक्क" मैट लिये या सेती किये इनका जीवन-यापन ही भी नहीं सकता था। प्रायः गांववाले मास्टर साहब, मुंशी जी, या पंडित जी के पास कुछ न कुछ भेजवाया ही करते थे। संभवतः यह प्रवृत्ति उन्हें उस प्राचीन हिन्दू परंपरा से प्राप्त थी जिसके अनुसार गुरु के जीवन व्यपन की सुविधाएं देते रहने का वायित्व पूर्णतः गृहस्थों पर ही था। लिखना, पढ़ना, गिनती, पहाडा, अंकगणित, हिन्दी, उर्दू, इतिहास, भूगोल आदि सामान्य विषय थे। प्राइमरी स्तर पर करते करते छात्र लिखना पढ़ना और हिस्साब लगाना जानने लगता था। शेष विषयों की सामान्यतम जानकारी बर्ना-क्यूलर मिडिल स्कूलों में कराई जाती थी। देहात के तेज लडके पढ़ने के लिये कस्बों में भेजे जाते थे। स्कूल और उसके आस-पास के क्षेत्र में हेडमास्टर का रौब बहुत रहता था। लडके और मास्टर उनसे कांपते रहते थे और लडकों के अभिभावक उनका अपार आदर किया करते थे। अंगरेजीसरकार ने हमारे देहातों के लिये ऐसी अमनोवैज्ञानिक अठ्यवस्थित, उपेक्षापूर्ण, बुद्धि और शरीर के लिये हानिप्रद और जीवन के लिये अनुपयोगी शिक्षा की व्यवस्था की थी और वह भी पूर्णतः अपर्याप्त। १९२१ में हमारे देश के अन्वर १५५०१७ प्राइमरी स्कूल थे। और ५१०९७५२ छात्र। १९३७ ई. में स्कूलों की संख्या १९२२२४ हो गई और छात्रों की १०२४२८८। भारत के प्राय ७० लाख गांवों के बच्चों की शिक्षा-बीबा के लिये, जिन पर इस देश की सुत-समुद्धि आधारित है, इस देश की सरकार केपास ऐसी शिक्षा-योजना थी। कोई आश्चर्य नहीं कि १९३१ की जन गणना के अनुसार भारत के ८९ नगरों को छोडकर देश भारत में केवल ७.५ प्रतिशत जनता पढी लिखी थी।

शिक्षा के लिये देहात शहर का मुतापेबी

देश की शिक्षा यहीं तक पहुंचती थी। इसके आगे या इसके

अतिरिक्त हमारी शिक्षापद्धति में देहात के लिये महाशून्य था। बहुत हुआ
 तो बालक किसी नार्मल स्कूल में मर्ती होकर इन्हीं प्राइमरी स्कूल में फिर पढ़ते
 आ जाता था। इसके आगे छहर का मुंह देखना पड़ता था। देहात की शिक्षा
 व्यवस्था रुपी जमुना स्पेशल क्लास रुपी प्रयाग में आकर छहर की शिक्षा व्यवस्था
 रुपी मेकाले की जाह्नवी में समाजाती थी। लिखना, पढ़ना, और गणित की
 प्रारम्भिक जानकारी के पश्चात् बालक तीसरी, चौथी, पांचवीं, छठीं, सातवीं,
 आठवीं, नवीं कक्षाएं पास करता हुआ हाई स्कूल की परीक्षा पास करता था।
 तदुपरान्त इण्टर, बी.ए., और एम.ए. की परीक्षाएं होती थीं। यह अन्तिम
 कक्षा थी। इसके पश्चात् प्रायः बी.ए. के पश्चात् ही - छात्र या तो एल.एल.
 बी. पास करके बकील एडवोकेट, बनते थे, या सी.टी. अथवा एल.टी. करके
 अध्यापक। अधिकाधिक अंक प्राप्त करने वाले छात्र विश्वविद्यालयों के विभागीय
 अध्ययन की सेवा करके उन्हें प्रसन्न करने के पश्चात् विश्व विद्यालयों में पढ़ाने के
 लिये नौकरी पा जाते थे। कुछ सान्त्वानी लोग या कुछ ऐसे लोग जो शिक्षा-
 रिरक्ष करवा कर 'साहब' को सुख करवा सकते थे, प्रतियोगिताओं में बैठ कर
 कानूनगो, नायब तहसीलदार, तहसीलदार, डिप्टी कलेक्टर, पुलिस अफसर रेलवे
 अफसर, जंक्शन के अफसर, या ऐसे ही कुछ बन जाते थे। समाज के अधिकतर प्रति-
 माषान् सदस्य अपना जीवन 'फिलरकी' (क्लर्क-कार्य) में बिताते थे। प्रतिमा-
 षाने का फल अथवा 'तरक्की' करने का तात्पर्य यही था कि अंगरेजी पढ़ कर
 सरकारी नौकरी पा ली जाय। डिप्टी कलेक्टरी से बड़े जोहदे की सामान्यतः
 कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। देहाती समाज के जो प्रतिमाषाली छात्र
 अपने सान्त्वान की रीखन करना या धन्य बनाना चाहते थे उन्हें अंगरेजी पढ़कर
 सरकारी नौकरी पा लेने वाली बहादुरी अवश्य दिलानी चाहिए थी। लोग बड़े
 गर्व से कहते थे कि हमारे लड़के जो जेल भेज देने तक का अस्वित्त्यार मिला हुआ है।
 ऐसे देहात वालों के लिये ब्रह्मा विष्णु महेश्वर तीनों की शक्तियां एक मात्र 'बरोजा'

मैं ही निहित थीं। वे इस्तेबड़े पद की कल्पना भी नहीं कर सकते थे। इसके लिये यह आवश्यक था कि देहात का तेज लड़का प्रथम श्रेणी में वर्नाक्यूलर परीक्षा पास करके उहर जाय। वहाँ नैन्स गैर-स्तरकारी स्कूलों में प्रायः एक 'स्पेशल क्लास' होता था जिसमें एक साल तक देहात से आए हुए ऐसे लड़कों को मात्र अंगरेजी रटाई जाती थी और रटा रटाकर उन्हें इतना ज्ञान करा दिया जाता था कि अगले साल में सातवीं कक्षा में उन लड़कों के बराबर बैठ सकें जो तीसरी, चौथी, पांचवीं और छठवीं कक्षाएं पास करते हुए आये हैं। देहात के लड़के अंगरेजी और विज्ञान के अतिरिक्त वे सारे विषय वर्नाक्यूलर मिडिल स्कूल की सातवीं कक्षा पास करके पढ़ और रट कर आते थे जो यहाँ आठवीं और नवीं कक्षाओं तक पढ़ाये जाते थे। परिणामतः अंगरेजी में वे लड़के अच्छे अंक पाते थे और शेष विषयों में थे। मनोरंजक स्थिति कक्षा के बाहर आती थी। रहन-सहन की विषमता का इंद्र इन छोटे बच्चों में विचित्र रूप में दिखाई पड़ता था। बरसों देहात के लड़के उहर के लड़कों के साथ घुलमिल नहीं पाते थे। बाव में इनमें मेल हो जाता था क्योंकि देहात के लड़के प्रायः तेज होते थे और उनके साथ 'सह-अध्ययन' उहर के लड़कों के लिये लाभदायक होता था। और फिर, इतने दिनों तक साथ रहने के कारण उनका ('कल्चुरल पेडजस्टमेन्ट') सांस्कृतिक समीकरण संभव भी हो उठता था। नहीं तो, एक ओर नैन्सपैर, सिर पर टोपी जिसके नीचे उस्तरे से घुंटे या नन्हें नन्हें बालों वाले ^{पर} ~~सिर~~, घुटनों से थोड़े ही नीचे तक धोती या लट्ठे का पायजामा, बदन पर मामूली कपड़े की कमीज, चेहरे पर देहाती वातावरण की शुष्कता और दूसरी ओर अंगरेजी फैशन के कटे हुए बाल जिनमें सुगंधित तेल और जो कायदे करीने से कटे हुए, बड़िया कालरदार कीमती कपड़े की कमीज, नेकर या पतलून, मौजा और फैन्सी जूता, मुलायम लाल सुस्निग्ध आनन। एक ओर देहाती बोली, दूसरी ओर सम्य लहजे। एक ओर विकर्षक व्यक्तित्व; दूसरी ओर सुसूदार आकर्षक देव-पुत्र। एक ओर कांटे, दूसरी ओर फूल! उहर के लड़के इन लड़कों को 'मिडिलवी' कहकर पुकारते थे जिसका ठयें-जयार्थ था मिडिल

पास गंवा^र, असम्य।

शिक्षा की प्रगति

एस. एन. मुकजी का विचार है कि गत युगों में शिक्षा की जो प्रगति रही और उसका जैसा विकास हुआ वह उतना भी नहीं था जितने की आशा हमारी जनता का एक महत्वपूर्ण भाग कर रहा था।^१ प्रगति धीमी थी, गैर सरकारी प्रयत्नों को प्रोत्साहन नहीं मिलता था और प्राइमरी शिक्षा की उपेक्षा की जाती थी। सैयद नूरुल्ला और नायक के अनुसार १९०१-२ ई. के आस-पास शिक्षा-प्रसार का सर्वाधिक कार्य भारतीय समाज के उदारचेतन व्यक्तियों और संस्थाओं ने व्यक्तिगत रूप से प्रारंभ कर दिया था। १९०४ ई. में लार्ड कर्जन ने इस विधा में कुछ प्रयत्न किये और विश्व विद्यालय अधिनियम पारित हुआ। कालेजों को विश्व विद्यालयों से संबद्ध करने की भी अनुमति मिलने लगी। कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमीशन ने अपनी रिपोर्ट के प्रथम भाग के ४९ वें पृष्ठ पर लिखा कि विश्व विद्यालयों की डिग्री लोगों की आकांक्षाओं का केन्द्र थी, सरकारी नौकरियों की विशेषयोग्यता का पासपोर्ट थी और विद्वत्ता संबंधी व्यवसायों की योग्यता का प्रमाण पत्र थी। [१९०२ ई. में इंडियन यूनिवर्सिटीज कमीशन ने लिखा था कि भारत में विश्व विद्यालयी शिक्षा का सबसे बड़ा दोष यह है कि यहाँ अध्यापन एवं प्रशिक्षण परीक्षाओं का पास है, न कि परीक्षा अध्यापन एवं प्रशिक्षण की बाखी। विद्यार्थी 'रट्टू मछीन' हो रहे हैं और शिक्षा की कसौटी हो रही है मात्र स्मरण शक्ति। महादेव गोविन्द रानाडे के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप १९०१ ई. में पहली बार बम्बई विश्व विद्यालय की एम. ए. परीक्षा में आधुनिक भारतीय भाषाएँ भी सम्मिलित की गईं। एस. एन. मुकजी ने लिखा है कि १९०१ ई. की जनगणना के अनुसार प्रत्येक १००००० नारियाँ में १० हिंदू - नारियाँ और ४ मुसलमान नारियाँ अंगरेजी जानती थीं। उस वर्ष पूरे भारत-वर्ष में प्रति १००० पर ४६ व्यक्ति पढ़ना लिखना जानते थे^२। इस बीसवीं शताब्दी

१. हिस्ट्री ऑफ एजुकेशन इन इंडिया, पृ. १५३।

२. वही, पृ. १७७-१७८।

मैं शिक्षा के विकास की प्रगति का कुछ अनुमान इन आंकड़ों को देखकर किया जा सकता है कि प्रति एक हजार व्यक्ति पर १९०१ में ४६, १९२१ में ७१, १९३१ में ८०, १९४१ में १२१ और १९५१ में १६६ व्यक्ति पढ़ना लिखना सीख सके थे। ५० वर्षों में सरकार के अकथनीय सदुपयासों के परिणामस्वरूप ^{प्रति सत्र} प्रति सत्र कुल १२० लोग अधिक पढ़े। सरकार की कितनी गौरवपूर्ण उपलब्धि है ! वास्तविकता से अनभिज्ञ व्यक्ति यह कहे कि बिना रह ही कैसे सकता है कि भारतीय बड़ा ही मूर्ख और काहिल होता है। हंटर कमिशन ने ईसाई धर्म और अंगरेजी शिक्षा दोनों को दो अलग अलग तत्व घोषित करके बड़ा अच्छा काम किया था। कुछ भी हो, किंतु १९०४ के भारतीय विश्व विद्यालय अधिनियम ने अपनी सीमाओं के बावजूद भी भारतीय शिक्षा के हर नेत्रोन्मुख क्षेत्र में सुधार किये। व्यापक दृष्टि से देखने पर यह प्रयास, एस. एन. मुकजी के ऊर्ध्व में "अनम्ना प्रयास" था। इसने एक व्यवस्था स्थापित कर दी। इसी बीच लार्ड कर्जन ने "रैजिस्ट्रार मान्य-मेन्ट प्रीजरवेशन" अधिनियम पारित करवाया और इस कार्य के लिये एक विभाग खोला। इस विभाग के कार्यों ने आगे चलकर प्राचीन भारतीय गौरव की भावना को सजीव एवं स्वतंत्र बनाने में सहायता दी। इससे आधुनिक हिन्दी साहित्य के सांस्कृतिक स्वरूप को निर्धारित करने में बड़ी मदद मिली। लार्ड कर्जन के काम तो अच्छे थे किन्तु उसका उद्देश्य अच्छा नहीं था। वह शिक्षा को सरकारी अफसरों के आधीन, राष्ट्रीयता की विनाशक, प्रगति विरोधी और जनता की आजादी की भावना को सत्तम करने वाली बनाना चाहता था।

राष्ट्रीयता और शिक्षा

साधारण जनता में सरकार की शिक्षा नीति के प्रति निराशा और असंतोष की भावना थी। जापान से रूस की पराजय, १९०५ में फारस में संवैधानिक राजतंत्र के बनने, १९०८ में टर्की में प्रतिनिधि सरकार के बनने, १९११ में चीन में नेशनल एसंबली के बनने, बंगमंग, और स्वदेशी आंदोलनों के परिणाम

स्वरूप उत्पन्न वातावरण ने यह भावना उत्पन्न की कि शिक्षा का स्वरूप राष्ट्रीय होना चाहिये। वैयक्तिक सुधारों में पर्याप्त दिलचस्पी दिखाई गई और आधुनिक युग में प्रथम बार भारतीय छात्र राजनीति से प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होने लगे। प्रचलित शिक्षा व्यवस्था के प्रति कुल्लम कुल्ला विद्रोह किया गया। बंगाल में नेशनल काउन्सिल आफ एजुकेशन बनी। इस आंदोलन के नेता थे गुरुदास बनर्जी, रास बिहारी घोष, टैगोर आदि। प्राइमरी से लेकर विश्व-विद्यालयीय स्तर तक की शिक्षा की योजनाएं बनाई गईं। एक नेशनल काउंसिल सौंठा गया जिसके प्रथम प्राचार्य थे अरविन्द घोष। कई राष्ट्रीय स्कूल भी सौंके गये। नवीन शिक्षा राष्ट्रीय आंदोलन का प्रमुख अंग हो गई। राजेन्द्र बाबू आदि की सहायता से महात्मा गांधी ने अपने चम्पारन अभियान के बीच ही राष्ट्रीय पाठशालाएं सौंलने के कार्य , का प्रारम्भ कर दिया था। १९१३ में सरकार ने शिक्षा का स्तर उंचा उठाने, उच्चतर शिक्षा और अनुसंधान की व्यवस्था करने, मकतबों-पाठशालाओं तथा गैर सरकारी शिक्षा संस्थाओं को सहायता देने, अध्यापकों के एज्युकेशन-पाठ्यक्रम एवं दीक्षा विद्यालय चलाने, स्त्री-शिक्षा के प्रोत्साहन आदि की ओर ध्यान दिया। फिर भी इसकी गति प्रगति एवं प्रचार-प्रसार संतोषजनक नहीं रहा। तत्पश्चात् १९१७ में कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमीशन की नियुक्ति हुई जिसकी रिपोर्ट के बारे में एस.एन. मुखर्जी ने लिखा है कि वह सुझावों एवं सूचनाओं का अजग्न द्रोत है और भारतीय शिक्षा के इतिहास में उसकी महत्ता अनुलनीय है।^१ १९१७ के आसपास लोगों में शिक्षा के लिये इतना उत्साह था कि उससे भारत का प्रत्येक बच्चा स्कूलों में पढने आ जाता किंतु इन्फ्लूएंजा, प्लेग, कालाज्वर, प्रथम महायुद्ध के बाद के आर्थिक संकट, सरकार की ठंडी वाली नीति, शिक्षा के मब में से कटौती , बेकारी आदि के कारण लोगों का उत्साह समाप्त हो गया। १९३० के आसपास सरकार और जनता दोनों ही के अन्धर शिक्षा के प्रति असंतोष पैदा हो गया। स्तर के गिरने के कारण सरकार ने शिक्षा पर होने वाले व्यय को अपठ्यय समझा और जनता ने इसे

१. 'हिस्ट्री आफ एजुकेशन इन इंडिया', पृ. २२४।

असंतोषजनक एवं अपर्याप्त समझा। जनता क्रांतिकारी सुधारों की मांग करने लगी। जागरूक राष्ट्रीय चेतना और पाश्चात्य सभ्यता के प्रति आलोचनात्मक सज्जता-प्रधान एवं आक्रोशपूर्ण दृष्टिकोण ने शिक्षा के क्षेत्र में क्रांति का आह्वान किया। दूरदर्शी आर्य समाज ने पहले से ही इस आवश्यकता का अनुमान कर लिया था और डी. ए. बी. कॉलेजों तथा गुरुकुलों की स्थापना प्रारम्भ हो गई थी। गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना १९०० ई. में ही हो गई थी। इन्द्र विद्यावाचस्पति ने लिखा है कि इन सबकी मूल भावना तो यह थी कि शिक्षा को अधिक भारतीय बनाया जाय।^१ आर्य समाज, टैगोर, गांधी, ईसाईयत, इस्लाम तथा इंग्लैण्ड आदि का हमारी शिक्षा से घनिष्ठतम संबंध था। हम थोड़े बहुत सब से प्रभावित हुए। राष्ट्रीय शिक्षा संस्थाओं में पाठ्यक्रम प्रायः अंगरेजी शिक्षा - व्यवस्था का ही रहता था। शिक्षा का माध्यम अंगरेजी की जगह हिन्दी या उर्दू कर दिया जाता था। वैदिक शिक्षा का भी गांधी जी ने प्रयोग किया और उसे असिल भारतीय स्तर पर चलाया गया। १९२१ से १९३७ तक बीच शिक्षा के क्षेत्र में अनेक प्रयोग हुए। आर्य समाज के गुरुकुल, टैगोर की "विश्वविद्यालय मारती" कर्क का महिला विश्व विद्यालय, काशी विद्यापीठ, गुजरात विद्यापीठ, तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ, जामिया मिल्लिया, आदि इसके प्रमाण हैं।

भारत में शिक्षा

भारतवर्ष में जनता की निम्नी संस्थाओं ने आरम्भिक तथा उच्च कौटि की ओर कला कौशल संबंधी शिक्षाओं के लिये बड़ा उद्योग किया है और कर रही है। १९५०-५१ में भारत में कुल २८०,२१७ शिक्षा संस्थाएं थीं जिनमें पढ़ने वालों की संख्या २५,२५६,३३६ अर्थात् समस्त जन संख्या का ५ प्रतिशत थी।

१. 'भारतीय संस्कृति का प्रवाह', पृ. १९५।

१९४८-४९ में इंग्लैंड में प्रति व्यक्ति शिक्षा-उपय ७४.५ रुपये , अमेरिका में १९४५-४६ में, ९७.३ रुपये, और भारत में १९४८-४९ में कुल २.३ रुपये था। लाला लाजपत राय ने लिखा है, "समस्त भारत में बंटी यूरोपियन जनसंख्या पर जो जो २ लाख से भी कम है वह प्रतिवर्ष प्रति व्यक्ति २५ रुपया से भी अधिक पड़ता है। अब इसकी तुलना प्रति भारतीय की शिक्षा के लिये उपय की गई तुच्छ चयनी से कीजिए। कोई राष्ट्रीयराजन कभी शिक्षा को इतनी तुच्छ वस्तु समझ सकता है जितना कि वर्तमान सरकार भारत के लिये समझ रही है, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।" १९०१ में १० वर्षों से ऊपर की आयु के ११.५ प्रतिशत पुरुष, .७ प्रतिशत महिलाएं, १९११ में १२.६ प्रतिशत पुरुष और १.१ प्रतिशत महिलाएं, १९२१ में १४.२ प्रतिशत पुरुष और १.९ प्रतिशत महिलाएं, १९३१ में १५.४ प्रतिशत पुरुष और २.४ प्रतिशत महिलाएं; १९४१ में २७.४ प्रतिशत पुरुष और ६.९ महिलाएं और १९५१ में २४.९ प्रतिशत पुरुष और ७.९ प्रतिशत महिलाएं साक्षर थीं। भारत में कुल मिलाकर १९२१ में २९,६२३,६५१; १९३१ में २३४८४२००; १९४१ में ४७३२२७०० और १९५१ में ६०,०००,००० व्यक्ति साक्षर थे। १९२१-२२ से लेकर १९३६-३७ के बीच हमारे देश में विश्व विद्यालयों में १० से १५ आर्ट्स कॉलेज १६५ से २७१, व्यावसायिक प्रशिक्षण विद्यालय ६४ से ७५ और माध्यमिक विद्यालय ७५३० से १३,०५६ हो गये। १९३६-३७ में विश्व विद्यालयों में ९६९७, आर्ट्स कॉलेजों में ८६,२७३, व्यावसायिक शिक्षा विद्यालयों में २०६४५, और माध्यमिक स्कूलों में २२८७८७२ छात्र थे। भारत में शिक्षा की इस दुर्घटना को देखकर दुःख अवश्य होता है किन्तु आश्चर्य विस्तृत नहीं होता। परिस्थितियों की चक्की के दो मयानक पाटों के बीच हम बियव होकर पिसे जा रहे थे। अंगरेजों द्वारा चलाई गई शिक्षा मयानक पाटों से भरी हुई थी और राष्ट्रीय व्यक्तियों द्वारा चलाई गई शिक्षा ग्रहण करके न हम अच्छी नौकरी पा सकते थे और न अच्छी कमाई कर

कर सकते थे। अंगरेजी कम से कम इतनी आज्ञा तो दिलाती थी कि "पढ़ोगे लिखोगे तो होंगे नवाब, खेलोगे कूदोगे तो होंगे सराब"।

दूषित शिक्षा का परिणाम

इस अंगरेजी शिक्षा में अनेक दोष हैं। सीमित विकास, अराष्ट्रीय दृष्टिकोण, भारत की जनता के जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति में असमर्थता, खर्चीलापन, अंगरेजी और अंगरेजियत की गुलामी, स्वभाव में आडंबर-प्रियता और रोब डालने की इच्छा पैदा कर देना इसकी प्रकृति है। नैतिकता और धार्मिकता से इसका कोई भी संबंध नहीं। प्रारंभ में इस शिक्षापद्धति का लक्ष्य था हिन्दुओं को ईसाइयत की ओर ले जाना, अंगरेजों को प्रशासनिक कार्यों में सहायता देने वाले हिन्दुस्तानी "जी हुजूर" को पैदा करना, आर्थिक क्षेत्र में अंगरेजी जानने वाले क्लर्क, मैनेजर और एजेंट पैदा करना, भारतीयों को अपने ढंग से "सम्य" बनाना, भारतीयों के अन्दर अंगरेजों से संबंधित होने की भावना उत्पन्न करना, और अंगरेज राज्य के अनुकूल भावना वाले वर्ग की उत्पत्ति और वृद्धि। इस शिक्षा का सर्वप्रथम परिणाम यह हुआ था कि कुछ भारतीय अपनी संस्कृति और सम्यता आदि से घृणा करने लगे थे। ये लोग स्वयं हिन्दी संस्कृत लिखने-पढ़ने को गंवरपन - भयानक मूल एवं अक्षम अपराध तो समझते ही थे। हिन्दी लिखने पढ़ने वालों को तीन-चार पीढ़ियों तक इनकी कुरतम उपेक्षा भुगतनी पड़ी है। पुजारी को मारने - मार डालने का जो पाप होता है उससे भी भयानक राष्ट्रीय, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक पाप के ये मागी हैं। दुस की बात है कि इनकी अपनी सन्तानों का स्फाया आज भी पूर्णतः नहीं हो पाया है। अस्तु, एक प्रकार से मानसिक और सांस्कृतिक अराजकता पैदा हो गई। नये और पुराने लोगों के बीच एक साईं खुद गई। शिक्षित भारतीय और सामान्य जनता के बीच भेद-भाव की एक बहुत बड़ी दुर्लक्ष्य दीवाल सड़ी हो गई। अंगरेजी

१. एक प्रचलित उक्ति

इतिहास और वास्तव की प्रशंसा करने वाली तथा भारत को गलत ढंग से पेश करने वाली थी यह शिक्षा। किसी भी डिग्री कालेज, पोस्ट ग्रेजुएट कालेज, या विश्व विद्यालय में इस शिक्षा से विभूषित ऐसे विद्वान् मिल जायेंगे जो अंगरेजी का अनिवार्य तत्त्व संघर्ष, 'विकास प्रतियोगिता से ही संभव है, 'अंगरेजी न ली होती तो भारत में राष्ट्रीयता का प्रचार न होता', 'भारतीय सुस्त और आलसी होता है', 'प्राचीन भारत ने केवल ईश्वर धर्म आदि पर ही विचार किया है', 'भारतीय रुढ़िवाही होता है' आदि। एक बार एक प्रोफेसर स साहब कह रहे थे कि भारतीय समाज मेहनत करना नहीं चाहता, सुस्त और आलसी होता है तथा जो हिन्दुस्तानी इंग्लैंड गये वे असाधारण रूप से राष्ट्रीय होकर लौटे। इस अंगरेजी शिक्षा ने हमारा मस्तिष्क इतना विकृत कर दिया है कि सही ढंग से सोच भी नहीं पाते। गनीमत यही थी कि अंगरेजी भाषा और साहित्य तथा योरोप के नवीनतम विचारों का अध्ययन मुठ्ठी भर लोगों तक ही सीमित रह गया। अन्यथा यह शिक्षा हमें कहीं का न रसती। इसी के परिणामस्वरूप अताधिक वर्षों तक हमारी शिक्षा अंगरेजी योजनाओं की नकल मात्र होकर रही। इस वास्तवपूर्ण अनुकरण का ही यह परिणाम है कि हम अपने ज्ञान का उपयोग रचनात्मक कार्यों के लिये नहीं कर पाते। हम बौद्धिक दृष्टि से अपरिपक्व हैं। जितनी परिपक्वता है भी वह इस शिक्षा की देन नहीं है। टी.एन. सिन्धेयरा ने कहा है कि पढ़े-लिखे भारतीयों का मस्तिष्क "सेन्ड हैड विचारों" से भरा रहता है। यह शिक्षा हमारे तर्कों को वास मनोवृत्ति का बना देती है। वे ऊँसरी को लुप्त रक्ती (प्लीज दि वासमेन्टेलिटी) वाली नीति के अनुयायी हो जाते हैं। जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है, 'हमारी यूनिवर्सिटी में ही ताकत की यह भावना फैली हुई है और व्यवस्था रखने के बहाने वह उन सबको कुचल डालती है जो चुपचाप उसके हुक्म नहीं मान लेते। वे ताकत उन गुणों को पसन्द नहीं करती जिन्हें आजाद मुल्कों में प्रोत्साहन दिया जाता है।' ¹ आज की शिक्षा के वास्तविक वातावरण से दूर खिन्मा, चाट और पान वाली घुसानों के

पास शहर के बीच, गंदे वातावरण से घिरी हुई जगह में दी जाती है। "रटो" आज की शिक्षा का स्वरूप है, 'यदि रटो' लक्ष्य, और 'अच्छी बेगी प्राप्त करो' उसका अन्तिम उद्देश्य है। टैगोर ने लिखा है, "आज का शिक्षक एक व्यापारी है, शिक्षा बेचता है, जाहक की सौज में है, और बेचने वाले के पास जो सामान है उसकी सूची में स्नेह, आदर, निष्ठा, अनुराग या ऐसी किसी अन्य भावना का उल्लेख भी न मिलेगा। अपनी चीजों को बेच चुकने और वेतन के रूप में वाम पा जाने के बाद उसे अपने छात्रों के साथ और कुछ भी करना शेष नहीं रह जाता।" अन्यत्र उन्होंने लिखा है कि इस शिक्षा के परिणामस्वरूप हमारा किसी भी चीज पर समुचित अधिकार नहीं हो पाता, हम किसी भी चीज को ठीक से निर्मित करके सड़ा नहीं कर सकते, हम किसी भी चीज को नीचे से ऊपर तक बना भी नहीं सकते..... इसका हमारे जीवन से कोई भी संबंध नहीं (यह)

आनन्द विहीन शिक्षा है) - ^१ फण्टरीनाथ प्रभु ने लिखा है ^२ कि समानता की भावना की दृष्टि से आज की शिक्षा-पद्धति की बड़ी विचित्र स्थिति है। जहाँ इसकी सबसे अधिक आवश्यकता है वहाँ इसका पूर्ण रूपेण अभाव है; और जहाँ यह बिल्कुल ही नहीं होनी चाहिए वहाँ आश्चर्यजनक रूप से पाई जाती है। भौतिक आवश्यकताओं की दृष्टि से छात्रों की समानता के वातावरण में रहना चाहिए। इससे छात्र मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाएँ से पीड़ित होने से बच जायेंगे। इस क्षेत्र में समानता का पूर्णरूपेण अभाव है। कोई रेखम पहनता है तो कोई फटा गवरन; कोई मक्खन - सा मुलायम जूता पहनता है तो कोई नंगे पाँव, कोई पतलून - टाई पहनता है तो कोई धोती - कमीज , कोई पार्कर से गीदता है तो कोई एम. ए. के नोट भी पैसिल से लिखता है, कोई चिकने कागज पर भी कार्टून बना लेता है तो कोई आफिस से फेंके गये रवड़ी कागजों पर नोट लिखता है; कोई धूल उड़ाता हुआ आता है तो कोई धूल फाँकता हुआ। यहाँ समानता नहीं है। समानता

१. "टुवर्डस यूनिवर्सल मैन", पृ. ७८।

२. वही, पृ. ४०।

३. "हिन्दू सोशल आर्गेनाइजेशन", पृ. ४०।

वहाँ है जहाँ एक ही कमरे में भंगी, चमार, धोबी, सुनार, वकील, प्रोफेसर, मिलमालिक, मजदूर, और राजा-तालुकदार के लड़कों को एक साथ बिठाकर (शायद यह सोच कर कि सबसे पास एक-सी धारणा है, एक-सी ग्राहिकावृत्ति एक-सी रुचि, एक-सी आवश्यकता) एक ही पाठ्यक्रम पर एक ही अध्यापक से व्याख्यान दिलवाया जाता है। यह जनतंत्र है! यहाँ कारीगरी और व्यापार में रुचि रखने वाले छात्रों को भी सेक्सपियर की "कामेडी आफ एरर" पढाई जाती है। यहाँ मावी माता और भावी पिता को भी और वर्तमान माता और वर्तमान पिता को भी एक ही चीज पढाई जा सकती है। परीक्षा-पद्धति भी अत्यन्त दोषपूर्ण है। सारी योज्यता रखता हुआ भी छात्र यदि उन प्रश्नों का उत्तर परीक्षक के दृष्टिकोण से ठीक नहीं लिखता तो अयोग्य है। वर्ष भर के अध्ययन पर पानी फिर जाय यदि परीक्षा के दिनों में कोई बीमार हो जाय। परीक्षण का कार्य नितान्त औपेक्षिक, मनोवैज्ञानिकता से वृन्मय और आर्थिक व्यापार जैसा हो गया है। इसकी कल्प व्यावहारिक एवं प्रचलित बेइमानी से सभी परिचित हैं पर कोई बौता नहीं। उसे मौन स्वीकृति मिल गई है। अच्छे से भी अच्छे अध्यापक का भी यह एक उद्देश्य रहता है कि वह विद्यार्थी को परीक्षा पास करा दे, न कि यह कि वह विद्यार्थी को विषय की सच्ची और सही जानकारी दे और ठीक से समझाए। आधुनिक युग में बौद्धिक विकास एवं नैतिक उत्थान के पारस्परिक पृथक्करण के कारण शिक्षालयों का सामाजिक स्थान वाला रूप नष्ट प्रष्ट हो गया है। जीवन की व्यावहारिक क्षेत्र नैतिकता के आचरण से वंचित हो गया है। खेल के क्षेत्र की ईमानदारी व्यापार में कहीं नहीं दिखाई पड़ती। स्कूल जीवन का समाज की व्यावहारिक व्यवस्था से कोई भी संबंध नहीं रह गया है। भारतीय छात्र का मन और दृष्टिकोण विषाक्त है। उच्चतम धारणाओं के लिये कोई भी संभावना नहीं। जीवन आडंबरपूर्ण है। उसमें झूठ भरपूर है। जीवन के सभी क्षेत्रों में कूटनीति की प्रधानता हो गई है।

सच्ची शिक्षा के प्रयत्न भी असफल

सच्ची शिक्षा को व्यवहार में उतारने के लिये जो प्रयत्न हुए भी वे परिस्थितियों के कारण सफल नहीं होने पाये। धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है, "शासन के संरक्षण के अभाव में आर्य समाज द्वारा संवालिष्ठ गुत्तुल तथा कांग्रेस आंदोलन की प्रेरणा द्वारा स्थापित विद्यापीठ अधिकसफल नहीं हो सके। महामना मालवीय जी द्वारा स्थापित हिंदू विश्व विद्यालय भी ऐंग्लो इंडियन संस्था ही बन कर रह गई। महात्मा गांधी की प्रेरणा से वैदिक शिक्षा संबंधी प्रयोग हुए.....।" अधिक सफल न होने पर भी इन शिक्षा संस्थाओं ने राष्ट्र हित का वातावरण पैदा करने और भारत को कल्याण मार्ग की ओर अग्रसर करने में अपना-अपना महत्वपूर्ण योग दिया है। उदाहरणार्थ गुत्तुल कांगड़ी के विषय में लिखते हुए आचार्य चतुरसेन आस्ट्री ने लिखा है, "यह एक ऐसा वैदिक विद्या मंदिर था जहाँ यूनिवर्सिटियाँ तथा पाश्चात्य शैली का संयोग त्याग किया गया था। वैदिक धर्म और वैदिक संस्कृति का भारत में प्रचार करना इस विद्या मंदिर का मूल मंत्र था। यहाँ के विद्यार्थियों को प्राचीन भारतीय गुत्तुल प्रणाली पर ब्रह्मचारी वेश में अनागरिक वृत्ति से रहना पड़ता था। उनके लिये धार्मिक शिक्षा और अनुष्ठान भी अनिवार्य थे। यद्यपि उन्हें संस्कृत की शिक्षा दी जाती थी पर उनकी शिक्षा का माध्यम हिन्दी में था। जिज्ञासु मुंशी राम के इस सहयोग से लोगों के मन में अपनी भाषा, अपने वेश और अपनी संस्कृति के प्रति अज्ञा के भाव उत्पन्न हुए। यहाँ के सुनातक आने चकर प्रथम श्रेणी के मेधावी, निर्भीक लेखक सिद्ध हुए और उन्होंने हिंदी साहित्य को विचार विज्ञान तथा प्रगति से ओतप्रोत कर दिया। जिज्ञासु मुंशी राम स्वयं एक आचार्य लेखक, वक्ता और सम्पादक की हैसियत से हिंदी के एक स्तम्भ रहे और उन्होंने आधुनिक हिन्दी को प्राण दान देने वाले मेधावी शब्दों का एक अटूट सरना ही सौंच दिया।" इसी प्रकार हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने हिंदी भाषा और साहित्य

1. मध्यमेश - ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक सिंहावलोकन, पृ. 109।

2. 'हिन्दी साहित्यका परिचय', पृ. 106।

के जीवन दर्शन में रीढ़ की हड्डी का काम किया है।

दुष्टि शिक्षा, दुष्टि दृष्टिकोण : महा अनर्थ

चूंकि शिक्षा पद्धति और उसकी पृष्ठभूमि में ठ्यापत जीवन-दर्शन का स्वरूप भारत की सांस्कृतिक एवं जातीय नहीं था, इसलिये उसका परिणाम प्राचीन भारत से विपरीत होना ही था। इस दृष्टिकोण से सबसे पहली बात यह हुई कि ब्राह्मणों का बौद्धिक एवं शैक्षणिक एकाधिकार समाप्त हो गया। जातिवाद पर आधारित सामाजिक छोटवाई-बड़ाई की भावना पर भी इस शिक्षा पद्धति ने आघात किया। इस शिक्षा ने जीवन में धन और नौकरी का महत्व बढ़ा दिया। और ज्ञानार्जन का महत्व बिल्कुल समाप्त कर दिया है। सम्पूर्णानन्द जी कहते हैं "यह हमारी शिक्षा पद्धति का बड़ा दोष है कि वह ज्ञान पिपासा नहीं जगाती। लोग किसी प्रकार परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाते हैं, फिर पुस्तक में हाथ नहीं लगाते। जगत के ज्ञान भंडार में नित्य वृद्धि हो रही है परन्तु पढ़ाई समाप्त करने के बाद हमारे स्नातक उसकी ओर आंस उठाकर नहीं देखते।" एक सीमित क्षेत्र में उदार विचार वाले और उदारधारणाओं वाले बी.ए.पास भारतीयों का एक नया ही वर्ग भारतीय समाज में पैदा हो गया जिसकी कुछ अपनी विशिष्टताएं थीं। एक नये ढंग की ठ्यापता यह गतिशीलता दिखाई पड़ी - भले ही वह कितने ही सीमित वर्ग के अन्दर क्यों न हो। इसने हमारे दृष्टिकोण को बहुत कुछ उपयोगितावादी कर दिया। हम लोग यह अच्छी तरह समझ गये कि जिस काम से अपना कुछ फायदा न हो वह काम कभी भी न करना चाहिए। धन, पद और मान कमाने के साधन के रूप में ही शिक्षा की उपयोगिता है। नौकरी के अतिरिक्त भी अध्ययन का और कोई उद्देश्य हो सकता है - यह इस बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में हमारी समझ में नहीं आया था और इसमें कोई संदेह नहीं कि प्रचलित शिक्षा व्यवस्था के प्रसंग में यह धारणा नितान्त निर्मूल भी

१. "हिन्दू स्मृतियाँ और कुछ स्मृत विचार", पृ. १८४।

नहीं थी। कुछ विचारकों का मत है कि इस शिक्षा से कुछ विशेष लाभ हुए हैं। सबसे बड़ा लाभ तो यह हुआ कि हमने ढीला-ढाला और भद्दा कपड़ा पहनना छोड़कर कोट-पतलून टाई पहनने का महत्व सीख लिया। दूसरा लाभ यह हुआ कि चक्रवर्ती राज गोपालाचार्य जैसे उच्च कोटि के देशभक्त और विचारक व्यक्तियों की समझ में यह बात आ गई कि यदि भारत में अंगरेजी को राजभाषा के रूप में हमने स्वीकार नहीं किया गया तो जिस हिन्दी ने देश के दो टुकड़े करवा दिये वह देश को टुकड़ों-टुकड़ों में बांट देगी। इसी शिक्षा-पद्धति के कारण - और केवल इसी अंगरेजी के कारण ही - रामकृष्ण परम हंस, विवेकानन्द, दयानन्द, तिलक, गांधी, नेहरू, सुभाष आदि भारत के सपूतों के अन्दर राष्ट्रीयता की भावना पैदा हुई!! हम यह भी समझ गए कि अंगरेजी शिक्षा न होती तो हम यह कभी न समझ पाते कि स्वतंत्र इकाइयों वाले प्रदेशों से विनिर्मित होकर भी भारत मूलतः एक राष्ट्र है!! अंगरेजी शिक्षा न होती तो हम सारे भारत के लिये एक राज्यशासन, एक संविधान, एक सैनिकानुन, एक-सी शिक्षा की कल्पना भी न कर पाते!! अंगरेजी के अभाव में हम सारे भारत को शिक्षित न कर पाते। पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान का अनंत कोष अंगरेजों द्वारा प्रचलित शिक्षा पद्धतियों के बिना हमें सुलभ न हो सकता!! इसके बिना हमें रेल, तार, डाकघर, बैंक, मोटर, कपड़े की मिलें आदि न मिल सकतीं!! इसके बिना हम पश्चिम के युक्तिवादी और जनतन्त्रात्मक विचारों से कैसे परिचित हो पाते!! जिस तरह से अंगरेजों ने हमें पढाया-लिखाया है उस तरह से यदि हम न पढते-लिखते तो विश्व साहित्य के समुद्रतम अंग - अंगरेजी साहित्य - तक हम पहुँच ही न सकते, उससे लाभ उठाना तो दूर की बात है। इसके बिना तो हम विश्व साहित्य की कल्पना भी नहीं कर सकते थे। राज्य और परिस्थितियों की दूरताओं के विषय में जो कुछ भी कहा जाय, कम है। पराधीनता के वातावरण में पले हुए बुद्धिवादियों की चिंतन पद्धति भी कैसी विचित्र और उसके निष्कर्ष भी कैसे दयनीय होते हैं।

पूर्वोक्ती प्रसाद मुखर्जी ने अंगरेजीद्वारा प्रचारित शिक्षा-पद्धति का

उल्लेख करते हुए उसके बारे में मेहिधू का यह विचार उद्धृत किया है कि जिस सरकार ने यह सिद्धान्त निकाला और उसे व्यवहार में उतारा है उसकी जमकर और कसकर पिटाई होनी चाहिये क्योंकि ऐसा करके उसने सामान्य जनता और वर्गविशेष, गाँव और शहर, पूर्वी और पश्चिमी विचार पद्धतियाँ और जीवन - पद्धतियों के बीच एक बड़ी साईं सोद दी। संसार की दो महान जातियाँ - अंगरेज और भारतीय - के बीच प्रजातीय वैमनस्य पैदा कर दिया। इस शिक्षा को देखकर मन में यह भावना दृढ़ होती है कि शिक्षा एक ऐसी आराम की चीज है - भोग विलास का साधन है। यह एक ऐसा व्यापार है कि जिसमें पढ़े-लिखे लोग अपना धन इसलिये लगाते हैं कि बाव में उन्हें मुनाफा होगा। इस शिक्षा पद्धति ने सौ-सवासी रुपये महीने की कीमत का जो नकलची सोसला बबुआ (बाबू) वर्ग पैदा कर दिया है वह रंग और रून से भारतीय किन्तु रुचि, विचार, नैतिकता और बौद्धिकता की दृष्टि से ऐसा अधिकतर अंगरेज है जिसे भारत की सभ्यता और संस्कृति, ज्ञान और विज्ञान, मूल्य और उपलब्धि, क्षमताओं और संभावनाओं का न कोई ज्ञान है और न उन पर किसी प्रकार की आस्था। प्रख्यात उर्दू कवि और कुख्यात बुद्धिवादी भी रघुपति सहाय 'फिराक' सौत्र जब मैंने इस डी.लिट. के विषय में कुछ विचार-विनिमय करना चाहा तो वे बोले, 'पहले यह बताओ कि क्या तुम भारत की हर चीज को - सभ्यता और संस्कृति को - कुड़ा, धूर, बिछटा समझते हो या नहीं। अगर नहीं हमझते तो डी.लिट. तो बहुत बड़ी बात है, तुम कोई भी उल्लेखनीय कार्य नहीं कर सकते। बिछटता उनके द्वारा उच्चरित बुद्धों को वैसे का वैसा ही लिखने से मना करती है। परिपक्व 'फिराक' को मैं अंगरेजी शिक्षा पद्धति की देन का सर्वश्रेष्ठ प्रतीक समझता हूँ। लार्ड हाडिंज के इस निरचय ने, कि सरकारी नौकरियों में अंगरेजी स्कूलों से पढ़कर निकले हुए लोगों को प्राथमिकता दी जायगी, अंगरेजी पढ़ने वालों की संख्या बढ़ा दी। फिर विश्वविद्यालय खुले और भारतकी शिक्षा का भविष्य उनके हाथों में केव ली गया।

१. "माडर्न इंडियन कल्चर", पृ. ८६।

हिन्दी और हिन्दी वालों का अद्वितीय महत्व

इस शिक्षा-पद्धति रुपी राक्षस के विदूषों से विनिर्मित वातावरण के फौलादी, घेता नी एवं दूर बंगुल में जकड़े जाकर भी हमारे साहित्यिकों ने हमारे आधुनिक हिन्दी साहित्य की सृष्टि की है। आज लोग बड़ी शान एवं बड़े रौब से कहते हैं कि हिन्दी का साहित्य उतना समृद्ध नहीं है जितना अंग्रेजी का। विधि की बिड़बना ही तो है कि १९ वीं और २० वीं सताब्दी के जिस साहित्य पर अंग्रेजी के मानस पुत्रों को इतना गर्व है उसकी नींव जिन दिनों पड़ रही थी उन दिनों भारत की आत्मा, उसका हृदय और उसका शरीर कुछ अपनी ही कमजोरियों के परिणामस्वरूप अंग्रेजी साम्राज्यवाद के चरमराते और हुमकते हुए बुटों के नीचे छटपटा रहा था। धन का लोभी अधिकारी हमारे श्रम और हमारी प्रतिभा को गीले कपड़े की तरह निचोड़ निचोड़ कर निःशेष कर रहा था। नकि साथ ही यह भी कह रहा था कि पूर्वी जगत का समस्त साहित्य अंग्रेजी साहित्य के पुस्तकालय की किसी एक अल्मारी के एक साने के साहित्य के भी बराबर नहीं है। चायद किसी भी बड़ दिमाग अधिकारी ने इससे अधिक जोर-दार छुट्टों में किसी भी समृद्ध और सत्साहित्य का इससे ज़े अधिक अपमान न किया होगा। हमारे शरीर को घावों से छलनी करके आप कहते हैं कि इसका शरीर कमजोर और बचसूरत है। हमने उपेक्षापूर्ण वातावरण में लहसड़ाते हुए पैरों से चक्कर सा-साकर, बेहोशी के झोंकों में झूम-झूम कर पस्त मन और जहरीली शिवा से भरे मस्तिष्क^{के} सोचस्मर कर हांकते, गिरते-पड़ते, मिटते-मिटते अपने आधुनिक साहित्य की रचना की है। हमने स्याही से नहीं, अपने पश्चिम की उज्ज्वल और रक्त की लाल चूंदों से लिखा है। कागज पर नहीं, परिवार वालों की सुन-सुविधा की लावों पर लिखा है। प्रवृत्ता से प्रोत्साहित होकर नहीं, ठकंय मरी मुस्कानों, कटूकित्तयों और छटपटवा देने लहजों से पीडित होकर लिखा है। हिन्दी वालों के इस त्याग और बलिदान का मूल्य कौन आंकेगा! उन्होंने हारी हुई बाजी जीती है। उनसे झुलें हुई और वे इस कुशिक्षा एवं कु-

ठयवस्था के परिणामस्वरूप चरित्र में अनिवार्य रूप से उत्पन्न होने वाले दोषों और कमजोरियों से ग्रस्त भी रहे। और, हम यह भी स्वीकार करते हैं कि पिछली दो सताब्दियों का अंगरेजी साहित्य अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध है। हम यह सब स्वीकार करने में हिचकते नहीं क्योंकि हम अपने सामर्थ्य और अपने भविष्य के गौरव के ऊपर असंशय विश्वास है। हम मानते हैं कि "कार्यसिद्धिः स्वयं भवति महतां नोपकरणे"। हम देख रहे हैं कि तुलसी और सूर जागरण की करवटें ले रहे हैं और मिल्टन और शेक्सपियर की बेचैन आंखें एक दूसरे को अर्थपूर्ण दृष्टि से देख रही हैं। इस अंगरेजी शिक्षा का हमारे ऊपर प्रभाव पड़ा है और निश्चित रूप से पड़ा है। तभी तो प्रसाद कालिदास जैसे महान न हो सके पाये, तभी तो निराला जैसे "राम की शक्तिपूजा" और "तुलसी दास" तक ही पहुंच पाए, "रामचरितमानस" की नवीन अवतारणा न कर सके, तभी तो महादेवी मीरां न हो^{पा}ई; तभी तो पंत की कला और बिहारी की कला में इतना अन्तर रह गया; तभी तो भारवि, माघ, बाणभट्ट की अवतारणा की प्रतीक्षा की अवधि समाप्त न हो^{पा}ई। सांस्कृतिक विघटन रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्यों की पुनर्दृष्टि में बाधक हो रहा है। प्रयत्न सही दिशा की ओर अब अभिमुख हुए हैं। कदम मेंबिल की ओर अब उठने लगे हैं। उपलब्धि में समय तो लगेगा ही। जिस अंगरेजी का हमारा साथ एक सताब्दी से भी अधिक समय तक रहा उससे हम पूर्णतः अप्रभावित रहते-यह असंभव था। इसलिये वर्तमान हिन्दी साहित्य मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य से भिन्न हो गया है। इसलिये भारतेंदु और द्विवेदी से लेकर गुप्त और अज्ञेय तक सब पर इस्का योडा बहुत प्रभाव पड़ा है।

गांधी और शिक्षा

भारत में अंगरेजी शिक्षा के प्रचार के साथ ही साथ राष्ट्रीयता की भावना का प्रचार भी प्रारंभ हो गया था। इसीलिये अंगरेजी शिक्षा ठयापक रूप से देश का सम्पूर्ण सत्यानाश नहीं करने पाई। उसके विपरीत देश की महान प्रतिभाओं ने पहचान लिया था और इसलिये उसके विरुद्ध प्रचार भी होने लगा

आडंबर शून्यता की शिक्षा की ओर ले जाना, एकमात्र बौद्धिकता, विश्लेषणात्मकता एवं सिद्धान्तवादिता की अपेक्षा उसमें रागात्मकता, नैतिकता, धार्मिकता, रचनात्मकता एवं व्यावहारिकता का भी समावेश गांधी जी की शिक्षानीति का स्वरूप था। इसके लिये उन्होंने मातृभाषा के अध्ययन पर जोर दिया था। मातृभाषा को केवल शिक्षा का माध्यम ही नहीं बनाना चाहिये बल्कि मापाप्राप्ति में इसकी प्रमुख स्थान मिलना चाहिए। गांधी जी का विचार था कि हिंदी-उर्दू दोनों का ज्ञान प्रत्येक भारतीय बच्चे को और संस्कृत का ज्ञान प्रत्येक हिंदू बच्चे को अवश्य होना चाहिये। गांधी जी ने हिंदी भाषा इसलिये अपनाई थी कि उससे सभी काम सौकर और सभी का काम चल सकता है। धर्मनिरपेक्षता, धार्मिकता, वार्त्तिकता, व्यापार, विज्ञान और उत्पादन आदि सभी क्षेत्रों के कार्य हिंदी में हो सकते हैं। हिंदी राष्ट्र की एकता का साधन और वाहन है - यह गांधी जी जानते थे। इसीलिये उन्होंने हिंदी अपनाई थी। बाकी, उन्हें हिंदी साहित्य से न कोई विशेष प्रेम था, न द्वेष - और न शायद इसके लिये कोई कारण ही था। निराला ने लखनऊ कांग्रेस के अवसर पर उनसे जो मेट की थी (जिसका उल्लेख उन्होंने 'प्रबन्ध' प्रतिमा' में किया है) उससे यही निष्कर्ष निकलता है। अंगरेजी शिक्षा और उसके परिणाम के बारे में गांधी जी के जो विचार थे उसका उल्लेख राजेन्द्र बाबू ने इस प्रकार किया है, 'समा में किसी ने महात्मा जी से प्रश्न किया कि आप अंगरेजी शिक्षा के विरुद्ध क्यों हैं - अंगरेजी शिक्षा ने ही तो राजा राम मोहनराय, लोकमान्य तिलक और आपको पैदा किया है। महात्मा जी ने उत्तर में कहा - मैं तो कुछ नहीं हूँ, पर लोकमान्य तिलक जो हैं उससे कहीं अधिक बड़े हुए होते यदि उनको अंग्रेजी द्वारा शिक्षा का बोझ ढोना न पड़ा होता! राजा राममोहन राय और लोकमान्य तिलक भी चंकराचार्य, गुरु नानक, गुरु गोविन्द सिंह और कबीरदास के मुकाबले में क्या हैं? आज तो सरकार के और प्रचार के इतने साधन मौजूद हैं। उन लोगों के समय में तो कुछ नहीं था तो भी उन्होंने विचार की दुनिया में कितनी बड़ी क्रान्ति मचा दी थी।' प्रत्ययः लोग कहते हैं,

कि अंगरेजी बुरी नहीं है, बुरा है साम्राज्यवादी अंगरेज और इसलिये हमें अंगरेजी साहित्य अवश्य पढ़ना चाहिए। हम कहते हैं कि अंगरेजी साहित्य ही क्यों, दुनिया में बुरा तो कुछ भी नहीं है परन्तु क्या हम सबको पढ़ा करेंगे। इसी साहित्य भी तो बुरा नहीं, फ्रांसीसी साहित्य भी तो बुरा नहीं है, यूनानी साहित्य भी तो बुरा नहीं है; फिर अंगरेजी ही पढ़ने का आग्रह क्यों? इसीलिये न कि उसे कमी हमें मजबूरन पढ़ना पड़ा था और हमें अपनी ही बैडियाँ हथकड़ियाँ से - जेल की चहारदीवारियाँ से - मोह हो गया है। हर भाषा और साहित्य की अपनी अपनी सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि होती है। उसमें पूर्ण स्नातक हुए बिना हम उसकी सांस्कृतिक बारीकियाँ से अपरिचित रहकर उस साहित्य की वास्तविकताओं-व्यंग्य-विभूतियों से संबंधित रह जायेंगे। इसीलिये कई जनम भारत में पैदा होकर भी और हर जनम में केवल अंगरेजी पढ़कर भी हम अंगरेजी साहित्य के अमर साहित्यकार नहीं बन सकते। टेगोर में कम प्रतिभा नहीं थी। विचित्र बात है कि लोग अंगरेजी के प्रोफेसर की कल्पना धोती-कुरते में और हिन्दी और संस्कृत के एम.ए. की कल्पना पतलून टाई कोट में नहीं कर सकते। मेरे एक मित्र संस्कृत में एम.ए. हैं और उनके पास कई गोल्ड मेडल हैं। वे सदैव मैकाले द्वारा निश्चित की गई वेष्ट-भूषा ही धारण करते हैं। वे सबके लिये आश्चर्य, कौतूहल, जिज्ञासा एवं ठयेंग्य के विषय बने हैं। छात्राएं उन्हें "पंडित इन सूट" की उपाधि देती हैं। इसका कारण है नियत सांस्कृतिक भावचित्रों का वैषम्य एवं वैपरीत्य। वह दूसरी संस्कृति की चीज है; यह दूसरी संस्कृति की। हमें हिन्दी संस्कृत इसलिये अपनानी चाहिये कि वह हमारी सांस्कृतिक विभूति है, हमें अंगरेजी इसलिये छोड़नी है क्योंकि वह हमारी आत्मीय नहीं, हमारी संस्कृति से उसका कोई मेल-कोई अनुरूपता नहीं। अंगरेजी अंगरेजिता लाती है, अतएव त्याज्य है। हमें अंगरेजी की वासता से असंतोष है, दोस्ती से नहीं; और हुआ कुछ ऐसा कि हमें अंगरेजी की वासता एवं उसके आतंक में रहना पड़ा है।
भारतीयों ने अंगरेजी हमारे घर में घुसी, दुलहिन या कुलवधू बन कर नहीं - मेम

तब आत्मा के स्तंभों की भाँति यदि रामकृष्ण, दयानन्द, विवेकानन्द, तिलक, गांधी, टैगोर, महामना मदन मोहन मालवीय आदि न होते तो हम क्या हो जाते - यह सोचकर मन कांप जाता है। वारांगना अंगरेजी हमारे घर में घुसी दुलहिन या कुलवधू बन कर नहीं - मेम साहब बनकर! बड़ी-बूढ़ी सास (संस्कृत) को अवमानना एवं तिरस्कार के तर्मावृत्त कोने में ढकेल दिया। कुलवधू हिन्दी को असम्य सेविका की गई-गुजरी स्थिति में ला पटका! हमसे कहती रही कि तुम मूर्खतापूर्ण ! हमने माँ से नाता तोड़ा। जीवन-संगिनी को हीन समझना प्रारम्भ कर दिया। बलरत्न लादी गई प्रेमिका की भाँति उसने हमारे घर के वातावरण को अपनी रुचि और अपनी प्रवृत्ति के अनुरूप परिवर्तित कर लिया। ससुराल को "सेक्रेड हैंड" मायका बना लिया। हम न अपने रहगये; न विराने हो पाये। हम यह सोचने लगे कि जैसे अंगरेज बोलता है यदि वैसे ही हम न बोल पाये तो असम्य और पिछड़े हुए रह जायेंगे। राजेन्द्र बाबू ने लिखा है, "अभी तक लोगों के मन में अंगरेजी भाषा के लिये यह मोह था कि बचपन से ही अगर यह नहीं पढाई जायगी तो इसका पूरा ज्ञान नहीं हो सकेगा और हमारे युवक संसार की होड में पीछे रह जायेंगे।" ऐसी प्रवृत्ति वाले लोगों का अभाव सन् १९६३ में भी नहीं है। अंगरेजी बोलकर रोब का और हिन्दी बोलने में आत्म हीनता का अनुभव करने वालों का बहुमत अब भी है। "देखिए, मेरी फाठम्टेन पेन से हिन्दी न लिखिएगा, सराब हो जायगी" कहने-वाले बहुत दिसे हैं किन्तु स्पष्ट रूप से औरवान के साथ यह कहने वाला, "देखिए, मेरी इस कलम से अंगरेजी न लिखिएगा, यह इसकी पवित्रता का अपमान होगा" मैंने अपने इस अल्प जीवन और अल्प अनुभव के सीमित क्षेत्र में केवल मुखर आचार्य रामकुमार वर्मा को ही पाया। मस्तिष्क में अंगरेजी इतनी मर गई कि अध्ययन और चिंतन की स्पर्शा पर पश्चात्त्य प्रभावों की अधिकता हो गई। अनुकरण की प्रवृत्ति बढ गई। स्वतंत्र दृष्टिकोण, स्वतंत्र चिन्तन एवं मौलिकता का प्रायः अभाव हो गया। जैसे शिक्षा जनता के जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति में असमर्थ थी,

वैसे ही साहित्य-जीवन एवं जन-मानस की आवश्यकताओं को पूर्ण करने में असमर्थ रहा। वास्तविक जीवन से वह बहुत दूर पड़ गया। साहित्य में सैद्धांतिकता, अध्ययन और चिन्तनात्मकता की प्रधानता हो गई, क्योंकि जीवन से विच्छिन्न बुद्धि, शिक्षा का भी स्वरूप यही था। उन्मूलित मध्यवर्ग द्वारा सृजित साहित्य में वास्तविक जीवन के सजीव चित्रों की आशा दुराशा ही है। इस साहित्य में मध्यवर्गीय शिक्षित वर्ग की प्रवृत्तियाँ, मनोवृत्तियाँ और दृष्टिकोणों की प्रधानता है। सान्तिप्रिय द्विवेदी लिखा है, "हमारे काठ्य में छाया-वाद के उठने तक जो सुख-दुःख चला आया है वह जनता की सुख-दुःख न होकर कुछ सीमित व्यक्तियों का राजसी अभ्यास रहा है। राजा के मुकुट की तरह उसमें भी एक कला है, किंतु उसमें उस बहुसंख्यक मानव जगत का यथार्थ नहीं है उसमें राजा और राज कवि नहीं हैं किन्तु उसमें जो कवि हैं वे उसी मध्यकालीन व्यवस्था से उत्पन्न सुख-दुःख के परिणाम हैं.....।" पश्चात्य साहित्य की प्रवृत्तियों का कुछ ने अनुकरण करना चाहा किन्तु वे भूल गये कि साहित्यिक प्रवृत्तियाँ सामाजिक वातावरण से उद्भूत होती हैं। इसके प्रतिकूल यदि मानसिक और बौद्धिक विलास के लिये उन्हें कहीं से लेकर उसके अनुसार लिखना प्रारम्भ कर दें तो लिख तो कुछ न कुछ जायगा ही किंतु वह शरबत और सत्साहित्य नहीं हो सकेगा। इसीलिये आधुनिक पश्चात्य साहित्य की अपेक्षा आधुनिक हिंदी साहित्य कला और मूल्य की दृष्टि से कुछ कम उत्कृष्ट है। इसी युग में उच्च कवियों में हिन्दी का अध्ययन अध्यापन प्रारंभ हुआ था। अतएव विद्यार्थियों के लिये लिखे गये साहित्य की मरमार हो गई। आलोचनात्मक साहित्य तो अधिकतर इसीलिये ही लिखा जाता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि यह आलोचनात्मक साहित्य - अपवादों को छोड़कर - उस कोटि तक नहीं उठ पाया है कि पश्चात्य आलोचना साहित्य से टक्कर ले सके। उसमें बौद्धिक दृष्टि से पूर्ण परिपक्वता नहीं मिलती।

क्या हिन्दी अंगरेजी की मुलापेक्षी है ?

यदि हिन्दी साहित्य केवल इसी शिक्षा-पद्धति का परिणाम होता तो उसकी स्थिति कितनी नगण्य होती इसकी कल्पना करने को मन नहीं करता। कहते हैं कि विषमिला हुआ भोजन सिला देने के पश्चात् दुर्योधन ने वैसुध भीम को नदी में फेंका दिया। डूब कर वे पाताल पहुंचे जहां नागों ने उन्हें डसना प्रारम्भ कर दिया। आश्चर्य कि नागों के विष की प्रतिक्रिया के परिणाम स्वरूप भीम हिन्दी दुर्योधन के विष से मुक्त हो गये। तो, क्या यह माना जा सकता है कि विष अच्छी चीज है। विष ने भीम को भीम नहीं बनाया। उनकी आन्तरिक शक्ति और क्षमता उनके अन्दर पहले ही से थी। विष ने ही विष को नष्ट किया। भीम को अब विष से कोई भी संबंध नहीं रखना चाहिये - वास्तव में कदापि नहीं। यदि भीम को हिन्दी, दुर्योधन को अंगरेजी साम्राज्यवाद, शूद्रोपनिषद् और उपनिषद्वाद को पाताल मान लें तो अंगरेजी को नागों का विष मानना पड़ेगा। हम यह नहीं मान सकते कि भीम रूपा हिन्दी का इस विष से कल्याण हुआ है। हम कहना चाहते हैं कि यदि अंगरेजी न आई होती और हिन्दी ने स्वतंत्र रूप से स्वस्थ ढंग से विकास किया होता, तो हिन्दी आज की हिन्दी की अपेक्षा कहीं अधिक सक्षम समर्थ और सम्मन होती। पृथ्वीराज रासो से जो 'रामचरितमानस और सूर सागर' तक की गौरवपूर्ण ढंग से यात्रा कर सकती है वह उसके बाद 'कामायनी' अथवा 'राम की शक्तिपूजा' तक ही रह जाय, यह आश्चर्य है ! यह ऊर्ध्वगति, यह अधोगति!! हिन्दी वही की वही है - अंतर केवल यह हुआ कि तब अकबर महान का राष्ट्रीय शासन था और इस काल में अंगरेजी राजा - सम्राट का - मुकुट का - अराष्ट्रीय शासन था। कहानी केवल इतनी है कि हमारी तन्त्रावस्था में डाकुओं ने हमारे घर पर अधिकार जमा लिया। जब हमारे पास कोई और चारा नहीं रह गया तब हमने उनका स्वरूप - उनका मुसौटा - उनकी विदधा - अपना ली जो उनके द्वारा प्रचारित जीवन

विद्या के अनुकूल भी थी। हमारी आत्मशक्ति थी, उनका मुसौटा था। हिन्दी इस नये रास्ते पर भी सफलतापूर्वक चली। अंगरेजी शिक्षा के प्रसार के साथ ही साथ राष्ट्रीयता का भी प्रसार हुआ था। पृष्ठभूमि में था ३१५ वर्षीय ताबूदी के उत्तारार्ध के महान् सांस्कृतिक पुनरुत्थान का अभूतपूर्व पूर्ण फल। अंगरेजी का विष उसके कारण अधिक प्रभावशाली न हो पाया। हिन्दी में असाधारण आत्मशक्ति थी। आत्मोत्थान की इच्छा एवं तत्संबंधी प्रयास प्रारम्भ हो गये। हिंदी का अधिकांश भाग उसी का परिणाम है।

ज्ञान का शिक्षा से अभिन्न संबंध होता है। अशिक्षित जनसमूह के लिये ^{ज्ञान} ~~ज्ञान~~ का अर्जन प्रायः असंभव हो जाता है। अपने देश की स्थिति यह थी कि अंगरेजी शिक्षा-पद्धति के कारण नब्बे प्रतिशत से भी अधिक जनता अशिक्षित रह गई। इधर, रामकृष्ण परम हंस, विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ आदि के उपदेश हम तक अंगरेजी भाषा के माध्यम से ही पहुंचते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि नब्बे प्रतिशत से भी अधिक जनता तक सांस्कृतिक पुनरुत्थान का फल नहीं पहुंचने पाया। बहुत लोग तो आज तक भी उसी वंचित रह गये हैं। यही कारण है कि आत्मोत्थान की इच्छा एवं तत्संबंधी प्रयास थोड़े ही लोगों द्वारा संभव हो सके। एक आर्य समाज ने, जिसने हिन्दी को सम्पूर्ण मान्यता दी थी, जनता तक पहुंच कर ऐसी क्रान्तिकर दी थी कि लोग चकित हो उठे, एक कांग्रेस ने हिन्दी को अपना कर सारे देश की कायापलट करके संसार को विस्मय निमग्न कर दिया। यदि परिस्थितियाँ अनुकूल होतीं और उचित समय पर समस्त जन जनता के अन्दर, सांस्कृतिक पुनरुत्थान का फल पहुंच सका होता तो भारत वर्ष की रूपरेखा अब तक कुछ और ही होती तथा हिन्दी का भी स्वरूप कुछ और ही होता। कारण यह है कि इस समय हिन्दी में जो कुछ है वह कुछ मुदूठी मर लोगों के त्याग, बलिदान, तपस्या, चेतना और अनुभूति का फल है। हुआ यह कि उस प्रतिशत से भी कम लोग शिक्षित हो पाये। उनमें से भी बहुत कम लोग अच्छे

दंग से और ऊंची कवालों तक पढ़ पाये। सुशिक्षितों में से अधिक लोग हिन्दी का तिरस्कार करने और अंगरेजी के भक्त और अनुयायी बनने में अपने को मग्न गौरवान्वित समझने लगे। अल्प शिक्षितों में से अधिकांश अंगरेजी के लिये तरसने और जितनी तथा जैसी भी हो सके, अंगरेजी बोलने लिखने में अपने को बड़ा और गर्वान्वित समझने लगे। बहुतों को यह कहते हुए सुना गया है कि अमुक सज्जन ने पढ़ा-लिखा तो कुछ सास नहीं मगर जब अमुक साहब यहाँ आया था तो उसके सामने ये फर फर फर फर अंगरेजी बोले कि वह भी दंग रह गया और बहुत बड़िया सर्टिफिकेट दे गया। बड़े गर्व से ये वह सर्टिफिकेट दिखलायें करते थे!! तात्पर्य यह है कि भारतवर्ष के जितने लोग पढ़-लिख भी सके उनमें से भी बहुत कम - बहुत ही कम लोग ऐसे निकले जो सांस्कृतिक पुनरुत्थान की ज्योति से अनुरजित हो सकें और हिन्दी के लिये पागल हो सकें। ये थोड़े से लोग थोड़ी बहुत अंगरेजी जानते अवश्य थे किन्तु इनमें से किसी की भी चेतना या आत्मा अंगरेजिमत के विष में डूबकर मिट नहीं चुकी थी। ये अशक्त, असमर्थ, अयोग्य, एवं अभावों से पूर्ण भरे ही रहे हैं इनमें से कोई निरात्म या परात्म नहीं था। कुछ है ही ऐसा कि हिन्दी भारत की राष्ट्रीय आकांक्षा अथवा अपनी सांस्कृतिक गुस्ता की पुनर्प्राप्ति की महात्वाकांक्षा की भाषा है। अंगरेजियत या उसकी गुलामी से मरी हुई हतात्मा से इसका कोई संबंध नहीं स्थापित हो पाता। इन थोड़े से लोगों के द्वारा ही आधुनिक हिंदी साहित्य की नींव यही और उसका निर्माण कार्य प्रारंभ हुआ। इन स्वनामधेय व्यक्तियों के अन्दर यह इच्छा पैदा हुई कि जिस उच्चकोटि का और जैसा समृद्ध अंगरेजी का साहित्य है वैसा ही अपना हिंदी साहित्य भी होना चाहिये जिसके लिये उन्होंने अपना प्राचीन साहित्य भी वैसा और नवीन जीवन भी।

अस्तु, इसचिन्ता के परिणामस्वरूप सबसे बड़ी बात यह हुई कि हिंदी प्रवेश के अधिकांश लोग अशिक्षित रह गये। एक तो स्वयं उनके अन्दर पुस्तकें पढ़ने -

सरीदने की समता नहीं थी और दूसरे मध्यवर्ग के लिये लिखे गये साहित्य को सरीद-पढ़कर वे करते भी क्या, क्योंकि उस साहित्य का उनके प्रत्यक्ष जीवन से कोई संबंध ही नहीं था। अंगरेजीप्रिय व्यक्तियों को हिन्दी की पुस्तकें पसन्द नहीं आ सकती थीं। इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दी वालों की पुस्तकें अधिक नहीं बिकीं। लेखक आर्थिक दृष्टि से दरिद्र हो गया। प्रकाशकों को हिन्दी की पुस्तकों के छापने में घाटा होने लगा। हिन्दी के समाचार पत्र और मासिक पत्र पत्रिकाओं की भी खपत अधिक नहीं थी। हिंदी के प्रकाशक सम्पादक और लेखक - सभी दरिद्र हो गये। समाचार पत्रों के और पत्र-पत्रिकाओं के लेखकों का पारिस्थितिक अक्सर तो बिया ही नहीं जाता था और यदि कभी दिया भी गया तो अल्पतम। लेखक की रायल्टीकीभी यही स्थिति थी। हिंदी की पुस्तक या हिंदी का लेख छप गया, यही क्या कम! प्रकाशन कृपा का परिणाम और इसलिये धन्यवाद का ^{अर्थ} अधिकारी था। लेखकों का खोप होने लगा और हमारा साहित्य खोपियों का साहित्य - परकटों का साहित्य हो चला। हमारा आधुनिक हिंदी साहित्य अशक्त पंख जटायु हो गया।

अंगरेजी शिक्षा-पद्धति के कारण हम अंगरेजी की साहित्यिक विधाओं से परिचित हो गये। वहां ये विधाएं पाश्चात्य समाज के भीतरी जीवन का परिणाम थीं और हमारे यहां वे विदेशी संसर्ग एवं अन्य कारणों के परिणामस्वरूप थीं। पाश्चात्य जीवन पद्धति, जीवन दर्शन एवं मान्यताएं और इनके साथ-साथ पाश्चात्य साहित्यिक विधाएं आज भी हमारी अपनी नहीं हो पाई हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि साहित्यिक और सैद्धान्तिक दृष्टि से उच्चकोटि के होने पर भी आधुनिक गीत, आधुनिक कहानियां, आधुनिक उपन्यास, आधुनिक फंतासी और झोकांकी आदि जनजीवन की चीज नहीं हो पाय हैं। मुक्त हृदय की तो बात ही क्या करें, स्वयं प्रसाद, म्हादेवी, पन्त, निराला और रामकुमार वर्मा के गेय गीत भी जन मानस के अन्तर में अभी नहीं छू सके और न गस्ती के आलम

में जाये जाते हैं। 'कविता' का अर्थ वह 'पनाबरी' मात्र ही समझता है।

आधुनिक शिक्षा-व्यवस्था और हिन्दी साहित्य

इस अर्थ यतावधि मैं शिक्षा संस्थाओं का द्वार समी जाति वालों के लिये सौल दिया गया। सभी तरह के लोग पढ़ने लगे। परिणामतः साहित्य का द्वार भी सबके लिये खुल गया। नारी, पुरुष, कायस्थ, गुप्त, हरिजन आदि सबका प्रयत्न एवं सबकी प्रतिभा का सहयोग आधुनिक हिंदी साहित्य की वृद्धि में प्राप्त हुआ। इसके साथ एक सीमा भी थी। शिक्षा क्षेत्र के समस्त कुषारों, प्रयोगों आदि का प्रभाव न तो उच्च वर्ग पर पड़ा और न निम्न वर्ग पर। सामान्यतः मध्यवर्ग - और विशेषतः निम्नमध्यवर्ग - ही इसका लक्ष्य और क्रिया क्षेत्र रहा। जागरण, राष्ट्रीयता और सांस्कृतिक पुनर्जागरण आदि इसी वर्ग तक विशेष रूप से सीमित रहा। समाज में यही वर्ग विशेष रूप से सक्रिय भी रहा। यह स्थिति बहुत अच्छी तो नहीं थी, मगर यी यही और सम्भवतः इसी कारण हिन्दी साहित्य मध्यवर्ग का, मध्यवर्ग के द्वारा और मध्यवर्ग के लिये लिखा गया साहित्य है। रूसी, वाल्टेयर, लेनिन-माक्स, गांधी-नेहरू आदि के चर्चों में निष्णात आज का विद्यार्थी समाज में अपने को अस्हाय पाता है। पढ़ कर निकलता है तो नौकरी नहीं मिलती। पढ़पात और बेइमानियां होती हैं। पढाई उसे नौकरी के अतिरिक्त और किसी भी काम के लायक रहने नहीं देती। वह सीखता है क्योंकि यह स्थिति आदमी को तौड़ देने वाली होती है। आत्म-हत्या आदि अपराध बढ़ते हैं। पराधीनता के दिनों में इससे राष्ट्रीयता बढी और अंगरेजी तथा अंगरेजियत के रोंब के टूटने में सहायता मिली। इस अस्त-तुष्ट, विपन्न एवं अभाव-ग्रस्त छात्र समाज ने कविता और गद्य दोनों के साहित्य पर कुछ कुछ साम्यवादी रंग चढ़ा दिया। शिक्षा प्रसार के कारण जिस प्रकार देश की राजनीति राजाओं के हाथ से निकल कर मध्यवर्ग के हाथों में आई उसी प्रकार साहित्य के केन्द्र राज समाजों एवं राज घरवारी से उठकर शिक्षित जनता

के बीच - गौणियों, सम्प्रदायों, संस्कारों और नैतकों के बीच - आ गये।
 इसके दृढ़ी प्रवृत्तियों, प्रवृत्तियों एवं आजीवियों से साहित्य बच गया। नवीन
 शिक्षा पद्धति का परिणाम यह हुआ कि पुराने संस्कारों से हमारा संपर्क बहुत
 कम रह गया। बड़-विद्वान और मान्यतावाद पर आधारित शास्त्र के अध्ययन
 के परिणामस्वरूप नवीन मान्यताओं की स्थापना हुई। सामाजिक वातावरण
 इसके विपरीत रहा। हमारी प्रेसाय द्विवेदी ने लिखा है, "उत्के चित्त में रोमां-
 टिक अंगरेजी साहित्य के व्यक्तित्वों की छाप थी परन्तु बाह्य जगत में उसका
 सामंजस्य नहीं था। यह नवीन मूल्यों को अपनी भाषा में व्यक्त भी नहीं कर
 पाता था। संवेदनशील युवक के मन में यह बड़े ही अंतर्द्वन्द्व का काल था।.....
 चित्तगत उन्मुक्तता इस कविता का प्रधान उद्गम थी और बदलते हुए मानों के
 प्रति कुछ आस्था इसका प्रधान संतुल। इस गेनी के कवि प्राहिकावृत्ति से बहुत
 अधिक सम्मन थे और सामाजिक विषमता और असामंजस्यों के प्रति अत्यधिक
 सजग थे।" परिणाम यह हुआ कि उन्होंने प्रयत्न करके भाषा को अपने भावों के
 बोधक बनाया गया। इस प्रयत्न में सफलता भी मिली और रामचन्द्र शुक्ल ने
 लिखा है, "अंगरेजी जापि अन्य स्तुन्ना भाषाओं को उच्च विचारधारा से परि-
 चित और अपनी भाषा पर भी यथेष्ट अधिकार रखने वाले कुछ लेखकों की कृपा
 से हिंदी की अयोध्यादिनी उक्ति की अच्छी बुद्धि और अभिव्यंजना-प्रणाली
 का भी अच्छा प्रसार हुआ।" पी-एच. डी. और डी. लिट् के लिये लिखे गये
 अनुपम्यों के रूप में हिन्दी साहित्य संंधी को लोभे और आलोचनाएं प्राप्त
 हुई हैं उनका भी येय अंगरेजी शिक्षा पद्धति की है। इतना जरूर है कि उनमें
 से अधिकांश रामचन्द्र शुक्ल के "हिंदी साहित्य का इतिहास" या "त्रिवेदी"
 अथवा हमारी प्रेसाय द्विवेदी के "हिन्दी साहित्य की भूमिका" अथवा "कबीर"
 के महत्व के नहीं हैं। ध्यान रखना चाहिए कि शुक्ल और द्विवेदी - दोनों में

1. "हिन्दी साहित्य", पृ. ४५१-४५२।

२. "हिंदी साहित्य का इतिहास", ११ वां संस्करण, पृ. ४५०।

एक भी मूलतः अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति की देन नहीं है। फिर भी, रामकुमार वर्मा द्वारा उद्धृत स्व. अमरनाथ झा के उद्धरण में कहा जा सकता है, "..... आधुनिक हिंदी साहित्य के निर्माण और हिंदी के प्रचार में विश्व विद्यालयों से प्रशस्तनीय सहायता मिली है।" इसीके परिणामस्वरूप अंग्रेजी राज्य में हिन्दी साहित्य के अध्ययन की पश्चात्त्य पद्धति के अनुसार वैज्ञानिक और विधिवत व्यवस्था हो सकी। पाठ्यक्रमों बनाने के लिये प्राचीन और मध्ययुगीन कवियों और लेखकों के ग्रन्थों की सोजी हुई, उनके सुवर्तम पाठ का निर्धारण किया गया और वैज्ञानिक ढंग से उनका सम्पादन हो सका। भक्तकालीन कवियों के अध्ययन की धार्मिक एवं साम्प्रदायिक विधि व्यवस्था समाप्त हो गई और पश्चात्त्य युक्ति वादी दृष्टि और वैज्ञानिक ढंग से आलोचनाएं की गईं। उनका साहित्यिक मूल्यांकन और मनोवैज्ञानिक सामाजिक एवं ऐतिहासिक महत्त्व निर्णय किया गया। तुलनात्मक अध्ययन भी इसी व्यवस्था की देन है। अध्ययन का दृष्टिकोण व्यापक और विस्तृत हो गया। भाषा-विज्ञान जैसे अनेक नव्य विषयों का भी अध्ययन प्रारंभ हुआ। इस प्रकार अंग्रेजी शिक्षा व्यवस्था ने हमारी हिन्दी को प्रभावित किया।

1. हिन्दी साहित्य सम्मेलन के 31वें वार्षिक अधिवेशन की भाई ल पोलर के सारांश का भाषा.

हमारे समाज की पिछली प्रश्नभूमि -- कंठियों का वैज्ञानिक दृष्टिकोण, परिणाम और जनता की प्रतिक्रिया -- परम्परा प्रियता और उसका कारण -- वर्णभेद एवं कर्मभेद -- कट्टरता क्यों -- कट्टरता वाला दृष्टिकोण बदला -- हरिजन -- नारी: दयनीय स्थिति -- नारी जागरण -- पर्दा उठा -- नारी और राष्ट्रीयता -- नारी शिक्षा -- जागृत नारी -- नारी स्वतन्त्रता की उपयुक्त शिक्षा -- वह नारी और हिन्दी साहित्य -- काम (सेक्स) और हमारी जीवन दृष्टि -- सुनियोजित काम-भावना -- विवाह -- लक्षों का चुनाव कैसे हो -- बाल विवाह -- दहेज -- विवाह का स्थायित्व -- बृद्ध विवाह और बहु विवाह -- परिवर्तन की प्रक्रिया -- प्रेम विवाह क्यों नहीं -- एक ही गोत्र में और एक ही गाँव में विवाह वर्जित -- सम्मिलित परिवार -- भारतीय पत्नी -- बच्चे -- विधवा -- त्योहार और क्रतु आदि -- वैश्या -- मादक द्रव्य -- भित्तारी -- बेकारो -- फैशन -- ज्ञान -- मनोरंजन -- प्रेम -- अन्धविश्वास -- धार्मिक सहिष्णुता -- समाज सुधार परिवर्तन -- श्रान्ति -- मार्क्स -- ग्रामीत्यान -- लौकिक दृष्टिकोण और भारतीय परम्परा -- सांस्कृतिक विघटन -- सुधार के प्रयत्न ।

सामाजिक पृष्ठभूमि

हमारे समाज की पिछली पृष्ठभूमि

बौद्धिक अताङ्की के पूर्वार्ध में भारतवर्ष अपना हिन्दी प्रदेश की जो सामाजिक स्थिति थी उसे पूरी तरह से हथियंगम करने के लिये उन सभी परिस्थितियों को ध्यान में रखना होगा जो अठारवीं अताङ्की के उत्तरार्ध से ले कर अब तक हमारे प्रदेश में थीं। औरंगजेब के कट्टर इस्लामवाद अपना उसकी कट्टर साम्प्रदायिकता ने देश के अन्दर व्याप्त एवं समाहित सामाजिक एकता को नष्ट करके देश के विभिन्न सम्प्रदायों एवं समाजों को अपनी विधिष्टता बनाए रखने के लिये प्रतिरक्षात्मक उपायों का अवलम्बन लेने अपना उस विधा में सौजने के लिये बाध्य कर दिया। जब दिया सम्प्रदाय के मुसलमानों तक को अपने स्वतंत्र अस्तित्व की सुरक्षा की चिन्ता पैदा हो गई तब हिन्दुओं की तो बात ही क्या? राजनीतिक पराधीनता एवं विपन्नता की स्थिति में अपने को विघटित होने से बचाये रखने के लिये हिन्दुओं की कितनी करनी पड़ी। सुरक्षा के लिये जब राजनीतिक अधिकार नहीं रह जाते और यह देख जाता है कि शक्ति और अधिकारी से सम्मन एक आपदा हमारे सर्वनाश के लिये समुपस्थित है तब उस संकटकालीन परिस्थिति में सुरक्षा का सर्वोच्छ साधन होता है किन्तु एक सुस्थस्थित, सुगठित एवं सुदृढ संगठन और बल अनुशासन। इस काल में अनुशासन मजक को स्वप्न में भी समाधान नहीं किया जा सकता। नियमों कायदों का कौलाधी कठोरता के साथ पालन होना चाहिये। यदि समाज को बचाना है, यदि संस्कृति को रक्षा करनी है, तो सामाजिक प्रथाओं और रीतियों का तथा सांस्कृतिक विधि-नियमों का - और हिन्दू संस्कृति के वेग को यदि ध्यान में रखें तो 'नानापुराणनिर्माणम् सम्मत्तं यद्' जो कुछ है उस स्वका-पालन कठोरा के साथ आँस भूँद कर होना चाहिये। विचार विनिमय, तर्क-वितर्क, बुद्धि और ज्ञान, वर्तमान की अनुकूलता, परिस्थितियों की अनुरूपता, सुख-सुविधा

आप की दृष्टि से तोच कर काम करने का अधिकार नहीं दिया जा सकता।
 धर्म और शास्त्र का अनुशासन तथा महान पुरुषों का अनुगमन ही एकमात्र रास्ता
 है। राजनीतिक अधिकारों की एवं विधि विधान की प्रतिकूलता में हम किसी
 की मार तो नहीं सकते किन्तु समाज को विघटित होने से रोकने के लिये हम
 स्वेच्छाचारी का सामाजिक बहिष्कार तो कर ही सकते हैं। यदि यह कठोरता
 और सख्तता के साथ नहीं होता तो व्यक्ति मनमा नी करने लगता है जैसा कि
 १९५० के बाद से हिन्दू समाज में हो रहा है। ऐसा यदि होने दिया जाय तो
 समाज की अपनी संस्कृति विशेष मिटने में कोई देरी नहीं लगती। अठारहवीं
 शताब्दी तक मुसलमानों से बचने के लिये और १९ वीं शताब्दी से लेकर महात्मा
 गांधी के उदय तक मुसलमानों और ईसाईयों - दोनों से बचने के लिये हिन्दू -
 समाज को प्रतिरक्षात्मक स्थिति में रहना पड़ा। यदि वह इसमें ढिलाई करता -
 इसके पालन में छिपकता बरतता - तो मिटा दिया गया होता। बीसवीं
 शती के पहले और स्वयं इस शती में भी अपनाये गये प्रतिरक्षात्मक विधि-सामानों
 विधानों और इनके पालन की कठोरता ने हिन्दू समाज में रुढ़ि-परम्पराका,
 रीति-रिवाज का, प्रथा-अनुष्ठान का धर्मानुशासन का रूप धारण कर लिया था।
 गुण दोष के रूप में दिखाई पड़ने लगा। स्वतंत्र-चिन्तन, सामाजिक उदारता,
 ज्ञानिकारी कार्य, सांस्कृतिक तत्त्वों के आदान-प्रदान आदि को अनुचित माना
 जाने लगा। कुछ भी हो, किन्तु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि इन्हीं प्राचीनों
 के कारण हमारा समाज प्रलय परिस्थिति में भी सही-सलामत निकल तो आया
 कि अब सुधार मार्ग पर चल सके। इन उपायों को न अपनाया गया होता तो
 अलग तो दूर एक ओर, चलने वाला ही न रह जाता। अब विश्वासी होकर
 हम बने, लेकिन बने तो। यही क्या कम है कि हम अनेक प्राचीन जातियों की
 तरह नष्ट नहीं हो गये। जो लोग इस तथ्य को नहीं समझते वे प्रायः कह दिया
 करते हैं कि हिन्दू बड़ा अंध-विश्वासी होता है, हिंदू समाज बड़ा ही रुढ़ि-
 वादी समाज है। सांस्कृतिक पुण्ड्रूनि अथवा ऐतिहासिक आवश्यकताओं को
 न समझने वाले लोग हमारे रुढ़िवाद के सही रूप को समझ नहीं पाते और

इसके कारण हमारी उम्मीद एवं हमारा तिरस्कार करते हैं।

अंगरेजों का उपेक्षापूर्ण दृष्टिकोण, परिणाम और जनता की प्रतिक्रिया

१८५७ ई. की स्वतंत्र भारतीय स्वातंत्र्य क्रांति के पश्चात् अंगरेजों का भारत संबंधी दृष्टिकोण पहले की अपेक्षा कुछ बदल गया था, यह हम पीछे देख चुके हैं। हमारे साम्राज्यवादी प्रजासत्त अंगरेजों को हमसे किसी प्रकार की सच्ची सहानुभूति नहीं रह गई थी। अंगरेजी साम्राज्य के एक अनिवार्य अंग एवं छाही प्रकट के सर्वोत्तम रत्न भारत पर उन्हें शासन अवश्य ही करना था, अपने देश एवं अपनी प्रजाति की रक्षा, उन्नति और समृद्धि के लिये भारत का आर्थिक जीवन और भारतीय बाजारों पर एकच्छत्र अधिकार बनाये रखना ही था, राज्य करने के औचित्य को सिद्ध करने के लिये कुछ सौलते सुधारों की घोषणा और भारतीयों की प्रजासत्तिक अयोग्यता एवं अनुभवहीनता का डिहोरा उन्हें अवश्यमेव पीटना था। ऐसे दृष्टिकोण एवं उद्देश्य वालों के लिये - उपनिवेशवाधियों के लिये - यह हितकर नहीं होता कि वे उपनिवेशों के अन्दर निवसित समाज की समृद्धि एवं विकास के लिये आयोजनाएं बनाएं और उन्हें कार्यान्वित करें। यही कारण है कि इस युग में अंगरेजों की - सरकार की - ओर से हमें सामाजिक उत्थान के लिये कोई भी प्रेरणा नहीं मिली। राष्ट्रीय दृष्टिकोण से कल्याणकारी सरकार को इस बात की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिये कि जनता किसी हितकारी कार्य के लिये आन्दोलन करे। आन्दोलन से निवृत्त होकर अधूरे हितकारी अधिनियम पारित करने वाली सरकार राष्ट्रहितकारी सरकार नहीं कही जा सकती। सरकार ने समाज सुधार के लिये यदि प्रकाश कार्य किये भी वे तो आन्दोलन के परिणामस्वरूप। राष्ट्रहित के कार्यों के प्रति सरकार की उपेक्षा ने समाज को जाने बड़ने की प्रेरणा नहीं दी। जीवन के लिये सर्वथा अनुपयोगी और अर्थव्यवस्था में जनता को चिक्का होने से संबंधित रहा। किसान को घेत मरना और तन डंकना था। छूटनीतिपूर्ण आर्थिक जीवन ने उसकी स्थिति ऐसी कर

दी थी कि अथक परिश्रम करने के पश्चात् भी उसकी ये आवश्यकताएं पूरी नहीं होने पाती थीं। अपने बच्चों को वह पढ़ाने की स्थिति में नहीं था। एक तो उसके पास पढ़ाने के लिये पैसा भी नहीं था और दूसरी वह पढ़ाए भी तो क्यों ? पढ़ाने का तात्पर्य था लड़के से हाथ धो बैठना। पढ़कर लड़का न किसानी करने के योग्य रह जाता था और न मां-बाप परिवार के प्रति आदर और अनुराग का भाव रखने वाला। अस्तु, जनता अशिक्षित रह गई जिसका परिणाम यह हुआ कि सामाजिक सुधारों की आवश्यकता को अनुभव करने की बौद्धिक पुष्टभूमि उसके पास रह नहीं गई। एक बात और भी थी।

परम्पराप्रियता और उसका कारण

जिन प्रथाओं, रीतियों, रिवाजों और परम्पराओं ने हतने आंधी-तूफान के बीच उसके समाज के अस्तित्व और रूप को बनाए रखा उनका परित्याग वह करे भी तो क्यों ? अंगरेजी पढ़े-लिखे द्वारा प्रस्तावित और प्रचारित सुधार उसके जीवन को वह स्वरूप दे देते थे जो न तो उसके लिये उपयोगी था और न सांस्कृतिक दृष्टि से स्वीकार्य। परिणामतः जनता इन पढ़े-लिखे लोगों के द्वारा उपस्थित सुधार के कार्यक्रमों के प्रति शंका लु हो उठी। सुधार-विचार स्पष्टी हो गए। सामाजिक एवं पारिवारिक बहिष्कार का भय इतना आक्रान्त करने लगा कि आर्य समाज तक के क्रान्तिकारी सुधार उसे स्वीकार्य न हों। स्थितिकी विषमता इतनी तीव्र हो गई और जीवन के प्रचलित कार्यक्रमों पर होने वाला विश्वास और उन्हें वैसा ही बनाए रखने का आग्रह इतना अटल हो गया कि विचार विनिमय का तिरस्कार प्रारम्भ हो गया। वह आपसे बहस नहीं करेगा, आपके सामने, चुप भी रहेगा, जबानी आपकी बात मान भी लेगा किन्तु करेगा वही जिसका उसे परम्परा से समर्थन प्राप्त है। सुधारक स्वामियों और महात्माओं घर से भी उसकी शंका तब तक समाप्त नहीं हुई जब तक उनके कार्यक्रमों ने जीवन के भीतर पुसकर अपनी अनिवार्यता स्वयं सिद्ध रूप में उपस्थित नहीं कर दी।

उन्हें वैसे ही चिन्ता नहीं रहती। जाति से बाहर के प्रतिभाशाली तरुण-तरु-
 णियाँ भी भी कमी नहीं! जिस परम्परा को आज हम तोड़ रहे हैं उसे तोड़ने
 के लिये आज से बीस-बाईस वर्षों के बाद कोई न मिलेगा - यह माना भी नहीं
 जा सकता। बौद्धिकता एवं युक्तिवाद की तरंगों के प्रसार के साथ परलोक का
 भय आक्रांत कर रहा नहीं। क्रांति निष्पन्न हो जाती है। धीरे-धीरे इसका अनु-
 करण होता है और छोटी स्थिति के लोग भी ऐसा ही करने लगते हैं। धीरे-
 धीरे यही प्रवृत्ति एक सामाजिक प्रवृत्ति बन जाती है। जनता के सामने इस कार्य
 क्रम का व्यावहारिक रूप और परिणाम दोनों आ जाता है। इस प्रकार हमारा
 समाज बड़ी ही स्तर्कता के साथ और अनुभव के बाद क्रांति के मार्ग पर चलने को
 तैयार होता है। नारी शिवा की बात ले लीजिए। "स्त्री-शूद्रो नाधीयाताम्"
 के आदर्श में आपादमस्तक डूबे हुए समाज के सामने एक सामाजिक क्रांति - स्त्री-
 शिवा का कार्यक्रम आया। पहले समाज के उन व्यक्तियों ने जिनको इसकी सार्थ-
 कता बुझिआस थी अपनी लड़कियों को पढ़ाना प्रारम्भ किया क्योंकि उनके अन्दर
 इसका सामर्थ्य भी था कि वे इस कार्य की प्रतिक्रिया द्वारा उत्पन्न तूफान से
 अछूते रह सकें। दम्पति के बौद्धिकस्तर की समानता की अनावश्यकता ने भी
 इस कार्यक्रम के प्रचार में सहायता दी। विधवाओं के आर्थिक स्वावलम्बन और
 तदुपरान्त परिवार की आर्थिक स्थिति के बेहतर होने के विचार ने भी स्त्री-
 शिवा के कार्यक्रम को और अधिक गतिशील किया। अनुभवों ने यह भी सिद्ध कर
 दिया पढ़-लिख कर लड़कियाँ न तो ईसाई ही हो जाती हैं और न ब्रह्मा ही।
 प्रत्यक्ष उपयोगिता समाहित आर्जका की अपेक्षा अधिक स्वीकार्य हुई। कार्यालयों
 में नौकरी करने वाली महिलायें उपयोगी अधिक सिद्ध हुई, असुविधाजनक अपेक्षा-
 कृत कम। समाज को यह विश्वास हो गया कि इससे उसका विघटन नहीं होगा
 और स्त्री-शिवा अनुकूल परिस्थिति पाकर बढ़ने लगी। आज यह याद करके
 कौतूहल, मनोरंजन और उसकी सावधानी के ऊपर संतोष होता है कि हमारे स
 समाज ने किस ढंग से धीरे धीरे लड़कियों को घर से बाहर निकाला है। रामा-

यण बढ सकने मर को घर पर पढ ले..... एक चिट्ठी में हालवाल लिखकर
 मायके भेज सकने मर को पढ ले बालिका विद्यालय में नौकरी करके वैधव्य
 का जीवन काट सकने मर को पढ ले अच्छा और योग्य घर प्राप्त करने
 मर को पढ ले..... घर पर 'पंडित' रखकर पढवा लिया जाय घर पर
 "मास्टर" लगाकर पढवा लिया जाय सूर्य की किरण और वायु की लहर
 में जिसके भीतर न जा सके, ऐसे ठेले में मर कर स्कूल भेज दिया जाय... पर्व
 से घिरी सवारी में बैठकर माइनों या विश्वसनीय नौकरों से सुरक्षित करके
 भेज दिया जाय..... मुहल्ले की लड़कियों के साथ भेज दिया जाय..... कोई
 भेज आया करे और ले आया करे घड़ी देखकर जाया और आया करे ..
 बुर्का अथवा चद्दर ओढ़ कर जाया करे और उसको ओढ़े हुए ही कबा में बैठा
 करे ओढ़कर जाया करे और मात्र कबा में ही मुंह सोल लिया करे...
 विद्यालय में मुंह सोले रहे मगर उसकी चहारदीवारी के बाहर बराबर ओढ़े -
 ढंके रहे मुंह सोल कर जाया करे !! सुनते हैं कि किसी विश्व विद्यालय
 में स्त्री-शिक्षा के लिये प्रत्येक कबा को दो वर्गों में विभाजित किया गया था,
 जिनमें से एक वर्ग के दोनों तरफ काले-मोटे पर्दे पड़े रहते थे !!! कहने का तात्पर्य
 यह है कि हमारे समाज ने क्रांतिकारी कार्यक्रमों को इस प्रकार धीरे-धीरे उनकी
 उपयोगिता और छाँव न दूयता का प्रत्यक्ष अनुभव कर करके अपनाया है। इस
 रहस्य को न समझने वाले नासमझ लोग प्रायः यह कह बैठते हैं कि भारतीय समाज
 की गतिशीलता और आधुनिक युग में "मैसागाडी" की गतिशीलता एक-सी है।"

"चर मर चरमर चूं चरर मरर जा रही चली मैसागाडी।" ¹ जिनका विचार है कि
 भारतीय समाज भयानक रूप से रुढ़िवादी है उनसे नम्रनिवेदन है कि वे अपनी
 आँखों पर चढ़ा हुआ अश्रु विवेकी दृष्टिकोण का चश्मा उतार दें। भारतीय
 समाज के मन में आसका के कीटाणु घर जाने से, तथाकथित समाजसुधारकों के दूषित
 एवं विवाक्य दृष्टिकोण के साक्षात् अनुभवों और इनकी तुलना में अपने कृषियों -

1. मंगलतीरथ वर्मा की "मैसागाडी" कविता की प्रथम पंक्ति।

मुनियों - वेद-शास्त्र पर अंध विश्वास होने के कारण वह जल्दी उठना नहीं जाता। वह सौच-समझ कर कदम उठाता है। सुधारकों के प्रति विश्वास, समुचित वातावरण, उचित प्रेरणा, और सुयोज्य प्रोत्साहन पाकर भारतीय समाज कितना गतिशील हो उठता है इसका एक उदाहरण गांधी जी द्वारा संवालि आन्दोलनों की सकलता में मिल सकता है। गांधी के आन्दोलनों ने भारतीय समाज को कितना और कितनी तेजी से बदल दिया है यह पुरानी आँखें ही बता सकती हैं, पुराने हृदय ही अनुभव कर सकते हैं। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में ऐसे सामाजिक क्रांति के कार्य सम्पन्न^{कर} के आपत्तियाँ और कठिनाइयों को सहन करने का साहस, प्रायः सभी वर्गों के थोड़े - बहुत व्यक्ति यों में आ गया था। कठिनाइयों~~को~~ त्याग और बलिदान करने तथा कष्ट उठाने और साहस करने की शक्ति से सम्पन्न तथा पौष्टिक उदारता से युक्त जिन महापुरुषों के अन्दर सामाजिक क्रांति करने की इच्छा पैदा हुई थी उन्होंने में से अधिकांश ने आधुनिक हिन्दी साहित्य की रचना भी की है। वेब लोग अंगरेजी लिख-पढ़कर, अंगरेजी सौच-बोल कर और अंगरेजी रह-सहकर रुपया और अधिकारभोगते हुए परम्परित मार्ग पर अपने श्वासों-प्रश्वासों और उच्छ्वासों से शरीर की गाड़ी ठकेलते रहे। इसका परिणाम यह हुआ है कि हमारे आधुनिक साहित्य में हमारे तत्कालीन समाज और उसकी समस्याओं का प्रखर चित्रण प्राप्त है।

जाति-पाति

ब्रिवा-व्यवस्था, नवीन आर्थिक जीवन और उसके परिणाम-स्वरूप निर्मित मनोवृत्ति ने एक सबसे बड़ा कार्य यह किया कि जिन लोगों को उन्होंने प्रभावित कर रखा था उनके मन में से जातिवाद के विधि-नियमों का भय समाप्त कर दिया। न मालूम कितने हजार वर्ष बीते जब) महाभारत के युद्धों में) श्री कृष्ण ने गुण और कार्य के आधार पर चार वर्गों की रचना की थी। अलग-अलग जातियाँ और वर्गों को एक सामाजिक संगठन के अन्दर लाने

का यह सकल प्रयास था। तब से आज तक किसी न किसी रूप में हिन्दू समाज के अन्दर जाति व्यवस्था प्रचलित है। अनंत जीवनी उद्धित लेकर यह प्रथा जननी थी कि हजारों वर्षों के बाद आज भी जीवित है। आज तक इसके सजीव एवं सक्रिय तथा समाज के लिये किसी न किसी रूप में उपयोगी बने रहने का एकमात्र कारण यही हो सकता है कि एक तो यह मानव की कुछ मौलिक शाश्वत प्रवृत्तियाँ एवं प्रकृतियाँ के आधार पर विनिर्मित हुई थी और दूसरे यह कि समाज के विकास के साथ ज्यों-ज्यों वे प्रवृत्तियाँ और प्रकृतियाँ बदलती रहीं त्यों-त्यों इसने भी परिवर्तन स्वीकार किये। सात्विक, राजसिक और तामसिक वृत्तियाँ और तथा सेवाकार्य मानव की शाश्वत प्रकृतियाँ हैं। प्रसाद ने "चन्द्रगुप्त" नाटक में ब्राह्मणत्व की जो व्याख्या की है वह इसी प्रवृत्ति की द्योतक है। ये प्राचीनकाल के मानव समाज में थीं और आज के मानव समाज में भी हैं। इनके द्योतक कार्य मनुष्य पिछले युग में भी करता था और आज के युग में भी करता है; और एक तरह के कार्य करने वालों का एक वर्ग - एक समाज - पहले भी बनता था और आज भी बनता है। यह धर्मों का विच्छिष्टीकरण था जो उस युग में भी था और आज भी है। एक तरह, एक स्वभाव और एक रुझान के लौंगों में पारस्परिक सान-पान, विचार-विनिमय, शादी-ठ्याह का चल पडना न तब अस्वाभाविक था और न आज है। राजनीतिज्ञ राजनीतिज्ञों को और ठ्यापारी ठ्यापारियों को ही वास्तव देगा। लिखने-पढ़ने वाले स्वभाव की लड़की को ठ्यापारी लड़के की गृहिणी बना देने में कोई भी समझदारी न तब थी, न आज है। अन्तर केवल इतना है कि हिन्दू समाजशास्त्रियों ने इसे एक व्यवस्था का रूप दे दिया था, आज इसे अवसर और परिस्थितियों की लहरों पर छोड़ दिया गया है। जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है, "यह व्यवस्था एक विशेष युग की परिस्थितियों में बनी थी और इसका उद्देश्य समाज का संगठन और उसमें सम छोल पैदा करना था लेकिन इसका विकास कुछ ऐसा हुआ कि यह उसी समाज के लिये और मानवीय मस्तिष्क के लिये बन्धी धर बन गई।" अस्तु, पुराई केवल तब आई जब

इस जाति व्यवस्था में कट्टरता आ गई। कहना यह है कि यह कट्टरता इस जाति व्यवस्था अनिवार्य प्रकृति नहीं है। इस व्यवस्था में यदि ऐसी कट्टरता होती - लचीलापन न होता तो यह कब की समाप्त हो गई होती। ब्राह्मण परशुराम और द्राक्ष्य प्रोणाचार्य युद्ध कर सकते थे। ब्राह्मण चाणक्य कूटनीति का कार्यक्षर सकता था। क्षत्रिय विश्वामित्र तपस्या कर सकते थे। हजारों प्रसाद द्विवेदी ने "अधोक के फूल" नामक कश्चित्क निबन्ध संग्रह में ऐसी अनेक घटनाओं का उल्लेख किया है जबकि पूरे के पूरे वर्ग का जातिपरिवर्तन कर दिया गया था। मयानक कट्टरता तो युग विशेष की आवश्यकता थी जो युग परिवर्तन के साथ-साथ समाप्त-प्राय है। मेरा तो विचार है कि इस जाति-व्यवस्था का हिन्दू समाज से पूर्णरूपेण उन्मूलन नितान्त कल्पना है। हाँ, उसका स्वरूप अवश्य परिवर्तित हो जायगा। अतुल्यन्त्र चरित्रों ने लिखा है, "शायद यह आवश्यक करना बहुत अधिक आशावादीकता ही न हो कि जाति व्यवस्था धीरे धीरे हिन्दू समाज के ऊपर से अपना वर्तमान स्वरूप एवं प्रभुत्व तो बैठेगी।" वंश, कुल-परम्परा के सूक्ष्म तत्त्व के रूप में तो इसका अस्तित्व शाश्वत है क्योंकि यह एक सांस्कृतिक चीज है। मेरा इस व्यवस्था से जो विरोध है वह केवल उस कट्टरता से है जो मध्ययुग की समाप्ति की उताड़ियों में इसके अन्दर आ गई थी।

कट्टरता क्यों ?

मध्ययुग में राजनीति धार्मिक संप्रदायों की आश्रय एवं एक-देशीय रुढ़ियों एवं कर्मकाण्डों का उद्गम धारण किये हुई थी। परिणाम यह हुआ कि राजनीतिक कट्टरता एवं उसका वर्गवाद धार्मिक संप्रदायों के साथ नियोजित हुआ और धर्म की शाश्वत प्रकृति पीछे पड़ गई। इन धार्मिक संप्रदायों द्वारा विनिर्मित समाज उनकी प्रकृतियों से प्रभावित हुआ और वह भी वर्गों-उपवर्गों में विभाजित होकर शाश्वत जातीयता की सांस्कृतिक एवं मौलिक एकता विस्मृत

कर बैठा। सुरवा के लिये नियमों - उपनियमों के कट्टरता के साथ पालन करने की आवश्यकता होती है और उत्तर मध्ययुग में सुरवा की भावना की आवश्यकता हिन्दू समाज से अधिक और किसी को नहीं हो सकती थी। इसीलिये जाति-
व्यवस्था का और उसके विधि-निर्णयों का कट्टरता के साथ पालन प्रारंभ हुआ।
जवाहरलाल नेहरू ने यह स्वीकार किया है कि उन्नति के मूल्य पर संरक्षा सरीदी गई है^१। मैं सोचता हूँ कि यदि हम बचते ही न तो उन्नति किसकी होती?

जिस प्रकार उस समय की राजनीति - राजतंत्र - अनुदारता और कट्टरता का शिकार थी उसी प्रकार उस समय का समाज भी संकीर्णता, कट्टरता और अनुदारता से बाधित था। प्रजातंत्र का राजतंत्र से मौलिक मतभेद है। दूसरी बात यह है कि प्रजातंत्र भारत की सामाजिक आवश्यकताओं एवं उसके परिवर्तनों से उद्भूत एवं विकसित भी नहीं हुआ है। वह बाहर से लाकर लादा गया है। हमारी नब्बे प्रतिशत जनता आज भी उसी मध्ययुगीय प्रवृत्तियों वाली है। दो सौ वर्षों तक उसके विकास को रोकें रखा गया और इधर कुछ दशाब्दियों की अवधि में उसके अन्दर आधुनिक युग का वातावरण लाने का प्रयत्न किया जा रहा है। इसलिये यदि अपने आलोचकाल के भारतीय समाज को हम देखते हैं^{तो} वह उन प्रवृत्तियों और योषों से भरा हुआ दीखता है जो मध्ययुगीन हैं और जिन्हें जड़ में कट्टर जातिवाद है। हमारा समाज जाति एवं उपजाति के टुकड़ों में बंटा हुआ है। उंच-नीच का भेद-भाव बहुत है। इसके अनुसार जन्म से ही व्यक्ति का सामाजिक स्थान निश्चित हो जाता है। प्रतिभा और सम्पत्ति केवल पर उसे बचला नहीं जा सकता। इसके अनुसार अपनी जाति से बाहर शादी नहीं की जा सकती। अस्पृश्यता की भावना को इसी समस्या ने जन्म दिया है। इसके कारण सामाजिकता की व्यापक भावना विकसित नहीं होने पाती। व्यक्ति का दृष्टिकोण जाति-विरादरी तक ही सीमित रह जाता है। जाति-भावना जीवन के हर क्षेत्र में प्रभुता पाये थी। अतएव व्यक्तिगत स्वतंत्रता का कोई अस्तित्व ही नहीं रह

गया। हमारे आलोच्य काल में सान-पान, शादी-ढयाह, ऊंच-नीच और ठयव-साय की सीमाबन्दी की प्रमुखता रही। इस सताछदी के प्रारंभ में जब राजेन्द्र बाबू कलकत्ता पढ़ने गये तब 'जाति-पांति का झगडा इतना साथ लेते गये थे कि हिन्दू होस्टल में हमने अपने लिये अलग चौका रखा था जिसमें बिहारी ब्राह्मण रसोई बनाता था। यद्यपि मैं डाक्टर गणेश प्रसाद के साथ भोज में खरीक हुआ था, तथापि जाति का बन्धन बहुत मानता था। वह तो मेरी अपनी जाति के आदमी (कायस्थ) थे, किसी भी दूसरी जाति के आदमी का हुआ हुआ कोई अन्न, जो अपने देश (बिहार) में नहीं खाया जाता है, वहाँ नहीं ^{खा} किया। इतने दिनों तक वहाँ रहा, मगर बंगाली 'मेस' में कच्ची रसोई एक दिन भी नहीं खायी।^१ यह एक आदमी या एक परिवार की बात नहीं थी। "... न बिहार के गाँव का रहने वाला कोई आदमी होटल में रहकर वहाँ साना पसन्द करता था"^२ 'मेरी जीवन यात्रा' में राहुल सांकृत्यायन ने समुद्र यात्रा के वर्जित होने की बात लिखी है। समुद्रयात्रा करने ही के कारण बलिया के विश्व विख्यात गणितज्ञ डाक्टर गणेश प्रसाद और गुजरात के महात्मा गांधी जाति से निकाल दिये गये थे। गांधी जी के लिये उनकी जाति की पंचायत ने यह कड घोषित किया था, "यह लडका आज से जाति-छ्युत माना जायगा। जो कोई इसकी मदद करेगा अथवा इसे बिधा करने जायगा, पंच उससे जवाब तलब करेंगे और उससे सवा रुपया दंड का लिया जायगा।"^३ जातिवाद ने सौसले अहंकार की भावना पैदा कर दी है और इसका सब से बडा शिकार लालची और सुझा-मयी 'बाधन' वर्ग हुआ है। छोटे वर्ग के नौकर 'सलाम' करते हैं और अहंकारी 'बाधन' चपरासी 'सलाम' की अपमान समझकर पहले ही 'आसिरवाद हजूर' कह कर उसकी पूर्ति करता है। जो किसी का परिणाम या वह वास्तविक परिणाम का कारण बन जाता है। सलाम करके साहब की जी अनुमति अहीर चपरासी

१. 'आत्मकथा', पृ. ७८।

२. 'बापू के कवनों में', पृ. ३।

३. गांधी जी की 'आत्मकथा' का चन्द्रहवाँ प्रसंग।

प्राप्त करता है, वही "आसिरवाद हजूर" कहकर "वामन-देवता" प्राप्त करते हैं। यह जातिवाद अब आदी-कथाह घर अथवा ससुराल में खान-पान और कुछ संस्कारों के अवसरों तक ही सीमित रह गया है।

कट्टरता के कारण दृष्टिकोण बदला

आधुनिक युग के अन्त और नवीन युग के आगमन ने युग-विशेष जन्ति और मान्यता प्राप्त कट्टरता को समाप्त कर दिया है, क्योंकि उस युग की प्रवृत्तियाँ नये युग के जीवन नई विचारधाराओं और नई प्रवृत्तियों के प्रतिकूल हैं। के. एम. पन्निकर का विचार है कि जातिवाद और प्रजातंत्र ये दोनों एक दूसरे के विरोधी हैं, क्योंकि एक का आधार समानता है और दूसरे का जन्म के आधार पर नियत छोटाई - बड़ाई।¹ सांस्कृतिक पुनर्जागरण के परिणामस्वरूप हिन्दू जाति में जो विचार-मंथन हुआ उससे यह नवीन या अमृत निकला कि हिंदुधर्म संप्रदाय नहीं है। उसका बहुत बड़ा गुण, उसका सबसे बड़ा गौरव और इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह अनेक संप्रदायों की समष्टि होने पर भी स्वतः संप्रदाय नहीं है। अतः जाति की पवित्रता एवं विद्वज्जता के नाम पर अन्य लोगों से दूर रहना, मन्त्रमुनि मनुष्य से परहेज करना, वास्तविक पवित्रता एवं विद्वज्जता नहीं है। हुआसूत, खान-पान, आदी-कथाह आदि सामाजिक तत्त्व हैं जो समय और परिस्थिति के साथ बदलते रहते हैं। ये हमारे धर्म के आश्रित एवं मौलिक तत्त्व नहीं। इस प्रकार धर्म जातिवाद से अलग हो गया। समाज के महत्वपूर्ण लोगों की समझ में यह बात आ गई जिसका परिणाम यह हुआ कि एक और कट्टरता समाप्त हो गई और दूसरी और जातियों की उत्पत्ति, उनके विकास और उनके महत्व को सामाजिक और ऐतिहासिक दृष्टिकोणों से देखा जाने लगा। भगवान्दास ने लिखा है, "आश्चर्य नहीं कि जब दो सहस्र वर्ष पहले स्काइय जाति बाहर से आई तब एक आला तलवार-बहादुर होने के कारण बनी

1. 'कास्ट'. नामक प्रस्ताव।

वस्त्रियाँ में मिल गई और दूसरी शाखा कलम की होशियार होने के कारण, किंतु
 सर्वथा ब्राह्मण वृत्ति की अभिलाषा न करके, एक अनिश्चित रूप से नये नाम से
 विख्यात हो गई जिसके व्यक्ति अपनी-अपनी विशेष प्रकृति, प्रवृत्ति और आचार-
 विचार के अनुसार कभी वस्त्रियों की और (शाक्य), कभी वैश्यों की और, कभी
 शूद्रों की और हुकते रहे तथा इस जाति की एक तीसरी शाखा, जिसने सर्वथा
 ब्राह्मण वृत्ति अंगीकार की, वह प्रायः "शाकद्वीपी" ब्राह्मण हो गई।^१ इसी
 जाति की मनोवैज्ञानिक ठ्याराया करते हुए उपर्युक्त विद्वान ने लिखा है, "मनुष्य
 की स्मृति मनुष्य का हृदय, जिस ही तार्त्विक वास्तविक आध्यात्मिक महाफिज
 दफतर" - "रेकर्ड कीपर" मूल चित्रगुप्त है।^२ इस प्रकार जातियाँ एक नहीं ही
 शकल में हमारे सामने आईं। उनकी मध्ययुगीन कट्टरता समाप्त हो गई। इस
 युग में आर्यसमाज के आंदोलनों ने भी इस कट्टरता को मिटाने में बड़ा योग दिया।
 इसके लिये त्याग-बलिदान न करने पड़े हों, आजीवन काष्ठ न सहना पड़ा हो -
 ऐसी बात नहीं किन्तु लक्ष्य की प्राप्ति हो चली। नई जीवन-पद्धति, नवीन
 आवश्यकताओं और नई मजबूरियों ने धीरे-धीरे इन बंधनों को काट फेंका। पहले
 छिपकर टन्हीं तोड़ा गया, फिर सुलझा सुलझा स्वयं सामने। जीवन बचला। रहन-
 सहन के ढंग बचले। मानव के महत्व-मूल्यांकन की कसौटी बनी, उसकी योज्यता,
 उसके व्यक्तिगत गुण, और उसकी विशेषताएँ। जातिवाद न तो धार्मिक एवं
 आध्यात्मिक लक्ष्य की पूर्ति में सहायक रह गया और न उसकी सामाजिक अव-
 श्यकता ही रह गई। आजके जीवन के राजनीतिक प्रजातंत्र, आर्थिक प्रजातंत्र, और
 सामाजिक प्रजातंत्र ने इसकी कट्टरता को निर्मूल कर दिया। आँखों की कूप मंडू-
 कता की समाप्ति, मूर्ख के व्यक्तिगत स्वाभिन्न की व्यवस्था, औद्योगीकरण
 और नये नये व्यवसाय, उहरी का पेचीदा जीवन, बसों और रेलों में सबकी समान
 यात्राओं के अधिकार, इच्छा या अनिच्छा पूर्वक विस्तृत जनसमूह के साथ संपर्क आदि

के कारण जातिप्रथा का व्यावसायिक महत्व समाप्त हो गया। दूर देश में जाकर कमाने की प्रवृत्ति ने स्थानीय समाज या विरादरी के बहिष्कार को निरर्थक कर दिया। दण्ड अब सरकार देती है। गांव का बड़ा-बूढ़ा या पंडित जी अब दण्ड-व्यवस्था नहीं दे सकते। अधिक बढ़ेंगे तो सरकारी कानून की पकड़ में आ जायेंगे। पंडित जी इसे रूब समझते हैं। हुक्का न पियोगे, साना न साओगे तो क्या हो जायगा ? पैसा ही बचेगा और फिर जीवन के लिये उपयोगी व्यवहार तो दूसरे ही समाज के लोगों से करना होता है। ये लोग हमारे काम न आएंगे तो वे तो आएंगे! सुमद्राकुमारी चौहान की लड़की के ब्याह में उनके कुटुम्ब और जाति वाले नहीं गये तो न तो शादी लगी, न शादी का गौरव और न उसका नवदम्पति के जीवन पर कोई अनिष्टकारी प्रभाव ही पड़ा। रुपये की लालच और बड़े आदमियों के रोब में आकर कुछ पंडित जी लोग अनुकूल व्यवस्था दे भी देते हैं। आर्य समाज की विवाह पद्धति जो आर्यधर्म के अनुकूल भी है, इसमें बड़ी सहायक हुई। सच्चे आर्यसमाजी आक्रान्तिकारियों की सदैव सहायता करते रहे। लालच पंडित जी से हर तरह की नौकरी करवा लेता है। बिजराज - भूदेव 'बाटा' - मैनेजर बनने में अब हिचक नहीं सकते। होस्टल, होटल, रेस्टरां, रेल, और लम्बी-लम्बी यात्राओं में झूत-छात कैसे चलेगा। कब तक कोई गोमती के किनारे पानी छिड़ककर अगौंठे में सान कर सतू साएगा ! नल का पानी कब तक न पिया जायगा ! अज्ञात के भय के अभाव, बौद्धिक दृष्टि से निष्कर्ष रूप में प्राप्त निरर्थकता, अच्छे साने और अच्छे पहनने की संभावना के कारण "हर आदमी - चाहे ब्राह्मण हो, चाहे कायस्थ - सब कुछ कर सकता है। वैश्य प्रिंसिपल का या हरिजन डिप्टी कलेक्टर कारीब और प्रभुत्व ब्राह्मण चपरासी कब तक न मानेगा ! ब्राह्मणपुत्र बूढ़ा माने जाने वाले कायस्थ प्रोफेसर से पढ़ने से कैसे इन्कार कर देगा ! और कहां तक इन देवियों को वेद न पढ़ने देगा ! इस प्रकार राष्ट्रीय-स्थान एवं जातीयता के पिकास की भावना भी जातिवाद के विरुद्ध पड़ी। व्यावहारिक दृष्टि से अब जाति शास्त्र का परिशिष्ट ही लिखा जा रहा है।

हिन्दी के आधुनिक साहित्य के झूठा बीसवीं शताब्दी के इस परिवर्तन से पूरी तरह परिचित थे। हास्य में भी किसी ने जातिवाद की अव्यावहारिक कटुता का समर्थन नहीं किया। वर्णभ्रम व्यवस्था का समर्थन उसके तात्त्विक एवं आशक्त रूप को लेकर दिया गया, क्योंकि वह अपनी सांस्कृतिक धरोहर है और अपना सांस्कृतिक उत्थान हमें भी अभीष्ट था। कटु जातिवाद की भावना से आधुनिक हिंदी काठ्य पूर्णतः मुक्त है। निराला और लंत आदि न तो कटु ब्राह्मण थे और न उनके साहित्य में ही यह है। हो भी नहीं सकता था ! हमारे आधुनिक जातीय जीवन में इस कटु जातिवाद की जो दुर्दशा हो रही है उसीका प्रगतिशील चित्रण हिन्दी के आधुनिक कथा-साहित्य में मिलता है। प्रेमचंद ने यह कह कर कि रोटियाँ हमारी जातिवादी पवित्रता के लिये ढाल स्वरूपा हो रही है, इसका मजाक ही उड़ाया है। कटु जातिवाद का यह विघटित स्वरूप हिन्दी कहानियाँ और उपन्यासों में इतना भरा पड़ा है कि उसका उदाहरण देना सूर्य को दीपक दिसाना होगा। आशक्त प्रवृत्तियाँ एवं प्रगतिशीलधारणाओं वाले तथा राष्ट्रीय उत्थान एवं सांस्कृतिक गौरव की पुनर्प्राप्ति की प्रेरणा से जतिमान विचारधारणों वाले साहित्यिकों से विनिर्मित आधुनिक हिन्दी साहित्य में इस सामयिक एवं प्रगतिविरोधी व्यवस्था का जो रूप मिलना चाहिये वही मिलता है। कविता में इसकी बुराई नहीं गाई गई है, गद्य में इसका समर्थनशील चित्रण नहीं है। बौद्धिक दृष्टि से यह इतना बुरा सिद्ध हो चुका है, कि इस पर प्रत्यक्ष रूप से साहित्य रचना प्रतिभा का दुरुपयोग मान लिया गया है।

हरिजन

जातिवाद की कटुता की विधिलता का सबसे अच्छा प्रभाव अहूतों की सामाजिक स्थिति पर पड़ा। हिन्दू समाज की एक अद्वितीय विशिष्टता है एक ऐसे वर्ग का अस्तित्व जिसको न हुआ जा सकता है, न जिनके बीच बैठकर

रहा जा सकता है और जिन्को देखना अच्छा समझा जाता है। चाहे कितना ही बड़ा और विश्वसनीय महात्मा इनका समर्थन करे, करता हो किन्तु वह धर्म से बड़ा, मानव के अन्तर के क्षतादिव्यों से चले आते हुए संस्कारों से बड़ा तो नहीं हो सकता और चूंकि, लोगों का विश्वास है कि इनको न हुना एक धार्मिक विधान है अतः अस्पृश्यता की भावना निर्मूल कर सकना बड़ा कठिन है। महात्मा गांधी ने "आत्म-कथा" में लिखा है कि जब अन्त्यज आश्रम में लिये जाने लगे तो सहायक मित्र मंडली में सलबली भव गई। स्वामी दयानन्द की बात भी लोगों के गले आसानी से नहीं उतरती। जो जातियां ऐसे पेड़े करती हैं जिन्हें सामान्यतः हिन्दू गन्दा और घृणित समझता है अथवा भारत की मूलनिवासी जन जातियां, अथवा मनु के अनुसार प्रतिलोम विवाहों से उत्पन्न सन्तानों अथवा वर्ण-संकरों आदि को हिन्दू समाज में नीचा स्थान दिया गया और ये लोग अस्पृश्य समझे गये। भारत में कुछ बहुत ऐसे थे जिन्हें हुआ नहीं जा सकता था; कुछ ऐसे थे जिन्हें ब्राह्मणों के निकट आने की आशा नहीं थी और कुछ ऐसे थे जिन्हें अपना चेहरा भी दिखाने की आशा नहीं थी। अन्तिम दोनों वर्ग दक्षिण भारत में विशेष कर पाये जाते थे। अब इनका प्रायः अभाव हो गया है - केवल अस्पृश्य वर्ग ही रह गया है। इनको दलित वर्ग, बहिर्जातियां, अनुसूचित जातियां, अद्वैत अथवा अस्पृश्य कहा जाता है। गांधी जी ने इन सभी संज्ञाओं में मानवता का अपमान अनुभव किया और इन सबके स्थान पर "हरिजन" शब्द प्रचलित किया। सी.बी. ममोरिया ने उन प्रतिबन्धों का उल्लेख किया है जो इस वर्ग पर समाज ने लगा रखे हैं। ऐसे प्रतिबन्ध ६ हैं :- (१) पवित्र ब्राह्मण से अपना काम-काज नहीं करवा सकते, (२) जो नाई, कठार, वजीं आदि सर्व्व हिन्दुओं के यहां काम करते हैं, वे इनका कोई भी काम नहीं कर सकते, (३) वे सर्व्व हिन्दुओं को पानी पीला सकते, (४) वे हिन्दू मन्दिरों के भीतर नहीं जा सकते, (५) जन-साधारण के लिये निर्मित सड़कों, पुलों, कुओं, स्कूलों आदि का इनके लिये उपयोग वर्जित है, और (६) गन्दे एवं घृणित काम करने से इनकार नहीं कर सकते। ये

उहाँ प्रतिबन्ध सभी अहूत वर्गों पर एक साथ ही लागू हों - ऐसी बात नहीं। जाति एवं प्रवेश के साथ इनमें कमी-बेसी हो सकती है। आजकल अधिकतर ऐसा हो गया है कि गन्धगी उठाते समय लोग इनको न छूते हैं, न सामान्यतः इनके हाथ का छुआ साते हैं और इनके हाथ का पानी पीते हैं। इन अहूतों में कुछ वर्ग ऐसे हैं जो औरों के द्वारा अस्पृश्य माने जाते हुए भी अपने से तयाकीयित निम्नवर्ग वालों को अहूत समझते हैं। इसकी मयानकता नगरों में उतनी अधिक नहीं विसलाई पड़ती जितनी देहातों में, क्योंकि एक तो शहरों में आवश्यकता, परिस्थिति, बौद्धिकता एवं विवेकताजन्य, प्रजातंत्रात्मकता एवं नागरिक स्वतंत्रता के पीछे इनकी दुर्गति की मयानकता छिप जाती है, दूसरे ये लोग शहरों में जहाँ ५१ लाख के लगभग हैं वहाँ देहात में ५ करोड़ से भी अधिक हैं। बंगी, चमार, पासी, कौरी, सटिक, धोबी, डोम, दुसाध, मौची आदि इन अहूत वर्गों में माने जाते हैं। १९२१ में इनकी संख्या ५ करोड़ २७ लाख थी जो १९३१ में ५ करोड़ २ लाख रह गई। १९४१ में इनकी संख्या और भी घटी और कुल ४ करोड़ ८ लाख रह गई किन्तु १९५१ में ये फिर बढ़कर ५ करोड़ ५३ लाख हो गये। मनुष्य जाति के इतने बड़े वर्ग को मनुष्य के सामान्य अथवा नागरिकता के मूलभूत अधिकारों से वंचित रखना सचमुच मान्यता का अपमान था। सांस्कृतिक पुनर्जागरण अथवा बौद्धिक नवोत्थान की ज्योति से इनकी दुर्दशा का नया अर्थ हमारी समझ में आने लगा। जाति के एक भाग को पशुवत् जीवन बिताने के लिये विवश करके हम समस्त भारत की प्रगति और आत्मगौरव की प्राप्ति के पथ पर यथेष्ट गति से गतिशील कैसे कर सकते हैं - यह सोचा जाने लगा। स्वामी बयानन्द सरस्वती ने यजुर्वेद के अध्याय २६ वे के दूसरे श्लोक का उद्धरण देते हुए अहूतों के अध्ययन के अधिकार का समर्थन किया और फिर लिखा "और जो आजकल छूत-छात और धर्मनष्ट होने की संका है वह केवल मुर्खों के बहकाने और अज्ञान बढ़ाने से है..... आर्यों के घर में ब्रह्म अर्थात् मूर्ख स्त्री-पुरुष पाकादि सेवा करें परंतु

वे अरीर-वस्त्र आदि से पवित्र रहे¹ [गांधी जी इसको हिन्दू जाति का अव्यय और भयानक पाप समझते थे जिसके परिणामस्वरूप उसे न मालूम कितने कष्ट उठाने पड़ रहे हैं। जवाहरलाल नेहरू ने लिखा, "हम में उन्नता-नीचता नहीं होनी चाहिए। हमारे हरिजन भाई हैं जिनको हम जाने कितने पुरतों से दबाए हुए हैं। यह बात सत्य हो जानी चाहिए।"² इसका सबसे बड़ा परिणाम यह हुआ कि अपनी स्थिति से असन्तुष्ट होकर और उससे बेछूतर स्थिति में रसे जाने का आश्वासन पाकर ये लोग हिन्दूधर्म छोड़ने लगे। इनके नेता डा. अम्बेदकर ने यह कहा था कि अस्पृश्य लोग मुसलमान और ईसाई हो जायेंगे। मरने से कुछ वर्ष पूर्व ये काफी लोगों को साथ लेकर बौद्ध हो ही गये थे। वैसे भी इन इनके नेताओं ने अपने को हिंदू कहना छोड़ दिया और अपने हितों के लिये हिंदुओं से पृथक् होने का प्रयत्न करने लगे। अंगरेजी सरकार ने इस स्थिति का लाभ उठाया और दलित या अछूत जातियों की मनोवैज्ञानिक स्थिति का लाभ उठाकर, इनके हितों के प्रश्न को उकसाकर, स्वराज्य आंदोलन के विरुद्ध एक अमोघ अस्त्र के रूप में इनका उपयोग किया। इनकी स्थिति में सुधार के प्रयत्न किये गये। स्वयं इन लोगों ने "असिल भारतीय दलितसंघ", "असिल भारतीय दलितवर्ग फेडरेशन" आदि संस्थाएँ बनाकर, पढ़-पढ़कर, व्यापार आदि के द्वारा अपनी आर्थिक स्थिति अच्छी करके, हड़ताल आदि के द्वारा अपना अधिक बढ़वाकर और स्वतः अपने सामाजिक महत्व की थोड़ी बहुत अनुमति करके इन्होंने अपने को अछूत समझे जाने योग्य बनाया। १९३१ में जब अंगरेजी सरकार ने अपना "साम्प्रदायिक परिनिर्णय" घोषित किया था तब उसके विरुद्ध गांधी जी ने जो अन्तर्जन किया था उसने देश भर में अछूतोंद्वारा की एक सफल लहर फैला दी और एक सप्ताह के अन्दर ही जैसे देश की कायापलट हो गई। राजेन्द्रप्रसाद के खूबों में, "नतीजा यह हुआ कि आज अस्पृश्यता आहिस्ता आहिस्ता अपने दुर्गके एक कोने से निकलती जा रही है।" आर्यसमाज पहले ही से इस प्रश्न को उठाये था। सम्मेलनों

१. 'सत्यार्थप्रकाश', तुल्य पञ्चम सम्पुल्लास।

२. 'हिन्दुस्तान की समस्याएँ', पृ. १५।

३. 'बापू के कवनों में', पृ. ७९।

मैं मंगियाँ के हाथ से बताये बंटवाना, उनसे मौजन बनवा कर परीखाना, उनको अपने पास बिठलाना आदि आधे दिन का कार्यक्रम हो गया था। गांधी जी द्वारा स्थापित "हरिजन सेवक संघ" ने भी इनकी स्थिति संभालने में असाधारण योग दिया। हरिजनों के लिये स्कूल खुले, छात्रावास स्थापित हुए, छात्रवृत्तियाँ और पुस्तक - सहायताएं दी गईं, हरिजन बस्तियाँ की सफाइयाँ हुईं, स्वयं गांधी जी हरिजन बस्तियाँ में ठहरने लगे, और अनेक मन्दिर इनके लिये खुल गए। ब्रह्म समाज, आर्यसमाज, सामाजिक क्रांति एवं समाजसुधार की भावना ने अस्पृश्यता के उन्मूलन के प्रयत्नों को वेगवान बना दिया। हिंदु पुनरुत्थान की दृष्टि से यह कार्य अनिवार्य था। ठ्यापक मानवता भी इसी की माँग कर रही थी। राष्ट्रीयता एकता, शक्ति और संगठन के नाम पर भी इस कुप्रथा का अंत हो जाना चाहिये था। आर्यसमाज के शुद्धि आंदोलन और शुद्धि और हरिजनोंद्वारा के लिये महामना मालवीय के समर्थन ने भी हिन्दुओं को इस कार्य के लिये प्रोत्साहित किया। अंगरेजी सरकार ने इस संबंध में कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं किया। जन-आंदोलनों से प्रभावित होकर १९३५ ई. के संविधान में अछूत जातियों की एक अनुसूची तैयार की थी जिसका उद्देश्य इनकी दशा सुधारना था। १९३७ के कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों ने हरिजनों के उत्थान के लिये विभिन्न प्रकार की योजनाएं बनाईं। इस समय इनकी दशा और मनोवृत्ति में आश्चर्यजनक रूप से परिवर्तन उपस्थित हो गया है यद्यपि न तो वह पर्याप्त है और न ठ्यापक। जो कुछ कहें वह शहर तक सीमित है। हिन्दी के प्रगतिशील साहित्य में इन अस्पृश्यों की जाग्रति और विद्रोह के बड़े ही सशक्त और प्रभावशाली चित्र मिलते हैं। इसके पूर्व साहित्य में - विशेषतः गद्य में - सुधारवादी मनोवृत्ति अर्थात् हरिजनों के प्रति सहायुक्ति सूचक दृष्टि की अभिव्यक्ति हुई है। सम्प्रान्त कुल के लड़के खूबसूरत हरिजन लड़की से शादी करने की क्रांति करते हुए पिलाई पड़ते थे। कविता में इस सुधारवादी दृष्टिकोण की भावात्मक अभिव्यक्ति हुई है।

नारी वयनीय स्थिति

सांस्कृतिक पुनरुत्थान के वातावरण ने हमें देखने की जो दृष्टि दी अथवा नत आत्मगौरव की पुनर्प्राप्ति के अमिलावियों ने जब अपने समाज को देखना प्रारम्भ किया तात्पर्य यह कि जब हमने यह सोचना प्रारंभ किया कि यदि हम पहले जैसा महान बनना है तो अपनी किन-किन कमियों को मिटाना होगा तब हमने पाया कि हमारे समाज का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण वर्ग-हमारे अस्तित्व का एक अनिवार्य अंग सभी दृष्टियों से अत्यन्त वयनीय स्थिति में है। उसकी अनिवार्य रूप से दूसरे के घर जाकर रहना है - इस विचार और इस मनोविज्ञान ने परिवार में उसकी स्थिति गौण कर रखी है। सामान्यतः लोग ऐसी लड़की से अपने लड़के का ब्याह करना पसंद करते हैं जो असुर्य-परया हो, जिसे किसी पर-पुरुष ने छुआतक न हो, जो सर झुकाकर चलती हो, जो आंस उठाकर आंस आंस मिलाकर देखती न हो, जोर से बोलती न हो, मुँह सोलकर चलती न हो, मन की बातों को मन में धबा कर रखना जानती हो, हमारे घरआकर अधिकार जमाने की इच्छा न रखती हो, बहस न करती हो, जो दिया जाय वही लाय, जो कहा जाय वही सुने जितना कहा जाय उतना ही करे, उल्टा-सीधा जो भी आदेश हो उसे बिना मीन मेल निकाले मान ले, जिसके पास न अपना कोई मन हो, न अपनी कोई रुचि, न अपना कोई अधिकार, जो अपने कमरे में पतिव्रता और उसके बाहर परिवारव्रता हो अर्थात् मनोविज्ञान की दृष्टि से जिसमें और एक जगह भी कुछ भी कोई अन्तर न हो। जब लड़की को अन्ततोगत्वा इसी तरह का बनना ही है तो बेचारे माँ-बाप भी उ:-सात वर्ष की आयु की बालिका तक को जनानी ड्यौड़ी के भीतर ढकेलकर पूर्णतः इसी प्रकार की बना देते थे। लड़की और ससुराल ये दोनों तत्त्व इतने अभिन्न थे कि जेँ एक वन के लिये भी - जन्म के पहले से भी - ससुराल की छाया से मुक्त लड़की के व्यक्तित्व एवं अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जाती थी। इस दृष्टिकोण का प्रभाव लड़की के पालन-पोषण पर भी पड़ता था। लड़का धनुष-बाण से सेलेना, लड़की गुडिया गुड्डा सेलेगी और उनका ब्याह रचावेगी; लड़का मार-पीट, दौड-धूप, लडाई-

झगडा आदि सेलेगा, लडकी चुल्हा-चौका सेलेगी, लडका दूकान पर जाएगा, लडकी घर में घुस कर जायगी, और मैंने देखा है कि कहीं-कहीं लडकियाँ भी-दूध खाना सिद्धान्ततः मना होता है क्योंकि मट्ठा अमृत होता है। कहा जाता है कि जिसने नारी होकर खाना बनाना न जाना उसका जनम "अकारय" है। नगरों की स्थिति तो कुछ गनीमत भी थी किन्तु देहात में नारियाँ की स्थिति देखकर समझदार एवं अनुभूतिशील प्राणी का दिल बहल जाता था। पड़ी-लिखी लडकियाँ का दिमाग सराब हो जाता है - ऐसा मानने वालों की कमी बीसवीं शताब्दी के इस उत्तरार्ध में भी नहीं है। यह "दिमाग सराब हो जाना" क्या है ? लडकी का उन गुणों, विविधताओं एवं अधिकारों की भावना से संपन्न होना जिनकी उपस्थिति एवं पूर्णतम विकास के कारण उसका माई नरभेष्ट माना जा सकता है। कितनी विषमता है कि ससुराल में लडकी को जो कष्ट मिलता है, जिस प्रकार का अमानवीय व्यवहार उससे साथ होता है उसको वेस सुनकर माँ-बाप रो तक देते हैं किन्तु यदि उन्हीं व्यवहारों के कारण उनकी लडकी विद्रोह करके उस घर से निकल जाये तो वही प्यारी पुत्री उन्हीं माँ-बाप की आँसों के लिये कांटा हो जाती है। ये महिलाएं आज भी देहातों में इतनी असुर्यम्पश्या होती हैं कि जिससे कुशीनगर के दर्शन के लिये बर्मा और चीन तक से लोग आते हैं उसीका दर्शन वहाँ से केवल दो मील दूर बसे गाँव की एक ब्राह्मण परिवार की महिला ने तीस वर्षों से नहीं किये थे - शायद जीवन भर में एक बार भी नहीं किया था। पुल्लिंग की दासता की मानसिक स्थिति वहाँ तक आ गई कि सात-आठवर्ष के बालक को साथ लेकर प्रौढ़ महिला कहीं भी निरापद अनुभव करके जाने का साहस कर सकती थी। किसी भी सामाजिक अवसर पर पुल्लिंग-रहिता नारी की कल्पना कष्ट कल्पना थी। दयनीयतम स्थिति विधवाओं की थी। उनके लिये दो ही मार्ग थे :- (१) या तो वे पतिार की दासता स्वीकार करके आजीवन कलमत्तम स्थिति में रहकर सबके धर्म्य और अत्याचार सहती रहें या^(२) वैश्यावृत्ति स्वीकार कर लें। पुरुष कुछ भी करके दम्य था, स्त्रियाँ स्वाभाविक झुल-झुक से भी कुछ भी करने पर अवश्य थीं।

बाल-विवाह की चरम सीमा ब्रूम विवाहों के रूप में दिखाई पड़ने लगी थी। नासमझ बच्ची को ससुराल की इच्छानुसार रहने के लिये बाध्य करना सरल भी तो होता है। सम्पत्ति पर उनका कभी भी कोई भी अधिकार नहीं था - न पुत्री की हैसियत से, न पत्नी की हैसियत से, न विधवा की हैसियत से। हमारे पास दो मापकण्ड थे - पुरुष के लिये दूसरा और नारी के लिये दूसरा। पुरुष - निष्ठ पत्नी पतिव्रता है, शोभा है, पूज्या है; पत्नी - निष्ठ पुरुष 'जोर का गुलाम' है, स्त्रेण, अशोभनीय ! स्त्री के लिये ब्रह्मचर्य निषिद्ध है, अकल्मसीय; पुरुष के लिये वह महत्ता का माध्यम है, करणीय ! लाला लाजपतराय ने लिखा है, "जिस देश में पुरुषों की राजनैतिक और सामाजिक स्थिति गुलामी की सी हो वहां स्त्रियों की स्थिति किसी देश में अच्छी नहीं हो सकती। भारतीय स्त्रियों की वर्तमान दशा पश्चिमीय स्त्रियों की अपेक्षा उतनी ही बुरी है जितनी कि भारतीय पुरुषों की दशा पश्चिमीय पुरुषों की दशा से बुरी है।"¹

नारी-जागरण

सांस्कृतिक पुनरुत्थान के आन्दोलनों ने ^{इतिहास की} अवांछनीयता प्रत्यक्ष कर दी। हमने विचार-विनिमय प्रारंभ किया। पिछले इतिहास पर दृष्टि डाली और पाया कि वैदिक युग में शिवा और सामाजिकता की दृष्टि से नारी की स्थिति पुरुष के समान थी। हिन्दू नारी का आदर्श स्वरूप मैं हमें सीता में मिला। महाभारत में नारी की स्थिति इतनी अच्छी थी कि वे पुरुषों को धर्म और समाज की समस्याओं पर राय दे सकती थीं। द्रौपदी को 'पंडिता' कहा गया है। भीष्म ने नारी को 'लालयित्वा' रखने की राय दी है और 'पूज्या' माना गया है। 'स्त्रियं च प्रियदर्शना', 'सौभाग्ययुक्ता' एवं 'गुणान्विता' कहा है। शान्ति पर्व में उन्होंने पुत्र रहित राजा की मृत्यु पर उसकी कन्या को 'रानी' पद देने का विधान किया है (जो आज भी सभी सभ्य राजतंत्रों में प्रचलित है)।

स्मृतियाँ में लिखा है " यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता " । मनु ने "पूज्या भूषयिन्वा" कहा है। सास्त्रों में यह विधान है कि यदि पुत्री ऐसे घर को दी जाती है जो गुणहीन या चरित्रहीन है तो पुत्री को ऐसा घर कभी भी नहीं स्वीकार करना चाहिये। वह चाहे तो मृत्युपर्यन्त पिता के घर में कुमारी बनी रह सकती है। कतुमती होने के तीन वर्षों में भी यदि वह पिता के प्रयत्नों के द्वारा विवाहिता न हो पाये तो उसे अपना घर स्वयं चुन लेने का अधिकार दिया गया था जिसका उपयोग अपनी पिता की तथा धर्मप्राणनारद की राय से सावित्री ने किया था। पहले नारी को मंत्रपूत किया जा सकता था, वेद पढ़ाया जा सकता था, और सावित्री मंत्र के उच्चारण का अधिकार दिया गया था; मनु ने कहा है कि गृहस्थ को अपनी कन्या के साथ बड़ी ही सावधानी से एवं स्नेह-प्रेम से व्यवहार करना चाहिये। उन्हीं के अनुसार अपनी बहन, पिता की बहन और माता की बहन को माँ-सी समझना चाहिये। गुरु से पिता बौगुना और पिता से माता हजारगुनी अधिक आदरणीय होती है। वराहमिहिर कहते हैं कि सब बताइए, नारी में कौन ऐसे दोष हैं जो पुरुष में नहीं पाये जाते। मनु कहते हैं :- सौमात्स्र्याम् अदाच्छौचम् गन्धर्वाः शिक्षिताम् गिराम्; अग्निहव सर्व-
भम धित्वम् तस्मान् निष्कसमाः स्त्रियः । वे सोने जैसी हैं। वे सभी प्रकार से बुद्धिहीन और पवित्र होती हैं। निर्दोष होती हैं। उनको पतित करने का उत्तरदायित्व पुरुष होता है। हमारे सभी आश्रम नारी के लिये सुलभ थे। जहाँ हमने देव धोनि में पुरुषों की कल्पना की है, वहाँ नारियों की भी की है। उनको सर्वप्रमुख स्थान दिया है। सबसे अधिक पवित्र मंत्र की कल्पना (गायत्री), मानव की सर्वोत्कृष्ट वृत्ति-धी- की कल्पना (सरस्वती), लौकिक एवं सामाजिक जीवन के श्रेष्ठतम साधन - धन - की कल्पना (लक्ष्मी), एवं सब कुछ सुरक्षित रखने के श्रेष्ठतम साधन ताकत- की पूर्णतम कल्पना (महाशक्ति, - दुर्गा) । भारत में नारी स्वस्था है। हम 'राम' बाण में कहते हैं, 'सीता' पहले कहते हैं; 'कृष्ण' बाण में कहते हैं, 'राधा' पहले कहते हैं। हमारा आदर सूचक विशेषण 'श्री' है जो

स्त्री लिंग है।

एक ओर यह स्थिति और दूसरी ओर वह। हमें सोचना पडा कि इसका कारण क्या है। हमें लगा कि हमारी वर्तमान स्थिति युग एवं परिस्थिति-जन्य है, वह हमारी शाश्वत प्रकृति नहीं है। हमें अपने जीवन को सांस्कृतिक दृष्टि से जिस ओर ले जाना था उसका जो चित्र हमें मिला वह उपर्युक्त वैदिक युग की स्थिति के अनुरूप था - बल्कि तात्त्विक दृष्टि से लगभग वही था। ^{हम} इन कारणों के पीछे अधिक न उलझकर वर्तमान स्थिति की मर्त्सना और बांठित स्थिति की ओर बढ़ने का उद्बोधन देने लगे। संवत् १९३९ में स्वामी दयानन्द ने लिखा कि "स्त्रीशूद्रौ नाधीयातामिति श्रुतेः" कपील कल्पना है, किसी प्रामाणिक ग्रंथ की बात नहीं है। ^{हम} सुधार की दृष्टि से स्वामी दयानन्द के "सत्यार्थप्रकाश" का चतुर्थ समुल्लास असाधारणरूप से क्रांतिकारी अनुबंध है। उद्धरण सभी के सभी जार्पग्रंथों के हैं और दृष्टिकोण इतना क्रांतिकारी है कि उसको पूर्णरूप से हिन्दू-समाज आज तक भी नहीं अपनाया है। तबसे आज तक नारी की वर्तमान दुर्गति पर विचार-विनिमय होता आ रहा है और उन्हें सुधारवादी दृष्टि तथा जीवन की नवीकृत आवश्यकताएं क्रांति के मार्ग पर जाने और अनजाने दोनों ही ढंगों से अग्रसर करती जा रही हैं। जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है, "हमारी सम्यता, हमारा रीति-रिवाज, हमारे कानून सब आदमी ने बनाये हैं और आदमी ने अपने को ऊंची हालत में रखने का और स्त्रियों के साथ वर्तनी और सिलौनी -जैसा बर्ताव करने और अपने फायदे और मनोरंजन के लिये उनका शोष करने का पूरा ध्यान रखा है। इस लगातार बोझ के नीचे खी रहकर औरतें अपनी शक्ति पूरी तरह से नहीं बँटा पाई और तब आदमी उन्हें पिछड़ी हुई होने का शोष देता है" ^२ फिर कहते हैं, "मेरा विश्वास है कि स्त्रियों को

१. 'सत्यार्थप्रकाश', चतुर्थसमुल्लास।

२. 'हिंदुस्तान की समस्याएं', पृ. ८५।

मानवीय कामों के प्रत्येक विभाग में सर्वोत्कृष्ट शिक्षा मिलनी चाहिये और उन्हें तैयार किया जाना चाहिए जिसे वे तमाम पेशों में और क्षेत्रों में सक्रिय भाग ले सकें।¹ नये युग में नेहरू जी का यह विचार यहाँ तक कार्यान्वित हो चला है कि चावरों में लिपटी रहने वाली नारियाँ सैनिक वर्दी पहन कर, बूड़ी पहनने वाले तथा लडका सिलाने वाले हाथों में बन्दूकें फँड कर, घर में चूल्हा फुँकने वाले मुँह से "जयहिन्द" का उच्चारण करती हुई, लाज से नीची रहने वाली गर्दन को गर्व से उन्नत एवं तना हुआ करके परेड करती हुई और सुभाष बाबू के भक्तत्व में देश विरोधियों से रणक्षेत्र की प्रथम पंक्ति में सड़ी होकर हथियारों से मुलाकात करती हुई दिसाई पड़ी। यह सही है कि ऐसी ^{। धीरे-धीरे भारत का समस्त नारी वर्ग तैयार हो गई।} संस्कृति की दृष्टि से आज भारत की नारी कतारों में काम करने, सड़कों पर साइकिलें और मोटर चलाने, दुकानों से सामान सरीबने, सड़कों पर निर्भीक दूकने, अकेली यात्राएं करने और सामूहिक एवं सार्वजनिक रूप से लेलकूद में भाग लेने की स्थिति तक पहुँच गई है।

पर्वो हठा

पर्वो हटना अनिवार्य हो गया। प्राचीन साहित्य ने हमको यह विश्वास करा दिया कि हमारे यहाँ पर्दे का रिवाज कभी भी नहीं था। यह हमारा अपनी चीज नहीं हो सकती। इस विश्वास की पुष्टि हुई एक और जवाहरलाल नेहरू द्वारा लिखित इन वाक्यों से, [“शायद इसका आरंभ बाइजेंटाइन दरबारियों के बायरे में हुआ बाइजेंटाइन प्रभाव इस में पहुँचा अरब और फारस की मिली जुली सम्यता पर बाइजेंटाइन रीति-रिवाजों का बहुत कुछ असर पड़ा मालूम पड़ता है कि परदे के रिवाज की उन्नति हिन्दुस्तान में मुगलों के बसाने में हुई इसमें मुझे जरा भी شک नहीं कि हाल की सधियों में हिन्दुस्तान के ह्रास के कारणों में से एक त्वास कारण औरतों को परदे में रखने का रिवाज है। मुझे इसका और भी अधिक विश्वास है कि इस बर्बर रिवाज का पूरी

1. "हिन्दुस्तान की समस्याएँ", पृ. ८७।

तरह अंत होना हमारे समाजी जीवन की उन्नति के लिये अनिवार्य है^१; और दूसरी ओर स्वामी शिवानन्द के इसी प्रकार के निर्णय से कि पदा प्रथा का जन्म यूनान में हुआ जहाँ से यह ईरान में आकर वहाँ के प्रारंभिक मुसलमान आक्रमणकारियों द्वारा भारत में लाई गई।^२ इस रिवाज के पूर्णतया उन्मूलन में उताविलियों से चलती आती हुई ^{जन}समूह की एक प्रमपूर्ण धारणा-मनोवृत्ति ^{मान}बाधा के रूप में रह गई है। कोई समझदार व्यक्ति अब इसका समर्थन नहीं करता। नारी को पिंजड़े में बन्द रखने की जितनी भी धार्मिक युक्तियाँ या कतवे थे उन सबका तिरस्कार हो गया। भारत की प्राचीन नारी की स्थिति स्वागतार्ह हुई।

नारी और राष्ट्रीयता

पश्चिम की आधुनिक नारी की स्थिति के तुलनात्मक अध्ययन से भी नारी स्वतंत्रता की भावना को प्रेरणा मिली। राष्ट्रीय आंदोलन और गांधी जी का महत्व इस दृष्टि से असाधारण था। जिस नारी को समाज ने गौणस्थान दे रखा था उसे गांधी जी ने हिन्दू संस्कृति के सर्वश्रेष्ठ तत्त्व "अहिंसा" और युग के सर्वश्रेष्ठ हथियार सत्याग्रह का प्रतीक - साक्षात् अवतार - साकार-स्वरूप - घोषित किया। युगों युगों के बाद पहली बार भारतीय नारी ने (गांधी जी द्वारा संचालित) राष्ट्रव्यापी आंदोलन में ^{प्र}जनों के समान सुलकर उत्साहपूर्वक भाग लिया और इस प्रकार आधुनिक युग में पहली बार नारियों में निहित शक्ति और बलता की सामूहिक एवं प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति अभिव्यक्ति हुई। तायाजिनकिन ने लिखा है कि सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से आज की भारतीय नारी महात्मा गांधी की सृष्टि है।^३ उदारदृष्टि कोण और युक्तिवादी विचारों की तलवार ने नारी के समस्त बन्धन छिन्न-भिन्न कर दिये। पदा अवज्ञा-लिहाज और आकर्षण वृद्धि के लिये किया कराया जाता है। समझदारी आने के साथ साथ बालविवाह सत्तम होने लगा। यथार्थवादी और

१. 'हिंदुस्तान की कहानी', पृ. २०४-२०५।

२. 'वर्ल्ड पा रिलियामेंट आफ रिलीजंस' का कमेमोरिउम वा ल्यूम, पृ. ४५३।

३. 'इंडिया चेंजेज', पृ. ४४।

और मानवतावादी दृष्टिकोण ने विधवा विवाह को मान्यता दिला दी।

नारी-शिक्षा

ब्राह्मणसमाज, आर्यसमाज, रामकृष्ण मिशन एवं उदारचेता व्यक्तियों आदि ने नारी-शिक्षा का कार्यक्रम उठाया। १९१६ ई. में डी.के. कर्वे जी की 'दि इंडियन वीमेन्स यूनिवर्सिटी' स्थापित हुई। १९१७ में छात्राओं की संख्या १२३०००० थी और १९३७ ई. में २८९०००० हो गई। यह अवश्य है कि लड़कियों के जीवन के लिये उपयोगी पाठ्यक्रमों का अभाव था। इन्हें सहशिक्षा की नहीं, सशिक्षा की आवश्यकता थी। प्रयाग महिला विद्यापीठ ने इस अभाव की पूर्ति का प्रयास किया था पर उसका ^{प्रभाव} ठयापक न पड़ सका। योज्य अध्यापिकाओं का भी अभाव था क्योंकि डा. धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार, "कुछ दिन पहले अपने देश में स्त्रियों के बीच में पढ़ना-लिखना विधवाओं का कार्य समझा जाता था और प्रारंभ में प्रायः या भी ऐसा ही..... अध्यापिकाएं प्रायः विधवाएं या कुमारी वर्ग की हैं यदि सैम्बन सौभाग्य अथवा दुर्भाग्य से उसे ऐसी अध्यापिका अथवा विधवा अध्यापिका न बनकर गृहस्थिन् मां बनना पड़े तो उस का सारा जन्म दुःख में कटे"। भारत की नारी की शिक्षा की प्रगति में बड़ी-बड़ी बाधाएं थीं, जैसे, पदां, बाल-विवाह, लड़कियों के पढ़वाने में सामाजिक असुविधाओं और अर्थ की आवश्यकताओं के कारण मां-बाप की हिचकिचाहट, नारी शिक्षा के पाश्चात्य स्वरूप पर अविश्वास, मध्यवर्ग की आर्थिक दुरवस्था आदि।^१ "फिर भी पिछले ५० वर्षों के अन्दर उपहास और उपेक्षा की स्थिति से आगे बढ़ कर उत्साह प्रेरित क्रियाशीलताओं और उत्सुकताओं तक की स्थिति आ गई।"^२ सन् १९५१ ई. की जनगणना के अनुसार भारत में शिक्षित नारियाँ की कुल संख्या १३६५०६८३ थी जिसमें २९२०६० हाई स्कूल पास थीं, ९३७९ इंटर, और १८३०६४ डिग्री या डिप्लोमा पाये थीं। ३६९४४ बी.ए. और बी.एस-सी. थीं ६८३७ एम.ए.,

१. 'विचारधारा', पृ. १३०।

२. 'टी.एन.सिक्केयारा द्वारा लिखित 'एजुकेशन इन इंडिया', पृ. २३०।

एम.एस-सी., ६३२ इंजीनियरिंग की डिग्री या डिप्लोमा पाये थीं; ८५३ औषधि विज्ञान की, १०३५ वाणिज्य विज्ञान की, ८३३१ औषधि कला में दी-
कित थीं, और ३७७७७ प्रशिक्षण में।

जागृत-नारी

अब नारियाँ ने सुलकर अधिकारों की मांग की। शिक्षा और महान् विभूतियों के सद्भावना सूचक दृष्टिकोण, उद्गारों, एवं क्रियात्मक सहयोग ने नारी को साहस प्रदान किया। उसे अपनी बुद्धि और नैतिक दृढ़ता पर आत्म-विश्वास हुआ। पर्दा हटा। वह बाहर निकली। "चांद" में प्रकाशित लेखों और महादेवी वर्मा की "शुंखला की कड़ियाँ" नामक पुस्तक के लेखों ने क्रांति मचा दी। इंडियादियों ने अपनी बालिकाओं को ऐसे साहित्य के पढ़ने से रोकना चाहा। अरतचन्द्र घटर्जी की कहानियाँ और उपन्यासों के अनुवादों ने उसके नैतिक आत्म-वलिदान की सराहना का प्रचार किया। गांधी ने कहा कि जिस दिन भारत की नारियाँ डरना छोड़ देंगी उस दिन कोई इस देश को और आंत उठाकर देख भी न सकेगा। नारी का महत्व प्रतिष्ठापित हो गया। उसका व्यक्तित्व सबल, स्वतंत्र और महत्वपूर्ण हो गया। ए. आर. देसाई ने लिखा है, "हजारों महिलाएं राजनीतिक क्षेत्र के जन आंदोलन में भाग ले रहीं हैं - उरा-बकी भट्टियाँ और विदेशी वस्त्रों की बूकारियों पर पिकेटिंग कर रही हैं, जुलूस में आगे-आगे चल रही हैं, लाठियों की मारें और गोलियों की बोझारें झेल रही हैं, जेल जा रही हैं। ये वृक्ष - महिला समाज के ये कार्य सम्पूर्ण भारतीय इतिहास में अद्वितीय थे - अनोखे थे।" ¹ हजारों श्वेताम्बरारों कमल-कौमल किंग्ज बजावपि कठोर करों से "तिरंजे बड़े फहराती हुई तथा 'इन्कलाब जिन्दाबाद' के नारे लगाकर वायुमंडल को प्रकंपित करती हुई ब्रिटिश साम्राज्यवाद के चक्र को अपने पांचजन्मी घोष एवं गांधीजी निनाद से आलौहित - विलौहित करती

1. 'दि सोशल बैकग्राउण्ड आफ इंडियन नेशनलिज्म', पृ. २५७।

हुई निकल पड़ीं। और जो ^{निकल} ~~बनकर~~ नहीं निकलीं इन्होंने मुक्त भाव से, विज्ञापित न करते हुए भी, जितने असाधारण कष्ट सह-सहकर भी अपने घर के पुरुषों को घर की जिम्मेदारी से मुक्त करके राष्ट्रसेवा के लिये जीवन अर्पित करने का जो सुअवसर प्रदान किया उससे भारतमाता की ^{दाती} ~~स्त्री~~ गौरव से फूल उठी होगी, हृदय आवेग से प्रकम्पित उठा होगा, आंसें मावावेश से गीली हो उठी होंगी।

यशोधरा ने पूछा था "सखि, वे मुझसे कह कर जाते, ^{कहाँ} ~~कुछ~~ तो क्या मुझको ^{वे} ~~अपनी~~ पथ बाधा ही पाते ?" ^{अरे} इसका उत्तर भारत की इन्हीं बेटियों ने अपनी बलिदानों से दिया। मुझे तो ऐसा लगता है कि यशोधरा के निम्नलिखित शब्दों में यह भारतीय नारी ही बोलती है :-

जाओ नाथ! अमृत तुम लाओ मुझमें मेरा पानी
 बेरी ही मैं बहुत तुम्हारी मुक्ति तुम्हारी रानी।
 प्रिय तुम तपो, सहूं मैं भरसक, देखूं बस है यानी
 कहाँ तुम्हारी गुण-गाथा मैं मेरी कल्प कहानी
 तुम्हें ^{अपना} ~~अपना~~ विघ्न न ठयापे यशोधरा कू धारी
 अब कठोर हो यज्ञावधि ओ कुसुमावधि सुकुमारी ^२
 आर्य पुत्र वे बुके परीक्षा, अब है मेरी बारी।"

भारतीय महिला समाज के इतिहास के नवीनतम एवं गौरवपूर्ण आलोकमय अध्याय का आरंभ हुआ। मस्तिष्क में सात्त्विक विवेक, शरीर पर सद्वर, अन्तर्लक्ष्य वैश्वमक्ति की भावना एवं स्वतंत्रता की प्रज्वलित वह्नि, एक हाथ में कलम, दूसरे में तिरंगा, आगे उठे हुए चरण - यह भारत की नवीनतम रणचंडी का चित्र है - दुर्गा का स्वरूप है। इसकी एक आंस में प्राचीन डील और मर्यादा सुरक्षित है और दूसरी में नवीनतम जागृति की आभा है। इसके पास प्रेम-ममत्त्व की पयस्विनी भी है और सुधार की दीपशिखा भी। सीता - सावित्री - गार्गी -

१. मैथिलीचरण गुप्त लिखित "यशोधरा"

दमयन्ती - द्रौपदी - लक्ष्मीबाई आदि ने कमला, विजयलक्ष्मी, सरोजिनी, अरुमा, इन्दिरा, कैप्टेन लक्ष्मी आदि का रूप धारण कर लिया। कौशिल्या सुमित्रा, आदि कस्तूरबा, स्वरूप रानी आदि का रूप धारण करके निकल पड़ीं। एक ही झटके में भारतीय नारी ने युगी-युगी की अनावश्यक संसलाओं को तोड़ फेंका। जाग्रत भारतीय नारी के साहस, उसकी शक्ति, उसकी क्रियाशीलता का उल्लेख करते हुए ताया जिनकिन ने \times जो कुछ लिखा है, "उससे पता चलता है कि आज नारी सारी कठिनाइयाँ उठाकर, पैदल दौड़कर धूप-सर्पों गमीं बरसात सह-सहकर, जमीन पर और मोटरों पर सपकियाँ ले लेकर भूखे रह-रहकर, देहाती की धूल फाँक-फाँक कर, हर तरह केसतरे उठा-उठाकर और हर तरह से उन्हें भुगत-भुगत कर नये भारत का निर्माण इस तरह कर रही है कि उसे देखकर एक बार पुरुष भी काँप उठा है। इस नारी ने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में नौकरियाँ कर करके अपने और अपने परिवार के आर्थिक बोझ को कम किया है। वह बछिया-पिका बनी, नर्स बनी, समाजसेविका बनी, ट्राइपिस्ट बनी, मिलों में काम किया और बस-कंडक्टर बनी। आज यह धारणा निर्मूल हो चुकी है कि औरतों की दुनियाँ बहार-दीवारी के भीतर है और मर्दों की उसके बाहर। के.एम.कपाडिया ने लिखा है, "आधुनिक वैज्ञानिक विचारों ने स्पष्टतः यह दिसला दिया है कि नारी योनी पाने ही के कारण कोई ऐसी बात नहीं हो जाती जिसके कारण नारी को कोई विशेष अधिकार न दिये जा सकें। नारी की हीनस्थिति इस पर समाज के द्वारा लायी गई है। मनोवैज्ञानिक या युक्तिवादी आधारों पर इसकी कोई विशेष सन्तोषजनक व्याख्या नहीं की जा सकती। परिणामतः नारी ने समानता की माँग की है और वह अपने व्यक्तित्व को मान्यता पिलाने के लिए आग्रहशील है^१।" औद्योगिक ज्ञान्ति ने उत्पादन का स्वरूप इस प्रकार बदला कि शारीरिक श्रम पहले-बैसा अनिवार्य नहीं रह गया और औरतों को काम करने निकल पड़ीं। १९५० की संख्याओं के आधार पर विभिन्न क्षेत्रों में स्त्रियाँ

१. 'इंडिया वेब', पृ. ४६-४९।

२. 'मेरिब रैड केमिली इन इंडिया', पृ. १८२।

की संख्या इस प्रकार है:- लगभग ५,१२,००० प्राथमिक तथा बुनियादी स्कूलों की अध्यापिकाएं, ३१००० माध्यमिक स्कूलों में अध्यापिकाएं, २६०२ रजिस्टर्ड डाक्टर, २३९४ अन्य महिला डाक्टर; १०,६८३ नर्स; ३४२१४८ फैक्टोरियां में काम करने वाली, ५३२४०६ चाय बगानों में काम करने वाली, ९६५०६ सानों में काम करने वाली, ३२८६०४ घरेलू उद्योगों में काम करने वाली; । ऐसा करने में उसका उत्तरदायित्व झुना हो गया। वह घर भी संभालती है और नौकरी भी करती है। चाय-साना तो उसे अवश्य ही तैयार करना होता है। क्योंकि मां और पत्नी के हाथ की रोटी बड़ी मीठी होती है न। मर्द कस्तर-कालेज से लौटने पर आराम करता है; पत्नी परिवार की सेवा किया करती है। बाव में लोगों को इस 'मिठाई' का मोह कुछ छोड़ना पड़ा। अब यह कर्तव्यनिष्ठ नारी कामिनी, मोहिनी, रमणीमात्र नहीं रह गई। उसने जहरीली आंखों को फोड़ना और गुण्डों के सिरों पर चप्पलें बरसाना भी सीख लिया। वह गुड़िया मात्र नहीं रह गई। अतुलबन्द्र चटर्जी ने लिखा है, "सभी धारणाओं एवं राजनीतिक विचारधारणों वाली महिलाएं चाहे वे राजघरानों की हों चाहे सामान्य स्थिति वालों के घरों की - सारी जनता की और विशेष रूप से नारियाँ अपनी अवस्थाएं सुधारने के उद्देश्य से अखिल भारतीय संगठनों एवं संस्थाओं में अपूर्व उत्साह, स्फूर्ति तेज और सक्रियतापूर्वक भाग लेने लगी हैं^१।" के. नटराजन ने बिल्कुल ठीक लिखा है कि यदि ऐसा कोई व्यक्ति जिसकी मृत्यु आज से सौ वर्ष पहले हुई हो आज सहसा जीवित हो उठे तो उसके मस्तिष्क को झकझोर देने वाली सबसे पहली और सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात लगेगी नारी की स्थिति में क्रांतिकारी परिवर्तन।^२ भारतीय नारी ने उन सभी महत्वपूर्ण राष्ट्रीय और अन्तराष्ट्रीय पदों को प्राप्त किया है - और संसार में पहली बार प्राप्त किया है, जिसे पाकर कोई भी पुरुष धन्य हो उठता है वह विश्वविद्यालय की उपकुलपति रह चुकी है, वह राष्ट्रीय कांग्रेस की समापति रह चुकी है, वह प्रान्त की गवर्नर

१. कैलाशनाथमार्कृत 'भारतीय समाज और संस्कृति', पृ. २२४-२२५।

२. 'न्यू इंडिया', पृ. ४८।

३. 'इंडियन सोशल रिकार्डर', के २५ सितम्बर, १९३७ वाला अंक

रह चुकी है। इस दृष्टि से हंसा मेहता, सरोजिनी नायडू तथा एनी बेसेंट, रा^जकुमारी अमृतकौर, विजयलक्ष्मी पंडित, सुवेता कुपलानी, कमलादेवी चट्टोपाध्याय, इन्दिरा गांधी, रामेश्वरी नेहरू आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

नारी स्वतन्त्रता की उपयुक्त विद्या ?

प्रश्न एक ही है - नारी स्वतन्त्रता की यह विद्या या उसका स्वरूप क्या होगा ! महादेवी वर्मा ने 'गुंथला की कड़ियाँ' में स्पष्टरूप से यह घोषणा की है कि भारतीय नारी को पश्चिम की नारी की तरह फैशन की पुतली नहीं बनना है। स्वामी विवेकानन्द ने लिखा है :- "हम पश्चिम में नारी-पूजा की बात बहुत सुनते हैं; पर यहाँ नारी केवल अपने यौवन और सुन्दरता के लिये ही पूजी जाती है। हमारे गुरु प्रत्येक नारी को अभयदायिनी माता ही मानकर पूजते, अन्य किसी कारण से नहीं"।^१ भारतीय नारी को अपने इसी गौरवमय कीर्ति पथ की रक्षा करनी है। उसे सशक्त देवी बनना है। यह कैसे होगा - इसको अभी निश्चित होना है। नये युग की पृष्ठभूमि में भारतीय समाज और परिवार के अन्दर स्त्रियों का स्थान क्या हो तथा पति-पत्नी के संबंध का रूप क्या होना चाहिए - इस विषय में अभी भी विचारों में स्थिरता नहीं आ सकी है। यह एक गहन सांस्कृतिक प्रश्न है।^२ इसका उत्तर समय देगा। वैसे, भारतीय नारी अपना स्थान जानती है। उसके लिये उसे झगड़ना नहीं। पुरुष उसकी उन्नति का विरोधी नहीं, सहायक है।

यह नारी और हिन्दी साहित्य

आधुनिक हिन्दी साहित्य में नारी के सभी रूप और उसके विकासशील जीवन की सभी स्थितियाँ मिलती हैं। उसके उस रूप का भी चित्रण है जो सरदार भगतसिंह की "बीबी" का है, और उसके देहाती के उस रूप का

१. 'भक्ति और वेदान्त', पृ. ३०।

२. 'मध्यवेद - ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक सिंहावलोकन', पृ. १८८।

का भी चित्रम-है-जने-तक जहाँ उपर्युक्त विकास के आलोक की एक भी किरण नहीं पहुँचने पाई है। प्रेमचन्द के "गोदान" की मालती, बुनिया और धनिया नारी की विकास की तीन स्थितियाँ एवं रूपों का प्रतिनिधित्व करती हैं। प्रसाद, चन्द्र किरण सौनरिकसा, पन्त, गुप्त, पहाड़ी, यशपाल आदि लगभग सभी कलाकारों की कृतियों में ये चित्र मरे हैं। प्रसाद की ब्रह्मा, गुप्त की यक्षी-धरा और उर्मिला, और "मुक्त करो नारी को मानव" का आह्वान करने वाले पन्त की "कल्याणी", यशपाल की विद्यापं आदि नारी जागरण की इसी पृष्ठ-भूमि पर कल्पित एवं चित्रित हुई हैं। भक्तती चरण वर्मा की चित्रलैला के रूप में जैसे आधुनिक नारी ने ही कुमारगिरि रूपी पुरुष को चुनौती दी है और वह हारकर भी जीती है। प्रेमचन्द, पहाड़ेवी आदि एकाध कथाकारों को छोड़कर शेष कलाकारों की कृतियों में नगरों के मध्यवर्ग की ही नारी के चित्र अधिक मिलते हैं। शेष चित्रणों में कल्पना और आवर्ण के रंगों की अधिकता हो जाती है, जो कदाचित् इन साहित्यिकों की अपनी सीमाओं के परिणामस्वरूप है। नारी जागरण का एक सुम प्रभाव हमारे साहित्य पर यह भी पड़ा है कि शिक्षिता नारियों की एक बड़ी संख्या साहित्य सेवा में लग गई और इस क्षेत्र में उनका योग बहुत ही महत्वपूर्ण है। पहाड़ेवी वर्मा, सुमद्राकुमारी चौहान, विद्यावती "कौकिल" चन्द्रमुत्ती ओझा सुधा, हीरादेवी चतुर्वेदी, रामेश्वरी देवी "चकौरी" हौभवती देवी, ऊषा मित्रा, चन्द्रकिरण सौनरिकसा आदि के अभाव में हमारा आधुनिक साहित्य ^{विप्लव} स्थिर रूप से बहुत-कुछ लो बैठता।

काम और हमारी (सेक्स) जीवनदृष्टि

इस दृष्टि के क्षेत्र प्राणी प्रायः जिन दो मूलवर्गों में विभाजित हैं उनमें से एक है नर और दूसरा है माँदा। एक दूसरे से असंपृक्त रहकर सर्वत्र पृथक् रूप धारण न करने देने के लिये प्रकृति ने उनके अन्दर एक दूसरे के प्रति अनंत आकर्षण पैदा कर दिया है। सभी अंगों के पूर्णतः विकसित हो जाने पर और

अपने वास्तविक अस्तित्व के प्रति यथार्थ रूप से जागरूक हो जाने पर जब ये एक दूसरे को छूते हैं तो इनके मन की एक विशेष प्रकार की तृप्ति मिलती है। दोनों के अन्दर अपने-अपने अस्तित्व के मूलतत्त्व को एक दूसरे में समाहित कर देने की - एक दूसरे में समा जाने की - वेगवती कामना पैदा होती है। अपने मानस में अज्ञात रूप से ही विनिर्मित अपने सत्ता या सत्ती के भावचित्र के अनुरूप व्यव्यक्तित्व को देख लेने पर उत्पन्न हो जाने वाली इस वेगवती कामना, लालसा या आंधी को रोक सकना दुर्निवार होता है। यही आंधी "काम" कहलाती है। अंगरेजी में यही "सेक्स" अनुभूति कहलाती है। स्थिर हो जाने पर यह आंधी प्राणवायिनी शीतल-सुगंध समीर का रूप धारण कर लेती है। स्थायित्व पर जाने पर यही भावना जीवनठयापी एक ऐसे अनुराग - रागात्मिका प्रवृत्ति में परिवर्तित हो जाती है जो जीवनयात्रा को स्थिग्धता से सुकर, मधुर एवं सुन्दर बना देती है। यह जीवन-यात्रा प्यारी और अच्छी लगने लगती है। बंध कर - मर्यादित होकर यह भावना मंगलमय वातावरण की सृष्टि कर सकती है। असंस्कृत एवं अमर्यादित होने पर यह मानव को पशु बना देती है। भारतीय संस्कृति ने इसके अस्तित्व और इसके वेग को अस्वीकार नहीं किया किन्तु यह भी नहीं किया कि ज्ञान-विज्ञान धर्म और साहित्य - सभी केही में सिद्धान्ततः इसी का डिंडोरा पीटा हो, एकमात्र इसी की ही प्रमुखा मानी हो, इसी का उपदेश दिया हो, इसी पर गीत लिखे हों, इसी पर कहानियाँ लिखी हों और इसी को उभार उभार कर आँसों में इसी का रंग उतारने और चित्र सींचने वाली तसवीरों की मरमार कर दी हो। हमारे यहाँ इसकी व्यापकता, इसकी उक्ति, इसकी प्रभुता यदि घिसाई गई है तो इसलिये कि इस हाथी पर का अंकुश कभी ढीला न किया जाय बना यह अनर्थ कर देना - इसलिये नहीं कि एक तो यह स्वयं हमारे अंदर मौके की ताक लगाये बैठा है, और दूसरे हमारा साहित्य भी इसको हमारे चारों ओर नाचता हुआ दिखाए। हम कविता पढ़ें तो काम-मयी, कहानी पढ़ें तो काम-पूर्ण, उपन्यास पढ़ें तो काम-पूरित, नाटक देखें तो कामलीला का, सिद्धान्त पढ़ें तो काम की व्यापकता का। कौन नहीं जानता कि तत्त्व या

तल्ली से एकांत में काम भावना से भरी चार कलापूर्ण बातें कर लेना उसकी कामोत्तेजित तथा काम-शिथिल कर देना है किन्तु ये कलाकार काम के सबल आकर्षक, प्रभावशाली चित्रों से परिपूर्ण साहित्य हमारे नवजीवन को एकांत में पढ़ने के लिये प्रचुर मात्रा में देने को तत्पर हैं। यथार्थ के नाम पर ये लोग बड़े भारी मनोवैज्ञानिक अनर्थ की सृष्टि कर रहे हैं। लेनिन भी संयम का महत्व एवं उसकी उपादेयता स्वीकार करता था^१ किन्तु शायद वह ये महानुभाव समाज में संयम विहीन कामोत्तेजक तत्वों से पूर्ण वातावरण की सृष्टि करना चाहते हैं; शायद ये कार्तिक के कुत्तों और कुतियों के दृश्य कालेजों, सड़कों, दूकानों, रेलों, सिनेमाघरों, स्टेशनों आदि पर देखने के शौकीन हैं। (ये दृश्य किसी न किसी रूप में अब दिसाई भी पढ़ने लगे हैं।) भारतीय संस्कृति ने कहा है, "कामातुराणां न भयं न लज्जा", ये अब ये कहते हैं - यही तो स्वाभाविक है; तुलसीदास ने कहा - "सियाराममय सब जग जानी - करहुं प्रणाम जोरि जुग पानी", अब ये कहते हैं - यह तो कोरा, अस्वाभाविक और अव्यावहारिक आदर्श है - वास्तविकता एवं यथार्थ है "एक काममय सब जग जानी, अरपठं" अब तन-मन-धन-बानी।" भारतीय संस्कृति ने "काम" की भावना को इतना सुसंस्कृत एवं मर्यादित कर रक्खा है जितना इस सृष्टि में किसी के भी लिये संभव हो सकता है। यहां से अधिक शायद और कहीं भी यह इतना सुसंस्कृत, मर्यादित एवं सुनियोजित नहीं है। दिल्ली में स्थित अनेक देशों के राजदूतों का यह अनुभव है कि उनके परिवारों की तरुणियां जितनी निश्चि^{छि}न्ता के साथ भारतीय वातावरण में घूम फिर सकती हैं उतनी और कहीं नहीं। यहां मिथुन-रत पुरुषों को भी देखना वर्जित है। हम नारी शरीर को पवित्र मानते हैं। उसे विगमना देखना उस पवित्रता का सांस्कृतिक अपमान करना माना गया है। तायाजिनकिन ने लिखा है कि इनको वस्त्ररहित स्नान करते देखकर दूसरे घर के कोठे पर काम करने वाले मजदूर भी काम करना छोड़ कर नीचे उतर जाते थे। "काम" की दृष्टि से हिंदू

१. 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य', पृ. २४५-२४८।

२. 'इंडिया बीबी',

बड़ा ही विनम्र, सुशील, संयमित एवं मर्यादित होता है। ब्रह्मचर्य की महिमा, शादी के बाद भी ब्रह्मचर्य के कार्यक्रम आदि हमारी काम-वासना को संयमित एवं मर्यादित रखते हैं। संयमित वासना हमारी संस्कृतिक मनोवृत्ति है। इसका प्रभाव आधुनिक हिंदी साहित्य पर ही नहीं, सम्पूर्ण साहित्य पर पड़ा है। आधुनिक भारतीय साहित्य काम-वासना की दृष्टि से उतना ही शुद्ध एवं सुसंस्कृत है जितना मररतीय जन्ता का दृष्टिकोण - उतना ही मनोहर है जितनी नव - परिणीता कुलवधू। हिन्दी साहित्य इसका अपवाद नहीं, सबसे अच्छा उदाहरण है। काम-अपराधी एवं कामी-उच्छृंखलताओं का साहित्य हिंदी में नग्न है। उसके नग्न चित्रण को शिष्ट समुदाय ने न सिर्फ मान्यता ही नहीं दी है, उसको हतोत्साहित भी किया है। वह चोरी और बहानेबाजी की चीज है। जेनेन्द्र (सुनीता), यशपाल (बादा कामरेड), बलवन्त सिंह (रात चोर और चांदनी), पहाड़ी (यथार्थवादी रीमांस), धर्मवीर भारती (सूरज का सातवां घोड़ा) आदि समाज को ग्राह्य नहीं हुए।

नियोजित कामवासना-विवाह

कमजोरी यदि मानव अस्तित्व के साथ अनिवार्य रूप से लगी हुई है, गलती किये बिना यदि वह नहीं रह सकता, नग्नता यदि उसकी विवशता है और कामवासना की यदि उसके अन्दर प्रबलता है तो भारतीय संस्कृति की सकारित्व है कि उसे किसी एक तक ही सीमित कर दिया जाय और उसे मानव की किसी महत् प्रवृत्ति के साथ नियोजित कर दिया जाय, उसे किसी महान् उद्देश्य की पूर्ति का साधन बना लिया जाय, एवं उसको बाधित, मर्यादित एवं सुसंस्कृत कर लिया जाय। हमारी संस्कृति अन्धकार, अपूर्णता और कमजोरियों का सैदान्तिक समर्थन करके उसकी शाश्वतता घोषित करने के प्रतिकूल है। इनके ^{रूपक} निर्वर्णक बाजार, एवं मानवसमाज के चौराहे पर किये जाने वाले प्रदर्शन को हमारी संस्कृति ने घुषित एवं गहिर्त माना है। उसने इनको निवारणीय, दमनीय, अता-

त्विक तथा कुकुत्सन अश्वत् माना है। उनके कारण सामाजिक जीवन में
 उपद्रव न मचने पाए, मनुष्य की दुर्बलताओं और आवेशों की वणिक, तृप्ति उनके
 समन का कारण बनकर व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक एवं आत्मिक विकास
 एवं माधुर्य का साधन बन जाए, जीवन-यात्रा मधुर हो, मानव लघुता और सीमा
 से महानता और असीम की ओर बढ़ने का वातावरण और मनोवृत्ति पा सके ;
 इसलिये भारतीय संस्कृति ने काम्यासनाओं तथा अन्य मनोविकारों से पूर्ण दो
 विभिन्न मानवीय व्यक्तियों को विवाह के द्वारा अटूट बन्धन में बांधकर सदा-
 सदा के लिये एक दूसरे का बनाकर, दोनों के बीच के अन्तर को मनोवैज्ञानिक ढंग
 से मिटाकर दोनों को एक दूसरे का सभी परिस्थितियों में स्थायी साथी घोषित
 करके विवाह का अत्यन्त कल्याणकारी मार्ग प्रदर्शित किया है। भारतीय संस्कृति
 में विवाह का तात्त्विक स्वरूप और उद्देश्य यही है। यहाँ हिन्दी साहित्य में
 विवाह का यही स्वरूप और यही उद्देश्य मान्य है। नर्मनड गौडा जिले के क-
 रामपुर जैसी छोटी जगह के बहुत ही छोटे कवि स्वामी बबाल 'शान्त' ने
 निम्नलिखित पंक्तियों में ये ही उदात्त भाव व्यक्त किये हैं :-

यह बन्धन प्रेमका बन्धन है यहाँ दो दिलों के अरमान मिले।

यहाँ दो पाँवों को सुमार्ग मिला यहाँ दो विधिना के विधान मिले।

~~कर्म, स्वभाव मिले उर से उर प्राण से प्राण मिले~~

।हाँ दो गुण, कर्म, स्वभाव मिले उर से उर प्राण से प्राण मिले।

।रको भी यहाँ वर-दान मिला है वधू को स्वयं मगवान मिले।

।तिप्रेम कहानी न हो इससे यहाँ दो इतिहासों का है मिलना।

। सजीवता की वृत्ति हो इससे यहाँ स्वासों से स्वासों का है मिलना।

।तच्छाड न जाये कभी इससे यहाँ दो मधुमासों का है मिलना

।स विश्व अतृप्त में तृप्ति की सौज में दो चिर च्यासों का है मिलना

।ह ग्रंथि नहीं, यह ग्रन्थि नहीं यहाँ धार्मिक साधना जोड़ी गई

।मभाव परार्थ के लाये गये और स्वार्थ की भावना तोड़ी गई

अनुराग की घाँटिका सींचने की गति जीवन धारा की मोड़ी गई
यहां की प्रेम की चंचलता नव स्नेह के सूत्र में बांध के छोड़ी गई।

भारतीय विवाह का लक्ष्य अलग मैथुन नहीं, माथी सुयोग्य नागरिक की सृष्टि है। यह 'काम' के ऊपर धर्म और अर्थ का बन्धन है। यहां मैथुन निरुद्देश्य राग-रंग सुख नहीं, वह सन्तान सुख का साधन है जो स्वतः अपने में महा नु उद्देश्य है इसीलिये यह सन्तान आकर्षक घटना या मूल - गलती नहीं, सुनियोजित धर्म है। अपवाद रूप अद्वितीय महात्माओं के अतिरिक्त सब के लिये विवाह अनिवार्य है क्योंकि सामान्य जनो के इस लोक में और उस लोक के सुख के लिये सन्तान अनिवार्य है। मनु ने साधारण नर-नारी का उद्देश्य सन्तान-प्राप्ति बताकर इसके साधन विवाह को सामान्य धर्म की संज्ञा दे दी है - 'प्रजननार्थं स्त्रियः सृष्टः सन्तानार्थं च मानवः, तस्मात् साधारणो धर्मः, सुतोपत्न्या सहोदितः।'

साथी का चुनाव कैसे हो ?

और, जब ब्याह करना है तो प्रश्न उठता है कि ब्याह किससे किया जाय, कब किया जाय, कब तक के लिये किया जाय, कैसे किया जाय, जाय क्या राह चलते जो भी मिल जाय और इस चिर चंचल मन और कब कब परिवर्तित होती हुई, नवीनता की चिरप्यासी मनोवृत्ति को जिस घड़ी जो भी बंध जाय उसी से ब्याह कर लें और जब उससे न पटे तब उसको छोड़ दें।" पुरु भी तो सामान्यतः यही करते हैं। जब जीवन के अन्य सभी क्षेत्रों में बड़ों के अनुभव और विवेक द्वारा किया गया निर्णय अधिक व्यवहार्य, अधिक उपयोगी, अधिक लाभ - प्रय और अधिक अच्छा होता है तब जीवन-साथी के चुनाव जैसे महत्वपूर्ण कार्य में घासना से अंगे, आयु से कच्चे और अनुभव की दृष्टि से नितान्त बच्चे की राय या निर्णय की प्रायमिकता न देने वाली हिंदू व्यवस्था कैसे दीपपूर्ण है - यह

सौजने की बात है। एक बार चुने हुए साथी को छोड़ना उचित नहीं है, क्योंकि
 बहुतों को अपनी लाज का अधिकारी बनाना स्वतः एक निर्लज्जता है - पशुता
 है। ऐसी स्थिति में चुनते समय ही एक बार तब ठोक बजाकर चुन लेना चाहिए।
 चूँकि नारी एवं पुरुष का शरीर बाजार की वस्तु नहीं है, इसलिये साथी की
 उपयुक्तता की कसौटी के कुछ सामान्य लक्षण ही बताये जा सकते हैं और इन लक्षणों
 का निर्धारण उताड़िदर्यों के अनुभव ही कर सकते हैं। वात्स्यायन से लेकर कुटुम्ब के
 वर्तमान वृद्ध जनों का भी निर्णय यदि गलत हो सकता है तो बीस बाइस के छोकरों
 और छोकरियों का अहंकार कितना घयनीय है - इसे हम क्या बताएं ! और
 फिर क्या संसार में किन्हीं भी दो ऐसे पृथक् व्यक्तित्वों का स्वतंत्र अस्तित्व
 संभव है जिनमें विभिन्नता न हो - पूर्णतः अनुरूपता एवं एकरूपता ही हो ? जब
 यह स्थिति इतिहास और समाज - दोनों ही क्षेत्रों में एकमात्र कल्पना का खेल
 है तब नये लोगों की ऐसी सौज विहंबना ही तो है !! इन बच्चों की समझ में
 यह नहीं आता कि दोष वैषम्य एवं विभिन्नता में नहीं है, दोष है निवाह
 न करने का निश्चय करने वाली उपद्रवता में। जो नवयुवक पति-पत्नी के बीच
 के संबंधों के टूटने की बात पर जो देता है उससे मेरी यह पूछने की यह इच्छा
 होती है कि क्या आप अपने अफसरों, अपने सहकारियों, अपने मित्रों से भी वि-
 भिन्नता एवं विषमता के अवसरों पर इसी प्रकार संबंध विच्छेद करते रहेंगे; और
 यदि हाँ, तो क्या एक दिन आपको कुर्बान - ताल न देसना पड़ेगा, क्योंकि ये
 लोग आपकी पत्नी से अधिक आपके हितैषी न सिद्ध हो सकेंगे ? किसी भी
 स्थिति में समस्या का अंत तलाक नहीं - निवाह है। जीवन के द्वाितीय पर सुख
 और माधुर्य के इन्द्रधनुष के सौन्दर्योंवय का आकलन निवाह की तुलिका से ही
 संभव है। अस्तु, साथी सौजने के संबंध में अनुभवों के आधार पर एक व्यापक
 कसौटी बना लेने की व्यवस्था और सामान्यतः उसके पालन का आदेश भारतीय
 संस्कृति में है। हमारी व्यवस्था कहती है कि विवाह अपनी ही जाति के लोगों
 में होना चाहिये, क्योंकि प्रत्येक समाज का नियम है कि व्याह -संबंध लीज

लोग उन्हीं लोगों से करते हैं जो समान स्वभाव तथा आचार रखते हैं। चूंकि एक ही व्यवसाय के लोगों में सामान्य सांस्कृतिक परम्परा का विकास अधिक संभव है अतः समान व्यवसाय के लोगों में ब्याह-संबंध एक नियम सा हो जाता है। दो विभिन्न 'गूड' और प्रकृति वाले लोगों का व्यावहारिक सामंजस्य दो विभिन्न संस्कारों वाले - सांस्कृतिक परम्पराओं वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सम्भव है। इसी लिये एक जाति वालों में विवाह का - स्वर्णविवाह का - अनु-कर्त्तव्य मोदन किया गया है। जाति का अर्थ है कोटि, यैनी एक-सी विशिष्टताओं वाला वर्ग, आदि। इसमें पैतृक परंपरा तथा पर्यावरण जीनित गुण, कर्म, स्वभाव एवं संस्कारों की बात सम्मिलित है। मुझे गलत न समझा जाय। मेरा अनुभव है कि हिन्दू व्यवस्था ने जिन जातियों का निर्माण किया है उनकी अपनी विशिष्ट जातिगत विशेषताएं ऐसी हैं जो औरों में नहीं मिलतीं। हर सेत की एक-सी विशेषता नहीं होती, हर बीज हर तरह की मिट्टी में ठीक से फूल-फल नहीं सकता। एक से अंगों, अवयवों, प्रकृति और मनोविज्ञान वाली होकरभी हर नारी समान नहीं है और किसी वंश विशेष की परंपराओं और विशेषताओं को अक्षत रख रखकर उसकी योग्यता वृद्धि करने वाला पुत्र उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकती। हर नारी पुरुष का योग पाकर जीव पैदा कर देगी, कुल को रोशन करने वाला - पितरों को 'नरक' से 'स्वर्ग' भेज सकने वाला, पितरों को 'पानी' दे सकने वाला पुत्र केवल कुल-ललना - कुलीन ललनाही पैदा कर सकती है। मैं अपवादों की बात नहीं करता, किन्तु 'राम' को जन्म कौशल्या ही दे सकती है। 'तिष्य रक्षितार्य' चाहे जितनी खूबसूरत हों, उन्से ब्याह करने पर 'कुणालों' की आंखों की रोशनी गुल हो ही जायगी - सानदान डूब ही जायगा - नाक कट ही जायगी। जन्म से लेकर सोलह अठारह की आयु तक जिसने कुर्सी पर बैठकर किताबें पढ़ी हैं, उसे कृषि प्रधान वातावरण में - कुटाई-पिसाई होने वाले घर में रख देने पर किस माधुर्य की सृष्टि हो सकती है! खूबसूरत से भी खूबसूरत होने पर भी कोई मलमूत्र उठाने वाली मंगिन ठाकुर साहब की पटरानी बनने पर भी 'ठकुराइन

साहिबा' की - ^{द्व}क्रीडाणियों की स्वभाविक विशेषताएं नहीं पा सकती। चमड़े का रंग तथा मांस की प्रवृत्तियां और वंशपरम्परा से प्राप्त होने वाले जातीय धर्म, गुण, कर्म, स्वभाव अलग अलग बातें हैं। ठाकुर आज भी ठाकुर है - भले ही वह तलवार न चलाता हो, ब्राह्मण आज भी ब्राह्मण है भले ही वह वेद-पाठ न करता हो। आज पहले की मान्यताएं बदल चली हैं। कफ़तर में सबके बदन पर आप एक-सी ही पोशाक पाएंगे, वाणी भी एक सी पा सकते हैं किन्तु ब्राह्मण डिप्टी कमिश्नर और यूज्ड कमिश्नर के घर के बातावरण और रहन-सहन में एक मौलिक अन्तर आज भी मिलता है। ठाकुर आज भी जल्दी गर्म हो जाता है; पटवारी पुत्र का पटवारीपन डिप्टी कलेक्टर आई.सी.-एस या मिनिस्टर बनने पर भी नहीं जाता। प्रवृत्तियां वे ही हैं; उनकी अभिव्यक्ति का रूप-रंग बदल जाता है। अतएव एक जाति में विवाह करने की व्यवस्था देकर हिन्दू शास्त्र-कारों ने कोई भी अनर्थ नहीं किया है। इन्होंने सामाजिक विघटन ही रोका है। असवर्ण विवाह की मान्यता तब भी थी किन्तु अपवाद रूप में। उसको मना भी नहीं किया गया था; उसे सामाजिक प्रोत्साहन भी नहीं दिया गया था। यही कारण है कि हमारा समाज कुलीन विवाह का समर्थक रहा है। यद्यपि हिन्दू जाति में अन्तर्विवाह, बहिर्विवाह और अन्तर्जातीय विवाह सभी थोड़े-बहुत होते ही रहते हैं किन्तु फिर भी न इसे अच्छा माना गया है और न वह सामाजिक मान्यता ही प्राप्त कर सकी है। इस शताब्दी के प्रारंभ होने के काफी पहले से विवाह के संबंध में जो हमारी सांस्कृतिक परम्पराएं एवं मान्यताएं थीं सैद्धान्तिक रूप से एवं कर्मकाण्डी व्यवस्था की दृष्टि से सामान्यतः उन्हीं का पालन होता है।

बाल-विवाह

किसी विशेष युग में किन्हीं विशेष आपत्तिकालीन बातावरण में हिन्दू शास्त्रकारों ने बालविवाह की व्यवस्था दे दी थी। रुढ़ियों ने उसे शाश्वत

विधान मान लिया और हमारे हिन्दू समाज में कहा जाने लगा :-

अष्टवर्षा भवेद् गौरी नववर्षा च रोहिणी

दशवर्षा भवेत् कन्या तत् छर्ष्व रजस्वला

माता चैव पिता तस्या ज्येष्ठौ भ्राता तथैव च

त्रयस्ते नरकं यांति वृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम् ।

कुछ भी हो किन्तु वास्तविकता यह है कि बाल-विवाह स्वस्थसन्तान की उत्पत्ति एवं विकास की दृष्टि से श्रेयस्कर नहीं है। स्वादी दयानन्द जी ने इस विषय में धन्वन्तरि का श्लोक उद्धृत किया है¹। ठीक है किन्तु हमारे समाज की कुछ अपनी मजबूरियाँ और उसकी आवश्यकताएँ थीं और इसीलिये हमारे समाज में मध्ययुग के विदेशी आक्रमणों और अपहरणों के आपत्तिपूर्ण समय से बहुत छोटी उम्र से लड़के-लड़कियों का ब्याह कर दिया जाने लगा था ताकि प्रत्येक सतरे की संभावनाओं से गर्भित उस युग के नातावरण में लड़की अपने घर पहुंच कर माँ-बाप के सिरफ़ से बौझा उतार दे। उसकी रक्षा का दायित्व अब एक की बजाय दो परिवारों पर आ जाता था। के. एम. कपाडिया ने लिखा है, "इसी प्रकार धार्मिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक स्थितियाँ और प्रवृत्तियाँ ने शिशु-विवाह को एक नियम या कर्तव्य का रूप देने का कुछ रचा लिया²। यही श्रेष्ठतर भी था। यह सतरे का युग बीता तो "अष्टवर्षा भवेद्गौरी" वाला सिद्धान्त भी शिथिल हो गया। वैसे, इसकी संभावना अधिक होती नहीं थी क्योंकि जहाँ जहाँ ये बाल-विवाह रचाये जाते हैं वहाँ विवाह की विधियाँ और व्यवस्थाएँ पूरी हो जाने के बाद भी प्रथात्मक रूप से बधू तत्काल ही पति गृह नहीं भेजी जाती। तीन-तीन या चार-चार वर्षों या कभी-कभी इस्से भी अधिक वर्षों के बाद अर्थात् तारुण्य प्राप्ति के पश्चात् ही वहाँ जाती हैं। १९२९ के बालविवाह अधिनियम ने विवाह की उम्र लड़के के लिये १८ और लड़की के लिये १४ कर दी। सामाजिक परम्पराएँ कानून बना देने से नहीं बदला करतीं। उनके लिये सामाजिक आवश्यकता, सामा-

१. 'सत्यार्थप्रकाश', पृ. ४९।

२. 'मेरिज एंड केमिली इन इंडिया', पृ. १४६।

जिक वातावरण एवं सामाजिक अनुकूलता की सृष्टि करनी पड़ती है। कानून बन जाने के बाद भी हमारे समाज से - और विशेष रूप से देहाती समाज से - बालविवाह गया नहीं। रजस्वला होते-होते लड़की का ब्याह कर देना धर्म हो गया - सामाजिक मजबूरी हो गई। यह केवल लड़की या उसके मां-बाप का ही कर्तव्य नहीं - यह पूरी की पूरी जाति की बात है - कभी - कभी तो उस समस्त क्षेत्र के समस्त जनसमूह की बात! यह बदनामी का कारण बन जाता है, जिसे न लड़की रोक पाती है और न लड़की के मां-बाप।

शादी होनी चाहिए और सानदान की परम्परा और शान के अक्षर्य होनी चाहिये। इस दृष्टि से व्यक्ति, परिवार और गांव परस्पर प्रति-स्पर्धा करते हैं। मांग-मांग कर अच्छी चीजें जुटाने और शान शौकत के प्रदर्शन की प्रथा चल पड़ी। सब लोग जानते हैं कि चीजें मांगी हुई हैं फिर भी उनके न होने की लोग बुरा मानते हैं। कम से कम इससे यह तो पता चल ही जाता है कि जिसके यहां हम ब्याह करने जा रहे हैं उसकी पहुंच की सीमा कितने बड़े-बड़े लोगों तक है ?

शादी तै करने प्रायः नाई-पंडित जाते हैं। जिनका विवाह होना है वे अवोध बच्चे न कुछ जानते हैं, न कुछ समझते हैं और न उन्हें शादी के मामले में कुछ करने या बोलने का अधिकार है। शादी के बीच शादी के पहले अथवा शादी के बाद उसके बड़े-बूढ़े उससे जो कुछ कहें, उसे बही करना है क्योंकि विवाह एक धार्मिक और सामाजिक कर्तव्य है। उसमें व्यक्ति की अपनी मनमानी नहीं चलती। कोई भी समाज मनमानी नहीं होने देता और यदि होने देता है तो वह विघटित हो जाता है। जिस प्रकार जन्म से लेकर मृत्यु तक के सभी संस्कारों के अवसर पर वैसे ही विवाह-संस्कार के अवसर पर भी व्यक्ति के ऊपर समाज का अवत, असंख्य, एवं व्यापक अधिकार है। नवदम्पति सुलकर - स्वच्छंद-सापूर्वक - एक और दूसरे से मिलने भी नहीं पाते थे। लिहाज और पदों का इतना

ध्यान था कि बहुत रात गये जब सब लोग सो जायें तब लड़का अपनी पत्नी के कमरे में जाता था और सबरे लोगों के जग पड़ने की संभावना के पहले ही चुपचाप बाहर आकर अपनी चारपाई पर सो जाता था। वहां कमरे में जोर से बातचीत भी नहीं हो सकती थी। यहां व्यक्ति की स्वतंत्रता परिवार और समाज के अंकुश से पर्याप्त रहती है। इस सम्पूर्ण अर्द्धशताब्दी में - सहर के कुछ लोगों के अलावा - शेष समस्त हिन्दू समाज के लिये लड़की की द्याह एक बहुत बड़ा ^{हंगामा} हो गया है। समय के परिवर्तन, अंगरेजी राज्य व्यवस्था से उत्पन्न संकुचित एवं लोभी भावना, और अंगरेजी तंत्रिका व्यवस्था के कारण फैली हुई भूडता आदि के कारण उचित वर की सौज एक बहुत बड़ी बात हो गई है।

दहेज

द्याह के योज्य ^{लड़के} का पता यदि मिल भी जाता है तो दहेज की समस्या आसानी होती है। बहुत अधिक दहेज मांगा जाता है। इतने टेढ़े-मेढ़े ढंग से मांगा और लिया जाता है कि उसके तै होने में महीनों लग जाते हैं। लड़के का पिता अधिक से ^{अधिक} लेने का यत्न करता है। लड़की का पिता चाहता है कि वह औरों से तो अधिक दे, क्योंकि ऐसा न करने पर लड़का हाथ से निकल जायगा, मगर इस सीमा के अंदर जितना कम संभव हो सकता हो, उतना ही कम वह दे। ऐसा लगता है कि किसी सरीदी जाने वाली चीज का मोल-भाव हो रहा है। कभी लड़की के पिता को कर्ज लेना पड़ता है जमीन गिरवी रखनी पड़ती है, सम्पत्ति बेचनी पड़ती है, तबाह और बरबाद हो जाना पड़ता है। अनमेल द्याह होते हैं। योज्य को अयोज्य के मत्थे मढ़ दिया जाता है। पिता को अपनी पुत्री के लिये कुलीन वर चाहिये और कुलीन वर कौन लड़की का उद्धार तभी कर सकता है जबकि लड़की का पिता पर्याप्त धन दे। कुलीन वर कम, पुत्री वाले पिता बहुत। मांग अधिक, माल कम। परिणाम यह होता है कि 18 वर्ष की लड़की को 68 वर्ष के वर को सौंप दिया जाता है। सम्पत्ति का जीवन विषम

हो जाता है। आत्महत्याएं होती हैं। देवनारायण द्विवेदी का "कर्तव्याघात", प्रेमचन्द का "निर्मला" आदि हजारों से भी अधिक उपन्यास और कथानियां - विशेष रूप से हिन्दी और बंगला की - इस प्रथा पर आघात करके भी इसका अभी भी उन्मूलन नहीं कर पाईं। अब भी ऐसे लोग हैं जो कहते हैं कि साहब, हमें देने का भी बनेक है, लेने का भी! लेते हैं इसलिये कि देना पड़ेगा, देते हैं इसलिये लेंगे ही! राजेन्द्र बाबू ने लिखा है, "यह प्रथा हजार कोशिश करने पर भी अभी तक जारी है। सभी जातीय समाजों में प्रस्ताव पास होते हैं कि इसे उठा देना चाहिये पर घटने की जगह यह प्रथा बढ ही रही है।"

बृद्ध-विवाह और बहुविवाह

बृद्धविवाह का थोड़ा-सा उल्लेख किया गया है। कुलीन घर की कमी और दहेज के अतिरिक्त इसका एक कारण पुत्र - प्राप्ति की लालसा भी है। यदि पहली पत्नियाँ से कोई पुत्र न प्राप्त हो सका तो अपनी आयु का ध्यान न करके भी विवाह इसलिये कर लिया जायगा कि सानवान को रोखन करने वाला और पितरों को पानी देने वाला मिल सके। बात यह है कि हमारे यहां समा - न्यतः पुत्र या सन्तान के अभाव का दोष पति को नहीं, पत्नियाँ को ही दिया जाता है। कोई दोष, कोई सराबी, कोई कमी, बुलहिन में ही हो सकती है, दूल्हे में नहीं हो सकती। इसलिये एक के बाद एक कई ब्याह किये जा सके सकते हैं। बृद्धावस्था तक और स्वतः सन्तानोत्पत्ति की अक्षमता की अवस्थाप्राप्त करने के बाद भी ब्याह होते रहते हैं। कमी-कमी तो पहली पत्नी के देहांत के पश्चात् इसलिये भी ब्याह कर लिया जाता है कि बच्चों की देखभाल करने वाला और रोटी सिलाने वाला कोई आ जाय। प्रायः इन विवाहों का परिणाम अच्छा नहीं होता। सौत के बच्चों को आवश्यक प्यार-झुलार प्रायः नहीं ही मिल पाता। अनेक पत्नियाँ घर के जीवन और वातावरण को नरक कर देती हैं। प्रेमचन्द का "निर्मला" नामक उपन्यास अथेड उपरपर किये जाने

वाले विवाह का परिणाम प्रस्तुत करता है। 'कायाकल्प' में बहुपत्नियों का परिणाम चित्रित है। 'मृगनयनी' में मानसिंह के राजमहल के अन्दर बहुविवाह का परिणाम और सौत की मनोवृत्ति का चित्रण है। प्रेमचन्द की 'सौत' शीर्षक कहानी भी सौत का मनोविज्ञान 'उपस्थित' करती है। जीनाय सिंह के 'बर्मा' और मंगवती प्रसाद बाजपेयी के 'मीठी चुटकी' और 'अनाथ पत्नी' नामक उपन्यास अनमेल विवाह का दृश्य उपस्थित करते हैं।

विवाह का स्थायित्व

इस प्रकार हमारे यहां शादियां ते करके की जाती हैं। कुलीनता के अहंकार के कारण हमारे समाज के भीतर घर की उपयुक्तता की उर्त और सीमाएं इतनी अधिक और जटिल हो गई हैं कि चुनाव क्षेत्र अत्यन्त संकरा हो गया है। प्रायः सब कुछ एक बंधे - बंधाये, सुनिश्चित ढंग पर होता है। सब तो यह है कि विवाह की पूरी की पूरी प्रक्रिया निश्चित है। वहां किसी व्यक्तिगत एवं मौलिक परिवर्तन के लिये कोई भी गुंजाय नहीं। इस प्रकार एक स्थिर मनोवृत्ति, जिसमें साहस-बु-साहस के लिये कोई संभावना नहीं, बन जाती है। इस मनोवृत्ति का साहित्य पर यह प्रभाव पड़ा है कि हमारे साहित्य में भी महत्वपूर्ण एवं व्यापक रूप से प्रभावशाली, मौलिक एवं सैद्धान्तिक परिवर्तन इस परिवर्तनशील एवं क्रांतिकारी युग में भी-उत्तरी-अन्तर्मन-अधिकतर-पुरानी-की-पुरानी है-न-अधिक नहीं हो पाये। परिवर्तन डैली, माध्यम एवं स्वरूप मात्र में ही हुआ है। उसकी आत्मा अधिकतर पुरानी की पुरानी है।

परिवर्तन की प्रक्रिया

व्यवस्था में भी यह परिवर्तन बहुत धीरे धीरे हुआ है। पहले लड़के लड़कियां अपनी चाची की बात आकस्मिक रूप से जानने लगे, फिर छिप कर सुनने लगे, फिर सुलकर सुनने लगे फिर अपनी राय अपरोक्ष रूप से देने लगे,

फिर मां-बापों से कहने लगे, फिर मां से सरमा-सरमा कर कहने लगे, फिर पिता से भी खुलकर कहने लगे। पहले स्वीकृति ही प्रकट की जाती थी, फिर विरोध माहुर हो जाने दिया जाने लगा, फिर प्रकट किया जाने लगा और अब मां-बाप की इच्छा के प्रतिकूल मनमानी भी की जाने लगी है। पहले शादी के अवसर पर तीनों-चारों दिन बराबर जामा-जोड़ा पहनाया जाता था, फिर रस्मों के समय ही पहना जाने लगा, अब उसका बिल्कुल ही तिरस्कार किया जाने लगा है। बाजार में मिलने वाले बेष्ठतम कपड़ों के चमकमाते सूट के ऊपर यशोपवीत के तीन धागों की आज भी अनिवार्यता प्रतीक-सी प्रतीत होती है। सामान्यतः केशन पर संस्कार अब भी विजयी है - ठीक वैसे ही जैसे वर्तमान साहित्यिक विषय^धों, रूपां और शैलियों पर साहित्य की भारतीय आत्मा अब भी विजयी है।

प्रेम-विवाह क्यों नहीं ?

तायाजिनकिन ने लिखा है कि भारत में प्रेम-विवाह का तो कभी भी कोई प्रश्न ही नहीं उठता।¹ यही कारण है कि यहाँ विवाह में चुनाव एवं प्रतिबंधिता नहीं, और जब चुनाव एवं प्रतिबंधिता नहीं तब कामोत्पादक पार-स्परिक आकर्षणशक्ति न केवल अनावश्यक एवं अनर्ककारी है बल्कि कभी कभी अना-कर्क भी हो जाती है। भारतीय ब्राँ बाला संसार की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी है - फीते की नाप और तराजू की तरेल एवं अटक-मटक वाली कसौटी से नहीं, बल्कि मोहकता और प्रभावोत्पादकता की कसौटी से। वह मोहक होती है, कामोत्पादक नहीं। वहाँ पवित्र एवं विषुद्ध हृदयग्राही सौंदर्य है। तभी तो कुंजों में त्रिभुवन मोहन भी 'पलोटत राधिका पायन' किन्तु भारतीय संस्कृति^{और} उसका आश्चर्य प्रभाव कितना अधिक और आश्चर्यजनक है कि इस त्रिभुवन सुन्दरी में कामाकर्षण एवं कामोत्पादकता अल्पतम होती है। हाँ, उस पर मोहित होकर हम उसके सौंदर्य में अपने को गुला अवश्य बैठते हैं। उसका सौंदर्य सदैव एक अतीन्द्रिय एवं

1. "इंडिया वैजेज", पृ. ४३।

कौमार्य आकर्षण से संपन्न होता है। यह नहीं कहा जा रहा है कि वह अनाज नहीं लाती या उसके हाड-मांस नहीं है। प्रभाव की बात की जा रही है। भारतीय नारी केवल एक पुरुष को रिखाने के लिये सजती है। उसकी यह सजा-वट, यह आकर्षण, यह मोहकता केवल उसके अपने पुरुष को छोड़कर और किसी की न सम्पत्ति है और न दूसरा कोई उसका उपभोक्ता हो ही सकता है। यह बाजार प्रदर्शन की चीज भी-नुमाइशी चीज भी - नहीं है। इसका प्रभाव यह पड़ा है कि हिंदी का नारी-साहित्य वासनात्मक आकर्षण से प्रायः रहित है - उससे परे है। यह एक सांस्कृतिक मनोवृत्ति है जो आधुनिक हिन्दी में भी पूर्णतः प्रतिबिम्बित है।

एक ही गोत्र में और एक ही गांव में विवाह वर्जित

हिंदी प्रदेश में छादियां गांव से बाहर के लड़के के साथ की जाती हैं। परिणामतः दूर-दूर के बहुतेरे गांवों से संपर्क स्थापित होता है। विचारों का आदान-प्रदान होता है। एक दूसरे की समस्याएं एक दूसरे के सामने आती हैं। दूसरे को समझने और निबाहने की प्रवृत्ति बढ़ती है। अपरिचित गांवों व्यक्तिगत और परिवारों में प्रेम-भाव बढ़ता है। एक दूसरे से सर्वथा अपरिचित वर-वधू एक क्षण के बाद एक दूसरे के जनम जनम के संगी हो जाते हैं। दो विभिन्न व्यक्तित्वों, दो विभिन्न रुचियों, दो विभिन्न मनोवृत्तियों, दो विभिन्न भाषाओं में अभिन्नता स्थापित होती है। यह हर घर में होता है। अस्तु, भारत का हर परिवार, सहअस्तित्व का क्रिया-क्षेत्र होता है। भारतीय निबाह करना जानता है। विरोधों में सार्थकत्व स्थापित कर लेना - निबाहना - भी हमारी एक सांस्कृतिक प्रवृत्ति ही हो गई है। लड़का अपनी जाति का हो तो वह कहीं भी हो, उससे अपनी कन्या का विवाह संबंध स्थापित किया जा सकता है। छादियों के ताने-बाने ने भारत को बुनकर एक कर दिया है। अन्तर्प्रान्तीय सम्भाव बढ़ा है। सांस्कृतिक एकता पुष्ट हुई है। आधुनिक हिंदी साहित्य में

भी विचारों के आदान-प्रदान की स्वतंत्रता, प्रेम की स्निग्धता, विभिन्नताओं में एकता, विरोधों में सामंजस्य एवं सांस्कृतिक एकता का जो स्वरूप मिलता है उसके पीछे यह पृष्ठभूमि, यह वातावरण भी है। इसीलिये आधुनिक हिंदी साहित्य में - राष्ट्रीय साहित्य में भी - किसी के प्रति तीव्रतम विरोध, घृणा, एवं अहं-शीलता के भावों की अभिव्यक्ति नहीं मिलती। नयी पीढ़ी प्रेम-विवाह की ओर बढ़ रही है। इस दृष्टि से साधारणतः विकास केवल "लडकी बेचने" तक ही हो सका है और वह भी प्रायः माभियाँ, माताओं एवं बहनों के द्वारा। यह नई पीढ़ी मां-बाप एवं अभिभावक को कष्ट भी नहीं पहुंचाता चाहती। सम-झौते की वृत्ति को आसिरी सीमा तक पहुंचकर भी वह नहीं छोड़ना चाहती। यह नई पीढ़ी रुढ़ि और सुधार के बीच कभी कभी बुरी तरह से पिस जाती है। निराशा, पस्ती, तनाव, कभी-कभी विद्रोह, आजीवन कौमार्य, निरुत्साह, आत्म-हत्या आदि नई पीढ़ी के पल्ले पड़ता है। इन्हीं में से कुछ आगे बढ़कर साहित्यिक भी बनते हैं और उनमें कुछ सकल भी हो जाते हैं। नाम लेना अशिष्टता है किन्तु उनके साहित्य के अकारणरुदन, अपने देश और जाति को उत्थान की ओर ले जाने वाले आवेश और आह्वान के अभाव, विकास की उच्चतम कोटि तक न पहुंच पाने, पौरुष एवं वास्तविक माधुर्य के अभाव, आदि के पीछे इसका भी बड़ा हाथ है। आधुनिक हिन्दी साहित्य में उच्चतम कोटि के लौकिक प्रेम-साहित्य के अभाव का एक कारण यह भी है। उपर्युक्त मनोवृत्तियाँ नकली अध्यात्मवाद, बनाबटी रहस्यवाद, अनन्त आकर्षण एवं हास्यास्पद विरह-ठंयना का बुरा औंढकर निकलती हैं।

संमिलित परिवार

उपर्युक्त विवाह व्यवस्था के अन्दर उपर्युक्त मनोवृत्ति की नार एवं प्रवृत्ति वाले पुरुष से हिन्दू समाज में परिवार की सृष्टि होती है। हिन्दू संयुक्त परिवार को मान्यता दे^{ता} है। जहाँ नौकरी मिले वहीं जाकर और जब तक नौकरी वहाँ रहने दे तब तक वहीं रहकर परिवार बसाने, भिन्न-भिन्न

व्यवसाय के कारण भिन्न-भिन्न स्थानों में बसने आदि की जीवनपद्धति के कारण आज हिंदू संयुक्त परिवार प्रथा व्यावहारिक रूप से विघटित होने लगी है किंतु रागात्मक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वह आज भी संयुक्त है। बणिक आवेश में आकर घर-बांट कर दो चूल्हे बना लेने वालों में भी रागात्मकता एकता पाई जा सकती है, लड़कर सिर-तोड़ लेने वाले और मुकदमों में अपने कोतवाह-बरबाद कर लेने वाले भी मौके पर एक हो जाते हैं। सास-बहू में झगडा होता है, भाई भाई में मनमुटाव हो जाता है, चाचा-भतीजे एक दूसरे के शत्रु हो जाते हैं किन्तु कहते हुए यह भी सुना गया है कि लड़ते हैं तो अपने से ही तो लड़ते हैं। मुहावरा है - खून पानी से गाढा होता है। कहावत है - जिसका ठ का थोकला (छाल) है उसी में लगेगा। प्रेमचन्द की "बड़े घर की बेटी" अथवा "होरी और धनिया का झुनिया को आश्रय देना भारतीय संस्कृति की इस महान् मनोवृत्ति का प्रतीक है। विदेशियों की समझ में यह बात नहीं आती। विकास विद्यालय, रांची का जर्मन प्रिंसिपल डा. जोटो बुल्क समझाने पर भी यह बात न समझ सका कि बहन की शादी करवाने के लिये भाई अपनी शादी और अपने सुख भोग को क्यों त्यागित रखे। भाई की मृत्यु हो जाय तो उसके क्रिया-कर्म में सम्मिलित होने के लिये पंडित जी सैकड़ों रुपयों का खर्च क्यों करे। वह समझ ही नहीं पाता था कि परिवार में अपनी पत्नी और अपने बच्चों के अतिरिक्त और किसी की भी गणना कैसे हो सकती है !! शिक्षित हिन्दुओं का आधे से भी अधिक भाग अब भी संयुक्त परिवारों में रहता है। जो किसी कारण संयुक्त परिवार में नहीं भी हैं वे भी उसके अनुकूल हैं। इससे हिंदू समाज की सामाजिक सुरक्षा हुई है। सामाजिक एवं वैयक्तिक विघटन नहीं होने पाया। दो पीढ़ियों का पारस्परिक अंतर, रुचि स्वभाव, विचार, रहन-सहन, वेशभूषा आदि का अन्तर भी उनको तोड़ नहीं पाया। ऐसी व्यवस्था में पहले हुए साहित्यिक नै, प्रगतिशील विचार धारा और साहित्य के बावजूद भी - आधुनिक हिंदी साहित्य में मर्यादा मंजन का साहस नहीं किया। यशपाल, पहाड़ी, अज्ञेय, इलाचन्द आदि अपवाद हैं और इनका समाज पर अथवा साहित्यिक प्रवृत्तियों पर इतना प्रभाव कभी नहीं

पता कि वे एक परम्परा बना सकें। ऐसा समाज तलाक की कभी भी मान्यता नहीं दे सकता। यह हमारी सांस्कृतिक परम्परा के प्रतिकूल है। इसलिये आधुनिक हिन्दी साहित्य में तलाक और उसके उत्पन्न वाली स्थितियों का चित्रण प्रायः नहीं मिलता।

भारतीय पत्नी

भारतीय पत्नी 'अपने घर' में इतनी व्यस्त रहती है और हमारी सांस्कृतिक व्यवस्था कुछ इस प्रकार की है कि उसकी बाहरी दुनिया प्रायः कुछ रिरसोपारी और कुछ परों तक ही सीमित रह जाती है। उसकी सामाजिकता हमारे आलोच्य काल की अवधि में भी प्रायः धूम्य-सी ही रह गई। ऐसी 'पत्नियाँ' साहित्य का विषय तो बनी हैं - और सूर-कबीर-गुलामी^{से} लेकर प्रसाद-पंत-गुप्त-दिनकर तक बनी हैं किन्तु साहित्य रचना का सामर्थ्य उनमें नहीं आ पाया साहित्य का निर्माण प्रायः पुरुष के दृष्टिकोण से हुआ है - नारी के दृष्टिकोण से नहीं। कुछ विभिन्न सांस्कृतिक विधान हैं कि इन महिलाओं के त्याग-तपस्या बलिदान ने भारतीय परिवार को संसार भर में मधुरतम तौर पर अवश्य बना दिया है किन्तु इनके द्वारा रचित साहित्य प्रायः गीत और द्वितीय श्रेणी का ही रह गया। भावुकता-प्रधान, बौद्धिकताधूम्य, एवं सामाजिकता रहित 'पत्नी' वर्ग कविताएँ अधिक लिख सका - गद्य एवं विचारप्रधान साहित्य कम। महिला गद्य-लेखिकाओं की संख्या आज भी नगण्य है। सूर की जैबा मीरां, कबीर-दाह की जैबा सहजो-बया, प्रसाद-पंत-निराला की तुलना में म्हादेवी, प्रेमचन्द की जैबा उषा-कमला-चन्द्रकिरण आदि का साहित्य कहीं ऊँचतरा है - इस पर चाक्य अधिक विचार न करना होगा। 'सकल पत्नियाँ' 'सकल साहित्यकार' नहीं बन पातीं। मीरा, सहजो, बया, म्हादेवी आदि के पत्नीरूप का साफल्य प्रत्यक्षित ही संयुक्त है। स्वाधीनता, स्वतंत्र चिन्तन, बाहरी दुनिया से बेहतर और सार्वक संपर्क पत्नियों के लिये अधिक संभव नहीं हो पाता और इसके बिना सकल साहित्य की रचना असंभव है। यह ठीक है कि इसके लिये दोषी वे नहीं, हमारी सांस्कृ -

तिक परम्पराएं हैं। लगता है कि अब आने परिस्थितियां बदल जायेंगी।

बच्चे

भारतीय बच्चों को बहुत प्यार करता है। उनके साथ खेलना दिव्य आनन्द समझा जाता है। जिस घर में बच्चे नहीं होते वह भारतीय मानस को फीका लगता है। आधुनिक हिंदी साहित्य में इस प्रकार के कुछ चैतन्य-चित्र^{अर्थ}, सुमद्राकुमारी चौहान की "मैं बचपन को बुला रही थी बोल उठी बिटिया मेरी" वाली कविता आदि। इनकी संख्या कम है क्योंकि बढ़ती हुई बौद्धिकता^{अर्थ} स्वार्थवृत्ति, सौंदर्यरयता आदि शुद्ध मानसिक एवं भावात्मक आनन्द की अनुभूति एवं उसकी साहित्यिक अभिव्यंजना की प्रवृत्ति के प्रायः प्रतिकूल है।

विधवा

परिवार के अन्दर सबसे अधिक दयनीय स्थिति पुत्ररहित विधवा की होती है - विशेषतः तब जब वह अत्यंत कम आयु की हो अथवा तन्मयी हो। उसकी औरसेलोगों की निगाहें बदल जाती हैं। उसका दर्शन असौमनीय, अमंगल-सूचक और अपसकुन माना जाता है। मंगल के अवसरों पर उसकी उपस्थिति अवां-छनीय समझी जाती है। वह परिवार की बोझ समझी जाती है। उसके साथ कूरता और कमी कमी अनैतिकता का बर्ताव किया जाता है। उससे संन्यासी ब्र बनने की अपेक्षा की जाती है। भूलों के लिये उसे कमी भी क्षमा नहीं किया जाता न मां, बाप, भाई, बहन, सास, ससुर - कोई भी उसे क्षमा नहीं करता। इनमें से विवश होकर कुछ वेश्या बन जाती हैं। साथ ही, यह भी ध्यान रखना चाहिये कि यह स्थिति कुछ ही के साथ होती है। शेष का निबाह परिवार कर देता है। आयु बढ़ जाने पर और योग्यता होने पर वे परिवार पर आसन तक करती हैं। भाई के घर रहती हैं तो उनकी छोटी और बड़ी माभियां उनका आदर करती हैं और उनका बड़ा ख्याल रखा जाता है। उच्च जातियों की विधवाओं का पुनर्विवाह मध्ययुग से "विल्कुल ही वर्जित हो गया था। पहले उनका देवर

दूसरा वर ही माना जाता था। उससे ब्याह हो सकता था। बाद में यह सन् समाप्त हो गया। तब उनकी जो दुर्गति हुई (यद्यपि यह कथा केवल कुछ ही प्रतिष्ठित हिंदुओं के कुछ ही घरों की है) वह स्वमुच मानवता को कंपा देने वाली है। इसका चित्रण आधुनिक हिन्दी के कथा-साहित्य में बड़े ही मार्मिक रूप में मिलता है। प्रेमचन्द का "निर्मला", राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह का "राम-रहीम" आदि उसके कुछ उदाहरण हैं। नौकरी दिलाने वाली शिक्षा के प्रचार, नवीन मानवतावादी दृष्टि, नारी जागरण और सबसे अधिक स्वामी क्या नन्द और आर्यसमाज के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप इन विधवाओं की अवस्था में बहुत कुछ सुधार हो गया है। उनका पुनर्विवाह भी संभव हो गया है और आर्थिक स्वावलम्बन भी ।

पर्व और त्यौहार

यदि भारतीय जीवन की आत्मा अथवा ठोस आधार हैं आगम-निगम-पुराण आदि से प्राप्त आश्वत विचार, और काल की अनंत यात्रा में उसे विघटित न होने देने वाले तत्व हैं जीवन के सोलह संस्कार, तो भारतीय जीवन को कल्याणकारिणी प्रेरणाएं देते रहने और उसे राग-रंग-आमोद-प्रमोद-उत्साह-उल्लास से भरते रहने का कार्य विभिन्न पर्व, उत्सव और त्यौहार करते रहते हैं। ऋतुओं के परिवर्तनों पर, ऋतुओं की उन मोहक-मंजुल सुंदरताओं पर जो मन को असाधारण भाववशा में पहुंचा देती हैं, अपनी संस्कृति और इतिहास के महान्तम व्यक्तित्वों के जन्मदिवस पर और उनके जीवन तथा भारतीय संस्कृति और इतिहास की महत्वपूर्ण घटनाओं के घटित होने की संभावित तिथियों पर इन पर्वों और त्यौहारों के मनाने का विधान है। इनसे जीवन की एक सरसता या अरुन्तुयता समाप्त हो जाती है। ये हमारी जाति के सांस्कृतिक तत्वों के स्मारक हैं अथवा या कहिये कि ये हमारी सांस्कृतिक हलचलें हैं। ये हमें अपने सांस्कृतिक महत्व की चीजों को किसी महीने, किसी ऋतु एवं किसी वर्ष नहीं

भूलने देते। इन्होंने के कारण हम अपने राम, अपने कृष्ण, अपनी श्रावणी, अपना दशहरा, अपनी दीवाली, अपना "भैयादूज", अपनी रासी, अपना सावन और अपना वसंत कभी नहीं भूलने पाते। यह सही है कि प्रत्यक्षरूप से इन्होंने किसी वाद का प्रचलन नहीं किया है किन्तु समय समय पर इन्होंने कलाकारों के मानस को इस ढंग से आलौकित विलोडित एवं तरंगित किया है कि हमारे आधुनिक हिन्दी साहित्य का भी वातावरण इनके रंग से अनुरंजित हुए बिना रह नहीं सका है। पत्रिका-साहित्य का एक महत्वपूर्ण अंश ऐसे अवसरों पर रचित साहित्य से भरा है। हमारे साहित्य में इनकी अधिधाप्रधान एवं कलापूर्ण अभिव्यक्तियाँ हुई हैं; जैसे :- "नम आज मनाता तिमिर पर्व, धरती रचती आलोक छंद" (महा-देवी) अथवा पंत के ज्योति आह्वान संबंधी अनेक गीत ३। इनमें से अनेक को प्रतीक रूप में भी - उपस्थित किया गया है। दीपावली को तमस-अंधकार-अज्ञान पर सदा ज्योति-ज्ञान के विजय का प्रतीक माना गया है और होली को द्वेष, घृणा, वैमनस्य आदि को भस्मीभूत करके अनुरागोत्सव मनाने का प्रतीक। जन्माष्टमी को कृष्ण जैसे महापुरुषों के अवतार का आह्वान करने का सुअवसर समझा गया है। अनेक लेख इन अवसरों पर इनके सांस्कृतिक एवं तात्त्विक महत्व की व्याख्या करने के लिये भी लिखे गये हैं। होली के अवसर ने हमारे हास्य-साहित्य को संपन्न करने का सुन्दर अवसर प्रदान किया है।

वेश्या

हमारे इस आलोच्य काल के भी सामाजिक जीवन में अपने लिये एक अनिवार्य किन्तु अवांछित स्थान बनाये रखने वाला तथ्य है वेश्या-वृत्ति। मानव-समाज की यह एक अत्यन्त प्राचीन बुराई है। प्रागैतिहासिक काल में भी इसका अस्तित्व पाया जाता है। कुछ लोग तो इसे अत्यन्त अनिवार्य एवं आवश्यक समझते हैं। उनका कहना है कि यदि घर में खीचालय, मूत्रालय एवं गन्दी नाली के अस्तित्व का औचित्य है तो समाज में वेश्यावर्ग के अस्तित्व का भी औचित्य है। यह अत्यधिक कामी व्यक्तियों के लिये वासनापूर्ति का

वैधानिक अथवा सामाजिक माध्यम प्रस्तुत करके समाज और परिवार को अनेक
 अवांछित एवं अशोभनीय घुर्घटनाओं से बचाये रखता है। युक्ति संगत होते हुए
 भी यह एक कुतर्क है, बौद्धिक वस्तुओं का दुरुपयोग है, तथा मानवता की
 दृष्टि से धर्म की बात है। हमारे समाज में वेश्या वर्ग की दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ
 हैं :- (१) संगीत और नृत्यकला को व्यावसायिक रूप से अपना कर उन्हें नष्ट
 न होने से बचाये रखना, और (२) शरीर बेचकर धन-संपत्ति कमाना। वस्तुतः
 वेश्यावृत्ति की वास्तविक परिमाण ही यह है कि धन-संपत्ति के लिये उस नारी
 का, जो किसी की पत्नी नहीं है, पर-पुरुष की काम-वासना को अपने शरीर
 के अंगों से सुराक देना। इसका सबसे बड़ा परिणाम यह होता है नारीत्व का
 अपमान। ऐसी नारी धर्म-हत्या को सदा-सर्वदा के लिये तिलांजलि दे बैठती
 है। बुद्धा होने पर ये अपने ही जैसे किसी अन्य नारी शरीर को सौजकर अपनी
 ही तरह का करके उसकी अभिमायिका बन बैठती हैं। परम्परा चल पड़ती है।
 इनके आदमी देहातों में अस्तुष्ट लड़कियाँ, सम्यधरों की लालची एवं चटोरी बहू-
 बेटियाँ, और मैलों में मुली-मटकी बालाओं की सौज में घूमा करते हैं और पा
 जाये पर उन्हें इनके अधिकार क्षेत्र में डाल देते हैं। पतनो=मुली जमींदारी और
 जागीरदारी प्रथा के प्रतीकों के यहाँ इनको कभी कभी विलासपूर्ण प्रमय मिल
 जाता है। गृहस्वामिनियों व्यावहारिक रूप से परित्यक्ताएं हो जाती हैं;
 शरीर-व्यवसायिकाएं राज करने लगती हैं। इनका सामाजिक उपयोग केवल इतना
 ही है कि ये कुली के मोकों पर आकर संगीतकला और नृत्यकला की अपेक्षा यौवन
 के प्रदर्शन, नाचनस्तरों एवं कुचविपूर्ण हास-परिहास से दैनिक की नीरस्ता समाप्त
 कर देती हैं। होन और तुच्छ मनोवृत्ति एवं असांस्कृतिक एवं उच्चिचालन-का अप-
 रिष्कृत उच्चिचालन का इनसे रात-रात भर मनोरंजन हुआ करता है और ये सब
 बख्शीसे प्राप्त करती हैं। इनसे बजाक कर सकना हर पुरुष अपना अधिकार
 समझता है और तबतक ये उसके अधिकार की रखा अपने तन और अपनी कलाओं से
 करती रहती हैं जबतक उन्हें उचित फीस मिलती रहती है। इस युग में संगीत-

नृत्य तथा वेश्यावृत्ति को एक-दूसरे का इतना पर्याप्त^य या एक दूसरे से इतना अभिन्न समझ लिया गया था कि जब समाज में संगीत और नृत्यकला के पुनरुत्थान का प्रयत्न किया जाने लगा तो बहुत बार यह सुनने को मिला - "नवा-गवाकर हमें अपनी लड़कियों से 'पेला' नहीं करवाना है।" समय और समझदारी ने अब इस धारणा को बदल दिया है। कई आर्यसमाजी सुधारकों ने शादी-व्याह के अवसरों पर नक्कू बनने का सतरा उठाकर भी, रंग में मंग करने का दोषारोपण सहकर भी वेश्या के नृत्य के बीच इसका विरोध किया है। जबतक समाज में कुछ के पास इतनी सम्पत्ति इतना अधिकार और इतनी फुरस्त है कि अपने खाली समय के मनोरंजन के लिये वे पर्याप्त धन उठा सकें, और कुछ के पास इतनी विप-न्नता है कि ठीक से जीवन बिताने के लिये उन्हें अपने नारीत्व की स्वाभाविक वृत्तियाँ को बेचने के लिये मजबूर हो जाना पड़े - जब तक समर्थ ग्राहक है, आवश्यकता है और विकने को विवश^{तक} माल है - तब लाख कानूनों के होते हुए भी वेश्यावृत्ति अनिवार्य है। सुला बाजार बन्द कर देने का परिणाम चौर बाजार का प्रोत्साहन होता है। दूकानें बन्द हो जायगी, घर सुल जायेंगे, वेश्यावृत्ति गृहस्थियों के व्यवहार की वेशमुखा धारण कर लेगी। ये वेश्याएं आधुनिक हिंदी साहित्य में भी चित्रित हुई हैं। हिंदी का सर्वप्रथम सर्वश्रेष्ठ सामाजिक उपन्यास "सेवासदन" इसका एक चित्रण उपस्थित करता है। वेश्यावृत्ति पर लिखा गया सर्वश्रेष्ठ उपन्यास, मिर्जा हादी "रसवाँ" कृत "उमराव जान अदा" है जिसका हिंदी में अनुबाद हो चुका है। अमृतलाल नागर का "सुहान के नूपुर" भी इसी प्रकार का उपन्यास है। प्रसंगवशात् वेश्यावृत्ति के चित्र कथा-साहित्य में पर्याप्त रूप से सुलभ है। प्राचीन वेश्या-गणिका - घर लिखा गया "वैशाली की नगरवधू" अत्यन्त उच्चकोटि का उपन्यास है। साहित्य के अन्दर इन वेश्याओं को स्तानु-भूतिपूर्ण मानवतावादी दृष्टिकोण से देखने और इनके मनोविज्ञान को समझने का प्रयास किया गया है। दिखाया गया है कि इनमें नारीत्व का पूर्णतया लोप नहीं हो जाता। ये पतित होने पर भी एकनिष्ठा वाली होने का प्रयत्न

करती हैं। अपनी पुत्रियों को गृहदेवी बनाने की लालसा रखती हैं। इन्हें अवसर मिले तो ये सुधार सकती हैं। इनके सुधार का बाधक असहनशील एवं अग्रज गतिवादी समाज है। वंश-परम्परा और पर्यावरण की पृष्ठभूमि में देखने पर ये विचार अवैज्ञानिक, युक्तिविहीन तथा यथार्थ से दूर के लगते हैं। अपवादों की संभावना को कोई भी अस्वीकार नहीं करता।

मादक-द्रव्य

प्राचीन काल से ही अपने समाज में - और संभवतः सभी समाज में - प्रचलित कुरीतियों में मादक वस्तुओं के सेवन का भी एक प्रमुख स्थान है। गांजा, भांग, धतूरा, बीड़ी, सिगरेट, शराब आदि का प्रयोग अपने समाज में देवताओं से लेकर गरीबों तक है। हमारे शंकर जी को भांग-धतूरे का शौकीन दिखाया गया है। संभवतः इसीलिये वाराणसी भांग घोंटने वालों का एक प्रमुख केन्द्र है। बूटी छानकर 'बम्म मोले' कहने वाले वहां कम नहीं हैं। लम्बी पतली चिलम पर चरस सुलगा कर पतली साफ़ी नीचे से लपेटकर उसे दोनों हाथों में एक सास अन्दाज से पकड़ कर 'जय संकर, कांटा लौ न कंकर.....' आदि का उच्चारण करके चिलम के ऊपर आठ इंच ऊपर आग की लपट उठाने और मुंह से कमरा भर धुआं निकालने वाले साधू-महात्मा हिन्दी प्रदेश में जगह-जगह मिल जायेंगे। शायद सुर-प्रिया होने ही के कारण शराब हमारे यहां 'सुरा' कहलाई है। आर्य समाजी विद्वानों और महात्माओं की ठ्याख्याओं के प्रति अद्धा से मस्तक झुकाते हुए भी मैं यह कहना चाहूंगा - और चन्द्रधर शर्मा शुक्लेरी, मगवत शरण उपाध्याय, राहुल सांकृत्यायन आदि द्वारा लिखित ठकितियों के आधार पर कहना चाहूंगा - कि आर्य भी किसी मादक तरल द्रव्य का पान करते थे और उसे सोम राजा कहते थे। उसका क्रय-विक्रय होता था। उसको अपने यहां लाने का प्रयत्न किया जाता था। जहां राजा हो वहां आमीव-प्रमोव न हो। जहां 'कनकलता हो वहां कावम्ब और कामिनी न हो, यह असंभव है। मानस-

विलास और अस्थायी उत्तेजना के अतिरिक्त इससे और कुछ लाभ होता है -
 ऐसा कोई प्रमाण अभी तक मिला नहीं। इसी प्रकार बम्बई की मानसिक गुद-
 गुदी के लिये ही तो चर्चिल, स्टेलिन और नेहरू से लेकर मंगरे, बुधई, सुकई और
 निरहू तक तम्बाकू पीते हैं। कोई सफेद कागज में लिपटी हुई तम्बाकू पीता है
 कोई उसके धुएँ का नलिका द्वारा पान करता है और कोई सूखे हुए पत्ते में लपेटवा
 कर पीते साते प्रायः सभी हैं। "पंडित"जी पीते नहीं तो उसमें चूना मिलाकर
 उसे मल कर दांत और ओठों के बीच में रखकर उससे अपने मुस-विवर को सुवा-
 सित करते हैं। बड़े लोग छोटी से मंगवाकर पीते हैं। ये छोटे लोग इनके
 वाहक हो सकते हैं, ग्राहक हो सकते हैं, निरीक्षक हो सकते हैं किन्तु उपभोक्ता
 नहीं। इस अधिकार - अपहरण का विरोध छोटे बच्चे अकेले में करते हैं और छिप
 कर सविनय अवज्ञा आंदोलन करते रहते हैं। ऐसा करते हुए वे बढ़ते रहते हैं। बड़ी
 उम्र के हो जाने पर उन्हें बड़ों का समर्थन भी प्राप्त हो जाता है यद्यपि "लि-
 हाज" के मारे वे प्रायः उनके सामने नहीं पीते। मैंने पचास वर्ष के प्रिंसिपल साहब
 को उनके बड़े भाई साहब के आने पर अपनी सिगरेट छिपाने की ऐसी कोशिश करते हुए देखा है जैसी हम
 छोटे बच्चे किया करते थे किन्तु वह पुरानी बात हो गई है। अब तो पच्चीस-
 तीस का अन्तर भी कोई महत्व नहीं रखता, क्योंकि पच्चीस-तीस के "पिठयहू"
 व्यक्ति अदुठावन के गुरुदेव, डाक्टर, प्रोफेसर, आचार्य, रामकुमार वर्मा के सिग-
 रेट केस से सिगरेट निकाल-निकाल कर न केवल अस्फुट पान ही करते हैं बल्कि
 बिदा होते समय दक्षिणा स्वरूप चार-छः मांग भी ले जाने का साहस रखते हैं।
 आधुनिक हिन्दी साहित्य के कई निर्माता शराब और सिगरेट के प्रेमी रहे हैं।
 यह एक उक्ति प्रचलित हो गई है कि जबतक मुँह से छल्लेदार धुआँ नहीं उड़ता त
 जबतक कलाकार की कल्पना गतिशील नहीं होती! अब यह बात दूसरी है कि
 कोई पीकर भी चुप रहता है - बेवक्ता बना है - और कोई बिना पिये ही
 सारे प्रदेश में पीने-वालों का-सा रंग मचा देता है। "मैं छिपाना जानता तो
 जग मुझे साधु समझता" माने वाले बच्चन ने लिखा है, "मेरी 'मधुघाला' निकल

गई थी और उसने मेरे विषय में एक विशिष्ट प्रकार का कौतूहल उत्पन्न कर दिया था। कौन है यह आदमी? क्या इसके पास बड़ी दौलत है? क्या यह दिन-रात न्हाते में पड़ा रहता है? क्या यह जो लिखता है वह सब उसका अनुभूत सत्य है? क्या यह मधुशाला में रहता है, मधुशालाओं से घिरा, एक आधुनिक उमरसैयाम की तरह? - शायद कुछ इसी प्रकार जितासा थी, जिसने 'नवरत्न' जी को लाकर मेरे मकान के सामने खड़ा कर दिया'। उस समय रामबृक्ष बेनीपुरी ने यह कहा था कि बच्चन बिहार में जाएगा तो मैं उसे गोली मार दूंगा। मगर कोई क्या करे? बच्चन की धवाकृता भी तो पीने वाली की-सी ही थी। और उस समय यह 'आधुनिक उमर सैयाम' दस-पंद्रह रुपये महीने की तनख्वाह का ट्यूशन पढ़ाता था और सम्पादकों द्वारा दिये गये धोस खाता था!! मोहनलाल महता विद्योगी, बालकृष्ण वर्मा 'नवीन' भगवती चरण वर्मा आदि में यह हाला वाद किसी न किसी रूप में उपस्थित अवश्य होता है। यह प्रतीक रूप में भी है और अभिव्यक्तित्मक रूप में भी। अन्वयव्यक्ति के रूप में बच्चन की 'मिट्टी का तन मस्ती का मन अणभर जीवन मेरा परिचय' बड़ी ही प्यारी कविता है। सुखरावी के ही मनोविज्ञान को साहित्यिक रूप देते हुए अमरकलाकार प्रेमचन्द ने 'कन', प्रसाद ने 'मधुभा' और भगवतीचरण वर्मा ने 'चित्रलेखा' की सृष्टि की है।

मिसारी

रेलवे स्टेशनों के बाहर, प्लेटफार्मों पर, रेल के डिब्बों में, बस-स्टेशनों के पास, मन्दिरों और मस्जिदों के पास, धर्मशालाओं के पास, मुसा-फिर खानों में, मेलों और उत्सवों के समय, पवित्र ^{नदियों} नदियों आदि के किनारे भूले उसे भी भूला साधारण स्थिति का मुख्य रोटरी खाने बैठ जाय तो उसे आधुनिक रन्तिदेव बनने पर विवश कर देने वाला था यदि वह ऐसा होने को तैयार न हो तो उसे कंगूस राखस की उपाधि देकर उसे नरक में जाने का आशीर्वाद देने वाली

की एक बड़ी संख्या ने भारतवर्ष को आधुनिक सभ्य संसार में एक अनोखा देश बना दिया है। गरीब और मजबूर प्राणी प्रत्येक देश में होते हैं किन्तु ऐसा देश संसार भर में संभवतः अकेला भारतवर्ष ही है जहाँ लगभग पाँच लाख प्राणी पूरी आजादी के साथ सड़कों पर घूमते हैं और दूसरों की कमाई का कुछ भाग माँग-माँग कर ही अपना जीवन बिताते हैं। एकमात्र भारतवर्ष की ही जन-संख्या वि-त्तपि में भिक्षावृत्ति को व्यवसाय की कोटि में सम्मिलित किया गया है। भारत में ही सभ्य जनता अपने को तनिक भी अपमानित होने अनुभव किये बिना इस वृत्ति को खुले आम चलते रहने दे सकती है। भारत के भित्तारी भीस माँगने में अपमानित तो अनुभव नहीं ही करते, प्रायः वे कहते हैं - "हम भीस माँगते हैं तो क्या बुरा करते हैं ? किसी की जेब नहीं काटते, सभ्य या असभ्य ढंग से किसी को लूटते नहीं, चोरी नहीं करते, डाका नहीं डालते। माँगते हैं जो दे देता है, ले लेते हैं ; नहीं देता, तो अपनी राह जाता है। हम देने वाले का भी मला मनाते हैं और न देने वाले का भी। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि आजाद है, किसी की नौकरी नहीं करते - किसी के गुलाम नहीं !" इस विचार-दर्शन की अभिव्यक्ति आधुनिक हिन्दी कथासाहित्य में भी हुई है। बच्चे भी भीस माँगते हैं, औरतें भी ; पागल भी भीस माँगते हैं, समझदार साधु-संन्यासी भी, अंधे भी भीस माँगते हैं, लूले-लंगड़े भी ; परिवार वाले भित्तारी भी हैं एकाक भी, संगठित भित्तारी भी होते हैं, स्वतंत्र छिट-छुट भी ; बीमार भित्तारी भी हैं, हड़टे-कड़टे भी ; बदमाश भित्तारी भी हैं, शरीफ भी। कोई हाथ फैलाकर भीस माँगता है, कोई घाव दिखाकर ; कोई भगवान की मूर्तियाँ दिखाकर भीस माँगता है, कोई कीलों-कांटों पर लेटकर ; कोई गा-बजाकर माँगता है ; कोई पेट पर हाथ मारकर अथवा नटों-जैसी कलाबाजी दिखाकर ; कोई नवजात शिशु को दिखा कर भीस माँगता है, कोई विवाह योग्य कन्या आणे करके ! सेती अथवा व्यवसाय विहीन आजीविका रहित प्राणी, कार्य करने में असमर्थ तथा सहायक वि-हीन प्राणी, पागल तथा समाज-बहिष्कृत प्राणी, भुखी मरने वाली परित्यक्ताएँ भूले-भटके शिशु जानबूझकर जिनका अंग-मंग कर दिया गया है और रोज जिन्हें

मालिक भिक्षारियाँ द्वारा अमानुषिक वेदनाएं दी जाती हैं, सुस्त, आलसी, कामचोर, और परम्परा से भीस मांगने के अभ्यासी जीव भिक्षावृत्ति अपना लिया करते हैं। इधर दान देने के अभ्यासी भारतीयों को भीस देने से "पुण्य" प्राप्त करने का, भगवान की दया - कृपा प्राप्त करने का, लौकिक उन्नति - सुख - सम्पत्ति तथा स्वर्गप्राप्त करने का विश्वास है। देने वाले देना चाहते हैं, लेने वाले मौजूद हैं - और भिक्षावृत्ति छान से चल रही है। १९५१ की जनगणना के अनुसार इस देश में ४,८७,९०७ भिक्षारी थे, जिनमें ३४४२१६ मर्द थे और १,४३,६९१ औरतें। ये भिक्षारी साहित्य का विषय बने हैं और इन भिक्षारियों को धन्य कर दिया है प्रेमचन्द के "रंगभूमि" के सूरदास ने। काश, कि सभी भिक्षारी "सूरदास" हो सकें!

बेकारी

भारत एक पिछड़ा हुआ देश हो गया है। उसमें विकास की अनंत संभावनाएं हैं। जिस देश में विकास की इतनी अधिक संभावनाएं हों वहां भी बेकारी या बेरोजगारी की समस्या हो - यह बात तत्त्वतः जितनी आश्चर्यजनक है उतनी ही भारत के लिये यथार्थ भी। १९०१ में ७.१ प्रतिशत लोग बेकार थे, १९११ में ७.६ प्रतिशत, १९२१ में १०.३ प्रतिशत और १९३१ में १४.२ प्रतिशत। १९३१ से १९५१ तक न कमाने वालों की संख्या ५० से ६० प्रतिशत तक आंकी गई है। यहां औद्योगिक नगरों में ही या पड़े-लिसे लोगों में ही बेकारी नहीं है बल्कि कृषि प्रधान अशिक्षित देहातों में भी बेकारी है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भी देश में बेकारी बराबर बढ़ती जा रही है। यह हमारा सांस्कृतिक तत्व नहीं है। हमारी अर्थव्यवस्था ऐसी नहीं थी कि उसमें इतने लोग बेकार रहें। यह युग अथवा परिस्थिति अथवा राज्यविशेष की नीति की देन है। फिर भी, आज यह हमारे समाज की समस्या बन गई है। इसके कारण, भ्रष्टाचार, अर्थव्यवस्था की स्थिति, भावनाओं तथा अस्तुत्ति विचारों वाले, निराश, भौतिकता-विहीन, तथा

बिस्तरे व्यक्तित्व वाले लोगों नययुवकों - की युधि होती है। नौरी, डकैती, व्यभिचार, दूध, सिगाई, पुस, हत्याओं आदि की युधि होती है। नकली और हल्की मायुक्तता बढ़ती है। देश की वास्तविकताशक्ति का ह्रास होता है। है। जीवन विघ्नसहित हो उठता है। ये लोग उत्तेजनापूर्ण घटिया किस्म के अत्याची साहित्य की सृष्टि कर वा करवा सकते हैं। उच्च कौटि के साहित्य की रचना और उससे प्रचार में बाधक होते हैं। आधुनिक हिन्दी साहित्य के बहुत ऊँचा न उठ पाने का एक छोटा-सा कारण यह भी है।

फैशन-ज्ञान

जब जीवन ठोस और सुगठित नहीं रह जाता तब उसमें बिस्तावा और फैशन बढ़ जाता है। हल्की मनोवृत्ति वालों के पास जब पैसे कुछ अधिक हो जाते हैं तो वे उसका प्रदर्शन करने में अपनी ज्ञान समझने लगते हैं। नई अर्थ-व्यवस्था ने तथा औद्योगिक क्रांति ने जब जीवन का स्वरूप बदला तब 'स्टैंडर्ड आफ लिभिंग' अर्थात् जीने के स्तर' का प्रश्न उठा। नारा यह लगा कि हमें सिर्फ जीना ही नहीं है, ज्ञान से जीना है। जहाँ कभी नारा था 'सादा जीवन, उच्च विचार' का, वहाँ अब मनोवृत्ति हो गई 'ज्ञान का जीवन, चाहे वैसा विचार' का। अब वस्तुएं उपयोग एवं आवश्यकता मात्र के लिये ही नहीं, बल्कि उस कौटि की और इसलिये भी हैं कि उन्हें देखकर लोग यह समझ जाय और मान लें कि 'हाँ, माई, ये बड़े आदमी हैं।' अंग्रेजों का हम पर राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित हो ही गया था। चापलूसी में - उनकी अनुकूलता प्राप्त के लिये और अपनी पर रीब गाँठने के लिये - हमने उनका अनुकरण प्रारंभ कर दिया। उनके फर्निचर, सस्ती और भड़कीले वस्त्र और वस्तुएं हमें आकृष्ट करने लगीं। उन्हें स्वीकार करने के पहले हमने यह अवश्य देख लिया कि वेद-शास्त्र इसके विरुद्ध तो कुछ नहीं कहते। जब मातृम हो गया कि नहीं कहते, तो हमने निःसंकोच भाव से दुलकर उन्हें अपनाना शुरू कर दिया। हम भूल गये कि धर्म ही सब कुछ नहीं, सब कुछ संस्कृति है। हम यह सोचना भूल गये कि यह हमारी संस्कृति

और आवश्यकता की बात है या नहीं। पतलून पहनना, टाई लगाना, हैट-पहनना, सिगरेट पीना, मेज पर खाना, हुरी कांटे से खाना, अंगरेजी लिखना अंगरेजी बोलना, सोफासेट सजाना आदि इन सबके बारे में वेद-शास्त्र ने मना नहीं किया है और भारतवासियों ने इन्हें हटकर अपना लिया। परिणामतः हमारे धर्म के कर्मकाण्ड तो रह गये परन्तु सांस्कृतिक जीवन-व्यापन की दृष्टि से हमारा सांस्कृतिक मूलोच्छेद हो गया। मूल से विच्छिन्न होकर हम हल्के जीवन पड गये - ठोस नहीं रह गये। हम भूल गये कि विदया की प्रवृत्ति सती-मुणी है और उसका रंग श्वेत है। इसका परिणाम यह हुआ है कि विदया मंदिरों में कामोत्तेजक प्रकार की रंग-विरंगी भडकीली पोशाकें दिसाई देती हैं - विदया लेने वालों की भी, और देने वालों की भी ! हमारी संस्कृति ने मुंह खोलने की आज्ञा दी है, तन खोलने की नहीं, किन्तु सांस्कृतिक ठोस पन के अभाव की स्थिति में बाल ही नहीं खुले हैं, अंग-प्रत्यंग इस रूप से सज-संवार-मर-उमर कर सिर उठाता हुआ दिसाई पड़ता है कि "स्कन्दगुप्त" के मटार्क का कथन याद आ जाता है, कि लगता है कि इसीलिये नारद, शंकर विश्वामित्र आदि आज के विद्यालयों में नहीं दिसाई पड़ते कि कहीं उन्हें फिर से न "बंदर" बनना पड़ जाय, और कहीं फिर से किसी स्त्री की लाश न ढोनी पड़ जाय, कि कहीं "शकुन्तलाओं" की परमार न हो जाय !! आज की पार्टियाँ, आज के सिविल लाइनों, आज के सिनेमा हाउसों आदि को देखकर स्वमुच यह सोचना पड़ जाता है कि भारत की गरीबी की बात झूठी तो नहीं है। वास्तविकता यह है कि पाउडर, लेवेंडर, ड्रीम की बौतलें, साडियाँ, ब्लाउजे, पतलून और कोट, या फाउन्टेनपेन तथा घड़ियाँ अथवा चीनी की प्लेटें और चाय की प्यालियाँ चाहे जितनी हों किन्तु सेर-डेड सेन की फूल की प्यालियाँ, भारी परात, भारी घेड़, भारी लोटे, कमिन्की कीमती गिलास, चांदी - सोने के भारी गहने, कहीं न मिलेंगे। दूध महंगा है और चाय-चीनी-दूध-प्याला-तश्तरी -नाश्ता सस्ता है ! कितना सोसलापन हमारे अन्दर भर गया है कि मोजे, चप्पलें और जूते तो कीमती हैं, मगर पैर नज़रिस्त हो चले हैं ! अब सोचने की बड़ी बातें और करने की अधिक

~~जब-सोने-को-बड़ी-काँसे~~ और बड़ा काम नहीं रहता तब कुछ बड़े अस्तरों की
 कुछ देवियाँ यह बताने में खूबने समय का सदुपयोग करती हैं कि उनके जेठ क्या
 हैं, ससुर क्या थे, बचियाँ ससुर क्या हैं, उनके पास कितने ट्रंक साड़ियाँ हैं, और
 एक बार मोटा कपड़ा पहनने पर बौझ के मारे कितने दिन उन्हें बुझार आ गया;
 और उधर उनके साहब कल्लों में चिड़िया उड़ाने, पत्ते फेंकने-बांटने, शराब पीने
 और सिगरेटें फूंकने में चौरासीलास योनियाँ के बाद पाया जा सकने वाला मानव
 जीवन सार्थक किया करते हैं। लोग आज तत्त्वहीन विसावटी चीजों को इतना
 महत्वपूर्ण या आवश्यक समझते लगे हैं कि उनका विचार है कि लोग उसे देखते और
 उस पर विचार करते हैं। जबकि वास्तविकता यह है कि आज किसे फुरस्त है
 कि देखे और विचारे कि आपने क्या और क्यों पहना है। एक निगाह देखते
 हैं, एक-दो वाक्य में बात करते हैं, फिर बात आई-गई हो जाती है। लोग
 कदर आपकी प्रतिभा को करते हैं, आपके कपड़ों की नहीं। कुछ बह्विभागों की
 बात दूसरी है। फैशन और नये-पन की यह घातक प्रवृत्ति साहित्य में चित्रण
 का विषय तो बनती ही है, इस वातावरण में पहले हुए तरुणकलाकारों के अन्दर
 से ठोस साधना, गम्भीरतम चिन्तन, ठयाफ़क दृष्टिकोण, सांस्कृतिक अभिरुचि
 का अभाव करके उनमें सस्ती-छिछली लोकप्रियता के पीछे बौछने और दूसरों पर
 राय लेने की इच्छा की वृद्धि कर देती है। महावीरप्रसाद द्विवेदी, मैथिलीशरण
 गुप्त, हरिऔध, श्यामसुन्दरदास, रामचन्द्र जुक्त, प्रेमचन्द, प्रसाद, निराला,
 धीरेन्द्र वर्मा आदि की गहराई और ठोसपन नई पीढ़ी में नहीं विसाई पड़ता
 क्योंकि तब परतंत्र होकर भी हम विवेकानन्द, दयानन्द, तिलक, गांधी - की
 बात मानते और संस्कृति का आचर करते थे और आज आजाद होकर भी हम न
 उन महापुरुषों की बात मानते हैं और न हम अपनी संस्कृति की ही परवाह रह
 पाए हैं। आज का फैशनेबुल अभिनव साहित्यकार फैशनेबुल 'कुण्ठा' फैशनेबुल 'घुटन'
 फैशनेबुल 'बलन' और फैशनेबुल बुझाव के सहारे एक फैशनेबुल स्वर्ग - कात्पनिक
 सुख-समृद्धि वाले समाज - की दृष्टि में लगा है। भगवान ही रक्षा करें !! और
 जब रहन-सहन, साम-पान, वैश-पुषा, अर्थ-व्यवस्था और राजकाज में अन्तरण -

कैशन - दिखावे की वृत्ति जागृत तथा मौलिकता अथवा विपुल भारतीयता का अभ्यास हो गया तो किसी एक क्षेत्र में मौलिकता की कल्पना की ही कैसे जा सकती है ! यही कारण है कि यद्यपि आधुनिक युग में दो-दो नितान्त मौलिक विषय महायुद्ध हुए हैं और आज के समाज की समान रूपेण व्यक्तिधार्मिणी नवीन और प्राचीन प्रवृत्तियों और मान्यताओं की टकराहटें ज़ेता अथवा ड़ापर युग के अंत की टकराहटों से किसी भी प्रकार कम नहीं फिर भी आज किसी नितान्त मौलिक महाकाव्य की रचना नहीं हो सकती। रामायण और महा-भारत जैसे महाकाव्य तो दूर की बात रहे, तुलसी का "मानस" भी हमें अभी नहीं मिल पाया !! मौलिकता के इसी अभ्यास के - सभी प्रकार की इसी कैशन-परस्ती के कारण आधुनिक हिन्दी काव्य पूर्णतः मौलिक और तत्त्वतः प्रभाव-शाली नहीं हो पाया ! मेरा विचार है आधुनिक युग में जन्म लेकर भी आधुनिक भारत के व्यास और वाल्मीकि कोट-पतलून-छाई - बूट न पहनेंगे, सिगरेट पाइप न पियेंगे, बटन-ढोल में फूल की कली न लगाएंगे, सोफासेट पर आराम न करेंगे, मेज-कुर्सी पर हुरी-कांटे से चीनी का छल्ले न ^{बिजब} ~~सामना~~ बनाएंगे! काश, काश, कि गांधी और विनोबा कवि हुए होते !!

मनोरंजन

जिस प्रकार जीवन एवं रहन-सहन-संबंधी हमारी अन्य धारणाएं अपने सांस्कृतिक परिवेश से विच्छिन्न होकर सागर में फेंकी गई पेड़ की टहनियों तरह पूर्वी और पश्चिमीय लहरों के घात-प्रतिघात के कारण निर्मूल-सी होकर धधर-धधर बहती-उतराती हैं उसी प्रकार जीवन की मनोरंजन संबंधी हमारी धारणाएं और उसके स्वरूप भी हैं। अधिक पश्चिम के कारण शरीर के विभिन्न अंग-परमाणु, रक्त के कण एवं मस्तिष्क के विभिन्न अवयव एवं तन्तु क्रियात्मकशक्ति के व्यय के कारण व्यक्ति-हीनता का-बोझिल होने का - तनाव एवं शिंषा का - अनुभव करने लगते हैं। उन्हें स्वाभाविक एवं स्वस्थ स्थिति में लाने के लिये पहले

के कार्य को स्थगित करने, कुछ पौष्टिक तत्वों से उन्हें संयुक्त करने, रुचिकर -
 गंभीर उद्देश्य एवं लक्ष्य से संबंध न रखने वाले हल्के-फुल्के कार्यों को दबावविहीन
 ढंग से स्वतंत्रतापूर्वक करने की आवश्यकता होती है। सुलकर हंसने की आवश्यकता
 होती है। बहुत देर तक, निष्क्रिय बैठे रहने से भी शरीर अपनी क्रियाशीलता
 एवं स्वास्थ्य से बैठता है। इसके लिये भी कुछ होना चाहिए। ऐसे अवसरों के
 लिये भारतीय संस्कृति की जो व्यवस्थाएं थीं उनमें जिस बात का सबसे अधिक
 ध्यान रखा जाता था वह थी शारीरिक, नैतिक, मानसिक, भयवा आध्यात्मिक
 किसी भी प्रकार की कुछ भी हानि न होने देने की। एक की हानि पर दूसरे
 का लाभ हमारी संस्कृति ने कभी भी प्रतिपादित नहीं किया। आगे बढ़कर
 इस बात का भी ध्यान दिया जाने लगा कि वह परिस्थितियों के अनुकूल हों,
 सात्विक प्रकृति की हों और मनुष्य की व्यापक उन्नति में सहायक हों। काला-
 न्तर में इस दृष्टिकोण में शिथिलता आने लगी। विभिन्न संस्कृतियों के संपर्क
 ने मनोरंजन आदि की विभिन्नधारणाएं और उनके स्वरूप एवं प्रकार दिये।
 स्वास्थ्य के लिये देशी और विदेशी व्यायाम भी होते रहे और उनकी जगह पर
 देशी-विदेशी औषधियाँ भी मरोसा किया जाने लगा। हमारे नाच-गान-
 नाटक आदि का संबंध भगवान से भी हो गया था और हमारे मनोविकारों से
 भी। धन की अधिकता के लिये सारी बैठे रहकर हम अपने मन और मस्तिष्क
 रुचि और पसन्द को शैतानियत के रंग में रंगते भी लगे। हम स्वास्थ्य के लिये
 नहीं, स्वाद के लिये खाने लगे। "संतुलित भोजन" का कोई भी ध्यान नहीं रह
 गया। मनोरंजनसंबंधी हमारी धारणा भी विचित्र हो गई। उसमें ज्ञान और
 प्रतियोगिता की भावनाएं सम्मिलित हो गई और उसने व्यवसाय का रूप धारण
 कर लिया। कुछ का रूप बेहव सर्ववाला हो गया। कुछ को हम मनोरंजन का
 सम्य साधन समझने लगे और कुछ को असम्य - देहाती। मनोरंजन के भीतर आराम
 से गद्दे तकिये या कुर्सी मेज पर बैठकर होने लगा और कुछ बाहर मैदानों में।
 वे हृदय के विषय कम रह गये। नियम कायदा से जकड़ गये। कुछ तो कमाई करने

के साधन भी बन गये। कुछ से चरित्र और स्वास्थ्य बनता या बन सकता है।
 और कुछ केवल फालतू समय (जो हमारे पास कम नहीं है !) को व्यतीत करवा
 देने के साधन मात्र रह गये। मनोरंजन के कुछ साधनों को क्रियात्मक रूप देने के
 लिये लाखों करोड़ों का व्यय, असंख्य भारतवर्षीय आयोजनाओं और राजकीय
 संगठनों की आवश्यकताएं पड़ती हैं। इनमें से कुछ साहित्यिक हैं और कुछ व्याव-
 सायिक। कुछ निर्माण करते हैं कुछ विनाश। योगासन, कबड्डी, गुल्ली-डंडा,
 नाटक कंपनियां, मजन-मंडलियां, असाडे, नृत्य, रासलीला, रामलीला, हल्के-फुल्के
 गाने, शास्त्रीय संगीत, वेश्या, ताश, उत्तरंज, त्रिज, फ्लास, चौपड, कौड़ी-जुआ,
 टेनिस, बैडमिन्टन, क्रिकेट, हाकी, फुटबाल, बालीबाल, टेबुल टेनिस, सिनेमा,
 रेडियो आदि हमारे व्यायाम और मनोरंजन के प्रकार हैं। हममें से कुछ
 खेल तो राष्ट्रीय सम्मान एवं विश्व-सम्मान दिलाने वाले हो गए हैं। प्रसाद,
 जी कुरती लड़ते थे और उनका शरीर कसरती था। रामकुमार वर्मा जी ने बच-
 पन में कई कुश्तियां मारी थीं। उनका सुगठित शरीर उनके व्यायाम प्रेम का
 साक्षी हैं। वे आज भी प्रातः काल व्यायाम और आसन करते हैं। छत्तमे उत्तर
 प्रदेश, व्यायाम केसरी शान्तिप्रकाश आश्री का कहना है कि निराला कुश्ती के
 मान्य दांव-पेंच जानते थे। प्रेमचंद की एक कहानी का विषय है उनके बचपन के
 एक साथी ^{के साथ} गुल्ली-डंडे का खेल। प्रसाद, निराला, रामकुमार वर्मा, महादेवी
 आदि अनेक गीतकार शास्त्रीय संगीत से परिचित हैं। वैसे भी संगीत भारतीय
 जीवन का एक अनिवार्य तत्व है - सांस्कृतिक तत्व है। 'बच्चन' ने लिखा है,
 सुप्रसिद्ध संगीतकार बड़े गुलाम अली ने एक बार कहा था कि गाने की तबियत
 बनाना ही गाना है..... हमारे देश का तो सारा जीवन ही गीतमय है।
 कभी-कभी सोचता हूं कि हमारे ऋषि-मुनियों, विचारकों, दार्शनिकों, विद्वानों,
 संतों ने जीवन की कौन ऐसी व्याख्या जन-जन के हृदय में बिठा दी जिस ^{मस्त}
 बात गीतमय हो गई। पर्वों, त्यौहारों, मेलों, उत्सवों की बात नहीं करता
 ऐसे समय गाने स्वाभाविक है, पर कठिन मेहनत का काम करते हुए भी लोगों के
 गाने देखकर मैं भाव-विभोर हो गया हूं। पति या पुत्र की मृत्यु पर देहाती

मैं औरतें जिस ढंग से रोती हैं उसमें भी एक लय एक प्रकार की संगीतात्मकता होती है, इसलिये हमारा काव्यगीत संगीतमय है। गांव में भी संगीत है। प्रसाद ने देवसेना से संगीत के इसी व्यापक रूप की प्रतिष्ठा कराई है। इस आश्वत प्रवृत्ति के प्रतिकूल कुछ बौद्ध यथार्थवादी, बौद्धिकतावादी तथा नई कविता के कलापूर्ण गौरव स्तम्भ कविता से संगीत को निकालने की पिपिहरी बजाये हैं यद्यपि तुक-लय आदि से उनकी कृतियां भी पूर्णतः रहित नहीं हैं।^१ भारतेन्दु जी अतरंज के निष्णात खेलाडी थे और प्रेमचंद की एक सुप्रसिद्ध कहानी है "अतरंज के खेलाडी"। प्रसाद के नाटक पारसी रंगमंच पर अभिनीत होनेवाले असांस्कृतिक नाटकों की प्रतिक्रिया स्वरूप थे और उनकी नाट्यकला का रूप उन से थोड़ा बहुत प्रभावित भी है। भारतेन्दु अभिनय कला के मर्मज्ञ, और रंगमंच की कला के ज्ञाता थे। वे स्वयं अभिनेता भी थे। यही स्थिति रामकुमार वर्मा की भी है। पाश्चात्य खेल, जैसे क्रिकेट, हाकी, आदि अभी हमारी संस्कृति के अंग नहीं हो पाये हैं और इसीलिये अभी हमारे साहित्य का उनसे कोई प्रत्यक्ष संबंध स्थापित नहीं हो पाया है। चलचित्र हमारी रुचि, हमारे जीवन और हमारे मनोविज्ञान को पूरी तरह से आक्रांत करता हुआ भी अभी हमारे जीवन का शुभ सांस्कृतिक तत्व नहीं हो पाया है और इसीलिये साहित्य का विषय नहीं हो सका। फिर भी "सुबह के भूले" और "आखिरी दांव" नामक दो सशक्त उपन्यासों और अनेक कहानियों का संबंध चलचित्र जगत से है। मनोरंजन के साधनों में से जिस तत्व ने हिंदी साहित्य को विशेष रूप से प्रभावित किया है वह है - रेडियो। एकांकी नाटकों की भरमार का एक प्रमुख कारण रेडियो है। इसी कारण अनेक प्रकार के रेडियो नाटक लिखे जाने लगे हैं जिनका वर्गीकरण - रेडियो नाटक, ध्वनिनाटक, ध्वनिरूपक आदि - हिंदी में पहली बार रामकुमार वर्मा ने किया है। रंगमंच के अभाव तथा सुयोग्य दर्शकों की कमी ने नाटकों को दृश्य काव्य से पाठ्यकाव्य बना दिया और अब रेडियो ने उन्हें श्रव्यकाव्य बना दिया

रेडियो-से है। हिन्दी साहित्य को रेडियो की यह सबसे बड़ी देन है।

प्रेस

आधुनिक युग में हिन्दी साहित्य को सबसे अधिक प्रभावित करने वाली सामाजिक वस्तु है - प्रेस। समाचार पत्रों ने हिन्दी कविता को राज-दरबारों से निकालकर जनता के बीच सटा कर दिया। प्रेस की सबसे बड़ी देन यही है कि उसने हिन्दी का दरबारीपन समाप्त कर दिया। प्रजातंत्रवाद और मानवतावादी दृष्टिकोण ने इसके लिये मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि तैयार की और प्रेस ने साधन उपस्थित कर दिया। हजारों प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, "वस्तुतः साहित्य में आधुनिकता का वाहन प्रेस है और उसके प्रचार के सहायक है याता-यात के समुन्नत साधन। वस्तुतः प्रेस ने साहित्य को प्रजातांत्रिक रूप प्र-
दिया।" बम्बई में प्रकाशित ^{साहित्य} चौबीस घंटे के अन्दर सारे भारत में पहुंच सकता है। इस सुविधा ने हिन्दी साहित्य की स्थानीयता एवं प्रादेशिकता की सीमाओं से मुक्त करके अन्तर्प्रान्तीयता का स्वरूप प्रदान कर दिया है। इससे भाषा की एकस्यता में थोड़ी बहुत छिथिलता अवश्य आ गई है किन्तु वह ^{तो} कोई बड़ी बात नहीं है। उचित समय पर भारतीय प्रतिभा उसकी अवांछित ^{तत्त्वों} का निदान ढूंढ लेगी। प्रेस ने अधिकाधिक संख्या में पुस्तकों का प्रकाशन संभावित करके लेखकों के / पाठक वर्ग का विस्तार करके उनकी यशोवृद्धि का साधन उपस्थित कर दिया है। मासिक तथा साप्ताहिक पत्रिकाओं के प्रकाशन ने साहित्य के लघुरूप को अधिकाधिक प्रो-त्साहन दिया है। पाठक की रुचि का ध्यान पत्रिका के अधिकाधिक विभाग का साधन है। आपस सम्पादक यह चाहेगा जिसे पाठक अधिकाधिक तरीके और हसी-लिये साहित्यिक वही लिखेगा सम्पादक जिसे निःशुल्क रूप से छाप सके। इसका परिणाम यह हुआ कि साहित्य पाठकों का - लोकमत का - अनुगामी हो गया। उसे पाठकों की रुचि और साहित्य के सांस्कृतिक महदुद्देश्य के बीच समन्वय

विन्दु निकालना पड़ा। जो ऐसा नहीं कर सका उसे क्षेत्र से हट जाना पड़ा। यह स्थिति ठीक वैसी ही है जैसी कवि सम्मेलनों की। विविधता की मांग ने साहित्य की अनेक विधाओं के अपनापन की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया और नवीनता की मांग ने विविध प्रान्तों और देशों के साहित्य के अध्ययन की आवश्यकता प्रतीत कराई। हिन्दी साहित्य की अत्यन्त लोकप्रिय विधा, 'कहानी' के वास्तविक अर्थों में प्रारम्भ का श्रेय प्रेस की कृपा - 'सरस्वती' के प्रकाशन-को ही है।

अंध-विश्वास

दर्शन में बुद्धि एक जड़ तत्त्व है। चेतन-जगत में आध्यात्मिक क्षेत्र में उसकी कोई विशेष उपयोगिता नहीं मानी गई। उसका एकमात्र उपयोग है - सार्थकता है - अपनी ही निःसारता, निरूपयोगिता या निरर्थकता की अनुभूति करा देना। इतना करने के पश्चात् उसे साधक से इसी प्रकार वियुक्त हो उठना होता है जैसे सर्पराज की पुरानी कैदुल। इसका तात्पर्य यह न समझ लेना चाहिये कि वह लौकिक क्षेत्र - व्यावहारिक जगत में भी निरूपयोगी है। उसकी निरर्थकता की अनुभूति किये बिना ही - लौकिक क्षेत्र एवं व्यावहारिक जगत में भी उसकी छोड़ देने वाले मूर्ख हो जाते हैं। बुद्धि को प्रयत्नपूर्वक छोड़ देना - या छोड़ने का ढोंग रचना जाहिलियत है, बुद्धि से अपरिचित होना मूर्खता है और बुद्धि का स्वतः अपने को निरूपयोगी सिद्ध करके क्रतुओं की भांति, इन्द्र धनुष की भांति स्वतः सहज स्वाभाविक रूप से साधक के मार्ग से लुप्त हो जाना आध्यात्मिक क्षेत्र की एक सुन्दर परिस्थिति है। शिक्षा के व्यावहारिक, सर्वांगी प्रायः नगरों में ही सीमित और अर्थात्कृतिक होने के कारण भारतीय जनता के अधिकाधिक भाग ने उससे अपना संबंध तोड़ लिया। इस प्रकार लिखना, पढ़ना, और हिसाब लगाना उनके लिये नहीं रह गया। व्यवहार कुचल होने पर भी वे अविचलित रह गये। मस्तिष्क को जागरूक और सक्रिय रखने के लिये आवश्यक

तत्वाँ को भीतर आने देने वाली सिडकियां बन्द हो गईं। नौकरी दिलाने वाली तथा पाश्चात्य रूप धारण करके चलने वाली शिक्षा में इतनी दमता नहीं रह गई कि वह शिक्षितों को अपने आध्यात्मिक एवं धार्मिक जीवन के प्रति जाग-
 र्क कर सकती या उस विषय में कुछवता सकती। अपने धार्मिक कर्तव्यों एवं गु-
 णानों को जानने के लिये जिस भाषा को जानने की आवश्यकता होती है उसे जानने वाला मूर्ख और सरकारी नौकरी के अनुपयुक्त समझा जाता था। अस्तु,
 उसे पढ़ने का सतरा मोल खेने को हम तैयार न हुए। हम अशिक्षित भारतीयोंने
 बुद्धि का साथ छोड़ दिया तो मूर्ख रह गये। शिक्षा की धार्मिकशून्यता ने हमें
 धर्म के मामलों में एक विशेष वर्ग पर ही अवलंबित हो जाने को विवश कर दिया।
 मुहावरा चल पड़ा कि पढ़-लिखकर कोट-पतलून पहनने लगने जाना और अंगरेजी
 बोल लेना और बात है और अपना धरम करम जानना और बात है। इस मज-
 बूरी ने हमें बिना सोचे समझे विश्वास करना सिखा दिया। धर्म के अन्दर बुद्धि
 को सक्रिय होने देना नास्तिकता है। 'महाजनो येन गतः स पन्था' । हम ८ अनु-
 करणवादी हो गये। उस पर हम संका संशय सन्देह करतें नहीं सकते क्योंकि
 'संख्यात्मा विनश्यति' । और फिर, विश्व-ब्रह्माण्ड - इतना अपरिमित -
 हम इतनी अल्प और सीमित शक्तिवाले ! किस किसको जानेंगे ? किस किस पर
 विचार करेंगे ? किस किस से लड़ेंगे ? बीसवीं सदी के भी हिन्दू ने "मान लेना"
 सीख लिया। विश्वास करलेना सीख लिया। नंगा नंगई करेगा तो उसका क्या
 जायगा ? कुछ नहीं ! चरीफ आवामी जरूर उत्थान में पड़ जायगा। इसलिये
 हिन्दू ने सबसे प्रार्थना करके सबको शान्त करना अच्छा समझा - "ओ३म् श्रीः
 शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथ्वी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः वनस्प-
 तयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्^{न्ती} शान्तिः सर्वं ६१ शान्ति शान्ति रेव शान्तिः
 सा मा शान्तिरेधि । ॥ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।" जब सब कुछ शान्त,
 तब जो कुछ करना है वह "पंडित जी" के कथनानुसार ही तो करना है। लोगों
 ने इस क्षेत्र की बात पर सोचना विचारना बेकार का काम समझा। "विश्वासी

फलदायकः" - यह पढ़े बेपढ़े सब कहने लगे। बुद्धि जिसके विषय में कुछ भी न कह सके उसे मानना विश्वास है और बुद्धि जिसके विरुद्ध निर्णय दे दे उसे भी मानना अंधविश्वास कहलाता है। भारतीय जिसे समझ नहीं पाता उसे अमानवीय अति मानवीय और देवकोटि में पहुंचाने में उसे कोई भी देरी नहीं लगती। भारतीय जिसके ऐश्वर्य और प्रताप की प्रशंसा करता है उससे अलौकिक कोटि और योनि के लोगों को भी प्रभावित और पराजित होते हुए दिसाने में कोई हिचक नहीं होती। चैबक, हैजा, तारुन आदि कीटाणु प्रधान संक्रामक बीमारियों को देवी मानना, देवियों पर कढ़ाई (पूड़ी-हलुआ) चढ़ाना, जादू-टोना, ओझा जी की साह-फूंक, जीवों की बलि, "अमुआना" (देवी या देवता की छाया सेगृहीत व्यक्ति का सिर या हाथ हिलाते हुए अज्ञात बातों को बताना), "मानता" मानना, लडकी की ससुराल का एक दाना अन्न भी खाना अथवा एक बुंद पानी भी न पीना आदि अनेक बातें हमारी उपर्युक्त प्रवृत्तियों की द्योतक हैं। प्रायः ऐसा होता है कि उत्तर प्रदेश, बिहार आदि प्रान्तों के गर्म-दिल नवयुवक जब उत्तर-पूर्व बंगाल, असम और उर्वसील क्षेत्रों की रूपवती और स्वस्थ तरुणियों के असाधारण आकर्षण और निर्बाध एवं निर्बंध प्रेम के वशीभूत हो जाने के परिणाम स्वरूप अपने जन्मस्थान एवं अपने जन्म-प्रान्त नहीं लौटते तब बड़े विश्वासपूर्वक लोग कहा करते हैं कि कमलठा की जादूगरनियों ने उन्हें मेडा बना लिया है। वे रात में पुरुष और दिन में मेडा बनाकर रसे जाते हैं। लोग इसका अर्थ रूपकात्मक नहीं अधिधात्मक ही लेते हैं। राहुल सांकृत्यायन ने इस जताऊषी के प्रारंभ में प्रचलित मृत-प्रेत संबंधी और अंगरेजों के देवी-प्रताप संबंधी अंधविश्वास का मनोरंजक उल्लेख किया है।^१ उनके संबंधी रात में अकेले जा रहे थे। एक मृत ने उनका पीछा किया। "मील भर चला गया और अब भी वह व्यक्ति साथ ही चल रहा था। मैंने पूछा तो जवाब मिला - "जांजी, इंधर से न चला" जानते हो, पक्की सड़क सरकार बहादुर की सड़क है। सरकार का बड़ा अकबाल है। उस पर आकर किसी मृत-प्रेत को पात करने की हिम्मत नहीं हो सकती.... मील आध मील और पीछा करके वह यह कहता हुआ चला गया - "बंछां, जां, बंच के निकल गया।"^२

विश्वास है कि भूतों का उच्चारण साधुनास्तिक होता है और उनकी एडी आगे की ओर और पंजा पीछे की ओर होता है !! टीका लगवाने और प/ पढ़ने से लडकों की मृत्यु हो जाने का भी अंध-विश्वास कहीं कहीं था। उप-र्युक्त पुस्तक के २४-२५वें पृष्ठ पर राहुल जी ने एक और मनोरंजक अंधविश्वास का उल्लेख किया है। 'एलोरा और अजन्ता की गुहामूर्तियाँ के बारे में उनका कहना था - रामजी वनवास को जायेंगे - यह ख्याल कर विश्वकर्मा ने पहाड़ काटकर ये महल बनाये कि इनमें देवता लोग वास करेंगे और राम जी को वन-वास में कष्ट न होगा किन्तु महल बनाकर जबतक विश्वकर्मा ब्रह्मा को खबर देने गये तबतक राक्षसों ने आकर उन महलों में डेरा डाल दिया। लौटकर विश्व-कर्मा ने देखा। उन्हें बहुत क्रोध आया और आप दिया जाओ, तुम सब पत्थर हो जाओ।' नानी की परम्परा के अनुसार अजन्ता - एलोरा की गुहा-मूर्तियाँ वही पथराए राक्षस हैं नाचने वाले वैसे ही नाचते रहे सोने वाले वैसे ही सोये - बैठे रहे। आज भी देखने से मालूम होता है - अभी उठकर बोल देंगे।' अंधविश्वास किसी स्वस्थ प्रकृति का सूचक नहीं होता - बुरा होता है किन्तु हमारे देश की जनता के पास - जिसके पड़े-लिखे दोनों वर्ग धर्म-संस्कृति की जानकारी के विचार से एक समान मूर्ख और बच्चे हैं - जिसकी परि-स्थितियाँ ने उसे बुद्धि-विकास का कोई भी अवसर नहीं प्राप्त होने दिया - अपने धर्म और अपनी सांस्कृतिक तत्त्वों, विभूतियों एवं परम्पराओं को पूर्णतः नष्ट होने देने के लिये - अंधविश्वास के अतिरिक्त और कोई भी चारा रह नहीं गया था। मैं नहीं जानता कि अन्य देशों की बेपटी-लिखी जनता की भी बुद्धि कितनी सक्रिय रहती है और मैं यह भी नहीं जानता कि अन्य देशों में अवांछित प्रवृत्तियाँ ने कने कभी कोई शुभ काम किया है या नहीं, किन्तु जिनकी जड़े सांस्कृतिक गहराइयों में नहीं हैं उन पड़े-लिखे बुद्धिवादी नवयुवकों के बौद्धिक उत्पात की अपेक्षा वे पड़े-लिखे लोगों के ऐसे अंध-विश्वास को मैं अच्छा समझता हूँ जिसने हमारी संस्कृति को लुप्त होने से बचा लिया। बचा उन्होंने लिया,

परिष्कार, पुनरुद्धार और उपयोग जब हम कर रहे हैं। अंधविश्वास आपत्ति-
 कालीन परिस्थितियों में कल्याणमयी प्रवृत्ति का रूप धारण कर लेगा - यह
 एक अनोखा सांस्कृतिक वैशिष्ट्य है। आधुनिक हिंदी - साहित्य में अंध-विश्वासों
 का कंकाल नहीं मिलता किंतु विश्वासों का सद्-स्वरूप अवश्य मिलता है। हमारे
 नाटककारों ("कहलू" आदि), कवियों (हरिऔध, आदि) वे हमारी कुछ स्वच्छ
 जी की नानी की उपर्युक्त व्याख्या के पीछे शांत या अशांत रूप से एक प्रवृत्ति -
 साम्य है। वह, जो ऐतिहासिक नहीं है, नई व्याख्याओं के लिये ही या उसी
 कारण या उसीके आधार पर हमारे साहित्य का विषय बन जाता है और तब हमें
 डा. रामकुमारवर्मा लिखित "पृथ्वीराज की आंखें", "शिवाजी", आदि सज्जत
 कृतियां मिलती हैं। बुद्धिजीवी का अंधविश्वास भी परिवर्तित होकर हमारे समक्ष
 पार साहित्यिकों का सद्विश्वास बन गया है। विश्वास की इसी प्रवृत्ति ने
 मैथिलीशरण गुप्त के राम और बुद्ध की ऐतिहासिकता एवं मान्यता से उनके
 ईश्वरवत्त्व को बाधित नहीं होने दिया। हमने अंधविश्वासों की आत्मा ले ली
 है, कंकाल छोड़ दिया है। इसके लिये हम आर्यसमाज और कांग्रेस के आन्दोलन,
 दयानन्द और गांधीकी चेतना और तथा अपने प्राचीन गौरवमय स्वरूप को प्राप्त
 करने के लिये चलाये गये सांस्कृतिक पुनरुद्धान की प्रवृत्ति के कर्ण हैं। यह उसी
 के परिणामस्वरूप हुआ है।

धार्मिक सहिष्णुता

सांस्कृतिक परम्पराओं ने धर्म, जाति एवं सम्प्रदाय के वैभवंत्त्व
 को वैभवंत्त्व को भी स्वस्थ सामाजिक संबंधों के विकसित होने में बहुत अधिक
 बाधक नहीं सिद्ध होने दिया। ऐतिहासिक एवं सामाजिक परिस्थितियों एवं
 प्रवृत्तियों के कुण्ड के कारण सबसे अधिक विरोध हिन्दू और मुसलमान में होने सकता
 था और कुछ सीमा तक हुआ भी क्योंकि स्वाधीन बुद्धिवादिनी ने विरोध को

व्यर्थ ही भड़का कर अपना उल्टू सीधा किया है किन्तु प्रभावशाली होते हुए भी इनकी संख्या कम और प्रवृत्ति एवं प्रभाव सामयिक है। वस्तुतः शिक्षा अथवा सुधरे हुए चिन्तार चाहे मले मानुस भाइयों ने विरोधी तत्वों के डंक को निकाल कर फेंका है और स्वस्थ सामाजिक संबंधों का विकास कर लिया है जिसका बड़ा ही प्यारा रूप अविषाक्त केनों में दिखाई पड़ता है। हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे की जातिगत भावनाओं का आदर करते हुए भी एक दूसरे को खिलाते-पिलाते रहे हैं। राजेन्द्र बाबू ने लिखा है, "ऐसे असंख्य ग्राम हैं जहाँ हिन्दू और मुसलमान साथ-साथ रहते हैं..... (उनमें) लूची मैत्री और पड़ोसीपन का भाव रहता है और सब लोग आपस में गाँव के रिश्ते के अनुसार एक दूसरे को माई, चाचा, काका आदि कहकर पुकारते हैं।" अनेक नाम ऐसे होते हैं जो दोनों के यहाँ सम भाव से रसे जाते हैं गाँवों, नगरों और तालाबों आदि के नामों में भी यही बात है.... छोटे लोग बड़े लोगों के यहाँ विशेष अवसरों पर विशेष कार्य करते थे और अपनी-अपनी हैसियत के अनुसार लोग उन्हें विशेष पुरस्कार भी दिया करते हैं..... इसमें हिन्दू मुसलमान भेद नहीं किया जाता है....मुसलमान नाई हिंदुओं के बाल बनाते हैं.... हिन्दू पत्नियों को सुहाग-धूपन, बूढ़ियों का व्यवसाय अत-प्रतिष्ठित रूप से मुसलमान बूढ़िहारों के ही हाथों में है...नेहरु और जिना की शेरवानी और बूढ़ीदार पा यजामें तथा 'बुधइया' और 'सकुरवा' की वैद्यभूषा में कोई विशेष अन्तर नहीं होता.... बूढ़ी, साड़ी, कुरता, चल्नार, हिन्दू और मुसलमान महिलाएँ एक समान शौक से पहनती हैं... इस सुन्दरता-ताने-बाने के अन्धर हिन्दू और मुसलमान नर-नारियाँ में जाने अनजाने हमारे सामाजिक जीवन को जिस मध्य और स्निग्ध पट से बुना है वह सराहनीय है। यह धार्मिक विद्वेष पर सामाजिक अक्षितियों की विजय है, यह सांस्कृतिक अलंङता की विघटित कारी तत्वों पर जीत है, धृष्टा और अविवेकपर प्रेम और विवेक का प्रभुत्व है। इन प्रवृत्तियों का भाषा और साहित्य पर असाधारण रूप से प्रभाव

पडा है। इसी ने दोनों^{की} सामान्य भाषा - हिन्दी - को जन्म दिया है जिसका एक रूप उर्दू है। सामान्य रूप से प्रयुक्त व्यापक शब्दसमूह को "फिराक" उर्दू की और हम हिन्दी की चीज मानते हैं जबकि उनकी उर्दू में हिन्दी के लिये कोई भी स्थान नहीं और हमारी हिन्दी में उर्दू का रूप भी सम्मिश्रित है। उर्दू साहित्य में हिन्दू समाज भी चित्रित है और हिन्दी साहित्य^{हित} में मुसलमान समाज भी। उर्दू की सेवा हिन्दुओं ने भी की है और हिन्दी की, मुसलमानों ने भी। साम्प्रदायिक द्वेष से भरे आधुनिक-युग के वातावरण में भी ऐसा हुआ है हमारे वैष्णव महाकवि गुप्त ने भी "कावा-कबला" की रचना की है।

समाज सुधार-परिवर्तन

वस्तु, इस आलोच्य काल के अपने समाज में हम जो सबसे बड़ी चीज देखते हैं वह है अपने को प्रस्त करने के लिये तत्पर विदेशी प्रभाव, और अपने समाज को नष्ट होने से - अयस्कितत्व - विहीन होने से बचाने के लिये हमारे अपने सांस्कृतिक प्रयत्न - जिसका एक अंग था समाज-सुधार और अपनी प्राचीन महानताओं का महत्व-मूल्यांकन एवं यथासम्भव उसकी पुनर्प्रतिष्ठा। हमारे आधुनिक युग के साहित्य में ये प्रवृत्तियाँ स्पष्ट हैं। भारतेन्दु का युग इस समाज-सुधार के प्रयत्नों का युग एवं अपनी पुर्गति को अनुभव करने वाला युग था। "भारत-दुर्दशा" आदि ग्रन्थों की रचना इसी पृष्ठभूमि में हुई थी। आगे चलकर विदेशी युग में मैथिलीशरण गुप्त ने भी घोषित किया - "हम कौन थे, क्या हो गए हैं और क्या होंगे अभी - आजी विचारें आज मिलकर ये समस्यार्थ सभी।" ये दोनों प्रवृत्तियाँ आज तक हमारे समाज में अभी चली आ रही हैं अर्थात् हमारे ऊपर विदेशी प्रभाव भी सड रहा है और हम अपने सांस्कृतिक पुनरुत्थान के लिये प्रयत्नशील भी हैं। इसीलिये हमारे यहाँ "अधेय" भी हैं और रामकुमार वर्मा भी। महादेवी वर्मा ने लिखा है, "अंग्रेजों की परा

धीनता के विरोध में जागृत राष्ट्रीय चेतना तथा सामाजिक रुढ़िग्रस्तता के विग्रह में उत्पन्न सुधार-आंदोलनों ने हिंसी और मराठी दोनों के गदय को प्रगतिशील विकास दिया है^१ हुआ यह कि ईसाइयों ने जब हमारी सामाजिक दुर्वृत्तताओं पर बाढ़प्रहार प्रारंभ किया तब उनके मुकाबले चर्चित-संभव करने के लिये हमारा ध्यान सामाजिक सुधारों की ओर गया जिसने हमारे मूल-उद्देश्य अर्थात् अपने समाज को गौरव के प्राचीन चिह्न तक पहुंचाने के प्रयत्न में सहायता दी। स्वामी दयानन्द के "सत्यार्थप्रकाश" का पूर्वार्ध हमें अपने धर्म, अपनी शिक्षा, व्यवस्था, अपने जीवन, अपनी आधम-व्यवस्था और विभिन्न आश्रमों में हमारे कर्तव्य, अपनी राज्य-व्यवस्था आदि का बोध कराता है। हमारा अहित करने वाले विभिन्न धार्मिक संप्रदायों की अनर्गल बातों का विरोध एवं उनका संडन तो "सत्यार्थप्रकाश" के उत्तरार्ध में हुआ है। यह हमारी सामाजिक एवं सांस्कृतिक गति का प्रेक्षित प्रतीक है। हमने विरोध के लिये विरोध नहीं किया; हमने उनका विरोध इसलिये किया कि वे हमारे सत्य-अर्थ की प्राप्ति में बाधक थे। इसीलिये हमने अपने समाज की कुरीतियों एवं दोषों से भी अश्रुता ठानी। कांग्रेस के भीतर के नेताओं में राजनीतिक संघर्ष चला तो जनता में सामाजिक संघर्ष। स्वामी दयानन्द और राजा राममोहन राय जो सामाजिक जागृति दे गये थे वह जनता के भीतर पहुंचने लगी थी। जनता इन महापुरुषों के सामाजिक निष्पक्ष विचारों को समझने में लगी हुई थी। जो वर्ग शिक्षित हो चला था वह इसे अवैवाक्य अधिक समझने लगा और इसीलिये वह युग मध्यवर्ग की सामाजिक चर्चा का उठता हुआ काल हो गया। १९१७ ई. के महायुद्ध तक ये सामाजिक आंदोलन अत्यन्त बड़े ही जोरों पर थे। इस समाज-सुधार के मुख्य अंग थे चहेज, विदेश-गमन, दूतहात आदि। पाठशालाओं, धर्मशालाओं, असाढ़ों, अन्नसत्रों, देवालयों आदि का निर्माण भी सामाजिक दृष्टि से होने लगा। न जाने कितने धार्मिक विवाद हुए; न जाने कितनी सामाजिक संस्थाएं बनीं। आर्यसमाज और

ब्राह्मणसमाज के धार्मिक दृष्टि कोणों में पुराने समाज को हिला-डुला दिया।
 आर्यसमाज की हुंकार ने सारे हिन्दुस्तान-समाज को चौंका दिया। पुराने
 और पौराणिक लोग भी सोचने और समझने लगे कि वहाँ कुछ न कुछ सराबी जरूर
 है। धार्मिक कटुतरताएं उपहासास्पद लगने लगीं। बुद्धिवादी दृष्टिकोण और
 धार्मिक सहिष्णुता की प्रवृत्ति बढ़ी। जो बातें पहले अनर्गल लगती थीं उनकी
 बुद्धिवादी व्याख्याएं प्रस्तुत की गईं। द्विवेदी युग के अन्त तक समाज-सुधार की
 यह प्रवृत्ति छरार तक पहुंच गई थी। प्रेमचन्द में आर्यसमाजी प्रवृत्ति थी, मैथिली
 चरण गुप्त और 'हरिऔध' में सुधारोन्मुखी परम्पराप्रियता। क्रांति का युग
 अभी नहीं आया था। यह १९२५ के बाद आने वाला था। इस युग में समाज
 की एक श्रद्धाघोषमयी प्रवृत्ति के सुधार का इस प्रकार प्रयत्न किया गया जैसे कोई
 बिगड़े बच्चे को संभालने की चेष्टा कर रहा हो। और आज यह बात अब कहने
 की नहीं रह गई है कि परिष्कार और सुधार की हलचलों से तैरंगित होने वाले
 उत्थानोन्मुखी सामाजिक वातावरण की पृष्ठभूमि में ही। आचार्य द्विवेदी ने
 अपने युग में साहित्यिकों की रचनाओं की अनुश्रुतियाँ ऐसे ठीक की थीं मानों वे
 हाई स्कूल के कमजोर विद्यार्थी की कापी की गलतियाँ ठीक कर रहे हों।
 इसी कार्य ने समय से पहले उनकी बातों की ज्योति को बीज कर दिया था।
 उस समय की पत्रिकाओं के लेखों और सम्पादकीय टिप्पणियों को देखने से यह
 बात पूर्वस्येव स्पष्ट हो जाती है। उत्थान नवीनता के प्रति उन्मुख रहने और
 नवीन परिस्थिति के अनुकूल अपने को बदलने सुधारने से भी होता है और अपनी
 प्राचीन महानता को याद करने से भी। इसीलिये इस युग का कवि इतिहास,
 पुराण और वर्तमान समाज से ऐसे विषयों को लेकर प्रबंधों, लेखों और पुस्तकों के
 में रचनारं करता था जिनसे समाज पुनरुज्जीवित हो। इस कार्य के लिये साहित्य
 कार की स्वाभाविक ही उपपेक्षक दृष्टि ग्रहण करनी पड़ी। इसी से इस युग के
 काव्य में नव्य काव्य का 'कान्त'भाव नहीं प्रकट हुआ। इसके विपरीत काव्य
 में स्थापन, उपदेश, सुधार, शिक्षा, आदि ही अधिक रही, काव्यत्व कम।

इन दिनों आर्य समाज रुपी सूर्य का मध्याह्न काल था और वह भारत के अतीत गौरव को/सौंदर्य को लोगो के सम्मुख ला रहा था। ध्यान रहे कि हिन्दू समाज में परिवर्तन मध्य वर्ग में ही हो पाया। निम्नतम और उच्चतम वर्ग इससे बहुत कम प्रभावित हुआ। बड़े लोग अंगरेजियत के गुलाम होने के नाते इसकी हंसी उड़ाते थे (जैसा कि आज भी उड़ाते हैं) और समाज-सुधार जब तक जीवन का अनिवार्य अंग न हो जाय और विश्लेषण का रूप छोड़ न दे छोटे लोगो की समझ के बाहर की बात रहता है। निम्नवर्ग और उच्च-निम्नवर्ग अपनी क्रियाशीलताएं और रुचियां परम्पराओं से ही मर्यादित रखता है ताकि उसकी अपनी संस्कृति से उसका संबंध विच्छेद न हो गया, उसके "राम" और "कृष्ण" न लौ जायें। अस्तु, हमारा आधुनिक साहित्य भी साहित्य की प्राचीन ^{और वही} परंपराओं का अद्भुत सम्मिश्रण हो गया है। उच्च-निम्नवर्ग तो कविता-सवैया और रीतिकालीन प्रवृत्तियों एवं काव्य के आलंबनों को ही समझ: "कविता" और उसका विषय मानता है। "रत्नाकर", "रसाल", "रामप्रसाद त्रिपाठी", "विजयदाम" आदि की तो बात ही छोड़िए, प्रसाद और गुप्त भी उसको बिल्कुल छोड़ नहीं पाये। राहुल, पन्त, निराला, मगवतीचरण वर्मा, बच्चन, दिनकर, कृपाल, अंबल आदि ने परिवर्तन पूर्णतः स्वीकार कर लिया।

क्रान्ति

इसके पश्चात् युग बदल गया। गांधी ने सुधारों को जीवन में क्रियात्मक एवं व्यापकरूप से ढाल दिया और मार्क्स ने नवीन क्रांति का विगुल बना दिया। समाज-सुधारों पर अब अधिक जोर नहीं दिया जा सकता था, क्योंकि एक ओर तो वे कांग्रेस एवं गांधी के कार्यक्रमों में समाविष्ट हो गए थे और दूसरी ओर गांधी के सत्याग्रह आंदोलनों की आंधियों ने उन्हें बवंडर के पीछे छिपा भी दिया था। इस युग में समाजके मन पर जो नये प्रभाव पड़ने प्रारंभ हो गये थे विदेशीयुगीन भाषा-शैली उनकी अभिव्यक्ति करने में असम रही। एक एक व्यापक सामाजिक क्रांति का - सुधारों का नहीं - युग आ गया था।

सामान्य स्थिति, परिस्थिति और वातावरण के लो^ग भी सामाजिक क्रांति करने को साहस दिसाने बनते लगे। जो बातें पहले अकल्पित थीं तथा समाज में जमीन-आसमान एक कर देने वाली प्रतिक्रिया उत्पन्न करने की क्षमता रखती थीं। इस युग में उन्हें मामूलीआदमी भी बे-हिचक और बेडर के कर सकता था। और साहस आश्चर्यजनक रूप से आ^ग गई थी। ~~नये पुराने कालों के नाम~~ बचन कहते हैं, 'एक साधारण पर कट्टर सनातन धर्मी घर में पाकर यह बगावत मुझ में कहां से आई, यह आज भी मेरे रिश्तेदारों में अवरज की बात समझी जाती है। बुरा बचानी मैं आर्य समाजी बनकर मैंने कुरु में पूजे जाने वाले देवी-देवता, माता-पवानी से हट्टी ली। एक जाति से निकले हुए सज्जन के घर कच्चा खाना सा कर स्वयं पंगत में बैठकर खाने का अधिकार सोया और अंत में जात-पांत धर्म से बाहर विवाह करके चायद सदा के लिये मैंने अपने परम्परागत समाज से अपना संबंध तोड़ लिया।' मुझे इसमें कोई अवरज की बात नहीं दिखाई देती। मुझे तो ऐसा लगता है कि यही भगवान का आदेश है। स्वामी रामकृष्ण, विवेकानन्द, दयानन्द, गांधी, तिलक, नेहरु के रूप में जो सनातन उक्ति जो ऐश्वर्यवान (भगवान) भारत में अवतीर्ण हुए यह उसी का संकेत है। समस्त जाति की जाति ही इस युग में ऐसी रही। दयानन्द और आर्यसमाज ने पहले सुधारवादी मनोवृत्ति पैदा की और बौद्धिक चिन्तन ने लोगों के अन्दर क्रांति का मंत्र फूंक दिया। संस्कृति की भागीरथी के वेग को रोक ही कौन सकता बन्द है। क्रांति के इसी आन्दोलन ने जीवन के प्रत्येक पक्ष को, विषय को, एक नये रूप में उपस्थित किया। जो पहले सामान्य था वह अब साहित्य का विषय बन गया। और, क्या विचित्र साम्य है कि जैसा आश्चर्य पुराने लोगों को नये सामाजिक क्रांतिकारियों की प्रवृत्ति पर होता था उससे किसी भी मांति कम आश्चर्य पुराने कवियों को पंत-प्रसाद-निराला-महादेवी वर्मा-रामकुमारवर्मा जैसे कवियों पर नहीं होता था। दोनों को असाधारण विरोध-बहिष्कार का सामना करना

पडा और दोनों ही अंत में शीर्षस्थ हुए। एक को प्रेरणा पुनरुत्थान की भावना ने दी, दूसरी को अंतिम मय जीवन के स्वरूप ने और दोनों को प्रेरणा की ठ्यापक सांस्कृतिक पुनरुत्थान की प्रकृति ने। विवेकीयुगीन कविता दैनिक जीवन में ^{अने} आने वाले विषयों को लेकर लिखी गई थी जिनमें अतिपरिचय के कारण आकर्षण का अभाव होता है। अब कविता एक और तो अतिरस भावुकता, कल्पना की रंगी-निर्याँ आदि की और बढ़ गई, और दूसरी और भुंजीवादी समाज में गरीब और एकाकी के अंतर के हाहाकारों की और। हायावादी रचनाएँ हुईं। गरीब किसान और मजदूर की स्थितिकर्मी साहित्य के "कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उबल-पुबल मय जरूर", ^{तथा} पन्त को किल से पायक रण भरसाने की प्रार्थना करने लगा। निनवर्ग एवं औपिप्त वर्ग के व्यक्तियों के प्रति स्तहानुभूति पैदा हुई और निराला की "कुहुरमुत्ता" की रचना हुई जो प्रतीककाठय या और वचन के उद्घाटन में ".....प्रगतिवाद की सबसे बड़ी उपलब्धि और अतक हिंदी का सबसे प्रसर व्यंग्य काठय है" ^{१।}

माकर्स

विदेशी प्रभावों में सबसे बड़ा प्रभाव माकर्स की वर्ग-चेतना का पडा। मजदूर वर्ग सक्रिय हो उठा। उनके प्रति हम उसी प्रकार स्तहानुभूतिशील हो उठे जैसे कभी मगवान के प्रति निष्ठानवान थे। इस वर्ग ने मानव की कला-संवेधी पुरानी दृष्टि बदल दी। साहित्य में ठ्यापक मानव की प्रतिष्ठता हो गई। सूर्यता की प्रकृति पट गई। साहित्यकार विराट जन जीवन का आराधक हो गया। दृष्टि अधिक उदार एवं संवेदनशील हुई। काम-लगा पर मर मिटने का भुग गया। मजदूर के बहती हुए पसीने की धुंधों में भी सौंदर्य विसाह पडा। विरह के तापाधिक्य का विजय कम हुआ, भुव के लिये तरलने वाले व बच्चे और माँ-बहनों की उघरती हुई लज्जा आदि साहित्य का विषय बनी।

कवि यथार्थवादी भी हो गया। साहित्य में प्रेमबन्ध के आदर्शों^{द्वारा} यथार्थवाद का युग आया। कथा-साहित्य की प्रधानता हुई। मन के ^{दुखी} कोरोंमांस की जगह स्वस्थ प्रेम की कामना बढी। सीता भी धीरे-धीरे और गृहकार्यरत पितार्ह जे जाने लगीं। साहित्य से 'बडों' का ही एकाधिपत्य समाप्त हो गया। काठ्य को नये प्रतीक एवं नये उपमान मिले। साहित्य की पुरानी कसौटी सत्त्व हो गई। कविसम्मेलनों का भी कुछ साहित्यिक रूप समाप्त हो गया। प्रायः जनता ताली पीटकर अपना हर्ष प्रकट करती है। कवि सम्मेलनों में अब गंभीर साहित्यिक रचनाओं को सुनाने की कोई भी संभावनाएं नहीं रह गईं। हल्की-फुल्की और मनोरंजनकर करने वाली रचनाओं की प्रतीक्षा की जाती है, उन्हें बार-बार सुनाया जाता है, और हास्यरस के बिना तो कवि सम्मेलन की कल्पना की ही नहीं जा सकती। रामकुमार वर्मा ने लिखा है, "कविसम्मेलन आज मनोरंजन और विनोद के पीछे साधन हो गए हैं कि साधारण जनता के मनमें भी उनके लिये यक्षा का भाव नहीं रह गया है..... इन कवि सम्मेलनों में ऐसे ही व्यक्तियों का जमाव होता है जो कविता के नाम से परिहास, विनोद और अश्लीलता की सीमा तक पहुंची बातें कह सकते हैं।"¹

ग्रामीस्थान

वेद कुर्यातः दो बर्गों में बंटा है - देहाती और नगर-निवासी। नौकरशाही शिक्षा एवं पूंजीवादी अर्थव्यवस्था ने इन दोनों बर्गों में पर्याप्त भेद पैदा कर दिया है। दोनों की विचारधारा, इतन-सहन, वेद-पूजा, बोलचाल, रंग-रंग, रीति-रिवाज, ज्ञान-पान आदि में आश्चर्यजनक विभिन्नता है। एक पर विवेकी रंग जरा ज्यादा फहरा हो गया है और दूसरे पर स्ववेदी एवं सांस्कृतिक रंग कुछ अधिक फहरा। प्रेमबन्ध^{के} 'गोदान' में इन दोनों बर्गों के इस अंतर को बुर स्पष्ट कर दिया गया है - इतना कि यह विद्वान प्रतीक बन गया है। एक

और भौतिक सम्पन्नता है और नैतिक मूल्यों के प्रति अनास्था और दूसरी ओर आर्थिक विपन्नता है किन्तु मानव और नैतिकता के प्रति अधिकाधिक चिपके रहने की प्रवृत्ति। अपने सांस्कृतिक उत्थान के कार्यक्रमों में हमारा एक प्रमुख कार्य है। इन गाँवों का उत्थान और इस दृष्टि से किया गया इनका अध्ययन। साहित्य में भी यह प्रवृत्ति परिलक्षित है। अपनी प्राचीन संस्कृति के उत्थान एवं गाँवों के प्रति सहानुभूति की भावनाओं के कारण हमने लोकगीत और लोककथाओं का संग्रह और अध्ययन भी प्रारम्भ कर दिया है। प्रगतिशील आंदोलन ने भी इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया है। यह अध्ययन हमें अपने देश की व्यापक संस्कृति को समझने में सहायक होता है। इसने आधुनिक हिन्दी को कई विचार, कई लक्ष्य भाव और कई लय दिये हैं। इस क्षेत्र में बड़ा स्तुत्य है कार्य रामनरेश त्रिपाठी ने किया है। बाद में देवेन्द्र सत्याधी ने तो अपना सारा जीवन ही इसी कार्य में लगा दिया। अब तो इस पर लोब भी प्रारम्भ हो गई है। विभिन्न अवसरों पर, त्यौहारों, ऋतुओं तथा रीति-रिवाजों के संबंध में हजारों-लाखों पद एवं कहानियाँ हमारे देश के देहातों में बरी पड़ी हैं।

इस प्रकार हमारे समाज की सांस्कृतिक वृत्तियाँ ने साहित्य को असाधारणरूप से प्रभावित किया है। ओझ ऊँचा-ऊँचा मिटता जायगा, वृष्टिकोण ऊँचा-ऊँचा प्रशस्त होतजायगा, स्वरूप ऊँचा-ऊँचा मंगुलतर होता जायगा, साहित्य त्यों-त्यों महत्तर होता जायगा।

लौकिक दृष्टिकोण और भारतीय परंपरा

उपर्युक्त विवेचन पर यदि हम व्यापक रूप से विचार करें तो हमसे प्रतीत होगा कि इस युग में हमारे समाज का सागर-मंथन प्रारंभ हो गया था। हमारे समाज की कुछ अपनी वृत्तियाँ थीं जिनका सम्पर्क कुछ विदेशी-समाज की वृत्तियों से हुआ जिससे परिणामस्वरूप एक नवीन परिस्थिति पैदा हो गई, जिसके

दोनों का निराकरण हमारे लिये इस कारण अनिवार्य था कि हमारे अन्दर सांस्कृतिक पुनरुत्थान और उसके द्वारा अपने और अपने समाज की उन्नति की बलवती इच्छा हो गई थी।

स्वार्थपरक दृष्टिकोण से प्रेरित आर्थिक क्रान्ति एवं शिक्षा-व्यवस्था ने न केवल हमें इसी योग्य नहीं रखा कि हम अपने को ठीक से समझ सकें। ^{अतः} हमारी सांस्कृतिक प्रवृत्तियों को ^अ गलत ढंग से उपस्थित भी किया। पंडरी नाथ प्रभु ने लिखा है, 'सामान्यतः यह धारणा बना ली गयी है और प्रायः और देकर यह बात कही जाती है कि प्राचीन काल के हिंदुओं ने सांसारिक प्रवृत्तियों की आश्रित प्रकृति संबंधी अमूर्त आध्यात्मिक समस्याओं के चिन्तन-मनन में अपने को इतना ली दिया था कि सामाजिक संगठन जैसी अपेक्षाकृत अधिक व्यावहारिक और सामाजिक समस्याओं के संबंध में उन्होंने कोई भी गंभीर चिन्तन करने का कष्ट नहीं उठाया। फिर भी आधुनिक युगों में विगत युगों की हिन्दु विधवाओं के संबंध में होने वाली विद्वत्तापूर्ण योरोपीय, अफ्रीकी और भारतीय सौर्जों और अध्ययनों के प्रकाश में अब यह प्रायः स्वीकार किया जाने लगा है कि हिन्दुओं ने विद्वत् आध्यात्मिक -चिन्तन के साथ साथ गणित, ज्योतिष, लग्न, इंजीनियरिंग, रसायन, औषधि, व्याकरण, राजनीति, तर्क, काव्यशास्त्र और उच्च विज्ञान आदि के क्षेत्रों में भी पर्याप्त रूप से सुव्यवस्थित एवं वैज्ञानिक चिंतन किया है।' महर्षि वात्स्यायन ने कामशास्त्र संबंधी जो व्यापक एवं पूर्ण चिंतन विवेचन प्रस्तुत किया है वह प्रचारित धारणा की प्रामाण्यपूर्णतः स्पष्ट कर देती है। हमारे समाज का स्वरूप सामाजिकता प्रधान था। हमारा समाज रूप-भावना पर आधारित था। यहाँ व्यक्ति के कर्मा पर सामाजिक एवं सांस्कृतिक बन्धन था। इसकी स्वतंत्रता मर्यादित थी और उसकी स्वच्छन्दता बाधित। यहाँ सोचने की पूर्ण स्वतंत्रता थी किंतु करने पर ^{अच्छे} सामाजिक बन्धन क्योंकि

हमारे समाज के निर्माता यह जानते थे कि कर्मों के घौड़े को यदि उसकी मन-
मौजी स्वच्छन्दता दे दी जायगी तो वह जीवन और समाज के रथ को विघटन
के गर्त में जा पटकेंगे। फिर भी यहां के नियमों में लचीलापन था। हिंदुओं ने
वर्तमान जीवन को एक सुव्यवस्थित घुंखला की एक कडी, माला का एक मनका,
मानकर इसे एक उदात्त स्वरूप प्रदान किया है और एक उच्चतर उद्देश्य से अनु-
प्रापित करके अर्थगर्भित कर दिया है। इसीलिये सांस्कृतिक दृष्टि से हमारा
जीवन भौग मात्र नहीं रह गया। यह बात दूसरी संस्कृति वालों की समझ में
आसानी से नहीं आपाती और इसीलिये उनके जीवन की प्रकृति हमारे जीवन
की प्रकृति से भिन्न है। अमेरिका और भारत ही नहीं; हिन्दू और मुसलमान
के जीवन में भी यह अन्तर थोड़ा-बहुत घिसाई पड़ जाता है। जीवन को एक
अलौकिक महत्व देने के लिये ही हिन्दुओं ने आत्मा को अमरत्व का और शरीर
को परिवर्तनीय साधन का स्वरूप दे दिया है। इसीलिये यह अनंतकर्म चक्र नि-
रुद्देश्य मात्र नहीं रहने पाया। कर्मक्षेत्र के द्वारा पहने वाले स्थायी प्रमाचों और
संस्कारों का भी इसीलिये असाधारण महत्व हो गया है। कर्म को धर्मप्रेरित और
संस्कृति से मर्यादित करके उसकी उच्चुंसलता का डंक काट कर उसे शाश्वत मुक्ति
का साधन बना दिया गया है। हमारी सामाजिकता का कार्यक्रम इसी महदु-
द्देश्य से प्रेरित होता है। यह बात प्राचीन काल में थी और यही बात आज
भी भारत के व्यापक जनसमूह में अज्ञात भाव से विद्यमान है। आधुनिक युग की
क्रांतियों के मर्यादक उत्थान - पतन आज के पड़े-लिसे, बुझापी, चंकालु और
द्विध्वाग्रस्त वर्ग के भी सामाजिक जीवन से इसे पूर्णतः बहिष्कृत नहीं कर पाये।
ऐसा लगता है कि जैसे इसी का नाम भारतीयता है और वह इस देश की मिट्टी
और जल-वायु के अनु अनु में व्याप्त है। यही कारण है कि आधुनिक राजनीतिक
और आर्थिक क्रान्तियाँ ने भी भारत के समाज के ऊपरी धरातल को ही गौड़ा-
बीता है - मिट्टी की प्रकृति से पूर्णतः नहीं बदल सकीं। अधिकांशतः सांख्यी-
यिक धारणाएँ और उनका उद्देश्य वैसे का वैसे ही है। इस तत्त्व को ध्यान में
रखकर जब हम आधुनिक हिन्दी साहित्य पर दृष्टिपात करते हैं तब हमें यह

विस्तार पड़ता है कि नाटक, निम्न, कहानी, उपन्यास, कविता आदि सभी प्यालों के अन्दर जो घुस गया हुआ है उसके कण-कण में व्यापक रूप से इसी नव-नीति के कण निहित हैं। प्यालों की उकल-स्वरूप बकर जाने से कोई करक नहीं पड़ा है, रंग-विशेष मिला देने से तात्त्विक रूप से कोई अन्तर नहीं उपस्थित होने पाया है, दो चार कंकड़, सांस्कृतिक अमृत को विष में नहीं परिवर्तित कर सकते। इस दृष्टि को पूरी तरह समझ लेने पर ही हम समाज-सुधारकों की प्रकृति और उसके परिणाम का वास्तविक मूल्यांकन कर सकते हैं।

सांस्कृतिक विघटन

हुआ यह कि पाश्चात्य राजनीति, अर्थनीति और शिक्षा नीति ने हमारे सांस्कृतिक संतुलन को बिगाड़ दिया। विश्व की मानवीय प्रगति ने जीवन को मध्य युग से आधुनिक युग में ला दिया था। भारत में यह परिवर्तन यदि स्वाभाविक ढंग से होता तो अपनी सांस्कृतिक विशिष्टताओं को अक्षत एवं अक्षुण्ण रखते हुए भी हम मध्ययुगीन से नवीन हो जाते। हमारा विकास होता। अनुपयोगी एवं पिछड़ी प्रवृत्तियाँ वैसे ही स्वाभाविक ढंग से छूट जातीं जैसे वसन्त की मूमिका में शुष्क पत्तियाँ और हमारा कुछ बिगड़ता न। परन्तु ऐसा हुआ नहीं। आधुनिकता हम पर लायी गई, वह हमारा स्वाभाविक विकास नहीं बन सकी। आधुनिकता का वही स्वरूप हम तक आने दिया गया जो हमारे अंगरेज प्रभुओं की दृष्टि में उनके लिये लाभदायक था। हम आधे तीतर आधे बटेर हो गये। हमारे पंडित जी जब एक और अंगरेजी भाषा में साम्प्रदाय की बौद्धिक समर्थन करते हुए^{अपने} भारत का उद्धारक बताते हैं और दूसरी ओर प्राचार्यपद पाने के लिये अनुमान जी को बीस जाने का लखू पड़ाते हैं तब मुझे यही वाद हो जाता है। आधुनिक युग में हमारे समाज के दोषयुक्त होने का मुख्य कारण यह था। इसका परिणाम यह हुआ कि न हम अपने रह गये जो न बिराने ही पाये। कुछ लोगों ने अंगरेज बनने और हमें अंगरेज बनाने की बड़ी

कौ छिन्न की किन्तु यह संभव नहीं था। अब भी कुछ लोग ऐसा कर रहे हैं।
 संभवतः वे यह नहीं समझना चाहते कि पार्श्वान्त्य संस्कृति और विचारधारा के
 संबंध में उनकी जानकारी केवल बौद्धिक स्तर पर ही है। पार्श्वान्त्य समाज के
 जिन विशिष्ट वर्ग वालों की संस्कृति के सम्पर्क में वे आ सके हैं उन्हीं के आधार
 पर उनकी धारणा बनी है। उनकी धारणा न तो सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के सूक्ष्म
 और गहन अध्ययन से परिपुष्ट हो पाई है और न उसका कोई मंजीर मनोवैज्ञा-
 निक आधार है। उनकी धारणा हल्की, छिछली, और सतही दृष्टि का परि-
 णाम है। इस प्रयत्न का परिणाम यह हुआ कि हमारा सामाजिक जीवन कुछ
 अस्वस्थ हो गया। उसमें विषमताएं, अनियमितियाँ और उलझने पैदा हो गईं। इ
 हमारा स्नातनी समाज नये युग, उसके नये दृष्टिकोण, नई आवश्यकताओं, नई
 समस्याओं तथा कुछ प्राचीन बातों की असामयिकता के पक्ष को नहीं समझ पाया।
 ये लोग मानते कुछ हैं और करते कुछ हैं। डा. रमा वैकर झुल्ल रसाल और उनके
 जैसे लोक लोगों के जीवन की इस विषमता की यही व्याख्या हो सकती है। उसी
 विशेष सामयिक परिस्थिति के कारण एक वर्ग असमर्थताओं और बन्धनों में जकड़
 गया और दूसरी ओर भोग, विलास, अनाचार-अत्याचार और भ्रष्टाचार बढ़
 गया। रजनीपामवता ने लिखा है, "भारत में एक ओर खोफ है; दूसरी ओर
 खोपित। एक ओर संपन्नता है; दूसरी ओर मर्याद विपन्नता। इन्हीं के
 अस्तित्व से हमारी समस्या का स्वरूप बनता है। दोनों कार्य कारण की तरह
 एक दूसरे से संबद्ध हैं।" इस प्रकार हमारी (यह) मूल समस्या भी सामाजिक
 है। दिनकर ने अपनी एक कविता में लिखा है कि आज महल के लिये छौपड़ी
 का बलियान होता है तथा विद्युत्-प्रकाश दीपक की लौ को आठ-आठ आँसू
 रुला रहा है। राजेन्द्र प्रसाद ने लिखा है, "जो प्रतिदिन लाखों का कागजी
 नोट बनाता है वह आज एक खयाल रोजाना पाता होगा। कैसी विचित्र लीला
 है। कैसा बाण का संसार है।"

सुधार के प्रश्न

इन अज्ञेय मनीय परिस्थितियों के निराकरण के लिये भारत में सामाजिक सुधारों की आवश्यकता पड़ी जिसे व्यापक सांस्कृतिक पुनरुत्थान रुपी मागीरपी की एक सहायक नदी माना जा सकता है। समस्त सामाजिक सुधार आन्दोलनों की प्रकृति का गंभीरतापूर्वक अध्ययन करने के पश्चात् भी मैं यह बात नहीं समझ पाया कि अंगरेजों की दी हुई आधुनिक चेतना और बौद्धिक दृष्टिकोण ने हिंदी प्रदेश के अन्तर किस प्रकार हमारे सुधार की इच्छा जगा दी। हिंदी प्रदेश का सर्व प्रथम सुधार आंदोलन आर्य समाज ने चलाया और यह सभी जानते हैं कि उसका लक्ष्य था वैदिक जीवन की पुनरवतारणा। भारत वर्ष के प्राचीन ऋषियों के आदर्शों के अनुसार ही आर्यसमाज ने अपना सामाजिक आदर्श बनाया था जो हमारे आलोच्यकाल में व्यापकरूप से क्रियान्वित होने लगा। परमप्रतिता परमेश्वर के संबंध में नाते समस्त मानव - जगत को अपना भाई मानना, वसुधैव कुटुम्बकम्, समस्त मानव समाज से मैत्री, नारी और पुरुष के अधिकारों की समानता, न्यायोचित और ईमानदारी का व्यवहार, आगे बढ़ने के लिये सबको समान अवसर की प्राप्ति कराना, प्रेम, उदारता, जाति-पांति-हुआ-दूत-रुढि-अंधविश्वास-अनपेक्षित विवाह आदि आर्यसमाज के सामाजिक कार्यक्रम थे। रेवरेंड सी.एफ. ऐन्ड्रूज ने लिखा है, कि समस्त सुधारवादी स्वदेशी आंदोलनों में आज आर्यसमाज सर्वाधिक सक्रिय है।¹ उसका ही कार्यक्रम है और उसके ही प्रश्न हैं कि आज समस्त हिन्दी प्रदेश परिवर्तित सा हो गया है। द्वितीय युग के हिन्दी साहित्य पर आर्यसमाज की इस प्रवृत्ति का विशेष प्रभाव पड़ा है। नाथू राम धर्मा ठंकर आदि अनेक कवि तथा 'आर्यमित्र' आदि अनेक साप्ताहिकों आदि ने हिंदी का भंडार पर्याप्त रूप से मरा है। तिलक इन सामाजिक सुधारों के विरुद्ध थे। भारतीय संस्कृति और प्रत्येक भारतीय परम्पराओं में उनका विश्वास तर्क और युक्ति की सीमा को पारकर गया था। गांधी जी ने इन सुधारों

1. 'द्वि हिंदियन रीवेस', पृ. 122।

को राजनीति से जोड़ दिया। आचार्य चतुरसेन दास्त्री ने लिखा है, "गांधी जी ने इतने धर्म के माध्यम को ऐसे कौशल से संयुक्त किया कि धर्म, समाज और राजनीति का एकीकरण हो गया। ^{यह} विश्व के मानव जीवन के लिये इस युग में बड़ी ही नूतनतम वस्तु थी। उसका सबसे गहरी प्रभाव किसानों, श्रमिकों और स्त्रियों पर पड़ा। इन चारों ने ही भारतीय जीवन में समान अधिकार प्राप्त किया।" ^१ इन सामाजिक सुधारों के परिणामस्वरूप सामाजिक क्षेत्र से बड़ी और द्रिजों के विशेषाधिकार समाप्त हो गये, समाज में व्यक्तिगत स्वाधीनता की प्रवृत्ति बड़ी, और मानवीय समानता का सिद्धान्त पूर्णरूप से स्वीकृत हो गया। जी. एस. गुरिए का कथन है कि धीरे धीरे किन्तु निश्चित रूप से जीवन के अनेक पक्षों में एक के बाद एक करके मानवतावाद का महत्व स्वीकार किया गया है। ^२ इसके प्रभाव को चित्रित करते हुए नंद बुलारै वाजपेयी ने लिखा है, "साकेत में प्रथम बार मानव का हृत्कर्ष अपनी चरम सीमा पर ईश्वर के सम लाकर रक्ता गया है जो मध्ययुग में किसी प्रकार संभव न था। 'साकेत' इसी कारण हिन्दी की प्रथम मानवतावादवादी या आदर्श मानवतावादी रचना कही जा सकती है।..... राम और सीता के त्याग पर भरत और उर्मिला के जीवन-सूत्रों से क्या तन्तु का निर्माण साहित्यिक इतिहास में एक प्रवर्तन है और विचारों की बुनियाद में एक अभिन्न क्रान्ति।" ^३ कहना न होगा कि आधुनिक हिन्दी साहित्य की इस 'क्रान्ति' और इस 'प्रवर्तन' का एक प्रधान कारण आ कि भारतीय समाज की सांस्कृतिकता प्रधान सुधारोन्मुखी प्रवृत्तियाँ हैं।

१. 'हिन्दी साहित्य का परिचय', पृ. १३५-१३६।

२. 'कत्तर पैँड सौसावटी', पृ. ४६।

३. 'आधुनिक साहित्य', पृ. ४३, ४४।

(पृष्ठ १४६ से २३२ तक)

अभिव्यक्ति की इच्छा -- वस्तु:प्रकृति और वाङ्मय जगत में मौलिक साम्य -- लौकिक --
 कला और साहित्य -- काव्य कला:-भाषा, रस, गुण, रीति, प्रीति, अलंकार,
 छन्द -- साहित्य पर प्रभाव -- संगीत कला:-संज्ञाप्ता इतिहास -- भारतीय संगीत
 की विशेषताएं और विभिन्न तत्व, साहित्य और संगीत -- नाट्य गीत तथा संगीत,
 छन्द ब्यन और संगीत, संगीत की वात्मा या आन्तरिक संगीत -- साहित्य पर
 प्रभाव -- चित्रकला:-संज्ञाप्ता इतिहास:वादि युग, बौद्ध युग, मध्य युग (मुगल कला
 और राजपूत कला) -- आधुनिक युग, आधुनिक चित्रकला -- साहित्य और चित्र
 चित्रकला -- आधुनिक साहित्य और चित्र -- साहित्य में चित्रात्मकता (प्रकृति चित्रण,
 रूप चित्रण, भाव चित्रण, दृश्य चित्रण, क्रिया-कलाप चित्रण) -- भवन-निर्माण
 और मूर्तिकला : संज्ञाप्ता इतिहास -- आधुनिक साहित्य पर इनका प्रभाव --
 निष्कर्ष ।

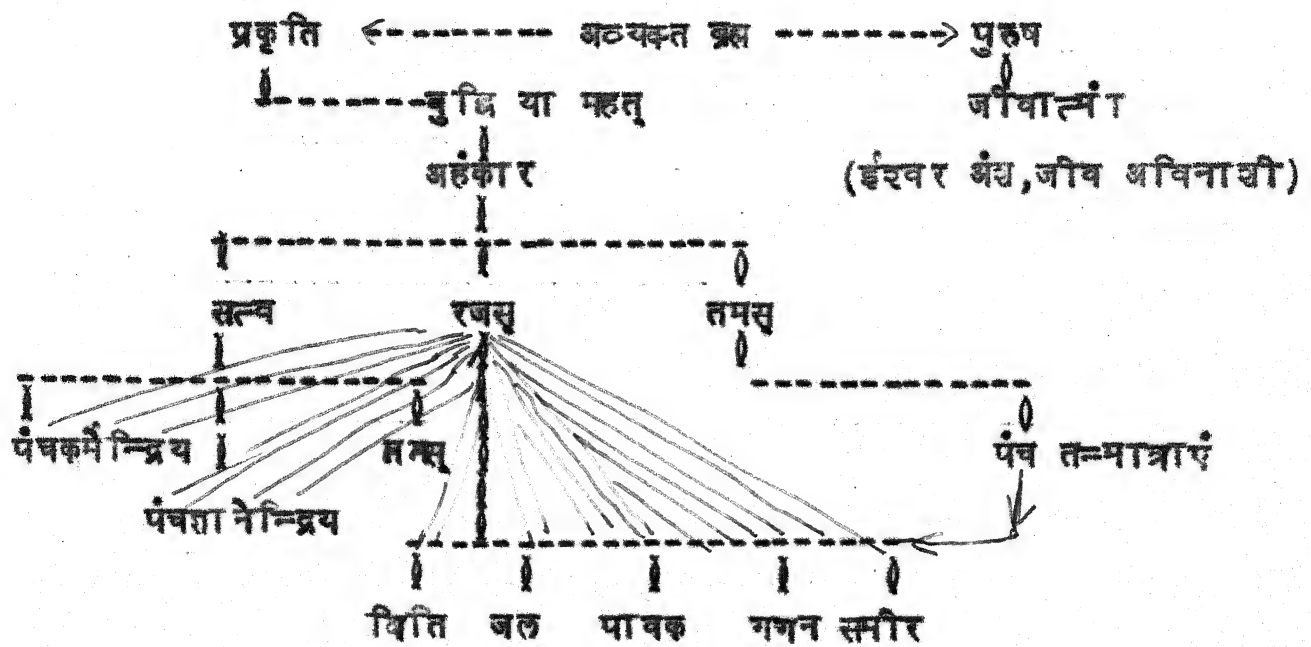
अभिव्यक्ति की इच्छा

साहित्यकार की प्रबलतम इच्छा यह होती है कि किसी व्यक्ति, वस्तु, दुरय या भाव^{के} परिप्रेक्ष्य में उसके अन्तर में जो अनुभूति हुई या उसके अन्तर की जो असाधारण अवस्था हुई वह उसे दूसरों को बताकर एक और तो अपनी अनुभूति या अवस्था को व्यक्त भी कर दे और दूसरी ओर वह अपनी अभिव्यक्ति को अपने अन्तर की अनुभूति के अधिकाधिक अनुरूप भी कर ले। अभिव्यक्ति की अनुभूति - तादात्म्य इतनी सफल और इसलिये इतनी मुसर होनी चाहिये कि जो भी ~~सम्पर्क~~ उसके सम्पर्क में आये उसी के अन्तर में कलाकार जैसी ही अनुभूति उत्पन्न हो जाय। अनुभूति की तीव्रता के क्षणों में कलाकार का जो व्यक्तित्व रहता है वह उस तीव्रता के निकल जाने के उपरान्त छाया मात्र रह जाता है। ये एक ही व्यक्ति के ^{दो} रूप हैं। दूसरा रूप पहले वाले रूप की अनुभूति की अभिव्यक्ति का स्वरूप देसता है तो उसे कभी कभी आश्चर्य होने लगता है - "अरे वाह! क्या सम्भव इसे मैंने ही बनाया है।" कारण यह है कि दोनों ^{का दो} स्वतंत्र अस्तित्व होता है। इसलिये कोई आश्चर्य नहीं यदि शेक्सपियर "मर्क्जेट आफ वेनिस" वाली पोर्शिया पर आसक्त हो जाय; कालिदास "शकुन्तला" पर न्यो-हावर हो जाय, यदि "प्रसाद" देवसेना के प्रेमी बन जायें; यदि ब्रह्मा की अपनी ही पुत्री सरस्वती उनकी पत्नी के रूप में प्रतिष्ठित हों। तात्पर्य यह है कि कलाकार भी अपनी कृति के सम्पर्क में आता है और उसकी संप्रेषणीयता से अभिभूत होता है। एक प्रश्न यह उठता है कि कलाकार अभिव्यक्ति क्यों करना चाहता है और उसे दूसरों तक क्यों पहुंचाना चाहता है। बात यह है कि अभिव्यक्ति की इच्छा आत्मा की ही नहीं, परमात्मा की भी प्रकृति है, स्वभाव है। यदि ऐसी बात न होती तो परम ब्रह्म या केवल ब्रह्म में सारी सृष्टि उसी प्रकार बीज रूप में पड़ी रहती जैसी सृष्टि के पूर्व पड़ी रहती है। यह समस्त बाह्य दुरय जगत उसी अव्यक्त की अभिव्यक्ति ही तो है। जो प्रकृति है, जो स्वभाव है, उसका

कोई कारण नहीं दिया जा सकता। यही कारण है कि इस अभिव्यक्ति को उस पुरुष की प्रकृति मात्र कह कर, मायामय की लीला मात्र कह कर, यह बता दिया गया कि लीला का प्रयोजन केवल लीला ही है; इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं उस अनुभूत कलाकार के अन्दर की अभिव्यक्ति की इच्छा के संबंध में जो कुछ सही है वही मानव-कलाकारों की भी अभिव्यक्ति की इच्छा के विषय में सही है। अभिव्यक्ति के लिये ये भी विकल हो उठते हैं। इसके बिना ये भी ^{नहीं} रह पाते। उनकी प्रकृति है। अब प्रश्न यह उठता है संप्रेषणीयता का। कलाकार अपनी अनुभूति दूसरों तक इसलिये नहीं पहुंचाना चाहता कि लोग उसको महान् समझे, बड़ा समझे या असाधारण समझे। इसका वास्तविक कारण यह प्रतीत होता है कि अपनी अनुभूति को दूसरों तक पहुंचाने के रूप में वह स्वयं दूसरों तक पहुंच जाता है। भौतिकता से ऊपर उठकर चेतना के रूप में, आत्मा के रूप में, अनुभूतियों की समष्टि के रूप में, भावों के अनन्त कोष के रूप में उसका जो अस्तित्व है (और जो वास्तविक दृष्टि से देखने पर एकमात्र सही रूप है) उसका विस्तार हो जाता है। सीमित को असीम, लघु को विशाल, एवं सान्त को अनन्त रूप प्राप्त होने पर जैसी कुछ अनुभूति, जैसी कुछ तृप्ति प्राप्त हो सकती है संप्रेषणीयता से कलाकार को वही मिल जाती है। व्यापक हो जाने का संतोष मिलता है। यह आत्मस्वरूप की प्राप्ति का भी एक रूप है।

बाह्यजन्त और अंतःप्रकृति

बाह्य का वर्तन अन्तर को अभिभूत करता है और तब प्रश्न उठता है कि क्या अभिभूत करता है। वास्तविकता यह है कि अन्तर्जन्त और बाह्य-जन्त भूतः भिन्न नहीं हैं। दोनों एक ही मूल श्रोत से निकले हैं; एक ही उद्गम से निःसृत दो प्रवाह हैं, दो धाराएं हैं। मौलिक दृष्टि — कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है।



इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रकृति से निर्मित शरीर में न केवल जीवात्मा ही रहती है बल्कि हमारी बुद्धि, हमारा अहं, हमारी शक्तों-न्द्रियां, हमारी कर्मेन्द्रियां और हमारा मनस् - ये सब प्रकृति के विषय हैं। इन्हीं से जगत बनता है जिसके एक अंश के रूप में हमारी अपनी अंतर की सृष्टि भी है। तात्पर्य यह है कि हमारी अनुभूति के माध्यम-उपकरणों का सम्बन्ध भी उसी से है जिससे बाह्य प्रकृति का संबंध है। साथ ही, हमारी आत्मा उसी का एक अंश है जिसका व्यक्त रूप बाह्य जगत है। बाह्य प्रकृति के विभिन्न रूप, उसकी विभिन्न छवियां, उसी एक परम ब्रह्म या परम सत्य की विभिन्न अभिव्यक्तियां हैं। सब कुछ परम कृष्ण का रास है, परम ब्रह्म की लीला है, उसकी चक्षुष्यरूपा महामाया का नर्तन है। एक पूर्ण ही के दो अंश एक दूसरे के प्रति अपनेपन का अनुभव कर सकते हैं। अस्तु, इस लीला, इस नर्तन में मनको मोहने वाली अनेक भंगिमाएं हैं। आनंद रूप परम सत्य की कोई भी कला, कोई भी छवि, आकर्षण से रहित नहीं है और इसीलिये अद्वितीय सौंदर्य से युक्त है। यही सौंदर्य का रहस्य है। इसलिये सौंदर्य के अंशरूप में जो तत्त्व कलाकार के अन्दर है वह सौंदर्य के पूर्णरूप ब्रह्म के अंश रूप प्रकृति - सौंदर्य से अभिभूत होकर तादात्म्य अनुभव कर सकता है। बाह्य का वर्तन अन्तर

को इसी कारण अभिभूत करता है।

सौंदर्य

यहाँ संक्षेप में सौंदर्य पर भी विचार कर लेना चाहिये। यद्यपि सुन्दर और असुन्दर की अनुभूति सबको होती है किन्तु सौंदर्य की सर्वमान्य परिभाषा अभी तक कोई न दे सका। जेफ़े, एलीसन और बेन आदि साहचर्यवाद पर विश्वास करते हैं। उनका विचार है कि प्रथा, उपयोगिता, हानि की संभावना का अभाव तथा मनुष्य के अपने स्वभाव और संस्कार आदि की कसौटियों पर जो निर्दोष प्रमाणित होकर सरा उतरे वही सौंदर्य है। लेटो, प्लाटिनस, टाल-स्टाय, रस्किन, बर्क, कांट, श्लैगेल आदि सौंदर्य का संबंध इंद्रिय से मानते हैं। जो मंगलमय है, जो नैतिक है, वही सुन्दर है। बोसां के आदि अन्तः और बाह्य के सामंजस्य में सौन्दर्य की संभावना स्वीकार करते हैं। ब्रोवे सौंदर्य को मानस तत्त्व मानता है। उसका विचार है कि हमारी कल्पना से निर्मित, हमारी आवश्यकतानुसार परिवर्तित, संशोधित एवं परिवर्द्ध होने पर हमारे मन में जो रूप अंकित होता है वही सौन्दर्य का आलम्बन है। मार्क्स के अनुयायी जन सौंदर्य को व्यक्ति के मन में मानते हुए उसे सामाजिक तत्त्वों के परिणामस्वरूप उद्भूत मानते हैं। इनके अनुसार सौंदर्य हमारे आर्थिक जीवन का ही प्रतिबिम्ब है। फ्रायड के अनुसार सौंदर्य की उत्पत्ति का आधार यौन-भावना है। इस प्रकार अनेक विचारकों और चिन्तकों ने सौन्दर्य की परिभाषा में बाँधने का प्रयत्न किया है किन्तु गेटे ने ठीक कहा है कि सौंदर्य व्याख्या का विषय नहीं, यह एक ऐसी छाया है जो व्यक्ति की चेतना के ऊपर उमड़ती, घुमड़ती, मँडराती और तिरती रहती तथा जगमग करती रहती है। छाया को कोई पकड़ नहीं पाया है, ज्योति या सुन्दर आभा बँध कर नहीं रह सकती; सौन्दर्य की रूप-रेखा परिभाषा की पकड़ के बाहर है। भारतवर्ष में सौन्दर्य सम्बन्धी विचार वैदिक काल से प्रारम्भ होता है। वे सौंदर्य को विभिन्न संज्ञाओं से अभिहित

करते थे। उपनिषद् रूप, रस, प्रकाश और आनन्द के मिलकर एकाकार होने पर सौन्दर्य देखते हैं। मधुसूदन सरस्वती के अनुसार परमात्मा ही सौन्दर्य का सार सर्वस्व है। मारपि रम्यता को निरपेक्ष मानते हैं। माघ सौन्दर्य को नित्य-नवीन मानते हैं। रूप गोस्वामी औचित्य, सुश्लिष्टता आदि को सौंदर्य मानते हैं। वैभेन्द्र चम्तककर-का के अनुसार चम्तकार का संबंध लावण्य से और लावण्य का संबंध सुन्दर से है। पंडितराज जगन्नाथ सौन्दर्य का संबंध भावों से मानते हैं। आलंकारिक लोग "चारुता" में सौन्दर्य देखते हैं। "वैचित्र्य" भी सौन्दर्य के क्षेत्र में स्वीकार किया गया है। कुन्तक सौंदर्य को विषयीगत मानते हैं। "कमनीयता" "लालित्य", और "अलंकार" भी सौन्दर्य का वाचक है। कालिदास नित्य उप-करणों से निर्मित सौन्दर्य को पवित्र, नित्य और अपरिवर्तनीय मानते हैं। वे सौन्दर्य की सिद्धि के लिये वस्तु तथा व्यक्ति के सामंजस्य को आवश्यक मानते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जन्तु-स्तुति की तदाकार परिणति को ही सौन्दर्य की अनु-भूति मानते हैं। तुलसीदास जी सौन्दर्य के संबंध में कहते हैं :-

जनु विरंचि सत्त निज निपुनाई। विरंचि विस्व कहं प्रकट देसाई
अर्थात् सौन्दर्य "निपुणता" में है। सुंदरता की उत्पत्ति वे इस प्रकार मानते हैं :-

जौ ठचि सुधा पयोनिधि होई। परम रूप मय कछुपु सोई ॥

सौभा रजु मंदरु सिंगार । मधे पानि पंकज निज मारु

यह विधि उपजे लच्छि जब सुंदरता सुख मूल
बिहारी नित नवीनता में सौन्दर्य मानते हैं और मतिराम कहते हैं :-

ज्याँ-ज्याँ निहारिए नेरे हवे नैननि त्यों-त्यों सरी नितै-सी निकाई
रीतिकाल की सौन्दर्य संबंधी धारणा निम्नलिखित पंक्तियों से पूर्णरूपेण स्पष्ट है :-

हमे हमे सुंदर सौ, रूप - कुरूप न कोय

मन की ठचि जेती जिते तिततेती ठचि होय

“प्रसाव” “सपरसता” में सौन्दर्य देखते हैं और पन्त ने उसी “सत्य” एवं “शिव” को ही लोचनों के अनुपम लाक्षण के रूप में स्वीकार किया है। जो लोग वस्तु में सौन्दर्य मानते हैं वे “सन्मात्रा (सिमेट्री), मुख्यवस्था (आर्डर), विविधता (वेराइटी), एकरूपता (यूनिकार्मिटी), औचित्य (प्रोप्राइटी), जटिलता (इंट्रीकेसी), संगति (हारमनी), प्रमाण्यता या आनुगुण्य (प्रोपोरशन), संयम (माडरेशन), व्यंजना (सैजेशन), स्पष्टता (सिम्प्लिसिटी), मत्तता (स्मूथनेस) तथा वर्णप्रदीप्ति (कलरिंग) आदि को प्रमुख स्थात देते हैं।^१ सौन्दर्य का संबंध रमणीयता से भी माना गया है और इस दृष्टि से देखने पर “वगे वगे यन्नवतामुपैति” वही सुंदर है।

वास्तविकता तो यह है कि सौन्दर्य न केवल द्रष्टा में है और न केवल दुर्य में। वह वस्तु में भी है और वस्तु को देखने वाले व्यक्ति में भी। व्यक्ति के मन में सौन्दर्य भाव या संस्कार के रूप में है और वस्तु के अन्दर उसकी निर्मित-कुशलता या प्रत्यक्ष निर्माण किये गये स्वरूप के रूप में है। सौन्दर्य संबंधी संस्कारों का उदय किसी भी व्यक्ति के अन्दर धीरे-धीरे होता है। अपने समाज विशेष की धारणाओं और परम्पराओं से परिचित होने पर और चेतन के प्रसर एवं प्रबुद्ध होने के साथ-साथ अनुभवा के प्राप्त होने पर सौन्दर्य संबंधी एक धारा बनती है। ऐसी प्रबुद्ध चेतना और संस्कारी वाले हम जब “सौन्दर्य के विभिन्न-विभिन्न उपादान रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि का प्रत्यक्ष करते हैं तो हमारा हृदय चंचल हो उठता है और रचनाशील चित्त भी क्रियाशील हो जाता है। यह उपचेतन के विभिन्न सक्रिय अनुभवों को एकत्र करता है। इन विभिन्न रूपात्मक अनुभवों को जब उद्दीपन हमारे उपचेतन से व्यक्त करने लगते हैं तो यह धनःधनः और अधिक तीव्र होकर हममें एक प्रकार की पीडा या अनुभूति जगाते हैं।^२ यह अनुभव प्रत्येक

१. “सौन्दर्य तत्त्व”, पृ. ६, मूल लेखक - सुरेन्द्रनाथ वासुदेव, अनुवादक - धर्मदत्तप्रकाश दीक्षित।

२. वही, पृ. ७९

की होता है क्योंकि प्रत्येक के उपचेतन में सौन्दर्य की यह अस्फुट मूर्ति अन्तर्दृश्य रहती है। यही उसका सौन्दर्य संबंधी आदर्श है।

यह अचेतन सौन्दर्य धारणा बड़ी ही महत्वपूर्ण होती है। क्योंकि जब किसी कलाकृति को देखता है तब यही धारणा काम करती है। जब सामने की कलाकृति के/ उसके अन्तर की उपर्युक्त धारणा के अनुरूप होती है तब वह कहता है कि यह सुन्दर है। कलाकार जब किसी कृतिका निर्माण करता है तब भी यही धारणा या उसके अन्तर का यही चित्र महत्वपूर्ण कार्य करता है। कलाकार के/ अन्तर के चित्र से उसकी निर्मित होने वाली कृति की अनुरूपता ज्यों-ज्यों मुखरित होती है, उभरती है, त्यों-त्यों वह उसे सुन्दर समझता चलता है। एक ही सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में - एक ही समाज में - रहने वाले कलाकार और व्यक्ति - दोनों के अन्तर्चित्रों में समानता का पाया जाना आश्चर्यजनक नहीं और इसी-लिये कलाकार द्वारा निर्मित सुन्दर कृति व्यक्तियों को भी सुन्दर लगती है। मनुष्य मात्र की चेतना में मौलिक दृष्टि से एकता पाई जाती है और इसलिये उनकी रुचियाँ एवं सौन्दर्य सम्बन्धी धारणाओं में कुछन कुछ साम्य पाया जा सकता है। यही कारण है कि अमेरिका, रूस, और इंग्लैंड की कलाकृतियाँ भारत में और भारत की उन देखाई में पसंद की जाती हैं - सुन्दर मानी जाती हैं। अस्तु, अन्तर के चित्र से बाह्य की पूर्ण अनुरूपता ही सौंदर्य है। यही आत्मरूप की प्राप्ति है। निष्कर्ष निकला कि कलाकार अभिव्यक्ति चाहता है। किसकी ? अपने अन्तर में स्थित सौन्दर्यानुभूति या अस्फुट सौन्दर्य-मूर्ति की।

कला

उपर्युक्त कलाकार अभिव्यक्ति का कार्य कला के माध्यम से करता है। सुरेन्द्र चारलिंग्स का यह कथन, "कला सौन्दर्य की भाषा है," पूर्णतः सत्य है। वासुदेव शरण अग्रवाल ने भी कला को साधन मानते हुए कहा है, "कला भी

वा सौन्दर्य को प्रत्यक्ष करने का साधन है।^१ अवनीन्द्र नाथ ठाकुर तो और किसी रूप में कला का अस्तित्व ही स्वीकार करने को तैयार नहीं क्योंकि उनके विचार में 'शिवत्व की उपलब्धि के लिये सत्य की सौन्दर्यमयी अभिव्यक्ति परंपरा के बिना कला असंभव है। अस्तु कला के दो कार्य हुए। पहला और स्वयंसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य है निर्माण। इस दृष्टि से हम कला को वह रचना-प्रक्रिया कह सकते हैं जिसका समापन एक ऐसी अद्भुत कृति के रूप में होता है जो कलाकार के अन्तर में स्थित सौन्दर्यमूर्ति के अरूप होती है और पूर्णता की सभी कसौटियों पर कसी जाने से निर्दोष ठहरती है।

यह कलाकृति अपनी पूर्णता एवं निर्दोषिता से रूढ़ि के मनोभावों को छूकर सौन्दर्य - संबंधी उसके सोये हुए संस्कारों को जगाकर उसकी सूक्ष्म-सौंदर्य पिपासा को शान्त एवं तृप्त करती है। उसकी चेतना की जड़ता को हटाती है। उसकी चेतना की जड़ता या मूर्च्छा को हटाती है। यह कला का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य है। इस रूप में कलाकृतियाँ या कलाकार समाज की रुचि को परिष्कृत करते हैं। कला सामाजिक के लिये सौंदर्य-बोध का साधन या माध्यम है। सभी कलाओं की दृष्टि सौंदर्य-बोध में ही होती है। सौंदर्य बोध क्या है ? सुंदर और असुंदर की पहचान ही सौंदर्य बोध है। विवेक के क्षेत्र में यह सौंदर्य-बोध उपलब्ध सामग्री से सौंदर्य का संकलन करता है और भावक्षेत्र में, अनिर्वचनीय आनंद की अनुभूति कराता है। सौंदर्य - बोध होता है तब मानो सुसमय आलोक की एक झलक मिल जाती है और रस की बूँदें बरसने लगती हैं। तात्पर्य यह हुआ कि 'कं + लाति' के अनुसार कला 'कं' अर्थात् आनंद, सुख एवं सौन्दर्य को लाने वाली है, और 'कच् + लाति' के अनुसार वह 'कच्' अर्थात् प्रसन्न करने वाली है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कला का एकमात्र लक्ष्य, उसकी एकमात्र उपयोगिता सौन्दर्य-बोध है।

कला और साहित्य

साहित्य में जो शैलियाँ अपनाई जाती हैं वे कला-विशिष्ट

दृष्टि से तथ्य निरूपण करती है। तात्पर्य यह है कि तथ्य को और भी अधिक हवयग्राही, सुन्दर एवं प्रभावपूर्ण बनाने के लिये कथन की एक विशेष दृष्टि अपनाई जाती है। प्रसंग, घटना या तथ्य तो वही होता है जो सबके लिये है। कलाकार जब उसे देखता और उसका निरूपण करता है तब उस पर कलाकार की अपनी विशिष्ट सौन्दर्य-दृष्टि का रंग भी चढ़ जाता है। ताजमहल, आगरे का किला, पतमादुबदौला का मकबरा, सीकरी के सेंडहर या लालकिले के उजड़े हुए भवनों को लाखों और करोड़ों व्यक्तियों ने देखा है किन्तु महाराज कुमार रघुवीर सिंह के अन्दर का समर्थ कलाकार जब इनको देखता है तब निरूपण की ऐसी कला की अभिरामता से अलंकृत हो उठती है।

कलाकार के लिये प्रत्येक वस्तु में सौन्दर्य निहित रहता है। उसके लिये शरन में संगीत है, धूम्र में चित्र हैं, पत्थरों में वाणी है एवं सेंडहरों में कथाएं बोलती रहती हैं। यह ठीक है कि सीकरी के उन पत्थरों में प्राणों का स्पन्दन नहीं है, लाल किले के भवन चेतना-विहीन इमारतें हैं, और आगरे के किले के फूलों में अब न नूरजहाँ की गति और वाणी है और न मुमताज की प्रेम-उपवीप्त किलकारियाँ तथा काम-कलित, उज्ज्वल एवं रंगीन साँसें। इन स्थानों पर अब न वह वैभव है और न वह विलास-लीला। विज्ञान कहता है और यही तथ्य है कि पत्थरों के न तो वाणी होती है और न स्मरणशक्ति; न उनके अंदर वेदना है, न संवेदना। काल का यह कठोर सत्य है कि वही घटना फिर नहीं घटित हो सकती। फिर भी, कलाकार के अन्तर का राग जब इनसे मिल जाता है तो विधिना का विधान पलट जाता है। अनहोनी होने लगती है। कलाकार राग-धूम्र दृष्टि से देख ही नहीं सकता। राग के स्पन्दन से ही कला सक्रिय होती है। अस्तु, इन सबमें अन्तर्निहित सौन्दर्य कलाकार के रागात्मक दृष्टिकोण को पाकर ही अभिव्यक्त होता है। यहाँ कलाकार अपने को उनसे अभिन्न कर लेता है। तादात्म्य स्थापित हो जाता है। जब ऐसा हो जाता है तब पत्थर

कहानियाँ सुनाने लगते हैं, सुने म्हलों के अन्दर बीती हुई घटनाओं से प्रभावित हृदय का स्तब्धन जागरूक एवं सक्रिय हो उठता है, निर्जन कोठरियाँ में हास-स्वन, मानसमनौती, नृत्य-गान की ध्वनि सुनाई पडने लगती है, मयावनी-अंधेरी कोठरियाँ रत्नजटित कला-कलित, स्वप्नित-ध्वनित, सुरभित-मुखरित क्रीडाकक्षों में परिवर्तित होकर नूर और ताज की शैल्या का सलोनापन अद्भुतमासित कराने लगती हैं, दृश्यावलियाँ काल की सीमाओं एवं बन्धनों का अतिक्रमण करके पुनः दृष्टिगत होने लगती हैं। कलाकार तो उनके सौंदर्य बोध से स्तब्ध हो ही उठता है, पाठक भी उस सौंदर्य बोध का भागी हो उठता है। पाठक का भी राग ध्वनित हो उठता है। कलाकार के अमृत राग से बिहुडकर सब फिर के फिर पत्थर हो जाते हैं।

इस प्रकार समस्त कलाएँ सौंदर्य बोध की दृष्टि से उत्पन्न होती हैं। नादात्मक सौंदर्य^{बोध} के लिये संगीत, रसात्मक सौंदर्य बोध के लिये चित्र, आकाशात्मक सौंदर्य-बोध के लिये स्थापत्य, गत्यात्मक सौंदर्यबोध के लिये नृत्य, रूपात्मक सौंदर्य-बोध के लिये मूर्ति और वाणी के सौंदर्य बोध के लिये काव्य कलाका आविर्भाव हुआ है। इन सब कलाओं का लक्ष्य एक है, सौंदर्य-बोध; उद्देश्य एक है, रसानुभूति या ज्ञानानुभूति। लक्ष्य एवं उद्देश्य की इसी एकता के परिणाम-स्वरूप ये सभी कलकलाएँ परस्पर एक दूसरे से घनिष्ट रूप से संबंधित हैं और एक दूसरे पर प्रभाव डालती हैं। यद्यपि कोई भी कला साहित्य का विषय बन सकती है किन्तु साहित्य का संबंध विशेषरूप से केवल तीन कलाओं से है :- काव्य-कला, संगीत कला और चित्रकला।

काव्य-कला

बीस्वीं शताब्दी के आते-आते भारतीय मानस में नई कल्पना 'ए नई उषियाँ, नई आशाएँ, नई मरुत्वाकांक्षाएँ एवं नई उमंगे उद्दाम रूप से तरंगित

हान लगी थी। जीवन आमुलतः परिवर्तित हो गया था और इस परिवर्तन से उत्पन्न नवीनतम परिस्थितियों की जो आवश्यकताएं थीं, मांगें थीं, एवं उनके जो स्वाभाविक परिणाम थे उन्होंने काव्यकला के रूप में भी असाधारण परिवर्तन कर दिये। स्वरूप निर्माण लक्ष्य का मुसापेक्षी होता ही है।

भारतेन्दु से पूर्व की परंपराओं का अर्थात् रीतिकालीन परम्पराओं का कवि इसलिये कविता लिखता था कि उसका आश्रयदाता प्रसन्न रहे जिससे कवि को प्राप्त सुविधा, सुख और सम्मान पर कभी भी आंच न आने पाये। वह भक्ति और नीति को भी विस्मृत नहीं करता था क्योंकि भक्तिपरक कविता के अभाव में भगवान की कृपा की प्राप्ति पर प्रश्नवाचक चिह्न लग सकता था और नीतिपरक कविता के अभाव में 'सामान्य' जन उससे विमुख हो सकता था। इन दोनों प्रकार की कविताओं से कवि को लोकप्रियता मिलती थी। काव्य की शिक्षा देने के लिये और प्रायः पांडित्य-प्रदर्शन के लिये (दंगल में अन्य कवियों को पछाड़ने के लिये) ये आचार्य कवि प्रायः काव्य-शास्त्र का ग्रंथ लिखते थे जिसके भीतर के उदाहरण प्रायः इनके अपने होते थे। घरबार का वातावरण और रीतिशास्त्र का अनुकरण - इन दो प्रमुख तत्वों से उक्त परम्परा की कविताएं लिखी जाती थीं। जमींदारों, तालुकदारों एवं रियासतों वाले 'महाराजाओं' के यहाँ इस तरह की काव्य-रचना करने वाले कवि १९५० ई. तक तथा उसके बाद भी बराबर बने रहे। इसके सर्वश्रेष्ठ उदाहरण 'रत्नाकर' हैं।

बीसवीं शताब्दी में कवियों का लक्ष्य दूसरा हो गया था। राज्य बदला। राजाओं, महाराजाओं, और सम्राटों की महानता भिड़ गई। सभी लोग जान गये कि उनकी शक्ति और शक्ति की सीमाएं कहाँ हैं और वस्तुतः इस समय उनकी वास्तविक स्थिति क्या है। तात्पर्य यह है कि वे हजार-पाँच सौ ठकुर-शक्तिशाली नौकरों से निकाल सकते हैं अथवा हजार

पाँचसौ या दस बीस हजार रुपये या सौ-दो सौ बीघा जमीन दे सकते हैं या चाहें तो न दें। यह सब कुछ वैसे ही है जैसे हम घर की महरी, दुकान के नौकर, या विभाग के चपरासी रख सकते हैं या निकाल सकते हैं, कुछ दे सकते हैं या वंचित रख सकते हैं। अन्तर केवल संख्या का है, बस, बाकी उनका 'तेज' मिट गया। अंगरेजों के द्वारा उनका "साधारणीकरण" हो गया। अब राजाओं के अति-शयोक्ति पूर्ण स्तुतिगान, भगवान के रीतिकालीन लीलावर्णन अथवा नायक-नायिकाभेद वर्णन को जगह राजनीतिक पराधीनता से मुक्ति, धर्म का नवीन एवं समाजोपयोगी रूप, समाज के दोषों का निष्करण, राष्ट्रीयता, सर्वतोमुखी क्रांति और सुधार, तथा उन्नति आदि कवियों की कामना हो गई। इनमें से अधिकांश बातें तो विचार-क्षेत्र से ऊपर उठकर भाव-क्षेत्र से संबंधित हो गई थीं। कवियों का इनसे तादात्म्य हो गया था। इनकी प्राप्ति की कामना ने दीवानगी का रूप धारण कर लिया था। वरबारी संस्कृति और कला तथा पूंजीवादी एवं जनवादी संस्कृति और कला में बहुत अन्तर होता है। जागरण की ही बात है लीजिए। वरबारी कवि बिहारी जब मिर्जा राजा जयसिंह को जगाना चाहेगा तो उसकी कला का रूप इस प्रकार होगा :-

“नहिं पराग नहिं मधुररस नहिं विकास यहि काल,
अली कली ही तैं बंध्यो जाने कौन हवाल ।”

इसका कारण यह है कि :- (१) राजा साहब काठयवास्त्र की परम्पराओं और काठयकला की मलीभांति जानते थे, (२) वे काठय के रस एवं उसके ठयंग्वार्थ से मलीभांति परिचित थे, (३) वे मोग-विलास में मग्न थे, (४) उनकी समस्या व्यक्तिगत थी, (उन्हें अपनी ही निद्रा से जागना या अर्थात् उनकी आंखों को किसी ने बलपूर्वक नहीं बन्द कर दिया था, (५) उनका शत्रु उनके ही अन्दर था और (६) क्योंकि कवि वरबारी था इसलिये इससे अधिक सुरूप में वह कुछ कह भी नहीं सकता था। इसका ध्यान न रखने पर मर्यादा भंग हो जाती ।

इसके विपरीत, जब कवि "दिनकर" ने देश भारत के सभी निवासियों को जगाना चाहा तो उसकी काव्य-कला का रूप यह होगया:-

गरजते छैर आये, सामने फिर भेड़िये आये
नर्सी को तेज, दांती को बहुत तीखा किये आये
मगर, परवाह क्या ? हो जा सड़ा तू तान कर उसको
छिपी जो हड्डियाँ मैं आग-सी तलवार है साथी^१

या

बाँसू भरे दुर्गों में चिन्तारियां सजा दे
मेरे इम्तान में आ चुंगी जरा बजा दे
फिर एक तीर सीनों के आर पार कर दे
हिम छीत प्राणमें फिर अंगार स्वच्छ भर दे
आमर्ष को जगाने वाली शिखा नई दे
अनुभूतियां हृदय में दाता अकलमयी दे
विष का सषा लहू मैं संचार माँगता हूँ
देवैन जिन्दगी का मैं प्यार माँगता हूँ^२

अथवा

अगर हो खानदार,
जानदार है यदि अश्व वेगवान,
बाहुजनों में बहता है
बत्रियाँ का सूत्र यदि,
हृदय में जागती है वीर, यदि
माता वज्राणी की विषय मूर्ति
स्मृति यदि अंग अंग को है ठकसा रही,

१. "सामवेनी", पृ. २०।

२. वही, पृ. ५७।

आ रही है याद यदि अपनी मरजाद की,

.....

आओ वीर, स्वागत है

.....

धन - जन - देवालय

देव - देस - द्विज - दारा - बन्धु

इन्धन हैं हो रहे तुष्णा की मट्ठी में

हव है अब हो चुकी!

कला के रूप के इस परिवर्तन के कारण ये हैं :- (१) ये पंक्तियाँ जन-साधारण के लिये हैं जो काव्यशास्त्र की बारीकियों से परिचित नहीं, (२) जन-साधारण साफ और सीधे ढंग से कही गई बात समझता है, (३) जन-साधारण भावावेग से प्रभावित होता है, (४) जन-साधारण ओज से तरंगित होता है; हुंकार से ऊर्जस्वित होता है, (५) यहाँ न व्यक्तिगत स्वार्थ है, न व्यक्तिगत समस्या। सारे राष्ट्र के कल्याण की समस्या है। सारे राष्ट्र का मानस बदलता है, (६) यहाँ अन्त भीतर नहीं बाहर है, (७) यहाँ अन्त ने ^{बड़ी} व्यक्ति और साधन से वंचित कर रक्खा है, (८) यन्त्र ^{अठ} - व्यक्ति भीतर ^{शरीर के} जिसे प्रबुद्ध करना है, और (९) यहाँ लक्ष्य है नये युग की अवतारणा। राष्ट्रोत्थान। परिणाम यह हुआ कि इस युग की काव्य-कला अवधावधि प्राप्त काव्य-कला से भिन्न हो गई। जिस प्रकार संस्कृति के अन्य क्षेत्रों में जो कुछ हुआ उसका आधार कुछ पुरातन था, कुछ नवीन - प्राचीन में से कुछ लिया गया, कुछ को बदला गया, कुछ को छोड़ा गया, और नवीन में से भी कुछ को छोड़ा गया, कुछ बदला गया, कुछ लिया गया - उसी प्रकार काव्यकला के क्षेत्र में भी जो कुछ हुआ उसका आधार कुछ पुरातन ^{था} तथा कुछ नवीन।

१. 'निराला', महाराज शिवाजी का पत्र, 'परिमल'

काव्य-कला के क्षेत्र में सबसे बड़ा परिवर्तन भाषा के क्षेत्र में हुआ। काव्य-भाषा की दृष्टि से बीसवीं शताब्दी का पूर्वार्ध कम सही बोली हिन्दी का युग है। कविता में सही बोली के खर्चा, कारक-चिह्नों एवं क्रियापदों का प्रयोग अमीर खुसरौ एवं कबीर के समय से लेकर आज तक बराबर होता चला आया है। इस दृष्टि से कृष्णदेव प्रसाद गौड़ द्वारा लिखित "साहित्य-प्रवाह" नामक पुस्तक के कुछ अंश विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। भारत-वु युग में तो सही बोली में बहुत कविताएं लिखी गईं। अब यह बात दूसरी है कि उनकी गणना सूत-साहित्य के अन्दर नहीं हुई क्योंकि ऐसी रचनाएं प्रायः लावनी, खयाल आदि के रूप में हैं, कविता-सूत्रों-पदावलियों आदि के रूप में नहीं। १८८६-८७ ई से सही बोली बनाम ब्रजभाषा वाला आंदोलन चला जिसके अन्तिम निर्णय को कुछ लोग आज तकभी गले के नीचे नहीं उतार पाये हैं। भारत-वु युग में सही बोली में कविताएं लिखी अवश्य गईं किन्तु उन कवितार्थों में काव्य-कला की छवियां और छटाएं नहीं मूर्त हो सकीं। इस पूरे काल में सही बोली को साहित्यिक कवितार्थों के उपयुक्त नहीं समझा गया। इन कवियों के सामने काव्य-सौन्दर्य की कसौटी मध्ययुगीन एवं रीतिकालीन आलंकारिकता ही रही। मनमें काव्य-सौन्दर्य की यही मूर्ति रमी रही। "रत्नाकर" ने "विहारी सतसई" का सकल सम्पादन किया था। उन्होंने विहारी के दोहों को भाषागत, अर्थगत एवं रीति-रुढ़ि सौन्दर्य का गंभीरतम अध्ययन किया था और उसे आत्मसात् कर लिया था। इसका परिणाम यह हुआ कि उनके अपने काव्य में वे ही सारी विशेषताएं कुछ वैसा ही सौन्दर्य लिखे जा गईं। अनुभावों के मनोवैज्ञानिक चित्र, रीतिकालीन पैली एवं ब्रजभाषा का सौन्दर्य पाकर कलात्मक दृष्टि से आज के काव्य-जगत की सीमा और निधि हो गये :-

ये सब मन भावन के जय के आवन की
सुधि ब्रजगाँवनि में पावन जड़े लगनी

कहें "रतनाकर" गुवालिन की शौरि-शौरि
 दौरि-दौरि नंद-पौरि आवन अमव तबै लगीं
 उझकि उझकि पद कंजनि के पंजनि पे
 पेसि-पेसि पाती छाती छोहनि छबै लगीं।
 हमको लिख्यो है कहा, हमको लिख्यो है कहा
 हमको लिख्यो है कहा कहन सबै लगीं¹

इस युग के कवियों को ब्रजभाषा का अभ्यास इतना था कि सड़ी बोली की रचना करते समय ब्रजभाषा के छंद आयास ही आ जाते थे। श्रीधरपाठक राय देवीप्रसाद, "पूर्ण", आदि कवियों की कविताएं ऐसी ही होती थीं। इन कवियों की सड़ी बोली की कविताओं की अपेक्षा ब्रजभाषा की कविताएं अधिक संरक्ष एवं हृदयग्राहिणी होती थीं। सड़ी बोली की काठर्योपयुक्तता के विकास की दृष्टि से श्रीधर पाठक की अनूदित कृति "एकान्तवासी योगी" का महत्व बहुत अधिक है। सबसे बड़ी बात यह हुई कि अब सड़ी बोली में मधुर भाषा की अभिव्यक्ति की समता और संभावना पर विश्वास किया जाने लगा। सड़ी बोली के एक स्थिर रूप का भी निर्णय इसकाठ्य से हो गया:-

साधारण अति रहन-सहन, मुद्ग बोल हृदय हरने वाला
 मधुर-मधुर मुस्क्यान मनोहर, मनुज वंश का उजियाला
 सभ्य सुजन सत्कर्म-परायण सौम्य सुखील सुजान
 बुद्ध चरित्र, उदार-प्रकृति बुभ विद्या-बुद्धि निधान²

विकास की दूसरी स्थिति में इस बात का प्रयत्न किया गया है कि सड़ी बोली में ब्रजभाषा के प्रयोग न रहें क्योंकि इससे सड़ी बोली हिन्दी की भाषा-विभुजता पर आघात पहुंचता है। इस दृष्टिकोण से लिखी गई कविताओं की भाषा के उदाहरणार्थ के रूप में रिमबन्द्र शुक्ल के प्रकृति वर्णन वाले कवितों की भाषा उपस्थित की जा सकती है:-

भूरी हरी घास आसमास फूली सरसों है,

पीली-पीली बिन्दिबों का चारों ओर है प्रसार।

1- उद्देश्यशतक, पृष्ठ 22

2- आधुनिक हिंदी कविता - विद्वान् अमृतमयी, पृष्ठ 413

कुछ दूर विरल सघन फिर और आगे एक

रंग मिला चला गया पीत पारावार।

धुंधले विगन्त में विलीन हरिषार्ध रेखा

किसी दूर देख की-सी शलक दिखाती है

जहां स्वर्ण भूतल का अन्तर मिलन है,

चिर पथिक के पथ की अवधि मिल जाती है।

सूखती तलैया के चारों ओर चिपकी हुई

लाल लाल काइयों की भूमि पार करते

गहरे पहे गोपव के चिह्नों से अंकित जो,

इधर वक जहां हरी दूब में विचरते।

रूप नारायण पांडेय, बट्टीनाथ मट्ट, मैथिलीशरण गुप्त; रामनरेश त्रिपाठी आदि अनेक कवियों की भाषा इसी प्रकार की सड़ी बोली है। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने जिस ठयाकरण -सम्मत, शुद्ध, परिष्कृत एवं परिमार्जित हिन्दी का समर्थन किया था उसके उदाहरण उपर्युक्त कवियों की रचनाओं में भरे पड़े हैं।

अनेक कवि ऐसे भी हुए जिन्होंने ब्रजभाषा काव्य का अनुकरण करते हुए उसकी आलंकारिकता को सड़ी बोली में लाने का प्रयत्न किया और इस प्रकार सड़ी बोली हिन्दी में उस प्रकार का माधुर्य एवं लाक्षणिक लाना चाहता जो ^{ब्रज}भाषा के कविता-सौंदर्य में है। नाथूराम शर्मा 'चंकर' के सड़ी बोली के कविता इसी प्रकार के हैं:-

काजल के कूट पर दीपधिसा सौती है कि श्याम घन मंडलमें दामिनीकी धारा
यामिनीके अंचलमें कलाधरकी कोर है कि राहुके कबंध पे कराल केतु तारा है

~~"चंकर" कविताओं में कंधन कीकीक है कि मांय है कि दालपट्ट कांदा का मोद~~

~~काली का टिपोंके दीप-मोहिली नीली मांय है कि कालर~~

द्वारा है

1. रामचन्द्र शुक्ल: "हृदय का मधुर भार"

“शंकर” कसौटी पर कवन की लीक है कि तेज ने तिमिर के हिये में तीर मारा है
काली पाटियों के बीच मोहिनीकी माँग है कि ढाल पर साँडा कामदेवका दुम्बरव
द्वारा है।

इस प्रकार मैथिलीचरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, गयाप्रसाद शुक्ल
“सनेही”, अयोध्या सिंह उपाध्याय, बालमुकुन्द गुप्त, रामचरित उपाध्याय,
लोचनप्रसाद पांडेय, महावीर प्रसाद द्विवेदी आदि के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप
सड़ी बोली बुद्ध ठयाकरण-सम्मत, परिष्कृत एवं परिमार्जित भी हो गई और
उसमें अलंकारों तथा अर्थालंकारों की सुयोजना के परिणामस्वरूप लाक्षणिक
एवं कलात्मकता के वर्धन भी होने लगे।

इसके पश्चात् अभिव्यक्ति के सौन्दर्य की ओर ध्यान गया। कविका-
सवये में अलंकारों की छटा छिटका लेना एक बात है, और जो कुछ कहा जाय
वह अत्यन्त सुन्दर ढंग से कहा जाय * यह दूसरी बात है। “वह बहुत अधिक
रौ रही थी” कहने की अपेक्षा “उसकी आँसों से सावन-भादों बरस रहे थे”
यह कहना अधिक कुशल, कलापूर्ण और मार्मिक अभिव्यक्ति है। द्विवेदी युग के
समाप्त होते-होते सड़ी बोली में इतनी क्षमता आ गई थी कि इसमें कुशलतम
और ललित एवं कलापूर्ण अभिव्यक्ति की जा सके। रीतिकालीन अभिव्यक्तियों
का संबंध बाह्य वर्णन से अधिक था। नये युग में नये विषयों और नवीन भावों
की व्यंजना करनी थी। कुशलता प्रकृत-साध्य होती है। इसलिये अभिव्यक्ति-
यों के स्वरूप में विभिन्नता अनिवार्य थी। द्विवेदी-तृतीय क/वि सड़ी बोली के
वर्णन-कुशल बना चुके थे। अब आवश्यकता अभिव्यंजन-सामर्थ्य और कथन-सौंदर्य
की क्षमता की थी। “वचन” का निम्नलिखित कथन :-

मूढ मुत्तरित हो गया, जब हो प्रणय की
पर नहीं परितुष्ट है तुझा हृदय की
पा चुका स्वर किन्तु गायन सौजता हूँ ।

मैं प्रतिध्वनि सुन चुका, ध्वनि सौजता हूँ ॥¹

1. “मिलन यात्रिणी” का एक शीत।

द्विवेदी युग के बाद की सड़ी बोली की आवश्यकता पर भी प्रकाश डालता है। सड़ी बोली के प्रति हमारा जो लगाव था उसके कारण सड़ी बोली का सुनापन समाप्त हो गया किन्तु कवि हस्ते तृप्त न हुए। अब सड़ी बोली के स्वर को गीत में बदलना था। ब्रजभाषा के भाषा-सौन्दर्य की प्रतिध्वनि सड़ी बोली में बहुत हो चुकी। अब उसकी अपनी ध्वनि और व्यंजना उसमें आनी थी। यह प्रयत्न छायावादी कवियों ने अत्यंत सकलतापूर्वक किया। 'प्रसाद' जी ने 'ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीकविधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्थानुभूति की विवृति' को छायावाद की विशेषता माना और इन विशेषताओं से सड़ी बोली में कमनीयता का समावेश किया। इस युग के प्रायः सभी ज्येष्ठ-श्रेष्ठ कवियों ने अपनी काव्य-पुस्तकों की भूमिकाओं एवं स्वतंत्र रूप से लिखे गये निबन्धों में अपनी उन मान्यताओं एवं विचारों का उल्लेख किया है जिनके कारण उनकी काव्याभिव्यक्तियाँ इतनी कलापूर्ण हो सकीं। 'पल्लव' की भूमिका, 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध', 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य', 'प्रबंध-प्रतिमा', 'प्रबंध पद्म' आदि इसी प्रकार की पुस्तकें हैं। इन कवियों की छलित अभिव्यक्तियों में वक्रता, ध्वनि, लाक्षणिकता, तथा उपमा, रूपक आदि अंकारों का योग विशेष रूप से रहा है :-

‘विस्तृत नम का कोई कोना, मेरा न कभी अपना होना,
परिचय इतना इतिहास यही, उमड़ी कल थी, मिट आज चली
मैं नीर-भरी दुस की बघली’^२

वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे

जब सावन-घन सघन बरसते, इन नयनों की छाया भर थे^३

अभिव्यक्ति की यह कुसुमा अन्ततोगत्वा कव्य की कमनीयता की

१. 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध', का छायावाद सम्बन्धी लेख।

२. महादेवी, 'यामा'

३. 'प्रसाद' - 'लहर'

और अग्न अग्रसर हुई। अभिव्यक्ति की सुन्दरता काव्य-कला का बाह्य-पक्ष है। इसके अन्तरूप सुन्दर विषय-वस्तु भी होनी चाहिये। विषयवस्तु की सुन्दरता या लालित्य सदैव मुहरित या व्यक्त नहीं हो पाती। गति काव्य या गद्यकाव्य में यह बात विशेष रूप से पाई जाती है। जिस काव्यमें अभिव्यक्ति और अभिव्यक्तव्य - कथन और कथ्य - दोनों की कमनीयता संतुलित रूप से बराबर रहती है वही काव्य श्रेष्ठतम होता है। चाहिये यह कि कवि की अपनी अनुभूति, उसके अपने भाव और विचार, असाधारण रूप से सुन्दर हों। उद्भावनाएं और कल्पनाएं उन्हें एक व्यवस्थित रूप या आकार प्रदान करें। तत्पश्चात् ललित भाषा में कलापूर्ण ढंग से उनकी सुन्दर अभिव्यक्ति हो। "निराला" का ध्यान इस ओर विशेष रूप से गया। कथन की कुशलता की ओर से वे उदासीन रह हैं, ऐसी बात नहीं है किन्तु उनका ध्यान इस ओर विशेष रूप से गया कि जो बात वह कहने जा रहे हैं वह भी कमनीय हों। "राम की शक्ति-पूजा" "महाराज शिवाजी का फा", "बादल राग", "विधवा", "सरोजस्मृति" आदि अनेक कथिताओं में जो कुछ कहा गया है वह भी सुन्दर है, जिस ढंग से कहा गया है वह भी सुन्दर है और जिस भाषा में कहा गया वह भी सुन्दर है। प्रतीक और रूपक के सहारे अनुभूतियां एवं भावों के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति की जाती है। रहस्यवाद स्वतः एक सुन्दरतम कथ्य है, अनुभूति है। छायावादी शैली में उसकी अभिव्यंजना काव्य की उत्कृष्टतम शैली प्रदान करती है। इसीलिये पन्त, प्रसाद, निराला, महादेवी वर्मा और रामकुमार वर्मा आदि कवियों की रचनाएं कथ्य का सौन्दर्य भी व्यंजित करती हैं।-

सौज ही चिर प्राप्ति का घर,
साधना ही सिद्धि सुन्दर,
उदन में सुल की कथा है
विरह मिलने की प्रथा है

खलम जल कर दीप बन जाता निशा के शेष में

जांसुओं में देस में ?

१. महादेवी वर्मा: "दीपविशा"

“साधना” ही सिद्धि सुन्दर” में अनुप्रास अलंकार है। व्याकरण-सम्मत शुद्ध एवं अलंकृत भाषा है। लाक्षणिकता है, व्यंजना है। अभिव्यक्ति का स्वरूप इतना सुन्दर है कि अभिव्यंजना नीति-संबंधी सूक्ति का रूप धारण कर सकती है। जो बात कही गई है वह यह है कि परिणाम या फल को सुन्दर मानना अच्छी बात नहीं है क्योंकि इससे फल में आसक्ति पैदा हो जायगी। फल-प्राप्ति अपने अपने बस की बात नहीं। इसलिये यदि मनोवांछित फल न मिला तो दुःख होगा। दूसरी बात यह है कि ऐसी स्थिति^{में} साधना की एकनिष्ठता मंग हो जायगी। ध्यान रहे कि यही निष्काम कर्मयोग है जिसकी महिमा का प्रतिपादन “गीता-कार” का भी लक्ष्य है। अस्तु, इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि यह एक सुन्दर कथ्य है। एक दूसरी कविता देखिए :-

प्रिय तुम्हारा स्वर बनूं मैं

दो उरों के मिलन में मिट जाय वह अन्तर बनूं मैं

कलम जीवन जबकि हिम की विकल धुलती धार-सा हो

या कि जिसकी से उठे दो आंसुओं के मार-सा हो

सिक्त उससे हो उठे उस धूलि का कण मर बनूं मैं[?]

सही बोली को सूक्ष्म सौन्दर्य, सुकुमाता और संगीतात्मकता से परिपूर्ण करने वाले कवि की यह अभिव्यक्ति उपमाओं, प्रतीकों और भाषा की कलात्मकता का संपर्क पाकर जितनी मार्मिक एवं ललित हो गई है उससे कम सुन्दरता कवि की कामना में नहीं है। साधक का साध्यरूप से इतना अभिन्नत्व प्राप्त कर लेना तथा अपने अस्तित्व को इतना कर्मापूर्ण बना लेना सभी दृष्टियों से एक सुन्दर कामना है। अस्तु, इन स्थितियों को पार करते-करते सही बोली का कथ्य की मंजुल कलाओं से कलित भाषा हो गई।

१. रामकुमार वर्मा : “आकाश गंगा”

शास्त्रों ने रस को बहुत ही महत्वपूर्ण माना है। रस काव्य का प्राण और सर्वोत्कृष्ट कल माना गया है। आनन्द का ही दूसरा नाम रस है। रस अलौकिक चमत्कार है अर्थात् इस लोक में जो अप्राप्य है वह चमत्कार। कलाकार द्वारा संप्रेषित अनुभूति अपलब्ध करके हमारी जो भाव-धारा हो जाती है उससे हमें जो कुछ प्राप्त होता है वही रस है। भाव-धारा लोक की चीज नहीं है और इस-लिये भाव-धारा से प्राप्त रस लोक के परे की चीज हुई - अलौकिक। यह अवस्था प्राप्त करके हमारे चित्त का विस्तार हो जाता है। अस्तु रस की प्रतीति / मानस में ही संभव है। हमारे मानस में "वास्ता" अवैतन रूप में विद्यमान रहती है। आलंबन और उद्दीपन तथा उनकी पारस्परिक चेष्टाओं एवं संचारी भावों आदि के वर्णन से हमारे मानस की वे सुप्त वासनाएं उद्बुद्ध हो उठती हैं। जगत् के सूक्ष्मों के मानस को अनुभूति की जिस तन्मयी अवस्था में पहुंचा देती है उसमें मग्न होकर वह अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त करता है। यही रसानुभूति है। इस प्रकार "विमलानुभायव्यभिचारिसंयोजनाद्रसनिष्पत्तिः" होती है। आधुनिक शैली में कहें तो रस एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। रस का मूल है भाव और भावों का संबंध मन से है। किसी बाहरी चीज को हम देखते हैं (आलंबन)। उसका हमारे मन पर प्रभाव पड़ता है (भाव)। मूल प्रभाव के साथ साथ कुछ अन्य ऐसे भाव भी उठते हैं जिनका अस्तित्व मूल भाव की तरह बहुत देर तक का न होकर कुछ काल तक के लिये होता है। ये मूलभाव को पुष्ट ही करते हैं (व्यभिचारी या संचारी)। इन सबका धरीर के अंगों पर भी प्रभाव पड़ता है (धारीरिक अनुभाव)। इन सबके सकल चित्रण से कलाकार स्वयंपुनः तो मग्न हो ही उठता है, उस चित्रण को पढ़ने वाले के मन की भी भाव-मग्न प्रज्ञा हो जाती है। शास्त्रकारों ने मन के मूल भावों को प्रधानतः नौ भागों में विभाजित किया है :- रुंजार, रीद्र, वीर, मयानक, अद्भुत, करुण, हास्य, वीरत्स, शान्त। कुछ आचार्य मक्ति और वात्सल्य को भी मूल भाव मानते हैं। विचारकों ने इनके अपने-अपने आलंबन, उद्दीपन,

अनुभाव, रसवारीभाव आदि का भी उल्लेख किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि रस की अनुभूति एक अंतर्वेद्य है किन्तु आलंबन, उद्दीपन और अनुभाव का संबंध प्रायः बाह्य तत्त्वों से है। रस की कविताएं दो ढंग से लिखी जा सकती हैं। पहला ढंग है अनुभव के आधार पर लिखना। ऐसी कविता लिखते समय रस-संबंधी सांख्यिक मान्यताओं को याद नहीं रखना पड़ता। ध्यान केवल अनुभूति की सच्चाई का रखना पड़ता है। रस उसी से ध्वनित हो उठता है। दूसरा ढंग यह है कि अमुक रस के लिये शास्त्र-ग्रंथ में जिस-^{जैसा} ~~विधि~~ का होना आवश्यक बतलाया गया है, कविता में उन सबकी अवश्य लिखा जाय। शास्त्र और परम्परा के इस अनुकरण पर चलकर कविता रीतियों=मुसी हो जन्म उठती है और इसलिये उसका स्वाद कुछ प्रायः स्थूल और फीका हो जाता है। अनुकरण करते हुए भी सजीवता केवल कुछल एवं सिद्ध-कवि ही ला पाते हैं। रीतिकालीन कविताओंकी रसानुभूति अधिकतर ऐसी ही होती थी। आधुनिक हिन्दी साहित्य को रस-संबंधी कविताओं की ऐसी ही पृष्ठभूमि मिली थी किन्तु क्रांति एवं परिवर्तन के इस युग में आधुनिक हिन्दी का ठग क्षेत्र में रसात्मकता की उपर्युक्त सांख्यिक स्वार्थ अर्थात् रीति-कालीन धारणा विलुप्त बदल गई। पहले लिखते ही समय तात् या अज्ञात, चेतन या अचेतन रूप से यह ध्यान लिया जाता था कि लिखित कविता में रस के सभी अवयव ठीक से उपस्थित हैं या नहीं। अब प्राचीन के समर्थक आचार्य महोदय रसशास्त्र की व्यापकता सिद्ध करने के लिये किसी आधुनिक कविता में इन अवयवों को ढूँढ निकालते हैं - यह बात और है किन्तु लिखने वाला लिखते समय इनकी उपस्थिति के प्रति सावधान नहीं रहता। यह अन्तर दृष्टिकोण का है और बहुत बड़ा अन्तर है। इसने रस-साहित्य में क्रांति उपस्थित कर दी है।

रसमयी कविता पर सबसे बड़ा आघात चौथी दृष्टिकोण ने किया। इस युग में कविता पियुक्त रसानुभूति एवं आनन्द की अनुभूति के लिये बहुत कम लिखी गई। अब किसी विचार की अभिव्यक्ति की जाती है तब रसानुभूति का

कोई प्रश्न ही नहीं उठता। अस्तु,

..... हा मानव!
देख तुम्हारे ही है, हे शव!
तन की चिन्ता में घुल निशिदिन
देहमात्र रह गये, - क्या तिन!
प्राणि प्रवर
हो गये निष्ठावर
अचिर धूलि पर !!
निद्रा, मय, मेथुनाहार
--- ये पशु - लिप्साएं चार
हुई तुम्हें सर्वस्व सार ?
धिक मेथुन आहार - यन्त्र

जैसी विचार-प्रधान कविताओं में रस की संभावना भी नहीं हो सकती। सच्ची बात तो यह है कि यह युग ही रसानुभूति का नहीं था। क्रांति और रस-तत्त्व - दोनों दो पृथक् दृष्टिकोण हैं। कवियों पर आर्यसमाज का जो प्रभाव था वह भी रस का सहयोगी नहीं था। द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता ने भी रस-परिपाक में बाधा उपस्थित की। उपदेश में भी रसात्मकता नहीं हो सकती। निर्मम साम्राज्यवाद के कूटतम घोटों के नीचे भारतीयता की दुर्गति हो रही थी। आवश्यकता थी कुछ ऐसा करने की जिससे हम स्वतंत्र हो सकें। तब ही देशवासियों को जगाना था। समाज-सुधार, धर्म-सुधार आदि की आवश्यकता थी। संस्कृति का पुनरुद्धान चाहिये था। ऐसे में रीतिकाल की रस-परम्परा निरर्थक थी। जिनकी कविताओं के विषय रीतिकालीन ही रहे उनकी बात और है; जैसे :-

जा पिन सौं निरसी छवि रावरी, बावरी बीधिनि मैं बिहारी करे
पीर लिये, हिय धीर किये, मुस्क्याति, पै नैननि नीर बर्यौ करे

१. पन्तः 'चीटी' शीर्षक कविता।

प्राण को मोह न मोहन हेतु, जियावति जीव उसांस मर्यो करे
नेहयती लौ सनेह-सती लौ उजास करे तउ आपु जरयो करे¹

द्वितीय ^आ में रस की दृष्टि से दो कवियों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। उनमें से प्रथम है मैथिलीशरण गुप्त। लघु काव्यों और महाकाव्यों में जहाँ उन्हें अवसर मिल सका है, उन्होंने रस-निष्पत्ति का सकल प्रयत्न किया है। "भारतभारती" 'साकेत', 'यशोधरा', आदि में ऐसे स्थल मिलते हैं जो ^{काव्य} कव्यशास्त्र की दृष्टि से रस-भग्न कर सकने का सामर्थ्य रखते हैं :-

मैं निज अलिन्द मैं सड़ी थी ससि एक रात,
रिमझिम बूँदें पड़ती थीं घटा छाई थी
गमक रही थी कैतकी की गंध चारों ओर,
झिल्ली छनकार यही मेरे मन भाई थी
करने लगनी मैं अनुकरण स्वनूपुरी से,
चंचला थी चमकी, घनाली फहराई थी
चाँक देखा मैंने चुप कोने मैं सहे थे प्रिय,
भाई मुस लज्जा उसी छाती मैं छिपाई थी^२

यहाँ रसके सभी अवयव हैं। आलंबन (उर्मिला), उद्दीपन (कर्म-चित्र), अनुभाव (छाती में मुस छिपाना, आदि), संचारी (लाज, स्मृति) आदि स्पष्ट होकर संग्रह ध्वनित होता है। इस क्षेत्र में दूसरा उल्लेखनीय नाम अयोध्या सिंह हस्ति-रत्नाकराय 'हरिजीव' का है। सड़ी बोली में रस-व्यंजना की कुशलता उनमें आश्चर्यजनक रूप से मिलती है। रस-निष्पत्ति की दृष्टि से 'साकेत' की अपेक्षा 'प्रियप्रवास' अधिक सकल है। 'रसकल' वाला हृदय कहीं भी रस-शून्य हो भी तो कैसे!

पट हटा सुत के मुस कंज की, विकचता जब थीं अलौकती
विषय सी जब थीं फिर देखती सरसता मृदुता, उकुमारता

१. 'मैथिलीशरण गुप्त' : 'साकेत'

२. 'हरिजीव' : 'प्रियप्रवास'

तदुपरान्त नृपाधम नीति की अति मर्यादकता जब सौचर्मी
निपतिता तब होकर भूमि में करुण झंझन वे करती रहीं।

जहाँ तक छायावादी कविता और रस-निष्पत्ति का प्रश्न है, कुछ विचार करना आवश्यक हो जाता है। इस संबंध में विशेष रूप से याद रखने वाली बात यह है कि छायावादी कवि अपने अन्तर की अनुभूतियों और छवियों का वर्णन करते समय रस-सिद्धान्त को विल्कुल ही ध्यान में नहीं रख सकता था। उसका काव्याभ्यास भी रीतिकालीन पद्धति पर नहीं होता था। उसकी कविता में आश्रय, आलंकार, उद्दीपन, अनुभाव, व्यभिचारी आदि आ गये तो ठीक, क नहीं लगे आये तो वह अपनी रचना को अस्फुल या अपूर्ण मानने के लिये तैयार नहीं। इसलिये छायावादी कविता में रस के सभी अवयव संयोगवश भले ही मिल जायें किंतु वे छायावादी अनुभूति रसानुभूति के लिये अनिवार्यतः उल्लिखित तत्त्व नहीं। छायावादी को परम्परामूलक रसवादी दृष्टि से वेसना ही एक मूल है।

छायावादी कविताओं में ऐसे स्थल बहुत अधिक हैं जो पाठक को रस मग्न कर देते हैं। इन कवियों के अलंकाररसवादियों के अलंकारों की अपेक्षा भावों को कहीं अधिक सुन्दर और बोधगम्य बनाने के लिये हैं। प्रतीकों और अलंकारों के बिना रसस्थवादी अनुभूति संप्रेषणीय हो ही नहीं सकती। छायावादी कवि सूक्ष्म सौन्दर्य एवं रहस्यानुभूतियों को व्यंजना करते थे। इसलिये इनकी रसानुभूति और रस-व्यंजना रीतिकालीन रसानुभूति और रस-व्यंजना से अनिवार्यतः विभिन्न होती थी। अस्तु, यदि रस की असंलक्ष्य इच्छा तभी माननी है जब विभाव अनुभाव, आदि छवों से कह दिये जायें तो छायावादी कवियों में रस-परिपक्वता की स्थिति अत्यंत नगण्य ठहरेगी। किन्तु यदि दृष्टिकोण को बदलकर थोड़ा-सा उधार बना लिया जाय और यह भी मान लिया जाय कि सुन्दर वस्तु की उपस्थिति मात्र या सुन्दर अलंकार मात्र भी मन को रसमग्न कर देते हैं तो छायावादी काव्य में रस लहराता हुआ मिलेगा। यह रस लौकिक भी होगा, अलौकिक भी;

वर्णित भी होगा, ध्वनित भी; लक्ष्य भी होगा, असंलक्ष्य भी; तथा परम्परा के ढंग पर भी होगा और परम्परा से मुक्त भी।

मनु निरखने लगे ज्यों-ज्यों यामिनी का रूप

वह अनन्त प्रगाढ छाया फैलती अपरूप

बरसता था मंदिर कण-कण स्वच्छ सतत अनंत

मिलन का संगीत होने लगा था भीमन्त

हूटतीं चिनगारियां उत्तेजना ^{उद्वेग} ~~उत्तेजना~~

धपकती ज्वाला मधुर था वध विकल अशांत

खातचक्र समान कुछ था बांधता आवेश

धैर्य का कुछ भी न मनु के हृदयमें था शेष^१

यह मनु के अन्तर की उद्वेगीकृत का झुंजार-भावना का वर्णन है जो रसध्वनित करने में समर्थ है। इसी प्रकार :-

तडित-सा सुमुक्ति! तुम्हारा ध्यान

प्रभा के पलक मार उर चीर

गूढ़ गर्जन कर जब गंभीर

मुझे करता है अधिक अधीर

बुझुओं से उठ मेरे प्राण

लीजते हैं तब तुम्हें निवान।^२

पंक्तियाँ मैं उद्वेगीकृत प्राणों को अधीर करके विप्रलम्भ ध्वनित करता है।

“पुलक पुलक उर, स्थिर-स्थिर तन आज नयन जाते क्यों मर-मर”^३ में अनुभाव से भाव ध्वनित होता है।

असि के दर्पण में देख-देख, मैंने सुलझाये तिमिर - कैव

गूँधे चुन तारक-पारिजात अवगुंठन कर किरणें अक्षेप

१. ‘प्रसाध’ : ‘कामायनी’

२. पन्त : ‘आँसू ते’

३. महादेवी वर्मा : ‘नीरवा’

क्यों आज रिझा पाया उसको मेरा अभिनव झुंगार नहीं।^१

आध्यात्मिक झुंगार-सम्बन्धी उपर्युक्त पंक्तियों में ठयथा की कसक है। "निराला" की "जुहीकी कली" का संयोग-झुंगार केवल यही कहने से निष्पन्न नहीं हो सकता कि उसके आलंबन और आभय मानव-योनि के नहीं। हाँ, आस्थीय दृष्टिकोण से देखने पर यह रस-दोष का कारण है। आस्थीय दृष्टि से अपरिपक्व होते हुए भी यह रस अनेक परिष्कृत रुचि एवं परिपक्व भावनाओं वाले स्रष्टव्यों को रस-स्मित करता आ रहा है।

कल कैसी थी सरदू चांदनी प्राणों में खिंचि बूल रहा था
मेरा मिलन लता-कुंजों के फूल-फूल में फूल रहा था
आज सांझ के पहले पल में रात सिमट आई काली

.....

ऐसे ही तो मेरे प्रिय हैं जो मेरे हो सके न आली।^२

उपर्युक्त पंक्तियों में स्मृति के अंग पूर्ण हो उठे हैं और^{उन्हें} देखकर अन्तर में जो भावना जगती है वह वियोग झुंगार की है। यह आध्यात्मिक अनुभूति है अर्थात् यह विशद वियोग भावना - केवल वियोग भावना - है। यह समस्त ऐन्द्रियता से परे होकर केवल अनुभूति मात्र हो गई है। इससे किसी वियोगिनी के रोने-पीसने का भाविका तो नहीं उभरता और इसलिये उस दृश्य की कल्पना करके मन की जो अवस्था हो सकती है वह तो नहीं होगी किंतु इसमें कोई सन्देह नहीं कि इससे वियोग-ठयथाध्वनित होती है और हृदय उससे प्रभावित होकर तन्मय अनुभूति में निमग्न होता है।

गुण-रीति-वृत्ति

जैसे शरीर में अंगों का संगठन होता है वैसे ही काव्य में शब्दों और अर्थों का संगठन होता है। जिस प्रकार शरीर के अंगों को देखकर हम शरीर

१. 'महादेवी वर्मा' : 'यामा'

२. रामकुमार वर्मा : 'आकाश गंगा'

के गुणों (सुकुमारता आदि) का पता पा लेते हैं वैसे ही पदों की रचना-विशिष्टता के द्वारा हम काव्य की विशेषता जान सकते हैं। अमुक भाव की व्यंजना के लिये हमें किस प्रकार के शब्दों का उपयोग करना चाहिये, इस विचार के द्वारा ही रीति का रूप विशेष बनता है। ऐसा ही हो सकता है कि कोई एक शब्द किसी विशेष विषय या भाव की मर्यादा के अनुकूल न हो तो उसका प्रयोग वांछित प्रभाव न पड़ने देगा। "मलकये आलम कौशल्या" में "मलकये आलम" विशेषण कौशल्या की मर्यादा और संस्कार के अनुरूप नहीं है - मले ही वृत्ति की दृष्टि से इसका एक-एक अक्षर ठीक है। इसके विपरीत, यदि एकाग्र अक्षर वृत्ति की प्रकृति के प्रति-कूल भी हो किन्तु यदि पूरी कविता में "वृत्ति" का ध्यान रखा गया हो तो काव्य की विशेषता की अनुभूति में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ेगा। "मांझी, साहस है ? से लोने ? ^{जरी} तरो मरी पयिकों से छड मै क्या सोलोगे ?" में "छड" का "छ" और "ड" वृत्ति की प्रकृति के प्रतिकूल है किन्तु चूंकि पूरी कविता में इतना सटकने वाला शब्द यही एक है इसलिये कुछ ही वर्णों के पश्चात् इसका प्रतिकूल प्रभाव नष्ट हो जाता है। भावों के अनुरूप ही भाषा का प्रयोग होना चाहिये। यह बात ध्यान में रखने पर मधुर भावों की अभिव्यक्ति के लिये मधुर वर्णों वाले शब्दों की आवश्यकता होती है और कठोर भावों की अभिव्यक्ति के लिये पुरुष वर्णों वाले शब्दों की। यही विचार रीति है। आचार्य मम्मट इसी को वृत्ति कहते हैं। तात्पर्य यह है कि उपयुक्त शब्दों का चुनाव और उसकी योजना ही वृत्ति है। रस-व्यंजना के लिये इसकी विशेष उपयोगिता है। वृत्तियां तीन हैं। उपनागरिका वृत्ति में ट, ठ, ड, ढ को छोड़कर माधुर्य गुणव्यंजक तथा सानुस्वार वर्णों की योजना होती है। वैद्यकी रीति इसी को कहते हैं। वृंगार, हास्य तथा कर्म में इसका प्रयोग होता है :-

..... धर्म से
फिर भी जहाँ मैं, आप इच्छा रहते हुए

१. जयशंकर प्रसाद : "स्कन्दगुप्त"

जाने नहीं पाती! यदि पाती तो कभी यहाँ
 बैठ रहती मैं! छान डालती धरित्री को ।
 सिंहिनी-सी काननों में; योगिनी-सी डैलों में,
 शफरी-सी जल में, विहंगिनी-सी ठयोम में
 जाती तभी और उन्हें सोज कर लाती मैं ।
 मेरा सुधा-सिन्धु मेरे सामने ही आज तो
 छहरा रहा है, किन्तु पार पर मैं पड़ी
 प्यासी मरती हूँ, हाय! इतना अमान्य भी
 भव मैं किसी का हुआ ?

जिन वर्णों से ओजगुण की व्यंजना होती है उनसे निर्मित रचना पठना-
 वृत्ति की होती है। इसमें ट, ठ, ड, ढ, द्वित्व, तथा संयुक्त वर्ण अधिक होते
 हैं। यह वीर, रौद्र, और मयान्त रसों की व्यंजना में अधिक सहायक होती है
 ऐसी रचना गौड़ी रीति की होती है:-

आज का तीक्ष्ण - सर-विधृत - क्षिप्र-कार-वे^गप्रवर
 उत्तरेल सम्बरणशील, नील नम-ग^गर्जित स्वर
 राघव-लाघव-रावण-वारण-गत युग्म प्रहर....
 उद्यत-लंकापति-मर्दित कपि-बल-बल-विस्तर,
 अनिमेष राम-विश्वजित् दिठय सर-मंग-माव -
 विद्वांस-वद-कोकड-मुष्टि-सर-रुधिर-झाव,
 रावण - प्रहार-पुषार-विकल-वानर -बल -बल,-
 मूर्च्छित-मुग्रीवांगव-भीषण-गवाव-गय-नल -
 वारिषि-सी मित्रि मल्लपति-अगणित-मल्ल-रौध
 गर्जित-प्रलया ढिध-कुध-हनुमत-केवल-प्रबोध
 उदुगीरित-बन्धि-भीम-पर्वत-कपि - चतुः प्रहर -^२

१. मैथिलीशरण गुप्त: 'कसीधरा'

२. 'निराला': 'राम की शक्तिपूजा'

चीन ने जब स्वतंत्र भारत पर सन् १९६२ ई. में आक्रमण किया था तब रामकुमार वर्मा ने अमृतध्वनि छंद में "भारत की ललकार" शीर्षक जो उपदोधनात्मक गीत लिखा था वह वीर रस, औज गुण, पुरुषावृत्ति एवं गौडी रीति की आश्चर्यजनक रूप से सकल रचना है :-

अमृतध्वनि को घोंप से गुंजा हिमालय घुंग;
भारत के सैनिक बडे, कुद-ध्वनित उमंग ॥
कुद-ध्वनित उमंगग्रसित, विलक्षण लक्षण,
युद्धधरणि समुद्र-धरणि वृद्धधर धर प्रण ।
पदद्वलित अहंगगलित सल चचीनी हरिनि
अंगगगरजि, उतंगगगमनि, ध्वनित अमृतध्वनि ॥१॥

चीनी चक्रित बैसकर भारत ऐक्य असंड । उन्मीलित हरिरेखा त्रय मंगगरब प्रचंड ॥
अंगगरब प्रचंडडडमठ निनाध-ध्वनिरव । कुदधरि करि, युद्धधरि घन मंडित तांडव ।
लक्षकसन रिपु, रक्तकन भरि पुष्पत वक्रित, मुड्डडरि करि, संड्डडरि नित चीनी
चक्रित ॥

केहरि जग्गा अग सा, भग्गा कग्गा चिन्न ।
पंचजील को लील करि जगगगति कर भिन्न ॥
जगगगति कर भिन्न नर पशु मिथ्यक कथयति ।
मंडडति रण, संडडति सलबंडडडति गति ॥
पद-प्रबल बल-प्रतिक्षण लव प्रण लग्गा ।
युद्धधरि कर कुद्धधर नर केहरि जग्गा ॥ २ ॥
चिन्न की तलवार धिर उठ सीमा पर्यन्त ।
अकथकृति चीनचित चिन्तितु तित लल अंत ।
चिन्तितु तित लल अन्ततम कटु कष्टकंपित
अकुल हो अस्तगुलि अंघा अंकंशित ॥

चंककित हो रक्तवक्त्रमय पंकककित क्रम।

पुंजिज्जित गुरु गुंजिज्जित हो भारत विक्रम ॥४४॥

कीमल वृत्ति वहां होती है जहां वे वर्णन हो जो औज और माधुर्य गुण के व्यंजक होते हैं। ऊद ऐसे सरल और सुबोध होते हैं कि सुनते ही तात्पर्य का बोध हो जाता है। यह पांचाली रीति कहलाती है। इसमें वृंगार, शान्त और अद्भुत रस की व्यंजना बड़े ही प्रभावपूर्ण ढंग से होती है। अनुपसर्ग का प्रेम-पान-संधी रस का निम्नलिखित कवित इस 'वृत्ति' का सुंदर उदाहरण है :-

इन मयमाते, अलसाते, झुकजाते हुए मस्त लोचनों की सीढ़ लाके पी गया हूं मैं
होशके भी होश उठ, जायेंगे, न थोड़ी पी है, सारासुम का सुम उठाके पीगया
देस कल-कुंतलों की कुंचित संपोलियोंको आई जो लहर लहराके पी गया हूं मैं
तेरे ही वियोग में विदग्ध अति आतुर हो ऊम अकुला के धराके पीगया हूं मैं^२
'बच्चन' का निम्नलिखित पद भी इस दृष्टि से द्रष्टव्य है :-

सुन्दर और असुन्दर जन मैं मैंने क्या न सराहा
इतनी ममतामय दुनिया मैं मैं केवल अनचाहा
देखू अब किसकी रुकती है आ मुखपर अभिलाषा
तुम रस लो मेरा मान अमर हो जाये
तुम गा दो मेरा गान अमर हो जाये ।^३

आलंकार

दिवेदी युग में सही बोली की शुद्धता एवं ठ्याकरण - सम्मतता पर अधिक जोर दिया गया था। साथ ही, रीतिकालीन आलंकारिकता की प्रति-क्रिया भी इस युग में थी। फिर भी, चूंकि दिवेदी जी के मतानुसार, 'जो बात

-
१. ~~ऊम-कुम-ऊम~~ डा. रामकुमार वर्मा की विशेष कृपा के कारण प्राप्त उनकी हस्तलिखित प्रति से उद्धृत कविता।
 २. 'रसमन्ती' अनुपसर्ग विशेषांक, पृ. ८१-४२
 ३. 'सतरंगिनी'

असाधारण और निराले ढंग से ऊर्ध्वो द्वारा इस तरह प्रकट की जाय कि सुनने वाले पर उसका कुछ न कुछ असर जरूर पड़े, उसी का नाम कविता है" ¹ इसलिये इस "असाधारण" और निराले ढंग से बात कहने के प्रयत्न में द्विवेदी युग के कवियों में भी अलंकार अप्रत्यक्ष रूप से आ ही गये। ये अलंकार कभी ऊर्ध्वालंकार होते थे और कभी अर्थालंकार। मैथिलीशरण गुप्त और "हरिऔध" आदि के काव्य इसके प्रमाण हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी अलंकार के विरोधी नहीं थे। उनका निश्चित विचार था, "अलंकार चाहे अप्रस्तुत वस्तु-योजना के रूप में हों... चाहे वाक्य वक्रता के रूप में चाहे वर्ण-विन्यास के रूप में, लाये जाते हैं वे प्रस्तुत भाव या भावना के उत्कर्ष साधन के लिये ही।" ² जयशंकर प्रसाद ने भी अलंकारों का महत्व भाव-सौंदर्य की दृष्टि में स्वीकार किया है। ³ सुमित्रानन्दन पंत ⁴ भी उनको "भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार" माना है। छायावाद का प्रत्येक कवि अलंकारों का संबंध सौन्दर्य बोध से ही मानता था। बहुत पहले केशव ने लिखा था :-

जद्यपि सुजाति सुलक्षणी, सुवरन, सरस, सुवृत्त
मूषण विनु न विराजई, कविता, बनिता, म्फिता ⁵

लगभग ३३९ वर्षों के बाद सुमित्रानन्दन पंत ने लिखा :-

तुम वहन कर सको जन-जन में मेरे विचार
बाणी मेरी चाहिए तुम्हें क्या अलंकार ⁶

स्पष्ट है कि दोनों दृष्टिकोणों में असाधारण अंतर है। इसका कारण यही है कि कवियाँ बबल गई हैं। बहुत दिन नहीं हुए - और देहाती में तो यथासंभव आज भी - डागल, बिड़ुप, महावर, कड़े-ठंडे, पायल, सांझन, पैजनी, करघनी, जंगूठी, सोने की चुड़ियाँ, रंगीन शीसे की वैविध्यपूर्ण चुड़ियाँ, लाल की लाल-सुनहरी-नक्काशदार चुड़ियाँ, छंदी, पहेला, सोने के कड़े, टंडिया, बाजूबन्द, हार, कण्ठा,

१. महावीरप्रसाद द्विवेदी: 'रसज्ञ-रंजन'। २. रामचन्द्र शुक्ल: 'चिन्तामणि'।
३. 'प्रसाद': 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध'। ४. पंत: 'मल्लिकार्जुन', 'प्रवेश'
५. केशवदास: 'कविप्रिया'। ६. पंत: 'ग्राम्या'

गुलबन्द, ठुस्सी, नय, नयुनी, नाक की कील, बुलाक, कर्ण-फूलया झुमका, झुमकी, बाली, बैदी, वेणीफूल, टीका आदि मोटे-मोटे और भारी-भारी वजन के आभूषण नारी की अभिलाषा और झुंगार माने जाते थे। रेशम के पांच-पांच सौ और पांच-पांच हजार रुपयों के लहंगे-झोड़नियों, गोदना, बैहदी, मिस्सी आदि सौभाग्यवती की शोभा थे। पुरुष तक अलंकृत होते थे। अब वह सब बदल गया। १९५० ई. के बाद की बात छोड़ दी जाय तो हाथ में एक-एक दो-दो चुड़ियां कान में टाप्स या डयरिंग, माथे पर एक बिन्वी, हाथ में एक अंगूठी, सौंद या आलीनताव्यंजक रंग की साड़ी, पैर में चप्पल- यह सामान्य वेश-भूषा है। शादी व्याह के अवसरों पर दो-चार गहनों की और वृद्धि हो जाती है तथा रंग में कुछ अधिक जैसी बढ जाती है। बस! अब वाणी में गरिमा है, व्यक्तित्व में ज्ञान का गाम्भीर्य है, वेश-भूषा में सादगी की महिमा है और निरलंकारिता की सुम-ठकता है। प्रभाव व्यक्तित्व का पडता है; आकर्षण रूप का होता है। अंग और स्वभाव अलंकार तथा हाव-भाव-हेला एवं व्यंजनाएं तथा मंगिमाएं मोहती हैं। बीसवीं शताब्दी के पूर्व^५ के साहित्य में सजावट की यही स्थिति रही है। वह इसलिये महत्वपूर्ण नहीं कि रीति मुष्ट है, रीति की दृष्टि से बिल्कुल निर्दोष है, एक-एक कविता में पांच-पांच भाव श्लेष के सहारे भर दिये गये हैं, पूरे पद में एक ही का अनुप्रास मरा है और उपमाओं और रूपकों की छड़ी लगी है। आधुनिक कविता इसलिये महत्वपूर्ण है कि उसमें सुन्दर भावों की व्यंजना है, वह कुछ अच्छे विचारों की अभिव्यक्ति करती है तथा वह मन और आत्मा को स्वर्य, शिव और सुन्दर की ओर ले जाने वाले तत्वों से स्वतः मध्य और महिमामयी हो गयी है। उसने अलंकारों से दुश्मनी नहीं साधी है किन्तु उनको अपने सर पर इतना लाद भी नहीं लिया है कि पद बोझिल होकर सीधे पढ़ने न पायें और ज्ञान की स्वाभाविक शोभा घटाटोप में तिरहेहित हो जाय। आज के कवि ने अलंकारों को उनके वास्तविक स्थान और महत्व पर समासीन कर दिया है। इस युग का कोई भी ऐसा नहीं है जिसकी कविता में अलंकार न मिलें। छायावाद ने पुराने अलंकारों

के अतिरिक्त विशेषण-विपर्यय, ध्वन्यर्थ-व्यंजन, मानवीकरण आदि अंगरेजी अंकारों को भी अपनाया है। इनके प्रयोग बाहुल्य ने भी कविता का बाह्य-रूप बदला है। "कामायनी" में उल्टा अंकारों की अपेक्षा गुण-भाव-सादृश्यमूलक अंकारों की प्रधानता है। उपमा और रूपक आधुनिक काव्य में इस तरह पाये जाते हैं, जैसे आधुनिक समाज में मध्यवर्ग के साफ-सुधरे लोग। महादेवी वर्मा में रूपक और समासौक्ति की प्रधानता है। इस अंकार में "समान कार्य, समान लिंग, एवं समान विशेषण आदि के द्वारा किसी प्रस्तुत वर्णन से अप्रस्तुत का शान होता है"। महादेवी की एक समासौक्ति देखिए :-

जन्म से मुँह कंज-ठर मैं नित्य पाकर च्यार-लालन
अनिल से चल पंखपर फिर उड़ गया जब गंध-उन्मन
बन गया तब सर अपरिचित
हो गई कलिका बिरानी
निरुर वह मेरी कहानी^१

यह सभी जानते हैं कि ब्याह हो जाने पर भारतीय बाला का संबंध उसके मायके से छूट जाता है किंतु समासौक्ति ने इसी भाव को और अधिक मार्मिक बना दिया है। प्रसाद की रूपक-माला देखिए :-

परिरंम कुम्भ की मंदिरा, निःश्वास मलय के लोके
मुक्त चन्द्र चाँदनी जल से , मैं उठता था मुँह धो के^२
इसी प्रकार "निराला" की एक मालोपमा देखिए :-

वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा-सी
वह दीपशिखा-सी शान्त, भाव में लीन
वह दूर काल ताँडव की स्मृति रेखा-सी
वह दूटे तब की हुटी छा-सी दीन^४

१. बचल ली: "नालन्दा विशाल उबड़ सागर"।

२. महादेवी वर्मा: "यामा"

३. प्रसाद: "शांति"

४. निराला: "परिमल"

उदाहरणों की अधिक आवश्यकता नहीं। छायावादी कविता में उपर्युक्त दृष्टि-
कोण से अंकारों का प्रयोग किया गया है और बहुत अधिक किया गया है।

छन्द

प्राचीन की आधारशिला पर नवीन का निर्माण परम्परा से प्राक्त-
तत्वों की नवीन संयोजना से नवीन की खोजना, बहुत कुछ पुरानी सम्पत्ति और
थोड़ी बहुत नवीन उद्भावना से मनोरम-विलक्षण अभिव्यक्ति की यदि बीसवीं शताब्दी
के पूर्वार्द्ध में के भारत की एकमात्र सांस्कृतिक आकांक्षा, ऐतिहासिक प्रवृत्ति एवं
प्रभावशाली प्रेरणा रही है तो यह अत्यन्त सजग, और सकल रूप से आधुनिक सिद्धी
साहित्य के छन्द-क्षेत्र में क्रियाशील दिसलाई पड़ती है। नव-निर्माण की प्रक्रिया
इस क्षेत्र में इस विलक्षण रूप से गतिशील हुई कि लोग चमत्कृत होकर छन्द और छन्द-
शास्त्र को भूलने-से लगे। छन्दशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता तिरस्कृत होने लगी।
सकलता का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि अभिव्यञ्जना के सकल प्रभाव ने
अभिव्यञ्जना के उपकरणों के महत्व को विस्मृत-सा कर दिया। वस्तु-स्थिति यह
थी कि विचारक और कलाकार दोनों उपकरणों की उपयुक्तता के विषय में असा-
धारण रूप से सतर्क रहे और युगानुसूल परिवर्तन प्रेरित एवं सक्रिय करते रहे।

उल्लेखनीय तथ्य यह है कि इस युग में छन्द संबंधी धारणाओं और
मान्यताओं में परिवर्तन हो गया। भावों के परिवर्तन के साथ-साथ छंदों में परि-
वर्तन अनिवार्य हो जाता है। काव्य के उद्देश्य और विषय के बदलने के साथ-
साथ छंदों का बदल जाना आवश्यक इसलिये हो जाता है कि वस्तुतः छन्द विवेक
की भावाभिव्यञ्जना-संबंधी शक्ति एवं सामर्थ्य की निश्चित सीमा होती है।
एक छन्द या कुछेक छन्द सभी प्रकार के भावों, अनुभूतियों एवं भाव-चित्रों की

१. वन्द की एक कविता ("ज्योति विहंगम", ऐ. चान्तिप्रिय दिव्यी, से उद्धृत)

अभिव्यक्ति नहीं कर सकते। बलात् यदि हम ऐसा करना भी चाहें तो अभिव्यक्ति के सौंदर्य और प्रभाव में हानि हो जायगी। उदाहरणार्थ:-

नृत्य करो, नृत्य करो

चिञ्चिर-समीर

मत्त - अधीर

प्रलय कर नृत्य करो

मृत्यु से न व्यर्थ डरो

जीर्ण-शीर्ण विश्व-पर्य

हे विघीर्ण, हे विकर्ण

काल-भीत, रक्त-पीत

अभयकर नृत्य करो

प्रगति-विप्र चरण धरो।^१

इस पद्य की छोटी-छोटी पंक्तियाँ मानों नृत्य के 'परन' हैं, छोटे-छोटे छन्द मानों लघु-लघु ताल हैं, और 'ज' की ध्वनि की पुनरावृत्ति मानों नूपुर की रणन है। कुछ छोटे एवं कुछ बड़े पदों को नृत्य की गति एवं चक्कर हैं। विभिन्न वर्ण और छन्द भाव-मंगिमा - जैसे लगते हैं। निश्चित है कि यह व्यंजना कविता या सवैये से नहीं हो सकती। इन छंदों की गति एवं उसका प्रवाह नृत्य की गति एवं प्रवाह जैसा नहीं। भावों का निर्धार-प्रवाह दोहों और चौपाइयों में कैसे अभिव्यंजित हो सकता है! नई भाव-उत्प्रेक्षायाँ नये छंद की माँग करने लगीं। कवि के सम्मुख एक नया काम आ गया।

नये युग ने छंद की परिभाषा ही बदल दी। पहले यह माना जाता था कि 'जिस पद्य-रचना में मात्रा या वर्ण, यति-गति के नियमों का अनुसरण होता है और अन्त में अन्त्यानुप्रास होता है वह छन्द है।'^२ नये युग के क्रांति-

१. पन्त की एक कविता ('ज्योति-विहग' छे. शान्तिप्रिय द्विवेदी, से उद्धृत)

२. जगन्नाथ प्रसाद 'भृगु' : ६२ पृष्ठ ३१

कारी विचारक महावीर प्रसाद द्विवेदी जी का विश्वास है कि छन्द कविता के लिये आवश्यक तत्त्व नहीं हैं, विना छंद के कविता हो सकती है।^१ यह नया दृष्टिकोण था। इसने छंदों की परंपरागत, रुढ़िवादी मान्यताओं की कारा को तोड़ने का साहस दिया, प्रेरणा दी। यह इसलिये आवश्यक था क्योंकि इसने कवि और कविता को पराधीन बनाकर उसकी आत्मा के सौन्दर्य को नाष्ट कर दिया था। कारा तोड़ने का अर्थ स्थान-परित्याग ही नहीं हुआ करता। कारा-गृह के ही स्थान पर प्रेक्षागृह बनाया जा सकता है। इसलिये आगे चलकर द्विवेदी जी ने ^{कहा कि} कविता में छंद रहें तो अच्छा है क्योंकि 'छंद की लय-भाव के उपयुक्त एक वायुमंडल बना देती है।'^२ कारा से मुक्ति और लय की पकड़ ही नये युग में छंद ज्ञान्ति की विचार भूमि बनी। द्विवेदी युग के सभी कवियों ने परम्परा से प्राप्त छंदों में अपनी कविताएं लिखीं। इतना अवश्य है कि उनमें से किसी ने दोहा - चौपाई-कविता-सैया की चहार दीवारी में अपने को बंद नहीं कर लिया। पुनरुत्थान का युग था जो प्राचीन सम्पत्ति का विरोधी नहीं, उसकी गुलामी का विरोधी था। इसीलिये इस युग में मैथिलीचरण गुप्त, 'हरिऔध', गोपालचरण सिंह, 'शंकर' आदि ^{ने} पिंगल का ध्यान बराबर रखा। आज्ञाधी की भावना आई तो छंदों के वास्तविक महत्व पर विचार किया गया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है, 'छन्द के बन्धन के परित्याग में हमें तो अनुभूत नाद-सौंदर्य की प्रेक्षणीयता का प्रत्यक्ष हास विसाह पड़ता है। हां, नये छन्दों के विकास को हम अच्छा समझते हैं।'^३ शुक्ल जी भावानुसार छंदों के चयन और प्रयोग को अच्छा मानते हैं। इसी प्रकार लक्ष्मी नारायण 'सुधांशु' ने लिखा है, 'लय और छंद के सारे तारतम्य पर विचार कर यदि उनका प्रयोग किया जाय तो उससे काव्य की आयु और वृद्धि कित बढती है।'^४

१. महावीर प्रसाद द्विवेदी: "रत्ना रंजन"

२. वही. वही,

३. रामचन्द्र शुक्ल, "काव्य में रहस्यवाद"

४. लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' 'जीवनके तत्त्व और काव्यके सिद्धांत'

इसके पश्चात् छंद के विषय में क्रांतिकारी रूप से चिन्तन करने वाले और निष्कर्षों के अनुसार क्रांतिकारी प्रयोग करने वाले कवियों का युग आता है। ये क्रांतिप्रवृत्ति हैं, "प्रसाद", "पन्त" और "निराला"। "प्रसाद" ने कविता का छन्द से आवश्यक संबंध स्वीकार किया है। जिस "लय" को कविता के लिये अत्यन्त आवश्यक माना गया है उसी को ध्यान में रखते हुए जैसे "प्रसाद" की देवसेना कहती है, पत्ति-के-नहिलने-में-एक-लव-है..विश्व के प्रत्येक कम्प में एक ताल है प्रत्येक परमाणु के मिलन में एक लव है, प्रत्येक हरी पत्ती के हिलने में एक लव है.....।" तात्पर्य यह है कि विश्व-व्यापक राग के साथ व्यक्ति का राग अनुलन ही छन्द है। हजारों प्रसाद द्विवेदी ने कहा है, "अर्थ-मयी भाषा और संगीत के मिलने से छन्द की सृष्टि होती है।" अब यह मान जाने लगा कि प्राण, कान और कण्ठ के संस्कार छन्द के लिये आवश्यक हैं। अन्तर के संगीत को ये नवीन कवि अपने मानस में किसी लय विशेष में गुनगुनाते हैं। अंतर के संगीत और लय का तादात्म्य ही छन्द की निर्माण भूमि है। दोनों की अनुरूपता ही छन्द की जननी बन जाती है। परम्परा का अनुगमन करने वालों का डंग यह था कि पहले पिंगल सोलो। फिर भाव के अनुरूप छंद सौजो। तत्पश्चात् गणों या मात्राओं का नियम जानकर उनके अनुसार रचना करो। छन्द तैयार है। पन्त ने सौचा कि अनुभूति की लय देखी जाय। यदि भाव की मांग हो तो एक पंक्ति बड़ी कर दी जाय, दूसरी छोटी। एक-दो मात्रा या एक-दो छंद कम या अधिक कर देने से यदि भाव-मंगिमा अभिव्यंजित हो सकती हो तो कर दी जाय। छन्दशास्त्र इस विषय में क्या कहता है, इसे सोचने की कोई आवश्यकता नहीं। कारण यह है कि छन्द उसी का नाम है जो भावबहन कर सके। यदि भावों को प्रेक्षणीय बनाना है तो उसके अनुरूप छंद की संयोजना हम तभी कर सकेंगे जब हमें यह ज्ञात हो कि किस तरह के उच्चारण कैसे कफ से क्या प्रभाव पड़ता

१. प्रसाद : 'स्कन्दपुत्र', पृ. ४९।

२. हजारों प्रसाद द्विवेदी : 'साहित्य का मर्म'।

है। प्रत्येक अक्षर वर्ण, तथा शब्द का अपना अपना विशेष भाव-चित्र या ध्वनि चित्र होता है। यह अनुभूति को ठीक-ठीक अथवा प्रबुद्ध करने में सहायक होता है। इसलिये जहाँ इस बात को ध्यान में रखकर वर्ण-योजना या शब्द-योजना की जायगी वहाँ छन्द आप से आप बन जायगा - रचना चाहे गद्य में हो, चाहे पद्य में। तात्पर्य यह है कि अनुभूति को बांधने के लिये छन्द की सृष्टि होती है। छंदों के सौपान पर ही चरण रखकर अनुभूति अवतरित होती है 'कविता, मूर्ति, चित्र, नृत्य, गान - सभी सर्जन के मूल आनन्द के छन्द को अपने-अपने छंदों में पकड़ना चाहते हैं।'^१ यही कारण है कि छन्द को पद्य मात्र में उसकी विभुता को नष्ट कर देना है। उसके क्षेत्र को संकुचित कर देना है। वैसे, छन्द का कविता से बड़ा ही घनिष्ठ संबंध है, 'कविता तथा छंद के बीच बड़ा घनिष्ठ संबंध है, कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छन्द हृत्कंपन, कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होता है छन्द भी अपने नियंत्रण से राग को स्पन्दन, कम्पन तथा वेग प्रदान कर निर्जीव शब्दों के रोडों में एक कोमल सबल कछरव भर उन्हें सजीव बना देते हैं..... हमारे सधारण वार्तालाप में भाषा-संगीत को जो यथेष्ट क्षेत्र नहीं प्राप्त होता उसी की पूर्ति के लिये काठय में छन्दों का प्रादुर्भाव है।' कुछ छंदों के क्षेत्र के महानतम क्रान्तिकारी 'निराला' ने भी कृत्यों को अपनाया है, 'मैंने पढ़ने और गाने - दोनों के मुक्तरूप निर्मित किये हैं। पहला वर्ण वृत्त में है और दूसरा मात्रा 'वृत्त' में।' 'निराला' कृत्यों या छन्दों के अनु नहीं। हां, इनको छंदों की गुलामी से चिढ़ है और जब वे कहते हैं, 'मनुष्यों की मुक्ति कर्मों के बन्धन से छुटकारा पाना है और कविता की मुक्ति छन्दों के शासन से अलग हो जाना'^४ तब उनके सामने छन्द का व्यापक, सूक्ष्म या वास्तविक रूप नहीं छन्दों की ऋतुयुगीन वास्तवता का ही रूप या क्योंकि वे मुक्तछन्द की 'विषम

१. नन्दलाल बसु: सम्मेलन पत्रिका का कला अंक

२. पन्त: 'पल्लव' का 'प्रवेश'

३. निराला: 'प्रबन्ध प्रतिमा'

४. वही: 'परिचय'

गीत गति में भी एक ही साम्य का अपार सौन्दर्य पाते हैं। वैसे इन सभी कवियों को छन्दशास्त्र का पूरा ज्ञान था। पन्त ने लिखा है कि पीयूष वर्षण रुपमाला, सस्ती, प्लवंगम और हरिगीतिका में कल्ल रस की अभिव्यंजना सकल-तापूर्वक हो सकती है। वे उत्साह और वेग के लिये रीला और अरिस्त, क्रांति के लिये रुपमाला, माधुर्य और नृत्य के लिये राधिका तथा बाल-भाव और वात्सल्य के लिये चौपाई को उपयुक्त मानते हैं।^१ शास्त्रीय दृष्टि इससे थोड़ी-सी भिन्न है। जगन्नाथ प्रसाद 'मानु' मालिनी, द्रुतविलंबित, मन्दाक्रान्ता, पुष्पिताग्रा को कल्ल के उपयुक्त मानते हैं।^२ कुछ भी हो किन्तु इससे यह तो स्पष्ट ही है कि आधुनिक कवि भाव और छन्द की प्रकृति पर बड़ी गंभीरता-पूर्वक विचार कर चुके हैं। पन्त लिखते हैं, 'राधिका छन्द में जान पड़ता है, जैसे इसकी झीडा-प्रियता अपने ही परवाँ में गत बजा रही हो। जैसे परियों की टोली परस्पर हाथ पकड़, चंचल नूपुर नृत्य करती हुई, लहरों की तरह अंग-मंन्मिन मंगियाँ में उठती - झुकती, कोमल कंठस्वरों में गा रही हो। इस छंद में जितनी ही अधिक लघु मात्राएं रहेंगी इसके चरणों में उतनी ही मधुरता तथा नृत्य रहेगा'।^३ इस कथन से स्पष्ट है कि कवि ने छन्दों की सूक्ष्म से भी सूक्ष्म प्रकृति पर कितना गंभीर चिन्तन, मनन और विचार किया है। नियम और परंपरा पर इतना अधिकार कर लेने के बाव ही यह सामर्थ्य मिल पाता है कि कोई उनकी रूढ़ता से मुक्त होकर अपने लिये नया विधान निश्चित कर सके। 'लीक छोड़, तीनै चले सायर सिंह सपूत' के झोठे शक्ति और सामर्थ्य की यही भावना है। यही कारण है कि 'निराला और पन्त ने छन्दों के क्षेत्र में इतनी स्वच्छन्दता ग्रहण की और फिर भी उनके प्रयोग प्रिय हुए। पन्त की इसी साधना के परि-णामस्वरूप -

मुल नये छन्द के बन्ध, प्रास के रजत पाश
अब गीत मुक्त, जी' युगवाणी बहती अयास^४

१. 'पल्लव' 'प्रवेश'

२. 'छन्द प्रमाकर'

३. 'पल्लव' : 'प्रवेश'

४. पन्त : 'युगवाणी'

निष्कर्ष यह निकला कि छन्दों का विरोध इसलिये किया गया कि (अ) उनके कारण रचना में अनावश्यक कृत्रिमता आ जाती थी (आ) कठ्य को तोड़ना-मरोड़ना पड़ता था, (इ) नया युग मुक्ति की मांग कर रहा था, (ई) कविता का लक्ष्य बदल गया था, (उ) वर्ण या मात्रा की जगह एकमात्र लय की ओर ध्यान जाने लगा था, और (ऊ) रचना-प्रक्रिया में सरलता की मांग थी। फिर भी, छन्दों को जिस रूप में स्वीकार किया गया वह इसलिये स्वीकार किया गया कि (अ) छन्द-संबंधी धारणाएं और मान्यताएं बदल गई थीं, (आ) छन्द की नवीन व्याख्या प्रस्तुत हो गई थी, (इ) स्वाधीनता के साथ प्रयुक्त छन्दअभिव्यक्ति में एक असाधारण सौन्दर्य भर देते थे, (ई) इस सौन्दर्य में नाद और गति का समावेश होता था, (उ) पद-प्रियता मानव की सहजतम प्रकृति है, और (ऊ) छन्द के रूप में संक्षिप्ततम अभिव्यक्ति हो सकती है जो कला का प्राण है।

आधुनिक युग में छंद-संबंधी तीन विशेष प्रयोग हुए हैं। पहला, पिंगल शास्त्र द्वारा अनुमोदित छंदों में नवीन भावनाओं की अभिव्यक्ति। रामचन्द्र शुक्ल ने कविता में "प्रकृति-चित्रण" प्रस्तुत किया। गोपाल चरण सिंह, मैथिली चरण गुप्त, 'धंकर', 'पूर्ण', रुपनारायण पांडेय, जगदम्बा प्रसाद 'हितैषी', अनूपसर्मा तथा 'हरिऔध' आदि के नाम इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। "दिनकर" ने कविता में युद्ध की समस्याओं की अभिव्यंजना की। सड़ी बोली की प्रकृति वर्ण वृत्तों के अनुकूल नहीं है। यही कारण है कि "हरिऔध" के "प्रियप्रवास" के संस्कृत वृत्त अधिक न चल सके। ये प्रयोग भी सकल हुए और पुराने छंद नये-जैसे लगने लगे।

प्रयोग का दूसरा रूप यह था कि मात्रिक छन्दों के अन्दर कीर्ति विभिन्न चरणों में विभिन्न मात्राएं रहीं गईं और चरणों की संख्या भी आवश्यकतानुसार बढ़ाया बढा दी गई। भावों की अभिव्यक्ति को ध्यान में रखकर

पंक्तियाँ छोटी-बड़ी और मात्राएं कम या अधिक की जाने लगीं। लय का ध्यान विशेष रूप से रखा जाने लगा। चरणों की संख्या अनिश्चित हो गई। भावों की लय या विचारों की इकाई को ध्यान में रखकर यति-गति की कल्पना की जाने लगी। अनुकान्त का प्रयोग स्वच्छन्दता के साथ होने लगा। पन्त की रचनाएं प्रयोग की इस दूसरी अवस्था की विभिन्न प्रवृत्तियों की सकल उदाहरण हैं।

तीसरा प्रयोग मुक्त छन्द का हुआ। "निराला" इस क्षेत्र के लिये ब्रह्मा विष्णु और शंकर की तरह रहे। उन्होंने लिखा, "नियम कोई नहीं। केवल प्रवाह कवित्त छन्द की-सा जान पड़ता है..... मुक्त छन्द का समर्थक उसका प्रवाह ही है"।¹ पन्त ने लिखा "..... यह छन्द भी कल्पना तथा भावना के उत्थान पतन, आवर्तन-विवर्तन के अनुरूप संकुचित - प्रसारित होता, सरल-तरल, ह्रस्व-दीर्घ, ब्रति बबलता रहता है।"² कवित्त छन्द की लय और मुक्त छन्द का पारस्परिक-संबंध स्पष्ट करते हुए फुल्लाल शुक्ल ने लिखा है कि मुक्त छन्द की लय प्रायः कवित्त की होती है और भाव की आवश्यकतानुसार किसी-किसी चरण में वर्णों की संख्या कम या अधिक कर दी जाती है। कहीं कहीं घनावरी पर शुद्ध रूप से आधारित मुक्त छन्द है। इनमें से कोई अन्त्यानुप्रासयुक्त है और कोई अन्त्यानुप्रास मुक्त। कुछ मुक्तछन्द घनावरी के आधार पर लिखे तो गये हैं परन्तु उनके अक्षर मात्रिक रूप धारण कर लेते हैं। इस संबंध में व्यापक विवेचन फुल्लाल शुक्ल की पुस्तक 'आधुनिक हिंदी काव्य में छन्द योजना' के पृष्ठ ४०३ से पृष्ठ ४७० के बीच देखा जा सकता है।

निष्कर्ष उपस्थित करते हुए उपर्युक्त विद्वान ने लिखा, "हिंदी साहित्य के लिये यह गर्व और गौरव का विषय है कि आधुनिक छन्द प्रयोग अत्यंत सम्पन्न एवं विविधतापूर्ण है। इस युग में ही आकर हिंदी ने अपने को सवमुच्च वैयक्तिक सा-

१. "निराला" : "परिमल"

२. पन्त : "पल्लव" "प्रवेच"

हित्य की उत्तराधिकारिणी सिद्ध किया है क्योंकि वैदिक युग के बाद और वर्तमान युग के पहले कभी भी उन्दी का इतना विविध प्रयोग नहीं हुआ..... आधुनिक हिंदी युग के समान किसी भी पूर्व युग में या प्रांतीय भाषाओं में इतना विविध और विस्तृत मात्रिक प्रयोग नहीं हुआ है।"

अस्त्र, रस, उन्दी, वृत्ति, अलंकार और भाषा के क्षेत्र में होने वाले क्रान्तिकारी प्रयोगों के परिणामस्वरूप बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की हिंदी काव्य कला ने अपने को युगानुरूप परिवर्तित कर लिया और साहित्य के ~~अनेक~~ अनेक अंगों को प्रभावित किया। इस काव्य कला से कलित सड़ी बोली हिंदी में ^{ने} गद्य के क्षेत्र में गद्यकाव्य की विधा को समृद्ध किया। रायकृष्ण दास ('साधना' आदि), वियोगी हरि ('अन्तर्नाद', 'भावना', आदि), चतुरसेन झास्त्री ('अन्तस्तल'), मासुन लाल चतुर्वेदी ('साहित्यदेवता'), रामकुमार वर्मा ('हिमहास') विनेश नन्दिनी ('खनन') आदि इस क्षेत्र के समर्थ कलाकार हैं। इस प्रकार का आलंकारिक गद्य चण्डी प्रसाद 'हृदयेश', और 'प्रसाद' की रचनाओं में बहुत मिलता है। 'स्कन्दगुप्त' नाटक का मातृगुप्त प्रायः कविता में गद्य बोलता है। उन्दी की लयात्मकता और मधुरगति से संपन्न गद्य भी हिन्दी में मिलता है। उपन्यासों और कहानियों में रसपूर्ण प्रकृति-चित्रण एवं रूप-चित्रण मिलता है। प्रेमचन्द के उपन्यास 'गोदान' तक में होली के वातावरण का चित्रण रसमय हो गया है। उपमा, रूपक, आदि अलंकारों से अलंकृत गद्य भी इस युग में लिखा गया है। महादेवी वर्मा के रत्नाचित्र और रघुवीर सिंह की 'वैष्णवप्रतिमा' ऐसे गद्य के उदाहरण हैं। आवश्यकतानुसार हिन्दी गद्य ने ओज, माधुर्य और प्रसाद गुणों को अपने को संयुक्त करके भीयुक्त बना लिया है। स्व. गोबिंद चंकर विद्याधी का राजा प्रताप पर लिखा गया निबंध ओजपूर्ण गद्य का सुन्दर उदाहरण है। व्यंग्य साहित्य में काकु व्यङ्गोक्ति, अन्योक्ति, ध्वनि और व्यङ्गना स्मि के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। ऐसे उदाहरण स्वतंत्र निबंधों में भी मिलते हैं (माधव मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, चन्द्र-

धर शर्मा गुलेरी आदि के निबंध जिनके उदाहरण के रूप में 'कछुआ धर्म' नामक लेख को उपस्थित किया जा सकता है) और नाटक, एकांकी तथा कथा साहित्य-के बीच-बीच में भी। रामचंद्र शुक्ल ने 'श्रेष्ठ स्मृतियाँ' की प्रामिका में उक्त प्रसन्न पुस्तक के गद्य की सरल, ऊब-व्यक्तियों की और प्रचुर संकेत किया है। 'प्रसाद' के गद्य में भी यह गुण है:-

‘नंद - ब्राह्मण! तुम बोलता नहीं जानते हो, तो चुप रहना सीखो।

बापकय - महाराज, उसे सीखने के लिये मैं तबखिला गया था और मगध का सिर ऊँचा करके उसी गुरुकुल में मैंने अध्यापन का कार्य भी किया है।.....’^१

इस प्रकार काठ्यकला संबंधी द्रान्तिकारी धारणाओं और उनके सरल प्रयोगों ने न केवल काठ्य-साहित्य को ही समृद्ध किया है अपितु समस्त हिन्दी साहित्य को सौन्दर्य, लालित्य, कम्पीयता एवं कलात्मकता प्रदान की है।

संगीत-कला

संक्षिप्त इतिहास

महत्त्व की दृष्टि से ललित कलाओं में काठ्य के बाद संगीतकला के पश्चात् संगीत-कला ही सबसे अधिक अमूर्त या सूक्ष्म रूप वाली है और इसलिये अपने अस्तित्व के लिये मूर्तरूप एवं भौतिक वस्तुओं पर अन्य कलाओं की अपेक्षा कम आधारित है जिसके कारण इसमें स्थायित्व और व्यापकता औरों की अपेक्षा अधिक है। भारतवर्ष में संगीत की परम्परा बहुत ही पुरानी और अत्यन्त गौरव मयी रही है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इसके आदि की सौज एक ऐसी समस्या जिसका हलकर सन्ना समझ नहीं प्रतीत होता। ‘ऐसा माना जाता है कि संगीत कला के आविष्कारक वंकर महादेव हैं.....’^२ इन्होंने वंकर जी को राग-रानि-नित्तियों का भी पिता माना जाता है। वीणा-वादन के अतिथीय आश्चर्य

१. ‘प्रसाद’, ‘चन्द्रगुप्त’ नाटक, पृ. ७४।

२. ‘इंडियन इन्हेरिटेन्स’, भाग २, पृ. ३

महामुनि नारद ने मुख्य जाति को संगीत की शिक्षा दी। आचार्य भरत ने संगीत कला पहले-पहल अप्सारों को सिखाई थी। प्राचीन भारत की गंधर्व जाति का प्रत्येक व्यक्ति संगीत कला में निपुण होता था। किन्नर जाति के लोग वादन-कला में और अप्सार^१ नृत्य-कला में निष्णात होती थीं। इस प्रकार भारतीय - संगीत कला का इतिहास प्राक् वैदिक युग से प्रारंभ होता है। सामवेद का आधार ही रित संगीत है। उपनिषदों और पुराणों तथा रामायण और महाभारत के अध्ययन से भी उनके कालों की संगीत-प्रियता पर प्रकाश पड़ता है। संगीतप्रिय भारत ने अपने आराध्य देवों को भी संगीत का अनुरागी एवं संगीतज्ञ बना रक्खा है। हमारे शंकर भगवान के हाथ में यदि त्रिशूल है तो दूसरे में डमरू भी है। शंकर का ताण्डव सृष्टि का प्रथम नृत्य है। लास्य का संबंध जगन्माता पार्वती से है। भगवती सरस्वती का तो पर्यायवाची^२ वीणावादिनी है। हमारे भगवान कृष्ण के हाथ की शोभा मुरली ही तो है। उनकी मुरली से यदि सृष्टि का कण-कण द्रवित-रणित हो उठता था तो उनके अन्दर नृत्य की इतनी कुशलता भी थी कि वे कालिय नाग के कण पर नृत्य करके उसे अपने वश में कर लें। इन्द्र के दरबार में संगीत-नृत्य आदि का वातावरण स्वको अतुरंजित - मोहित करता रहता था। आचार्य भरत ने अपने 'नाट्यशास्त्र' के २८ वें और ३० वें अध्यायों में संगीत की समुचित चर्चा की है। राजाओं में उदयन का वीणावादन विलक्षण रूप से पशु-पक्षी - मानव एवं देवी-देवताओं तक को मुग्ध कर लेने का सामर्थ्य रखता था। दिग्विजयी सम्राट समुद्रगुप्त पराक्रमांक वीणा - वादन में इतने कुशल थे कि वे उसके बल से अपराधी को विमोहित करके उससे सत्य भाषण करवा सकते थे।^३ बारहवीं शताब्दी तक हमारे यहां विभिन्न राग-रागिनियां प्रचलित हो चुकी थीं। उस युग के सुप्रसिद्ध साहित्यकार जयदेव का 'गीतगोविन्द' साहित्य-संगीत का आश्चर्यजनक समन्वय उपस्थित करता है। इसमें लिखे गये पदों को निर्दिष्ट राग-रागिनियों में गाने का विधान स्वयं गीतकार ने ही किया है। तेरहवीं शताब्दी में जार्जदेव एवं उनकी पुस्तक 'संगीत रत्नाकर' का नाम आकर का विषय रहा है। चौदहवीं

१. रामकुमार वर्मा की समुद्रगुप्त पराक्रमांक संबंधी एकांकी नाटक के आधार पर।

अताबदी में उत्तर और दक्षिण भारत में संगीत कुशल कलाकार अपनी प्रतिभा से स्वको चकित करते रहे। अमीर खुसरौ का नाम संगीत कला से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। दक्षिण का गोपाल नायक भी अपनी कला में असाधारण था। भक्त जनों के हाथों का भूषण है "करताल"। कबीर, सुर, तुलसी, मीरा तथा अष्ट-छाप के कवियों के पद संगीत का सहारा पाकर ही मनोवांछित प्रभाव डालने में समर्थ हो सकते हैं। भक्त का संगीत असाधारण होता है क्योंकि भक्ति स्वयं एक राग है। "स्व. विष्णु दिगम्बर पल्लकर का कथन है कि मैंने अनेक मायाओं के रागों की परीक्षा की पर मुझे रागों की सब आवश्यकताओं के अनुकूल केवल सुर-दास के ही पद मिले।" ¹ तुलसीदास की रचनाओं की संगीत क्षमता का अनुमान इस घटना से मलीमांति किया जा सकता है, "मैंने उनका पाठ एक बार सुना। प्रसंग था उत्तर कांड का आरंभ। वैसे तो उन्होंने इसी प्रसंग का पहिला दोहा "रहा एक दिन अवधि कर अति आरत पुर लोग, जहं तहं सोचहिं नारि-नर कृस तनु राम धियोग" व्याख्यान के समय भिन्न-भिन्न रागों पर आधारित छंदों तक गाया था।" ² मानसिंह तोमर ने भयानक संघर्षों से भरे युग में भी अपनी गुजरी रानी मुग-नयनी की सहायता से संगीत कला को विशेष समृद्ध किया। गुजरी टोड़ी, मंगल गुजरी आदि राग इसी युग में अविच्छिन्न हुए। वर्तमान ध्रुपद शैली के जन्मदाता ये ही मानसिंह थे। घुन्दावन के प्रख्यात भक्त संगीताचार्य स्वामी हरिदास, बैजू बाचरा और अकबरी दरबार के अमर गायक तानसेन इसी युग की विभूतियां हैं। जहाँगीर के काल में पंडित सोमनाथ कृत "राग विबोध" और दामोदर मिश्र द्वारा लिखी गई "संगीत दर्पण" नामक पुस्तकें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसके बाद संगीत-कला से मौलिकता प्रायः निकल गई। आहजहाँ का युग ^{कलाओं की मौलिकता का युग} नहीं था और औरंगजेब तो इन्हें इतने गहरे गडवा देने का इच्छुक था कि फिर उमर और उबर ही न सके। तत्पश्चात् शौर्य के अभाव और वासनाप्रधान उत्तेजनाओं की पूर्ति का युग आया। दरबारों में "रंगीले" आर्तों को रिझाने

१. 'कलासाहित्यशास्त्र', पृ. १५४॥

२. यही पृ. १५५।

के लिये सारंगियाँ, सितार, तबले, आदि सूब ज़मके, कोकिल-कंठ सूब आलापे[॥] और नूपुरों की ध्वनियाँ ने सूब बजान किया किन्तु उनमें मौलिकता एवं नवीनता का कोई आकर्षण नहीं रह गया। संगीत ने दरबारी ठाठ स्वीकार कर लिया; वाद्य आभयदाताओं के मानस विलास की गत पर बजे, नृत्यजन और अधिकार के घरन में चक्कर साने लगा। गति अधोमुखी हो गई। आकर्षण बाने में नहीं, गाने वाली में समाकर उभरा। संगीत एक पेछा हो गया, संगीतज्ञ अपने अपना घुत-व्यक्तित्व छोड़कर पैसों के भाँलिक^{का} हर तरह से मनोरंजन करने का पेछा करने लगीं। बावरे भक्तों का युग गया। अब सम-झदार भक्त-जन मूर्तियों के सामने नाचने, गाने और बजाने के साथ-साथ मूर्तियों के पीछे भी नाचने और बजाने लगे। दरबार यहाँ भी था, मगर भगवान के नाम पर उनकी मूर्तियों का था। यहाँ भक्तराज (भक्त और राज) की सम्मिलित परम्परा चली। सामान्य जन-समूह सरल लय का सहारा लेकर भजन, प्रार्थना और लोकगीतों के जीवन-रस में मस्त हो गया। संत जोगी धिकोरा या एकतारा डुनडुनाने लगे। गंगापुत्रियों के करतालों की धुनि गृहस्थों के द्वार पर 'हरगंगा' लहराने लगी। जोगी बाबा एकतार रेत-रेत भरवारी की गाथा गाने लगे। संगीत भीख माँगने का सहायक तत्व हो गया। शास्त्रीय संगीत 'घरानों' में बंध गया। वैश्वाजी ने शास्त्रीयता का सामान्य ज्ञान 'उस्तादों' से सीखना बिल्कुल बन्द नहीं किया। तभी तभी यूरोपीय संस्कृति की आँधी आ गई जिसकी प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप^{भावा} भर में सांस्कृतिक पुनरुद्धार की भावना फैली। इस पुनरुद्धार के एक अंग के रूप में संगीत के भी पुनरुद्धार का प्रयत्न हुआ। रवीन्द्र नाथ टैगोर ने अपने गीतों के लिये एक नये ढंग का संगीत आविष्कृत किया जिसमें लय की ही प्रधानता है। इसे 'रवीन्द्र संगीत' कहते हैं। १९१९ ई. में 'अखिल भारतीय संगीत परिषद्' की स्थापना हुई। बंगाल और महाराष्ट्र संगीत के पुनरुद्धार के विशेष क्षेत्र रहे। देश भर में अनेक संगीत विद्यालय खुले। इस पुनरुद्धार कार्य में विष्णु नारायण मातसंडे का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त विष्णु दिगम्बर पटुष्कर

नारायण राव ठ्यास, विनायक नारायण पटवर्धन, औंकारनाथ ठाकुर, अलाउद्दीन खां, उस्ताद फैयाज खां, बडे गुलाम अली आदि ने मिलकर संगीत के सभी अंगों के पुनरुद्धार का प्रयत्न किया है और शास्त्रीय संगीत को लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न किया है। इसके परिणामस्वरूप सम्प्रान्त घरों के लठके लठकियों के लिये 'म्युजिक मास्टर' रसे जाने लगे। नये युग में फिल्मसंगीत ने जनता की संगीत प्रियता या सीता संगीत की अभिरुचि को एक विशिष्ट विद्या प्रदान की है। इसके पहले मजन, गजल, दादरा, लावनी, ठुमरी या ऐसे ही ढंग के लोक-गीत जनता में प्रचलित थे। ^{टाकीज} ~~हमकान~~ के प्रचलन के साथ-साथ संगीत भी सिनेमाघरों में सुनाई पड़ने लगा और कुछ ही दिनों के अन्दर सबके दिल दिमाग पर छा गया। भरत, ठ्यास, नरेन्द्र उमा, दीपक आदि अनेक ऊँचे कवि रजत मुद्राओं के आकर्षण में सिंकर रजत पट पर जा विराजे। 'इधर देश को संस्कृत कर स्वर आदि बांधने के जो प्रयत्न हुए हैं / फिल्मी गाने उन्हीं के एक रूप हैं। उस गाने में स्वर से अधिक उच्च अर्थ का महत्व है। अर्थ-ब्राह्म होने के कारण ही वह विशेष लोकप्रिय हुआ।' यह इतना लोकप्रिय हुआ कि सिनेमा-गीतों की धुनों पर मगान के मजन और कीर्तन के पद भी रच डाले गये और दो-दो तीन-तीन साल के बच्चों से लेकर प्रौढ तम, बँड वालों से लेकर ग्रामोफोन रिकार्ड और रेडियो तक, नोटंकी वालों से लेकर संगीत-सम्मेलनों के कलाकारों तक, मेहतरों और भंगियाँ से लेकर रिसर्व क्वाटर और प्रोफेसर तक, बाबा से लेकर नाती तक, दादी से लेकर नातिन तक और चौचालियाँ या बायकम से लेकर कार्यालयों तक ये परिठ्याप्त हैं। भाषा और लय की सरलता का इस लोकप्रियता में बहुत बड़ा हाथ है। आर्केस्ट्राओं में भारतीय और यूरोपीय वाद्य-यन्त्रों का सम्मिलित स्वर रहता है। 'बाज' और 'राक पैड रोल' तक का अनुकरण किया जाता है। इस संगीत की आत्मा न भारतीय है, न पश्चात्य। पश्चिमी तर्ज, लोकप्रिय भाव, लोकधुनि आदि इन गीतों के आधार हैं। यहाँ स्वर के आरोह-अवरोह की अपेक्षा उच्च और अर्थ तथा लय की प्रधानता है। आज के युग में भारतीय और पश्चात्य संगीत तिल-त-बुल की तरह ही मिल

पा रहे हैं। नीर-बीर जैसा समन्वय, जैसा कि अकबर के समय में भारतीय और फारसी संगीत पद्धतियों का हुआ था, अभी नहीं हो पाया।

भारतीय संगीत की विशेषताएं और विभिन्न तत्व

हमारा आधुनिक संगीत रीतिकाल की परम्परा में है। रीति कालीन संगीत वैदिक संगीत पद्धति से कुछ भिन्न है। फिर भी, भारतीय संगीत की कुछ ऐसी विशेषताएं हैं जो विकास की इन सभी स्थितियों में बराबर पाई जाती रही हैं। भारत में संगीत का प्राण स्वर या नाद माना गया है, शब्द नहीं। शब्द के लिये माया विशेष की आवश्यकता पड़ती है, स्वर इस बंधन से मुक्त है और इसीलिये सार्वभौम है। यही कारण है कि भारतीय संगीत की अपील सार्वकालिक और सार्वभौम मानी गई है। भारतीय संगीतकार इसीलिये रागों को स्वरों से बांधता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि संगीत कला का न आदि है, न अन्त। भारतीय मनीषा ने नाद का महत्व इतना अधिक कल्पित किया है कि नाद के आधीन सारे जगत् को माना है (नादाधीनं मतं जगत्)। सुन्दरतम नाद-विधान ही संगीत है। नाद वर्णों का अव्यक्त मूल रूप है। आत्मा से प्रेरित अग्नि के द्वारा प्रेरित प्राण ऊपर चढ़कर नाभि में अति सूक्ष्म, हृदय में सूक्ष्म, गल वेश में पुष्ट, जीर्ण में अपुष्ट, तथा मुख में कृत्रिम नाद उत्पन्न करता है। नाद तीन प्रकार के हैं: प्राणि-मव, अप्राणि-मव, उभयमव। इनके उदाहरण क्रमशः मुख की ध्वनि, वीणा की ध्वनि और बांसुरी की ध्वनि है। नाद से ही स्वर, गीत, राग आदि संभव हुए हैं। नाद ब्रह्मरूप है; सारा जगत् नादात्मक है। नाद दो प्रकार का होता है: आहत और अनाहत। हम लोग आहत नाद ही सुन पाते हैं। अनाहतनाद केवल योगियों के लिये है। नाद से ही संभव लय भारतीय संगीतकार का मूलधार है। देशी संगीत या लोक गीत को छोड़कर देश समस्त भारतीय संगीत मार्गशास्त्रीय है। मार्ग नाद के विज्ञान को कहते हैं। इस विज्ञान के अनुस्वार स्वर और उच्चारण की विभुता पर विशेष बल दिया जाता है।

स्वरों के विशेष प्रकार, क्रम तथा निश्चित योजना से बना हुआ गीत का ढाँचा ही राग है। भरत के अनुसार मूल राग ६ हैं :- भैरव, कौशिक, हिंदोल, मेघ, दीपक, सुराग। कुछ आचार्य कौशिक के स्थान पर भी और सुराग के स्थान पर मालकोज को मानते हैं। प्रत्येक राग की पाँच-पाँच स्वन या ठः-ठः रागिनियाँ मानी गई हैं। इन राग रागिनियों के अनेक पुत्र और उसी हिसाब से पुत्र-वधुएँ मानी गई हैं। दिन और रात आठ भागों में बंटे हुए हैं। प्रत्येक भाग में गाने के उपयुक्त राग-रागिनियाँ नियत कर दी गई हैं। भारत में संगीत के सात-अंग माने गये हैं - राग, स्वर, ताल, वाद्य, नृत्य, भाव और अर्थ। स्वर सात माने गये हैं :- मङ्ग, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद। प्रत्येक स्वर की ध्वनि किसी पशु या पक्षी की ध्वनि के समान कल्पित की गई है और इस प्रकार ये स्वर क्रमशः मयूर, पपीहा, बकरा, सारस, कौकिल, अश्व और गज के स्वरों के समान माने गये हैं। भारतीय संगीत स्वर-भेदी पर विशेष बल देता है। यह भाव या विचार की अभिव्यक्ति मात्र से अनुप्राणित नहीं होता। संगीतज्ञ तो भाव-चित्र या भावदशा या मनोस्थिति विशेष अभिव्यंजित करता है। उदाहरण के लिये यदि 'कन्हैया' का उच्चारण आर्तता लाकर काफी जोर से (पंचम या उसके भी आगे वाले स्वर के अनुसार) करें तो यह व्यंजित होगा कि 'कन्हैया' कहीं दूर है और भक्त मिलने को व्याकुल है, अनुरोधपूर्ण स्वर के साथ धीरे से करें तो यह व्यंजित होगा कि 'कन्हैया' कहीं निकट ही है। भारत के प्राचीन विचारकों ने राग, स्वर, लय, ताल सभी कुछ प्रायः निश्चित कर दिये हैं। गमक (एक स्वर से दूसरे स्वर पर जाने का प्रकार), श्रुति (सप्तक के बाइस भागों में से एक), और मूर्च्छना (सातों स्वरों के आरोह-अवरोह को क्रम) भारतीय संगीत में अत्यन्त आवश्यक है। भारतीय संगीत में सत्ता सात स्वरों का समूह ग्राम कहलाता है। नृत्य और संगीत - दोनों में उसकी क्रिया और काल का परिमाण, जिसकी सूचना किसी भी वस्तु पर हाथ मार मार कर दी जाती है, ताल है। मीड यह कला है जिसके द्वारा गायन में एक स्वर से दूसरे स्वर पर जाते समय

बीच का अंश इतनी सुन्दरता के साथ कहा जाता है कि दोनों के मध्य का संबंध टूटने नहीं पाता और यह नहीं जान पड़ता कि ~~गाने वाले~~ ^{गाने} ~~गाने~~ ^{जाली} एक स्वर से कूबकर दूसरे स्वर पर चला गया है। सम उसे कहते हैं जहां विभिन्न "परनों" में घूम फिर कर राग विभ्राम ग्रहण करता है और गायक का सिर स्पष्ट रूप से हिल ऊठता है। भिन्न भिन्न बोलों या सण्डों का अंश "परन" कहलाता है। वह जिसमें अन्त की मात्रा खाली छूट जाती है खाली कहलाता है। मरी में मात्रा सम पर ही पूरी होती है। इसी प्रकार भारतीय संगीतशास्त्र में असंख्य उत्प्रेक्षणीय बातें हैं परन्तु उन्हें लिखने के लिये यहां उपयुक्त अवसर नहीं है।

"संगीतदर्पण" में कहा गया है, "गीतं वाक्यं नर्तनं च त्रयं संगीतमुच्यते"।

"संगीत रत्नाकर" ने भी लगभग इसी शब्दावली में कहा है, "गीतं वाक्यं तथा नृत्यं ^{त्रयं} संगीतमुच्यते"। इस दृष्टि से देखने पर नृत्य कला भी इसी के अन्दर आती है। इन स्वरों का एक दूसरे से इतना अधिक घनिष्ट संबंध है कि ^{एक का} निष्णात दूसरे का मर्म बहुत अच्छी तरह जान सकता है। आवश्यकता विशेष को छोड़कर इन स्वरों का शास्त्र या मूलभूत सिद्धान्त सामान्यतः एक ही है। जैसे संगीत में "मात्राएं" होती हैं वैसे ही नृत्य में भी, दोनों ^{में} ताल विद्यमान हैं। अन्तर इतना है कि एक में उसके अनुसार कंठ सक्रिय होता है, दूसरे में हाथ और तीसरे में पैर। एक से कंठ ध्वनि निकलती है, दूसरे ^{से} वाक्य-यंत्र ध्वनि और तीसरे से नूपुर-ध्वनि। नृत्य में मुद्राओं का स्थान विशेषरूप से महत्वपूर्ण माना गया है। भारत में नृत्य धार्मिक अधिक्यक्ति के लिये अधिक मान्य हुए हैं। कमर, आंस, वक्ष या नितम्ब मटका कर उछलना कूबना नाच मले ही हो, नृत्य नहीं है। गायन की ही तरह नर्तन और ^{वादन} की भी खोजनीय पुर्वजा औरंगजेब के बाघ के युगों में ही चली थी और उन्नीसवीं या बीसवीं सताब्दियों के सांस्कृतिक पुनरुत्थान की पृष्ठभूमि में इनके भी

साहित्य और संगीत

साहित्य और संगीत का बड़ा ही निकट संबंध है। दोनों एक दूसरे से कई प्रकार ^{से} संबंधित हैं। अनुभूति से प्रेरित भावों की अभिव्यक्ति एवं संप्रेषणीयता दोनों का लक्ष्य है। साहित्य और संगीत दोनों कलाकार के अंतःकरण के प्रतिबिम्ब हैं। यदि संगीत से जंगली पशु तक प्रभावित होते देखे गये हैं तो अकबर के दरबार के कवि की वाणी राणा प्रताप में वह जोड़ भर सकती है कि उनको पुनः आत्मरूप की उपलब्धि होजाया। भारतीय युद्ध क्षेत्र में संसृष्टि, मारु-हाजों का ^{संगीत} और चारणों की कविताएं सैनिकों को बराबर उत्तेजित करती रहती थीं। नृत्य का संबंध भी भावाभिव्यक्ति से है। संगीत साहित्य को नाव-सौंदर्य देता है और साहित्य संगीत को अर्थगर्भित करके वाणी का रूप प्रदान करता है। साहित्य में नृत्य और संगीत का छंदचित्र भी मिलता है और उसका आन्तरिक रूप भी। भारतीय संगीत के पिता शंकर माने गये हैं और नवीनराग की सृष्टि ^{के लिये} वैजुबावरा कहता है, 'मगवान शंकर की दया से मैं करुंगा'। इसी पुस्तक के ४२वें प्रसंग में वैजुबावरा के ^{गायन} अनुभूत ~~संज्ञा~~ और उसके प्रभाव का छंदचित्र ^{उपस्थित} किया गया है। हजारिप्रसाद द्विवेदी ने भी गायन और वादन एवं उसके प्रभाव के सुन्दर छंदचित्र 'वापमदट की आत्मकथा' में प्रस्तुत किये हैं^२। १९६३ ई. में प्रकाशित अपने ^{अन्य} दूसरे उपन्यास 'चारुचन्द्र लेख' में नाट्य के नृत्य और गायन के जितने सुन्दर छंदचित्र मिलते हैं उतने सुन्दर अन्यत्र दुर्लभ हैं। 'पन्त' की 'युगवाणी' में 'नृत्यकरी' नृत्य करी, 'छंदा में 'नीम', और 'ब्राम्या' में 'ब्राम्युवती' तथा धौबियाँ, चमारों और कठारों की नृत्य संबंधी कविताएं सुन्दर और सजीव नृत्य-चित्र उपस्थित करती हैं। रामकुमार वर्मा द्वारा व्यंजित नृत्य चित्र वैशिष्ट्य:-

चन्द्र गिरता, सूर्य उठता, नृत्य-मुद्राएं करों की

चिनय मैंने की कि खिल्ला यो मुझे ध्वनि असरों की

सुख विहंस्तता किंकिणी में

दुःख सिसकता नूपुरों में

१. चन्द्रावनलाल वर्मा: 'युगनयनी', पृ. ३२७।

२. वापमदट की आत्मकथा, पृष्ठ १८७-१८८

दृष्टि में है सृष्टि, गति में नियति है मन्वन्तरों की^१

संगीत और नृत्य की शब्दावली से सुअलंकृत आपका दूसरा पद इस प्रकार है :-

‘कविता के तुरत तुम्हारे ‘पद’ में सजे,
‘ध्वनि’ सुन-सुनके विशास धन्य हो गई
‘रसमयी ध्वनि’ कंठ में थी ‘समलंकृता’
काठ्य-परिभाषा धन्य होके अन्य हो गई।
सांसा का ‘प्रवाह’ था, हृदय मंजु ‘ताल’ था,
प्रेम-मूर्च्छा ‘मूर्च्छना’ थी, ‘मीड’ कष्ट-काल था,
वेदना के ‘ताल’-‘स्वर’ गुंजते अमंग ये
वन के त्रिमंग रूप, नाचा नंदलाल था।^२

काठ्यशास्त्र और संगीत शास्त्र की पारिभाषिक शब्दावलियाँ ने उपर्युक्त छन्दों को मोहक लालित्य प्रदान कर रखा है। ‘क्यौधरा’ का निम्नलिखित पद्य संगीत-शास्त्र की शास्त्रीय पदावली का अर्थ जाने बिना ठीक से नहीं समझा जा सकता और न उसके चमत्कार का अनुभव किया जा सकता है -

‘मैंने उसके अर्थ यह रूपक रचा विशाल

किन्तु भरी खाली गई, उलट गया वह ताल

‘क्यौधरा’ का निम्नलिखित गीत भी ऐसा ही है -

रुदन का हंसा ही तो गान

गा गाकर रोती है मेरी इतान्त्री की तान

मीड मसक है, कसक हमारी, और गमक है हूक

चातक की हुत-हृदय-हुति जो लो कोइल की हूक

राग हैं सब मूर्च्छित आह्वान

जो ‘विहाग’ का अर्थ और उसके गाये जाने का समय नहीं जानता वह निम्न-लिखित पद्य का अर्थ और उसका सौंदर्य कैसे समझ सकेगा -

१. ‘आकाश चंगा’, पृ. १८

२. वही, पृ. ६०।

तू अब भी सोई है आली आंसों में भरे विहाग री!

नाट्य-गीत तथा संगीत

काव्य-साहित्य पर संगीत का महत्वपूर्ण प्रभाव "नाट्यगीतों" की रचना के रूप में पड़ा है। बुद्धिवादी बनने वाले कुछ नाटक-कारों को छोड़ कर शेष सभी - एकांकी नाटककार तक अपने नाटकों में गीतों का समावेश करते हैं। सामान्य गीत काव्य कला इनमें भी मिलती है। इनमें संगीतात्मकता होती है। कलाकार के मानस में जो सुन्दर छवि, जो मंगिमा अंकित है, वही इन गीतों में भी चित्रित या ध्वनित की जाती है। कवि के अन्तर का राग ही यहां भी कर्म मूर्तरूप पाता है। उसकी व्यक्तित्वगत अनुभूतियां ही यहां भी अभिव्यक्त होती हैं और रस-सिक्त करने में समर्थ होती हैं। महादेवी वर्मा ने कहा है, "संगीत के पंखों पर चलने वाले हृदयवाद की छाया में गीत विविध रूपी हो उठे।" स्वानुभूत सुख-दुःखों के भाव-गीत, लौकिक मिलन-विरह, आशा-निराशा पर आश्रित जीवन गीत, सौन्दर्य को स्वीकृति देने वाले चित्रगीत, स्वकी उपस्थिति स्थिति इन गीतों में होती है^१। संगीत की लय, नाद, स्वर आदि यहां मिलते हैं। "प्रसाद" के नाटकों के गीत इसके सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं। "प्रसाद" के "चन्द्रगुप्त" नाटक के गीतों की संगीत-स्वरलिपि संगीताचार्य लक्ष्मणदास ने उपस्थित करके उनकी संगीतोपयुक्तता सिद्ध कर दी है। "तुम कनक किरण के अन्तराल में एक छिप कर चलते हो क्यों" वाले गीत की स्वरलिपि सम्मत् तीन ताल में है। आधुनिक युग के कवियों के लोक गीत संगीताचार्यों द्वारा आकाश वाणी से प्रसारित किये जाते हैं। इनमें महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा, "प्रसाद", "बच्चन", आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। संगीत मार्तण्ड आँकरनाथ ठाकुर ने ५ जुलाई, १९५४ ई. को १०॥ बजे महादेवी वर्मा के सुप्रसिद्ध गीत "मे नीर परी घुस की बदली" का एक पद प्रधान-गीत के एक टुकड़े के रूप में १०-१५

१. "प्रसाद": "बीती विभावरी जागरी" का एक चरण

२. "महादेवी का विवेचनात्मक गद्य" पृ. १६३।

मिनटों तक मंगल गूजरी मैं विलंबित परम्परन-मै-हैं- ख्याल मैं गाया था। इस प्रकार आधुनिक हिन्दी के अनेक गीत संगीत की दृष्टि से सुर-तुलसी की ही पद-परम्परा में हैं। युग के अनुकूल हो जाने वाला अन्तर अवश्य है।

छन्द-चयन और संगीत

छन्द-चयन-और संगीत का भी संबंध बहुत ही घनिष्ट है। बात यह है कि छन्दों में भी मात्रा की गणना होती है और संगीत में भी। संगीत की लय, मात्रा और ताल का विधान छन्दों में भी पाया जाता है। मात्रिक छन्दों में मात्राओं की गणना होती है और वर्णिक छंदों में लघु-गुरु की गणना। ये दोनों ही छन्दों को वह शक्ति या सामर्थ्य देते हैं जिससे उन्हें संगीतात्मक लय-प्रवाह प्राप्त हो जाता है। मुक्त छन्द में भी संगीत की लय होती है। पन्त ने लिखा है कि जो स्थान 'ताल' में सम का है वही छन्द में तुक का।^१ इस दृष्टि से छन्द और अधिकसंगीतात्मक हो जाते हैं। वस्तुतः छन्दात्मक निर्बंधना का आधार संगीतशास्त्र है। हिंदी का मात्रिक छन्द इस प्रकार है कि वह संगीत के विभिन्न तालों और रागों में बैठ जाता है। पुत्रलाल शुक्ल ने लिखा है, "यहां पर यह स्पष्ट करना अभीष्ट है कि छन्द की लय और संगीत की ताल का सीधा संबंध है..... छन्द शास्त्र और ताल का गणित भाग एक-सा ही है।"^२ अपने इस निष्कर्ष की पुष्टि के लिये उन्होंने राधिका छन्द का भैरव ताल से, चौपाई छन्द का गजधंपा ताल से संबंध ताललिपि देकर स्पष्ट किया है।^३ "फल-फूलों से हैं लदी डालियां मेरी"^४। राधिका छंद में है और "हम माछत के मधुर झकोर"^५ चौपाई में। तात्पर्य यह है कि पहला भैरव ताल में गाया जा सकता है और दूसरा गजधंपा में। इसी प्रकार पुत्रलाल शुक्ल ने "आंसुओं के देश में"^६ 'सृष्टि के आरंभ में मैंने उषा के गाल चूमे'^७ आदि अनेक आधुनिक कवियों के गीतों की संगीत की स्वरलिपि प्रदान की है।

१. 'पल्लव' का 'प्रवेश'

२. आधुनिक हिंदीकाव्य में छंद-योजना

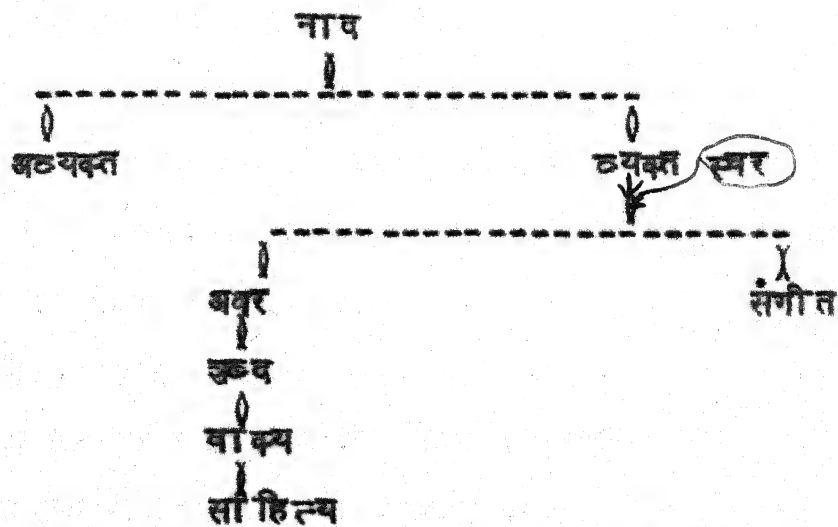
३. आधुनिक हिंदीकाव्य में छंद-योजना, पृ. ५००। ४. मैथिलीशरण गुप्त 'साकेत'

५. पन्त: 'पल्लविनी', ६. महादेवी वर्मा, 'दीपशिखा', ७. 'बचन': 'सो...

संगीत की आत्मा या आंतरिक संगीत

संगीत को जिस तत्त्व का साहित्य के ऊपर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है उसे पूर्णतः हृदयंगम करने के पूर्व इसी स्थान पर हमें संगीत की आत्मा की कुछ और गहराई में जाना पड़ेगा। सृष्टि के पूर्व की प्रकृति की साम्य^Tस्थिति जब पुरुष की इच्छा के कारण कुंभ होती है तब उसमें एक गति उत्पन्न होती है। सृष्टि के मूलमें यह गति बराबर रहती है। सर्जना के क्षणों में इसकी अनुभूति की जा सकती है। प्रकृति के अणु-अणु और परमाणु परमाणु में यह गति, यह स्पन्दन, यह लय अब भी वर्तमान है। यही शक्ति देती है। यही जीवन देती है। यही चेतना देती है। यह इन सबका आदि प्रीत है। यही अचेतन का स्फोट है। यही नाद है। यह आहत भी है, और अनाहत भी। यही नाद या स्वर या लय - जो बाह्य प्रकृति के अणु परमाणु में निहित है - व्यक्त के अन्तर में भी है। यह नाद अपने मूल स्वरूप में सर्जना का प्रीत होने के कारण अनिर्वचनीय आनन्द रूप है। अपनी सीमाओं एवं अव्यक्तताओं के कारण हम उसके असंख्य आनन्द से भले ही वंचित रहते हैं - उसे विस्मृत किये रहते हैं - किन्तु तन्मयी अवस्था में - अचेतन में - सूक्ष्म या अव्यक्त रूप में उसका स्वाद मौजूद तो रहता ही है। यह व्यक्त के अन्तर की लय, बाह्य प्रकृति की लय से मौलिक रूप में या तात्त्विक रूप में भिन्न नहीं। लय के मूलरूप की अनुभूति कराने में दोनों एक दूसरे की सहायक हैं। समस्त कलाएं इसी लय की इसी गति की, बाह्य और अन्तर की इसी एक रूपता की अनुभूति कराने के लिये हैं। संगीत और काव्य के विभिन्न बाह्य उपकरण व्यक्त, नाद, व्यक्त लय, व्यक्त स्वर की अव्यक्त से संगति बिठाने के लिये हैं। समस्त बाह्य विधान इसी लय की अनुरूपता साधने के लिये हैं क्योंकि वस्तुतः व्यक्त नाद, व्यक्त स्वर, व्यक्त ध्वनि उसी अव्यक्त की बाहरी शक्ति मात्र हैं। तात्पर्य यह है कि अनुभूतियों के अन्तर की लय के अनुरूप अनुभूति उत्पन्न कर सकने की - रूप निर्मित कर सकने की - लय की संतुलनपूर्ण विस्तार संबंधी, स्वरों की आरोह-अवरोह-संबंधी कला का नाम ही संगीत है। अनुभूति या आंतरिक लय के अनुरूप

अनुभूति उत्पन्न करने की शब्द अर्थ-संबंधीयकला काव्यकला है। काव्य-कला के विभिन्न उपकरण इसी उपदेश्य की सिद्धि के लिये हैं। साहित्य का माध्यम है अक्षर या वर्ण। अक्षरों की एक अपनी-अपनी ध्वनि होती है। शब्दों का एक अपना अपना भावचित्र होता है। इन्हीं अक्षरों से निर्मित शब्दों से साहित्य की रचना होती है। अक्षरों के अन्तर में स्वर निहित है। और इन्हीं स्वरों से संगीत बनता है। काव्य शब्दों और अर्थों का सहारा लेकर चलता है। संगीत स्वर की मुलापेक्षी तो है, किन्तु शब्द और अर्थ की उसे कोई चिन्ता नहीं होती।



अब यदि अक्षरों की ध्वनि-योजना संगीत के स्वरों की ध्वनि-योजना के अनुरूप हो जाय तब यह माना जायगा कि इन अक्षरों से निर्मित शब्दों वाली पदावली संगीतमयी है। अस्तु, आंतरिक संगीत है व्यक्त स्वर-ध्वनि की अन्त-ध्वनि से अनुरूपता। संगीत के शेषतत्त्व बाहरी तत्त्व हुए। काव्य में संगीत की यही आत्मा मिलती है। काव्य में जब संगीतात्मकता आती है तो उसमें अक्षरों की ऐसी योजना होती है कि उनसे उत्पन्न ध्वनि-समष्टि वही अनुभूति पैदा करे जो संगीत की स्वर-योजना से उत्पन्न हो सकती है।

इस प्रकार काव्य के अन्वर ध्वनि और नाद के प्रयोग में संगीत की आत्मा मिलती है। काव्यशास्त्र की पदावली में इसे 'युक्ति' कहते हैं। इसके

ध्यान रसने से आज, माधुर्य अथवा प्रसाद गुण व्यंजक रीति की सृष्टि होती है। गीतकाव्य में यह विशेष रूप से द्रष्टव्य है। "निराला" के "बादल राग", "राम की उक्ति पूजा", "सन्ध्यासुन्दरी", "तुम और मैं", आदि कविताओं में इसका बराबर ध्यान रखा गया है जिसने उनके काव्य में संगीत का सूक्ष्म तत्त्व भर दिया है :-

‘धूम-धूम मुण्डु गरज-गरज घन घोर !
 राग -अमर ! अम्बर में भर निज रौर !
 आ आ आ मेरी जीत मे
 घर मरु तरु-मर्मर, सागर में
 सरित तडित गति चकित पवन में ।’

इसी प्रकार "निराला" के "ससि वसन्त आया" गीत में वसन्त संगीत के रूप के कारण ध्वनित होता है। पन्त की अत-रुद्र कविताओं में अनुभूतियां वर्णों की ध्वनि - अनुरूपता से ही ध्वनित होती हैं -

‘अहे! वासुकि सहस्र फन!
 लव अलङ्कित चरण तुम्हारे चिंहन निरन्तर
 ठोड रहे हैं जग के विषत वदस्थल पर
 अत अत केनोच्छ्वसित स्पीत फूटकार भयंकर
 घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अम्बर !’

‘प्रसाद’ ने तो संगीत के इस सूक्ष्म स्वरूप की अनुभूति ही कर ली है। उनकी संगीत प्रिय देवसेना^२मानों उसी अनुभूति की साक्षात् प्रतिमूर्ति है :-

‘रुद्र का झुंजीनाद, भैरवी का ताण्डव नृत्य, और छत्तरी का वादय मिलकर भैरव संगीत की सृष्टि होती है। ध्वंसमयी महामाया प्रकृति का वह निरंतर 'संगीत है'^३..... 'स्वात्मा के स्वर में, आत्मसमर्पण के प्रतीक ताल में, अपने विशिष्ट व्यक्तित्व का विस्मृत हो जाना एक मनोहर संगीत है'^४...।

१. 'निराला': 'परिमल'।

२. 'स्कन्दपुराण' नाटक की एक पा।

३. वही. पृ. ४२

४. वही. पृ. ५६

‘प्रसाद’ जी के गीतों और कविताओं की ध्वनि समष्टि अनुभूतियों की अनुरूपता लिये हुए होती है। सभी सफल कवियों में और साहित्य की सभी विधाओं में आंतरिक संगीत विद्यमान है।

वस्तुस्थिति के चित्रण में भी इस तत्त्व का बराबर ध्यान रखा गया है। वस्तु-चित्रण में भाव, मनोव्यथाएं, बाह्यपरिस्थितियां, बाह्यदृश्य एवं मौलिक वस्तुएं आदि सभी आती हैं। ‘प्रसाद’ ने शरीर और उसके गुण का एक ध्वनि चित्र यों दिया है:-

अथवा की दुठ मांस पेखियां ऊर्जस्वित या वीर्य अपार
स्कीत शिराएं स्वस्थरक्त का होता या जिनमें संचार^१
सबल व्यक्ति की बांहें कहीं कहीं पत्थर-सी कड़ी होती हैं। उनमें कहीं कहीं कौमलता भी होती है। ‘अ’, ‘ब’, ‘य’, ‘व’, ‘मां’ की ध्वनियां कौमलता और ‘ड’, ‘ढ’ आदि कठोरता की अभिव्यक्ति करती हैं। ‘स्कीत’ शब्द में पाई जाने वाली ध्वनि फूली-फूली, उमरी-उमरी नसों को व्यंजित करती हैं। इसके विपरीत, ‘मुस्कान’^२ की ध्वनि कौमल-मधुर-मर्मस्पर्शिणी छवि कौमल-मधुर वर्णों द्वारा इस प्रकार व्यंजित की गई है :-

और उस मुस पर वह मुस्कान!
रक्त-किसलय पर है किनाम
अक्ष की एक किरण अम्लान
अधिक अलसाई हो अभिराम।^२

सुंदरी, सती-साध्वी, तेज-प्रवीण किन्तु अस्हाय पत्नी का स्पर्श पाकर एक कायर, क्लीब, विलासी राजा किस प्रकार ध्वडालक उठता है :-

‘ओह! तुम्हारा यह पातक स्पर्श बहुत ही उत्तेजनापूर्ण है! मैं, -
नहीं! तुम, मेरी रानी? नहीं, नहीं! जाओ, तुमको जाना पड़ेगा! तुम उप-
हार की वस्तु हो। आज मैं तुम्हें किसी दूसरे को देना चाहता हूं। इसमें तुम्हें क्या

१. ‘प्रसाद’, ‘कामाक्षी’

२. ‘शुवस्वामिनी’, पृ. २६।

अपत्ति हो ?

उपर्युक्त उद्धरण में विलासी राजा की कामुकता, कायर की कायरता नपुंसक की नपुंसकता एवं निर्वीर्यता, राजपद का दम्भ, और दुर्बल हृदय तथा कम-जोर इच्छा शक्ति वाले की युक्तियुक्तता की प्रवचना आदि सभी व्यंजित हैं। ध्यान रहे कि निर्वीर्य राजा के द्वारा कहे गये इतने उद्धरणों में तेज-ओज व्यंजक ध्वनि वाला एक उद्धरण भी नहीं है। युद्ध के अनुरूप पदावली का संगीत देखिए :-

हर एक लिंग, हर एक लिंग, बौला हरहर अम्बर अनंत
हिल गया अचल, मर गया तुरत हरहर निनाद से दिग्विजंत
धनधोर घटा के बीच चमक, तड-तड, नम पर तडिता तडकी
सन सन असि की सनकार इधर कायर दल की छाती धडकी
गज गिरा, मरा फिलवान गिरा, हय कट कर गिरा, निखान गिरा
कोई लडता उत्तान गिरा, कोई लडकर बलवान गिरा

वात्सल्य भाव से तरल-गद्गद नारी की मनोस्थिति व्यक्त करते समय उद्धवाचली कितनी मंथल हो उठती है कि उसमें न कोई कर्णकटु^{वर्ण}, न कठोरवर्ण, न सैन्ध, न समास, न आलंकारिकता, और फिर भी एक मनोरम संगीत।

“स्त्री की कई स्थितियां हैं। वह बेटी है, बहन है, स्त्री है। परंतु जो प्रेम उसमें मां बनकर उत्पन्न होता है उसकी उपमा इस नरेश्वर संसार में न मिलेगी। मुझे माता-पिता से प्रेम था, पति पर ब्रह्मा। उनको देखने के लिये मैं कभी-कभी अधीर हो उठती थी। परन्तु उस अधीरता की इस नई अधीरता के साथ कोई तुलना न थी, जो अपने बच्चे का मुस चूमते समय, उसकी जांखों पर हाथ फेरते समय, उसे हृदय से लगाते समय, मेरे नारी-हृदय में उत्पन्न हो जाती थी”।

१. “ध्रुवस्वामिनी”, पृ. २६

२. “श्यामनारायण पांडेय: ‘हस्तीघाटी’

३. सुवर्जन : “अंधेरी पुनियां” कहानी।

मानसिक अव्यवस्था के अनुभाव के चित्रण में प्रयुक्त वर्ण-संगीत का रूप कुछ इस प्रकार का ही होता है :-

‘सीटी फिर बजी।

‘ सत्य के हाथ-पैर कांपने लगे, टांगें लडखडा-सी गईं, उसे जान पड़ा मानों अभी संसार अंधेरा हो जायगा, पृथ्वी त्यागनाच्युत हो जायगी उसने सहारे के लिये हाथ आगे बढ़ाया। हाथ कुछ धाम नहीं सका। मुदूठी भर उड़ती हुई हवा को अंगुलियों में से फिसल जाने देकर सली ही रह गया, तब सत्य ने समझ लिया कि वह गिरेगा, गिर कर ही रहेगा। उसने आंखें बन्द कर लीं।’

अस्तु, हिन्दी साहित्य में सर्वत्र हम भाषा के आन्तरिक संगीत या वाच्य की ध्वनि-संगीत का चमत्कार पाते हैं। संगीत का अर्थ कठ और वाच्य संगीत या राग-रागिनियों तक ही सीमित रसना संगीत के स्थूल रूप तक ही रह जाता है। इस दृष्टि से न आधुनिक गीत ही लिखे गये हैं और न गद्य में उर्ध्व की किसी प्रकार संभावना कल्पित ही की जा सकती है किन्तु यदि संगीत की आत्मा लय है और उसका व्यक्त रूप ध्वनि की सुन्दर योजना में प्रतिबिम्बित है तो वह आधुनिक साहित्य में चारों ओर गूंज रहा है।

चित्र-कला

संक्षिप्त इतिहास: आदि युग

सभी कलाओं की मौलिक और शानदार परम्पराओं की भांति चित्र-कला की भी एक मौलिक और बड़ी शानदार परम्परा भारत में रही है क्योंकि जब चेतना ही कलामयी है तब उससे उपभूत सभी क्रियाएं और उससे प्रभावित जीवन के सभी पक्ष कलापूर्ण होते हैं। कला के जन्म के विषय में अस्ति कुमार हाकदार का कहना है, ‘कला का जन्म कब हुआ, उत्तर मैं कह सकते कि इतिहास काल के पूर्व गुफा-निवासी आदि मानव ने अपने एकान्त कन्दराओं प्रथमवार जब रेखा सीधी उसी समय कलाका जन्म हुआ। प्राचीन अथवा प्रस्तर युग के मानव की ही चित्र-

१. ‘अतीत’ । ‘पुलिस की सीटी’ कहानी

कारी क्रमशः प्रतिलेख, संकेत, प्रतीक आदि के रूप में विकसित हुई और धीरे-धीरे उसने चित्रलिपि का रूप ग्रहण कर लिया।¹ उनके इस कथन की पुष्टि में भारत में प्राप्त प्रागैतिहासिक युग के कन्दरा चित्रों से हो जाती है। यह तथ्य की बात है किन्तु माव-जगत के सत्य की बात यह है कि भारतीय कल्पना कला का आदि गुरु और पिता सृष्टिकर्ता ब्रह्मा को या स्वर्गलोक के असाधारण शिल्पी विश्वकर्मा को मानती है। वाणासुर के युग तक आते-आते यह कला इतनी परिपक्व, प्रौढ़ और उच्चकोटि की हो गई थी कि जब उसकी पुत्री उषा ने स्वप्न में देसे हुए तब तक के अपरिचित किन्तु स्वप्न का ल से ही अपने हृदय के प्रियतम का वर्णन अपनी सखी चित्रलेखा को सुनाया तब चित्रलेखा ने उस राजकुमार का, जिसे तब तक उसने भी कभी नहीं देखा या सुना था) ऐसा चित्र सौंच दिया कि राजकुमारी को अपने स्वप्नलोक के प्रियतम के वर्णन हो गये। भारत में आदि गुरु युग या प्रागैतिहासिक युग की चित्रकला के नमूने निम्नलिखित स्थानों में पाये जाते हैं :-

सिंहपुर (राजगढ़ रियासत)

होशंगाबाद के पास

लिखुनिया, कोहमूर तथा बलदरिया गांव (मिर्जापुर)

विजयगढ़ की गुफाएं

हडप्पा- मोहिन जोधड़ी

घटशिला तथा विन्ध्यपर्वत श्रेणी के भिन्न-भिन्न भाग

} मनुष्य, पशु अस्त्र
तथा शिकार के
चित्र।

ये चित्र रामरज, गेरु या हिराँजी आदि से बनाये जाते थे। मोहिनजोधड़ी के एक चित्र के विषय में असितकुमार हालदार का कथन है, "वह आकार जो बारह-सिंघे की पंक्ति अथवा अन्य भिन्न प्रकार के पुष्पों की ओर संकेत करते हैं यह दर्शाते हैं कि उस दूरवर्ती युग में भी ऐसे चतुर कलाकार विद्यमान थे जिन्हें लय, ताल तथा तुल्यता-संगति का यथार्थ ज्ञान था। यह आकार देखने में ऐसे सुश्लिष्ट

1. असितकुमार हालदार : "ललित कला की धारा", पृ. ११।

हैं कि वे आधुनिक समय के कला-शालीक की कठोर से कठोर परीक्षा में उत्तीर्ण हो सकते हैं।^१

बौद्ध युग :

इसके पश्चात् बौद्ध-चित्रकला का युग आता है। बौद्ध भिक्षुओं के साथ यह भारतीय चित्रकला जापान, चीन, लंका तिब्बत गांधार आदि देशों तक पहुंच गई थी। बौद्धचित्रकला वस्तुतः भित्ति चित्रकला है। ये चित्र गुफाओं में बनाये गये थे। ये गुफाएं बौद्ध धर्मों के वर्णा-निवास, उपासना, उपदेश समा आदि के लिये सुवर्वाह जाती थीं। इनमें से निम्नलिखित बहुत प्रसिद्ध हैं :-

<u>नाम</u>	<u>निकटवर्ती प्रदेश</u>	<u>निर्माण काल</u>
अजन्ता	हैदराबाद (दक्षिण)	ई. पू. प्रथम शताब्दी से ९ वीं शताब्दी तक निर्मित
बाग	ग्वालियर	९ वीं शताब्दी
सिंगरिया	लंका	४७९.- ४९७ ई.
{ पौलानसा, दंभौले		
कन्हेरी	कोल्हापुर	१ से ११ वीं शताब्दी
सित्तनवासल	पट्टकोटा	७ वीं शताब्दी
बावामी	बम्बई	६ वीं शताब्दी

सित्तनवासल के चित्र जैनकला से संबंधित हैं।^{शेख का संबंध} गौतमबुद्ध से है। इन चित्रों का संबंध राजदरबार, धर्म, सांसारिकता, स्त्री, पुरुष, चर, अवर, गंधर्व और अप्सरा आदि से है। इनमें से अजन्ता के चित्रों ने विदेशों में भारत का मस्तक उभार दिया है। संक्षेप में कहें तो उनकी विशेषताएं हैं संयोजन अर्थात् समुचित महत्व, काव्यमय पुरुष, रेखांकन, संतुलन, रसचित्र और विभिन्न मुद्राएं। इन चित्रों की रेखाएं बूट

प्रवाहमयी, शक्ति और सौंदर्य से पूर्ण हैं। उनमें लचक है, कोमलता है और भाव गम्यता है। इनमें अलंकारपूर्ण डिजाइनों की भरमार है। इन चित्रों के अन्दर सौन्दर्य-भावना पूर्णतः विकसित है। इन चित्रों के रूप में कलाकारों ने पृथ्वी पर स्वर्ग उतार दिया है। इन चित्रों में गोलार्द्ध, घनत्व, उभार आदि सब कुछ है। सुन्दर से असुन्दर तक और कोमल से भयंकर तक प्रायः सभी कुछ यहाँ हैं। इनमें मुद्राओं से विनय, याचना, आशा, निराशा, भय आदि की अभिव्यंजना हुई है। यह भारतीय चित्रकला का स्वर्णयुग था।

मध्ययुग और मुगल-राजपूत कला

इसके पश्चात् मध्ययुग (७०० - १६०० ई.) आता है। इन युगों में पलौरा की मुद्राओं के, बौद्ध और जैनधर्मों की पुस्तकों के और कौचीन के भित्ति चित्र आते हैं। यहाँ की कला अजन्ता की कला से हीन है। रसापं सजीवता, चित्त गति और सामर्थ्य से रहित हैं। चित्रों में जड़ता है। मुद्राएँ गति हीन और भावयून्य हैं। उनमें रुढ़िबद्धता है। ये सुंगार की दृष्टि से अच्छे हैं।

इसके पश्चात् मुगलकला और राजपूतकला का युग आता है। मुगल-काल प्रधानतः मुस्लिम कला है। अकबर के युग में यह जनमी और औरंगजेब के युग में इसका पतन हो गया। यह कला दरबारी थी। इस्लाम में अन्यकलाओं के साथ साथ चित्रकला भी निषेध है किन्तु यह धर्मादेश पर मानवीय प्रकृति की स्वाभाविक माँग की विजय है कि इस्लामी देशों में भी कला का उदय हुआ और वह वहाँ पर्याप्त रूप से विकसित भी हुई और कलाओं का कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं जिसमें मुसलमान कलाकारों का भी पर्याप्त योगदान न हुआ हो। मुगल कला भारतीय और ईरानी चित्रकला के सुन्दरतम मिलाव का परिणाम थी। फारस के शीराजी और बिहजाव के शिष्य मीर सैयद अली ने "मीर हमजा" का जो चित्रां-

कन किया वह मुगल-कला की प्रथम महत्वपूर्ण कृति है। "आईने अकबरी" में सम्राट अकबर की चित्रशाला का उल्लेख है। उसके दरबार में हिन्दू और मुसलमान कलाकारों की कुल संख्या ४० थी। इस कला में धार्मिक आध्यात्मिक एवं अनुभूति-प्रधान चित्रों का अभाव था। डिजाइन और पैटर्न की प्रधानता के आगे मूलचित्र प्रायः उपेक्षित रह जाते थे। दरबार आसेट, युद्ध, ऐतिहासिक घटनाएं, वृक्ष, फूल, पशु, पक्षी, वस्तियाँ आदि की प्रधानता थी। इस शैली में व्यक्ति के स्वाभाविक चित्रण असाधारण कुशलता के साथ हुए थे। चित्रण में गति का अभाव है। मानव-चित्र प्रायः अनुपात की दृष्टि बहुत अधिक छोटे होते थे। एक आंसवाली आकृतियाँ अधिक बन गई जाती थीं। छाया-प्रकाश के भी सिद्धान्तों का पालन होता था। वाटर कलर (जल-चित्रों) का भी प्रचलन था।

राजपूत कला तीन भागों में विभाजित की गई है :-

- (१) राजस्थानी - जयपुर, बूंदी, मारवाड़, बुंदेलखंड और काठियावाड़
- (२) पहाड़ी - जम्मू, काश्मीर, कांगड़ा, गढ़वाल
- (३) सिंध - पंजाब

इन कलाओं की प्रेरणा धार्मिक होती थी। राग और क्रतु से संबंध रखने वाले चित्र विशेष महत्व के हैं। लीलाओं, पहात्माओं और महापुरुषों के भी चित्र मिलते हैं।

आधुनिक युग

इसके परचातु भारतीय चित्रकला का आधुनिक युग आता है। १८ वीं शताब्दी तक भारत की चित्रकला की भिन्न पद्धतियाँ प्रचलित रहीं। जब ह्वासी-मुल्सी मुगल साम्राज्यवादी भारत का सम्पर्क नवीन तेज, शक्ति और स्फूर्ति से सम्पन्न यूरोप से हुआ तो जैसे जीवन के प्रत्येक कोण में हुआ, वैसे कला के क्षेत्र में भी हुआ। भारत के कलाकारों ने यूरोप के तैलचित्र, का अनुकरण प्रारम्भ कर दिया। पटना और अवध में इस "दर्पचंकर शैली" के सूक्ष्म आकार वाले चित्र, जिनके विषय होते थे राजा, नवाब, उनके अरबारी और अनुचर आदि, बनाये जाने लगे। इन चित्रों में

प्रकाश और छाया का प्रयोग किया जाता था। १८६८ ई. तक एक ओर यूरोप का अध्यात्मिकता होता रहा और दूसरी ओर भारत की अपनी चित्र-परम्पराएं उपेक्षित होकर भी किसी न किसी रूप में जीवित रहनीं। इस युग के आत्मास-बलिक बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक^क - स्थिति यही रही। वह पराधीनता का कला युग था। यूरोप के कलाकार और भारत के यूरोपीय अधिकारी भारत की (साहित्य धर्म, दर्शन आदि की भांति) चित्रकला की उपेक्षा करते रहे और उस की तीखी समालोचनाएं करते रहे। "उस समय के यूरोपीय समालोचकों ने जिनकी भारतीय कला से थोड़ी भी सहानुभूति थी, उसकी उन्नति का कारण स्किन्दर के आक्रमण के पश्चात् यूनानी प्रभाव बताया। उनका विचार था कि यूनानी प्रभाव के कारण ही भारत में कलाकारों को अंतःप्रेरणा मिली और इस देश में स्किन्दर के आने से पहले भारत में किसी स्वतंत्र कला-परम्परा के अस्तित्व में उनका विश्वास नहीं था।" तत्पश्चात् सांस्कृतिक पुनरुद्धार का युग आया। आधुनिक भारतीय चित्रकला वस्तुतः सांस्कृतिक पुनर्जागरण की देन है। इन दिनों देश में द्रावणकोर (श्रीवाङ्कुर) के राजा रविवर्मा के चित्र असाधारण रूप से लौप्रियत्त्व थे। लौकिक रुचि के अनुसार पौराणिक विषय, जिनका संबंध धार्मिक चेतना से भी था, तैल-चित्रों में अंकित किये जाते थे। मुक्ताकृतियां और मूलकृतियां अच्छी होती थीं। आकृतियां पर कुछ महाराष्ट्रीय छाप होती थी। रंग-योजना बहुत आकर्षक होती थी किन्तु उनकी कला में समुचित सामंजस्य का अभाव था। उस समय कलकत्ता के जवर्नमेंट स्कूल आफ आर्ट्स में तथा ऐसे ही एकाध और विद्यालयों में विद्यार्थी कला की तथाकथित शिक्षा प्राप्त करते थे। उन्हीं दिनों कलकत्ता स्कूल आफ आर्ट्स के अध्यक्ष ई. बी. हेवेल और उनके सहयोगी जवनीन्द्र नाथ ठाकुर तथा आनंदकुमार स्वामी ने राष्ट्रीय शैली की स्थापना की। पारवात्य चित्रकला के अंकीकृतियों को यह अच्छा नहीं लगा। जनता की रुचि इधर से हटाने के लिये

१. अशित कुमार हालदार : 'भारतीय चित्रकला', पृ. २४।

२. वही, वहीपृ. २५

प्रचार भी किया गया किंतु आस्था से उद्भूत प्रयत्न शिथिल नहीं पड़े। अवनीन्द्र नाथ ठाकुर ने कलकत्ता के गवर्नमेंट स्कूल आफ आर्ट्स के कुछ छात्रों को लेकर अपना काम आगे बढ़ाया। १९०७ ई. में लार्ड क्विनर की अध्यक्षता में 'इंडियन सोसायटी आफ ओरियेंटल आर्ट्स' की स्थापना गगनेन्द्रनाथ ठाकुर ने की। इस सोसायटी ने प्रतिवर्ष प्रदर्शनियों की आयोजना कर करके विद्यालय के चित्रों को लोकप्रिय बनाया। इसी प्रकार लंदन में 'इंडिया सोसायटी' नामक संस्था स्थापित की गई। बंगाल के गवर्नर लार्ड जेटलैंड ने भी इस पुनरुद्धार कार्य में सहायता दी। विदेशों में भारतीय चित्रों की प्रदर्शनियों की गईं। भारतीय कला पर अनेक लेख लिखे गये। पटना के एक सान्त्वानी चित्रकार लाला ईश्वरी प्रसाद ने प्राचीन कला का मर्म समझाया। प्राचीन भित्ति चित्रों की प्रतिलिपियां तैयार कराके प्रदर्शित की गईं। इन प्रयत्नों के परिणामस्वरूप भारतीय चित्रकला का महत्व फिर से स्वीकार किया जाने लगा। उपर्युक्त महापुरुषों के अतिरिक्त, नन्दलाल बसु, सुरेन्द्रनाथ गांगुली, असित कुमार हालदार, बैकटप्पा, बुडरफ, परसीब्राउन, ब्लाउंट स्कॉट, ओकोनर, थार्नटन, मुलर आदि के भी नाम उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार बंगाल शैली की स्थापना हुई। बम्बई शैली में यूरोपीय और भारतीय कला के समन्वय का प्रयास है। सामयिक दृश्यों के अंकन में कनु, रामकुमार आदि प्रसिद्ध हैं। अवनीसेन और कबलकृष्ण दृश्यांकन में विशेष रूप से सकल है। सुधीर सास्तगीर में लयकमल का स्वच्छंद विवरण है। ७० वर्ष की आयु में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी तुलिका उठाई और एक नई शैली का आविष्कार किया। आज की चित्रकला पर अजन्ता, पश्चिम और कुछ राजनीतिक परिस्थितियाँ एवं नवीन चेतना का प्रभाव है।

आधुनिक चित्रकला:

आधुनिक चित्रकला में मनोस्थितियों एवं मनोभावों का चित्रण होता है, रूप या पटना का नहीं। रंगों का मौलिक प्रभाव धोकर नष्ट कर दिया जाता है। यहाँ यही दृष्ट्या शैली है। धनबाद के अनुसार प्रकृति के रूप

और अलंकरण से इन्कार किया जाता है। घनवादी चित्रकार वास्तविकता से बाहर की कुछ ऐसी चीज लाना चाहता है जो अब तक न लाई गई हो। रंगभाव उभारने के लिये होते हैं। सिद्धान्त यह है कि रंगों का मन पर प्रभाव पड़ता है। लाल रंग शक्ति और मन की तरंग का, सुर्खलाल तेजी और जोश का, पीला रंग ज्योति और ज्ञान का, हरा रंग शीतलता और स्फूर्ति का, नारंगी रंग जीवन तथा शक्ति के संचार का, और बैंगनी रंग रहस्यमयता आदि का भाव अपने प्रभाव डालकर उत्पन्न करता है। हरे नीले और बैंगनी रंग ठंडे और लाल, नारंगी तथा पीले रंग गर्म माने गये हैं। रेखाओं का भी आधुनिक चित्र कला में बड़ा महत्व है। हल्की और अस्पष्ट रेखा दूरी, गहरी और स्पष्ट रेखा निकटता, गहरी रेखा शक्ति और दृढ़ता, अधिक गहरी आत्मविश्वास, क्षीपरेखा सन्देश और दुर्बलता, पड़ी रेखाएं सांसारिकता, ऊपर की और उठती हुई सीधी और सड़ी रेखा एकाग्रता आदि भाव पैदा करती है। तात्पर्य यह है कि विभिन्न प्रकार की रेखाओं और रंगों को देखकर सामान्यतः जो प्रभाव मन पर पड़ सकता है वह उपरिलिखित है। इनको ध्यान में रखकर भी चित्र बनाये जाते हैं। नवीन चित्र कला का धर्म से संबंध विच्छेद-सा हो गया है। यहाँ सौंदर्य की परस व्यापार्यवादी भूमिका पर की जाती है। अब चित्रकला का विषय, धर्म, पुराण, इतिहास या सामाजिक वर्ग के व्यक्तियों और उनकी जीवन घटनाओं तक ही नहीं सीमित है। अब हरेक व्यक्ति या वस्तु चित्रकला का विषय है। आज चित्रकला व्यापक और उदात्त हो गई है। प्रजातंत्र के युग का प्रभाव इस प्रवृत्ति पर स्पष्ट है। आज का कलाकार पूर्ण स्वच्छंदता चाहता है। कुंज/सलाएं, माला या हार, सुन्दरता, स्पष्टता, भाव, रूप, रंग आदि सारी सामान्यताओं को वह अब बड़ी आकुलता से छोड़ता जा रहा है। यह व्यक्तिगत स्वतंत्रता के युग का प्रभाव है। यूरोप की नवीनतम प्रवृत्तियाँ (घनवाद, अति यथार्थवाद, भविष्यवाद आदि) का प्रयोग नवीनतम चित्रकला में होता है। कलाकार का दृष्टिकोण व्यक्तिवादी हो गया है। नवीनतम प्रणाली के चित्रों में चित्रित व्यक्ति या वस्तु का भाव या रूप नहीं देला जाता। देला यह जाता है कि चित्र बनाते समय कलाकार की अपनी

मनोस्थिति क्या थी। इस प्रकार आधुनिक चित्रकला में कला के माध्यम से
 विषय वस्तु का नहीं, विषयवस्तु के द्वारा कला-कार का अध्ययन किया जाता
 है। बीसवीं सताब्दी के भारत में प्राचीन साहित्य द्वारा वर्णित देवी-देवताओं
 के भी चित्र बने जो वस्तुतः प्रतीकों से भरे थे जैसे लक्ष्मी, दुर्गा, सरस्वती आदि)।
 ऐसे चित्र भी बने जिनकी प्रवृत्ति वर्णनात्मक थी अर्थात् जिसमें एक-एक वस्तु चित्रित
 कर दी जाती है। आवर्तवादी चित्रों में कल्पना की अधिकता होती है एवं
 निश्चित रूप, रंग, आकार, रेखा, भाव आदि ही पाये जाते हैं। यथार्थवादी
 चित्रों में जो वस्तु जैसी होती है वैसी ही चित्रित कर दी जाती है। मार्क्स-
 वादी विचारधारा से प्रभावित चित्रों में दीन, दुखी, दलित, पीड़ित, मानव
 का चित्रण होता है। प्रभाववादी या इम्प्रेसनिस्ट चित्र प्रकृति की विचित्रतम
 अनुकृति होते हैं। फोटोग्राफी की तरह ये चित्र एकमात्र अनुकरण हैं। इनमें प्रकाश
 और छाया का वैज्ञानिक ढंग से प्रयोग होता है। धनवादी या क्यूबिज्म वाली
 प्रवृत्ति के अनुसार अंगों को सिलिंडर या बेलन के आकार का बनाया जाता है।
 इस बात की भी प्रयत्न किया जाता है कि वस्तु विषय के आगे और पीछे का भाग
 एक साथ ^{दिखाई} मिले। दूरी और ^{गति} निकटता का भाव भी लाने का प्रयत्न किया
 जाता है। इस प्रकार कोपपद्धति के भी चित्र बने और चित्रों में त्रि-परिमाण
 सम्बन्धित आकार (श्री डाइमैन्शनल) दिखाये जाने का प्रयत्न हुआ। सुरा/रिय-
 लिज्म या अतियथार्थवाद के अनुसार आकृति अवचेतन चित्त की कल्पनाओं पर
 आधारित होती है। स्वप्नचित्रों की पृष्ठभूमि में ड्रायड की स्वप्नवाक्यांश
 हैं। ऐबस्ट्रेक्ट आर्ट या सूक्ष्मकला तो एकमात्र जटिलताओं से ही भरी है। इसमें
 कुछ भी स्पष्ट नहीं होता। डाडाइज्म ने रुढ़ियों का समी तरह से बहिष्कार
 कर दिया। काबिज्म इसके बिल्कुल उल्टे हैं। इसने एकमात्र रुढ़ि को ही आधार
 बनाया है। यह वास्तविक चित्रण को कला मानता ही नहीं। महायुद्ध-जनित
 दुर्वशा ने तो कलाकारों के अहं और उनकी कलाचेतना को विचुंल एवं लक्ष्मीन
 कर दिया है। सहन्यकित कागजमात्र है। संयम की तिलांजलि दे दी गई है।

आस्था एवं विश्वास मुमूर्षु हैं। मौलिकता और साधना के अभाव में नवीनता अनुकरण की बेसाली लेकर चल रही है। सांस्कृतिक दृष्टिकोण के अभाव के कारण लक्ष्य अस्पष्ट हो गया है। कुछ को छोड़कर कोई भी इस स्थिति से सन्तुष्ट नहीं है। 'अब हम देखते हैं कि हमारे कुछ आधुनिक कलाकार आदि विक्टोरियन युग के कलाकारों के समान अब फिर भारत की पुरातन कला को ठुकराने लगे हैं और एक नई शैली के निर्माण का यत्न प्राप्त करने के चक्कर में उन्होंने जानबूझकर वर्तमान यूरोप के सुररियलिस्ट और डाडा शैली का अनुकरण करना प्रारम्भ कर दिया है।' ¹ फिर भी चिन्ता की कोई बात नहीं। यह जल्दी ही समाप्त हो जाने वाली स्थिति है क्योंकि 'जिस देश की अपनी गौरवमय परम्पराएं हैं वह कहीं भटक जाय, यह संभव नहीं। हेरफेर का वह फिर अपने सही रास्ते पर आ जाता है। जो लोग परम्पराओं में विश्वास रखते हैं वे इन पर, विश्वास न रखने वालों के लिये, जो उस सीमा को लांघना चाहते हैं, सदा डेक का काम करते हैं।' ² उपर्युक्त प्रवृत्तियों में और हिंदी की प्रयोगवादी एवं 'नई कविता'-वादी प्रवृत्तियों में इतना साम्य है कि एक के लिये कही गई बात दूसरे के लिये लग सकती है क्योंकि दोनों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि एक ही है।

साहित्य और चित्रकला

चित्रकला और साहित्य का संबंध भी बहुत निकट का है। चित्रकला के माध्यम से साहित्य को और साहित्य के माध्यम से चित्रकला को समझने में बड़ी आसानी होती है। इन सहायताओं से वास्तविक उद्देश्य बड़ी सरलता-पूर्वक पकड़ में आ जाता है। कारण यह है कि दोनों का लक्ष्य एक ही होता है- द्रष्टा-श्रष्टा के अन्तर में ठोस रूप भावों को सर्वक, शीता या पाठक के भी मन में उठा देना। यह इसलिये होता है कि अनुभूति के योग का आस्वाद्य अभिव्यञ्जना

१. अक्षितकुमार हालदार : 'भारतीय चित्रकला', पृ. ५२-५३।

२. वही, 'ललित कला की धारा', पृ. ५९।

का उत्कृष्टतम अभिलाषी भी होता है और उसके बिना मौकता स्वयं बेचैन रहता है। अपनी अनुभूति बांट कर व्यक्त जैसे आत्मदान करके आत्मविस्तार का संतोष पाता है। अस्तु, चित्रकार चित्र सींचकर चित्र के "रूप" में अपने भाव और अनुभूति उभार कर जिस प्रकार भाव-संप्रेषण की सफल आशा से प्रसन्न हो उठता है उसी प्रकार साहित्यकार अपने द्वारा रचित साहित्य से प्रसन्न होता है। समर्थ एवं सुयोग्य दर्शक एवं भीता दोनों प्रकार की रचनाओं से एक समान प्रभावित होते हैं। इस प्रकार दोनों कलाओं का लक्ष्य, अभिप्राय, प्रेरणा-स्रोत एवं परिणाम तथा उनसे प्राप्त लगभग एक-सी होती है। इसका एक कारण यह भी है कि दोनों कलाओं के कलाकारों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि एक ही होती है और इसलिए उनकी अभिरुचि तथा मांग में कोई मौलिक अन्तर नहीं पढ़ने पाता। उनकी सौन्दर्य चेतना की कसौटी लगभग एकसी होगी। उदाहरणार्थ, "प्रसाद"-पंत-"निराला" तथा नन्दलाल - असितकुमार - सुधीर सस्तगीर दोनों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि एक है। दोनों के अन्दर नवीन युग की भारतीय चेतना है। परिणामतः दोनों की कलाकृतियों में मौलिक एकता पाई जा सकती है। अन्तर केवल यह होता है कि पहले कलाकार अक्षरों में लिखेंगे और दूसरे कलाकार रैसाओं से उभारेंगे। हृदय में दोनों के एक ही प्रकार की प्रकृति के मूलभाव उठे होंगे। इस प्रकार दोनों कलाओं की अन्तरात्मा में कोई मौलिक अन्तर नहीं प्रतीत होता। साहित्य में जिसका वर्णन होता है, चित्र में उसी की आकृति बनाई जाती है। एक सुन्दर चित्र और एक सुन्दर कविता दोनों मन पर समान प्रभाव डालती है। अन्तर केवल प्रक्रिया में है। एक सोचता है कि कौन कौन से छन्द लाये कि हम जो चाहते हैं वह अभिव्यक्त हो जाय; और दूसरा सोचता है कि किस-किस प्रकार से रैसार्य घुमाई जाय कि हम वैसी चाहते हैं वैसी आकृति सिंच जाय और उसके अभिप्रेत व्यंजित हो जाय। कविता बोलती है और कथन के द्वारा स्वरूप कल्पित या निर्मित किया जाता है; चित्र स्वरूप उपस्थित करता है और रैसाओं की गतिविधि को अध्ययन से कथन कल्पित या अनुमानित किया जाता है। कहा

भी जाता है कि ऐसी सुन्दर उद्ब योजना थी कि आंखों के सामने तस्वीर नाच उठी" या "ऐसी सुन्दर तस्वीर थी कि लगता था कि अभी कुछ कह उठेगी।" बात यह है कि रेखाओं के घुमाव-फिराव में अभिव्यक्ति की क्षमता होती है और उद्बों में रेखांकन की प्रकृति तथा उक्ति रहती है। प्रत्येक उद्ब अपनी ध्वनि विचित्रता के द्वारा एक प्रकार का अज्ञात चित्र बनाता रहता है। उद्बों की इसी प्रकृति के द्वारा उद्बचित्र ^{अथवा} रेखाचित्र सींचे जाते हैं। पन्त ने लिखा है, "कविता के लिये चित्रभाषा की आवश्यकता पड़ती है..... जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आंखों के सामने चित्रित कर सके, जो शंकार में चित्र, में शंकार हो, जिसका भाव-संगीत विषुवद्वारा की तरह रोम-रोम में प्राहित हो सके..." "प्रसाद" ने भी कहा है, "कवित्व वर्णमय चित्र है....." इस प्रकार चित्रकला और साहित्य परस्पर संबंधित हैं। साहित्यिक पुस्तकों में चित्र रहते हैं और अपनी समस्त शक्तियाँ के बावजूद भी जो पूरी तरह स्पष्ट नहीं कर पाते, अनुभूति का विषय नहीं बना पाते, वह उन चित्रों से हो जाता है। आंखों से देख लेने का जो आनन्द होता है वह पढ़ने मात्र से नहीं मिल सकता। अथवा वर्णन का स्थान कभी भी नहीं ले सकता।

आधुनिक हिन्दी साहित्य और चित्र

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक चरण में राजा रविवर्मा के चित्रों की धूम सारे भारतवर्ष में थी। १९०९ ई. में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'कविता-कलाप' नामक काव्य संग्रह प्रकाशित कराया था। इसमें स्वयं उनकी तथा 'पूर्ण', 'शंकर', 'मैथिलीचरण गुप्त आदि ४ कवियों की बड़ी-बड़ी कविताएँ थीं। ये कविताएँ राजा रविवर्मा के चित्रों की कथावस्तु पर ही आधारित थीं। 'गंगावतरण' नामक चित्र में जो 'रत्नाकर' की 'गंगावतरण' कविता पुस्तक के बीच में है, एक ओर झिझक है, दूसरी ओर नन्दी, बाघाध्वर धारण किये हुए, कमर पर दोनी हाथ रखे, दोनी पैर धरती पर डबतापूर्वक जमाए, गर्दन ऊपर उठाये,

जूटा-जूट पूरी तरह चारों ओर फैलाये, अमर्ष माव से देखते हुए संकर महादेव सहे हैं तथा ऊपर आकाश से गंगा उतर रही है। इस चित्र के अनुरूप "रत्नाकर" जी की कविता इस प्रकार है:-

सिख सुजान यह जनि तानि भौहनि मन मासे
बाढी गंग-उमंग - अंग पर उर अभिलासे ।
भये सैभरि स्नग्ध मंग के रंग रंगाये,
अति घृढ दीरघ झुंग देखि तापर चलि जाये
बाधम्बर को कलि कच्छ कटि-तट सौ नाथ्यो,
सेसनाग को नागबंध तापर कसि बांध्यो
ठ्याल - माल सौ माल-बाल -चंदहि घृढ कीन्हो,
जटा जाल को छाल-ठ्युह गहवरि करि लीन्हो
मुण्डमाल जय्योपवीत कटि-तट अटकाए
गाहि सूल, झुंगी डमरु तापर लटकाए

बर बांहनि, करि फेरि चांपि घटकाइ आंगुरिनि, वच्छस्थल डमगाइ, ग्रीव उचकाइ
चापभिनि ।

तमकि ताकि भुजवंड चंड करकत चित्त चौपे
महि घवाइ उहु पाइ कहुक अन्तर सौ रोपे
जुगल कंध बल-संघ हुमकि हुमसाइ उवाए
दोउ भुजवंड उवंड तोलि ताने तमकाए
कर जमाइ करिहाइ नैन नम और लगाए, गंगमन-की-बनट-
गंगागम की बाट लगे जोहन हर ठाप ।¹

उपर्युक्त कविता निश्चित रूप से उक्त चित्र का सजीव चित्र उपस्थित करती है। माव-वर्णना के साथ अनुभावों का चित्रमूल चित्र की कमी को भी पूरा करने में समर्थ है। उनकी सुप्रसिद्ध पुस्तक "उद्भवतक" में भी तीन-चार चित्र हैं। यद्यपि ये चित्र बहुत उच्चकोटि के और कलात्मक तो नहीं हैं, फिर भी संबंधित कवित्तों का

भाव इनसे कुछ-कुछ नेत्रों के सम्मुख मूर्तरूप में आ ही जाता है। मुसपुष्ठ का चित्र काफी अच्छा है और निम्नलिखित भाव को मूर्तरूप प्रदान करता है :-

धारत धरा पै ना उदार अति आवर सौं, सारत बंहोलिनि जो आंसु
अधिकाई है।

एक कर राजे नवनीत जसुदा को दियो, एककर बंसी बर राधिका पठाई है^१
इसके विपरीत रामकुमार वर्मा की "आकाश गंगा" के १२ चित्र अपेक्षाकृत अधिक कलात्मक और उच्चकोटि के हैं। उनमें भावाभिष्यंजना का विपुल सामर्थ्य है। इस का कारण यह है कि द्वि-चित्रकार जगदीश गुप्त ने कवि रामकुमार वर्मा के भावों का मर्मस्पर्श करके इन चित्रों का निर्माण किया है।

कलाकारों की कल्पना देश, काल और अभिव्यक्ति के माध्यमों की सीमाओं को पार कर जाती है और यही कारण है कि दो विभिन्न युगों और देशों के कलाकारों में भी भाव-साम्य की प्रतीति होने लगती है। पक्ष-पाती समालोचना एक को दूसरे के अनुकरणस्वरूप सिद्ध करने लगती है। यह बात वास्तविकता के विपरीत है। अस्तु, रोझों की प्रतिमाओं और "निराला" जी के कुछ गीतों में इसी प्रकार का भाव-साम्य मिलता है। इस संबंध में कहा गया है, "विराट अपार्ष्व के रूपमय पार्ष्वता द्वारा अभिव्यक्त करने में उसने वही दिशा अपनाई थी जो "निराला" जी की चिन्ताधारा में है। इसीलिये उनके चित्त और "निराला" जी के गीतों में आश्चर्यजनक समता पाई जाती है।"^२ इसी अंक में "बादल राग", "जुही की कली", "स्मृति जुम्बन", "राम की शक्तिपूजा", "वृत्ति", "बैकाली", "तुम जावने चलें", "सन्तप्त", "तोड़ती पत्थर", आदि कविताओं के कुछ अंश और उनसे भाव-साम्य प्रदर्शित करने वाले बारह चित्रों का अध्ययन उपस्थित किया गया है।

१. "रत्नाकर" : "उद्यमसतक"

२. "संगम" साप्ताहिक, पृ. २१, २३ जनवरी, १९५० ई.

इस विधा में सर्वाधिक उल्लेखनीय प्रयत्न श्रीमती महादेवी वर्मा का रहा है। हिन्दी की महादेवी जी के रूप में एक ऐसा व्यक्तित्व मिला है जिस में कवि और चित्रकार दोनों ही का समावेश है। अपने चित्रों के संबंध में महादेवी जी का कथन है, "इसी से मेरा चित्र गीत को एक पूर्ण पीठिका मात्र दे सकता है, उसकी सम्पूर्णता बांध देने की क्षमता नहीं रखता।" ऐसा कदाचित् इसलिये है कि महादेवी जी का कवि-रूप ही अपेक्षाकृत अधिक सकल है। उनके चित्र उनके काव्य की भावभूमि को व्यक्त करने में निश्चित रूप से सकल हैं। कोई-कोई चित्र कविता की किसी नब्ब एक पंक्ति के भाव के ही आधार पर बना लिये गये-से लगते हैं। "दीपशिखा" में चित्रों के ऊपर के छीने कागज पर छापी गई पंक्तियाँ का उन चित्रों से विशेष संबंध है।

साहित्य में चित्रात्मकता : प्रकृति-चित्रण

चित्रकला जब साहित्य के रूप के अन्दर प्रवेश करती है तब वह चित्रात्मकता का रूप धारण कर लेती है। यह ठीक वैसे ही है जैसे काव्य या गीत साहित्य के अन्दर आकर संगीत संगीतात्मकता का रूप धारण कर लेता है। यह चित्रात्मकता उस समय विशेष रूप से सक्रिय एवं सुस्तर हो उठती है जब साहित्यकार प्रकृति का चित्रण करने बैठता है। साहित्यकार प्रकृति का चित्र कई रूपों में उभारता है। कभी-कभी तो ऐसे खूबों का प्रयोग होता है कि लगता है, हम प्रत्यक्ष-दर्शन कर रहे हैं :-

दिवस का अवसान समीप था, गगन था कुछ लोहित हो चला
तड़ितों पर थी अब राजती, कमलिनी-कुल-वल्गु की प्रभा
विपिन-बीच विहंगम वृन्द का कल-मिनाद विवर्धित था हुआ
ध्वनिमयी विविध विहगावली उड़ रही नम-मंडल-मध्य थी ।^१

इस प्रकार एक-एक वस्तु के भावपूर्ण वर्णनों के सम्मिलित प्रभाव के परिणामस्वरूप सायंकाल का चित्र उभारता है।

दूसरे प्रकार का प्रकृति-चित्र इस प्रकार से सींचा जाता है कि वह दृश्य विशेष का चित्र तो उभार ही दे साथ ही, ठीक-ठीक के मनमें उस प्रकार के भाव उद्दीप्त भी कर दे जिनका वैसे दृश्य की उपस्थिति में उठना नितान्त स्वाभाविक हो। अस्तु, कवि देखता है :-

“अप्यर-अन्तर गल धरती का अंचल आज भिगोता
प्यार पपीहे का पुलकितस्वर दिशि दिशि मुखरित होता
और प्रकृति-पल्लव-अवगुंठन फिर-फिर पवन उठाता

ऐसा देखकर कवि के मन में इस दृश्य के अनुकूल भाव उठते हैं और वह अपनी प्रिय-तमा से कह उठता है -

यह मधमातौ की रात नहीं ^{सो} सोने की
सखि, यह रागों की रात नहीं सोने की^१

प्रकृति का एक प्रकार का चित्र ऐसा भी होता है जो आने वाले किसी भावविशेष के अनुरूप होकर उसकी पृष्ठभूमि स्वरूप होता है।

है अमानिजा ; उगलता गगन धन अन्धकार ;
सो रहा किशो का शान ; स्तब्ध है पवन - चार ;
अप्रतिहत गरज रहा , पीछे अम्बुधि विशाल ;
मूधर ज्याँ ध्यान-मग्न ; केवल जलती मञ्जाल ।

ऐसे भयानक वातावरण में किसी का भी दिल बहल सकता है। राम आज दिन के उद्य में हतबली हो चुके हैं। सामने इस तरह का डराने वाला दृश्य है। ऐसे में जो होना चाहिये वही होता है -

स्थिर राधेदेव को हिला रहा फिर-फिर संजय
रह-रह उठता जग जीवन में रावण - जय - ^अजय^२

१. 'बच्चन' : 'सोपान', पृ. २८७।

२. 'निराला' : 'रामकी शक्तिपूजा' कविता

अंकारों के रूप में किया गया प्रकृति का वर्णन भी सुन्दर और आह्लादपूर्ण चित्र उभारता है -

‘तारकमय नव वेणी बन्धन, सीस फूँकर अशिका नूतन
रश्मि बलय सित धन अवगुंठन

मुक्ताहल अभिराम बिछा दे चितवन से अपनी^१

भावुक कलाकार को प्रकृति कभी-कभी ठीक मानव-जैसी भी लग सकती है। उसका दृश्य विशेष मानव या मानवी की एक मुद्रा विशेष लग सकता है :-

नीले नभ के अतः पर वह बैठी शारद - हासिनी

मृदु कर-तल पर अशि मुखर, नीरव, अनिमिष, एकाकिनि।^२

इसी प्रकार प्रकृति कभी चेतन बनकर, कभी प्रतीक बनकर और कभी उपदेश देती हुई-सी प्रतीत होती है। तात्पर्य यह है कि प्रकृति के सभी रूपों के प्रभूत चित्र आधुनिक हिंदी साहित्य में मिलते हैं।

रूप-चित्रण

चित्रात्मकता का दूसरा रूप साहित्य में तब दिखाई पड़ता है जब साहित्यकार रूप का चित्र साँचने बैठता है। एक सुन्दरी का वर्णनात्मक रूप चित्र देखिये -

‘नैन सी अपनी उँगलियाँ तौडते हुए बौली। उसकी लम्बी पतली गोरी उँगलियाँ की ओर देकर हरीउ ने उसके शेष शरीर की ओर देखा। उसका बहुत महीन और मुलायम बालों से भरा सिर जिसमें तेल की चिकनाई नहीं, केवी की स्वाभाविक कोमलता स्वयं प्रकट हो रही थी। बूँडे पर मटर के लाल फूलों का लगा हुआ पंसा, पतला-पतला मुँह, लम्बी गर्दन, महीन साड़ी में से झलकती उसकी शरीर की आकृति, उसका तनिक उमरा हुआ बदन, पतली कमर और फिर कुछ दूर बढ़कर नीचे गिरती जलकी धारा की तरह घुटनों से नीचे गिरती पिंड-लियाँ, अंत में सैडिल में बड़े उसके कोमल श्वेत पाँव। पावों के चारों ओर साड़ी

१. ‘महादेवी वर्मा’ : ‘यामा’

२. पन्त : ‘पल्लविनी’

का धेरा पराग को धेरे रहने वाली फूल की पंखुरियों की तरह फैला हुआ था। पीले हाथी के दांतों की तरह चिकनी और कोमल बाहें उसकी गोद में आकर टिकी हुई थीं..... एक अस्पष्ट - सी सुगंध उसके शरीर से आ रही थी। नैनसी फूल की कली की भांति थी, पूरी खिलकर फैल नहीं गई थी।^१

उपर्युक्त चित्र विवरणात्मक है। भावात्मक रूप देखिए :-

“चंचला स्नान कर आवे चन्द्रिका -पर्व में जैसी
उस पावन तन की सोमा आलोक मधुर थी ऐसी।”^२

भाव-चित्रण

गुणों के उल्लेख द्वारा निर्मित अन्तर की एक अवस्था - भूत - का चित्र देखिए :-

“भूत नहीं दुर्बल, निर्बल है,

भूत सबल है,

भूत प्रबल है,

भूत अटल है,

भूत कालिका है, काली है

या काली सर्वभूतेषु

बुधारूपेण संस्थिता,

नमस्तस्यै, नमस्तस्यै,

नमस्तस्यै, नमो नमः

.....

भूत भवानी, भयावनी है

अगणित पद, भूत, कर,वाली है

१. कृष्णपाल: “बाबा कामरेड”, पृ. १३५।

२. “प्रसाद” : “आँसू” (आँसू) (विशेष), पृ. १३५-१३६।

बड़े विशाल उदर वाली है
 भूस धरा पर जब चलती है
 वह डगमग डगमग हिलती है
 वह अन्याय चबा जाती है^१

दृश्य-चित्रण

इसी प्रकार आशा-निराशा, आह्लाद आदि के भी चित्र खींचे जाते हैं। कलाकार के छंद दृश्यों के चित्र भी सकलतापूर्वक खींचते हैं। निम्न-लिखित वर्णन को देखकर ऐसा लगता है कि जैसे ठीक हमारे सामने यह दृश्य उपस्थित हो और हम उसे देख रहे हों :-

शासामुग शास्त्रियों पे शासामुगियों के संग
 कुछ सुनते-से कान ऊंचे किये बैठे हैं;
 अमित अभीति से अमंग ग्रीव शावकों को
 समुद्र बिहग कोटरों में लिये बैठे हैं
 हरिणी हरिण के विलोचनों में राख^{गती} है
 देखिए हरिण हरिणी के हिये बैठे हैं
 कुमुद गणों के कोष मध्य चंचरीक चरु
 मधु पिये बैठे हैं, कपाट दिये बैठे हैं ॥^२

इसी प्रकार युद्ध के दृश्य, प्रेम के दृश्य, कलह के दृश्य, लड़ाई के दृश्य, तथा जीवन के ऐसे ही अनेक दृश्य चित्रित किये जाते हैं। विलास का एक चित्र देखिए :-

“उस स्वर्गना में, उस नहर-इ-बहिरत में, खेल करती थीं उस स्वर्ग लोक की अखण्ड सुन्दरियां। उन श्वेत पत्थरों पर अपनी सुगंध फैलाता हुआ वह जल बूझलियां करता, कलकल ध्वनि में चिर संगीत सुनाता चला जाता था, और वे अप्सराएं अपने श्वेतांगों पर रंग-विरंगे वस्त्र लपेटे, नूपुर पहने अपने ही ध्यान में

१. चरचन: 'सौधान', पृ. २११-२१२

२. 'रसवन्ती' (अनूपमार्क विशेषांक), पृ. १६०-१६१।

मस्त धुनधुन की आवाज करती हुई जलछीड़ा करती थीं अनैकानैक प्रकार के स्नेहपूर्ण चिराग..... रंग-विरंगे सुगंधित जलों के फव्वारे..... उस मस्ताने सुगन्धिपूर्ण वातावरण में सुमधुर संगीत की तालपर..... उस हम्माम में जल-झीड़ा..... सौन्दर्य विसरा पड़ता था, सुस उत्कृता था, उत्साह की बाढ़ आ जाती थी, मस्ती का एकछत्र शासन होता था और मादकता का उलंगन निजीव पत्थर भी सजीव होकर स्वर्ग के देवताओं के साथ हौली सेल्ने का साहस कर बैठते थे..... मदिरा डलती थी... सुरा, सुन्दरी और संगीत के साथ ही साथ जब सौरभ, सौन्दर्य और स्वर्गीय सुस भी विसर विसर कर बढते जाते थे.....।^१

क्रिया-कलाप-चित्र

इसी प्रकार मार्मिक ढंग से क्रिया कलाप का भी चित्रांकन किया जाता है। एक अत्यंत मार्मिक क्रिया-कलाप चित्र या गति चित्र यहाँ कुछ ही शब्दों में उपस्थित है :-

‘कुमुद खांत गति से ढालू चट्टान के छोर तक पहुंच गई। अपने विशाल नेत्रों की पलकों को उसने ऊपर उठाया। ठंगली में पहनी हुई अंगुठी पर किरणें फिसल पड़ीं। दोनों हाथ जोड़कर उसने धीमे स्वर में गाया:-

मलिनिया, फुलवा त्याओ नन्दन बन के।

बिन - बिन फुलवा लगाई बड़ी आस

उठ गए फुलवा रह गई आस

उधर तान समाप्त हुई, उधर उस अथाह जल-राशि में पैजनी का छम्म से छूव हुआ धार ने अपने बख को लौल दिया और तान-समेत उसकोमल कंठ को सावधानी से अपने कोष में ले लिया।

ठीक इसी प्रकार समय अली मर्दान भी आ गया। घुटना नवा कर उसने कुमुद के बख को पकड़ना चाहा, परंतु बेतवा की लहर ने मानों उसे फटकार दिया। मुट्ठी बांधे सड़ा रह गया।^२

१.- रघुवीर सिंह : 'शेष स्मृतियाँ', पृ. ११५-११६
२. बुन्दावन लाल वर्मा : 'विराट की पद्मिनी',

भजन निर्माण कला और मूर्तिकला

इन कलाओं में भी भारतवर्ष संसार को चकित करने में समर्थ और पराया के मन में ईर्ष्या और द्वेष उत्पन्न करने की योग्यता से पूर्ण विपुल सामग्री और इतिहास रखता है। इस्लाम और उसके अनुयायी मूर्तियों के विरोधी कहे गये हैं किन्तु यह भारत की मूर्तिकला का जादू था कि युद्धप्रिय तथा लूट-फूट-रक्त-वर्षन का अनन्य लोलुप महमूद बघरा भी कह उठता है, 'उन मंदिरों को मैंने भी देखा था, बुतों को भी। कुछ भी हो मंदिर थे खूबसूरत..... पत्थर की जान देने के फन में हिन्दुओं ने जिस कमाल को हासिल किया है, ताज्जुब होता है... फहाड़ों, पेड़ों, फूल-पत्तियों, कोयल की कूकों और परियों की लोच-लचकों को.. मचल-मचल कर उतार दिया हो.... अरे! यह तो कुछ है। लेकिन कुछ भी अगर दिल को चैन दे तो क्या बुरा ?'

हमारे देश में प्रागैतिहासिक काल में हाथी के दांत, अस्थि, ताम्र, कांस्य और मिट्टी आदि की मूर्तियाँ बनती थीं। पहले-पहल हाथी, घोड़े और टट्टू बनाये गये थे। हडप्पा और मोहिन्जोदड़ों की खुदाइयों में साधना-संबंधी मूर्तियाँ भी मिलती हैं। वैदिक काल में देवमूर्तियाँ बनती थीं। त्रिगुनाज और नंदकाल में आदमी के कद इतनी ऊँची मूर्तियाँ भी बनने लगी थीं। राजाओं के साथ साथ सामान्य नर-नारियों की भी मूर्तियाँ बनीं। इसी समय की जैन-मूर्तियाँ भी मिलती हैं। मौर्य काल में जैनतीर्थंकरों की मूर्तियाँ, शिलास्तम्भ और लाटों के ऊपर के 'परगट्टे' भी बनते थे। चार सिंह वाला सारनाथ का 'परगट्टा' बहुत प्रसिद्ध है। गुप्तकाल में साँची और भरहुत के जगत्प्रसिद्ध स्तूप बने। इनके तोरण पर बुद्ध की जीवनी से संबंधित अनेक और विविध प्राणियों एवं वस्तुओं के आश्चर्य चकित जनक रूप से सुन्दर चित्र खूबे हैं। उड़ीसा के उदयगिरि और खंडगिरि की मूर्तियाँ भी इसी युग की हैं। गुप्ताय और घातिवाहन काल में गांधार शैली और

मथुरा शैली की मूर्तियाँ की बहुलता थी। गुप्त काल मूर्तिकला का भी स्वर्णयुग है। सारनाथ की बुद्धमूर्ति, मथुरा की सड़ी हुई बुद्धमूर्ति, सुल्तानगंज (भागलपुर) की तांबे की सड़ी हुई बुद्धमूर्ति, मेलसा की मगवान वाराह की मूर्ति, काशी की गौवर्धनधारी कृष्ण की मूर्ति, सूर्य - कातिकेय आदि की मूर्तियाँ इस युग के गौरव की आधारशिलाएँ हैं। पूर्वमध्यकाल में घटनाओं के बड़े बड़े दृश्य भी मूर्तिमान किये जाते थे। बेलूर (एलौरा) में पहाड़ काटकर मंदिर और मूर्तियाँ का निर्माण किया गया। इनमें ब्राह्मण, बौद्ध और जैनधर्मों के मंदिर थे। एलीफेन्टा की गुफाओं में भी मंदिर और मूर्तियाँ हैं। मामल्लपुरम् (कांची) के 'रथ' अर्थात् मंदिर भी प्रसिद्ध हैं। उत्तर मध्यकाल में अलंकृत शैली के अनुगमन की प्रधानता हो गई। मुबनेश्वर, कोणार्क, पुरी, सजुराहो और परमारों के बनवाये हुए मंदिर (उदाहरणार्थ, ज्वालियर का सात-बहू मंदिर जिसमें खिसरशैली और छाजनशैली की कला स्पष्ट है) इसी युग की विभूतियाँ हैं। कला की दृष्टि से गुजरात के सौमनाथ मंदिर का महत्व असाधारण है। अवलोकितेश्वर की मूर्तियाँ में मौलिकता विशेष रूप से द्रष्टव्य है। प्रायः नग्नमूर्तियाँ भी बनाई जाती थीं। ऐसी मूर्तियाँ भी हैं जो ऐहिकतापरक हैं। १५ वीं शताब्दी के चित्तौड़ के विजयस्तम्भ में असाधारण सजावट है। नबन्न, मास, और ऋतुओं की भी मूर्तियाँ बनाई गई हैं।

१५ वीं शताब्दी का गौविन्ददेव का मंदिर अपनी सजावट के लिये ही प्रसिद्ध है। पूरे का पूरा मंदिर ज्यामितिक आकार का है। गति और संस्कृति के निर्देशन की दृष्टि से दक्षिण की नटराज की मूर्ति असाधारण महत्व की है। वैभव विलास अलंकरण और इस्लाम की विचारधारा वाले मुगल काल में भी भारत की स्थापत्य कला ज्ञान के साथ गतिशील रही। इस युग के बने भवनों में वैभव और विलास बरसता है। ईरानी और भारतीय या राजपूत या हिन्दू कला का मिश्रण इन भवनों की निर्माण-योजना में द्रष्टव्य है। आगरे के किले का जहाँगीरी महल इसका उदाहरण है। उदाहरण फतेहपुर सीकरी की इमारतों में मठ्यता, विद्यालता, घुड़ता कल्पना, और कला-कारीगरी भरी हुई है। आगरे का एतमाबुद्दौला अलंकरण का

और ताजमहल मध्यता, कला की वीरीकियाँ, निर्माणकुशलता, संयोजना और संगति, भाव-विमोहता के साथ साथ नारीत्व कला (फेमिनिन आर्ट) का अतिरिक्त अतिरिक्त उदाहरण है। आधुनिक युग के भवनों में सादगी विशेष रूप से पाई जाती है। सबसे बड़ी उल्लेखनीय बात यह है कि असली राजाओं-महाराजाओं तथा उनके अपने युग के साथ साथ पुर्ण और राजमहल के निर्माण की ^{आत विप्र} ~~वस्तुस्थिति~~ ^{वस्तुस्थिति} हो गई है। राजस्थान के राजपूत रियासतों के अंदर बनवाये गये भवनों में अब भी राजपूत कला का अवशेष देखा जा सकता है। अब महल नहीं, घरों के बनते हैं। उनमें न अलंकरण है, न विशालता, न सुष्ठुता (मानों महाकाव्य के स्थान पर मुक्तक और गीत आ गये हों)। राजधानियों में जो भवन बने वे इंग्लैंड में बने हुए भवनों की नकल हैं। कुछ इमारतें बाहर और भीतर एक समान मध्य लगती हैं। नई दिल्ली के कक्षर या कौंसिल भवन अधिकतर इटैलियन शैली पर हैं और ऊँची ऊँची दीवारों वाली जेलों की तरह लगते हैं। इनमें लाक्षणिक और कल्पना का अभाव है। अंगरेज इंजीनियर उसके राजमक्त कर्मचारी और अंगरेजियत, अंगरेजी राज, तथा अंगरेजों की शक्ति का सुन्दर नमूना जिस पी. डब्ल्यू. डी. में जगह - जगह मिलता है उसके द्वारा निर्मित भवनों की कला पर ग्रेट ब्रिटेन की भवन निर्माण कला की छाप अनिवार्य और आवश्यक है। सुष्ठुता के स्थान पर प्रत्येक तीन चार वर्षों के बाद की पुनर्निर्माण जनित नवीनता अधिक रुचिकर हुई है। दिल्ली का बिड़ला मंदिर भारतीय कला के अनुकरण पर है। आगरे का निर्माण शील राधा-स्वामी मंदिर जब बन जायगा (यद्यपि वह लगभग 40 वर्षों से बन रहा है) तब मध्यता और कलात्मकता के सुन्दर ~~तुम~~ उदाहरण स्वरूप होगा - ऐसा अनुपम है। स्थापत्य कला की दृष्टि से आगरा सचमुच बड़ा ही मान्यवाली है। आधुनिक काल की मूर्तिकला में भी एक निष्ठ आह्वान द्वारा मुस्ली धार्मिक दृष्टिकोण का बिल्कुल अभाव है। अब तो धार्मिक मूर्तियाँ व्यवसायार्थ ही बनाई जाती हैं। मूर्तियाँ चित्र - वैसी लगती हैं। शास्त्रीय मान्यताओं की कोई भी परवाह नहीं की जाती। राजकीय कला स्कूल आज की मूर्तिकला के केन्द्र हैं। 'इधर कुछ सालों से स्थापत्य की मूर्तियाँ बनने लगी हैं। पत्थर में प्रतिकृतियाँ पर्याप्त संख्या में इधर

बनी हैं। प्रतिकृतियों का निर्माण धातु में भी हुआ है यूरोपीय मूर्ति-कला के नए प्रयोगों ने इस देश के कलाकारों को भी आकृष्ट किया है।^१ आधुनिक स्थपत्य कला उपयोगिता चाहे जितनी ही, अधिकतर न तो विशेष आकर्षक है, न वर्धनीय और न कलापूर्ण। अब भी लोग पुरानी इमारतें और मूर्तियों को ही देखने दूर-दूर से आते हैं और दूर दूर तक जाते हैं।

आधुनिक साहित्य पर इनका प्रभाव

आधुनिक साहित्य पर प्रर इन दोनों कलाओं का अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव पड़ा है। तात्पर्य यह है कि ये साहित्य का विषय बनी हैं। इन्होंने कलाकारों की कल्पना को प्रबुद्ध और सक्रिय किया है तथा उन्हें प्रेरणा दी है। जगदीशचन्द्र माथुर ने 'कोणार्क' शीर्षक एक उच्चकोटि के कलापूर्ण नाटक की रचना की ^{जिसमें} कोणार्क के सूर्य मंदिर की कला-विशेषताओं का उल्लेख भी है और स्तुति भी :-

"यह मंदिर नहीं, सारे जीवन की गति का रूपक है। हमने जो मूर्तियाँ इसके स्तम्भों, इसकी उपपीठ और अधिस्त्यान में अंकित की हैं, उन्हें ध्यान से देखो। देखते ही, उनमें मनुष्य के सारे कर्म, उसकी सारी वास्तव्य, मनोरंजन और मुद्राएं चित्रित हैं।"^२

"पत्थर! यहाँ निकट से देखने पर तो प्रतीत होता है, मानो तुमने किसी जोहरी के गढे अलंकारों को पाषाण बना दिया हो। और, दूर से इस विमान और जगमोहन के चित्तर हिमांचल की चौटियों की स्पर्धा करते जान पड़ते हैं।"^३

"हमने पत्थर में जान डाल दी है, उसे गति दे दी है। (सोफ़्ट) वह घुल रहा है कि वह धरती का पदार्थ है। उसके पैर धरती पर नहीं टिकते।

१. 'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास', प्रथम भाग, पृ. ६३४।

२. कोणार्क
३. कोणार्क

पत्थर का वह मंदिर आज कल्पना के स्पर्श से हवा की तरह गतिमान, किरण की तरह स्पर्शहीन, जुगन्ध की तरह सर्वव्यापी हो रहा है। लेकिन ... लेकिन धरती उसे जकड़े हुए है, ईर्ष्या से।" १

"मुग्धयनी" उपन्यास के ४४वें और ५५वें प्रसंग तो मानवी स्थापत्य कला के मर्म को समझाने के लिये ही लिखे गये हैं। इसी उपन्यास के ६० वें प्रसंग में "नटराज" की मूर्ति की चित्रणपूर्ण व्याख्या है।

निष्कर्ष:-

सांस्कृतिक, पुनरुद्धार और यूरोपीय संस्कृति के सम्पर्क ने भारतीय चेतना को जो नवीन दृष्टि एवं नई व्यास की उसी अनुरूप कलापूर्ण हिंदी साहित्य बीसवीं शताब्दी के प्रथमाधे में निर्मित हुआ। नवीनतम चेतना से उद्भूत सौंदर्य बोध के लिये साहित्य के प्राचीन कलारूपों में नवीन परिवर्तन किया गया और नये-नये कलापूर्ण माध्यमों एवं नई नई कला-कलित साहित्यिक विधाओं को स्वीकार किया गया। नये और पुराने को मिलाकर नये ललित रूप भी तैयार किये गये काव्य और नाटकों में चित्रात्मक एवं संगीतात्मक परिवेश उपस्थित कर तथ्य को हवयंगम कराने का प्रयास दृष्टिगत हुआ। काव्य-कला ने गद्य में भी रसात्मकता का सृजन किया और गद्य के माध्यम से भावात्मक सौंदर्य भी अभिव्यंजित किया गया। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में सभी कलाओं ने मिलकर हिंदी साहित्य को कलापूर्ण दृष्टि एवं विषय से सम्पन्न किया और विशेष लालित्य प्रदान किया है।

भारत और धर्म -- अनुकरण और वास्तव -- स्थायी वास्तव और विश्वास पर
 और -- आपद्धर्म -- मठ-मन्दिर -- साधु-वैरागी -- शक्तिपूजा और पर्व --
 पूजापाठ एवं त्युक्त दृष्टि -- 'वर्म-कर्म-भाव-भगती' -- इस्लाम और भारत --
 दर्शन -- ईश्वर -- जीव -- कल्याणमार्ग -- प्रायश्चित्त और 'परसाध' -- कर्म --
 आवागमन और स्वर्ग-नर्क -- भगवद्दर्शन और उत्था फल -- बरदान -- धर्म का
 वास्तविक रूप -- धर्म के दो रूप -- हिन्दू धर्म -- दो संस्कृतियों का गलत दृष्टिकोण
 ले कर मिलना -- हिन्दू धर्म और ईसाई -- हिन्दुत्व का पुनर्जागरण -- नवशिक्षित
 व्यक्ति तथा पुनर्जागरण की प्रतिक्रियाएं -- समन्वय वृत्ति तथा वर्म तत्त्वों की नयी
 व्याख्याएं -- हिन्दुत्व का नया रूप -- धर्म सुधार -- बुद्धि पर शास्त्र का अंकुश --
 नैतिक जीवन की आधार भूमि -- हिन्दुत्व का वास्तविक मूल्यांकन और उसके प्रति
 गौरव का भाव -- तत्त्वों की युगानुकूल व्याख्या -- आर्यसमाज का प्रभाव -- ब्रह्मविद्या
 समाज -- ईसाई धर्म का योग -- बौद्ध धर्म दर्शन की देन -- इस्लाम का योग --
 अरविन्द का योग -- वेदान्त -- प्राचीन पर वास्तव -- वैदिक धर्म -- उपनिषद् --
 गीता -- जैन धर्म -- बौद्ध धर्म दर्शन -- हिन्दुत्व की रूपरेखा पूर्ण -- न्यायदर्शन --
 वैशेषिक दर्शन -- सांख्यदर्शन -- योग-दर्शन -- पूर्व मीमांसा दर्शन -- उत्तर मीमांसा --
 चैतन्यवाद -- विशिष्टाद्वैतवाद -- शैवदर्शन -- वैष्णव दर्शन अर्थात् भागवत धर्म --
 रहस्यानुमति -- पार्श्वार्थ दर्शन : ज्ञान मीमांसा -- बुद्धिवाद -- समन्वयवाद --
 प्रतीतिवाद -- रोमांटिक भावना या मानवतावाद -- ज्ञान का स्वरूप -- बुद्धिवाद --
 प्रकृतिवाद -- भौतिकतावाद -- दृष्टि : दृष्टिवाद -- विकासवाद (सुवर्णात्मक) --
 यान्त्रिक विकासवाद -- जीव विकास -- दण्डात्मक भौतिकवाद -- उपयोगितावाद --
 अध्यात्मवाद और चैतन्यवाद -- अस्तित्ववाद -- हमने सबका अध्ययन किया --
 वर्तमान हिन्दू धर्म -- समस्त भारत का योग -- सह-अस्तित्व -- जनता की कमजोरी और
 उसका दुरुपयोग -- पीछे देखा गया -- हिन्दुत्व की कायापल्लव -- सुधारवाद और

हठिवाद -- तीन प्रकार के धार्मिक व्यक्ति -- हम पर गहरा प्रभाव -- प्रातिशोभ
हिन्दुत्व का उल्लास प्रभाव -- वास्तविक हिन्दी साहित्य की दृष्टमूर्ति के रूप में ।

भारत और धर्म

जहाँ विश्व की अनेक प्राचीन सभ्यताएँ और संस्कृतियाँ अपना अस्तित्व एवं व्यक्तित्व लौं बैठी हैं वहाँ विश्व की प्राचीनतम सभ्यता और संस्कृति वाला भारत सृष्टि के आविर्भाव के सुगम रूप की तरह आज भी चिर-किञ्चोर-सा संसार के रंगमंच पर सृष्टि की नवीन स्फूर्ति नवल-प्राण, नवल प्रेरणा, नवल शक्ति एवं नवल विचारों के नवीन आलोक-सा अपनी भूमिका कुशलता और और सकलता के साथ अभिनीत कर रहा है। यह एक स्फूर्ति और प्रेरणाप्रव तत्व है और है विदेशियों तथा कुछ भारतीयों की भी उत्सुकता प्रेरित खोज का लक्ष्य। सचमुच प्रश्न उठता है कि वह कौन-सा तत्व है जो भारत को आज भी तेजोमय किये है! और संभवतः इसी खिञ्तासा के समाधानार्थ सजग, सक्रिय, प्रोज्ज्वल एवं चेतन कल्पना में भारतीय मनीषा का एक अमर एवं गम्भीर कथन उभरता है - 'धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।' तात्पर्य यह कि नष्ट किये जाने पर अथवा यों कहिए कि परित्याग किये जाने पर धर्म नाश कर देता है किन्तु यदि धर्म की रक्षा की जाय अर्थात् उसका पालन किया जाय तो वह रक्षा करता है। जब यह एक सत्य है कि युगों की बदलानों पर अपने पद-चिह्न छोड़ता हुआ भारत अव्यय शक्ति और अप्रतिहत गति से काल के अनन्त पथ पर बढ़ता चला जा रहा है तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि उसमें कोई ऐसा विशेष तत्व अवश्य है जो उसे धारण किये हुए है और वह जिसे वह धारण किये हुए है, जिसे वह सुरक्षित किये हुए है और जो उसे सुरक्षित किये हुए है। जो रक्षित करता है जो धारण करता है, उसी को हमारा आस्था, हमारा वाङ्मय, धर्म कहता है - 'धारणाधर्मस्थि-धर्मो धारयो प्रजाः, यत् स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः'।

अनुकरण और आस्था

सबसे धर्म और दर्शन में स्थित हमारा भारतीय समाज ऊंची स्थिति से गिराये जाने पर भी, कष्टों की अग्नि में तपाये जाने पर भी, साम्राज्यवाद एवं धर्मापत्ता के अहंकार के सामने बन्धनग्रस्त स्थिति में डाल दिये जाने पर भी और अधिकारों की रस्सी से परतंत्रता की स्थिति में जकड़े जाकर भी उसी प्रकार रक्षित ही नहीं सुरक्षित भी है। जैसे भगवान में स्थित प्रह्लाद पर्वत से गिराये जाने पर भी हाथी के सामने डाल दिये जाने पर भी और ^धम्ये में बांध दिये जाने पर भी सुरक्षित रहा। वास्तविकता यह है कि भारतीय समाज ने यथाशक्ति और यथासंभव अच्छे से अच्छे ढंग से धर्म को धारण करने का प्रयत्न किया है। राजपूतों ने अस्ति-धर्म निवाहा है, कायस्थों ने वैष्णवी धर्म निवाहा है, वैश्यों ने ब्रह्मधर्म निवाहा है, वीरों ने लड़कर अस्तिबल से - धर्म की रक्षा करने का प्रयत्न किया है, संन्यासियों ने धूम-धूम कर उपदेश दे-देकर धर्म की रक्षा की है, पुजारियों ने और पुरोहितों ने कर्मकाण्ड के द्वारा धर्म को अधिकाधिक सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया है, विचारकों ने सोच-विचार करके चिन्तन-मनन करके धर्मपालन करने का प्रयत्न किया है, महात्माजी ने आत्म-प्रेरित मार्ग पर चलकर धर्म का रूप स्पष्ट किया है, मुसलमानों ने अनुकरण करके रुढ़ियों का पालन करके और अंधविश्वासों के द्वारा धर्म को नष्ट होने से रोक लिया है, समर्थ व्यक्तियों ने चमत्कारी रूप में धर्म को साथ रखा और कमजोरों ने अपनी समस्त कमजोरियों के बावजूद भी धर्म के क्रियात्मक रूप को निवाहा। चोर, ठग, लालची, अहंकारी आदि सबको समाज में प्रचलित परम्परा के अनुसार धर्म का अपनी पूरी इमानदारी के साथ पालन करते हुए देखकर यह सोचा जा सकता है कि आस्था अभी गई नहीं है। आत्मबल और असाधारण आत्मशक्ति से सम्पन्न महात्मा सभी देशों में एक ढंग से धर्म निवाहते हैं, इसी प्रकार सभी देशों के विचारकों और क्रांतिकारियों की भी धर्मवृत्ति मूलतः एक-सी होती होगी, किन्तु बुद्धि की सक्रियता एवं चिन्तन की यत्तिशीलता तथा विचारों की मौलिकता से संबंधित मूढ़ भारतीय जनसमूह ने अपनी असंख्य कमजोरियों के बावजूद भी रुढ़ि पालन और अंधविश्वास के द्वारा

जिस प्रकार अपने ~~नित्य-प्रकार-अपने-धर्म-अनै-द-~~^{धर्म} और दर्शन की परंपराओं को अपने कर्म संकुल जीवन में सक्रिय रखा है और जिस प्रकार अपने सांस्कृतिक वातावरण को अपनी कटुता के द्वारा अक्षुण्ण एवं सुरक्षित रखा है वैसे ही अन्य देशों की मूर्खता ने भी किया होगा, इसमें सन्देह है। धर्मभीरुता, आत्मा की अमरता, पुनर्जन्म, ईश्वर, संसार की क्षमगुरुता, संसार में माया की प्रधानता, दान, पूजा-पाठ, परलोक के अस्तित्व आदि अपने व्यावहारिक रूप में अंधविश्वास या विश्वास संवर्धित होकर भारतीय जीवन को आज भी प्रेरणा दे रहे हैं। नवीनता का झूठा आवरण डालकर अपने को झुठलाने वाले कुछ नकरवी और भारतीयता की दृष्टि से असांस्कृतिक और बड़े झूठे मिथ्यावादियों की बात दूसरी है। विशाल भारतीय जनसमूह धर्म और संस्कृति से ही प्रेरणा प्राप्त कर रहा है। यह विशाल भारत अपनी संस्कृति और परम्परा का नवीन कठोर वास्तविक प्रवृत्तियों से समन्वय करने का जिस ढंग से प्रयत्न करता आ रहा है वह सचमुच स्तुत्य है। चारों तरफ बिजली के बल्ब चमकाकर लक्ष्मी जी के सामने घी का शीपक जलाना, पश्चात्य शिक्षालयों का भी भी गणेश हवन-पूजा आदि के द्वारा करवाना, धूप न जलाकर अगरबत्तियाँ जलाना, सात मंत्रों के पढ़ जाने के बाद ही विवाह को पूर्ण मानना, मिल या फैक्टरी के उद्घाटन पर हनुमान जी का 'परसाद' बाँटना आदि असंख्य बातें सिद्ध करती हैं कि यद्यपि बाह्यरूप बदला जा रहा है किन्तु भारतीय जनता का अन्तर और विश्वास अब भी भारतीयता में रंगा है।

स्वाधीनता और विश्वास पर जोर

और फिर, भारतीय संस्कृति ने बाह्य के परिवर्तन पर प्रतिबन्ध लगाया ही कब है ? पतलून पहना जाय या धोती, अंगरसा पहनै या कमीज, चद्वर ओढ़े या शाल, साफा बाँधें या फेल्ड हैट लगाएँ, चप्पल पहनें या पौला, साड़ी पहनें या सलवार, एक चौड़ी कोजिए या दो- इससे तो हमको कभी कोई परेशानी होती ही नहीं। यह फिर ~~अन्तर्गत~~ परिवर्तन शील है; रुचि की बात है। आज एक चीज अच्छी लगती है, उमर ढलने पर कल वही बेकार लगाने लग

सकती है। भारतीय धर्म और दर्शन आपकी रुचि पर उतना बल नहीं देना चाहता जितना आपके विश्वास और धारणा पर। और, जिस पर भारतीय धर्म और दर्शन जोर देता है, वह बीसवीं सदी के इस पूर्वार्ध में भी सन्तोषजनक रूप से वही भारतीय रहा है। यह अच्छी बात थी। इसीलिये हमारे आधुनिक हिंदी साहित्य ने भी आवरण भले ही पारश्चात्य स्वीकार कर लिया हो क्योंकि हमारे जीवन का बाह्य रूप बहुत कुछ पारश्चात्य ढंग-ढंग का हो गया है किन्तु उसकी आत्मा, उसका विश्वास, उसकी धारणाएं निश्चित रूप से अधिकांशतः भारतीय ही रही हैं।

उस दिन दर्शन शास्त्र के एक पदार्थ भूषण से मैंने कहा - मैं बीसवीं सदी के हिंदी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि का अध्ययन करना चाहता हूं और इसलिये कान्ट, हीगेल आदि के दर्शन का भी अध्ययन करना चाहता हूं। आप.....।"

मेरी बात पूरी होने के पहले ही वह अंगरेजी में बड़ी रैठ और शान तथा उच्चतर स्तर से बोले - "नान सेन्स, वि इन्क्लुड्स आफ कान्ट ऐंड हीगेल आन हिन्दी लिटरेचरहवाट इन्क्लुड्स यू पीपुल डोन्ट नो ^{त्रि} ईन द स्पेलिंग आफ दीज ग्रेट फिलोसफर्स।" फिराक साहब ने मुझसे कहा - "इं...र...ल्लि का हिन्दी पर इन्क्लुड्स तुम जानते हो कितना पडा है कुल्ल इतना जितना कि कोई किसी बच्चे से डेक्सपियर की बातें को और बच्चा महज इतना समझ सके कि डेक्सपियर अंगरेजी का एक बडा पोएट था। देट्सऑल !" बडे लोग हांट देते हैं, मैं चुप हो जाता हूं किन्तु इस तरह की हांट खाने पर मैं हिन्दी के प्रति और भी विन्त एवं अद्वामय हो उठता हूं। हिन्दी जनता और हिन्दी साहित्य ने इस तरह अपने को अश्वरतीयता से बचा रखा है, यह कम गौरव और अभिमान की बात नहीं है। सांस्कृतिक दृष्टि से इसका असाधारण महत्व होना चाहिए।

पारश्चात्य धर्म और दर्शन भारत के लिये अभी कुछ ही लोगों की बुद्धि और विवेचन मात्र ~~रि~~ विषय बना है वह हमारा जीवन नहीं बन सका - हमारा संस्कार नहीं बन सका - वह भारतीय जीवन का अन्तरंग नहीं बन सका है और इसीलिये वह हिंदी का भी अन्तरंग नहीं बन सका।

आपद्धर्म

पिछली दो तीन शताब्दियों में भारत की जो धार्मिक अवस्था थी मैं उसे मैं ख़ोमनीय और तात्त्विक दृष्टि से चांछित नहीं सिद्ध कर रहा हूँ। मैं केवल यह कह कर रहा हूँ कि भारतीय इतिहास और संस्कृति के इस आपत्तिकाल में - अंधकार युग में, जबकि साधारण जीवन इस दुरवस्था में डाल दिया गया था कि "भूसेभजन न होय गोपाला - लै लैव आपन कंठी माला" की उक्ति चरितार्थ हो चली थी और पढ़े लिखों की मनोवृत्ति ऐसी कर दी गई थी कि वे चरीर से भारतवासी मगर मन और बुद्धि से अंगरेज बन जाँय - भारतीय जन मानस ने जिस ढंग और जिस उपाय से अपनी आत्मा, विश्वास और धारणा को अ-भारतीय होने से बचाए रखा वह निश्चित रूप से सराहनीय है। यह हमारा आपद्धर्म था और निश्चित है कि आपद्धर्म तात्त्विक दृष्टि से वास्तविक एवं चांछित धर्म नहीं हुआ करता। उसमें सुधार की आवश्यकता एवं अपेक्षा होती है। यह हमारी ही जीवनी शक्ति की उदात्तता थी और उसका दुर्दमनीय आवेग था कि एक और आपत्ति काल में मर-मिट-सम जाने से अपने को बचाये रखने के लिये, अपने धर्म और दर्शन को अपने व्यावहारिक जीवन में सुरक्षित रखने के लिये हमने एक विधि अपनाई और वह आपत्तिकालीन विधि जब हमारे धर्म और दर्शन को उसकी संजीवनी शक्ति - प्राणशक्ति - से वंचित करके कंकालमात्र करने लगी तब हमारे कुछ धर्मसुधारकों ने अपने गम्भीर चिन्तन और मनन के बाद उसको समझने की नई-पुरानी दृष्टि देकर उसमें पुनः प्राण-प्रतिष्ठा कर दी, उसे पुनर्जीवित प्रदान किया एवं उसका पुनरुत्थान किया। बीसवीं शताब्दी का पूर्वार्ध वस्तुतः इन दोनों प्रवृत्तियों से समन्वित था।

मठ-मंथिर

सबसे अधिक दुरवस्था इस युग में हमारे मठों और मन्थिरों की हो गई थी। मठों के मूल्त और मन्थिरों के बड़े पुजारी जो किसी विलासी और पतित जमींदार अथवा सेठ का-सा जीवन बिताते थे। इनसे लगी हुई सारी

जमीन अथवा इनकी सारी सम्पत्ति प्रायः व्यक्तिगत सम्पत्ति का रूप धारण कर लेती थी। पूजा के उपर्यो में महन्त का भाग बहुत अधिक होता था। इन मठों की शाखाएं भी होती थीं। उत्तराधिकारी बनाने के लिये लोग अपने माई-पतीजी को ही प्रायः चेला बना लिया करते थे। शाखा-मठ के महन्त के मरने पर उसके उत्तराधिकारी का चुनाव करना, उसे महंती की चादर देना तथा उससे धन की बसूली करना प्रधान मठ के ही महन्त का विशेषाधिकार था। दीक्षा का ढंग आ अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुसार इनका अपना-अपना होता था। एक बात अवश्य स्मर्य पाई जाती थी। उत्तराधिकारी में धार्मिक एवं आध्यात्मिक योग्यता कुछ न हो, किन्तु व्यावहारिक और कानूनी दांव-पेच खेल सकने की क्षमता अवश्य होनी चाहिए। कर्मकांड वह जानता अवश्य हो - छिपे छिपे मानता भले ही न हो। इन लोगों को अच्छे से अच्छा साना, कपड़ा, सवारी, नौकर, भोग-विलास की समस्त सामग्रियां सुलभ थीं। नारी के प्रति इनका आकर्षण-मोह असाधारण स्ने होता था। स्त्रिये नीच से नीच उपाय से नारी की प्राप्ति करने के उद्यत रहते थे। इनकी रसेलिन जर्मादारों की रसेलिनों की तरह समाज-कुत्स्यात हुआ करती थीं। इनके यहां वेश्याओं के नृत्य सर्वथा उचित माने जाते थे। साधुओं में पढ़ने-लिखने का अभाव था और उसके लिये प्रोत्साहन भी नहीं दिया जाता था। जो वर्तन मल सके, झाड़ू दे सके, साना बना सके, हजारों छोटे-मोटे चालीग्रामों को "नहला" कर उनपर थोड़ा - चंदन और एक एक तुलसी का पत्ता डाल सके... मूर्तियों के समय समय पर नये कपड़े बदल सके, जारती विसला सके तथा सौरे शाल-ढोलक लेकर बे-सुरताल के भजन गा सके - बनिया भगतों के साथ रामायण के संगायन के नाम पर खूब गला फाड़ सके... हुबूरिया (साधु-सिद्धमतगार), मंडारी (मंडार के सामान को लेने-देने वाला) ... घरीर से कुछ काम कर देना, दोनों ग्राम सा लेना, और समय बचे तो कुछ गला फाड़ लेना या गप्पें उठाना... वस यही साधुओं की विचर्या.....¹। राहुल जी ने साधु-निवास को "बौद्धिक अन्धन" कहा है। इनमें एक व्यक्ति प्रचलित है "पढ़व लिखव बाधन के काम, यव

1. राहुल सांकृत्यायनकृत "मेरी जीवन यात्रा", पृ. १६१

२. वही,

पृ. १६२

बैरागी सीताराम" । किसी सम्प्रदाय में विधिवत् दीक्षित हुए बिना भी लोग साधु-बैरागी बन जाते हैं । इनकी साम्प्रदायिक संज्ञा है "सडिया पल्टन" । एक सम्प्रदाय अपने को दूसरे सम्प्रदाय से श्रेष्ठतर समझता है । इसका प्रदर्शन किसी पर्व पर पहले स्नान करने के अधिकार के रूप में होता है । इसके लिये कभी-कभी इन्हें लड़ाई भी करनी पड़ती थी - सबस्त्र साधारण युद्ध ! इनके जसाड़े बने । दल संगठित हुए । इनका दल बड़ी धूमधाम से घूमने के लिये निकला करता था । हजारों की जमात चलती थी । बरसात के दिनों में ये एक जगह रहते थे । उसके बाद फिर चलना प्रारम्भ हो जाता था । जहाँ ठहरना होता था वहाँ एकाध दिन पहले सूचना पहुंच जाती थी । सारे गृहस्थ इनके ठहरने का सर्व उठाते थे । चाहे जित जितनी कठिनाई क्यों न हो, उन्हें यह करना पड़ता था । बचने का कोई चारा भी नहीं था । ये नाम के तो साधु होते थे किन्तु इनके दल को देखकर लगता था कि समुद्रगुप्त पराक्रमांक की दिग्विजय वाहिनी जा रही है ! पुजारी मठाधीश के लिये रुपये-पैसे के मामले में विश्वासघात करना वैसी ही साधारण बात है, ^{जैसी} किसी सामान्य व्यवसाय में । किसी भूले-मटके लड्डे को पकड़ कर किसी बड़े घर के लड्डे को बहका कर या कभी कभी महाराज के आशीर्वाद से उत्पन्न लड्डे को मांग कर उसे उत्तराधिकारी बनाने की प्रवृत्ति - या फिर सामान्य "साधु" बनाने की प्रवृत्ति आज तक प्रचलित है । सभी मठ और मंदिर धनी और धन के आश्रित रहकर उनके आदर और उनकी प्रशंसा के केन्द्र हो गये । इन मठों और मंदिरों के पुजारी जी या बाबा जी के साथ प्रायः रानी या सेठानी की प्रेम-कथाएं जुड़ी हुई मिलती हैं । सबल का कोई कुछ बिगाड़ नहीं पाता ; यह सब जुले आम होता है । जब साने को माल मिले तो उससे कुछ न कुछ अनुचित हाल तो होगा ही । ये स्थान स्वाभाविक - अस्वाभाविक - दोनों प्रकार के व्यवहार के अड्डे हो गये । किसी बड़े मठ या मंदिर के साथ जैव साधु-सन्तातों तथा साधु-सेविकाओं की एक बड़ी संख्या का होना अनिवार्य हो गया है । तीर्थ, मठ और मंदिर ढोंग, व्यवहार, लूट, पाप और अनाचार के अड्डे हो गए हैं ।

सबसे बड़ी बात यह है कि साधू हो जाने पर भोजन और वस्त्र की चिन्ता नहीं रह जाती। ये पूर्णरूपेण परीफजीवी होते हैं और मानने अधिकारपूर्वक मांगते हैं। ये साधू-सन्न्यासी बिना टिकट यात्रा करना अपना अधिकार समझते हैं। तीर्थ स्थान जैसे अयोध्या, काशी, मथुरा आदि ऐसे मठों-मंदिरों से भरे हैं। मथुरा और अयोध्या के मन्दिरों में साधु के झोने में जो झूला सजता है, जिस ढंग से देवता सजाये जाते हैं, रौखनी-सुगंधि-सजावट की जिस ढंग से प्रतिस्पर्धा होती है और उसका जो परिणाम होता है तथा जिस प्रचुरता से नाच-गाना होता है उसके फलस्वरूप जनता की आंखें और कान खूब तृप्त हो उठते हैं। दर्शकों में सजावटकी ही चर्चा विशेष रूप से होती है। वहां यह कभी याद नहीं आने पाता कि राम ने रावण को मारा है या कृष्ण ने कंस और उनके अनुचर राक्षसों का बचपन में ही बध किया है - वहां राम और कृष्ण का भोगी-विलासी रूप ही अधिक उभरता है। सामन्तवाद और ईश्वरवाद का यह विचित्र समन्वय है। सत्सी मत का प्रभाव इतने ठ्यापक रूप से इनपर पड़ा है कि तुलसी के राम चरित मानस का समझदारी से अध्ययन करने वाले व्यक्ति के मानस के राम और उनके भक्त तथा राम के जन्मस्थान अयोध्या के मन्दिरों के राम और उनके भक्तजनों के वास्तविक भावधित्रों में कोई संगति ही नहीं बैठने पाती। बड़ा अटपटा-सा लगता है। राम या कृष्ण ही एकमात्र पुरुष हैं। सभी भक्त नारियां हैं। सदा मिलन की भावना है। वियोग की कल्पना मात्र भी नहीं हो सकती। वेष्ट मर्दाना-नकल नारी की - भीतर सत्सीभाव - बोलचाल, परिवेष्ट, देखने सुनने में जनाना-पूजा-जर्वा में राजा-रानियां के भोग की सारी आयोजना का विधान - भक्तों का स्त्रीलिंगी रहस्य नाम - राम के साथ एक स्त्र पर सोने तक का नाट्य होता है। राहुल सांकृत्यायन ने 'मेरी जीवन यात्रा' में इन्हें 'दाढ़ी वाली महिला' की संज्ञा दी है।

साधु-बैरागी

बैरागियों का एक दूसरा ही रूप है। बीच में बड़े-बड़े लकड़ों

की धुनी - किनारे किनारे आसन पर बाबा लोग - धिर पर लम्बी-लम्बी
जटाएं - देह में असेंड मयूत-माला - चिमटा - लंगोटी, नहीं तो पूर्णतः दिगंबर
- गांजे की चिलम - साफी - मस्त - बेफिकर - कल की चिन्ता से मुक्त - ब्रह्म-
ज्ञान, वेदान्त आदि की भी चर्चा का अभाव! मनोरंजक बात तो यह है कि
इन्हें जनता की अक्षय भक्षा प्राप्त है। लक्ष्मी के स्वनामधन्य वाहन - उल्लू - ,
बनिया - महाजन, नासमझ भोली - भाली जनता, सीधे-सादे भक्षा-प्राण गांव के
लोग, अंधविश्वास की प्रधान आश्रयदाता मूर्खमतियां, और उनके सुयौज्य जड़-बुद्धि
पति देवता, रियासतों के राजा-रानी और उनके अधमगति कर्मचारी तथा उनके
प्रभाव क्षेत्र में पडने वाली जनता के अन्दर की साधु-वैरागी मन्दिर-पुजारी आदि
आदि के प्रति होने वाली भक्षा को देखकर बरबस यह उक्ति निकल पडती है -
'राम ते अधिक राम कर दासा' ! बड़े-लिसे साहित्यिकों द्वारा भी सरल-चित्त
ईमानदार - मले मानुष - सज्जन - नीति और निष्ठा के आग्रही - आडंबरयून्य
किन्तु अधिकार रहित व्यक्तियों की उपेक्षा और धन तथा अधिकार-खपेन्न पास-
हियों , धार्मिक ढोंगियों और आडंबर प्रिय किन्तु अन्य सभी प्रकार से अधम-
व्यक्तियों का आदर देखकर मन तडप उठता है। लेकिन हने क्या, वह दृष्टिकोण
बनाने का प्रयत्न ही नहीं संभव हो पाता जिसके द्वारा नैतिकता और सात्विकता
का आदर संभव हो सके और ढोंगी को ढोंगी कह सकने का सामर्थ्य आ सके। इसी
भूढता और मूर्खता ने साधुओं -वैरागियों के प्रति असीम भक्षा को संभव कर दिया।
मनोधिकारों से प्रेरित होकर इन लोगों को गृहस्थों की अपेक्षा कहीं अधिक अधम
एवं गहिर्त गति से नाचते रहना इनके तिलक, रामनामों अंचले, जटा-जूट, मयूत,
एवं कर्मकांड की चमक दमक में छिप जाता है। जनता "धृति क्षमा दमोऽस्तेयं शौच-
मिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विदया सत्यमक्रोधो" के प्रति भक्षावती न रहकर वैश-भूषा
और चमत्कारों से प्रभावित होने लगीं। वह आडंबरों और पासंडों को भगवद्-
विभूति समझकर सिर झुकाने लगी। तांत्रिक पद्धति से संभव चमत्कारों में उसे भग-
वत रूप का साक्षात्कार होने लगा। एक नीति -कथा है कि एक की नाक कट

गई और वह चिल्लाने लगा कि उसे ईश्वर दिखाई देने लगा है और कहने लगा कि जिसे ईश्वर देसना हो वह अपनी नाक कटा ले। नक्कटों के इसी प्रकार के सम्प्रदाय में रहे हुए किन्तु विचारशील व्यक्ति का प्रदर्शन करने वाले कुछ व्यक्ति - इन ठोंगियों के चमत्कारों की कहानियों को इस ढंग से बार बार पुहराते रहते हैं कि सामान्य चेतना वाला व्यक्ति प्रभावित हुए बिना रह नहीं सकता। कभी कभी तो अक्सर साधुओं की मार और उनकी गाली आदि की आशीर्वाद और सौभाग्य के रूप तक में माना जाता रहा है। साने-पीने में उन का संयम, विधि-निषेध, किसी एक के ही यहां "परसाव" पाना, अपने सेवकों को भी अपने से दूर रखना, देहात-वास पसंद करना, आदि इनकी कुछ अन्य वि-शिष्टताएं हैं।

शक्ति-पूजा और बध

जनता में शक्ति-पूजा का भी प्रचार है। कार्य-सिद्धि या प्राप्ति के बदले "बकरा" को बढाने की "मानता" लोग मानते हैं। ऐसे लोगों को बकरा न कटवा पाने पर बड़ी बेचैनी होती है। ऐसी "बलि" उचित है या नहीं - इस बात पर समाज में "द्वन्द्व" बीसवीं शताब्दी के द्वितीय दशक से प्रारंभ हो गया था। सामान्य गृहस्थ जनता मांस-मछली साने को बहुत बुरा या अनैतिक कार्य नहीं मानती। हां, कंठी बांधकर "भगत" बन जाने वाले का मांस खाना किसी भी दशा में उचित नहीं माना जाता। स्वतः ब्राह्मण वर्ग की मांस-मदम संबंधी धार-षाजों में स्थान-स्थान के अनुसार अन्तर है। उदाहरणार्थ, गौडा जिले के ब्राह्मण के लिये मांस खाने की कल्पना मात्र असंभव है और देवरिया जिले में ब्राह्मण पंगत को मांस और मछली साते हुए देसा गया है। ऐसी स्थिति में मांस-मदम का विरोध धार्मिकता के स्तर पर संभव है भी नहीं। उसका विरोध एकमात्र नैतिकता या मानवीयकरण की दृष्टि से किया जा सकता है। राहुल सांकृत्यायन ने निम्न अयोध्या के अन्वर रानीपाली नामक स्थान में होने वाले ऐसे संपर्ष-मारपीट का उल्लेख किया है।¹ कलकत्ता के काली देवी के मन्दिर में होने वाले मैसे की

1. "मेरी जीवन यात्रा",

बलि के विरुद्ध रामचन्द्र "वीर" ने बहुत बड़ा अन्वेषण किया था। बलि के नाम पर होने वाले इस रक्तपात से अहिंसा - प्राण महात्मा गांधी भी छटपटा हठे थे और उन्होंने लिखा है, "हमारा स्याल यह है कि वहाँ जो नगाहे वगैरह बजते रहते हैं उनके कोलाहल में बकरों को चाहे जैसे भी मारो उन्हें कोई पीडा नहीं होती।" गांधी जी ने वहाँ के भक्तों का इस संबंध में यह कथन उद्धृत किया है, हमारा काम-नहीं जीव हत्या को रोकना हमारा काम नहीं है। हम तो यहाँ बैठकर भगवद्भक्ति करते हैं।^१ मनोविकारों के बावलों में अहिंसा की धारणा का भास्कर अस्त हो गया। पूजा से विवेक बिकल गया। हिंसा का अर्थ तलवार या ऐसे ही किसी हथियार^{से शक्ति} को काट-डालना मात्र समझा जाने लगा। अहिंसा के नैतिक पद के पंख कट गये। गांधी जी ने लिखा है, "मैं तो यह कहूँगा कि गाय की पूजा करने वाले भी हम हैं और उसका वध करने वाले भी हमी हैं। गायों को हम इतना कम चराते हैं और बैलों पर इतना अधिक वजन लावते हैं कि उनकी हड्डी ही हड्डी बेसने में आती है। लकड़ी में भी चोमनी लगा लेते हैं और जब बैल नहीं चलता तब उसके वदन में चुमो देते हैं।"^२ इस प्रकार गोवध आंदोलन विवेकमयी अहिंसा के नैतिक स्तर से नहीं, धर्मान्धता के मूढता एवं विवेकांधता के स्तर से होता है।

पूजा-पाठ एवं स्थूल दृष्टि

हमारे सभी पर्व और त्यौहार जास्तिकता और धार्मिकता के रंग में रंग गये, विवेक और नैतिकता की उनकी साल चुच गई। दीवाली में ज्ञानम की लक्ष्मी जी की पूजा होगी अर्थात् उनके सामने आरती घुमाई जायगी, उन पर फूल फेंका जायगा और पानी छिड़का जायगा, लक्ष्मी की मिट्टी की मूर्ति के/के अघर -स्थल पर चीनी की मिठाई बिपका दी जायगी और घण्टी दुनदुना दी जायगी और आत में जुआ सेलकर पास की वास्तविक लक्ष्मी को भी घर से

१. गांधी जी की "आत्मकथा", पृ. २०४।

२. वही. पृ. २०४।

३. प्रार्थना प्रवचन, भाग १, पृ. २६१-२६२।

निकाल दिया जायगा। कारण यह है कि हम यह समझते हैं कि लक्ष्मी का एक शरीर है जो कसबपि हमें दिसाई नहीं देता किन्तु वह उसी शरीर से आती है और घर का दरवाजा बन्द देकर लौट जाती है। धन तेरस को हम धन का त्योहार मनाते हैं और अन्य दिनों की अपेक्षा अधिक धान पर बर्तन सरीस कर धन को छुटाते हैं। यम द्वितीया को कायस्थ कलम की पूजा करता है अर्थात् उस पर चन्दन आदि छिड़कता है किन्तु क्या अविवेक है कि उस दिन कलम से कुछ लिखा नहीं जा सकता ! मूर्खतापूर्ण पूजा का इससे अच्छा उदाहरण और कहाँ मिलेगा हम राम नवमी और कृष्ण जन्माष्टमी को प्रतीक नहीं मानते; उसका स्वरूप उपलब्धात्मक नहीं है बल्कि अभिधात्मक है। हम मानते हैं कि १२ बजे रात को कृष्ण जी पैदा हो गये। इन सब की अन्यथा व्याख्या तो सुधारवादी मस्तिष्क की बात है !! अंधविश्वास की बड़ी विचित्र स्थिति है। हमने धन्वन्तरि त्रयोदशी को 'धन-तेरस' बना लिया और 'वर-तन' धान को बर्तन सरीसने में बदल लिया। पुराणों में लिखा है कि समुद्र से लक्ष्मी निकली थी। हमने उसका अभिधात्मक अर्थ लिया। जैसे वही मथा जाता है वैसे मेरु मथा नी से समुद्र मथा गया और उसमें से फलथी मारे एक सजीव-स्त्राण नारी बाहर निकली। मान्यवाद का सहारा लेकर यह अंधविश्वास यहां तक बढ़ा कि एक सज्जन समुद्र के किनारे जा बैठते हैं और पूछने पर कहते हैं, "..... यहां समुद्र के किनारे पड़ा हूँ --- न जाने किस वक्त लक्ष्मी की लहर चली जावे।" अभी कल तक पाव रोटी को लोग क्रिस्तानी मोजन समझते थे और बीसवीं शताब्दी के इस द्वितीयाई में भी ऐसे लोगों के सुँवईन सहज - जुलूस हैं जो किसी के घर की तामचीनी की कटोरियाँ और तश्त रियाँ को देकर यह अमृतोपदेश अवश्य देने कि इतने विचारशील होकर भी तुम मुसलमानी बर्तन में साना साते हो। 'हिंदू पानी', 'मुस्लिम पानी' का साइन बोर्ड मले ही^न रह गया हो, व्यवहार में वह अब भी है। सान-पान में छूत-छात की भावना का धार्मिक रूप ननद को मम मामी के हाथ का भी मोजन एक विशेष नैगवार

के बन्ध विना नहीं करने देता। चमार की गिरवी रसी हुई चीज में भी छूत माना जाता है या। धार्मिकता का एक बड़ा मनोरंजक रूपक अयोध्या में सरयू के किनारे या तीर्थों में दिखाई पड़ती है जहाँ एक धोती मात्र पहने नंगे बचन, थोड़ी-सी जमीन गीली करके, उस पर पंडित जी दाल-मौरी बनाते हुए दिखाई पड़ जाया करते हैं। बहुत दिनों तक लोगों का यह विश्वास रहा कि चूंकि नल में चमड़ा लगा होता है इसलिये उसका पानी पीने से धर्म चला जाता है। बंदरों को हनुमान जी की सेना समझ कर उन्हें चना खिलाने और उन्हें मारने वालोंको घृणा की दृष्टि से देखने वाले, चींटियों के झुंड पर चीनी: आंटा छिड़कने वाले धरम करम करके "पुन्ना" कमाने वालों की आज भी कमी नहीं है। आस्तिक अंध-विश्वास ने पीपल के पेड़ को "बरम बाबा" और हर ढीले को "मुइयां बाबा" में बदल दिया है। राहुल सांकृत्यायन ने अपने यशोपवीत संस्कार की विधि का उल्लेख इस प्रकार किया है, "भगवती के नाबदान में नया जनेऊ डुबाया गया और मेरे गले में डाल दिया गया। बस जनेऊ की विधि समाप्त!"¹ ब्राह्मण घरों में आज भी यशोपवीत संस्कार के अवसर पर मंडप बनाया जाता है, कलशा सजाया जाता है, आम की लकड़ी के नये पीड़े और लिखने के लिये तख्ती तैयार कराई जाती है, पंडित आते हैं, देर तक देवताओं की पूजा होती है, मन्त्रोच्चारण होता है, लडके को धोतो-लंगोटी पहनाई जाती है, कंधे पर मृग-चर्म और हाथ में पलाश का दंड देकर उसे पढ़ने के लिये "काशी" भेजा जाता है अर्थात् मंडप के अंदर चारों तरफ घुमा दिया जाता है, पात्र लेकर वह भिक्षा मांगता है तो एक तरफ बैठी हुई औरतों का हजूम और दूसरी मर्दों का झुंड पात्र में पैसे आपि डालता है, चन्च ही मिनटों में उसी मंडप के एक कोने से उसे यह कहकर लौटा लिया अर्थात् सड़ा कर दिया जाता है कि लौट चलो, घर लौट चलो, तुम्हारा ब्याह कर देंगे। इस प्रकार "ब्रह्मचारी जी" घंटे आधे घंटे के अन्दर काशी से सब कुछ पढ़ कर लौट आते हैं। चूंकि द्विज हैं - यह उनका दूसरा जन्म हुआ है अतः स्नान हो और ठाठ से इस अवसर पर बावर्ते चलती हैं। ब्रह्मचारी जी रेवमी कोट पतलून टाई-शूट पहनकर ताश खेलते हुए नजर आते हैं!!!

‘धर्म-कर्म-भाव-शक्ति’

साधारण धर्म प्राण व्यक्तित्व - ब्राह्मण - ‘हनुमानचालीसा’, ‘हनुमान बाहुक’ और ‘रामायण’ का भक्त होता है। यही उसकी प्रस्थान-त्रयी है। हिंदी प्रदेश की सामान्यजनता शक्ति, शैव-और वैष्णव पूजा का जीवन में समन्वय कर लेती है। इसकी भी पूजा, उसकी भी पूजा - सब की पूजा! यहाँ शिवरात्रि पर ‘शंकर’ की पूजा, ‘सैंकट’ के अवसर पर शक्ति की पूजा, और रामनवमी और कृष्ण-जन्माष्टमी पर विष्णु के इन अवतारों की पूजा हिन्दुओं के घर-घर में होती है। सब देवता है; सभी पूज्य हैं। संध्या-उपासना ब्राह्मणों की चीज समझी जाती है। ‘विश्वासं फलदायकं’ तथा ‘मानो तो देव नहीं तो पत्थर’ मानने वाली जाति ने पितरों के प्रति ठ्याकहारिक रूप में प्रदर्शित की जाने वाली श्रद्धा को ‘सराध’ में बदल दिया और मान लिया कि ‘आकाशात् पतितं तोयं यथा गच्छति सागरं, सूर्यदेवनमस्कारः केशवम् प्रति गच्छति।’ उसने बिना तर्क के यह भी मान लिया कि जैसे हाड-मांस के मानव शरीर को प्यास लगती है वैसे ही मस्तीभूत शरीर वाले पितरों को भी प्यास लगती है और ^{उसे} एक गिलास पानी पी लेने से हमारी प्यास कुछ सकती है वैसे द्वार के पितृपक्ष में एक जगह बैठकर मंत्राहुति जल-दान करने से न जाने कहां-कहां और न जाने किस-किस योनि में होने वाले पितर गण तृप्ततृषा हो जाते हैं। हमने मान लिया और हमने यह भी मान लिया कि पैसा जिसका लगेगा, आयोजना जिसकी और से की जायगी, कथा का पुण्य उसी को मिलेगा - मले ही वह कथा उसके निवास-स्थान से कितनी ही दूर क्यों न हो रही हो और सुने वाले का कान किसी दूसरे ही व्यक्तित्व का क्यों न हो! कालेजों और विश्व विद्यालयों में ‘अटेन्डेन्स बाई प्राक्सी’ प्रचलित है यद्यपि ‘अनरिकग्नाइज्ड’ है किन्तु धर्म-विधान में हमारी जनता ने ‘पुण्या-र्जन बाई प्राक्सी’ भी संभव कर दिया है। राहुल सांकृत्यायन ने ऐसे धार्मिक अंध-विश्वास को एक बड़ा मनोरंजक उदाहरण प्रस्तुत किया है - ‘मेरी बचेरी मोसी जब पानी-बर्तन के कामों में बहुत व्यस्त रहती तो वह अपनी मुंदरी रख जाती। मां और मैं के साथ उसे भी कहानी सुनाती। उपस्थित सखियाँ कान से उसे सुनाती

और मौसी की अनुपस्थिति में मुंदरी सारी कहानी सुन लेती जिसे मौसी अंगुली में पहन कर सुनने की आगिनी बन जाती।¹ साधारणतः हिन्दू समाज पुण्य के अवसरों पर, इच्छापूर्ति के अवसरों पर, पूर्णिमा अथवा अभावस्था के अवसरों पर सत्य नारायण जी की कथा सुना करती है। पंडित जी बड़े प्रेम से यह कथा सुनाते हैं। रौचक बात तो यह है कि सत्यनारायण बाबा की इस कथा में कथा सुनने के सुफल से संबंध रखने वाली और न सुनने के परिणामस्वरूप जाने वाली विपत्तियों से संबंध रखने वाली कहानियां - क्याएं तो कई हैं किन्तु वह मूलकथा - सत्यनारायण बाबा की अपनी कथा - कौन सी है जिसके सुनने या न सुनने के परिणामस्वरूप ये कहानियां बनी - वहीं नहीं है। सत्यनारायण जी की पूजा की विधि तो है किन्तु उनकी कथा वहीं नहीं है। कितनी बड़ी बिड़बना है कि इतनी सामान्य-सी बात - इतनी बड़ी प्रवचना - पूरी की पूरी जाति की समझ में नहीं आ सकी और यदि आई भी तो उसकी प्रतिक्रिया न दिखाई पड़ी और बैरिस्टर तथा प्रोफेसर से लेकर मूढ़ किसान - मजदूर तक के घरों में यह कथा चलती है। गंगा स्नान से पाप कटता है, दान - पात्र - कुपात्र का विचार किये बिना - दैन से पुण्य प्राप्त होता है, तीर्थ यात्राएं (मले ही वे तीर्थ स्वतः पाजी भिसमंगों और ठयभिवारी पंडों के भ्रष्टाचार के गढ़ हों) और परिष्कार तथा मन्दिरों में मूर्तियों के दर्शन हमारे पापों का निवारण करके पुण्य लाभ कराते हैं, मृतक की श्राद्ध क्रिया आदि और जीवन की विभिन्न स्थितियों पर शास्त्र-विहित संस्कार हमें धर्मनिष्ठ सिद्ध करते हैं। (मले ही हम उच्चरित मंत्रों का एक अक्षर भी न समझते हों और हमारे लिये उनका उच्चारण भी वह करता हो जिसका उच्चारण भाषा-विज्ञान की दृष्टि से बिल्कुल अनुपयुक्त हो), न जाना ही हमारा उपवास है और प्रति दिन वाला भोजन न करके उससे अधिक पौष्टिक तत्वों से परिपूर्ण भोजन हट कर करते रहना ही हमारा द्रुत है, बामनों द्वारा निर्देशित कर्मकांड हमारा धरम करम है और इन कर्मकांडों का उल्लंघन करने वाला बेधरम समझा

जाता है। हुआहुत और ढोंग ढकोस्ता तथा पासंड और आहम्बर में तथा धर्म-कर्म में अभिन्नता स्थापित हो गई। इनके सम्बन्ध में बस एक ही बात और कहनी है और वह यह है कि ये विभिन्न धार्मिक व्यक्तित्व - जो नहीं कर पाये वह अपनी सीमाओं और विवशताओं के कारण किन्तु वे जो कुछ करते थे उन सब की उनकी धार्मिक ईमानदारी पर कोई भी सन्देह नहीं किया जा सकता। वे सबकुछ मानते थे कि ऐसा करने से ऐसा होता है। ऐसा नहीं कि वे दिसाने मात्र के लिये वैसा करते रहे हों। उनका पक्का विश्वास था कि सरजू जी में हुबकी लगाने से पाप कट जाता है। मूर्ति को भोग लगाने से भगवान प्रसन्न होते हैं। सत्यनारायण बाबा की कथा सुनने से पुण्य मिलता है। आस्था और विश्वास की यह ईमानदारी ही हमें बचा ले गई। आस्था का ^{अभाव} कुछ एम.ए., बी.ए. नौजवानों में द्वितीय महायुद्ध के बाद थोड़ा-बहुत हुआ है यद्यपि उस अभाव में कोई बल नहीं। वह अभाव ऐसा समर्थ नहीं जैसा दयानंद - विवेकानन्द का था वह महत्त्व केन्द्र की चीज है। उपर्युक्त बातों में से अनेक ऐसी हैं जिनका वर्णन उल्लेख आधुनिक हिंदी कथा साहित्य में मिलता है। प्रसाद का "कंकाल" उदाहरण रूप में उपस्थित किया जा सकता है। साहित्य के लिये इतने अधिक उपयोगी यह हो भी नहीं सकता था।

इस्लाम-ईसाइयत और भारत

उपर्युक्त हिंदू धर्म के साथ-साथ हिन्दी प्रवेश में इस्लाम भी इधर पाँच-छः सताब्दियों से पर्याप्त फैल गया था किन्तु इतने सताब्दियों तक साथ-साथ रहने पर भी और अनेक हिन्दुओं के इस्लाम स्वीकार कर लेने पर भी हिन्दू और मुसलमान धार्मिक दृष्टि से एक दूसरे से प्रायः अपरिचित ही रह गये। इसके ऐतिहासिक कारण हैं। महमूद गजनवी का मूर्तियों और मन्दिरों को तोड़ना और उनका अपमान करना औरंगजेब का इतनी कट्टरता के साथ हिंदुओं से व्यवहार करना आदि इतना ध्यानक हो गया कि हिंदुओं का हृदय मुसलमानों और इस्लाम

की ओर से सामान्यतः फट गया। हिंदुत्व की जड़ बहुत गहराई में थी और उसकी महानता तथा प्रभावशीलता असाधारण थी। इस्लाम का नवीन तेजोमय रूप विकराल था। उसकी तूती स्पेन से अफगानिस्तान तक बँकी चुकी थी। राज-पूतों की तलवारों के - पानी में-जौहूर ने अफगानों और फरगाना वालों की तलवारों के पानी से डटकर मुकाबला किया। नयेपन और कूटनीति ने उन्हें जिता दिया, अपनी ही कमजोरियों के कारण हम हारते गये किन्तु न तो जीतने वालों ने जीतते पर निश्चिन्तता की साँस ली और न हारने वालों ने अन्तरतम से पराजय स्वीकार की। राणा सांगा, राणा प्रताप, हेमू, हिमू, शिवाजी, मरहठे आदि इसके प्रमाण हैं। जीत का गर्व उधड़र से न गया, अपराजेयता पर से विश्वास इधर का न हटा। भारत में इस्लाम की धाक उस आसानी से नहीं जमी जैसे यूरोप में जमी थी। कोई किसी को बचा नहीं पाया। दोनों एक दूसरे के ऐतिहासिक सिर बर्ष बनकर रह गये। दोनों अपने अपने वास्तविक स्वरूप को भूल गये और इसलिये ये दोनों एक दूसरे से मिल नहीं पाये। कितने भयानक आश्चर्य की बात है कि तेरह सताब्दियों तक के परिचय के बावजूद भी इस्लाम का अनुयायी आज 'क़ाज़ि' को 'बरहमन' ही कहता है। वह अंगरेजी के कठिनतम शब्दों के उच्चारण कर लेता है किन्तु 'हिमालय' को 'हिमाला' ही कहता है। यह स्वाभाविकता पर कटुता की विजय थी। बीसवीं सदी के आगमन के समय हिन्दू - मुसलमान उस तराबू के दो पलड़े हो गये थे जिसके सम-विन्दु पर अंगरेज का हाथ था, जिसका समतोल सूत्र अंगरेजों की मुठ्ठी में था। अंगरेजी साम्राज्यवाद ने इस्लाम और उसके अनुयायियों को हिंदुत्व और उसके अनुयायियों के बराबर की स्थिति में उतार कर बैठा दिया। मुसलमान यह नहीं भूला कि कल ही उसने हिंदुओं पर शासन किया था और अगर मौका मिलेगा तो जाने वाले कल वह फिर उन पर शासन करेगा। इधर हिंदू उनके अत्याचारों को नहीं भूला था। एक नये विद्वेष ने जन्म लिया लेकिन यह विद्वेष नेताओं और उनके स्वार्थी अनुयायियों तक ही सीमित रह गया। धार्मिकता के व्यावहारिक दृष्टिकोण से सामान्य जनता की प्रवृत्तियाँ एक-सी हो गई थीं। प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति का स्वरूप विभिन्न था। कर्मकाण्डों पर धर्म के

मूल तत्व से अधिक विश्वास मुसलमान जनता की भी प्रवृत्ति थी। इसी प्रकार अंधविश्वास उनमें भी था। मेरे टाइम्स ने लिखा है, 'सामान्य जनता सन्तों में, प्रार्थना स्वीकार करने की - इच्छा पूर्ति करने की और चमत्कार उपस्थित करने की उनकी शक्ति और क्षमता में विश्वास करती है और अपने इस विश्वास को सही, उपयोगी और व्यावहारिक मानती है।' ¹ चाहे यह हिन्दुओं की मूर्ति पूजा का ही प्रभाव है कि मुसलमान भाई भी पीरों, दरगाहों और कब्रों की पूजा अपने हिन्दू भाइयों की तरह करते हैं। चूंकि साहित्य की रचना पढ़े-लिखे लोग करते हैं और पढ़े-लिखे लोग जन-प्रवृत्तियों से उतने परिचालित नहीं होते जितने अध्ययन से प्राप्त ऐतिहासिक तथ्यों से, इसलिये साहित्य की रचना के क्षेत्र में ऐतिहासिक कारणों से उत्पन्न पारस्परिक अविश्वास एवं अज्ञानता का ही अधिक प्रभाव पड़ा और वह भी इस रूप में कि आधुनिक हिंदी साहित्य के क्षेत्र में मुसलमान साहित्यिकों का योग प्रायः नगण्य-सा रहा है। यही स्थिति ईसाई धर्म की भी रही और उस धर्म के तत्वों का भी हमारे साहित्य पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ा। सच्ची बात तो यह है कि अपने सांस्कृतिक परिवेश में ईसाई धर्म इतना पार्श्वान्तर रहा कि उसे हम सच्ची दृष्टि से भारतीय धर्म कभी मान ही न पाये और भारतीयता के रंग में पूरी तरह से रंगा हुआ हिन्दी साहित्य उससे विलकुल ही प्रभावित नहीं हुआ।

दर्शन

इस अंधकार-काल में जो स्थिति हमारे धर्म की थी लगभग वैसी ही स्थिति हमारे दर्शन की भी थी। हमारे यहां धर्म और दर्शन भिन्न-भिन्न तत्व बने नहीं, पूर्णरूप से अभिन्न तत्व हैं। हमने दर्शन के क्षेत्र को केवल चिन्तन, मनन, और अनुमान का ही क्षेत्र कभी नहीं माना। भौतिक क्षेत्र की सीमाओं से अपने को मुक्त करके सुविशुद्ध प्रज्ञा के द्वार चिन्तन - मनन और मंत्रन करके जो पाया

१. "इस्लाम इन इंडिया ऐंड पाकिस्तान", पृ. १७४।

वह हमारा दर्शन बना और व्यावहारिक क्षेत्र में उसकी अवतारणा के लिये जो करणीय - कर्तव्य हुआ वही हमारा धर्म बना। अतएव भारत में एक का पतन और दूसरे का उत्थान संभव ही नहीं था। और तब बीसवीं सताब्दी की भूमिका में जो गति धर्म की हुई वही दर्शन की भी हुई। परिस्थितियों ने जैसे धर्म को जीवन के कर्मक्षेत्र से अलग कर दिया वैसे ही दर्शन को भी अलग कर दिया किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से जिस सुरक्षात्मक दृष्टिकोण से हमने धर्म को जितना और जहाँ तक अपनाये रखा उतना ही और वहाँ तक दर्शन को भी नहीं छोड़ा। व्यावहारिक दृष्टि से धर्म भी समन्वयात्मक रहा और दर्शन भी। कुछ अद्वैतवाद, कुछ विशिष्टाद्वैतवाद, कुछ आस्तिक, कुछ नास्तिक, कुछ मीमांसा, कुछ पाशुपत, कुछ उक्ति, कुछ शैव, कुछ योग, कुछ गीता, कुछ उपनिषद् आदि दर्शनों की बातें आकर यहाँ मिल गईं। इस प्रकार एक ऐसी सिधड़ी बन गई जो हिन्दू समाज के व्यावहारिक जीवन के लिये पूर्णरूपेण सुपाठ्य एवं लाभप्रद हो गई।

ईश्वर, जीव, प्रकृति आदि

हिन्दू समाज मानता है ईश्वर एक है। वह सर्व समर्थ है। वह सर्व व्यापक, सच्चिदानन्द, अनन्त, सर्वनियन्ता, सर्वान्तर्यामी, नित्य, निर्विकार, सर्वकर्मफलदाता, अविनाशी, गुणातीत और जगत की उत्पत्ति-स्थिति-संहार का कारण है। समस्त विरोधी वृत्तियों का वह सन्धि-स्थल है। समस्त वृत्तियाँ वहाँ पहुँच कर या उससे संबंधित होकर अपनी अपनी विशिष्टताएँ सो बेती हैं। वह वीनदयालु, वीनबन्धु, कृपासागर और पापियों का उद्धार करने वाला है। वैसे तो वह निर्गुण है किन्तु वृत्ति वह सबकुछ कर सकता है, इसलिये 'परिब्राज्या साधूनां विनाशाय च दुष्कृतां, धर्मसंस्थापनार्थाय' युग युग में अवतार लेता है। लीला करने की भावना से प्रेरित होकर वह सृष्टि की रचना करता है।

जीव ईश्वर का ही एक अंश है और अंतरूप में ईश्वर की समस्त विशेषताएँ उसमें वर्तमान हैं। भगवान की दो मायाएँ हैं - विद्या माया और

अविद्यया माया। इस अविद्यया माया के वश में होकर जीव अपने वास्तविक स्वरूप को भूलकर काम, क्रोध, मोह, लोभ, ममता, अहंकार आदि में फँस जाता है और जन्म-मरण के कष्ट उठाया करता है। वह असमर्थ हो जाता है और मांति-मांति के कष्ट उठाया करता है। ज्ञानमार्ग अथवा भक्तिमार्ग के द्वारा जीव भगवान का दर्शन प्राप्त कर सकता है और मोक्ष भी प्राप्त कर सकता है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। ये तीनों गुण हैं सत्, रजस्, और तमस्। माया से आवल्ल जीव प्रकृति का दास हो जाता है। वह रुढ़िवादी हो जाता है और अंध भ्रम कर विश्वास करने लग जाता है।

कल्याण-मार्ग

इसके लिये तो हम वेदों पर विश्वास करते हैं किन्तु चूंकि कलि-युग में वेदों का लोप हो गया है इसलिये हमारा विश्वास है कि भगवान का नाम रटने से ही हमारा कल्याण हो सकता है। व्यावहारिक दृष्टि से ब्रह्मण वाक्य और वाचा वाक्य ही प्रमाण हो गया है। तात्त्विक दृष्टि से जगत माया है किन्तु व्यावहारिक दृष्टिकोण से यह सत्य और तथ्य है। यहाँ रहने और अच्छे ढंग से रहने के लिये उचित अनुचित सब कुछ किया जा सकता है। पाप किये जायें और उसके फल से बचने के लिये कुछ पुण्य कार्य - जैसे, मंगल का वरत, दान-पुनन, देवता की 'पूजा', पवित्र नदियों में डुबकी लगाना, कर्मकांडों का पालन आदि-किये जाना हमारी वृत्ति हो गई है। मरने के बाद सांसारिक जीव के गन्तव्य पर पहुँचाने के पहले उसे एक नदी पार करनी पड़ती है जिसका नाम है वैतरणी। उसे पार करने के लिये पूँछ का सहारा पाने को नायक का दान करने के समय लोगों से कराया जाता है। नहीं तो जीव उसी में डूबा -उतरा^प करता है। डूबता है तो जलवर कष्ट देते हैं, उतराता है तो सुसार पक्षी।

प्रायश्चित्त और परसाध

जीव की मुक्ति का एक मार्ग और भी प्रचलित है। उत्साह और

सक्रियता से पाप किये जाओ और मन्दिर में भगवान के सामने रोये जाओ - "हे भगवान्! हम बड़े पापी हैं! आप ही हमारा उद्धार करो! हम बड़े अधम हैं! हमें आप ही का सहारा है!" भगवान एक पुलिस अफसर या प्रशासनिक अफसर की तरह है और जीव एक धनवान मित्तारी की तरह! जो करता है वह करता ही जायगा और चिरौरी विनती करके अपने अपराध क्षमा कराता रहेगा। मरने के बाद जीवको भगवान की कचहरी में जाना पड़ता है। चित्रगुप्त भगवान की कोर्ट के पेचकार साहब हैं और खुद भगवान जज साहब। ये भगवान जी चापलूसी पसंद करने वाले - घुस्सोर - बड़े आदमियों जैसे हैं। हनुमान जी, देवी जी आदि देवता-देवी भी बड़े लालची हैं। ये बीस आने के लहडू या बकरे आदि की लालच में अपने मौका परस्त भक्तों की आवश्यकता पूर्ति कर दिया करते हैं।

कर्म

कर्म-संबंधी हमारी दार्शनिक धारणा यह हो गई कि जीवन में धन-सम्पत्ति, मानकमर्यादा बढाकर बड़ा आदमी बनने के लिये जो भी ठीक समझो, करो। इस तरह करो गोया अमर हो। उचित अनुचित, धोसा धड़ी, बेईमानी, झूठता, व्यभिचार आदि सब कर सकते हो। हाँ, साथ-साथ दान-पुन्न जरूर कर करते चलो। मंदिर बनवाओ, 'धर्म साला' बनवाओ, पुजारी जी के जीवन निर्वाह की व्यवस्था किये रहो, वामन देवता को 'सीधा' देते रहो; बस, भगवान मला करेंगे। कार्य-कारण संबंध अनिवार्य नहीं रह गया; वह बड़ी आसानी से निवार्य हो गया। कर्म सिद्धान्त का अर्थ भाज्यवाद हो गया। अच्छा हुआ, भाज्य से; बुरा हुआ, भाज्य से; ६ साल की बच्ची के ६० वर्षीय और राज-रौज के आशय स्थान पति देवता पर गये, भाज्य से; फेल हो गये, भाज्य से; मुकदमा हार गये, भाज्य से; गरीब हैं, भाज्य से; अमीर हैं, भाज्य से; जो कुछ हो रहा है, भाज्य से, जो कुछ नहीं हो रहा है, भाज्य से; जो कुछ नहीं सकता भाज्य से; जो कुछ हो जायगा, भाज्य से; भाज्य-तकदीर - एक विनोद

वार्त्तिक संग्रहालय है जहाँ से ही सब कुछ निकलता है। "करम" माने "कर्म" नहीं, मत्थे की लाल के भीतर कृता के द्वारा अदृश्य रूप से लिखित कुछ पंक्तियाँ हैं।

आवागमन और स्वर्ग-नरक

हम आवागमन की बात मानते हैं। हम यह भी मानते हैं कि पिछले जनम में जो कुछ किया है वही इस जनम में भोगते हैं। साथ ही साथ हम यह भी मानते हैं कि दो ऐसी जगहें भी हैं - कहां हैं, यह पता नहीं, शायद आसमान में कहीं हैं - जिनमें से किसी एक जगह भगवान के राज्य की न्याय-ठकाना के नियम के अनुसार जीव को जाना पड़ता है और सूक्ष्म शरीर धारण करके - जो अंगूठे के बराबर होता है - अपने अपने कर्मों के फल को भुगतना या भोगना पड़ता है। इन दोनों जगहों में से एक को स्वर्ग कहते हैं और दूसरे को नरक। चोरी करने वाले, ठग-धोखा करने वाले, जादि को क्या बंध मिलता है, इसकी तसवीरें बाजारों में चार-चार या छः-छः आनों में मिलती हैं। नरक ब्रिटिश साम्राज्य के किसी भयानक जेल की तरह है जिसके जेलर साहब का नाम है यमराज जी; और स्वर्ग किसी समृद्ध विलासी राजा की सुन्दर राजधानी की तरह है जिसके राजा साहब का नाम है इन्द्रदेव।

भगवत-वर्धन और उसका फल-वरदान

भगवान का वर्धन हो सकता है किन्तु वह बड़े मान्य से ही होता है। उसका फल है अच्छे भोग के वर-दान की प्राप्ति। भक्त लोग अनंत भक्ति का वरदान मांगते हैं। मोक्ष की बात कभी-कभी सामने आ जरूर जाती है किन्तु सुंदर भोग अथवा लोकोत्तर आनन्दमयी चिर श्रुति को छोड़कर निःस्वाद मोक्ष मांगे कौन और मांगे भी तो क्यों? नैतिकता और संयम की दृष्टि से हमारे जीवन-वर्धन की स्थिति बड़ी ही दयनीय हो गई। धर्म की आड़ में समस्त राजसिद्ध और तामसिक क्रियाओं का ^घअधोप्रचलन हो गया। काम, क्रोध, मोह, माया-

ममता, मद, भ्रूँसर, अहंकार, ईर्ष्या, द्वेष, दोष, स्वार्थ, ढोंग, ढकीसलों का धार्मिकों के समाज में बेरोकटोक व्यवहार होने लगा। भक्तजन अपने महात्माओं के ऐसे कार्यों को देख कर भी इस प्रकार न देखने लगे मानों इनको देखना और इन पर विचार करना पाप है। कर्मकांड में से नैतिकता का विचार निकल गया। विचार-विनिमय के लिये कोई संभावना ही नहीं रह गई। उपासना का संबंध भाव विहीन कर्मकांड से हो गया। ज्ञान से उसका संबंध विच्छेद हो गया। दर्शन कहानी प्रधान हो गया और वे कहानियां प्रायः पुराणों से ली गईं। एक प्रकार से हम कह सकते हैं कि इस युग में हमारा जीवन-दर्शन पतनी=मुली, भावशून्य, भाव-नाशून्य, भक्तिवर्धन, हो गया।

धर्म का वास्तविक रूप

हिन्दु धर्म और दर्शन का वास्तविक रूप यह नहीं था क्योंकि यह रूप किसी महान् साहित्य की न तो प्रेरणा बन सकता है और न विषय। ऊपर कहा जा चुका है कि जो व्यक्ति को और समाज को धारण कर सके वही धर्म है अर्थात् जो व्यक्ति के व्यक्तित्व को और समाज के कल्याणकारी स्वरूप को धिक्कृत होने से बचाए रख सके एवं उसको स्वस्थ एवं स्वाभाविक रूप से गतिशील रख सके वही धर्म है। धर्म की उपर्युक्त परिभाषा 'धर्म' शब्द के लक्षण एवं अर्थ में ही निहित है। 'धर्म' शब्द व्याकरण के अनुसार 'धृज् धारणे' धातु के आगे 'धृ' प्रत्यय लगाने से बनता है। इसकी व्युत्पत्ति तीन प्रकार से हो सकती है -

१. ध्रियते लोकः अनेन इति धर्मः - जो लोक को धारण करे वह धर्म है।
२. धरति धारयति वा लोकम् इति धर्मः - जो लोक को धारण करे वह धर्म है।
३. ध्रियते यः स धर्मः - जो दूसरों से धारण किया जाय वह धर्म है।

अमरकोष कार के अनुसार 'धर्म' शब्द के अनेक अर्थ हैं; यथा - सुकृत या पुण्य, वैदिक विधि यागादि यमराज, न्याय, स्वभाव, आचार, सीमरस, की पीने वाला। निरुक्त में 'धर्म' शब्द का अर्थ 'नियम' बताया गया है।

महर्षि ^{कणाद} ब्रह्मसूत्र ने कहा है कि जिससे इस लोक में उन्नति और परलोक में कल्याण या मोक्ष की प्राप्ति हो वह धर्म है। मनु के अनुसार समस्त वेद अर्थात् ऋक्, यजुः, साम और अथर्व वेद धर्म का मूल है। गीता भी वेद में कहे हुए तत्त्वों को ही धर्म मानती है। क्रिया या कर्म द्वारा सिद्ध होकर जो कल्याण करे वही धर्म है। हमारे धर्म की उत्पत्ति सत्य से, बुद्धि दया और दान से, निवास क्षमा में और नाश क्रोध से होता है। मनु के अनुसार वेद, धर्मशास्त्र, सप्ताचार और आत्मा की प्रियता धर्म का लक्षण है। व्यक्ति और व्यक्ति के लिये, व्यक्ति और समाज के लिये, सामान्य और विशेष परिस्थितियों में, स्वभाविक स्थिति और आपत्तिकालीन स्थिति में धर्म का स्वरूप बदल जाया करता है, यद्यपि उसकी दृष्टि और लक्ष्य एक ही रहता है। धर्म के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा गया है, "धर्म भारतीय विचारों और जीवन का आधार और युगों युगों से उसकी सत्यता का मार्ग प्रदर्शक रहा है। अपने इतिहास के विभिन्न आवर्तनों और परिवर्तनों के बीच वह इस सिद्धान्त को अविचलित रूप से ग्रहण किये रहा। आत्मा की मुक्ति और स्वतंत्रता उसके जीवन का पुरुषार्थ रहा है; मानव की पिढ्यता और जीवन की मूलभूत एकता, उसका शाश्वत संदेश।" गांधी जी के अनुसार धर्म वह तत्त्व है जो मानव के स्वभाव को बदल सकता है, जो मनुष्य को आंतरिक सत्य से बांधे रहता है और जो उसे सदैव शुद्ध करता है रहता है। सच्ची बात तो यह है कि धर्म-धर परिवर्तनीय मानवीय प्रकृति का अपरिवर्तनीय एवं शाश्वत धर्म है। राधा-कृष्णन ने धर्म के संबंध में विचार करते हुए लिखा है, "धर्म आचार्यों, विद्वत्-निष्कर्षों अथवा संस्कारों के सम्पादन एवं कर्मकांडों का नाम नहीं है। वह एक प्रकार का जीवन है। वह एक विशेष अनुभूति है। वह सत्य की प्रकृति का दर्शन है अथवा सत्य की अनुभूति है। यह अनुभूति भावातिरेक का रोमांचक नहीं है या आत्मपरक उपमावना नहीं है बल्कि सम्पूर्ण व्यक्तित्व का अनुभव है। मूल सत्य से संबंधित पूर्णतम असंख्य व्यक्तित्व है। वह आत्मा का विशिष्ट दृष्टि

१, 'दि कल्चुरल हेरिटेज ऑफ इंडिया', भाग. ४, भूमिका का ७ वां पृष्ठ।

कोण है.....।"^१ धर्म के आध्यात्मिक व्याकरण सम्बन्धी तथा मनु और कणाद आदि के द्वारा किये गए अर्थ और धर्मप्राण महात्माओं द्वारा उपस्थित किये गए स्वरूप तथा दार्शनिकों द्वारा की गई व्याख्या में कोई भी मौलिक अन्तर नहीं है। बातें एक ही हैं, केवल कहने का ढंग दूसरा है। उसके स्वरूप को और अधिक बोधगम्य बनाते हुए स्वामी शिवानन्द ने लिखा है, "जो आत्मा को ईश्वर में पुनरावृत्त कर देता है वह धर्म है। मानव सदैव अपने पशुवत् अस्तित्व से सन्तुष्ट नहीं हो पाता। पशुओं की तरह जीवन बिताते रहने से उसकी आन्तरिक तृप्ति नहीं होती। वह आध्यात्मिक सन्तोष आश्वासन और आर्ति चाहता है। ऐसे मानव की गहनतम आन्तरिक इच्छा - मांग - की पूर्ति एवं तृप्ति धर्म से ही संभव है।"^२

यह भी कहते हैं, "धर्म किसी व्यक्ति के जीवन और उसके मानस पर स्वीव प्रभाव डालता है। वह मस्तिष्क को आध्यात्मिक मोजन देता है। वह मानव को फिथ बना देता है। वह देवी जीवन है। वह हृदय को पिघलाकर उसे विमुक्त करके उसकी परिवर्तित कर देता है। विश्वास धर्म की नींव है। आत्मानुभूति उसकी बाह्यरूपरेखा है। पवित्रता, सत्यनिष्ठा, विमुक्तता और अहिंसा उसकी दीवारें हैं। नीर-बीर विवेक, अपरिग्रह, निर्मलता एवं प्रसन्नता, आत्म-संयम, चित्त की एकाग्रता और आकांक्षा इसकी ईंटें हैं। प्रेम इसका सीमेन्ट है।"^३ एक और धर्म का यह रूप है और दूसरी ओर अंधकार के परिणामस्वरूप उत्पन्न काजल की कोठरी से निकले हुए - हिन्दूधर्म का वह व्यावहारिक रूप, जिसे हम पिछले कुछ पृष्ठों में देख चुके हैं। दोनों में बड़ा अन्तर है। यदि हम कुछ और गहराई से देखें तो धर्म की इस व्याख्या के अनुसार अपने प्रचलित हिन्दू धर्म में हमें धर्म का एक भी तत्व संभवतः न मिल सकेगा। और हिन्दू धर्म ही क्यों, ईसाई, इस्लाम, पारसी बौद्ध जैन आदि कोई भी धर्म अपने वर्तमान व्यावहारिक रूप में धर्म की इस कसौटी

१. "हिंदू धर्म आफ लाइफ", पृ. १५

२. "वर्ल्ड आर्लियामेंट आफ रिलीजन्स", कमेनोरेसन बाल्यून, पृ. १०९।

३. वही, पृ. ७३।

पर सरा नहीं उतर सकता। इसका कारण है।

धर्म के रूप

बात यह है कि धर्म के दो रूप होते हैं - एक उसका प्राण अथवा मूल तत्त्व, और दूसरा उसकी बाह्य रूपरेखा। धर्म का पहला रूप शाश्वत एवं सनातन होता है। उसका दूसरा रूप समय, स्थान एवं परिस्थिति सापेक्ष हो होता है। साने गुरु जी ने लिखा है, "धर्म में दो भाग होते हैं : एक शाश्वत तत्वों का भाग और एक अशाश्वत तत्वों का भाग... धर्म का यमरूप नहीं बदलता लेकिन नियम रूप भाग बदलता रहता है।"¹ धर्म के इन्हीं दोनों रूपों को ध्यान में रखकर अरविन्द ने लिखा था, "धर्म मानव समाज का एक अत्यन्त महान् सांस्कृतिक प्रभाव है और इसने मानव जीवन के लिये शुरु से ही सबल प्रेरणा प्रदान की है..... इनकी विभिन्नताएं स्पष्ट हैं और ये विभिन्नताएं अपने-अपने जन्म-स्थान की भौगोलिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक स्थितियों से संबंध रखती प्रतीत होती हैं..... यदि हम धर्मों के केन्द्रीय अनुभवों को विचारें, उन अनुभवों को जिनसे उन का जन्म हुआ है तथा जिन्हें वे चरितार्थ करना चाहते हैं तो उनमें अपूर्व सद्धानुभूति और साम्य पाते हैं। यह धर्मों का आध्यात्मिक अंश है और यही उनकी प्रेरणा तथा प्राण है।"² गांधी जी ने भी कहा है, "आप इतना समझ लें कि सभी मजहब अच्छे हैं.....।"³

हिन्दू धर्म और वर्धन

ध्यान रखने की बात यह है कि हिन्दू धर्म का यह रूप विकृत नहीं हुआ। विकृत हुआ धर्म का वह भाग जो स्थान, समय और परिस्थिति सापेक्ष है, और इस विकृति का भी स्वरूप यह है कि सहज्राष्ट्रियों पूर्व निर्धारित

1. "भारतीय संस्कृति", पृ. ४२

2. "अपिनि" अरविन्द विवेकांक, अगस्त, १९५१, पृ. १२३

3. "प्रार्थना प्रवचन" पृ. ३३

हमारे कर्मकाण्ड वैसे के वैसे ~~हमारे कर्मकाण्ड वैसे के वैसे~~ ही रह गये। वे परिवर्तनों के साथ साथ परिवर्तित अथवा संशोधित नहीं हो पाये जिसका परिणाम यह हुआ कि परिवर्तित व्यावहारिक जीवन से उनकी संगति न बैठ सकी। उनके भीतर की सजीवता, स्फूर्ति, प्राणवान तत्व निकल गया। यही स्थिति अन्य धर्मों के साथ भी है। यदि हिंदू धर्म का सर्वस्व या प्रधान तत्व यही पक्ष होता तो हिंदुत्व कब का मिट गया होता, किन्तु यह तत्व हिन्दुत्व का प्रमुख तत्व है ही नहीं। यह प्रमुख उन लोगों के लिये है जिनके मस्तिष्क और चेतना के सभी दरवाजे और सिडकियां बन्द हैं, अर्थात् जो चेतना पाकर भी जड़ हैं। हिन्दी के साहित्यिक जड़ नहीं हैं और इसीलिये हिन्दी के आधुनिक साहित्य के निबन्धकारों ने धर्म के इस भाग को साहित्य का विषय कभी नहीं बनाया - साहित्येतर स्थलों और अवसरों पर वे भले ही इसी को अपनाते रहे हों। हिन्दू धर्म में प्रमुखा है उसके शाश्वत भाग की और उस भाग में न मालूम कितनी अव्यय संजीवनी शक्ति मरी हुई है !! वह मानव - आत्मा की शाश्वत वृत्तियाँ-प्रवृत्तियाँ पर आधारित है। वह व्यापक तत्वों से संबंधित है। वह मानव की सर्वव्यापक एवं सार्वकालिक प्रकृति की असली माँग की पूर्ति के लिये है। इसीलिये राधाकृष्णन ने लिखा है, "हिंदुओं के धर्म को धर्मशास्त्र न कह कर जीवन-योजना कहना ही अधिक उपयुक्त होगा।"^१ संपूर्ण प्रयत्न का उद्देश्य मनुष्य की आध्यात्मिक पूर्णता है.....)"^२ हमारा यह धर्म संस्थाओं और संस्कारों के जाल से लोगों के चरित्र एवं उनकी नैतिक मान-नाओं को विकसित करने के लिये है। यह शाश्वत मानव द्वारा अनुमोदित आचार-शास्त्र है। जिस देश का धर्म इतना महान् है और साथ ही साथ बौद्धिक दृष्टि से जो देश कभी भी किसी से पीछे नहीं रहा उसदेश का वर्णन भी वैसा नहीं हो सकता वैसा हमने पिछले पृष्ठों में देखा है क्योंकि वह मौआपत्तिकालीन वर्णन था। कारण यह है कि वर्णन धर्म का युक्तिवादी एवं बौद्धिक पक्ष है और धर्म वर्णन का व्यावहारिक स्वरूप है। हमारा वर्णन संसार में अनोखा है और हमारी पार्षनिक

१. "भारत की अन्तरात्मा", पृ. ३३।

२. वही, पृ. ३१।

उपलब्धियां विश्व की अनिवार्य एवं गौरवमयी विभूतियां हैं। उन्हें लौकर संसार परित्रि हो जायगा। यह संसार का प्रेरणा-स्रोत है। उसी ने भारत का मस्तक ऊंचा उठाया है।

दो संस्कृतियों का गलत दृष्टि लेकर मिलना

अठारहवीं शताब्दी में विश्व इतिहास की सबसे महत्वपूर्ण घटना हुई यूरोपियन शक्तियों का भारतीय शक्तियों से सम्पर्क। वे "सोने की चिड़िया" की लोज में भारत आये। उनका उस भारत से सम्पर्क स्थापित हुआ जिसके बारे में वे न मालूम कितनी रहस्यमयी बातें और आश्चर्यजनक कथाएं सुनते रहे। वे भारत में तो आये किन्तु भारत की समझने की ~~अन्तर्दृष्टि~~ अन्तर्दृष्टि लेकर नहीं आये। एक और दुर्भाग्य था। शान्त और उदार भारत उनके आने के कई शताब्दियों पहले से अंध-विश्वासी, स्वाधी, युद्धप्रिय और कट्टर स्ववित्पूत धर्म और जाति के सम्पर्क में आ चका था और विरोधों के मिलने से जो आलौटन-खिलौटन हुआ उसने कुछ ना-समझ किन्तु प्रभावशाली व्यक्तियों के कारण दोनों जातियों को समन्वित स्तुलित एवं सुव्यवस्थित स्थिति ^{तक नहीं आये दिया और दोनों पतने-नुकी हो चली। मिलन यदि सम्मिलन में बदल गया} होता तो यूरोपवासियों के आने के बाद का इतिहास कुछ और ही होता। किन्तु वह नहीं होना था, नहीं हुआ। यूरोपवासी भारत की समझने की अन्तर्दृष्टि लेकर आये नहीं थे और हमारी स्थिति ऐसी थी नहीं कि हम कुछ समझा सकते। परिणामतः उन्होंने मिथ्या दृष्टि से हमें समझना प्रारंभ किया और समझे यह कि भारत यद्यपि सोने की चिड़िया है किन्तु जो कुछ भारतीय है वह सब निकृष्ट है। धर्म, दर्शन, साहित्य, जीवन और समाज - सब तुच्छ हैं। वेद गहरियों के गीत हैं, धर्म रुढ़ियों - अन्धविश्वासों - अनेतिकताओं से भरी कपोल कल्पित क्रियाओं और कहानियों का बंडल है, सारा का सारा साहित्य अंगरेजी पुस्तकालय के एक साने से भी निकृष्ट है, जीवन - स्तर निम्नतम है और लोग असम्य हैं। परिणाम यह हुआ कि हमें सत्य बनाने का उत्तरदायित्व उनके कंधों पर भगवान ने अपने आप डाल दिया और संसार से हमारा - हम पापियों का - उद्धार कराने का ठेका "जुदा के बेटे" के अनुयायियों ने ले लिया और जिसका उद्धार किया इसका साक्षी - प्रमाण - गीजा, डामन, डिब्रू का इतिहास है।

"संभवामि युगे युगे" का वादा करने वाले को "संभव" होने की आवश्यकता पड़ गई, "सुजाम्यहम्" को "सृजित" होने का उपयुक्त अवसर विसाई पढ़ने लगा। अंश-वतार हुए - रामकृष्ण परम हंस, विवेकानंद, रामतीर्थ, दयानन्द, गांधी आदि, के रूप में। परमहंस ने प्राचीन ऋषि-मुनियों की जीवन कथाओं पर विश्वास पैदा करा दिया, विवेकानन्द ने धर्म-दर्शन को तात्कालिक जीवन से संयोजित कर दिया, रामतीर्थ ने भारत माता को एक धार्मिक अस्तित्व एवं व्यक्तित्व प्रदान किया; दयानन्द ने आर्य धर्म की युक्तियुक्तता तथा उसमें निहित शक्ति और श्रमता का दिग्दर्शन कराया और विरोधियों की अनर्गल वाणी के अनाचार को रोक दिया और गांधी ने व्यावहारिक-जीवन - राजनीति, समाज आदि में उसकी संभावनाओं और उपयोगिताओं को प्रत्यक्ष करके विसाई दिया। इन अलौकिक शक्तियों ने काया फलट कर दी। डी. एस. खर्मा ने सन् १८८५ ई. (कांग्रेस के स्थापना वाले वर्ष) से सन् १९५० ई. (भारतीय जनतंत्र की स्थापना वाले वर्ष) के बीच के समय को हिन्दुत्व के आधुनिक महान् पुनर्जागरण का युग माना है।^१ हमारा आधुनिक हिंदी साहित्य इसी कायाफलट, इसी पुनर्जागरण, इसी पुनरुत्थान, प्र प्राचीन आत्मगौरव की प्राप्ति के इन्हीं प्रयासों, इसी मंथन से निःसृत नवनीत की साहित्यिक अभिव्यक्ति है - झांकी है।

हिन्दु धर्म और ईसाई

हुआ यह कि जब ईसाइयत आसकरी का धर्म हो गई तब हम भारत वासी चौंक पड़े। इसके बाद हिंदुओं का शील कभी निम्नित नहीं हुआ। धर्मपरिवर्तन अधिकतर उन्होंने ही किया जो हिन्दुत्व में अनाकूल^३ थे अथवा उससे अस्वस्थ थे। उच्चवर्गीय लोगों को - समझदार लोगों को - हिंदुत्व ही प्यारा है। ईसाई धर्म प्रचारक हमारे धर्म में बुराइयाँ ही बुराइयाँ देखते लगे और अपनी पुस्तकों में की स लिखने लगे। हम भी सोचने लगे कि क्या सचमुच यही बात है। विचारशील लोगों ने हिंदुत्व का पर्येक्ष प्रारम्भ किया। हम अपनी बुराइयाँ विसाई पढ़ीं तो

१. 'हिन्दुज्म इ पि एजेज', पृ. ३।

साथ ही साथ अपनी महानता से भी हम परिचित हो गये। यहाँ से पुनर्जागरण प्रारम्भ हो गया। हमने देखा कि अंगरेजी शिक्षा पाये हुए नवयुवक अपने धर्म और अपनी संस्कृति से घृणा करने लगे हैं। हमारी समसदर जनता ने इनका तिरस्कार और बहिष्कार प्रारम्भ कर दिया। ये छिछले लोग चरित्रहीन निकले और चूंकि आज भी भारत की एक प्रमुख सांस्कृतिक विशेषता यह है कि अपराध क्षमा कर सकता है किन्तु चरित्रहीनता को कभी भी क्षमा नहीं कर सकता अतएव उनसे उनकी संस्कृति और उनके धर्म से अरुचि प्रारंभ हो गई। ईसाइयों की सबसे बड़ी भूल यही थी कि सांस्कृतिक दृष्टि से वे भारतीय कभी भी नहीं हो पाये और इसीलिये वे भारत के अपने कभी भी नहीं हो सके। इन ईसाइयों ने हमारे धर्म और हमारी संस्कृति की कम हानि नहीं की। आक्रमणकारी मुसलमानों ने यदि मन्दिर तोड़े थे, बलात् धर्मपरिवर्तन कराया था, देवताओं की मूर्तियों को तोड़ा था तो इन्होंने भी हमारे धार्मिक साहित्य, हमारे धर्म, हमारे देवताओं का अपमान किया। धर्म-परिवर्तन इन्होंने भी कम नहीं कराया। यही कारण है कि वे भी हमसे दूर हो गये - हमारे साहित्य से भी दूर हो गये। रहन-सहन में मुसलमान भाई तो हमसे मिल-जुल गये थे लेकिन यह नवीन आक्रमण चूंकि धार्मिक कम, सांस्कृतिक अधिक था, अतः वे हमारे पास किसी भी रूप में न आ सके। ताजिप में लाखों हिन्दू भाग लेते हैं किन्तु क्रिस्मस और ईस्टर में शायद एक भी हिंदू भाग नहीं लेता।

हिंदुत्व का पुनर्जागरण

रामाकृष्णन ने ठीक ही लिखा है कि हिंदू धार्मिक पुनर्जागरण का कुछ कारण तो पाश्चात्य सौजों का परिणाम है, कुछ पाश्चात्य - शासन के विरुद्ध होने वाली प्रतिक्रिया है और कुछ ईसाई धर्मप्रचारकों के धर्मप्रचार के विरुद्ध होने वाला विद्रोह है। यह विद्रोह करने वाला वही था जो न तो प्राचीनता से

पूरी तरह - अंधे ढंग से - चिपका था और न आधुनिकता के रंग में रंग कर प्राचीन को दिव्य मुला ही बैठा था। वह प्राचीनता से भी प्रभावित था और आधुनिकता से भी। आधुनिकता से प्रभावित मस्तिष्क की तृप्ति नये तत्त्वों नहीं ढूँढ़ पायी, नये निष्कर्षों और नये रूपों से होती है। हिंदू धर्म को अब हमें इस रूप में रखना था कि वह इन मांगों की पूर्ति कर सके। आज के युग ने पुराने धर्मों और दर्शनों को इस बात की चुनौती दे रही है कि वे अपनी उपादेयता और उपयुक्तता को एक बार फिर प्रमाणित करें नहीं तो नवीन परिस्थितियों की मांग और युक्तिवाद के हथौड़े से वे चूर चूर हो जायेंगे। उन्नतिशील सभी धर्मों के नेता इस चुनौती का जवाब सोचने में संलग्न हैं। इस दृष्टिकोण से देखने पर विश्व का प्राचीनधर्म-दर्शन हिंदुत्व, एक नई आन-बान से उमरता हुआ दिखाई पड़ रहा है। मीसन लाल आत्रेय ने जे. बी. प्रेट का यह कथन उद्धृत किया है कि आधुनिक विज्ञान की भूमिका में भी जो धर्म पुनर्जीवित होता हुआ दिखाई दे रहा है वह हिंदू धर्म ही है।

नव शिक्षित व्यक्ति तथा पुनर्जागरण की प्रक्रियाएं

सबसे पहले यह दृष्टि उन्हें मिलती जो नई शिक्षा पाये हुए थे और जिनके संबंध दूर दूर तक थे और जिनके ज्ञान की सीमा व्यापक थी। पश्चिम की संस्कृति भारत में घुस आई और उसके साथ साथ वे कारण भी आये जिनसे नवीन आशाएं, आकांक्षाएं और उत्सुकताएं पैदा हुईं। हिंदुओं ने अध्ययन किया और अपने को एक ऐसे संसार में पाया जिसमें राष्ट्रीयता, प्रजातंत्र, समानता, प्रत्येक व्यक्ति की महत्ता की भावना समान्य रूप से प्रचलित थी। वे हिंदू नवीन शिक्षा व्यापार और यात्राओं के लिये उत्सुक हुए। वे विभिन्न वर्गों में घुले मिले, विभिन्न जातियों के साथ बैठकर चाया-पिया और समुद्र यात्राएं कीं यद्यपि जाति-बहिष्कार का डर बसावर उनके साथ रहा। नई आवश्यकताओं और आकांक्षाओं ने उनके व्यक्तित्व को विभिन्नता दी -- स्वतंत्र एवं मुक्त-

1. पापुलर हिंदूज्म सेट ए ग्लांस की भूमिका।

व्यक्तित्व, आत्मविश्वासी व्यक्तित्व क्रियाशील व्यक्तित्व । सारी १९ वीं
 शताब्दी में सामान्य जनता की स्थिति पूर्ववत् रही । यद्यपि परंपरा से चले
 आते हुए ढांचे वैसे ही रहे किन्तु कुछ उन साहसी व्यक्तियों के मस्तिष्क में नये
 विचारों की जगह मिली जो ऐसे परिवर्तनों की राय देते रहते थे जिन्हें सुनकर
 पुराने विचारों और मान्यताओं के विश्वासी व्यक्ति चौंक पड़ा करें । नवीन
 सामाजिक मान्यताओं की स्वीकृति तथा व्यक्ति की स्वाधीनता और समानता
 के विचारों ने १९ वीं शताब्दी में भविष्य के महान आन्दोलनों की पृष्ठभूमि तैयार
 कर दी । इस प्रकार जन साधारण का उत्थान हुआ और उससे अपने को
 उस विशाल समाज के एक महत्वपूर्ण भाग के रूप में देखा जिसके सदस्य न केवल अपने
 अस्तित्व को ही व्यक्त करते थे अपितु आगे बढ़कर न्याय की मांग करते थे । राष्ट्र
 वाद की विकासशील चेतना के कारण समाज का नवीन प्रकार से मूल्यांकन हो हुआ
 इस मूल्यांकन का आधार जांत-पांत नहीं था बल्कि उससे आगे बढ़कर सम्पूर्ण समाज
 को उसने ध्यान में रखा । १९ वीं शताब्दी के सुधारकों ने सम्पूर्ण व्यक्तियों
 की आदर भावना का ध्यान रखते हुए मानवतावादी दृष्टिकोण को सामने रख
 कर बातें कीं । वे बड़े लोगों को नाराज नहीं करना चाहते थे । उनको सहजता-
 सीमित रूप में ही मिली । बीसवीं शताब्दी के नेताओं ने और अधिक सुलभ कर
 तथा यथार्थ वादी दृष्टिकोण से बातें कीं । गांधी जी ने कहा कि अछूतों की
 सामाजिक स्थिति और उनकी आजीविका का स्वरूप स्वयं हिन्दुओं को ही बेह-
 तर करना होगा । इन अछूतों को वे सुविधाएं देनी होंगी कि वे अपना विकास
 आप कर सकें । यदि ऐसा नहीं होगा तो हिंदू धर्म नहीं बचाया जा सकेगा ।
 जनसमूह की आर्थिक स्थिति सुधारने, गरीबी मिटाने, किसानों-मजदूरों के वि-
 भिन्न संगठन आदि ने राष्ट्रीय आन्दोलन को गति दी तथा जमींदारों और
 पूंजीपतियों के विरुद्ध मोर्चा भी तैयार किया । समाज ने स्त्री शिक्षा को तब
 तक मान्यता नहीं दी जबतक कि स्वयं उन्होंने ही आगे बढ़कर अहिंसात्मक आंदो-
 लनों को नैतिकता में भाग लेकर अपने व्यक्तिगत और सामाजिक उत्थान के लिये प्रयत्न

नहीं किये। सबसे महत्वपूर्ण बात थी जनकल्याण की भावना और उसे नैतिक दृष्टि से उच्चतम कार्य घोषित करना। भारत की राजनीतिक एकता के कारण जन-कल्याण की इस भावना और कार्यक्रम को एक सार्वत्रिक देश व्यापक स्वरूप दिया जा सका। यह समस्त देश की जनता के हितार्थपरिचलित होने लगा। पश्चात्य और भारतीय संस्कृतियों के संघर्ष ने भारतीय जीवन और विचारों के ठोस और सजीव मौलिक तत्वों की सोज की प्रेरणा दी^१। बीस्वीं शताब्दी के प्रारम्भ में यह बात निश्चित रूप से दिखलाई पड़ रही थी कि हिन्दू समाज में सांस्कृतिक आत्मचेतना पूर्णरूपेण जागरूक हो गई।^१ मगिनी निवेदिता का यह कहना है कि आज हिंदुत्व आक्रमणशील हो रहा है, यही सिद्ध करता है। इसका तात्पर्य यह नहीं था कि हिंदुत्व अन्य धर्मवालों का धर्मपरिवर्तन कराके उन्हें बलपूर्वक हिंदू धर्म स्वीकार कराना चाहता है बल्कि इसका तात्पर्य यह था कि वह सबसे यह कहता है कि सब लोग अपने-अपने धर्म के मूल स्वरूप को पहचान कर उसी में स्थित रहें। आज हिंदू धर्म अपने धर्म और दर्शन के किसी भी स्वरूप के लिये धर्मिवा नहीं है। आज यूरोप के सम्मुख हिंदू धर्म और दर्शन की गौरव के साथ ठ्याख्या की जाती है। इस ठ्याख्याता के रूप में यदि ब्रह्म और रोमा रोलां के ऊर्ध्व में हिंदूधर्म के नेपोलियन, वेदान्त-केसरी विवेकानंद हैं तो दूसरी ओर भारत के आधुनिक जनक सारधाकुष्णन, महात्माओं विद्वानों और पुरातत्ववेत्तों ने भारत के प्राचीन और मध्ययुगीन गौरव को पुस्तकों, फाइलों और मिट्टियों से सोज सौद कर सामने लाकर रख दिया।

समन्वय दृष्टि तथा अपने तत्वों की नई ठ्याख्याएं

वैदिक धर्म के पुनर्नवस्थान के लिये एक बार भारत माता के एक सपूत स्वामी शंकराचार्य ने उसमें उसके विरोधी बौद्ध धर्म के सभी तत्वों - मूल्यों - को अपने में समाहित कर लिया था। तात्पर्य यह है कि हिंदुत्व पुनर्नवस्थान का मर्म जानता है। नवोत्थान की आधुनिक बेला में भी प्रकारान्तर से यही प्रक्रिया

१. 'दि कल्चुरल हेरिटेज ऑफ इंडिया' भा. ४, पृ. ७२५।

प्रष्टुठय है। इस युग में हिन्दू धर्म ने अनेक आधुनिक - पार्श्वात्य मूल्यों को
 अपने अन्दर मिलाया, हमारे पास हवाई जहाज भी थे, हमारे यहाँ गणतन्त्र
 भी था, आवि आदि। ऐसा हम गलत कहते हैं - यह बात नहीं है। झूठ बोल
 कर हम ढाँगी मले ही सिध हो जाते किन्तु हमारा पुनरुत्थान कभी भी नहीं हो
 सकता था। जब अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका में उदयसंकर मट्ट आज की नारी
 भावना की प्रतिरोधात्मक वृत्ति दिखाते हैं, या जब यक्षपाल अपनी "दिठिया" में
 तथा राहुल अपने "जययौधेय" आदि में और वृन्दावन लाल वर्मा अपनी "मृगनयनी"
 में आधुनिक युग की प्रवृत्तियाँ चित्रित करते हैं तब उसकी पृष्ठभूमि में हिन्दुत्व के
 पुनरुत्थान की यही प्रकृति काम करती हुई दिखाई पड़ती है। ऐसा करने की प्रक्रिया
 में हिन्दुत्व पुनः सजीव, संप्राण, सञ्चिय, सक्षम, सस्मृत एवं सशक्त हो गया। रोलैंड
 ड्यू. स्काट ने लिखा है, "पार्श्वात्य संस्कृति की बाढ़ रोकने और उसका मुका-
 बला करने के लिये आविष्कृत विभिन्न तत्त्वों के परिणाम के रूप में ही प्राचीन
 भारतीय संस्कृति के पुनरुत्थान, नवीन चेतना एवं उसके विभिन्न आंदोलनों को
 देखा जा सकता है।" धार्मिक और दार्शनिक आन्दोलनों का विशेष रूप से यही
 लक्ष्य रहा है। पार्श्वात्य संस्कृति के दोषों की आलोचना यथार्थवादी दृष्टिकोण
 से की गई और उसकी वास्तविक यौग्यता का मूल्यांकन किया गया। तब ही
 साथ प्राचीन भारत की विशेषताओं और उसके आध्यात्मिक मूल्यों की आवश्यकताओं
 प्रस्तुत की गई। प्राचीन और मध्ययुगीन भारतीय जीवन और दृष्टिकोण की
 वृत्तियाँ एवं असफलताओं के कारणों की ओर से आँसू फेर ली गई। संघर्ष की स्थिति
 में - जीवन और मरण के संकट की घड़ियाँ में - कमजोरियों के गीत गाये भी नहीं
 जाते। वे संस्कृति के पराजय की नहीं - मरण की घड़ियाँ थीं। भारत राष्ट्र
 अश्रीका महाद्वीप में और भारतीय नीग्रो के रूप में परिवर्तित किये जाने वाले थे।
 देश को उपमहाद्वीप की उम्मीद स्थिति तक उठाकर अंध महाद्वीपत्व के गर्त में फँका
 जाने वाला ही था कि हम जग गये। हमें हर तरह से अक्षम किया जा रहा था।

और इतना किया जा चुका था कि उसकी विरासत से - गुलाम मनोवृत्तियों से - आजाद होने के पन्द्रह वर्ष बाद तक भी हम मुक्त नहीं हो पाये हैं। ऐसी स्थिति में सर्वप्रथम लक्ष्य हुआ राष्ट्र की मलाई का - बन्धन मुक्ति का।

हिन्दुत्व का नया रूप

राष्ट्रहित के विचारों ने ही अनेक सामाजिक सुधार आन्दोलनों को भी प्रेरणा दी थी क्योंकि आधुनिक राष्ट्र के विकास की भावना से उत्पन्न परिस्थितियों के ही कारण धर्म ने सामाजिक चेतना के अनेक मूल्यों को अपने अंदर आत्मसात किया था। राधाकृष्णन आदि भारतीय विचारकों ने इस आवश्यकता की पूर्ति की और आगे बढ़कर सबल स्वरों में यह घोषित किया कि हिन्दू धर्म इस आक्रमण को ^{मौल} मँजूर लेने में पूर्णतः समर्थ है। उन्होंने यह भी दिखाया कि आज राष्ट्रीय और सामाजिक विकास और उन्नति के लिये जिन गुणों की आवश्यकता है वह हिन्दुत्व के अन्दर उत्कृष्ट रूप में मौजूद है। सामाजिक अवनति के कारणों के कीचड़ से जिस हिन्दुत्व को निकाल लिया गया था वह हिंदू धर्म व्यक्ति और समाज के उत्थान का शक्ति-प्रेरणा-प्रोत्साहनप्रद साधन श्रोत बन गया। राधा-कृष्णन ने कहा कि धर्म आध्यात्मिक अनुभवों और विचारों का सूक्ष्मतम संकलन है जिसका आधार न तो रुढ़ियाँ और कर्मकाण्ड हैं और न शास्त्र-प्रामाणिकता। अरविन्द ने भी धर्म के नैतिकता - आध्यात्मिकता - प्रधान स्वरूप को ही मान्यता दी न कि रुढ़ियाँ और कर्मकाण्डों वाले स्वरूप को। गांधी जी ने जब सत्य और अहिंसा को अपना धर्म कहा तब वह अनिवार्य रूप से नैतिकता से संबद्ध हो गया। गीता की अनेक व्याख्याओं ने भी यही सिद्ध किया कि आधुनिक नैतिकता और पवित्र आचार-शास्त्र से पृथक् धर्म का कोई भी अस्तित्व नहीं। इस प्रकार धर्म-दर्शन को समाज से नियोजित करके संसार-मुक्ति तथा संसार-सापेक्षता के महत्वों के बीच की साई को पाटने की कोशिश की गई। गीता का निष्करण कर्मयोग इस प्रयत्न में काफी दूर तक सहायक सिद्ध हुई हुआ। इस प्रकार समाज-संबन्धी धार्मिक

धारणाओं में परिवर्तन हुआ। अब 'कर्म' को हम 'भाग्य' न मान कर 'कार्य'
 या 'क्रिया' तथा उसकी समष्टि मानने लगे। अब हमारी धार्मिक पवित्रता कपड़ा
 उतार कर साने, नहाकर साना बनाने अथवा कोयले से सिंघी लक्ष्मण-रैसा की
 चिन्दिनी नहीं रह गई बल्कि वह मानसिक क्षेत्र का तत्त्व बन गई। अब हम विश्व-
 जनीन नैतिकता की बातें सोचने लगे और इस चिन्तन का आधार बना उपनिषदों
 की 'तत् त्वम् असि' तत्त्व। सारे संसार को उसी की अभिव्यक्ति के रूप में देखने पर
 कृत्रिम भेद-भाव की दीवारें ढहने लगीं और समस्त विश्व की नैतिक एकता-विश्व-
 मानवता का स्वरूप उभरा। सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक दृष्टिकोणों की
 महत्ता और आवश्यकता ने एक नये, उदार और व्यापक धार्मिक दृष्टिकोण की
 सृष्टि की और इस दृष्टिकोण को एक नया नैतिक आधार मिला। जीवन के
 आध्यात्मिक पक्ष और लक्ष्य को भौतिक एवं सांसारिक पक्ष और लक्ष्य से मिला
 दिया गया। पहले धर्म की उपेक्षा की गई। फिर प्राचीन भारतीय संस्कृति के
 महत्वपूर्ण तत्वों को अपनाया गया। धर्म को जीवन के अनेक व्यावहारिक क्षेत्रों
 से कुछ दूर रखा गया - जैसे व्यवसाय का धर्म से कोई भी संबंध नहीं रह गया।
 परिणामतः धर्म ने हमारे स्थूल और भौतिक जीवन और विकास में पग पग पर
 बाधा डालना या हस्तक्षेप करना बन्द कर दिया। वैसेभी, धर्म व्यवसाय आदि
 क्षेत्रों से तत्त्वतः निकल ही गया था। वहाँ यह रह गया था केवल प्रदर्शनार्थ। अब
 इसको इस रूप में वहाँ से बिल्कुल हटाकर इसके सूक्ष्म और तात्त्विक रूप का यथा-
 सम्भव अधिकाधिक आदर करना प्रारम्भ कर दिया गया। रुढ़ियाँ अपना महत्व
 और अपनी प्रतिष्ठा तो ही रही थीं। कुछ ही दशाब्दियों के परिश्रम के परि-
 णामस्वरूप अताब्दियों एवं सहस्राब्दियों पुराना धर्म आधुनिक युग और समाज के
 अनुरूप हो गया। ये नेता जिसे हिंदू धर्म का मूलतत्त्व समझते थे उसे अक्षुण्ण रखना
 चाहते थे। ये बीसवीं शताब्दी के लिये किसी नये धर्म की सोच नहीं करना चाहते
 थे। ये बुद्ध हिंदू ही रहना चाहते थे। आलोचना यों होती थी कि हिंदू धर्म
 की अनेक आधुनिक प्रथाएँ और रुढ़ियाँ - रीतियाँ उसके अपने मूल रूप से दूर हटी
 हुई हैं। उन्होंने उसकी पौराणिकता की या तो उपेक्षा की या आलोचना ताकि

वे अपने मूल ज्ञात तक पहुंच सकें और मूल रूप के अधिकाधिक निकट तक पहुंच जायें। उनकी इन आलोचनाओं में पर्याप्त सत्य और बल था। परिणाम यह हुआ कि ये रुढ़ियां और प्रधान अपने विकृत रूपों में आधुनिक हिंदी साहित्य से भी बहिष्कृत हो गईं। इन नवीन नेताओं ने आराधना के नवीन रूपों का समर्थन किया जो अवैज्ञानिक अधिक सरल और नैतिकता के अधिकाधिक निकट थे तथा लोग जिन्हें अधिक से अधिक समझ सकते थे। संस्कृत का आदर कम नहीं हुआ परन्तु प्रादेशिक भाषाओं को अधिकाधिक अपनाया गया। धर्म के एकमात्र ठेकेदारों का इन्द्रास्त हिल गया। पूजा-पाठ के लिये हम एकमात्र ब्राह्मणों पर ही आधारित नहीं रह गये। स्वामी क्यानन्द की "संस्कार-विधि" के सहारे हम स्वयं संस्कार संपन्न करने लगे। मुंशी सदाशिव लाल "निर्याज" के संलग्न श्री ब्रजवासी लाल गौड़ सत्यनारायण जी की कथा उसके हिंदी अनुवाद के सहारे पूरे विधि-विधान के साथ कर लेते हैं - विना पंडित जी के ही। आधुनिक हिंदी साहित्य के क्षेत्र में भी इन "पंडित जी महाराजों" की अवतारणा "गुणकर्मस्वभावयः" हुई। न कि इसलिये कि उनके पिता जी और माता जी और का जन्म ब्राह्मण कुलों में हुआ था और वे भी ब्राह्मण कुल में जनमे हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के "मुद्राराक्षस" के चाणक्य, प्रसाद के चन्द्रगुप्त के चाणक्य और रामकुमार वर्मा के चाणक्य का इस दृष्टि से सूक्ष्मविरलेषण हमारी भावनाओं एवं धारणाओं के विकास की या पुनरुत्थान की मोड़ों का सूचक सिद्ध हो सकता है।

धर्म-सुधार

धर्मसुधारकों का आदर बढ़ा। ये कृषि, महर्षि, महात्मा एवं स्वामी के विशेषज्ञों से विभूषित किये गये। रुढ़ि गत एवं परम्परागत नैतिकता की जगह वैयक्तिकता नैतिकता का उदय हुआ। प्रत्यक्षतः दोनों एक दूसरे के विरोधी सिद्ध हुए। विजय वैयक्तिकता को मिली। जाति बहिष्कार और ^{उपेक्षा} उन्नत पानी के बन्द किये जाने की धमकियां निष्प्रम हो गईं। परंपरा का पूर्णतः संबंध - विच्छेद नहीं किया गया और न इस प्रकार के किसी समाज -

विशेष का ही उदय हुआ। अपनी अपनी विशेष मनोवृत्ति और धारणा के अनुसार व्यक्तियों ने अपनी अपनी नैतिकता का स्वरूप निर्धारित किया। रुढ़ियों और प्रथाओं के विरुद्ध होने वाले संघर्ष में व्यक्ति ने तर्क, बुद्धि तथा विश्लेषण के अस्त्रों का यथावश्यक सहारा लिया। आसंकाएं की गई और बौद्धिक स्तर पर उनका समाधान मांगा गया। शास्त्रों की व्याख्या करने की मूलभूत समस्या के हल के लिये बड़ी स्तर्कता के साथ बौद्धिक स्तर पर विचार-विवेचन और विश्लेषण किया गया। धार्मिक जगत में सार्वजनिक व्याख्यानों की बड़ी चहल-पहल हुई। आर्य-समाजियों, सनातन धर्मावलम्बियों, ईसाइयों और मुसलमानों के परस्पर शास्त्रार्थ मुवाहिसे - हुआ करते थे। पं. ज्वाला प्रसाद मिश्र के छपे हुए व्याख्यान बड़े ही प्रिय हो रहे थे। आर्यसमाजी हिंदुओं के बीच प्रिय भी थे और अप्रिय भी - अप्रिय इसलिये थे कि वे परम्परागत हिंदू धर्म के स्वरूप की तीव्र आलोचना करते थे - प्रिय इसलिये थे कि वे ईसाइयों और मुसलमानों जैसे हिंदुत्व विरोधियों को मुंहतोड़ उत्तर देते थे - ईंट का जवाब पत्थर से। आर्य समाज आक्रमणशील हिन्दूधर्म की तोप था। मानसिक शांति को लक्ष्य रूप में स्वीकार किया गया।

बुद्धि पर शास्त्र का अंकुश

बुद्धि के असीमित और निरंकुश उपयोग के सतरे हम परिचित थे और इसलिये उसके सावधान रहे। उसके ऊपर हम आत्मा का - शास्त्र का - अंकुश स्वीकार किये रहे। फिराक साहब इतना सही कहते हैं - "तुम्हारे माडर्न हिंदी लिटरेचर का कोई भी वर्क हवाइज़ इन्टेलैक्चुअल वेसिस है ही नहीं - इट्स एप्रोच इज नाट इन्टेलैक्चुअल।" लेकिन जब इसके बाद वे गरजते हैं - "यह मूर्खों का, गधों का, ड्रेनलैस क्रीचर्स का लिटरेचर है - उनका लिखा लिटरेचर है - जो हिंदी के पलावा और कोई भी सब्जेक्ट लेकर गुड डिवीजन में एम.ए. नहीं कर सकते" और इसके बाद तुलसीदास, गुप्त, पंत और निराला आदि के लिये भयानक गालियाँ बकते हैं तब उनकी नीयत पर संदेह होने लगता है। यदि हमारे साहित्य का ^आ कुमार पारचात्य पर्वन या पारचात्य बुद्धिवाद नहीं है तो वह

तिरस्करणीय नहीं है - कान्टेम्प्ट की चीज नहीं है। इन्हीं बड़ों के प्रति अशिष्टता न बरतते हुए भी मैं अपने साहित्य की इस प्रकृति पर गौरवान्वित हो कर सर ऊँचा कर लेता हूँ। हम अच्छे हैं या बुरे हैं जो कुछ है - स्वातिष्ठित तो है - अपने धर्म में तो हैं। दूसरे की उतारी हुई साल तो नहीं ओढ़ी या नहीं ओढ़ी रखी है। इन्सान के विकास की दृष्टि से ऐसे इंग्लैंड, ^{जो} अमेरिका और इस को सबसे अच्छा, तथा इस्लाम को ही उसके बाद का समझते हैं। हिंदुत्व को वे "बोगस" समझते हैं। अस्तु, आधुनिक हिंदी साहित्य में बौद्धिकता या बुद्धिवाद की प्रधानता नहीं है। इधर हाल में अज्ञेय-वादियों ने अथवा यथार्थ-वादियों ने कुछ पैसा स्वांग जरूर भरा है किन्तु उनका ठयापक दृष्टि से न कोई अस्तित्व है और न महत्व एवं न प्रचार ही। उसमें अनुमूत्यात्मक ईमानदारी का अभाव है। वह न जन साहित्य है, न महत् - जन - साहित्य है। आधुनिक हिंदी साहित्य का जो गौरव और महत्व है वह इनकी इस प्रवृत्ति के कारण नहीं क्योंकि इनके पीछे हमारी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि नहीं है। आधुनिक हिंदी साहित्य पर जो हम गर्व कर सकते हैं वह इसी कारण कि न तो वह विबुध रूप में बुद्धि प्रधान है और न हिंदुत्व-विहीन। स्वतंत्रता, समानता और न्याय का नवीनतम स्वरूप और उनकी नवीनतम धारणाएँ हमें पश्चिम से मिल ही रही थीं। स्वतंत्र, सक्रिय और उन्नतिशील होने की उत्तेजक अपील जनसाधारण से की गई।

नैतिक जीवन की आधार भूमि

वेदान्त ने नैतिक जीवन के लिये विशेष आधारभूमि तैयार की।

'तत् त्वम् असि, सर्व सत्त्विदं ब्रह्म, और अहं ब्रह्म अस्मि,' इसलिये पड़ोसी को हानि पहुँचाना अपने ही को हानि पहुँचाना है - या उसकी सहायता अपनी ही सहायता है' - चिन्तन की - नवीन नैतिक चिन्तन की - यह प्रक्रिया हो गई। जीवन के धार्मिक या आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिये नैतिकता अनिवार्य समझी गई। सभी धर्म-सुधारकों के विचारों के अनुसार नैतिकता विहीन

धार्मिकता को जाहेंबर समझा गया। स्वामी विवेकानन्द ने कहा कि मैं उस ईश्वर या धर्म में विश्वास ^{नहीं} करता जो एक विधवा के आंसू नहीं पोंछ सकता या जो एक अनाथ के मुँह में रोटी के दो कौर नहीं दे सकता। गांधी जी ने लिखा कि ^{38 ई.पू.} वे सन्नद्ध के अतिरिक्त जो दो करोड़ मूक प्राणियों के मुँह के अंतर में पाया जाता है और किसी ईश्वर को नहीं मानते।¹ वैयक्तिक धर्म, बुद्धिवाद के अनुकूल एवं युक्तियुक्त नैतिकता, और सामाजिक क्रिया कलापों को—इन तीनों को, अविच्छिन्न रूप से परस्पर संबंधित पाया गया। सुशिक्षित, संपन्न और प्रमुख वर्ग के लोगों ने भी दीनदलित वर्गों और जातियों की मलाई के लिये इनकी ओर से कार्य करने प्रारम्भ कर दिये। सारे समाज के कल्याण की बातें सोची जाने लगीं। धर्म और धर्म की बाह्य अव्यक्तताओं ने हमें धर-रोका था; जब वह सक्रिय, प्रगतिशील, हुआ तो हम भी ऊर्ध्वमुखी हो उठे। आधुनिक हिंदी साहित्य इसी पृष्ठभूमि में लिखा गया है। इसी मानसिक स्थिति वाले कलाकारों की कृतियों से वह ~~नये~~ प्रोज्ज्वल है।

हिंदुत्व का वास्तविक मूल्यांकन और उसके प्रति गौरव का भाव

इस मनोस्थिति का परिणाम यह हुआ कि हमारे देखने और समझने का ढंग बदल गया। एक समय था जब अपने को हिंदू कहने में लोगों को शर्म मालूम होती थी किन्तु इस पुनरुत्थान के परिणामस्वरूप एक दिन वह आ गया है।² जब भारत के एक संन्यासी ने विश्व-धर्मावलंबियों के सम्मुख अमान्यता प्राप्त धर्म के प्रतिनिधियों के रूप में खान से यह वैनस्पति घोषणा की श्री, "मुझको ऐसे धर्मावलम्बी होने का वैयक्तिक गौरव है जिसने संसार को 'सहिष्णुता' तथा 'सब धर्मों को सम्मान प्रदान' करने की शिक्षा दी।"³ सबसे बड़ी बात यह हुई कि इन महापुरुषों ^{ने} हमें अपने धर्म की समझने की वास्तविक दृष्टि ^{दी} श्री। विवेकानन्द ने लिखा है, "..... कटुतरपंथियों की विचार शक्ति का सर्वनाश हो जाता है।"⁴

1. 'हरिजन', 11 मार्च, 1939 ई.

2. जनवरी 1943 की 'सरस्वती' में प्रकाशित विवेकानन्द का शिकागो के लिये धर्म संसद का भाषण।

3. 'भक्तियोग' पृ. 11,

इस कटुतरता को हटा देने से हमें धर्म उस रूप में नहीं दिखाई पड़ा जिस रूप में वह विभिन्न धर्मावलंबियों को आपस में लड़ता है। धर्म का रूप एवं उसकी परिभाषा ही बदल गई। वह अपने पुराने और वास्तविक रूप में हमारे सामने आ गया। राधाकृष्णन ने लिखा, 'धर्म यह प्रयत्न करता है कि मनुष्य को उस के देवत्व का ज्ञान करा दे, केवल कोरा बौद्धिक ज्ञान देकर नहीं, किन्तु उससे तादात्म्य की अनुभूति कराकर।' इस अनुभूति के लिये किसी विशिष्ट मार्ग का निर्देश नहीं किया जा सकता।^१ यह दृष्टि पाकर हमने महात्मा गांधी के शब्दों में पाया कि 'नाम से सब धर्म अलग-अलग हैं मगर सबकी जड़ एक है।'^२ इस ठ्यापक या तात्त्विक दृष्टि से जब हमने अपने धर्म को देखा तो पाया, 'हिंदू धर्म एक महासागर है, जैसे सागर में सब नदियां मिल जाती हैं वैसे हिंदू धर्म में सब धर्म समा जाते हैं।'^३ पंडित जवाहर लाल नेहरू ने लिखा, 'हिंदू धर्म सत्य की अन्ध सीज है - हिंदू धर्म सत्य को मानने वाला धर्म है। सत्य ही ईश्वर है। हम इस बात से परिचित हैं कि ईश्वर से इन्कार किया गया है। हमने सत्य से कभी इन्कार नहीं किया है।'^४ हमने तर्क प्रेम को हिन्दू धर्म की विशेषता पाया। तर्क की कसौटी पर कसने से हमें पता लगा कि भिन्न भिन्न लोग भिन्न धर्मों के अनुयायी बनें - यह नितान्त स्वाभाविक है क्योंकि वैयक्तिक धर्म अपने अपने स्वभाव और अपनी अपनी रुचि के अनुसार विनिर्मित होता है। राधाकृष्णन ने समझाया कि 'हिन्दू धर्म तथा दर्शन मानता है कि समय-समय पर आने वाले सृष्टि एवं प्रलय के चक्र उस एक ही विश्व हृदय के स्फुरण तथा संकोचन के प्रतीक हैं जो सदा ही निष्क्रिय तथा सदा ही सक्रिय रहता है।'^५ इस प्रकार हमको विश्वास हो गया कि एक ही मूल आत्मा इन नाना रूपों में अभिव्यक्त हो रही है। श्रुति ने भी घोषणा की थी - 'एकं सवित्रा बहुधा वदन्ति'। बहुरूपता में एकता का

१. 'भारत की अन्तरात्मा', पृ. ९।

२. 'प्रार्थना प्रवचन, भाग २, पृ. १५८। वहीं

३. वही, पृ. १५८।

४. 'हिन्दुस्तान की कहानी', पृ. २७।

५. 'भारत की अन्तरात्मा', पृ. ६।

पाना ही उपनिषदों का भी लक्ष्य था। हमारी धार्मिक पुनर्जागृति हमें अपने
 मूल - आत्म स्वरूप - के निकट ले गई। उन्होंने अन्यत्र लिखा है, ".....
 हिन्दू धर्म ने एक ऐसे धार्मिक वातावरण का विकास किया है जिसमें एक और
 सर्वोच्च दार्शनिक ज्ञान पाया जाता है और दूसरी ओर प्रतीकोपासना का वह
 वह विधान जिसको केन्द्र मानकर महान् कलापूर्ण सौन्दर्य की सृष्टि की गई है।
 उसमें विन्न विन्न सांस्कृतिक विकास एवं धार्मिक ज्ञान से युक्त मनुष्यों की सभी
 प्रेरणियों के लिये स्थान है।" ¹ इस पृष्ठभूमि में निर्मित हिंदू का हृदय ही न
 तो किसी धर्म विशेष से द्वेष रख सकता है और न ऐसी चेतना से तुल्य कलाकारों
 द्वारा निर्मित आधुनिक हिंदी साहित्य ही। स्वामी विवेकानन्द ने लिखा है
 कि वेदान्त का सबसे उदात्त तत्त्व यह है कि हम एक ही लक्ष्य पर विन्न मार्गों से
 पहुंच सकते हैं। ² रामकृष्ण परमहंस ने तो विभिन्न धर्म साधनाओं को अपना कर
 इस तत्त्व को प्रत्यक्ष छोड़कर लिखा था। इसीलिये तो वैष्णव प्राण मैथिलीचरण गुप्त
 'काबा और कर्बला' लिख लेते हैं। जिस हिंदू को अपने धर्म का कुछ भी ज्ञान है
 वह उन सब की बजा और भक्ति करता है जो लोक-कल्याण में लगे हैं। इसीलिये
 हिंदूधर्म ^{का} "धर्म" उक्त सामान्यतः प्रचलित अर्थ के अनुसार धर्म नहीं है। इसमें ऐसा
 मत या पन्थ / (झीठ) ही नहीं है जो हर हिन्दू अपनाए हो। कुरान या बाइ-
 बिल की तरह कोई भी ऐसी एक पुस्तक नहीं है जिसे सभी सिर झुकाते हों। बस,
 कुछ चिर सत्य एवं शाश्वत सिद्धान्त ऐसे हैं जिन्हें प्रायः सभी हिन्दू समाज रूप से
 मानते हैं - जैसे, हिन्दू धर्म में सबके लिये स्थान, वेदों की नित्यता, कवि, आत्मा,
 सत्य, जन्मान्तरवाद, पुनर्जन्म, कर्मवाद, घर बचलने के रूप में दृष्ट मृत्यु, अहेतु की
 भक्ति, अपरोक्षानुभूति, अद्वैततत्त्व, हिन्दूधर्म तथा विज्ञान का सामंजस्य, प्रतीको-
 पासना, मूर्तिपूजा, विभिन्नता में एकता, सगुणभक्ति, जीवन को एक परिवर्तनशील
 विराम के रूप में मानना, व्यक्त जगत को सप्राण, सोदृश्य एवं एक की ही अमि-

व्यक्ति मानना, आदि। रामकृष्ण परमहंस ने सभी धर्मों को समान रूप से महत्वपूर्ण माना और कहा कि सारे रूप उस एक बहुरूपिये के ही हैं। जगत की जिस विषयता ने हिंदू दार्शनिकों को सत्य के अनुसंधान की ओर प्रवृत्त किया वह है इसकी अनित्यता और अनुसंधान के द्वारा जो हमें मिला वह यह है कि जिसे हम अपने से बाहर कहें और छिपा हुआ समझते थे वह हमारे निकट से भी निकट है, प्राणी का भी प्राण है और वह हमें भी समाया हुआ है। आराधना की सुविधा मात्र के लिये हमने उस भगवान की मूर्ति बनानी सीखी। वस्तुतः मूल रूप में मूर्तिपूजा हमारी अपनी सृज नहीं है। उसे पंडित जवाहर लाल नेहरू के मतानुसार हमने यूनान से सीखा।¹ हमने जीवन की पहली का अपने ढंग से उत्तर भी पा लिया था जिसे विवेकानन्द ने इन शब्दों के माध्यम से अभिव्यंजित किया है, "जीवन अनसूयायी है, चाहे तुम गली में काम करने वाले मजदूर हो, चाहे लातों जनों के ऊपर राज्य करने वाले चक्रवर्ती सम्राट हो, चाहे तुम्हारा स्वास्थ्य अच्छे से अच्छा हो, चाहे बुरे से बुरा हो। हिन्दू कहता है कि जीवन की इस पहली का केवल एक उत्तर है, परमात्मा और धर्म। यदि ये साथ हों, तो जीवन सुखदायी, रहने योग्य तथा सार्थक हो जाता है, नहीं तो जीवन व्यर्थ का एक बोझ है।"² हमने अपने धर्म के विविध तत्वों की सृज - बीन भी की। उदाहरणतः "अहिंसा" तत्व है। इसका ऐतिहासिक अध्ययन करने पर हमें पता चला कि बौद्ध धर्म के विशेष प्रभाव के ही कारण भारत को बलिदान, मांस और मादक वस्तुओं के सेवन से धार्मिक एवं नैतिक अरुचि होने लगी। गांधी जी ने अहिंसा को, जिसे परम्परा हत्या न करना ही समझती थी, बहादुरी की पराकाष्ठा, आतिथी सीमा" माना। पहले हम मार सकने को बहादुरी समझते थे। अब अर्थ बदल गया। व्यवसाय के एक लकड़ी के औजार - चरसे - को अहिंसा का प्रतीक माना गया।³ दृष्टिकोण ऐसा बदला कि एक अदार्शनिक औजार दार्शनिक तत्व

1. 'हिंदुस्तान की कहानी', पृ. 185।

2. 'मक्ति और वेदान्त', पृ. 28

3. 'प्रार्थना प्रवचन' भाग 2, पृ. 202

4. वही पृ. 200

अहिंसा - का प्रतीक बन गया। गणेश प्रतीक सिद्ध हुए गणतंत्रवादी सरकार के प्रेसीडेन्ट के। हमने क्रियात्मक रूप में धार्मिक स्थानों जैसे मठ, मंदिर, दुर्धारा आदि के महन्तों के पतन एवं व्यवस्था के पतन को रोकने का सुधारने का भी प्रयत्न किया।

तत्त्वों की युगानुकूल व्याख्या

हमने धर्म की पारिभाषिक शब्दावलियों की ^{या} युगानुकूल व्याख्या भी प्रस्तुत की। विवेकानन्द ने लिखा है, "जिस व्यक्ति की आत्मा से दूसरे की आत्मा को व्यक्ति मिले उसे 'गुरु' कहते हैं और जिसकी आत्मा में व्यक्ति संवरित होती है उसे 'शिष्य'।" महात्मा गांधी ने मंगी का दूसरा ही अर्थ निकाला और कहा कि असली मंगी को भीतर की सफाई करनी होती है। ब्राह्मणत्व का अर्थ लगाया गया मानवव्यक्ति के उच्चतम विकास का प्रतीक और हिंदुत्व का लक्ष्य बताया गया प्रत्येक व्यक्ति को ब्राह्मण बनाना। विवेकानन्द ने लिखा, कि हम समझना होंगे कि ये देवता पहले केवल व्यक्तिशाली पुरुष मात्र थे और ये देवता भी विशेष विशेष भाव के द्योतक होने के कारण भाव की उन्नति के साथ साथ उन्नत होते-रहे हैं^१ और परिणाम यह हुआ कि "वयं रक्षामः" नामक उपन्यास में चतुरसेन शास्त्री ने राम और रावण का एक नये ही रूप में अध्ययन प्रस्तुत किया है और इस माध्यम से भारत के प्राचीनतम इतिहास पर एक नई दृष्टि डाली। 'गौ' याने चार पैर और सींग-पूँछ वाला जानवर ही नहीं रह गया, उसका एक अर्थ हुआ है 'इन्द्रिय और गोपाल कृष्ण इन्द्रियजित - इन्द्रियों की समुचित रूप से देख-रेख-निग्रह - करने वाले योगी राज कृष्ण हो गये। इसी गाय का दूसरा अर्थ हुआ समस्त निरीह मानवजाति और गांधी जी ने गोरक्षा हिन्दुओं का कर्तव्य बताया, समस्त मुक्त जीवों की रक्षा। इसी प्रकार गांधी जी ने ब्रह्मचर्य का अर्थ नारी से दूर रहना - भागना - नहीं लगाकर, कामदृष्टि के बभाव को ब्रह्मचर्य

१. 'मक्तियोग', पृ. ३२।

२. 'प्रार्थना प्रवचन', भाग १, पृ. २०

३. 'ज्ञानयोग', पृ. १०३ और १०५।

कहा गया। १९ वर्ष की मनु गांधी के साथ एक ही शैया पर सोने का गांधी जी का प्रयोग इसी दिशा में था।^१ इसी विचार की साहित्यिक अभिव्यंजना हमको मगवती चरण वर्मा के 'चित्रलेखा' और^२ चित्रलेखा और कुमारजी के प्रसंग में मिलती है।^३ आहार संबंधी दृष्टि हिन्दुओं में बहुत बढ़ा गया था। उस पर विचार करके स्वामी विवेकानन्द ने संकराचार्य का मत उद्धृत करते हुए लिखा, "संकराचार्य कहते हैं कि आहार शब्द का अर्थ है इन्द्रिय द्वार से मन में जो विचार-एकत्रित होते हैं उनके निर्मल होने से सत्य निर्मल होंगे, इसके पहले नहीं..... वर्तमान काल में हम लोग संकराचार्य के उपदेश को मूलकर केवल "साध्य" अर्थ लेते हैं।"^३ इन नई व्याख्याओं की दृष्टि से "मानव सेवा संघ" वृन्दावन के सुप्रसिद्ध सूर सन्त स्वामी शरणानन्द द्वारा प्रकाशित "सन्त समागम" नामक पुस्तक तथा महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध स्वनाम धन्य साने गुरु जी द्वारा लिखित "भारतीय संस्कृति" नामक पुस्तक प्रसिद्ध एवं बड़ी ही महत्वपूर्ण है। इस नई दृष्टि से दूसरी द्वाारा हम पर लगाये गये लांछनों का सौसलापन भी दिखाई पड़ गया। प्रायः यह कहा जाता है कि हिंदू धर्म ने दलितों के मानसिक एवं पारिवारिक विकास के लिये कुछ नहीं किया। यह कहने वालों की अज्ञाता का ही द्योतक है क्योंकि जार्यों ने यहाँ के मूल निवासियों को भी अपना अंग बना लिया था और उनकी अनुचित आवश्यकताओं को छुड़ाने और उन्हें बेहतर जीवन बिताने की प्रेरणा देने के लिये बहुत कुछ किया था। संसार के अनेक धर्म और दर्शन पुनर्जन्म को नहीं मानते लेकिन हिंदू मानता है। धार्मिक पुनर्जन्म ने इसका कारण भी समझा दिया। हमको बताया गया कि हिंदू दर्शन के अनुसार मनुष्य का अस्तित्व किसी दिव्य उद्देश्य का परिणाम है। अब जबतक उस दिव्य उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो जाती तब तक उसका अस्तित्व बना रहता है। उद्देश्य इतना अलौकिक है कि साधारणतः सौ-पचास साल में सामान्य मानव उसकी पूर्ति कर नहीं पाता और उसकी पूर्ति के लिये आवश्यक कार्य जिस के द्वारा किया जा सकता है कर्मोन्मुख निर्मित वह शरीर पचास-पचहत्तर साल से अधिक सुगठित रह नहीं पाता - या तो बेकार हो जाता है या

१. 'लास्ट फ्रेम', पृ. भाग. १

२. 'चित्रलेखा' ४ और १७ अध्याय।

३. 'वेदान्त धर्म', पृ. १५२।

विघटित। अब या तो उद्देश्य की पूर्ति न हो या मानव के अस्तित्व की अवधि बड़े। पहले को संभव होने नहीं दिया जा सकता, इसलिये दूसरे की ही संभावना निकाली गई। अस्तु, एक जनम की लम्बी यात्रा के बीच पडने वाले एक स्टेसन, एक सरायमात्र के रूप में देखा गया। इसके अतिरिक्त और कोई उपाय ही नहीं था जिससे एक मनुष्य एक आत्मा के अस्तित्व को बढ़ाया जा सकता। परिणामतः आत्मा अमर हो गई - अविनश्वर, एक जीवन एक कर्मावधि मात्र

हो गया, मृत्यु एक विराम हो गया - इन्टरवल। एक एक जीवन में हम अपने व्यक्तित्व का विकास कर करके अपने को इस प्रकार योग्य बनाते रहते हैं कि अन्तर्गत उस विषय उद्देश्य की पूर्ति हो जाय। अरविन्द का यह कथन बड़ा ही सारगर्भित है, "पुनर्जन्म मानो व्यक्तित्व के उत्तरोत्तर विकास का एक साधन है..... पुनर्जन्म पूर्व कर्मों के अनुसार नहीं हो सकता बल्कि अन्तरात्मा के अनुभव की मांग के अनुसार होना चाहिए..... एक व्यक्ति इस जीवन में जैसे कर्म करता रहता है वही उसकी उच्च-प्रवृत्ति को निर्धारित करेंगे.....।" धर्म, दर्शन और नैतिकता का सापेक्षिक महत्व उनकी उपयोगिता और महत्व के स्वतंत्र एवं तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा प्रस्तुत किया गया। राधाकृष्णन ने लिखा, "हिंदू

दार्शनिकों ने सदा ही यह प्रयत्न किया है कि निर्मल चरित्र का अभ्यास एवं सत्य-प्रेम धार्मिक भक्ति से बच न जायें।..... सच्ची धार्मिक भक्ति तो उस विवेक-जात नम्रता को कहते हैं जो स्व कुछ ईश्वर के सहारे छोड़ देने पर उत्पन्न होती है। ज्ञान-सूचक इस भावना के फलस्वरूप भक्त मानव - सेवा में जीवन उत्सर्ग कर देता है।" भगवद्भक्ति का एक नया स्वरूप आदर्श - सामने आया। अभी तक पूजा एक चीज थी, भक्ति एक चीज थी, ज्ञान एक बात थी, ज्ञानी का जीवन एक बात थी। इसी कारण ज्ञाता और ज्ञेय दो विभिन्न तत्त्व हो गये थे। अरविन्द ने कहा, "ज्ञाता और ज्ञेय की पृथक्ता में जो ज्ञान उपलब्ध होता है वह ज्ञान का वास्तविक रूप नहीं।" और रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा, "हमें तो ऐसा विशाई

१. "अधिति", अगस्त, १९५१ ई. "अरविन्द विश्लेषक"

२. "भारत की अन्तरात्मा" पृ. १६

३. "अधिति", अगस्त, १९५१ "अरविन्द विश्लेषक।

पड़ता है कि जो ज्ञान क्षेत्र में जाता और रोय है वही भाव क्षेत्र में आशय और आलम्बन है। ज्ञान की जिस चरम सीमा पर जाकर जाता और रोय एक हो जाते हैं भाव की उसी सीमा पर जाकर आशय और आलम्बन भी एक हो जाते हैं।¹ तो भक्त और भगवान भी एक हो गये। यह है ज्ञान की नवीन व्याख्या का साहित्यिकों पर और उनके द्वारा की गई साहित्यिक विवेचनाओं पर प्रभाव।

आर्यसमाज का प्रभाव

आधुनिक युग में हिन्दू धर्म को सबसे अधिक आर्य समाज ने प्रभावित किया है। आर्यसमाज ने यह प्रभाव हिंदू धर्म का सुधारक बनकर डाला है, उसका उद्गु या विरोधी बनकर नहीं। उन्नीसवीं शती और बीसवीं शताब्दी पूर्वार्ध के हिंदू जागरण में आर्यसमाज का प्रधान हाथ रहा है। सर हेनरी काटन ने इसे 'हिंदू विचारों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथा आकर्षक अध्याय'² कहा है। अपने 'सत्यार्थ प्रकाश' तथा अनेक आस्थाओं में स्वामी जी ने हिंदू धर्म तथा अन्य धर्मों की जो आलोचनाएं कीं वे समुच्च बड़ी तीखी थीं किन्तु भी धनियार्थ। उसके बिना हिन्दुत्व का बुद्धि सम्मत रूप और इस्लाम तथा ईसाइयत की कमजोरियां सामने आ ही नहीं सकती थीं। उनकी आलोचनाओं का कोई भी जवाब न दे सका। इस आलोचना वाले प्रसंग से हटने पर स्वामी जी विश्व मानवता के नेता के रूप में बिछाई पड़ते हैं। 'मनुष्यपन', 'मनुष्यधर्म' उनके अपने उद्बव हैं। स्वामी जी ने हिंदुत्व पर से पौराणिकता का पर्त उधेड़ दिया। इस प्रकार उसका असली रूप सामने आ गया। स्वामी जी की महानता संकराचार्य जैसी थी। संकराचार्य के बाद से भारत में कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं हुआ जो स्वामी जी से बड़ा संस्कृतज्ञ, उनसे बड़ा दार्शनिक, उनसे अधिक तेजस्वी वक्ता तथा कुरीतियों पर टूट पड़ने में उनसे अधिक निर्भीक रहा हो। उनके संबंध में यह विचार महान् मर्यादा की का था। वास्तविकता तो यह है कि स्वामी जी और उनके आर्य-समाज को उस समय के लोग ठीक से समझ नहीं पाये। इस्लाम या ईसाइयत से

१. 'तुलसी की भक्तता' नामक विवरण

२. 'नव इंदिया' . पृ. ३५८।

इनका कोई भी विरोध न था। उनका उद्देश्य तो वैदिक धर्म का समर्थन और प्रचार मात्र था। यह बात छिपी नहीं है कि इस वैदिक धर्म पर ईसाइयों और मुसलमानों ने आक्रमण किया था। उस आक्रमण के घातक प्रभाव से वैदिक धर्म को आर्य समाज ने बचा लिया। इस सुरक्षा कार्य के रूप में ही स्वामी जी की आलोचनाएं थीं। हमको बचाने वाली तलवार का एकाध धार यदि हमारे आक्रमणकारी पर भी पड़ा गया तो इसका दोष सुरक्षा के लिये 'ठठी हुई तलवार का नहीं, मारने के लिये ठठी हुई तलवार का ही है। शिवशंकर मिश्र का कहना है, 'इस समाज की स्थापना से लोगों में धर्म बुद्धि और विचार शक्ति जागरित हुई है। आंग्लशिक्षा प्राप्त लोगों की वेद पर से आस्था उठ गई थी, परन्तु अब वह वेद को मानने और स्वधर्म को पालने लगे हैं। लोगों का परधर्मी होना बन्द हो चला है और धर्मप्रणेत लोगों का बुद्धि संस्कार कर उन्हें अपनाने का प्रयत्न होने लगा है।' शान्तिप्रिय विवेकी ने लिखा है, 'उसने एक बौद्धिक सिपाही का रूप धारण किया। उसने हिंदुत्व के भीतर एक कौजी संस्कृति को जागरूक किया। स्वभावतः उसमें मनोहरता - मधुरता नहीं थी; हिंदुत्व था, कवित्व नहीं। ... उसका मुख्य उद्देश्य था विदेशी सभ्यता के प्रति विजयी होना, उसे बुझ कर अपने में मिला लेना'^१। आर्यसमाज के मुख्य कार्य ये थे :- बुद्धि, संगठन, रुढ़ियों और अंधविश्वासों का नाश, वैदिक धर्म का पुनरुद्धार, और नई शिक्षा प्रणालि।

स्वामी दयानन्द का उपाख्यान सुनकर केशवचन्द्र सेन ने उनसे यह श्रुति दी कि यदि आप हिन्दी में भाष्य दें तो आपकी बात अधिक से अधिक लोग समझ सकेंगे। स्वामी जी ने बात मान ली। स्वामी जी को हिंदुओं का सुधार करके वैदिक धर्म का प्रचार करना था। वैदिक धर्म की सारी बातें संस्कृत में थीं और हिन्दू लोग हिंदी अधिक समझते थे। उच्चारण-मंडार, लिपि की एकता, उच्चारण, वाक्यनिर्माण आदि की दृष्टि से संस्कृत का हिंदी से इतना घनिष्ठ संबंध है कि हिंदी में लिखने पर संस्कृत की सभी बातें अपने मूलरूप के अधिकाधिक समीप रहते

१. 'भारत का धार्मिक इतिहास', पृ. २५५।

२. 'धर्म और साहित्य', पृ. १४३।

हुर भी अभिव्यंजित हो सकती थीं। तथाकथित ^{उर्दू} ~~हुर~~ और अंग्रेजी इस दृष्टि से
 जयज्यो और अक्षय माध्यम थे। इसलिये स्वामी जी और उनके आर्यसमाज ने
 हिंदी अपना ली। शिक्षा के संबंध में आर्यसमाज में दो दल थे : - कालेज पार्टी,
 और गुरुकुल पार्टी। दोनों पार्टियों के लोगों ने हिंदी साहित्य की सेवा की।
 बी.ए., एम. ए, तक की शिक्षा हिंदी के माध्यम से भारतवर्ष में पहली बार देने
 वाली संस्था थी--गुरुकुल कांगड़ी। कांग्रेस के राष्ट्रीय आन्दोलनों के प्रारम्भ
 होने के बहुत पहले से ही हिन्दी उत्तर, मध्य, और पूर्वी भारत में नव-चेतना का
 माध्यम और प्रतीक बन चुकी थी। आर्यसमाजों के दैनिक कार्य, प्रचार कार्य, उनके
 द्वारा प्रकाशित साहित्य, प्रचार के लिये प्रणीत पत्र-पत्रिकाएं, साप्ताहिक अधि-
 देशनों और वार्षिक समारोहों आदि सबका माध्यम हिन्दी था। आर्य समाजी
 बनने के लिये कौनों आदमियों ने हिन्दी अपनाई। संस्कृत और हिन्दी के सा-
 म्यन्मय से वैदिक और पौराणिक साहित्य का हिन्दी में अनुवाद हुआ। स्नातकों
 के रूप में हिन्दी को अनेक साहित्यिक और उत्साही प्रचारक मिल गये। 'गंगाप्रसाद
 अभिनंदन ग्रंथ' में प्रकाशवीर शास्त्री ने ठीक ही लिखा है कि पंजाब जैसे इस्लामि-
 यत के प्रभाव क्षेत्र में, जहां संध्या और हवन के मंत्र भी आरंभ में आर्य-जन उर्दू में
 ही लिखकर पाठ करते थे, वहां आज की नई पीढ़ी आर्य शिक्षण संस्थाओं के इस
 हिंदी प्रधान वातावरण के कारण उर्दू से दूर चली गई है। डरबन, फीजी, आदि
 विदेशों में भी आर्य समाज ही हिन्दी को पहलें ले गया। फीजी में वहां के
 आर्य समाज ने हिंदी कवि सम्मेलन का आयोजन किया था। पद्म सिंह शर्मा, जय-
 चन्द्र विद्यालंकार, सत्यकेतु विद्यालंकार, गंगाप्रसाद उपाध्याय, चन्द्रावती लखन-
 पाल, धीरेन्द्र शर्मा, बाबू राम सक्सेना, नाथूराम शर्मा शंकर आदि आर्यसमाजी
 विचारों के समर्थकों के रूप में ही हैं। इस संबंध में अभी इतना ही पर्याप्त है।

ब्रह्मविद्या समाज

आर्यसमाज के संस्थापक की असाधारण विद्वत्ता और अकाट्य तर्कों ने तथा स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ के प्रत्यक्ष उदाहरणों ने

प्राचीन हिन्दू धर्म की भेद्यता स्थापित कर दी और संसार के सभी देशों ने उसे मुक्त कंठ से स्वीकार कर लिया। संसार के लोगों का ध्यान ब्रह्मविषया की ओर और उस क्षेत्र के अनुसन्धानों की ओर पहले ही जा चुका था। संसार के किसी भी देश का ब्रह्म विषया (की-तनेन-अनैर-उस-वेत्र-के-अनुसन्धानों-की-अनैर) जिज्ञासु हिंदु धर्म के तत्त्वों की उपेक्षा करके चल नहीं सकता। अस्तु, १८७५ ई. में हेलेना पेद्रोवना बलेवास्की और मिस्टर कोलार्ड आलकाटने 'थियासो फिकल सोसाइटी' स्थापित की जिसका उद्देश्य था उन अगौचर नियमों का अनुसन्धान और प्रचार जिनके अधीन यह सृष्टि संचालित होती है। आगे चलकर उच्च नैतिकतापूर्ण पवित्र जीवन दिखाना तथा आधिमैतिका की वृद्धि का विरोध भी उद्देश्य हुआ। धार्मिक कट्टरता का विरोध, पूर्वी देशों के धर्मज्ञान के तत्त्वों का पश्चिम में प्रचार 'धार्मिक भिन्नता से मनुष्य भिन्न नहीं हो जाते' इस विचार का अर्थात् विश्व-मानवता की धार्मिक भूमिका का प्रचार आदि बातें ही इस ब्रह्म विद्या समाज में थीं। १८७९ ई. में इसके दोनो संस्थापक बम्बई चले आये और ईसाइयों के धर्म-प्रचारकों को रोकने, शिक्षा में परिवर्तन करने तथा संस्कृत के पठन-पाठन पर जोर देने लगे। इनकी बीमती एनीवेसेन्ट १५ वर्ष की आयु में भारत आई और आते ही सांस्कृतिक आन्दोलन में कूद पड़ीं। उनका ज्ञान-पान, वेशभूषा आदि कुछ भारतीय था। वे असाधारण धकता थीं। बीसवीं शताब्दी के प्रथम कुछ वर्षों के अन्दर के हिंदुत्व के इतिहास में सबसे अधिक महत्वपूर्ण व्यक्तित्व इस अंग्रेज महिला का था। उन्होंने हिंदुत्व और भारतवर्ष को एक ही माना था। उनका कहना था कि भारत वर्ष को हिंदुत्व से अलग कर देना वैसा ही होगा जैसा किसी पेड़ को उसकी ध्वज धरती से उखाड़ फेंकना। हिंदू धर्म के एक ^{एक} अंग की उनकी व्याख्याओं से लोगों की आंखें खुल जाती थीं। उन्होंने तो रुढ़ियों, रीतियों और रिवाजों तक का समर्थन किया था। 'हिंदू मैनेर्स एन्ड ऐण्ड कस्टम्स' जैसी जहरीली और राक्षसी उद्देश्य से लिखित पुस्तकों के प्रभाव से बचने के लिये जिस इंजेक्शन की आवश्यकता थी वह बीमती वेसेन्ट की प्रतिमा से निर्मित हुआ। इस ब्रह्मविद्या समाज के लोग

दिव्य शक्ति का अस्तित्व मानते थे और उनका विचार था कि मानव भगवान
 के विधान को कार्यान्वित करने का एक साधन है। उसे निश्चित कर लेना चा-
 हिये कि वह पृथ्वी पर भगवान का प्रतिनिधि बन कर रहे। मानवता के लिये
 आत्मबलिदान के उच्चतम आदर्शों की पुनर्स्थापना और सारी मानवजाति में एक
 मूलभूत एकता^{की} दर्शन करने में इसका विश्वास था। यह समाज चाहता था कि
 मनुष्य अपने श्रेष्ठतम मनोभावों का विकास करे, उसे मानव जाति के दुःखों के
 प्रति सहायप्रति हो और यह समस्त मानव जाति की सेवा के लिये अपने को उत्सर्ग
 कर दे। तात्त्विक और दार्शनिक दृष्टि से थियासौफी हिन्दुत्व के अधिकाधिक
 सामीप्य है। हिन्दू धर्म के श्रेष्ठतम और मान्य ग्रन्थों के अनुवाद प्रकाशित करा
 कर इसने हिन्दुत्व के पुनरुद्धार के लिये ठोस कार्य किया है। हिन्दू दार्शनिक सिद्धांतों
 और पारश्चात्य सामाजिकता का अद्भुत और युगानुकूल समन्वय इस समाज ने प्रस्तुत
 किया है। डी. एस. शर्मा का कथन है कि बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में
 जब हजारों नर-नारी भारत की महानता और हिंदुत्व के गौरवपर भीमती एनी
 बेसेन्ट के व्याख्यान सुनते थे तो वे या तो भाव-विगलित होकर / साधु हो उठते
 थे या भावधारा में बह जाते थे - डूब जाते थे। सर बेलेन्टाइन चिरोल कहते हैं
 कि जब भीमती बेसेन्ट जैसी असाधारण योरोपीय महिला यह कहती हैं कि पश्चिम
 के दर्शन, नीति, देवता आदि की अपेक्षा भारतीयों के देवता, धर्म, दर्शन आदि
 कहीं अधिक श्रेष्ठतर हैं तो क्या आश्चर्य कि भारतीय पारश्चात्य सभ्यता की
 ओर से मुंह फेर लें।^१ भीमती बेसेन्ट तो हिंदुत्व के जागरण से अति विश्व
 का भी कल्याण मानती थीं। इन्होंने असंख्य हिंदुत्व पर आस्था, विश्वास जमाया।
 इन्होंने संसार को भारत का सात्त्विक रूप समझाया। थियासौफी धर्म नहीं,
 धर्मों का आशय है। मुसलमान अच्छा मुसलमान हो, हिंदू अच्छा हिंदू हो और
 ईसाई अच्छा हिंदू हो - यही आधिपत्या समाज चाहता था। उसका लक्ष्य यह
 समझना था कि यदि ये तीनों अच्छे/ होंगे तो भारत के लिये हितकर होगा।

१. 'हिंदूज्म यू वि एजें', पृ. १४

२. 'इंडियन अनरेस्ट', पृ. २९।

उस समय भारत में ये तीनों धर्म बुरी तरह से टकरा रहे थे। इनकी एकता पर ज़ोर देने वाले इस समाजज्ञ ने इन्हें मिलाकर त्रिमूर्ति बना दिया। इसके परिणामस्वरूप कट्टर और द्वेषी लोगों की संख्या घट गई। इस प्रकार इस समाज ने भारत के एक समाज में बड़ा ही स्वस्थ वातावरण विनिर्मित कर दिया। यही अवस्था रौटरी आन्दोलन की रही, जिसका जन्म २३ फरवरी, १९०५ ई. को सिकागो में हुआ था। इसके जन्मदाता थे पाल हैरिस। इनका उद्देश्य प्रेरक वाक्य है: "सेवा अपने स्वार्थ से बड़ी है" और जो अच्छी से अच्छी सेवा करता है उसको अधिक से अधिक लाभ मिलता है। इसके सदस्य एक दूसरे के अधिकाधिक काम आते हैं। और परस्पर प्रेम भाव पैदा करते हैं। इसके कार्य स्वार्थ प्रेरित नहीं होते। स्पष्ट है कि यह विचारधारा हिन्दी साहित्यिकों की अपनी मनोवृत्ति और विचारधारा के अधिक अनुरूप है। यह हमारी सामान्य मानसिक पृष्ठभूमि के अनुरूप है। यह हमारी आकांक्षाओं - भारतीय गौरवकी पुनर्प्राप्ति - एवं तत्संबंधी वातावरण के प्रतिकूल नहीं है। इसे सामान्यतः प्रवहमान भावधारा की गतिशील वृद्धि ही की है। दुर्भाग्य से इसका कार्यक्षेत्र और प्रभाव कुछ उच्च वर्ग के लोगों तक ही सीमित रह गया। हिन्दी साहित्य की विषयवस्तु के रूप में जो वर्ग था वह प्रायः इस समाज के सिद्धान्तों पर ही जीवन बिता रहा था। यद्यपि वह इस "ब्रह्मविद्यासमाज" से परिचित न था। निर्माताओं में से ज़ेक इसे परिचित थे। परिणाम यह हुआ कि आधुनिक हिन्दी साहित्य पढ़ने पर मनमें - भावक्षेत्र - जो वातावरण निर्मित होता है वह लगभग वही है। जैसा यह "ब्रह्मविद्यासमाज" एवं "रौटरी संघ" बनाना चाहता है। तात्त्विक दृष्टि से दोनों एक-से हैं - सात्त्विक हिंदुत्व प्रधान, क्योंकि वही भारत है - वही वस्तुतः हमारा वास्तविक रूप है जिसकी अभिव्यक्ति आधुनिक हिन्दी ने की।

ईसाई धर्म का योग

सातवीं शताब्दी तक भारत में पर्याप्त ईसाई आ चुके थे। मगध १४९८ में वास्कोडिगामा के भारत आने पर ईसाई धर्म का काफी प्रचार किया

१६ वीं शताब्दी में उदारचेता अकबर ने इन्हें धर्म-प्रचार की प्रयाप्त स्वतंत्रता दे दी थी। १७९३ में विलियम कैरे भारत में आया। यह पहला पादरी था जो पश्चिम की मिशनरी सोसाइटी से भेजा गया था। १८१८ में उसने सेरामपुर में कॉलेज खोली। बाइबल के अनुवाद, प्राइमरी शिक्षा, पत्रकारिता, धर्म-प्रचार आदि उसके कार्य थे। बीसवीं शताब्दी में फास वेस्टकाट और सी. एफ. ऐन्ड्रूज के कार्य भी इस दृष्टि से सराहनीय रहे। १९३० में भारत का चर्च इंग्लैण्ड के चर्च से स्वाधीन हो गया। १९५४ ई. तक नेशनल क्रिश्चियन काउन्सिल के तत्वाधान में ४६ कॉलेज, ४४८ हाई स्कूल, ५५३ मिडिल स्कूल और १०३ टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज खोले जा चुके थे। इन ईसाइयों ने शिक्षा और स्वास्थ्य के क्षेत्र में प्रयाप्त महत्वपूर्ण कार्य किये। साथ ही साथ इन्होंने धर्मप्रचार का भी कार्य किया। पहले ये पश्चात्त्य देशों की ही सभ्यता-संस्कृति को सब कुछ मानते थे। राष्ट्रीय आंदोलनों के फलस्वरूप इनके दृष्टिकोण का भी भारतीयकरण हो गया है। भारत में जन्म लेकर भारत के जन्न, जल और वायु से जीवन बिताकर अन्ततोगत्वा भारत की ही मिट्टी में मिल जाने वाले को भारतीय संस्कृति और भारत राष्ट्र का होकर रहना चाहिये - यह बात इन सबकी भी समझ में आ गई। युग की भावधारा - युग धर्म के प्रतिकूल थे अपना धर्म बना नहीं सकते थे और इन्होंने भी भारत के वास्तविक रूप - उसकी आध्यात्मिक पृष्ठभूमि को पहचानना प्रारंभ कर दिया है। अब यह देखकर बहुत ही प्रसन्नता होती है कि उदार आलोचना, बढ़ते हुए प्रकृति - विज्ञान, अध्यात्मशास्त्र, धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन, धार्मिक चेतना के मनोवैज्ञानिक अध्ययन, तथा रहस्यानुभूतियों के घनिष्ठतम एवं प्रगाढ़तम परिचय के फलस्वरूप ईसाई पंडित ईसाई धर्म के पुनर्निर्माण में लग गये हैं। इसका परिणाम यह हो रहा है कि ईसाइयत हिंदुत्व के अधिकाधिक निकट आती जा रही है। अस्तु, अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार, मान्यतावादी दृष्टिकोण से की गई सेवाएं, समाजसुधार, व्यक्तिगत गुणों-योग्यताओं और मान्यताओं को आदर देने वाले दृष्टिकोण का प्रचार और भारतीय समाज के बुझी-पिरी की आशाएं - आकांक्षाएं-विचार-दृष्टिकोण आदि की आधुनिकता की ओर प्रेरित करना आदि ईसाइयों की महत्व

पूर्ण देने हैं। इन्होंने आधुनिक हिंदी साहित्य के लिये कोई विशेष सांस्कृतिक दृष्टिकोण तो नहीं उभारा, हाँ, उसकी बौद्धिकता को कुछ अधिक सक्रिय अवश्य बना दिया है। लक्ष्मी सागर बाख्खेय और रामचन्द्र बुक्ल आदि सभी विद्वान् इस विचार को मानते हैं कि आधुनिक हिंदी गद्य के प्रादुर्भाव और प्रचार में इन ईसाइयों का महत्वपूर्ण भाग रहा है। पांडेय बेचन उर्मा 'उग्र' का 'महात्मा ईसा' प्रेमचन्द के 'रंगभूमि' की सौफिया, जान आदि, फादर कामिल बुल्के का 'राम-कथा का विकास' आदि संभव न होते यदि भारत में ईसाई न होते।

बौद्धधर्म दर्शन की देन

बौद्धधर्म भारत के ही एक सपूत की देन है। अनेक उताड़ियाँ तक भारतवासियों की चेतना को अपने रंग में पूरी तरह से रंग लेने के बाद कालान्तर में वह भारत से विलुप्त हो गया। उन्नीसवीं शताब्दी में पुनर्जागरण की करवटें बदलकर जब हमने अपने को संभालने तथा अपने पूर्व गौरवमय स्वरूप को प्राप्त करने के उद्देश्य से अपनी प्राचीन महानता की सौजे प्रारम्भ कीं तब स्वामाधिक रूप से हमारा ध्यान बौद्धधर्म की ओर भी गया। पुरातत्त्व विभाग ने जब कपिल वस्तु, लुम्बिनी, सारनाथ और कुशीनगर को भूमि के भीतर से निकाल कर हमारे सामने रख दिया और राइस डेविस आदि विद्वानों की व्याख्याओं ने बौद्धधर्म की तात्त्विक विवेचना हमारे सामने उपस्थित कर दी, एवं लंका, बर्मा, चीन, जापान आदि के बौद्ध धर्मावलंबियों ने बौद्ध-तीर्थ यात्राएं प्रारंभ कर दी तब मूल-बौद्ध सोसाइटी के प्रयत्नों से हमने बौद्धधर्म का अध्ययन - अन्वेषण प्रारंभ किया। नवीन चेतना ने धर्म के शाश्वत तत्वों को शाश्वत तत्वों तथ्यों एवं कर्मकांडों से पृथक्करना सीख ही लिया था। परिणामतः बौद्धधर्म के शाश्वत तत्वों ने सारे संसार को आकृष्ट कर लिया। बुद्ध ने निश्चय कर लिया था कि दार्शनिक गवेषणा-व्यर्थ है। उन्होंने देखा कि आचरण क्षेत्र में कर्मकांड की संस्कार पद्धति^{ने} नैतिक कर्तव्य-पालन का स्थान ले लिया है। धार्मिक क्षेत्र में भी असम्यक्ता के युगों के अंधविश्वासी फिर सिर उठा रहे हैं और स्वार्थ-परायण पुरुष अपने हित-साधन में उनका उपयोग

कर रहे हैं। बुद्ध ने बताया कि बिना पुजारियों की मध्यस्थता अथवा ईश्वर चर्चा के भी हम मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। लोक कल्याण साधन अथवा बुद्ध - आचरण से मोक्ष मिलता है - अनिश्चित फल देने का वादा करने वाले दुरात्तों को मानने अथवा कुछ देवताओं की तौष-शान्ति के उद्देश्य से रहस्यपूर्ण क्रियाओं के सम्पादन से नहीं। इसी प्रकार हमने नई ज्योति एवं दृष्टि से जैनधर्म-दर्शन का भी अध्ययन किया। इन दोनों धर्म-दर्शनों की अनेक बातें हिन्दू धर्म दर्शन में व्यावहारिक रूप से आ ही गई थीं। विरोध विगलित हो चुका था। अतएव मैथिलीचरण गुप्त ने बुद्ध को रामचन्द्र जी के ही वंश का बताकर कहा, - "हे राम! तुम्हारा वंश-जात, सिद्धार्थ....." जैसे वैष्णव भक्त भगवान से "मुक्ति-मुक्ति" न मांग कर "भक्ति" मांगता है वैसे ही गुप्त जी ने "अमिताभ" से भक्ति ही मांगी।¹ चारुत भूख्यों की सौज के और मान्यता ही के कारण 'यशोधरा' में बौद्धत्व और वैष्णव तत्व नीर-खीर की भाँति मिलकर एक हो गये हैं। अपनी कल्पना को बौद्ध युग में ले जाकर हिन्दी कवियों ने अनेक कविताएँ, कहानीकारों और उपन्यासकारों ने अनेक उच्छ्वकोटि के उपन्यास और कहानियाँ और नाटकारों ने नाटक लिखे हैं। 'यशोधरा', 'बैजाली की नगर बधू', एवं अम्बपाली से संबंधित अनेक सकल कृतियाँ से हिन्दी इस युग में समृद्ध हुई है।

इस्लाम का योग

सम्भवतः बौद्धों और ईसाइयों से भी अधिक भारतीय जीवन और इतिहास को प्रभावित करने वाला धर्म इस्लाम है। मौलाना अबु मुहम्मद हमीदुद्दीन ने लिखा है कि इस्लाम एक स्वतंत्र शब्द है इसका अर्थ है ईश्वर को मान लेना, ईश्वर के समक्ष खीस झुका देना, अपने को सर्वथा ईश्वर के समर्पण में दे देना और उसकी सम्पूर्ण आज्ञाओं को स्वीकारकर लेना।² इस्लाम के तीन आधारभूत विश्वास हैं :- (१) ईश्वर के अस्तित्व और उसके गुणों में विश्वास,

१. 'यशोधरा'

२. 'बही'

३. 'इस्लाम का परिचय' पृ. ६

(२) रसूल अर्थात् ईश्वर के दूतों में विश्वास, (३) ^{क्यामत} क़यामत और रोजे, प्रलय और न्याय के दिन में विश्वास। कुरान शरीफ इस्लाम की पवित्रतम धर्म-पुस्तक है। मुहम्मद साहब अंतिम पैगम्बर हैं। पैगम्बर वह है जो ईश्वर या खुदा का पैगाम लाने वाला आदमी हो। इस्लामी धर्म शास्त्र कहता है, "ये मोहम्मद! तुम केवल (कुमारन के परिणाम से) सचेत करने वाले हो और इस प्रकार हर जातियों में पथप्रदर्शक आ चुके हैं।" राहुल सांकृत्यायन ने लिखा है कि कुरान प्राचीन शास्त्रों का समर्थक है।^१ और ईश्वर को कुरान ने सृष्टि का कर्ता, धर्ता, हर्ता माना है।^२ ईश्वर बड़ा दयालु है, वह अपराधों को क्षमा कर देता है। वह सत्य है, न्यायकारी है, काफिरों पर भी दया करता है, माता-पिता-स्त्री-पुत्रादि रहित है। कितने ही लोग इस्लाम में भी ईश्वर को साकार मानते हैं क्योंकि "अर्थ (सिंहासन) जल पर है" से पुराणों के शेषशायी ईश्वर का स्मरण आता है।^३ कुरान में यह सिद्धान्त भी मलीमांति प्रतियोगित है कि ईश्वर अद्वितीय, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, अनुपम और अतिशय समीप है। जिस प्रकार पुराणों में परमेश्वर के बाद अनेक देवता भिन्न भिन्न काम करने वाले माने जाते हैं उसी प्रकार इस्लाम ने फरिश्तों को माना है। सर्वव्यक्तिमान होने से उसने, ईश्वर ने, बिना उपादान कारण के ही जगत बना डाला। इस्लाम में पुनर्जन्म नहीं माना गया है। वहाँ प्रलय या क़यामत के दिन प्रत्येक जीव अपने पुराने शरीर के साथ जी उठेगा। उसी दिन उसके गुण या अगुण कर्मों का क़स्ब-पा-रि-तो-पिक या कंड भी सुनाया जायगा। इस्लाम के अनुसार भी जगत के योगों की असमानता ईश्वर के लब्ध है। यद्यपि इस्लाम में भी माना गया है कि अवश्यमेव मौक्तबय कृतं कर्म शुभाशुभम् किन्तु तोबा (प्रायश्चित्त) से और प्रेरित की सकारिख से भी पाप का क्षम्य हो सकना भी संपन्न माना गया है। जन्मत (स्वर्ग), दोजत (नर्क), हूर (अप्सरा), बाय (नंदन), उराय (सौम), जन्मत में सुख भोग और दोजत में विपत्ति की आज पिल्कुल वैसे ही हैं वैसे पुराणों

१. "इस्लाम का परिचय", पृ. ११

२. "इस्लाम की स्परेता", पृ. २०

३. "वही", पृ. ५६

४. वही, पृ. ५६

५. वही, पृ. ५७

६. वही, पृ. ५८

कहीं कहीं स्वर्ग-नरक का उपमोह अनंत काल तक के लिये है और कहीं कहीं सत्य।

स्वर्ग-नरक के बीच की दीवाल को पराफ कहते हैं मृत्यु को भी भगवान के ही आधीन माना गया है। राहुल जी के अनुसार इस्लाम के कुछ सम्प्रदायों के लोग पुनर्जन्म भी मानते हैं। कुरान की प्रार्थनाएं स्पष्ट करती हैं कि इस्लाम कितना विनम्र, शान्ति-प्रिय, समर्पणशील, आस्तिक और निष्ठा एवं आस्थामय है। कुरान की "पनाह" "अल्लाहि बिस्मिल्लिहि मिनश्शैतानिर्रजीम" का अर्थ है - "उरण लेता हूं मैं अल्लाह की, पापात्मा शैतान से बचने के लिये"। "फातिहा" का अर्थ है - "पहले ही पहल नाम लेता हूं अल्लाह का जो निहायत रहम वाला मेहरवान है। हर तरह की स्तुति भगवान के ही योग्य है। वह सारे विश्व का पालने - पोसने वाला और उद्धारक, परम कृपालु, परम दयालु है। पुकौती के दिन का वही मालिक है। हम तुम्हारी ही आराधना करते हैं और तुम्हारी ही मदद मांगते हैं। हे बल्लो हमको सीधी राह - उन लोगों की राह जिन पर तेरी कृपा-प्रसाद उतरा है। उनके रास्ते नहीं जिन पर तुम्हारी अप्रसन्नता हुई है या जो मार्ग भूले हैं। तथास्तु।" यह है बिस्मिल्लाहि रहमानिर्रहीम। अल्ल-स्तुलिल्लाहिर्रब्बिल आलमीन्..... अमीन तक के पदों का भाव। ऊँच बढे हैं, भाव एक ही है। नाम बढे हैं, नाम वाला एक ही है। धार्मिक दृष्टि से हिन्दुओं और मुसलमानों के धर्म में जो अंतर है वह नगण्य है। हिन्दुओं और मुसलमानों - दोनों में ईश्वर सगुण और निर्गुण दोनों हैं। हिन्दुओं की ही भांति इस्लाम में भी नैतिकता का अवलंब काफी ठोका है। आचरण की बुद्धि, दान, अतिश्रिय, सेवा, अय्यमिबार, उराब का त्याग, क्षमा, अविरोध आदि महत्वपूर्ण बातें एक-सी हैं। इस्लाम का धर्मग्रन्थ कहता है कि ईश्वर उस जीव के रून और मांस से संतुष्ट नहीं होता जिसकी तुम कुबानी करते हो वरन् वह तुम्हारी धर्मनिष्ठा से संतुष्ट होता है। मुहम्मद का बहिर्हित में जाना इस बात का प्रतीक है कि सतीम और असीम का संयोग होना संभव है। भगवानदास ने सभी धर्मों की श्री मौलिक पकता प्रतिपादित करते हुए मसीह और रसूल में अवतार की उपाय देसी है और "अल्लाही बि कुहले ययीन् मुहीत" में "ब्रह्म सर्वमायुत्य तिष्ठति" का

का भाव बैसा है।^१ भारत में आकर इस्लाम ने पहले अपने को विजुद्ध रखना चाहा और चाहा कि भारत का प्रत्येक व्यक्ति इस्लाम स्वीकार कर ले। मरे टी. टाइटस ने लिखा है कि हिंदू तथा हिंदुत्व के प्रति इस्लाम का दृष्टिकोण सदैव ही असहनीयता का रहा है।^२ इस्लाम ने हिंदुओं को अहस्तुलिकताव भी नहीं माना। तात्पर्य यह हुआ कि हिंदू या तो इस्लाम स्वीकार करें या मृत्यु। यथार्थ के तकाजे ने मजबूर कर दिया वना हम "धिममी" भी नहीं बन सकते थे अर्थात् जजिया सिराज देकर भी और इस्लामी शासन स्वीकार करके भी छुट्टी नहीं पा सकते थे। विजेता इस्लाम हिंदुओं और बौद्धों के देश का इस्लामीकरण किये बिना अपने को सकल मानने के लिये कभी भी नहीं तैयार हो सका। भारत में इस्लाम की कहानी सैद्धान्तिक कटुतरता और मानवीय प्रकृति के सताक्रीडयों के संघर्ष की कहानी है। दोनों एक दूसरे में लड़ते भी हैं और दोनों एक दूसरे को प्रभावित भी करते हैं। दोनों के सुन्दरतम पक्ष भी हैं और कुरूपतम पक्ष भी। अस्तु, अपने अथक प्रयत्नों के पश्चात् भी भारत में आया हुआ इस्लाम अपने उद्देश्यों में सकल न हो सका। एकमात्र भारत ही वह अपवाद है जहाँ इस्लाम भारत को अपनी इस्लामी दुनिया में न मिला सका।^३ इसका परिणाम यह हुआ कि धर्म की विजुद्धता बनाये रखने के लिये पार्थक्य की नीति अपनाई गई। पार्थक्य की नीति के प्रोत्साहन का एक कारण और है। योरप में ईसाइयों और मुसलमानों के बीच दीर्घ काल तक धर्म-युद्ध हुआ था जिसके परिणामस्वरूप ईसाई अंगरेज भी इस्लाम के विरुद्ध थे। मौलाना अबुलक़ासिम इमामुद्दीन ने लिखा है, ".....जब योरप से अंगरेजी साम्राज्य भारत आया तो वह अपने दूसरे अस्त्र-उस्त्र के साथ वह प्रचार भी लेता आया जो इस्लाम और मुसलमानों के विरुद्ध सचियों से योरप में फैला हुआ था। मुसलमानों की वजह से हिंदुस्तान में भी इस्लाम के विरुद्ध घृणा और द्वेष मौजूद हो गया। इसलिये योरप से आये हुए इस्लाम विरोधी

१. "समन्वय", पृ. २६८।

२. "इस्लाम इन इंडिया ऐंड पाकिस्तान", पृ. १६

३. "दिल कस्बुरल डेरिटेज आफ इंडिया", भाग ४, पृ. ५७९।

प्रचार का खूब स्वागत और इस्तक़्बाल हुआ।^१ कुछ भी हो, सामान्य जनता ~~भारत~~ की प्रवृत्ति राजनीतियों की प्रवृत्ति से भिन्न हुआ करती है और हमारे आलोचकाल तक आते-आते भारत का सामान्य हिंदू मुसलमान एक ढंग का जीवन बिताते लगा था। धार्मिक पूजा-पाठ और वैश्व-भूषा, नाम-धाम, रीति रिवाज आदि के क्षेत्रों में भारतीय संस्कृति ने स्वको पूर्ण स्वतंत्रता देना सीखा ही था। भारतीय मुसलमानों को भी वह स्वतंत्रता सहज-स्वाभाविक रूप से प्राप्त हो गई। बाकी, व्यवहार, मेल-मिलाप, खून-पसीना सबका एक हो रहा था। धार्मिक और सांस्कृतिक विद्वेष नाम की कोई चीज रह ही नहीं गई थी। वैवाहिक संबंध, संत-पूजा, सहनशीलता, निरन्तर सम्पर्क, देवता और शास्त्र सम्बन्धी हिंदू-उदारता, राधाकृष्ण की पूजा, सामाजिकता, संतप्त की उदारता आदि के कारण हिंदू मुसलमान से प्रभावित हुए और मुसलमान हिंदू से यद्यपि दोनों का अपना-अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व और दृष्टिकोण अब भी ^{अस्त} ~~व्यक्त~~ है। सारे भारतवर्ष में न तो कोई हिंदू गांव है और न कोई मुसलमान गांव। राजेन्द्र बाबू ने बड़े विस्तार के साथ यह दिखाया है कि जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में किस प्रकार हिंदू और मुसलमान दोनों एक दूसरे से प्रभावित हुए हैं।^२ हिन्दुत्व और इस्लाम में जो अन्तर था उसके कारण न तो हिन्दू मुसलमान से द्वेष करता था और न मुसलमान हिंदू से, बल्कि दोनों एक दूसरे की मान्यताओं का आदर करके उसके संपन्न करने में एक-दूसरे की सहायता करते थे। मुसलमान हिन्दू पोस्ते को जब साने पर डुलाता था तब हिंदू घर से ब्राह्मण द्वारा भोजन बनवाकर पवित्र स्थान पर सिलाकर उसके 'धरम' की रक्षा करना अपनी पोस्ती का एक अंग - कर्तव्य - समझता था। गांधी जी ने लिखा है, 'उस (अजमेर के) दरगाह में हिंदुभी जाते हैं और हिंदू जाकर मानता भी करते हैं। इसी तरह से मुसलमान भी जाते हैं तो सब एक बन गये हैं, ऐसा चलता है। धर्म से नहीं, कर्म से।'^३ तो, हमारा महात्मा भी यही कहता था और काठियात्मा का भी यही ^{होना} ~~कहना~~ था, 'हैं तो मुगलानी हिंदुजानी हूँ स्नेही मैं।' उदार हिंदुत्व के संपर्क

१. 'इस्लाम का परिचय', पृ. ११८।

२. 'संछिन्न भारत',

३. 'प्रार्थना प्रवचन', भा. २ पृ. १९१।

मैं आकर भारत का कट्टर इस्लाम भी थोड़ा-बहुत उदार हो चला है। राधा कृष्णन ने लिखा है, 'इस्लाम का भारतीय स्वरूप हिन्दू विश्वासों और कर्म-काण्डों के रूप पर डला हुआ है.... सुन्नियों की अपेक्षा शिया हिंदुत्व के अधिक समीप है।' जनता, कवि, महात्मा, एवं संत आदि के द्वारा दोनों का सां-स्कृतिक सम्मिलन प्रारंभ हो गया। यदि यह सफल हो जाता तो जैसे पारसी सिक्ख, सिक्ख, आकाल्य द्वीपीय, डाक-सेना आदि हिंदू अर्थात् भारतीय हैं वैसे ही मुसलमान भी होते। वे हममें मिल भी गये होते और अपनी स्वतंत्र पहचान (आइडेंटिटी) भी रखते। किन्तु, अंगरेजों ने इसमें अपना लाभ न देखा। पढ़े-लिखे के एक वर्ग को ऐसा इंजेक्शन दे दिया कि वे अपनी विचारधारा में एक दूसरे के रून के प्यासे हो गये। एक दूसरे के शत्रु होकर वे भारत माता के शत्रु हो गये। यह इंजेक्शन कुछ ऐतिहासिक प्रवृत्तियों और मुल्यों का साथ पाकर इतना प्रभावशाली हो गया कि बाबाजी भी उसके जहरीले प्रभाव को पूरी तरह नहीं मिटा पाई है। यह धर्मांधता, यह अविश्वास, यह भ्रष्टता, यह संकुचित एवं अपुरवर्धिता इस महाद्वीप के इतिहास में अभी कौन कौन से गुल सिलायेगी, इसे भविष्य ही जानता होगा। दुश्मन उतना भयानक नहीं होता जितना विदेशी भाई। देश की प्यास विदेशी दुश्मनों से मिटकर अपने भाई के रक्त बहाने से भी शांत नहीं बुझती। यह बुझती है समझदारी जाने से मगर ये अंगरेजी पंसे महात्मा गांधी की पिता की आग की चिंगारी मड़काते रहते हैं और भारत की प्रणम्य तपोभूमि को स्मृति-सा वेतने के शौकीन लगते हैं। प्रसन्नता और आशा की किरण केवल यहीं से आती है कि संत, महात्मा, समझदार लोग और सामान्य जनता अब भी सन्तप्त की परम्पराओं को ही अपनाये हैं। इतने हत्याकांडों के बावजूद भी पुनर्रम में हिंदू ताजिफेदारी की संख्या कम नहीं होती। आवश्यकता केवल एक बात की है और वह है कि कोई प्रभावशाली एवं विश्वास-

प्राप्त मुसलमान धर्मनैता मुसलमान भाइयों को यह समझा दे कि धर्मपरिवर्तन का अर्थ यह नहीं होता कि इतिहास और आदर्श बदल गये, कि धर्म बदलने से बाप का नाम नहीं बदल जाता। उसे पैतृक परम्परा और नव स्वीकृत धर्म में सामं-जस्य स्थापित करता है। उसे अशिक्षित कट्टरपंथी, कुटिल राजनीतिज्ञ एवं अनुदार मुस्लिम वाले धर्म से इस्लाम को निकालकर या बदल कर एक अध्यात्म अध्यात्म की आधारशिला के सहारे इस्लाम की सत्यतम, उच्चतम एवं उत्कृष्टतम व्याख्या करनी है। वैसे, भारत की आत्मा इस्लाम को अपनी कतिपय कट्टरताओं को डीला करने की और प्रेरित कर रही है। बीसवीं सताब्दी के पूर्वार्ध में पठे-लिखे के एक वर्ग में यह सांप्रदायिक विद्वेष था जिससे जहाँ एक और भारत की हानि हुई वहाँ दूसरी और सही बोली हिन्दी की भी हानि हुई। सही बोली के रसतान, फानन्य और जायसी का गला जन्म होने के पहले ही घोट दिया गया। उन्हें के रूप में एक स्नेहशीला, प्रेममयी बड़ी बहन को पाकर सही बोली की कविता कितनी सम्राज, स्वयं और सुन्दर हुई होती, इसे कौन कह सकता है। फिर भी, इस इस्लाम ने हिंदी को कुछ बड़े ही सुंदर और प्यारे ऊँच दिये हैं, जैसे, "इन्सान", "आसमान", "जिंदगी", "मुहब्बत", "दुनिया", "खिल" आदि। दुंगार प्रधान साहित्यिकों की अभिव्यक्तियों में जो एक नया चटपटापन, नई मस्ती, नई अवा, नई तहप बिसाई पड़ती है, उसका बहुत बड़ा श्रेय सूफी-प्रेम को है। सूफी "धर्म" की मृत्यु काम्यता महादेवी वर्मा में देती जा सकती है। छायावाद में रौने झीने की जो अधिकता है उसका भी अंत "पिनकर" ने इस्लामी प्रेम की अभिव्यक्तियों में ही पाया है।¹ उन्होंने लिखा है कि ये कवि (विशेषतः महादेवी) इसलिये नहीं रोते कि असहयोग आंदोलन असफल हो गया था या प्रथम महायुद्ध-जनित निराशा उन्हें घेरें थी, "असल में छायावादकालीन वेदनाप्रियता एक तो रोमांटिक मुद्रा का परिणाम थी। दूसरे, उसके मूल्यों में बहुत दूर पर, सूफियों की वेदना-प्रियता काम कर

रही थी....." । अस्तु, इस्लाम से हिन्दी को इस्लाम धर्म और संस्कृति संबंधी साहित्य (पंडित मुन्वर लाल, राहुल सांकृत्यायन आदि), गुप्त जी का "काथा - कर्बला", "इस्लामी इतिहास सम्बन्धी कुछ कथा साहित्य, कुछ नाटक, तथा हिन्दू मुस्लिम ऐक्य संबंधी कुछ अच्छा साहित्य मिला है।

अरविन्द का योग

इस युग में अध्ययनशील और विचारशीलभारतीयों और कुछ विदेशियों को भी धर्म, धर्मन, और योग की एक नई व्याख्या एवं विचारधारा ने बहुत आकृष्ट किया। यह विचारधारा अपने युग के सुप्रसिद्ध एवं अत्यंत मयानक क्रांतिकारी तथा पाप के योगी अरविन्द ने प्रस्तुत की थी। उनका कहना है कि सृष्टि की मूलस्था यह ब्रह्म है जो समस्त विश्व के अन्दर चेतना के रूप में निहित है। स्थूल जड़-सत्ता, फिर प्राण, फिर मन आदि - इस प्रकार के क्रमः विकास के रूप में वही चेतना अपने आपको अभिव्यक्त कर रही है। योगीराज का कथन है कि ब्रह्म तो सत्य है किन्तु यह जगत मिथ्या नहीं है। यही तो ब्रह्म का अभिव्यक्त रूप है। उनका कहना है कि मनुष्य का व्यक्तित्व ऐसा नहीं है जैसे लहर। जिस तरह लहर समुद्र में जाकर लीन होती है उसी तरह ब्रह्म के अन्दर मनुष्य का व्यक्तित्व लीन हो सकता है। सबसे पहले तो व्यक्ति को अपने अहंकार का त्याग करना पड़ेगा। अहंकार से मुक्त यह आत्मा ब्रह्म के साथ और ब्रह्म के माध्यम से जगत के साथ और जगत के सभी प्राणियों के साथ आंतरिक एकता का अनुभव करते हुए एक अपूर्व निजी पाप का अनुभव कर सकता है। व्यक्ति और विश्व के अभिन्न संबंध का यह बड़ा अनोखा दृष्टिकोण है। आध्यात्मिक सत्ता न तो निर्गुण है अर्थात् न तो विशेषताओं से रहित है और न धूम्य चेतना है। यह एक परिपूर्ण चेतना है। उसके अन्दर सभी गुण और सभी विशेषताएँ हैं। रहित-है-और-न-धूम्य-सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात जो युगानुकूल थी है, उन्होंने यह कही है कि व्यक्ति के लिये यह संभव नहीं है कि वह सबको

ठीक ठीक व्यक्तिगत रूप से अकेले अकेले मुक्ति प्राप्त कर सके। व्यक्ति सारे विश्व का एक अंग है। अंग अपने को अंगी से सर्वथा अलग नहीं कर सकता। उसकी अपनी उन्नति सबकी उन्नति का एक कारण बन जायगी और सबकी उन्नति में व्यक्ति का भी हित है। सत्ता की जायि समस्या मूलतः ^{समस्तरता} ~~समस्या~~ (हार्मनी) या सामंजस्य या संतुलन की है। धर्म का मूल अर्थ और एकमात्र आधार है अनुभव। अनुभव को अधिक माय में बांधना होगा। उसे सीमाओं से ऊपर रखना होगा। सर्व व्यापक सत्ता-अद्वैत है। हमको अपनी दैत मायनाओं के लिये भी उसी की आधार बनाना होता है। वह नितान्त ^{परम} ~~अपरम~~ है, अधिष्ठान है और अगम्य है। मनुष्य अपनी प्रकृति और स्वभाव के नाते एक निकटतर सत्ता को ही ग्रहण कर पाता है। इसको उसने "ईश्वर" कह दिया है। यह ईश्वर भी पूर्ण सच्चिदानन्द सत्ता है। यही सत्ता जगत को भी रचती है। वह कुछ सत्ता ही जगत में अभिव्यक्त हो रहा है। इसी नाते हमें इसको संसार में कहीं भी ऐसे दो तत्व नहीं मिलें जो एक दूसरे से सर्वथा विरोधी हों। अस्तु, मानव-चेतना, पशु-चेतना, वनस्पति की प्रतिक्रिया, धातु की प्रतिक्रिया और प्रत्यक्षः नितान्त जड़-पदार्थ में एक क्रम है, एक अटूट स्थिरसिला है। सुप्त-दुःस की अनुभूतियाँ हमारे उभले मानस तत्व की अभ्यास जनित प्रतिक्रियाएँ हैं। इन प्रतिक्रियाओं से परे होने पर हमको उन्हीं ^{संपर्क} से एकरस आनन्द भी मिल सकता है बिना हम डिटली या हल्की मीवृत्ति में दुःस या सुप्त का अनुभव करते हैं। अरविन्द ने लिखा है, "वस्तुओं की आत्मा है अनन्त अधिभार्य सत्ता, इस सत्ता को मूलभूत प्रकृति या धर्म है, आत्म-सचेतन सत्ता की अनंत अवयव व्यक्ति; और फिर उस आत्म सचेतनता की मूलभूत प्रकृति या उसका स्वाविषयक ज्ञान है सत्ता का अनन्त अधिदेख आनन्द।" ¹ व्यष्टि, समष्टि और परात्पर तत्व तीनों का ही स्थितियाँ हैं। हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि ये तीनों स्वतंत्र सत्ताएँ हैं। सत्ता अन्तर्गत-वत्त्वा एक सुसंयोज और संगठित तत्व है। असीम देव एवं अनंत काल वाला यह

जगत या विश्व उसी स्तर का सार्वभौम रूप है। छयष्टि उसका अनिवार्य अंग है। इस प्रकार अनेकत्व और एकत्व का समाधान होता है। मानव इसी जगत में, इसी पृथ्वी तल पर ही दिव्य जीवन प्राप्त कर सकता है। स्तर का क्रमिक स्तर है ब्रह्म, प्राण, मन, अन्तरात्मा, अतिमन, ज्ञानंद, चित् और सत्। यह विकास का एक क्रम है। इस रूप में, इस क्रम में चेतना निरंतर वृद्धि प्राप्त करती है रहती है। इस विकासक्रम का आधार है एक व्यापक अवचेतना। यह विकासक्रम ब्रह्म की ऐक्य पूर्ण चेतना की ओर बढ़ रहा है। वर्तमान काल में सामान्यतः हमारा सबसे अधिक विकास जिस स्तर तक हो पाया है वह है मन वाला स्तर। अन्तरात्मा का स्तर मन के ऊपर है और इसलिये निश्चित रूप से मनके स्तर से भिन्न है। व्यावहारिक रूप में मन सदैव प्रकृति की ओर अभिमुख होता है। अन्तरात्मा का स्वभाव है जगत के आत्मतत्त्व मगवान की सौजना। अन्तरात्मा गत्यात्मक है और आत्मा बुद्ध्यात्मक। ये ब्रह्म के ही दो पक्ष हैं। अंतरात्मा से अतिमन तक के विकास का मार्ग काफी लम्बा है। मन का समूल रूपान्तर करना होगा। चेतना को ऐसा बनाना होगा कि वह सत्य को धारण कर सके। उसे अनेकता में एकता का अनुभव करने के योग्य बनाना होगा। इस प्रकार अध्यात्ममय होने से अमरत्व का अनुभव प्राप्त किया जा सकता है। मानव इस विकास का अग्रदूत है। योग की सचेतन क्रिया द्वारा वह और अधिक तेजी से विकास कर सकता है। मानव में ऊर्ध्वमुखी और अधोमुखी-दोनों प्रकार की गतियाँ एक साथ काम करती रहती हैं। योग और चिन्तन द्वारा उसे तत्त्वों का प्रत्यक्ष^{प्री}करण करना होगा। सांत अनंत की एक अवस्था है। अनंत अवस्था की प्राप्ति ही 'दिव्य जीवन' है।^१ इस 'दिव्य-जीवन' की प्राप्ति अति मानस से ही संभव होगी। 'अति मानस और दिव्यजीवन' नामक लेख में अरविन्द का कथन है, 'अतिमानस अपने मूलरूप में सत्य चेतना है',^२ उसकी गति सीधी होती है, और वह सीधे अपने लक्ष्य तक जा सकती है, अतएव

१. 'अधिति', फरवरी, १९४९।

२. 'वही', वही, १९५०।

एक अतिमानसिक सत्य चेतना का अभिव्यक्त होना वह प्रधान सत्य है जो
 दिव्य जीवन को यहाँ संभव बनाएगा। इससे मानव मन का मौलिक रूपान्तरण
 हो जायगा। मन, प्राण, शरीर - सभी दिव्य जीवन के अंग बन जाएंगे।
~~इससे मानव मन का मौलिक रूपान्तरण हो जायगा~~ हरिदास जी चौधरी ने
 लिखा है, "उनके योग का उद्देश्य है प्राच्य के आध्यात्मिक आदर्श के द्वारा
 पार्श्वात्य की कर्मप्रेरणा को उद्बुद्ध करना और पार्श्वात्य के कर्मश्रौत के अन्तर
 प्राच्य के देवजन्म के स्वप्न को मूर्त विकसित करना..... प्रकृति के पीछे जो
 विश्वात्मा विराजमान है उनके साथ अभिन्नता स्थापित कर अनंत शक्ति से
 शक्तिमय होना है..... मनुष्य के अन्दर जो सुप्त देवता विद्यमान है उनको
 जागृत कर मनुष्य का रूपान्तर साधित करना होगा.... पृथ्वी की अन्तर्निहित
 विराट् चेतना को उद्बुद्ध कर यहाँ पर स्वर्गराज्य को स्थापित करना होगा..
 श्री अरविन्द का विश्वास है कि मनुष्य के बाद भगवान की अतिमानसशक्ति
 (सुप्रा मैटल पावर) का अवतारण होने से अतिमानव (सुपरमैन) का जन्म होगा।
 मनुष्य की सचेतन प्रवेष्टा और साधना के द्वारा ही यह नवीन जन्म या अभि-
 व्यक्त सिद्ध होगी।¹ योगीराज अरविन्द के इस चिन्तन और योग ने
 विचार जगत में एक नई क्रांति पैदा कर दी। पृथ्वी पर स्वर्ग की अवतारणा
 युक्तियुक्त हो गई। यह विचार और साधना का यह स्वरूप भारतीय संस्कृति
 के अनुरूप था जिससे हमें अपने प्राचीन रूप और गौरव की पुनर्प्राप्ति की आशा
 हुई। हिंदी के लेखकों ने आगे बढ़कर इस विचार का अध्ययन किया। पन्त पांडे-
 बेहरी के आशय में कुछ दिन रहे। 'विद्यावती' को किल' जैसे चर्चा की हो गई
 है। इसका आधुनिक हिंदी साहित्य पर प्रभाव पड़ा। अरविन्द की कृतियों के
 हिन्दी अनुबाध हुए। गंभीरतम उच्चकोटि का आस्तिकवादी साहित्य मिला।
 गीता-उपनिषद् की नवीन मौलिक व्याख्याएं प्राप्त हुईं। मानव को उठा उठाने
 वाला साहित्य रचा गया। भगवान के चौबीसों अवतारों को पन्त ने विकास
 क्रम के उतारीदार बुद्धि के रूप में लौचा। संस्कृतनिष्ठ गद्य की एक नई शैली मिली।

1. 'अदिति', 1988 की पांचवी पुस्तिका।

उच्चकौटि के विचार मिले। कविताएं, कहानियां, नाटक, एकांकी आदि लिखे गये। आरसीप्रसाद सिंह, वांति एम.ए., पन्त, 'कोकिल', आदि इस विचारधारा से प्रभावित हुए हैं।

वेदान्त

बीसवीं शताब्दी के प्रथम कुछ वर्षों के अन्दर स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ ने विदेश में भी और अपने देश में भी समस्तदार व्यक्तियों की चेतना के कम-कम को वेदान्त की संस्कृति से आलोकित विलोकित कर दिया। उन्होंने भारतीयों से अपने अन्तर को टटोलने तथा अपने वास्तविक स्वरूप और गौरव को फिर से पहचानने के लिये कहा। वे वेदान्त का सहारा लेकर भारत की एक आध्यात्मिक शक्ति के रूप में प्रतिष्ठापित करना चाहते थे। प्रश्न उठता है यह सब संभव कर देने की शक्ति रखने वाला यह वेदान्त है क्या? वेद नामक ग्रंथ दो भागों में बंटे हैं - कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। दूसरा भाग ज्ञानकाण्ड हम लोगों के धर्म का आध्यात्मिक अंग है। इसका नाम वेदान्त अथवा वेद का अन्तिम भाग अथवा वेद का परम लक्ष्य है।¹ इस वेदान्त के तीन प्रस्थान हैं :- उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता। उपनिषद् कवियों के अनुभव हैं। उपनिषदों के निष्कर्षों की युक्तिसंगत व्याख्या के प्रयत्नों का स्वरूप ब्रह्मसूत्र में है और गीता वह यौग्यशास्त्र है जिसके माध्यम से हम वास्तविक धार्मिक जीवन या सकते हैं। वेदान्त एकदम से केवल अद्वैतवाद का ही अर्थ नहीं निकालना चाहिये। श्री हरिकृष्णदास गोयन्दका ने व्यास जी के सिद्धान्तों में चौबीस मुख्य बातें इस प्रकार बताई हैं।

(१) यह प्रत्यक्ष उपलब्ध होने वाला जो अह-चेतनात्मक जगत है इसका उद्धार न और निम्ना कारण इस ही है (१ - १ - २ जन्माद्यस्य यतः) ।

१. विवेकानन्दकृत 'वेदान्त', पृ. ३।

- (२) सर्वव्यक्तिमान परब्रह्म परमेश्वर को जो परा (चैतन जीव समुदाय) और अपरा (परिवर्तनीय जडवर्ग) नामक दो प्रकृतियाँ हैं, वे उसी की अपनी व्यक्तियाँ हैं, इसलिये उससे अभिन्न हैं (३-२-२८ -प्रकाशानुबद्धा तेषस्त्वात्)। वह इन व्यक्तियों का आश्रय है, ज्ञाः इन्से भी भिन्न है। परब्रह्म जीव और जडवर्ग से सर्वथा विलक्षण और उत्तम है (३-२-३१ -परक मतः स्तुभ्यानसंबन्धमेव व्यपदेश्यः)।
- (३) वह परब्रह्म परमेश्वर अपनी उपयुक्त दोनों प्रकृतियों को लेकर ही सृष्टि-काल में जगत् की रचना करता है और प्रलयकाल में इन दोनों प्रकृतियों को अपने में विलीन कर लेता है।
- (४) परब्रह्म परमात्मा शब्द स्पर्श आदि से रहित, निर्विशिष्ट, निर्गुण एवं निराकार भी है तथा अनंत कल्याणमय गुण समुदायों से युक्त सगुण एवं साकार भी है। इस प्रकार ^{एक} ही परमात्मा का यह उभयविध स्वरूप स्वाभाविक तथा परम सत्य है, औपाधिक नहीं है (३-२-११-२६ -)
- (५) जीव समुदाय उस परब्रह्म की पराप्रकृति का समूह है, इसलिये उसी का अंश है (२-३-४३)। इसी दृष्टि से वह अभिन्न भी है। तथापि परमेश्वर जीव के कर्मफलों की व्यवस्था करने वाला (२-४-१६) सबका नियन्ता और स्वामी है।
- (६) जीव नित्य है (२-४-१६)। उसका जन्मना और मरना शरीर के संबंध से औपादिक है (३-२-६)।
- (७) जीव का ^{एक} शरीर से दूसरे शरीर में और लोकान्तर में भी जाना जाना वही शरीर के संबंध से ही है। ब्रह्मलोक में भी वह सूक्ष्मशरीर के संबंध से ही जाता है (४-२-९)।
- (८) परब्रह्म परमेश्वर के परमधाम में पहुँचने पर जानी का किसी प्रकार के प्राकृत शरीर से संबंध नहीं रहता, वह अपने दिव्य स्वरूप से संमत् होता है (४-४-१)। वह उसी स्वरूप प्रकार के बंधनों से मुक्तावस्था है (४-४-२)।

- (९) कार्यकाल के लोक में जाने वाले जीवको वहाँ के योगों का उपयोग संकल्प-
मात्र से भी होता है और उसके संकल्पानुसार प्राप्त हुए शरीर के द्वारा
भी - (४-४-८, ४-४-१२) ।
- (१०) देवयान मार्ग से जाने वाले विद्वानों में से कोई तो परब्रह्म एक परमधाम में
जाकर ^{सायुज्य} मुक्ति - लाभ कर लेते हैं (४-४-४) और कोई वैतन्य मात्र स्वरूप
से जलग में रह सकते हैं ४/४/७) ।
- (११) कार्यकाल के लोक में जाने वाले उस लोक के स्वामी के साथ प्रलय काल के
समय सायुज्यमुक्ति को प्राप्त हो जाते हैं (४-३-१०) ।
- (१२) उत्तरायण मार्ग से ब्रह्मलोक में जाने वालों के लिये रात्रिकाल या दक्षिणायन
काल में मृत्यु होना बाधक नहीं है (४-२-१९-२०) ।
- (१३) जीव का कर्मापन शरीर और इन्द्रियों के संबंध से औपचारिक है (२-३-३
३३-३७) ।
- (१४) जीव के कर्मापन में परमात्मा ही कारण है (२-३-४१) ।
- (१५) जीवात्मा विभु है, उसका एकवैशीत्व शरीर के संबंध से ही है, वास्तव में
नहीं है (२-३-२९) ।
- (१६) जिन शानी महापुरुषों के मन में किसी प्रकार की कामना नहीं रहती जो
स्वर्गा निष्काम और आस्तकाम हैं, उनको यहाँ ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती
है। उनका ब्रह्मलोक में जाना नहीं होता ।
- (१७) शानी महापुरुष लोक संग्रह के लिये सभी प्रकार के लिये सभी प्रकार के वि-
हित कर्मों का अनुष्ठान कर सकता है । ४-१-१६-१७) ।
- (१८) ब्रह्मज्ञान सभी आश्रमों में हो सकता है। सभी आश्रमों में ब्रह्मविद्या का
अधिकार है (३-४-४९) ।
- (१९) ब्रह्मलोक में जाने वाले का पुनरागम नहीं होता (४-४-२२) ।
- (२०) शानी के पूर्वकृत संवित पुण्य पाप का नाश हो जाता है। नये कर्मों से
उसका संबंध नहीं होता (४-१-१३-१४) । प्रारब्ध कर्म का उपभोग द्वारा

- नाश हो जाता है। नये तदनन्तर वर्तमान शरीर नष्ट हो जाता है और यह ब्रह्मलोक को या वहाँ परमात्मा की प्राप्ति हो जाता है (४-१-१९)।
- (२१) ब्रह्मविद्या के साधक को यथावि जाग्रत कर्म भी निष्काम भाव से करने चाहिये (३-४-२६) वम जादि साधन अवश्य कर्तव्य है (३-४-२७)।
- (२२) ब्रह्मविद्या कर्मों का अंग नहीं है (३-४-२-२५)।
- (२३) परमात्मा की प्राप्ति का हेतु ब्रह्मज्ञान ही है (३-४-४७-१)।
- (२४) यह जगत्-प्रलय काल में भी अप्रकट रूप से वर्तमान रहता है (२-१-१६)।^१

यही उपर्युक्त वेदान्त भारतीय संस्कृति की आधारशिला, भारत की अमर महानता का रहस्य एवं उसका सर्वस्व है। जीवन दुःखपूर्ण है, जगत दुःखपूर्ण है, यह बात कोई भी व्यक्ति जिसने जगत को अच्छी तरह जान लिया है अस्वीकार नहीं कर सकता। तब समस्या संसार को दुःखरहित करने की नहीं रह जाती, समस्या रह जाती है इस सर्वग्राही दुःख की बुझन के पीछे की निवृत्ति करने की। वेदान्त ने इसी दृष्टिकोण को अपनाया। वेदान्त इससे भागा नहीं, पराङ्मुख नहीं हुआ, उसने देखने और अनुभव करने की धारा-दिशा-बदल दी। वेदान्त की इसी बात को विवेकानन्द ने इस रूप में उपस्थित किया है, "..... सर्वत्र ब्रह्म का दर्शन करके जीवन की विपत्तियाँ और दुःखों को हटा सकते हैं। कुछ इच्छा मत करो।"^२ वेदान्त में वैराग्य का अर्थ है जगत का ब्रह्मभाव। वेदान्त शिक्षा देता है कि जगत को ब्रह्मस्वरूप देखो। इसी वेदान्त को रामकृष्ण परमहंस ने अपने जीवन में प्रत्यक्ष कर लिया था। उन्हीं का शिष्यत्व स्वामी विवेकानन्द ने ग्रहण करके सारे संसार को वेदान्त के सूर्य से चमत्कृत कर दिया था, मनुष्यमात्र की समझने की एक नई दृष्टि दी थी एवं दलित-पतित मानव जाति के उद्धारका एक दृष्टिकोण दिया था। जगत ब्रह्म मय है तो दुःखीमानव भी ब्रह्म का ही रूप है।

१. 'वेदान्त दर्शन के निवेदन', का पृ. ७-८ और ९।

२. 'सान्त्वनीय', पृ. २३४।

उसकी सेवा इस की सेवा है। जब एक इस ही सत्य है और सब मिथ्या है तब धन-सम्पत्ति सब आध्यात्मिक दृष्टि से मिथ्या है और तब जड़ों का मानवता के उधार - के लिये इस मिथ्या के त्याग में नुनब क्यों - मोह क्यों? आत्मा अमर है। हम खरीर नहीं, आत्मा है। जब ऐसा है तब इस खरीर के जानै-बूटने का मोह ठयर्थ है। सबसे बड़ा मय मृत्यु का होता है। वेदान्त ने उसे डंक को ही निकाल दिया। अब मानव निर्मय हो गया। ये सारी बातें जाति का उत्थान करने वाली थीं और ये सारी बातें वेदान्त से निकलती हैं।

विवेकानन्द ने यही किया और आत्मोद्धार के लिये संघर्ष-रत भारत को एक बहुत बड़ा सहारा दिया - बल दिया। स्वामी विवेकानन्द जी ने वेदान्त की संघर्ष की मरुभूमि के बाहर देखने की कमी ठयर्थ-वेष्टा न की। उन्होंने मानव जीवन को वेदान्त की पृष्ठभूमि में लगी डंग से समझा और इस तरह समझाने का प्रयत्न किया कि मानव लघुता से ऊपर अपने महान लक्ष्य की एक झांकी पा जाय। उन्होंने कहा, "एक वेगवती नदी समुद्र की ओर जा रही है। छोटे-छोटे कागज के टुकड़े तिनके आदि इसमें बह रहे हैं, वे इधर-उधर जाने की चेष्टा कर सकते हैं किन्तु अन्त में उन्हें अवश्य ही समुद्र में जाना पड़ेगा। इसी प्रकार हम और मैं तो क्या, समस्त प्रकृति ही बुझ बुझ कागज के टुकड़ों की भाँति उस अनंत पूर्णता के सागर ईश्वर की ओर अग्रसर हो रही है। हम भी इधर-उधर जाने की चेष्टा कर सकते हैं, परन्तु अन्त में हम भी उस जीवन और आनन्द के अनन्त समुद्र में पहुँचेंगे।"¹

विवेकानन्द का निम्नलिखित कथन जीवन और वेदान्त के उनके समन्वय की वेष्टतम रूप में उपस्थित करता है, "वर्तमान समय के लिये स्वामी रामकृष्ण का यह सन्देश है - सिद्धान्त, प्राचीन अथर्विचार मत-मतान्तर, गिर्जे ,

मंदिर - किसी की भी चिन्ता न करो। मनुष्य जीवन का सार जो आत्म-ज्ञान है उसके समझ उनका कुछ भी महत्व नहीं। मनुष्य में जितना ही आत्म-ज्ञान बढ़ेगा उतना ही संसार का वह अधिक उपकार करेगा। उसी का संवय करो, पहिले उसे प्राप्त करो और किसी धर्म में द्वेष न निकालो; क्योंकि सभी धर्म और मतों में कुछ न कुछ अच्छाई अवश्य होती है। अपने जीवन के, आचरण से यह बता दो कि धर्म का अर्थ छद्म-समूह नहीं, न केवल नाम, न संप्रदाय है, धर्म का अर्थ सच्चा आत्मज्ञान है। जिन्होंने इसे प्राप्त किया है वे ही धर्म के रहस्य को समझ सकते हैं। जिन्हें आत्मज्ञान मिल चुका है वही दूसरे को भी दे सकते हैं तथा मनुष्य जाति के सच्चे शिक्षक हो सकते हैं। प्रकाश की वे ही सच्ची शक्तियाँ हैं..... आत्मज्ञानी बनो और सत्य का स्वयं अनुभव करो। अपने भाइयों के लिये त्याग करो। उनके लिये प्रेम की लंबी-चौड़ी बातें करना छोड़ जो कहते हो उसे कर पिलाना सीखो। त्याग और सत्यज्ञान की अनुभूति का समय आ गया है। संसार के धर्मों की सत्यता सभी पिलाई देगी। तुम्हें तात होगा कि किसी से द्वेष करने की आवश्यकता नहीं और सभी तुम मनुष्य जाति की सच्ची सेवा कर सकोगे।¹

यही प्रवृत्ति, ये ही विचार स्वामी रामतीर्थ के भी थे। उन्होंने संसार को राममय देखना और अपने को राम में डुबा देना ही सच्चा ज्ञान और सच्ची उपासना समझा। उन्होंने कहा, "मन को देव के पास बिठाया" उपासना है, अथवा उपासना उस अवस्था का नाम है जहाँ रोम-रोम में राम रच जाय, मन अमृत में घीग जाय.....² इसके लिये उपाहरण स्वरूप उन्होंने पत्थर का जल में डूब कर पीतल होने, कपड़े की गुड़िया के अन्दर बाहर जल में निसुडने लग जाने और मिट्टी की डली के गंगा रूप हो जाने की बातें कहीं। इनके उप-देशों के विषय थे "तुम क्या हो", आनन्द का इतिहास और घर, पाप का नि-

1. "भक्ति और वेदान्त", पृ. ४३।

२. श्री स्वामी रामतीर्थ, पृ. ४०।

निदान, कारण और उपचार, प्रकाश, आत्म-विकास, प्रकाशों का प्रकाश, यथार्थ और आदर्श एकीकृत, प्रेम के द्वारा ईश्वर का अनुभव, व्यावहारिक वेदांत और भारत। उनके उपदेशों का सार इस प्रकार है:- (१) मनुष्य का देवत्व, (२) संसार उसकी सहकारिता करने को बाध्य है जो सम्पूर्ण संसार से अपनी एकता समझता है, (३) शरीर को सबेष्ट संघर्ष में और मन को प्रेम तथा शक्ति में रसने का ही अर्थ है यहाँ अर्थात् इसी जीवन में पाप और दुःख से मुक्ति, (४) सबसे अभिन्नता के व्यावहारिक अनुभव से हमें समतोल निश्चिन्तता का जीवन प्राप्त होता है और (५) सकल संसार के पवित्र धर्मग्रंथों को हमें उसी भाव से ग्रहण करना चाहिए जैसे हम रसायन विद्या का अध्ययन करते हैं और स्वयं अपने अनुभव को अंतिम प्रमाण मानना चाहिये। अमेरिका में लिये गये उनके व्याख्यानों का यह सार संकलन एक अमेरिकावासी ने उपस्थित किया था।

रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ आदि के इन उपदेशों का एक सबसे बड़ा परिणाम वहाँ उस समय यह निकला कि हम अपने प्राचीन धर्मग्रन्थ आदि की ओर मुड़े क्योंकि इन्होंने उन सब पर हमारी आस्था गठित कर दी थी वहाँ दूसरी ओर एक दूसरा परिणाम यह भी निकला कि हम सभी भारत पर न्योछावर होने को तैयार हो गये। यह एक अनोखी बात है किन्तु फिर भी अस्वाभाविक नहीं। बात यह है कि इनके परिणामस्वरूप हम अपने देश के प्राचीन धर्म और दर्शन की महानता और भारत के धर्मगुरु होने के कारण असाधारण रूप से गौरवान्वित अनुभव करने लगे किन्तु प्रत्यक्ष जीवन में ऐसा कि हमारी अव्यवस्था असाधारण रूप से मार्मिक है और अनुभव किया कि इस का कारण है विदेशी संस्कृति और अंगरेजी शासन। इसका परिणाम यह हुआ कि अंगरेजी शासन को हटाना हमने अपना-अपने सका - सर्वप्रथम कर्तव्य मान लिया। इस अनुभूति की ओर अधिक तीव्र बनाने वाली एक दूसरी अनुभूति भी हमें हुई। वह अनुभूति यह थी कि भारत एक भूमि मात्र नहीं, एक आध्यात्मिक सत्त्व है

सत्ता है। उसका एक एक कण पवित्र है। माँ की तरह वह केवल हमारे शरीर का ही पालन-पोषण नहीं करती बल्कि अनंत -सत्ता की तरह हमारी आत्माको आध्यात्मिक प्रवृत्तियों से संपन्न भी करती हैं। सच्ची माता तो वही है - "सर्व सत्त्वियं ब्रह्म" की पृष्णुनि में इस अनुभूति की जागृति नितान्त स्वाभाविक थी। अस्तु, असाधारण भावुकता एवं सच्ची आध्यात्मिकता में डूबे हुए रामतीर्थ कह उठे, "त्याग और कुर्बानी से ही इस देश को स्वतंत्रता प्राप्त होगी। राम का सिर जायगा, फिर पुरन का और तत्पश्चात् सहजों दूसरे व्यक्तियों का, तब कहीं जाकर देश स्वतंत्र हो सकेगा। भारतवर्ष - भारतमाता स्वतंत्र होनी चाहिये..... गुलामी! अरे दास्यन! अरी कमजोरी! अब समय आ गया, बांधों विस्तर, उठाओ लता-पत्ता, छोड़ो मुक्त पुरुषों के देश को ! सोने वाली, बाघल की गुम्हारे शोक में रो रहे हैं, बह जाओ गंगा में, डूब मरो समुद्र में, गल जाओ हिमालय में। राम का यह शरीर न गिरेगा जब तक भारत बहाल न हो लेगा। यह शरीर नाश भी हो जायगा, तो भी इसकी हड्डियाँ यथीषि की हड्डियाँ समान इन्द्र का वज्र बन कर देश के राक्षसों को चकनाचूर कर ही देंगी। यह शरीर मर भी जायगा तो भी इसका ब्रह्म बाण नहीं चूक सकता..... मैं सदैव भारत हूँ। सारा भारतवर्ष मेरा शरीर है। कन्या कुमारी मेरा पेर और हिमालय मेरा सिर है। मेरे बालों की जटाओं से गंगा बह रही है। मेरे सिर से ब्रह्मपुत्र और और बटक निकली है। विन्ध्याचल मेरा लंगोट है, कारी मेंडल मेरा बायाँ और बलाचार मेरा बायाँ पेर है। मैं सम्पूर्ण भारत हूँ। हिन्दुस्तान मेरे शरीर का ढाँचा है और मेरी आत्मा सारे भारत की आत्मा है। चलता हूँ तो अनुभव करता हूँ कि तमाम हिन्दुस्तान चल रहा है और जब मैं बोलता हूँ तो तमाम हिन्दुस्तान बोलता है....." इसी से कुछ मिळती-जुळती बात योनीराज अरविन्द ने कही, "भारतवर्ष भारत उक्ति है। एक महान् आध्यात्मिक परिक्ल्पना की जीवंत उक्ति है, और इसके प्रति निष्ठावान रहना ही उसके जीवन

१. 'माधुरी', सितम्बर, १९३७ ई. पृ. ६४६-६४७।

का मूल सिद्धान्त है। क्योंकि इसी के बल पर उसकी अमर राष्ट्रों में गणना रही है, यही उसके आश्चर्यजनक स्थायित्व का तथा उसके दीर्घ जीवन एवं पुनरुज्जीवन की अश्वत्थ शक्ति का रहस्य रहा है।^१ इस प्रकार हम यह देखते हैं कि 'यह वेदान्त हमारे कल्याण का एक महत्वपूर्ण साधन बन गया। हमारे व्यावहारिक जीवन को एक प्रातिमासिक स्नान और जीव तथा मृत की मूलरूप से समानता घोषित करके वेदांत ने मूल्यों में असाधारण रूप से क्रांतिकारी परिवर्तन उपस्थित कर दिया। यह वेदांत अत्यन्त प्राकृतिक और प्रजातन्त्रात्मक है। इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति उच्चतम स्थिति अर्थात् आत्मानुभूति की आकांक्षा कर सकता है। इसके लिये उसे वास्तविक क्षमता विकसित करनी चाहिये। वेदांत किसी भी ऐसे तत्त्व पर न तो जोर देता है और न आधारित है जो अनिवार्य न हो और जिसे आज की वैज्ञानिक सीढ़ी अन्यथा सिद्ध कर सकती हो। भारतवर्ष के लिये तो यह वेदांत सब कुछ है। ज्ञान-पान, रहन-सहन, पूजा-उपासना, जादि ये अनंत सामाजिक परिवर्तनों के होने पर भी हमारी धृतिर्यो के अलौकिक सत्य - वेदान्त के ये अद्वितीय तत्त्व आजभी सदा की भांति अपनी महिमा के साथ अजेय और अजर-अमर भाव से स्थिर हैं, वेदांत एक ऐसा अनंत कोष है जिसे कोई भी विजेता भारत से नहीं छीन सकता। इस वेदांत को आधुनिक युग के अनुकूल बनाकर उपस्थित करने का कार्य उपर्युक्त महात्माओं ने किया। विवेकानन्द के इस महत्कार्य का मूल्यांकन इस प्रकार किया गया है कि विवेकानन्द उस मागीरय के रूप में हैं जिसने आध्यात्मिकता की मागीरधी को समाज के धरातल पर उतार लिया। वेदान्त के हिमालय से उन्होंने आध्यात्मिकता की जो नंगा समाज में प्रवाहित की उसके जल का पान करके समाज का व्यक्ति आत्मशक्ति संपन्न, वीर, तेजस्वी, स्वतंत्र, आत्मरूप या ब्रह्मरूप समाज का सेवक और पूर्ण मानव हो सकता है।^२ उन्होंने भारतीय जनता रुपी घेर को जो अपने को सियार समझा था, वेदान्त का दर्पण दिखाकर उसमें सचमुच घेर हो

१. 'अधिति', नवम्बर, १९५५ ई.

२. 'वि कल्चरल हेरिटेज ऑफ इंडिया', भाग ४.५. ६९०।

आत्मविश्वास उत्पन्न कर दिया। यद्यपि बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही इनका वैमान्त हो गया था किन्तु इनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त से सारा क्षेत्र प्रभावित हुआ। स्वामी विवेकानन्द ने हिंदू धर्म के कर्मकाण्ड वाले पक्ष को तिरस्कृत करके ज्ञानकाण्ड का (वैदिक का) उपदेश देकर हिंदुत्व का जो रूप प्रतिष्ठित किया आधुनिक हिंदी काव्य उसी की मूलतः झाँकी है। पंत, प्रसाद, निराला, रामकुमार वर्मा आदि की तो बात ही क्या, स्वयं दिनकर तक अपने काव्य में विवेकानन्द की बताकर अपने को उनका शिष्य मानते हैं।

प्राचीन पर आस्था

यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते हम समझदार भारतवासी समझ गये थे कि (१) हमारा वर्तमान जीवन इस कौटि का नहीं है कि वह उच्चकौटि के साहित्य का विषय बन सके, (२) हमारी शिक्षा हमारे जीवन से संबंधित नहीं है अर्थात् वह हमारे दिन प्रतिदिन के जीवन के किसी काम की नहीं; वह केवल नौकरी पाने की संभावना मात्र उपस्थित कर सकती है, (३) यह शिक्षा सिद्धान्तों की बात करती है और (४) इस शिक्षा का हमारी संस्कृति से कोई भी संबंध नहीं है और इसलिये इतने हमारे अपने साहित्य निर्माण में कोई विशेष सहायता नहीं मिल सकती। ऊपर कही हुई दूसरी और चौथी बात हमें इस तथ्य का रहस्य बताती है कि क्यों टैगोर, भारतेन्दु, प्रसाद, पंत, निराला, मैथिलीशरण गुप्त, रामचन्द्र शुक्ल, महावीर प्रसाद द्विवेदी आदि स्वनामधेय साहित्यकार उच्च शिक्षा न प्राप्त करके भी अपने अपने क्षेत्र के अद्वितीय कारिणी प्रतिभा वाले सिद्ध हुए और क्यों इन महापुरुषों को अपने आप घर पर भारतीय साहित्य का अध्ययन करना पड़ा। ऊपर कही हुई तीसरी बात ने हमको सिद्धान्त-प्रिय बना दिया और पहली बात ने हमारे साहित्य और साहित्यकार को प्रत्यक्ष जीवन से पराङ्मुख करके चिन्तन और मनन प्रधान बना दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि हमने पीछे मुड़कर अपने पुराने धर्म और दर्शन का अध्ययन और मनन

करना तथा उससे प्रेरणा लेकर साहित्य लिखना प्रारम्भ कर दिया, क्योंकि हमें इन पर अधिक विश्वास हो गया था। देवी-देवताओं की जो समझ में आने वाली बौद्धिक व्यवस्था की गई उससे हमारा यह विश्वास घुट हो गया कि अपनी मुठता एवं अज्ञानता के कारण हम यह समझ सके ही न पाएं किन्तु प्राचीन पौराणिक कथाओं के भीतर महामूल्य - सत्य छिपा है। कोई बात अनर्गल नहीं है। हमारे देवी-देवता या तो महान मानव थे या वे रूपक हैं जो किसी तत्त्व या तथ्य की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति करते हैं। हमने मान लिया कि विभिन्न धर्मों और सम्प्रदायों के विभिन्न देवता या तो वस्तुतः बुरवीर मानव थे जैसे कृष्ण या इनका अस्तित्व पौराणिक था जैसे शिव; कुछ पूर्व वैदिक युग की मान्यता से आये हैं और कुछ वेदोत्तर अथवा पौराणिक काल से मिले; कुछ ऐतिहासिक और अर्ध ऐतिहासिक भी थे^१। आधुनिक हिन्दी साहित्य ने इनके ऊपर से अंधविश्वास और कभी आध्यात्मिकता का भी छत्र उतार कर इनको कर्मवीर महामानव के रूप में देखा और इन पर महाकाव्य और खंडकाव्य लिखे गये। हम मानने लगे कि हमारे पुराण इतिहासों और तथ्यों-तत्त्वों की साहित्यिक अभिव्यक्तियाँ हैं। उन्होंने हम पर बड़ा उपकार किया है। उनमें हमारे धर्म की बड़ी-बड़ी बातें छिपी हैं। यह एक मान्य तथ्य है कि इन पुराणों के प्रताप से हिंदू धर्म दृढत - दृढता बना। साथ ही एक बात यह भी स्वीकार किये बिना नहीं रहा जा सकता कि पुराणों के द्वारा देश में भक्ति रस का कुछ विलक्षण प्रभाव फैल गया। साथ ही पंच देवताओं की उपासना आदि का प्रभाव बड़ा और हिंदू धर्म ने अपना स्तिका फिर बना लिया।

वैदिक धर्म

सांस्कृतिक पुनरुद्धार की भावना ने हमें अपने धर्म और धर्म के आदि श्रोत वेदों की ओर उन्मुख किया। स्वामी दयानन्द और उनके द्वारा प्रवर्तित आर्य समाज ने वेदसम्बन्धी स्वामी जी की व्याख्याओं के प्रकाश में वेदों

१. 'दि कल्चरल हेरिटेज ऑफ इंडिया', भाग ४, पृ. ३३०।

को फिर से पढ़ने और वैदिक कर्मकांड तथा वैदिक धर्म की पुनर्प्रतिष्ठा का प्रयत्न किया। इस दिशा में हम काफी दूर ^{तक} द्रष्टे वाले भी। आर्य समाज के सम्पूर्ण प्रभाव क्षेत्रों में सन्ध्या और अग्निहोत्र चल पड़ा। वेदमंत्रों की ध्वनियां फिर से सुनाई पड़ने लगीं। अग्निहोत्र के धुएं फिर से वायु मंडल में लहराने लगे। जहाँ तक दार्शनिक विचारों का संबंध है, वेदों में उनका अभाव है। वेद धर्म ग्रंथ हैं, दर्शन ग्रंथ नहीं। इतना अवश्य है कि वेदों के ऋषियों ने जिस सर्वोपरि अदृष्टशक्ति का चिंतन किया है ^{उसी} वेदों की प्रेरणा, उद्गम तथा केन्द्र हैं। वेदों में एक अदृष्ट शक्ति को स्वीकार किया गया है। वैदिक ऋषियों ने विश्व की अनेकता में एकता देसी है। उन्होंने कहा है - एकं सद्भिप्रा बहुधा वदन्ति। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त का पुरुष ब्रह्म का व्यक्तरूप ही लगता है। अदृष्ट प्रकृति के रहस्यों और शक्तियों को जानने के लिये वैदिक ऋषियों ने तप और योग का आश्रय लिया। ऋषियों ने अनुभव किया कि संसार के दुःख को परम सुख में बदला जा सकता है। इसके लिये उन्होंने देवताओं की प्रार्थना की। उनका विश्वास था कि देवता प्रसन्न होकर मानव को अच्छे मार्ग की ओर ले जा सकते हैं। ऋषियों का निष्कर्ष था कि जीवात्मा और परमात्मा की एकता से ही परम श्रेय की उपलब्धि हो सकती है। यह परम श्रेय परमात्मा या विश्वात्मा की सहचरी अदृष्टशक्ति थी। जिस विधान के द्वारा प्राकृतिक नियम परिचालित होते हैं उसे वेद ने धर्मविधान माना। वेदों के अनुसार इस जड़ जगत् का स्वरूप पुरुष है। उसके हाथों में कर्म-मय जगत् की बागडोर है। विभिन्न देवता इसी चेतन सत्ता के विभिन्न रूप हैं। इसीलिये वेदों में बहुदेववादा है। इन्द्र, अग्नि, सोम, अश्विनीकुमार, वायु मित्र, वरुण, ऊषा, पूषा, विष्णु, आदि प्रमुख देवता हैं। वेदों में विष्णु को उतना महत्वपूर्ण देवता नहीं माना है जितने महत्वपूर्ण वे बाद में हो गये। हमारे जड़ जगत् के जितने भी कार्य हैं, जो भी योग्य वस्तु ^{वस्तु} वस्तुएं हैं, और भी योगेन्द्रिय की जितनी भी शक्तियां हैं, उन सबके अधिष्ठाता ये देवता हैं। अपने कल्याण और सुख के लिये हमें इन देवताओं को प्रसन्न रखना चाहिये। ये देवता यज्ञ से प्रसन्न होते हैं यही कारण है कि वैदिक जीवन यज्ञप्रधान था। प्रसाद की

“कामायनी” में इस बात प्रधानता का उल्लेख है। देवता परमात्मा को अपना सहायक मानते हैं और उसे बात आदि से प्रसन्न रखते हैं। परमात्मा ही उन्हें मोक्ष दिलाता है। ये देवता विवेक संपन्न, परोपकारपरायण, आत्मज्योति से अंधकार को नष्ट करने वाले, सत्यनिष्ठ ज्ञानी, ज्ञानदाता आदि गुणों से संपन्न होते हैं। वेदों ने मानव का लक्ष्य अन्तिम सत्य की प्राप्ति के रूप में निर्दिष्ट किया है। यह अन्तिम सत्य एक ही है। इस प्रकार हमें वेदों में अद्वैत के भी तत्त्व मिलते हैं। वेदों की महत्ता “कृत” अर्थात् स्नातन सत्त्यों के निरूपण में है। वेदों ने सात्त्विक कर्मों का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार यह श्रेष्ठतम कर्म है। वेदों ने मृत्यु का जो भय नहीं जाना और इसीलिये वहाँ परलोक की चिन्ता नहीं है। “पिनकर” ने लिखा है, “वस्तुतः आत्मा, पुनर्जन्म और कर्मफलवाद के विषय में वैदिक विद्वानों ने अधिक नहीं सोचा था।” आधुनिक हिंदी की साहित्य में भी पुनर्जन्म और कर्मफलवाद पर विशेष जोर नहीं दिया गया है। वेदों में अवतारवाद की भी बात नहीं है। वेदों के उपर्युक्त भावों और विचारों तथा “कामायनी” के आशा सर्ग की कई शक्तिवक्तियों में भावसंबंधी साम्य पर्याप्त है:-

विश्वदेव, सविता या पूषा
 सौम, मरुत, वंचलपरिव्राम,
 वस्त्र आदि सब धूम रहे हैं,
 किसके शासन में अम्लान ?
 किसका था भ्रमंग प्रलय -सा
 जिसमें ये सब विकल रहे ?
 अरे! प्रकृति के शक्ति चित्र ये,
 फिर भी कितने निखल रहे ?

.....
किस्का करते संधान ?

.....
किस्को रस से सिंचे हुए ?

सिर नीचा कर किस्की जता

सब करते स्वीकार ^य कहां

सदा मौन हो प्रवचन करते

जिस्का, वह अस्तित्व कहां ?

हे अनंत रमणीय कौन तुम ?

.....
हे विराट् हे विश्व देव ! तुम

कुछ हो ऐसा होता मान ?

तथा -

कस्मै देवाय हविषा विधेम^२ की पुनरावृत्तियाँ वाले श्लोक

या

को अजा वेद क इह प्र वोचत

कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः

अवाङ्ग देवा अस्य विसर्जनेनाऽथा

को वेद यत् आबभूव ।^३

ऋग्वेद की इन जिज्ञासुओं का रूप भी यही है :- रात में सूर्य कहां रहता है ? दिन में तारे कहां चले जाते हैं ? फिर सूर्य गिर क्यों नहीं पड़ता ? दिन-रात में पहले कौन था ? वायु कहां से आता है और कहां चला जाता है ?
आदि ---

१. 'कामायनी', आशा सन,

२. 'ऋग्वेद' १०/१२१/१ एवं उसके बाद के कुछ श्लोक।

३. यही, १०/१२९/६।

उपनिषद्

वेदों के पश्चात् हमारा ध्यान उपनिषदों की ओर गया।

विषय की दृष्टि से वेदों के तीन भाग हैं :- कर्म, उपासना और ज्ञान। कर्म संहिता एवं ब्राह्मण भाग में है, उपासना संहिता एवं आरण्यक में, और ज्ञान उपनिषद् में। विद्या दो प्रकार की है - परा और अपरा। चारों वेद, उही वेदांग अपरा विद्या है और अक्षर ब्रह्म का ज्ञान परा विद्या है। परा विद्या ही ब्रह्म विद्या है। अपरा कर्मप्रधान है, परा मौखिक विद्या। अपरा के द्वारा परा विद्या का मोक्ष फल पाया जाता है। अनित्य, दुःख और अनात्मा में क्रमशः नित्य, पुष्टि, ब्रह्म सुख और आत्मबुद्धि अविद्या है। जिससे ब्रह्म का बोध हो वह विद्या है। ब्रह्म विद्या का न होना ही अविद्या है। मुक्तत्व प्रकृति से ही जगत् का अस्तित्व है। यह प्रकृति ब्रह्म की उपाधान भूत माया है। उपनिषदों ने आत्मा को अजन्मा, नित्य, शाश्वत, जन्म-मृत्यु से रहित, और अविकारी माना है। उपनिषद् ब्रह्म की सर्वव्यापी, नित्य, अनन्त, बुद्ध, चैतन्य, सबकी आत्मा, सत्य, अनादि, ध्रुव और अद्वितीय मानते हैं। यह सब आत्मा है। वही सब है। वह विज्ञानमय और आनन्दमय है। उसे विवेक द्वारा ही जाना जा सकता है। वह मन, बुद्धि और इन्द्रिय से परे है। उसके साक्षात्कृत के लिये जितेन्द्रिय, सांत चित्त, निरीह, सहिष्णु और आत्मनिष्ठ होने की आवश्यकता है। उसे जाना जा सकता है। ब्रह्म के दो रूप हैं - पर और अपर। परब्रह्म निरुपाधि, निःसीम, परात्पर और निर्गुण है। अपर ब्रह्म उपाधियुक्त, ससीम, अन्तस्थ और सगुण है। परब्रह्म सत्-चित्-आनन्दस्वरूप है और अपर ब्रह्म नित्य, सर्वव्यापी, जगत्प्राप्ता तथा कर्मों का अधिष्ठाता है। वही पालक और संहारक भी है। परब्रह्म सत्य, ज्ञान अनन्त, बदैत, अमृत और सनातन है और अपर ब्रह्म जगत् का कारण, पाप पुण्य के फलों कादाता, प्रकाशक, अनन्त, अक्षर, सनातन तथा सर्वज्ञ है। उपनिषद् वैयक्तिक आत्मा को जीव और आत्मा को परम आत्मा मानते हैं। जीव के साथ कर्मफल और अनुभूतियाँ जुड़ी रहती हैं किन्तु आत्मा अक्षर, अनादि, नित्य और कर्मबन्धन से मुक्त रहता है। जीव का लक्ष्य

होता है आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना और ज्ञेय की प्राप्ति। संसार में ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। उपनिषद् जीव की चार अवस्थाएं बताते हैं:- जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। इन अवस्थाओं के जीव को क्रमशः 'संसार', 'तेजस', 'प्राज्ञ', और 'आत्मा' कहते हैं। उपनिषद्वादी ने पांच कोश माने हैं जो जीव के सूक्ष्मातिसूक्ष्म शरीर हैं। ये हैं अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विशानमय और आनंदमय। ये क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते जाते हैं। आत्मा आनंदमय कोश में रहता है। जगत ब्रह्म का ही दूसरा रूप है। यह उसका निमित्त और उपादान कारण है। उपनिषद् ज्ञान पाकर जीव बन्धन से छूट जाता है। वेदान्त दर्शन के मूल आधार उपनिषद् ही हैं। तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वेदों के ऋषियों की अपेक्षा उपनिषद्वादी के ऋषि अधिक अन्तर्मुखी दृष्टि वाले थे। वे संसार के भोगों और ऐश्वर्यों के प्रति अधिक उदासीन हैं। वे संसार के अधिक महत्व वाले पदार्थों के आकर्षण से ऊपर उठ गये थे। उन्होंने सुषुप्ति के रहस्य को बाणी दी है। उन्होंने कहा है कि यह आत्मा प्रवचन, बुद्धि अथवा उपदेश सुनने से नहीं प्राप्त हो सकता। वे तर्क से भी आत्मज्ञान की प्राप्ति संभव नहीं मानते। आचार्य के सिद्धान्त पर ही उसका बोध संभव है। इस प्रकार उपनिषद्वादी में गुरु और भगवत्कृपा का महत्व स्वीकार किया गया है। उपनिषद्वादी ने जगत का सद् होना स्वीकार किया है। ब्रह्म के वर्णन में उपनिषद् कभी कभी रहस्यपूर्ण भाषा का व्यवहार करते हैं। रामानुज और उंकर दोनों के सिद्धांतों को उपनिषद्वादी से ही प्रेरणा मिली है। अस्तु, ये उपनिषद् वैराग्य और संन्यास के अधिक समर्पण हैं। ये कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रियां, पांच तत्त्व, महत्तत्त्व आसिद्धविश्वास करते हैं। कर्मफल पर और पुनर्जन्म पर भी इनका विश्वास है। यहाँ मूर्तिपूजा नहीं है। यज्ञ की जगह ज्ञान है। इनके अनुसार जीव संकल्प करने और कार्य करने में स्वतंत्र और फल भोगने में परतंत्र हैं। ये बन्धन का कारण तत्त्वज्ञान का अभाव मानते हैं। इनके अनुसार वास्तविकता के छूटने से ब्रह्म-प्राप्ति सम्भव है। तत्त्वज्ञान के लिये विवेक और वैराग्य आवश्यक है। इस प्रकार ये उपनिषद् ब्रह्म विद्या हैं। उपनिषद्वादी के विषय में उंकराचार्य का

यह मत था, 'जिस्से पुपुषुओं की संसार-बीज-भूत अविद्या नष्ट होती है, जो विद्या उन्हें ब्रह्म-प्राप्ति करा देती है और जिस्से दुर्तों का सर्वथा विधिलीकरण हो जाता है वही अध्यात्मविद्या उपनिषद् है।' इन्हीं हिंदू संस्कृति के अनेक दार्शनिक सिद्धान्त निकले हैं। इस युग में आर्य समाज के प्रयत्नों द्वारा और अन्य विद्वानों एवं जिज्ञासुओं की ज्ञान-पिपासा के परिणामस्वरूप उपनिषदों के अनेक हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हुए और हिन्दी के साहित्यकारों ने भी उनका अध्ययन किया जिसका परिणाम किसी न किसी रूप में उनके द्वारा प्रणीत साहित्य पर अवश्य पड़ा।

गीता

इसी सांस्कृतिक पुनर्जागरण की पृष्ठभूमि में हमने गीता का भी अध्ययन किया। उपनिषदों और वेदों की अपेक्षा गीता इस युग में भारतवर्ष में तथा संसार के अन्यत्र भी अधिक लोकप्रिय रही है और उसने समस्तदार लोगों के मानस को अधिक प्रभावित किया है। इसकी एक झांकी हमें गीताप्रेस, गौरसपुर से निकलने वाले 'कल्याण' के 'गीता तत्वांक' विवेकांक में उल्लिखित वेद-विवेक तथा ग्रन्थः अन्वय सभी धर्मों और विचारों के विद्वानों और मर्मज्ञों की उद्धृतियाँ हैं एवं विचारों को देखने से मिलती है। शंकराचार्य, सन्त ज्ञानेश्वर की व्याख्याओं के प्रचार, गीता प्रेस से प्रकाशित सटीक 'गीता' के अनेक संस्करणों तथा 'गीता-तत्वांक' के अतिरिक्त अंग्रेजी में श्रीमती एनी बेसेंट की टीका, अंग्रेजी में ही राधाकृष्णन की गीता व्याख्या, और कन्हैयालाल नाथिक लाल मुंशी की गीता की व्याख्या, मराठी में लोकमान्य तिलक का 'गीता-रहस्य' और आचार्य विनोबा भावे का 'गीताप्रवचन', अरविन्द की 'एसेज ऑन गीता' आदि ने गीता की लोकप्रियता स्थापित कर दी। देवराज और तिवारी ने लिखा है, 'शायद हिंदू जाति की जागृति के युग में यदि जनता में गीता के प्रति बड़ा और सम्मान बड़े हो तो अश्चर्य ही क्या है।'²

गीता के अनुसार ब्रह्म अथवा पुरुषोत्तम तत्त्व श्रीकृष्ण को ही माना है। वेदान्त के ज्ञेय को गीता ने यह स्वरूप दिया है। उसके दो भाव हैं—^{सूक्ष्म} अक्षर, ^{अक्षर} अपरभाव है। ^{अक्षर} स माय का ब्रह्म माया से युक्त है। वह सृष्टि का रच-
यिता है। उसी को हम विश्वात्मा कहते हैं। परभाव वाला ब्रह्म अद्वय है, अनन्त है और अचिंत्य है। अक्षरभाव से ब्रह्म लीलामय स्वरूप वाला है और अक्षर भाव से वह निर्गुण रूप है। वही पुरुषोत्तम तत्त्व श्रीकृष्ण-प्रकृति-जन्य गुणों के अभाव के कारण निर्गुण हो जाता है और लीलामय होने के कारण सगुण हो जाता है। इस प्रकार गीता निर्गुण और सगुण दोनों को स्वीकार करती है। फिर भी उसने सगुण को देख माना है। उस सगुण ब्रह्म की दो प्रकृतियाँ हैं - परा और अपरा। जीव रूप चैतन्य स्वरूप प्रकृति परा है और पृथ्वी, जल, वायु, तेज, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार अर्थात् मायावाली प्रकृति अपरा है। इस प्रकार गीता ने त्रिगुणात्मिका माया को ब्रह्म की अभिन्न शक्ति माना है। प्रकृति और पुरुष दोनों को उसने मूल तत्त्व अर्थात् ब्रह्म अथवा पुरुषोत्तम का प्रकाश या उसकी अभिव्यक्ति माना है। गीता ने प्रकृति या महद् ब्रह्म या माया को तीन गुणों से युक्त माना है - सत्, रजस् और तमस्। गीता ने इन तीनों की बड़ी विषय एवं व्यापक - व्याख्या की है। मानसिक भौतिक एवं व्यावहारिक जीवन की अनेकानेक प्रवृत्तियों का विश्लेषण एवं विभाजन गीताकार ने इन्हीं तीनों के आधार पर किया है। गीता के अनुसार प्रकृति ही सब कुछ करती है। मूल अहंकार या प्रमाद के कारण हम यह समझ बैठते हैं कि करने वाले हम हैं। गीता ने अक्षर यानी भगवान को इन सबके ऊपर माना है। गीता ने जीव को ब्रह्म की परा प्रकृति माना है। वह ब्रह्म का सनातन अंग है। वह प्रकृति से उत्पन्न गुणों का मौकता माना गया है। ब्रह्म ही को गीता ने जनक का निमित्त और उपाख्यान - दोनों कारण माना है। यह ब्रह्म की ही एक अभिव्यक्ति है - उसी का एक रूप। उसी आनंद सन्धु पुरुषोत्तम में निवास करने को ही गीता ने मोक्ष माना है।

यस सृष्टि में जीव का प्रमान उदय है ब्रह्म का शोध। यह दो प्रकार

से हो सकता है :- ज्ञाननिष्ठा के द्वारा और योगनिष्ठा के द्वारा। अपने
 समस्त कार्यों, इच्छाओं और अपने आपको अभिमान से घुंन्य करके ब्रह्म में मिला
 देना ज्ञाननिष्ठा है। दृश्यमान जगत के प्रति अनासक्ति का दृष्टिकोण और
 अनिष्ठा की भावना पैदा करके और कर्मों के प्रति स्वाभाविक प्रवृत्ति धारण क
 करके मन, वचन, और कर्म से प्रभु के आधीन होना योगनिष्ठा है। हम कोई
 भी निष्ठा अपनाये वैराग्य और अनासक्ति इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये अनि-
 वार्य है। मन और इन्द्रियों का निग्रह होना चाहिये। मोक्ष की इच्छा रखने
 वाले की प्रकृति सतीगुणी होनी चाहिये। उसमें निर्मयता, शुद्धता, स्वाध्याय-
 प्रेम, मान-अमान से ऊपर उठ जाने की क्षमता, संस्र का अभाव, कजुता, सत्य-
 प्रियता और उदारता आदि गुणों का होना नितान्त अनिवार्य है। उसके अंदर
 समस्त भाव का उदय हो जाना चाहिये। प्रियवस्तु^{के} भी परित्याग की क्षमता
 का होना आवश्यक है। कष्ट, मोह और मृत्यु की भी लक्ष्य प्राप्ति के लिये
 हंस्ते हंस्ते खेल जाने वाला ही इस पथ पर बढ़ सकता है। इस तरह कर्म करने से
 क्ति की शुद्धि होती है। मानव को पाप-पुण्य की भावना से ऊपर उठ जाने
 का प्रयत्न करना है। गीता कहती है कि स्वयं परात्पर कृष्ण ही सभी कर्मों के
 अधिष्ठाता हैं। जब वास्तविकता यह है तब जीव को कर्तृत्व के अहं का परि-
 त्याग कर देना चाहिये। ऐसा करने का परिणाम यह होगा कि मानव कर्म तो
 करेगा किन्तु उसके कल में आसक्ति न होगा। कल में आसक्ति का अभाव कल तो
 देगा किन्तु अनिष्ट से मुक्त कर देगा। पाप कर्म तो नहीं ही होंगे, हम पुण्य
 के लोभ या अहंकार से भी मुक्त हो जायेंगे। गीता कहती है कि हमें प्रतिक्षण
 प्रतिफल उसको याद करते रहना चाहिये। यही अनासक्ति है; निष्काम कर्मयोग
 है। यही ज्ञानभक्ति युक्त कर्मयोग है। गीता ज्ञान और ज्ञान मार्ग की बड़ी
 प्रशंसा करती है किन्तु भक्ति को श्रेष्ठतर मानती है। योग की गीता ने बड़े
 ही महत्व की बात बताई है। वह हठयोग की क्रिया का पूर्वरूपेण तिरस्कार
 नहीं करती किन्तु उसके अपने मत के अनुसार काम करने में झुलता और समस्त
 भावना ही वास्तविक योग है। यह एक विचित्र बात है कि जिस गीता के कारण

महाभारत हुआ जिसने अर्जुन को चुनौती दी - युद्धं हृदय-दीर्घस्यं त्वक्त्वोत्तिष्ठ परंतप" जिसने सुझाकर कहा - युद्धस्य विगत-ज्वरः" वह गीता हिंसा या जीव-हिंसा का समर्थन कहीं नहीं करती। गीता कर्तव्य की ओर ^{अग्रतः} अग्रसर करती है। गीता कर्ता को सर्वांगीण दृष्टि देती है। यह कहती है कि प्रत्येक व्यक्ति अपना-अपना कार्य करे उसे मुक्ति मिल जायगी। गीता कर्मकाण्ड और पुरोहितवाद के विरुद्ध है। यही स्वस्थ सामाजिक एवं वैयक्तिक दृष्टिकोण है। यही पारिवारिक जीवन की भित्ति है। यह बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध की युग की मांग थी। यह भारत की आवश्यकता थी।

गीता की मूल समस्या कर्तव्याकर्तव्य की समस्या है। यह हर युग में और हर व्यक्ति के जीवन में पैदा होती है। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में यह समस्या इस प्रकार थी :- राज्यमक्ति या राष्ट्रमक्ति, बूढ़ी मां या भारत-मां, अपने परिवार का दुःख या सम्पूर्ण भारत का दुःख, पिता के प्रति कर्तव्य-पालन हो या सम्पूर्ण राष्ट्र के प्रति, आजादी के लिये मरे या जीवन के सुख के लिये जिएं, आदि। गीता इस दृष्टि से एक अनोखी पुस्तक है कि उसने मानव हृदय में शाश्वत रूप से उठने वाले ऐसे प्रश्नों का, मानव की शाश्वत प्रवृत्तियों का, सम्यक् विश्लेषण करके जो उत्तर दिया है उसकी उपयोगिता और सच्चाई को आज तक कोई चुनौती नहीं दे सका। न मालूम कितनी विलक्षण प्रतिभा गीताकार के पास थी कि उसके द्वारा उपस्थित उत्तर, समाधान या हल तबसे आज तक सभी युगों के, सभी प्रकार के, सभी स्तरों के, सभी देशों के मनुष्यों के लिये उपयोगी सिद्ध हुआ है। सभी परिस्थितियों में गीता का ज्ञान मनुष्य की आत्मा का सर्वोत्तम पाठ्य सिद्ध हुआ है। गीता के समान ऐसी दूसरी पुस्तक संसार के साहित्य में आज तक नहीं नहीं निकली। गीता सचमुच अद्वितीय है। गीता ने मौखिक का द्वार केवल सन्यासियों के ही लिये नहीं, गृहस्थों के लिये भी खोल दिया। "दिनकर" ने ठीक लिखा है कि गीता गृहस्थों की उपनिषद् है। ज्ञान-कर्मयुक्त मगधत शरणागति की सिद्धि गीता का स्वर है। कोई आश्चर्य नहीं कि

कांसी पर चढ़ने के ^{लिए} तैयार कर्मवीर क्रान्तिकारियों के हाथ में गीता रहती थी। गीता में सब कुछ है। उसमें उससे पूर्व के सभी दर्शनों और विचारधाराओं का समन्वय है और फिर भी उसने कुछ ऐसा दिया है जो न उसके पहले किसी ने दिया था और न उसके बाद दिया है। उसके प्रणेता एवं उसकी प्रतिभा के विषय में जो कुछ भी कहा जाय, कम है।

जैन-दर्शन

उपर कहा जा चुका है कि गीता ने हिंसा का समर्थन नहीं किया है। आगे चलकर बौद्धधर्म और जैनधर्म ने अहिंसा की पूर्णरूप से प्रतिष्ठा कर दी। वेदों ने यज्ञ को सर्वश्रेष्ठ कार्य माना था और आगे चलकर कहा गया 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति। जैन और बौद्ध धर्म, वेदों को ही मानने से इन्कार कर दिया है और वे नास्तिक कहलाये। देवराज और तिवारी ने कहा है, "जहां जैन-दर्शन में हम नास्तिक विचारकों के केवल व्यावहारिक मत का विरोध पाते हैं वहां बौद्ध-दर्शन में आर्यों के व्यावहारिक और तात्त्विक दोनों प्रकार के विचारों का रूपांतर हो गया है"।²

जैनधर्म न तो ईश्वर को मानता है, न वेद को। यह सृष्टि को मानता है, और जीव को मानता है। उसके अनुसार सृष्टि अनादि है। उसका निर्माण प्राकृतिक तत्वों के निश्चित नियमों के अनुसार होता है। इसमें ईश्वर की कोई हाथ नहीं; उसकी कोई आवश्यकता ही नहीं। यह सृष्टि वस्तुतः सत्य है। जैनधर्म के अनुसार संसार प्रलय से विनिर्मित है। जिसमें गुण और पर्याय दोनों हैं वह प्रलय है। गुण स्वरूप धर्म को कहते हैं और पर्याय आगन्तुक धर्म को। स्वरूपधर्म सर्वदा विद्यमान रहता है और आगन्तुक धर्म बदलता रहता है। अतएव संसार बदलने वाले तथा न बदलने वाले तत्वों से बना है। इसीलिये संसार

की समस्त वस्तुओं में स्थिरता और विनाश-नित्यता और अनित्यता दोनों की सत्ता विद्यमान है। जैनधर्म के अनुसार यह सृष्टि छ तत्वों से बनी है :- जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। चेतनद्रव्य को जीव कहते हैं। इसमें प्राण और शारीरिक, मानसिक तथा इन्द्रियजन्य शक्ति रहती है। जीव में बुद्धान् अर्थात् निर्विकल्प ज्ञान भी रहता है और चरुण ज्ञान अर्थात् त्रिविकल्प ज्ञान रहता है। इसके कारण उसका शुद्ध रूप ढंक जाता है। मायवशा में पड़ा हुआ प्राण ही "पुद्गल" है और जिस जीव में यह पुद्गल भी रहता है वह "संसारी" कहलाता है। जीव नित्य, अमूर्त, कर्ता, स्थूल कर्म फलों को भोगने वाला, सिद्ध और ऊर्ध्वगति वाला है। उसमें अधिदया होती है और उसी के कारण वह कर्म के बन्धन में फँस जाता है। उसके अन्दर संकोच और विकास दोनों गुण हैं। तभी वह चींटी और हाथी दोनों में बस सकता है। यह जीव प्रत्येक ^{क्षण} ~~स~~ बदलता रहता है। जीव की सत्ता अनंत है। वह जलवायु, सन्निध आदि पदार्थ और सभी धातुओं में रहता है। अस्तु, जीव दो प्रकार के हुए - बद्ध और मुक्त। बद्ध जीव संसारी होता है। बद्ध जीवों में भी कोई सिद्ध होता है और कोई असिद्ध। यह जीव निजीव के बिना नहीं ठहर सकता। चैतन्य प्रत्येक जीव का सार तत्त्व है। यह सूर्य के समान स्वयं प्रकाशित होने वाला और अन्य पदार्थों को भी प्रकाशित होने वाला होता है। प्रत्येक जीव में अनंत ज्ञान होता है। कर्मों के आवरण के कारण उसका यह रूप ढंक जाता है। शरीर इन्द्रियाँ, मनस ये सब आवरण ही हैं जो कर्मों से बनते हैं। जैनधर्म ने ४ कषाय माने हैं - क्रोध, मान, माया, लोभ। सदाचार से संयम ^{नाश} प्राप्त करके इन पर विजय प्राप्त किया जा सकता है। तभी कर्मों का ~~त्राण~~ ^{नाश} होना और वही स्थिति मोक्ष की होती है। हिंसा, झूठ, चोरी, क्रोध और माँगना पापकर्म हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तौय, अक्रोध, अपरिग्रह पुण्य कर्म हैं। सदाचार का आधार दया है। प्रत्येक जैनी के लिये बारह प्रकार की "मायना" या "अनुपेक्षा" के पालन की सलाह है। कम-अंगुरता, अस्त्रायता, पुंसों से हुटकारा पाने का यत्न, फलाकीपन का अनुषंग, सांसारिक वस्तुओं से संबंध का अभाव, शरीर की अपवित्रता, नये सत्कर्म उत्पन्न

करने का चिन्तन, कर्मों में आत्मा को न बंधने देना, कर्मों के बंधन को क्षीण करने के उपाय पर विचार, तत्त्वचिन्तन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित्र, सम्यक् दर्शन दुर्लभ है किन्तु उसी से सुख मिल सकता है - ये ही बारह 'भावना' हैं।

विषय वासनाओं के परित्याग और अहिंसा को जैनधर्म ने बहुत ही आवश्यक माना है। संयम का अभ्यास करते-करते निर्बिरा अवस्था की प्राप्ति हो सकती है जो वस्तुतः 'मोक्ष' है। कारण यह है कि बन्धन का हेतु आसक्ति या इच्छा है। इनका अभाव ही वासनाओं का अभाव है जिससे कर्म शरीर छूटता है। जैन धर्म मानता है कि स्थूल शरीर के अन्तर सूक्ष्म कर्मशरीर है जो मरने के बाद भी जीव के साथ जाता है। यही पुनर्जन्म का कारण है। हमें यह कर्मशरीर छोड़ना है। इधर कर्म के संस्कार क्षण-क्षण पड़ते रहते हैं। तो, चित्त-निरोध द्वारा - योग की समाधि द्वारा हम इससे मुक्ति पा सकते हैं। इसीलिये जैनधर्म में अपरिमित कष्ट सहने को अच्छा माना गया है। यह मानता है कि शरीर आत्मा का शत्रु है। उसको असाधारण कष्ट देना चाहिये - यहां तक कि वे खाना न खाकर मर जाने को अच्छा समझते हैं। जैनधर्म ने सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र को धर्म का 'त्रिरत्न' माना है। सम्यक् दर्शन तीन मूढता और आठ अहंकार छोड़ने को कहते हैं। संसार में प्रचलित मूढता, देवता संबंधी मूढता और पातंडलियों वाली मूढता के साथ-साथ अपनी बुद्धि अपनी धार्मिकता, अपने वंश, अपनी जाति, अपने शरीर-मनोबल, अपनी चमत्कार शक्ति, अपनी योग तमह्व्या और अपने रूप-सौंदर्य का अहंकारभी छोड़ देना चाहिये।

सृष्टि जिन ५ तत्वों से बनी है उनमें इस^{रा}सृष्टि है 'पुद्गल'। तात्पर्य यह है कि उन ५ तत्वों में से केवल 'पुद्गल' ही ऐसा है जो मूर्त है - देता जा सकता है। सृष्टि जिन परमाणुओं से बनी है उन्हीं का योग 'पुद्गल' का निर्माण करता है। ये परमाणु अनादि, अनंत, नित्य और मूर्त हैं। परमाणुओं को ही 'त्कन्य' कहते हैं। अर्थात् जिससे अंत न बन सके। यह परमाणु अविभाज्य,

अच्छेदय, अवाप्त, और अप्राप्त है। पृथ्वी, तेज, जल, आदि इन्होंने स्कन्धों के रूपान्तर हैं। जैन दर्शन में शरीर से आत्मा को अलग एवं स्वतंत्र माना गया है। ज्ञान ने के स्वरूप द्वारा ही इस आत्मा की प्रतीति होती है। महावीर स्वामी ने इसमें जो गुण बताये हैं वे प्रायः वही हैं जास्तिक दर्शन की "आत्मा" में है।

धर्म वह तत्त्व है जिससे जीव और पुद्गल की गति मिलती है। इसके विपरीत सक्रिय प्रव्य को ठहराने वाला तत्त्व अर्म है। आकाश वह तत्त्व है जिसमें सृष्टि ठहरी है और काल वह तत्त्व है जो सभी प्रकार के परिवर्तनों का आधार है।

जैनधर्म के अनुसार प्रत्येक वस्तु के दो रूप होते हैं। पहला स्वभावतः अर्थात् वह रूप जो दूसरे की अपेक्षा न रखता हो और विभावतः अर्थात् वह रूप ^{और} दूसरी वस्तु की अपेक्षा रखता हो। इस धर्म में इन दोनों रूपों को सत्य माना गया है।

इस धर्म के अनुसार केवल ज्ञान ही श्रेष्ठतम ज्ञान है और यह आत्मा को तब प्राप्त होता है जब उसके कर्म बंधन कट जाते हैं।

जैनधर्म का अोकान्तवाद उसके सप्तमंगीनय है। इसके द्वारा किसी वस्तु के ना नाविध धर्मों का निश्चय किया जाता है। ये सात मंग या वाक्य हैं :- १. वायव घट है, २. वायव घट नहीं है, ३. वायव घट है भी और नहीं भी है, ४. वायव घट वर्णनातीत है, ५. वायव घट है भी और अवस्तव्य भी है, ६. वायव घट नहीं ^{है} और अवस्तव्य भी है, और ७ वायव घट है, नहीं भी है और अवस्तव्य भी है। इसका मूलभाव यह है कि वायव ~~अ~~ कोई भी वस्तु निरपेक्ष या एकान्तरूप से सत्य नहीं है।

जैनधर्म में ९ तत्त्व होय हैं :- जीव, अजीव, ^{आत्मा} आत्मन्यज्जयात् आत्मा का कर्मों की ओर बहना, बंध (आत्मा का कर्म में बंधना), संवर (आत्म को रोकना), निर्जरा (कर्मक्षय के उपाय करना), पाप, पुण्य और मोक्ष ।

बौद्ध-दर्शन

बौद्धदर्शन ने जैनियों से एक कदम आगे बढ़कर उपनिषदों के आत्मवाद को भी अस्वीकार कर दिया । इस प्रकार वेदों की अपौरुषेयता, याज्ञवाद, ईश्वरवाद, और आत्मवाद का सबका तिरस्कार हो गया । गौतम बुद्ध ने चार सत्य स्वीकार किये हैं - (१) दुःख आर्य सत्य है, (२) दुःखसमुदाय आर्यसत्य है अर्थात् यह कि मनुष्य के दुःख का कारण उसकी तृष्णा है, (३) दुःखनिरोध आर्यसत्य है और ^(४) दुःखनिरोधनामिनी प्रतिपद आर्यसत्य है अर्थात् सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् अजीव, सम्यक् ठयायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि ।

गौतम बुद्ध अमूर्त दार्शनिक तत्त्वज्ञान संबंधी प्रश्नों पर विचार करना बेकार समझते थे । ईश्वर ब्रह्म, देवता, देवता की प्रार्थना, आदि प्रश्नों को वे टाल जाते थे । इन्हें वे 'अध्याकतानि' कहते थे । पार्श्वात्य विद्वानों ने माना है कि निर्वाण विनाश की स्थिति है किन्तु राधाकृष्णन आदि भारतीय विद्वान् उसे वह उज्ज्वल जाति मानते हैं जो कभी मंग नहीं होती । बुद्धऐसे मोक्ष या निर्वाण को मानते हैं । वे जन्म जन्मान्तरवाद और कर्मकल्याण को मानते हैं । हमारे शरीर के विनाश के साथ चित्त-प्रवाह का विनाश नहीं होता । वह संस्कारों का बोझ लिये हुए एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश करता है । उनके अनुसार आत्मा शरीर के परिवर्तनों के साथ साथ परिवर्तित होता चलता है । वह विकारी है । वह मलिन भी होता रहता है और निर्मल भी होता रहता है । उनके अनुसार शरीर आध्यात्मिक या मानसिक और आधिभौतिक अंशों से शरीर बना है और आत्मा, वह तो स्मृतियाँ और संस्कारों का संकल्प मात्र है ।

इसीलिये दोनों परिवर्तन-शील एवं विकारी है। वे अविवक्षा को संसार का कारण मानते थे। उनके विचार में दुर्लभ का मूल काम या तुष्णा है। मोक्ष के लिये ध्यान और समाधि की आवश्यकता वे मानते थे। उन्होंने देवताओं को मनुष्यों के ही समान अपूर्ण और सीमित माना है। मन को अचंचल रखने का ध्यान ही समाधि है। प्रज्ञा या बुद्धिवाद को वे बहुत महत्वपूर्ण मानते थे। रूपा, रस, वेदना, संस्कार, संज्ञा और विज्ञान जो इस संसार की श्रेष्ठ वस्तुएँ हैं, वस्तुतः अनित्य है। बुद्ध ने अविवक्षा और संस्कार (मृत जीवन), विज्ञान, नामरूप, महाकतन, स्पर्श, वेदना, तुष्णा, उपादान और भव (वर्तमान जीवन) तथा जाति और जरा-मरण को भवचक्र माना है। उनके अनुसार हिंसा, चोरी, यौन दुराचार, झूठ और न्द्रा करना वर्जित है। इसे इन्हें न करना ही पंचशील है।

गौतम का सारा धर्म विचार यथार्थ पर आधारित है। वे ज्ञान की अपेक्षा कर्म को प्रधानता देते थे। ^{अन्य धर्म} व्यवहारों की विवेचना से निकला है। उनके अन्दर निराशावाद है किन्तु पलायनवाद या अकर्मण्यतावाद नहीं। वे मनुष्य मात्र को समान मानते थे। इसीलिये उन्होंने जातिवाद की उपेक्षा की है। अविष्टमय विचारों की दृष्टि से बौद्ध धर्म ने त्याग और योग को अच्छा माना है और समष्टिमय विचारों में बहुजन हिताय को। पुसिन का मत उद्धृत करते हुए विनकर ने बौद्धधर्म को 'हिंदुत्व का बौद्धीकरण' माना है। यह बात ठीक भी है क्योंकि बौद्धधर्म और हिन्दू धर्म में बहुत समानता है। विनकर ने बुद्धों को प्रचलित हिन्दू धर्म का भेदक नहीं, सुधारक माना है और शायद दोनों धर्मों की असाधारण समानता ने संकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध की संज्ञा दिल्मा भी। कालान्तर में यही बौद्ध विचारधारा बुद्धवाद आदि अटिल दार्शनिक विवेचनाओं में उलझ कर अपने मूल स्वरूप को खो बैठी।

हिन्दुत्व की रूपरेखा पूर्ण ^१

गुप्तकाल अर्थात् चौथी सताब्दी के आते-आते हिन्दुत्व का पूरा विकास हो गया था। ८०० ई.के लगभग होने वाले कश्मीर दार्शनिक जयन्त भट्ट ने स्पष्टरूप से कहा है कि भारतवासियों में किसी नई वस्तु की कल्पना करने की शक्ति नहीं रह गई थी। इसका उल्लेख जयन्त विद्यालंकार ने इतिहास प्रवेश में किया है। आश्चर्य की बात तो यह है कि यह स्थिति सारे संसार की रही है। चौदहवीं सताब्दी के पूर्व तक के संसार ने वही सोचा जिस और सोचने की प्रेरणा उसे भारत के धर्म और दर्शन दी। और उस समय तक के भारत की मुख्य सम्पत्ति ही हिन्दुत्व जिसका विकास उसने अब तक कर लिया था। निराकार की पृष्ठभूमि में या निराकार के साथ साथ साकार की उपासना निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म की धारणाएं, सून्य-सा ब्रह्म (सर्वव्यापी) और व्यक्तित्व प्रधान ब्रह्म, ईश्वर और त्रिमूर्ति, दुर्गा और गणेश, भगवान के अवतार, वेदों की प्रामाणिकता में विश्वास, निष्काम कर्मका महत्व, पुनर्जन्म, कार्य-कारण-संसारा के रूप में जन्म-मरण, कर्मफल का अस्मैव अवश्यमेव मोक्षदा होना, वर्णाश्रम धर्म, वैष्णव, शैव, शाक्त उपासनाएं, मन्दिर, मूर्ति, तीर्थ-आदि, ज्ञान-मार्ग, कर्म तीनों रास्ते आदि सबका स्वरूप निश्चित हो गया। इसके पश्चात् क्रांतियां हुईं अवश्य हैं किन्तु केवल दोषों के निराकरण मात्र के लिये। वे कोई नवीन मौलिक उपभावनाएं नहीं प्रस्तुत कर सकीं। धर्म की अन्य बातों और स्वरूपों का उल्लेख बाध में किया जायगा। अभी केवल दार्शनिक चिन्तनों पर ही पुष्टि-पात कर रहे हैं। इस क्षेत्र में भी नवीन व्याख्याएं हो हुई हैं। कोई नया तथ्य नहीं या तथ्य नहीं उपस्थित किया गया है।

न्याय-दर्शन

विकसित दर्शनों में सर्वप्रथम न्याय का नाम आता है। इसको प्राचीन काल में 'आन्वीक्षिकी' भी कहते थे। पाचस्मृति भैरवी कहते हैं कि

१. 'संस्कृति के चार अध्याय', पृ. १३४।

तर्क के द्वारा किसी विषय का अनुमान करना ही "अन्वीक्षिकी" है.....

न्याय शब्द का अर्थ है जिसके द्वारा किसी प्रतिपाद्य विषय की सिद्धि की जा सके या जिसके द्वारा किसी निश्चित सिद्धांत तक पर पहुंचा जा सके.....।

न्याय-साहित्य के दो भाग हैं :- पदार्थ श्रीमांसा और प्रमाणमीमांसा। पहले के प्रवर्तक हैं गौतम जिनके 'न्यायसूत्र' में प्रमाण, प्रमेय, संख्य, प्रयोजन, वृद्धांत, सिद्धांत, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितंडा, हेत्वामास, छल, जाति और निग्रह स्थान - इन सोलह पदार्थों का विवेचन है। प्रमाण मीमांसा के प्रवर्तक

मंगेश उपाध्याय थे, जिनके 'तत्त्वचिन्तामणि' में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और

शब्द - इन चार प्रमाणों पर विचार किया गया है। पहला 'प्राचीन न्याय' और दूसरा 'नव्यन्याय' कहलाता है। प्राचीन न्याय का मुख्य लक्ष्य था मुक्ति

की प्राप्ति किन्तु नव्य न्याय में एकमात्र तर्क ही प्रधान है। न्याय तर्कप्रधान दर्शन है। उसमें नितान्त वैज्ञानिक ढंग पर विवेचन और विश्लेषण किया ^{गया} है।

विवेचन पद्धति सूक्ष्म, दुर्गम और पारिभाषिक शब्दों से भरी है। ज्ञान के दो भेद हैं - प्रमा और अप्रमा। यथार्थ ज्ञान प्रमा (प्रामिति) है। वस्तु जैसी है वैसी न समझना अप्रमा है। प्रमा या प्रमाण के जानने के लिये चेतन व्यक्ति की आवश्यकता है। इसको ज्ञाता या प्रमाता कहते हैं। ज्ञान का आधार है विषय।

जिसे प्रमेय कहते हैं। प्रमाण कहते हैं चेतने को। ये तीनों मिलकर ज्ञान के हेतु

हैं। गौतम ने निश्चेयस या मुक्ति के लिये अपने 'न्यायसूत्र' में १५ 'पदार्थों अर्थात् उपायों (प्रमाण, प्रमेय, हेत्वामास आदि) का ज्ञान आवश्यक माना

है। ज्ञान के चार साधन हैं प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। आत्मा, वेद

इन्द्रिय, विषय, मन, बुद्धि, प्रवृत्ति, दोष, मृत्यु के बाद पुनर्जन्म, फल, दुःख

और अपवर्ग (मोक्ष) इनका ज्ञान मोक्ष का कारण है। आत्मा के दो भेद हैं -

जीवात्मा और परमात्मा। जीवात्मा के गुण (लिंग) है इच्छा, द्वेष, प्रयत्न,

सुख, दुःख और ज्ञान। शरीर बन्धन से मुक्त होने पर ये लिंग छूट जाते हैं।

न्याय में ईश्वर की सत्ता पर बड़ी गंभीरता से विचार किया गया है। उसे कर्मों का अधिष्ठाता माना गया है। यह वर्तन वेदों की वेद प्रामाणिक मानता है। यह वर्तन पदार्थों के स्थूल रूप और गुणों से उठकर उनके परमाणुरूप का विस्तार किया गया है।

वैशेषिक दर्शन

न्याय के साथ ही वैशेषिक का भी नाम लिया जाता है। "वस्तु" के मूल में जो "विशेष" स्तानिहित है उसी को "परमाणु" कहते हैं। "परमाणु" को ही सर्वोपरि मान लेने के कारण इस दर्शन को वैशेषिक कहा गया जिसके प्रणेता ह्यस कणाद। वैशेषिक में पदार्थों की संख्या पहले ६ मानी गई थी जो बाद में सात कर दी गई। ये पदार्थ हैं द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, सम्बाध, और अभाव। पंचमहाभूत, काल विकृ, आत्मा, और मन ये नौ द्रव्य हैं। निर्गुण और निष्क्रिय द्रव्यावित पदार्थ गुण है जिस की संख्या २४ मानी गई है - रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, छब्द, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, बुद्धि, प्रयत्न, सुप्त, वृत्त, इच्छा, द्वेष, धर्म, अधर्म। इस दर्शन में कार्य और कारण दोनों का अलग-अलग अस्तित्व माना गया है। यह "अस्तकार्यवाद" या "आरम्भवाद" है। इस दर्शन के अनुसार जितने भी दृश्यमान पदार्थ हैं सब परमाणुओं से बने हैं। पृथ्वी, जल, तेज और वायु - ये चार भौतिक परमाणु हैं। इनको कलकालस्त महाभूत भी कहते हैं। इन्हीं से सृष्टि बनती है। परमाणु के दो स्वरूप हैं - परम अणु और परम महत्। परिमाण की अल्पतम पराकाष्ठा "परमाणु" है और सबसे ऊंची पराकाष्ठा परम - महत् है। परम अणु ही त्रसरेणु कहलाते हैं। सात प्रकार का रूप, ४ प्रकार का रस, दो प्रकार का गन्ध और दो प्रकार की बुद्धि मानी गई है। निश्चयात्मिका बुद्धि विषया या प्रमा है, और अनिश्चयात्मिका, अविषया। संज्ञ, विपर्यय और स्वप्न - ये तीन रूप हैं - अविषया के। इसी प्रकार तीन प्रकार के संस्कार और पाँच प्रकार के कर्म माने गये हैं। सृष्टि और प्रलय की भी विवेचना

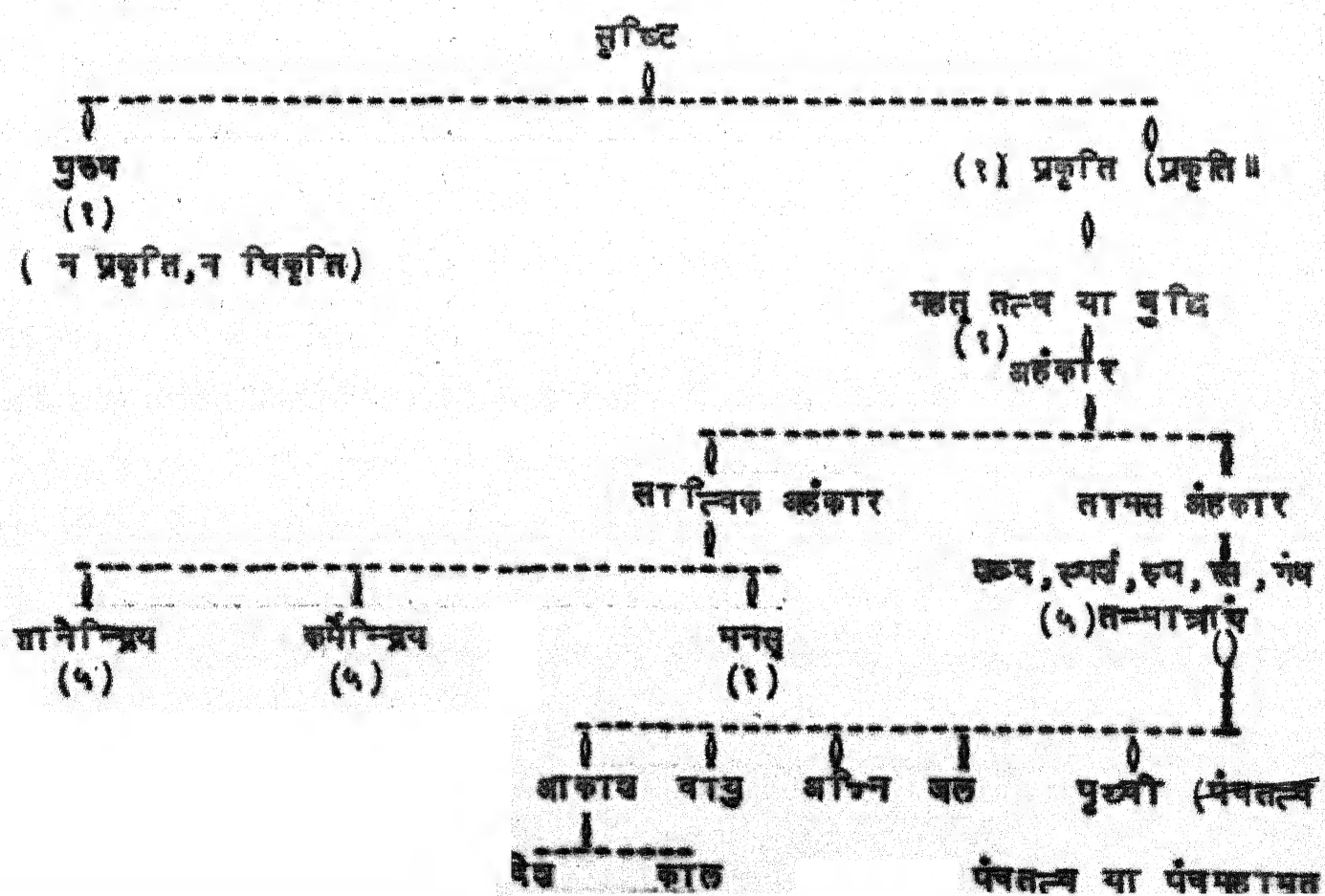
है। इसमें परमेश्वर की इच्छा ही प्रधान मानी गई है। न्याय और वैयक्तिक में आंशिक विभिन्नता किंतु पर्याप्त साम्य है।

सांख्य-दर्शन

प्रोफेसर मैक्समूलर के विचार में "वेदांत" के बाद भारत का सर्वाधिक महत्वपूर्ण दर्शन सांख्य ही है। इसके प्रवर्तक के रूप में कपिल का नाम प्रसिद्ध है। यह सिद्धान्त सत्कार्यवाद को मानता है। इसके अनुसार कार्य की सत्ता कार्य की उत्पत्ति के पूर्व उसके कारण में विद्यमान रहती है। इसी सांख्य यह सिद्धान्त प्रतिपादित करता है कि यह समस्त संसार रूप जो कार्य है वह मूल प्रकृति रूप "कारण" में अव्यक्त रूप में विद्यमान रहता है। सांख्य यह भी मानता है कि वस्तु में नहीं बल्कि वस्तु के स्वरूप में परिवर्तन होता है। इस परिवर्तन को सांख्य ने "परिणाम" कहा है। प्रत्येक तत्त्व या वस्तु^{में} रहने वाली शक्ति या उसका स्वरूप सांख्य के अनुसार उसका "धर्म" है। यह धर्म परिवर्तनीय है। अस्तु, जगत का यह रूप या 'धर्म' भी परिवर्तनीय है। सम्पूर्ण सृष्टि का भी कोई न कोई धर्म होना चाहिये। यह 'धर्म', या कारणरूप, या मूल तत्त्व सांख्य के अनुसार प्रकृति है। जगत के परम तत्त्व के रूप में सांख्य ने दो तत्त्व माने हैं - पहला है प्रकृति और दूसरा पुरुष। पुरुष अनेक है। उनमें से सबकी अपनी अपनी विन्न विन्न प्रकृति होती है। किसी में प्रकृति का कोई अनुप्रधान होता है और किसी में कोई। यह पुरुष शरीर, इन्द्रिय और मन से विन्न होता है। यह बुद्ध चैतन्य, प्रकाशस्वरूप, कारणहीन, विवृत्तिहीन, नित्य, व्यापक, क्रियाहीन, अनु-हीन और गतिहीन होता है। प्रकृति के सम्पर्क में आने पर यह पुरुष जीव कहलाता है। प्रकृति और पुरुष में एक दूसरे के विपरीत गुण होते हैं। प्रकृति से मुक्ति पाना ही "जीव" का मोक्ष है। मोक्ष पाने से पहले वह तरह तरह की योनियों में चक्कर काटता रहता है। अपने पिछले जन्म के कर्मों के अनुसार ही जीव को अगले जन्म में योनि प्राप्त होती है। पुनर्जन्म लिंग शरीर का होता है। लिंग शरीर अर्थात् बुद्धि, अहंकार, मन, शानेन्द्रियां, कर्मेन्द्रियां और

तन्मात्राओं का अर्थात् १८ तत्त्वों का होता है। यह पुरुष चेतन होता है।
निरपेक्ष दृष्टा मात्र होता है। प्रकृति का साम्निध्य ही उसे गतिशील बनाता
है।

प्रकृति इसके विलकुल विपरीत होती है। वह एक है। जड है।
^{जगत}
जगत् का मूल कारण है। वह गतिशील होती है। वह त्रिगुणात्मिका है। उसके
तीन गुण हैं सत्, रज और तम। ये तीनों देश और काल की सीमा के परे होते
हैं। सृष्टि के पूर्व प्रकृति के ये तीनों गुण साम्यावस्था में रहते हैं। यह साम्या-
वस्था ही स्वातीय परिणाम है। इसका रूप वैसा ही होता है जैसा पानी
का परिणाम बर्फ। पुरुष के सामीप्य से प्रकृति की यह साम्यावस्था भंग होती
है। सृष्टि रचना विजातीय परिणाम है। सृष्टि का विकास पुरुष के मोक्ष
साधन के लिये होता है। सृष्टि का क्रम ^{साध्य} अंश के अनुसार निम्नलिखित ढंग से
होता है:-



इसतरह सृष्टि के ये २५ तत्त्व हुए। इन्हीं पचीसों तत्वों के सन्वतान से 'जीव' प्रकृति से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इन पचीसों को सांख्य ने चार भागों में बांटा है : (१) प्रकृति, (२) विकृति, (३) प्रकृति-विकृति और (४) न प्रकृति, न विकृति। मत्तु, अहंकार, तन्मात्रा को मिला कर प्रकृति-विकृति माना गया है। प्रकृति है। पुरुष न प्रकृति, न विकृति है। ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और मनस विकृति हैं।

योग-दर्शन

योग को सांख्य के ही तत्वों पर अवलम्बित माना गया है। यह सांख्य का पूरक है, उसका व्यावहारिक पक्ष है। जितने भी आस्तिक दर्शन हैं उन सब का लक्ष्य है मगधान में मिल जाना। यही योग है। इसका उद्देश्य है योग द्वारा पाँचों प्रकार के क्लेशों और नाना प्रकार के कर्मकलों से विमुक्त करके प्राणी को मोक्ष प्राप्त कराना। इन क्लेशों, कर्म, कर्मकल, और वासनाओं से दूर रहने वाला पुरुष विशेष ही योग का ईश्वर है। जोशु का जप करने से ईश्वर का प्रणिधान होता है। मक्ति ही ईश्वर प्रणिधान है। योग के तीन तत्व हैं - ईश्वर, जीव और प्रकृति। ईश्वर में सत्, चित और ज्ञानन्व, जीव में सत् और चित तथा प्रकृति में केवल सत् तत्व है। पतंजलि का योग हमें यह बताता है कि हम संसार तथा उसकी प्रत्येक वस्तु का इस ढंग से उपयोग करें कि अधिक से अधिक उपयोगिता प्राप्त हो और ईश्वर प्राप्ति भी हो जाय। इसके लिये आवश्यक है कि पुरुष अपने चैतन्य स्वरूप में स्थित हो। यह अवस्था समाधि की होती है। समाधि दो प्रकार की होती है :- निर्विषयक एकाग्रता अर्थात् संग्रहात और सविनय समाधि। (असंग्रहात)। यह चितवृत्ति के निरोध द्वारा होता है। ये चितवृत्तियाँ पाँच प्रकार की हैं :- प्रमाण, विपर्यय (मिथ्याज्ञान), विकल्प, (जिसके दोष पदार्थ की स्मृति न हो) निद्रा (अभाव प्रत्यय जिसका बाले-बन हो) और स्मृति (अनुभूत विषय का ध्यान)।

चित्तवृत्ति के निरोध का साधन अधिकारी-भेद के अनुसार बताया गया है। तीन प्रकार के अधिकारी होते हैं :- उत्तम (केवल अध्यास और वैराग्य द्वारा चित्तवृत्ति निरोध), मध्यम (तप, स्वाध्याय, और भक्तिपूर्वक क्रिया से चित्तवृत्ति निरोध) और मन्द। इस तीसरे प्रकार के अधिकारी के लिये योगकेन्द्र आठ अंग बताये गये हैं :- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यम हैं। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरभक्ति नियम हैं। इनके अनुष्ठान से विविध शक्तियाँ और योगानुकूल भावनाएँ प्राप्त होती हैं। प्रथम पाँच बाह्य समाधि से संबंधित हैं और अन्तिम तीन अंतरंग समाधि से। इनसे पाप का विनाश, ज्ञान का उदय और विवेक की प्राप्ति होती है। स्थूल, सूक्ष्म, (उपादान), सूक्ष्म (तन्मात्राएँ), अन्वय (प्रकाश, प्रवृत्ति और स्थिति), अव्यय (आत्मा का लीला विलास) ये पाँच प्रत्येक वस्तु के पाँच भूत हैं। ये बाह्य रूप हैं। योगी जब इन पर विजय पा लेता है तब "भूत विजय" की अत्मा आती है। इसके बाद अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति (प्रत्यक्षानुभव), आकाश (इच्छाओं का उभय), ब्रह्म (स्व का आत्मा से प्रकाशित होने का ज्ञान), ईशित्व (स्वको स्वयं में नियोजित करना), और यत्र कामावसायित्व (मनो-मित्रा^{का}ओं का सर्वथा अन्त) आठ सिद्धियाँ मिलती हैं। ये परमात्मा की प्राप्ति में सहायक होती हैं। परमात्मा सृष्टि का निरपेक्ष द्रष्टा, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, क्लेश, कर्म, कर्मफल और आशय से विमुक्त होता है। भक्ति से उसका साक्षात्कार होता है।

पूर्वमीमांसा-दर्शन

महर्षि जैमिनी द्वारा प्रवर्तित मीमांसा दर्शन का विषय है वैदिक विधि-नियमों का आशय समझना, उनकी पारस्परिक संगति बैठाना, और पुस्तियों के द्वारा कर्मकाण्ड के मूल सिद्धांतों का प्रतिपादन करना। धर्म के

वास्तविक रूप पर अर्थात् वेदप्रतिपादय विधिष्वत् कर्म पर जो परमानन्द की प्राप्ति करा सकते हैं, वास्तविक प्रकाश डालने का प्रयत्न मीमांसा में किया गया है। मीमांसा के दो भाग हैं। पूर्वमीमांसा ब्राह्मण ग्रन्थों पर आधारित है इसको कर्ममीमांसा भी कहते हैं। उत्तर पूर्व मीमांसा उपनिषदों पर आधारित है। यही वेदांत कहलाता है। पूर्व मीमांसा ही वस्तुतः मीमांसा है। मीमांसा वैदिक दर्शन है। वहाँ माना गया है कि वेद भगवान के विश्वास हैं। वे सदा नित्य और सत्य हैं। अपौरुषेय, निष्कलुष, निर्दोष, अप्रतिमूलक, अनादि और स्वतः प्रमाण हैं। कर्मकाण्ड के वाक्यार्थ निर्णय के लिये ही पूर्वमीमांसा दर्शन है। वेदों को स्वतः प्रमाणसिद्ध करने के उद्देश्य से ही मीमांसा ने बड़े विस्तार के साथ ज्ञान की प्रकृति, सत्य और मिथ्या की प्रकृतियाँ और उसकी कसौटियाँ प्रमाण तथा अन्य आवश्यक समस्याओं पर भी विचार किया है। ज्ञान दो प्रकार का होता है :- प्रमा (ज्ञात पदार्थ की सत्यता का निश्चय हो जाना) ; अप्रमा वस्तु का अभाव परन्तु उसके ज्ञान की प्रतीति। प्रमाण को ज्ञान की कसौटी मानी गयी है। मीमांसा ने प्रमाण के निम्नलिखित भेद माने हैं :- प्रत्यक्ष, (इन्द्रिय और अर्थ का साक्षात् संबंध) ; अनुमान (एक बात को जान लेने के बाद दूसरी बात को जान लेना) ; उपमान (सादृश्य), उच्य (वेद) ; अर्थापत्ति (किसी भुत या दृष्ट विषय की सिद्धि जिस अर्थ के बिना न हो वह अर्थापत्ति है) अनुमिति (वस्तु के अभाव का ज्ञान)। मीमांसक उच्य को नित्य मानते हैं और उच्य तथा अर्थ के संबंध को भी नित्य मानते हैं। अर्थ से पद और पद से अर्थ सिद्ध होता है। उच्यार्थ मूलतः जातिवाचक होता है। वाक्य न तो अंश है और न वाक्य - वाक्यार्थ में कार्यकारण संबंध है, और न अन्तिम पद ही वाक्यार्थ का वाचक है। उच्य में विकार नहीं होता। वेद स्वतः प्रमाण है। ज्ञान की प्रामाणिकता उस ज्ञान की उत्पादक सामग्री में ही रहती है, कहीं बाहर से नहीं आती ज्ञान के उत्पन्न होते ही उसके प्रामाण्य का ज्ञान भी स्वतः ही जाता है। प्राप्ति और ज्ञान ये दोनों परस्पर विरोधी हैं। मीमांसा में जगत् और जगत् के काल भूत पदार्थों की सत्ता को स्वीकार किया गया है। आद्यमाध्यम, प्रथम, गुण,

कर्म और अवयव और प्रमाकर ने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, ^{लमबाय} समन्वय, संख्या, उक्ति और साधुश्य इन ८ पदार्थों की सत्ता मानी गई है। मीमांसा मानती है कि हमारी इन्द्रियाँ द्वारा जिस रूप में जगत को प्रत्यक्ष किया जाता है वह उसी रूप में सत्य है। आत्मा और परमाणु नित्य हैं। सृष्टि रचना के मूल में प्रधान कारण है कर्मों का संवय। शरीर में आत्मा अपने पूर्व संचित कर्मों का फल भोगता है। यह भोग ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के द्वारा होता है। सभी बाह्य पदार्थ आत्मा के विषय हैं। संसार के सभी कार्यरूप पदार्थों के मूल में एक अदृष्ट उक्ति मौजूद रहती है। जगत, जगत के विषय, परमाणु और आत्मा नित्य हैं। जीव के नष्ट हो जाने पर उसके द्वारा किये गये कर्म आत्मा में संचित हो जाते हैं। उन्हीं के साथ आत्मा का पुनर्जन्म होता है। वह आत्मा शरीर, इन्द्रियाँ और बुद्धि इन सबसे भिन्न है। आत्मा में परिवर्तन होता है। आत्मा अनेक है। देवता बहुत से हैं। उन्हीं के लिये याद किये जाते हैं। सृष्टि और प्रलय की मायना को ठुकरा दिया गया है। पहले के मीमांसक ईश्वर के बारे में उपेक्षा प्रकट करते हैं। बाद में उनमें भी आस्था बढ़ी। "धर्म" के लिये वेदों के अतिरिक्त और कोई रास्ता नहीं। धर्म का लक्षण है प्रेरणा। वेद जो कुछ करने की प्रेरणा देते हैं वही धर्म है। वेद क्रियार्थक हैं - करने की प्रेरणा देते हैं - कर्तव्य बताते हैं। यज्ञ आदि करने वालों में एक अपूर्व उक्ति पैदा हो जाती है। मनुष्य के काम तीन प्रकार के होते हैं - काम्य, निषिद्ध और निश्चय। निश्चयकर्म सार्वभौम महाव्रत हैं। सुत, दुत, उच्छा, द्रव्य, प्रयत्न, धर्म, अधर्म आदि धर्मोपासना से छूट जाना ही मुक्ति का स्वरूप है।

उत्तर-मीमांसा

उत्तरमीमांसा वेदांत है जो बादरायण के 'ब्रह्मसूत्र' पर आधारित है। इसका पीछे ठलैल किया जा चुका है। इस ब्रह्मसूत्र पर अनेक भाषायाँ ने भाष्य लिखकर अपने अपने मत प्रकट किए। उंकराचार्य ने शरीरक भाष्य लिखकर

अतः, भास्कराचार्य ने भास्कर भाष्य लिखकर वेदावेद, रामानुज ने ~~वेदवेद-स्वप्न~~ भी भाष्य लिखकर विधिष्टाद्वैत, मध्व ने पूर्णप्रसन्न भाष्य लिखकर द्वैत, निंबार्क ने वेदान्तपारिजात भाष्य लिखकर द्वैताद्वैत, बल्लभ ने अष्टभाष्य लिखकर बुद्धाद्वैत की प्रतिष्ठा की। इनमें संकर, रामानुज और बल्लभ बहुत महत्वपूर्ण सिद्ध हुए। मैं चेतन हूँ और सब चेतन जीवों में मैं ही हूँ, अद्वैत इसी की प्रतिपादित करता है।

अद्वैतवाद

इसके अनुसार माया ब्रह्म की शक्ति है। उससे संयुक्त होकर ब्रह्म सृष्टि रचता है। यह ब्रह्म ईश्वर है। यह सगुण हो जाता है। माया उन शक्तियों का सामूहिक रूप है जो जगत के समस्त कार्य व्यापारों का कारण है। जगत ब्रह्म का विकर्त (अवास्तविक प्रतीति) और माया का परिणाम या रूपान्तर है। सृष्टि की रचना के लिये ईश्वर को माया का सहारा लेना पड़ता है। उसी के कारण एक ब्रह्म अनेक नामों एवं रूपों में आभासित होता है। ब्रह्म इस जगत का निमित्त और उपादान कारण है। माया और ब्रह्म दो नहीं हैं। माया ब्रह्म की इच्छा शक्ति है। ब्रह्म से उसकी सत्ता है। यह इस जगत का कारण है। यह अनिर्वचनीय है। यह त्रिगुणात्मिका है। उसका आशय जीव है और विषय ब्रह्म। यह शांतिविरोधी है। यह सत्य को ढंक लेती है (अन्वरण) और अस्त्य और अस्त्य की प्रतीति कराती है (विवेष)। इनके सत्तकर्म साधन हैं काम, क्रोध, लोभ आदि। इसके कारण भ्रंति पैदा होती है। विबुद्धात्त्व प्रधान प्रकृति माया है और मलिनस्तत्त्वप्रधान प्रकृति अविवक्षा है। माया से ढंका ब्रह्म ईश्वर है अविवक्षा से ढंका ब्रह्म जीव। जैसे हमारे नाभून या केव उगते हैं वैसे ही अगर ब्रह्म से जगत पैदा होता है। इसका प्रयोजन लीलामात्र है। सृष्टि की उत्पत्ति के संबंध में संकर का विचार है कि ब्रह्म से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल व जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। इन पाँचों को सूक्ष्म भूत या तन्मात्राएँ कहते हैं। इनमें जब सात्त्विक अंश की प्रधानता हुई तब क्रमशः एक एक से भोज, स्पर्श, चक्षु, विह्वल और प्राण की उत्पत्ति हुई जो सूक्ष्म

ज्ञानेन्द्रियां हैं। इन्होंने तन्मात्राओं के संयुक्त सात्त्विक अंश से बुद्धि, मन, चित्ता और अहंकार की उत्पत्ति हुई। पंच भूतों का साधारण कार्य या इनमें से तत्त्वका सम्मिलित कार्य है अन्तःकरण और प्रत्येक में से एक^{प्रत्येक} के कार्य का परिणाम है। ४ कर्मेन्द्रियां अर्थात् वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ। ब्रह्म जिन पांच कोशों के भीतर रहता है वे हैं अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय। अन्वय (स्वप्न में साक्षी आत्मा के स्वरूप) और व्यतिरेक (स्थूल वेह के प्रति उदासीनता और अप्रतीति) से पंचकोशों का भेद-ज्ञान प्राप्त हो सकता है। तभी विद्वानन्वय रूप की प्राप्ति होती है। बुद्धि और पांचों ज्ञानेन्द्रियों को मिलाकर ही जीव माना गया है जो विज्ञानमय कोश से ढंका रहता है। यह जीव चैतन्य है और कर्ता, उपभोक्ता आदि माना जाता है। इसी की मुक्ति होती है। प्राण के पांच प्रकार माने गए हैं - प्राण, अपान, (गुदा-स्थित), समान (शरीर के मध्य स्थित), उदान (कण्ठस्थित) और ध्यान (सारे शरीर में व्याप्त)। ५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय, ५ प्राण, १ बुद्धि, और १ मन मिलाकर सूक्ष्म शरीर बनता है। इसमें इच्छा, ज्ञान और क्रिया का वास होता है। पंचभूत जड़ प्रकृति का विकसित रूप है। इसी से चौदहों भुवनों वाले ब्रह्माण्ड, प्राणी और पदार्थों की उत्पत्ति होती है। स्थूल भूतों से स्थूल शरीर पैदा हुआ। यह सम्पूर्ण सृष्टि उसी ईश्वर का एक रूप है। स्थूल और सूक्ष्म शरीर सहित आत्मा ही जीव है। यह ईश्वर का प्रतिबिम्ब है। यह शरीर आदि उपाधियों से युक्त होता है। सात्त्विक दृष्टि से ईश्वर और जीव एक होता है। अंतर केवल व्यावहारिक होता है। ईश्वर केवल मेघ-काय की तरह होता है। यह अन्तर्यामी, प्रेरक, निर्यमुक्त, सर्वज्ञ और जगत् का कारण है। जैसे स्वर्ण से आभूषण की वैसे ही ईश्वर से जगत् की उत्पत्ति होती जगत् ईश्वर का आकार है। जीव ब्रह्म है क्योंकि आवरणयुक्त है; ईश्वर सदा नित्य है क्योंकि आवरणमुक्त है। जीव में जो ईश्वर का अंश है वह कर्म करता है और ईश्वर में जो ब्रह्मका अंश है कर्मों का फल देता है। अद्वैतवाच में आत्मा को स्वतः सिद्ध माना गया है। आत्मा ही ब्रह्म है। आत्मा का स्वरूप आनंद^{है}

ज्ञान आदि। वह सत्, नित्य, बुद्धि, मुक्त, शांता है। वह जागृत, स्वप्न, और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में अलं रहता है। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अर्थ, सुख, दुःख, संस्कार - ये आठों आत्मा के गुण हैं। यह सम्पूर्ण विश्व प्रपंच एक ही अद्वितीय तत्त्व में अन्तर्भूत, स्थित और प्रकाशित है। उसके अतिरिक्त यहाँ और कुछ नहीं है। उपासना आध्यात्मिक उन्नति की एक सीढ़ी है। मौखिक पहला उपाय है ज्ञान। अन्तःकरण की शुद्धि, नैतिक गुणों को बलवान बनाना और वेद-प्रतिपादित कर्मों का करना अत्यन्त आवश्यक है। विवेक, वैराग्य, दम, धर्म, सहनशीलता या तितिक्षा, कर्मों को बलवान में लगाना, ब्रह्म में तत्पर होना तथा गुह्योपा, वास्य एवं गुह्याक्य में विश्वास तथा मौखिक की इच्छा मुक्ति के बहिरंग साधन हैं। श्रवण, मनन, ब्रह्म विषयक विश्वास और समाधि अंतरंग साधन हैं। यथादि भी बाहरी साधन हैं। इंकर ने तीन सत्ताएं मानी हैं - तात्त्विक या पारमार्थिक, प्रातिमासिक और व्यावहारिक।

विशिष्टाद्वैतवाद

इंकराचार्य की उपर्युक्त ब्रह्म व्याख्या कुछ हदों-गिनै विचारकों की चीज रह गई। रामानुजाचार्य ने उसकी इस योजन्य बना दिया कि वह सब की समझ में आ जाय। रामानुज के विचार से ब्रह्म वह है जिसमें वे अन्य पदार्थ भी हैं जिनका विस्तार ब्रह्म ने ही किया है। चैतन्य आत्मा और जडप्रकृति दोनों में बराबर विद्यमान होता हुआ भी ब्रह्म उन दोनों से विशिष्ट है। ब्रह्म जगत में व्याप्त भी है और उससे परे भी है। वह अपनी इच्छा से इस उद्देश्य-युक्त सृष्टि को उत्पन्न करता है। ईश्वर, आत्मा और प्रकृति ये तीनों पदार्थ उसी ब्रह्म में हैं। जैसे आत्मा शरीर से संबंधित है वैसे ही ब्रह्म प्रकृति से संबंधित है। ब्रह्म को जगत का कारण और जगत को ब्रह्म का कार्य समझना चाहिये। जैसे मिट्टी में घड़ा, सुवर्ण में आभूषण और कपास में कपड़ा है वैसे ही ब्रह्म में जगत है। बल्कि जगत से ही परमेश्वर का अनुमान होता है। सृष्टि के उत्पन्न होने पर जड जगत और चैतन्य आत्मा में परिणाम उत्पन्न होते हैं किन्तु ब्रह्म के ब्रह्मत्व में

कोई परिणाम या विकास नहीं पैदा होता। अंतः जगत, जगत के पदार्थ और
 अद्वैत ब्रह्म तीनों सत्य हैं। ब्रह्म सगुण भी है और निर्गुण भी। माया का जडत्व
 और जीव का अल्पत्व ब्रह्म में नहीं। ज्ञान ब्रह्म का सबसे अधिक उपात्त गुण है।
 वही निष्कर्म है। आनंदयुक्त है। रामानुज के मत से ज्ञान को जाने बिना ब्रह्म
 को नहीं जाना जा सकता। वे उपासनाप्रधान ज्ञान को स्वीकार करते हैं। ज्ञान
 का उद्देश्य है मुक्ति। इसके लिये आवश्यक ^{देखिए} वेद, शस्त्र, गुरु और ईश्वर में सत्य
 बुद्धि बनाये रखें। उपासक का भाव ईश्वर के प्रति ऐसा अटूट होना चाहिये जैसे
 तैल की धारा। प्रकृति सत्य होते हुए भी अचिन्त, विकारहीन और जड है।
 प्रकृति के स्तौगुणप्रधान रूप से ज्ञान पर आनन्द की उत्पत्ति हुई; सत्, रज और
 तम मिश्रित रूप ही अविद्या या माया है जिससे पांच विषय, पांच इन्द्रियाँ,
 पांच भूत, पांच प्राण, प्रकृति, महत्, अहंकार और मन पैदा हुए और उसका
 अचित रूप ही कालस्वरूप है जिसके आधीन प्रलयावस्था है। भगवान की इच्छा
 से मूल प्रकृति तैज, बल और पृथ्वी में बँटी। इनसे सत्, रज और तम गुण पैदा
 हुए और इन तीनों से जगत्। मन, बुद्धि, चित और अहंकार से अंतःकरण बना।
 इस अंतःकरण में आत्मा के रूप में परमात्मा आया। अर्जित कर्मों का भोग और
 जागे के कर्मों का अर्जन प्रारंभ हुआ। पुण्यकर्मों के परिणामस्वरूप ही सद्गुरु
 सद् की ओर प्रवृत्ति होती है। ईश्वर पक्षित करते-करते शरीर छूट जाकर जीव
 की मुक्ति होती है। कर्मफल, पुनर्जन्म और भवचक्र यहाँ भी स्वीकृत है। परमेश्वर
 जीवों का साक्षी होता है। "सृष्टि से पहले लब्धावस्था में जीव-समूह वासनामय
 (लीलामय) होकर कारणभूत बीरवाची विष्णु भगवान के उपर बैरहता है। सृष्टि
 के समय वह जीव समूह अपनी-अपनी वासना तथा अपने-अपने कर्मों के अनुसार कारण
 कलेवर धारण कर प्रकट होता है और अपने-अपने कर्मों के लिये लोक को चला जाता
 है।" लम्बी अवस्था में जगत परमात्मा में ही लय हो जाता है। इस प्रकार
 जगत का भी नाश नहीं होता। उसका लय (छिपना) मात्र होता है। वस्तुतः

वह सत्य है। जगत और जीव मिथ्या नहीं, उनका अभिमान मिथ्या है। जीव को अधिष्ठाता ईश्वर है और तब जीव अपने वास्तविक रूप को भूलकर दुःखादि का अनुभव करने लगता है। जीव, माया और परमात्मा ये तीनों अपृथक् अनादि और अनंत हैं। विशिष्टाद्वैत का ईश्वर व्यक्तित्वमय है। वेकुंठ में निवास है। अर्चा (देव-मूर्तियाँ), विभव (मत्स्यावतार आदि) ठूक (वासु-देव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध), सूक्ष्म (पर ब्रह्म) और अंतर्धामी रूप में मगवान रहते हैं। मगवान को जानने का उपाय है भक्ति यौग अर्थात् प्रीति-पूर्वक ध्यान। कर्म सदैव करणीय हैं। संन्यास का समर्थन नहीं। पुत्रों के लिये प्रपत्ति या धरणागति का उपदेश है। वस्तुतः रामानुज का दर्शन जनता का दर्शन है। जनता को धार्मिक और नैतिक विश्वासों का जैसा समर्थन रामानुज ने किया वैसा किसी ने नहीं किया। मैक्समूलर ने परिहास में लिखा है कि रामानुज ने हिंदुओं को उनकी आत्माएं वापस दे दीं..... जीवात्मा, जगत और ईश्वर तीनों की पारमार्थिक स्था है..... इस प्रकार हमारे व्यावहारिक जीवन और नैतिक प्रयत्नों का महत्व बढ़ जाता है। हमारे कर्तव्य असली कर्तव्य हैं। जिन्हें पाप कहा जाता है वे वास्तव में पाप हैं..... विशिष्टाद्वैत वाच दर्शन ने भक्ति, प्रेम कर्तव्य आदि के लिये रास्ता की अपेक्षा अधिक जगह निकाल ली, वह भगवद्गीता के भी अधिक अनुकूल है। इसीलिये आज भारत की अधिकांश जनता शांत या अशांत रूप से रामानुज^{जी} अनुयायिनी है।^१

देव-दर्शन

विष्णु तथा शिव दोनों ही देवताओं का उत्कृष्ट द्रव्य है मिलता है। उग्र संतारक है तथा पशु और बच्चे पालक हैं। जाने चलकर उग्ररूप में मंगलमाचना का भी समावेश हो गया। संतारक उग्र प्रसन्न होने पर मंगलमय शिव हो गये। वायु, अग्नि, कर्म, शिव आदि पुराणों तथा भाषणों में देवधर्म के

भारतीय

१. देवराज और तिवारी कृत/ 'दर्शनशास्त्र का इतिहास', पृ. ४४९-४५० - ४५१

सुत्र विसरे पड़े हैं। ऐतिहासिक जैवधर्म में जैवधर्म की दो परम्पराओं का समन्वय है - एक है वैदिक या आर्य जैव परम्परा और दूसरी है आर्यपूर्वजैवपरम्परा। जैवधर्म में मूलतः चार सम्प्रदाय हैं :- जैव, पाशुपत, कालामुस और कापालिक। उत्तर में काश्मीर जैवमत और दक्षिण में वीर जैवमत भी हैं। जैवसंप्रदाय का मूल आधार दो है : वैदिक जैवमत की परंपरा, और "आगम"। इस सिद्धांत के अनुसार शिव ही परमतत्त्व हैं। वे अनादि, अनंत और शुद्ध सच्चिदानन्द हैं। वे स्वतंत्रसत्ता, विद्युज्जि, अनंतप्रतिभा, अनंत ज्ञान, सर्वपाशुमुक्ति, अनंतप्रेम, अनंतशक्ति, और अनंत आनंद वाले हैं। जैव सिद्धान्त में तीन पदार्थ हैं - पति (शिव), पशु (जीव) और पाशु (जीव के बंधन)। शिव परमेश्वर अनंत ऐश्वर्यमान, सर्वज्ञ, स्वतंत्र, नित्यमुक्त, शक्तिरूप धरीर वाले हैं। सुषुप्त, पालन, संहर, तिरौभाव, और अनुग्रह - ये पांच कार्य शिव करते हैं। जिस समय शक्ति अपने समस्त कार्य समाप्त करके अपने स्वरूप मात्र में स्थित हो जाती है तब शिव की लयावस्था होती है। उन्मेषप्राप्ति शक्ति जब बिंदु को कार्योन्मुक्त करती है और कार्योत्पादन की ओर के ज्ञान और क्रिया की समुद्र करती है तब शिव की योगावस्था होती है। पशु जीव को कहते हैं। जीव तन्मित्र सीमित शक्ति वाला तथा अणु के आकार का होता है। वह नित्य, व्यापक, कर्ता, तथा अनेक^{५/} पाशुमुक्ति शिवत्व प्राप्त है। मुक्त नैक जीव शिव के अधीन होते हैं। जीव तीन प्रकार के होते हैं - विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल। क्षीय कर्म जीव विज्ञानाकल है। आणवमल और कर्ममल से युक्त प्रलयाकल होता है। तीनों मलों से युक्त जीव सकल है। जीवों के बन्धन का नाम पाश है। पाश चार प्रकार के हैं - जीव की स्वामादिक ज्ञान-क्रियाशक्ति का आच्छादन करने वाला पाश 'मल' है; कलाधी जीवों की निरंतर क्रिया 'कर्म' है; 'माया' मैजीव उत्पन्न होते हैं; और रौधशक्ति साक्षात् शिव शक्ति है। पाश-मुक्ति शिव की कृपा से ही संभव है। पाशुपत मल में भी पशु पति और पाश ही तीन पदार्थ माने गये हैं। कालामुस और कापालिक का साहित्य बहुत कम प्राप्त है। इसके सिद्धांत साधन आदि सभी गुप्त रहे गये हैं।

वीर जैवमत दक्षिण में बहुत प्रचलित है। इनके अनुयायियों को "लिंगायत" भी कहते हैं। देवराज और तिवारी ने लिखा है कि सिद्धांत की दृष्टि से यह एक प्रकार का विशिष्टाद्वैतवाद है। शाक्तमत भी अत्यन्त रहस्यपूर्ण है और गुप्त रखा गया है। यह मत शिव और शक्ति को परम तत्त्व मानता है। इन्हीं के एक दूसरे में प्रवेश से सृष्टि बनती है। काश्मीर जैवमत की एक धारा है स्मंद-शास्त्र जो द्वैतवाद जैसा है। शिव की मूल शक्ति के स्त्रीतत्त्व अर्थात् नाद से त्रिविध मल की क्रिया प्रवर्तित होती है। ध्यान और योग से परमेश्वर का स्वरूप प्रस्फुटित करने से इन मलों का नाश होता है। दूसरी धारा है प्रत्यभिज्ञा शास्त्र। इसमें आत्मा चैतन्य स्वरूप, विमर्शरूपा, पराशक्ति, चित्ति, स्वतंत्ररूपा विश्वोत्कर्ष, विश्वात्मक, परमानंदमय, परमेश्वर, परमशिव, शान्त, सर्वज्ञ, प्रभु, अनंतशक्ति सम्पन्न आदि है। वह परम धाम, परमपद, परमवीर्य, परमामृत, परमतेज, परमज्योति आदि है। वे शाश्वत हैं; सर्वोत्तम हैं, वे देवाधिपति हैं तथा निर्माण एवं विनाश की शक्तियाँ से सम्पन्न हैं। इन्हें गिरीश, पशुपति, ईशान, महेश्वर आदि के रूप में माना जाता है। यह आत्मा अपनी इच्छा से ही शिव से लेकर धरणीपर्यन्त ३५ तत्त्वों में अव्यक्ता के साथ प्रस्फुटित होती है। यह सर्वथा स्वतंत्र, विश्व की निष्पत्ति एवं उसके प्रकाशन का कारण है। सृष्टि रचना के संबंध में यह शाक्त से बहुत कुछ मिलता है। परमात्मा की पांच शक्तियाँ विशेष रूप से विख्यात हैं - चित् (प्रकाशस्वरूप), ज्ञान, इच्छा, ज्ञान और क्रिया। मलों से जाग्रत आत्मा जीव है। यहाँ भी पाश, पशु और पति वाला सिद्धांत है। मुक्ति के तीन उपाय हैं - शमन (शिवोऽहं) की गुरुवीक्षा, शाक्त (ध्यान, पूजा, अर्चना) और आनन (विशिष्ट शक्ति के दीवा-मंत्र आदि के द्वारा सर्वज्ञ होने की ज्ञान-प्राप्ति, जडरूप का तिरौभाव, चैतन्यभाव का वर्धन और उसी में तल्लीनता)। शमन उपाय सर्वश्रेष्ठ है। क्योंकि शिव और उनके भक्तों में वैयक्तिक प्रकृति का संबंध है। तपसु और गुरुभक्ति से भी वे प्राप्त किये जा सकते हैं। इस वर्धन में जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, गुरीय और गुरीयातीत अवस्थाएँ मानी हैं।

सृष्टि चित्ति का आभास है। सत्य है। उसकी इच्छा से उत्पन्न है। वस्तुतः पूर्णतया अमैद है। सृष्टि का निर्माण माया द्वारा होता है। मायाजपरमेश्वर शिव की सृजक शक्ति है। वह स्वतंत्र नहीं, उसी शिव पर आधारित है। शिव की इसी जानंदरूपाशक्ति से सृष्टि की उत्पत्ति होती है। सृष्टि के ३६ तत्त्व इस प्रकार हैं :- शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, बुद्धिविधा, माया, काल, नियति, कला, विद्या, राग, पुरुष, प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, मन, ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ पांच तन्मात्राएँ, पांच स्थूलभूत। वैश्वदर्शन में "पाप" का अर्थ "अपूर्णता" है। "तंत्रों" का कथन है कि शक्ति के बिना शिव प्राणहीन शरीर की भाँति है क्योंकि बल के बिना बुद्धिमत्ता सक्रिय नहीं हो सकती। उसी स्थान पर यह भी कहा गया है कि शक्ति को धारण करने वाले शिव तथा स्वयं शक्ति में अनन्यता तथा तद्रूपता का संबंध है..... शक्ति को नारी समझना एक भूल होगी।^१ वेबर के ऊर्ध्व में यह शक्ति "अनेक विध्य स्वरूपों का मिश्रण है। भारत-वर्ष में इस शक्ति की पूजा अनादि काल से की जा रही है। शिव की दया और उसके ज्ञान का ही नाम शक्ति है। सच्चिदानन्द पिल्लई ने लिखा है कि शैव का तात्पर्य है "आनन्द" - अनुत्तमीय आनंद - वह जो आश्वत आनंदमय है।^२

वैष्णव-दर्शन अर्थात् भागवत-दर्शन

पाँच संहिताओं में वैष्णव धर्म-दर्शन का पूर्ण विकास हुआ है। ये संहिताएँ १०८ हैं। विष्णु पुराण और भागवत पुराण इस संबंध में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। याज्ञाचार्य, रामानुज, निंबार्क, मध्व, विष्णुस्वामी, आदि इसके प्रमुख आचार्य हैं। राधाकृष्ण, सीताराम, पुर्णा, जगन्पति, स्कन्द, ज्ञाना, सूर्य, श्री, लक्ष्मी, गंगा, यमुना, शीतला, यम, वरुण, कुबेर, अग्नि, राहु, केतु, नाग, सर्प आदि सबकी पूजा यहाँ होती है। कर्णवैद्य के विष्णु में नारायण, परम

१. "वि कल्पुरल हेरिटेज ऑफ इंडिया", भाग, ४, पृ. २५०।

२. "वर्ल्ड पा रिलीजियसिटी ऑफ रिक्लीबन्स" का कमेन्ट्रीशन वाल्यूम, पृ. १०३।

ब्रह्म, तथा बालदेव को भी मिलाकर आज के विष्णु का स्वरूप विभिन्नित हुआ और गुप्तकाल के आते आते इनके अवतारों की भी कल्पना हो गई। इसी युग में भी या/ लक्ष्मी उनकी पत्नी भी मान ली गई। इनके अवतार होते हैं। अवतार की कल्पना असाधारण रूप से महत्वपूर्ण है। "यदि ईश्वर ने मनुष्य के रूप में हमारे सामने आकर प्रत्यक्ष रूप में क्रियात्मक ढंग से यह न दिखाया होता कि वसुधावर्तों की व्यवहार में कैसे लाया जाय और उससे पूर्णता किस प्रकार प्राप्ति की जाय तो वेदान्त के उच्चतम सत्य भी सिद्धान्त मात्र रह जाते।" यह दर्शन प्रेम और सेवा पर बल देता है। वैष्णव धर्म की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है भक्ति। यहाँ प्रभु के सम्मुख उपासनामय आत्मसमर्पण भक्ति का सरलतम किंतु निष्कांतम साधन माना गया है। भक्ति भक्ति और प्रपत्ति से प्राप्य है। वैष्णवतम जीव को ही इस दर्शन में लक्ष्मी कहा गया है। अक्षर ब्रह्म से ही चिनगारी की प्राप्ति जीव निकलती है। भागवत धर्म ईश्वर की प्रेममूला भक्ति वाला धर्म है। प्रपत्ति भक्त का काम्य है। उसकी कृपाकी प्राप्ति ही भक्त का लक्ष्य है। ईश्वर के प्रति तीव्रतम प्रेम (भारतेषु की चंद्रावली वाला) इसकी प्रकृति है। भक्ति की पूर्णता के लिये ज्ञान की नींव आवश्यक है। यह भक्ति भक्त के भगवान की सींच लाती है। यहाँ ईश्वर और भक्त दोनों एक दूसरे की बाहों में समा जाने को वैधान रहते हैं। ईश्वर का व्यक्तिगत रूप, अवतार, लीला, सगुणत्व, लीला के लिये दैत - इसी मत की बातें हैं। विश्वप्रेम, रसमयता, विश्वमोहन रूपतत्त्व आदि के भी कारण बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में वैतन्य मत की और भी लोग लगे। डॉ. एस. चर्मा ने भक्ति आंदोलन की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया है - (१) प्रेम और सेवा वाले सर्वोत्तम ईश्वर पर विश्वास (२) प्रत्येक जीव की व्यक्तिगत सत्ता में आस्था रखते हुए भी यह विश्वास करना कि वह आध्यात्मिक परम आत्मा का एक अंग है, (३) भक्ति के द्वारा मुक्ति पर विश्वास, (४) भक्ति को सर्वोपरि मानना, (५) गुरु के प्रति अधिकधिक आदर करना, (६) नाम की पवित्रता और नाम जप के सिद्धान्त पर विश्वास

(७) मंत्र दीक्षा और संस्कारों पर विश्वास, (८) संन्यास के सांप्रदायिक स्वरूप पर विश्वास, (९) जाति-पांति के नियमों में शिथिलता और (१०) भाषा द्वारा धर्म-शिक्षा।^१ रामकृष्ण परमहंस के उद्धरणों में यह भागवत धर्म बुद्धि के नवनीत में तला हुआ प्रेम के मधु में पूर्णरूपेण बुवाया हुआ पुष्पा (मीठी रोटी) है।^२ हमारी सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है प्रार्थना। हमने मध्य युग से ही यह स्वीकार किया है कि प्रार्थना आत्मा की अभिव्यक्ति हृदय की तीर्थयात्रा और प्राणों की ठ्याठ्या है। इसका एक रूप वेदों में तथा उसके भी पहले के जीवन में ढूंढा जा सकता है। भारत में दृष्ट और अदृष्ट दोनों के लिये प्रार्थनाएं हुई हैं। इसमें मकत और उसके मगवान - आराध्य और आराध्य के बीच के वैयक्तिक संबंधकी घनिष्टता और रागात्मकता पर जोर दिया जाता है। वैदिक कवियों के गायत्री मंत्र से लेकर निराला, पंत, और रामकुमार वर्मा के गीतों तक की परम्परा एक है। इसके अनन्त विस्तार और प्रकार हैं। ऐश्वर्य सगुण स्वरूप की भी प्रार्थना है और नि - गुण की भी। देवताओं से लेकर त्योहारों तक न जाने किन किन की प्रार्थनाएं होती रही हैं। यात के कर्मकाण्ड की अपेक्षा पूजा की सरलता अधिक व्यावहारिक और ब्राह्म हुई। पूजा में प्रार्थना का स्थान महत्वपूर्ण होता गया। भारत=दु से लेकर पंत महादेवी रामकुमार वर्मा आदि के प्रार्थना-गीत इसी दार्शनिक भाव भूमि पर आधारित हैं। आधुनिक युग की प्रार्थनाओं में मूर्त की अपेक्षा अमूर्तत्व तत्वों की प्रधानता हो गई है। सूक्ष्मता बढ़ गई है। 'आज मेरी गति तुम्हारी आरती बन जाय' तथा 'क्या पूजा क्या अर्चना' के पीछे कबीर के 'साथी सहज समाधि मली' की पृष्ठभूमि है। रामकुमार वर्मा के अनेक प्रार्थना-गीत आत्मा और परमात्मा के तात्त्विक संबंधों पर पूर्णरूपेण आधारित हैं - जैसे 'एक दीपक किरण कम हूं'।^३

१. 'हिन्दुज्म धू वि एवेव', पृ. ६१

२. 'वि कल्चुरल हेरिटेज आफ इंडिया', भाग ३, पृ.

३. रामकुमार वर्मा: 'आकाश गंगा' से

४. महादेवी वर्मा: 'सोमा' से।

५. 'आधुनिक कवि', भाग ३।

रहस्यानुभूति

जब प्राणी की आध्यात्मिक चेतना जागृत हो जाती है तब वह ईश्वर के लिये छटपटाने लगता है। इस अवस्था में पर्यंक्य की तहस से, जिसकी अनुभूति रहस्यवादी को इस स्थिति में होती है, उस प्रकार की अभिव्यंजनाएं होती हैं जैसी नम्मलवार की "गोपीगीता" या श्री रामकृष्ण के वचनामृतों में है। आध्यात्मिक बुधा की तुष्टि ब्रह्मानुभूति से ही संभव है।

पर्यंक्य की अवस्था में आत्मा की समस्त अनुरंजनाएं एवं स्थित जीवन ^{अर्थात् अन्तःसमाप्त हो जाती है। १५। १६। १७। आत्मिक के दर्शन के लिये अन्तः हो उठती है। ३८। ३९। ४०। ४१। ४२। ४३। ४४। ४५। ४६। ४७। ४८। ४९। ५०। ५१। ५२। ५३। ५४। ५५। ५६। ५७। ५८। ५९। ६०। ६१। ६२। ६३। ६४। ६५। ६६। ६७। ६८। ६९। ७०। ७१। ७२। ७३। ७४। ७५। ७६। ७७। ७८। ७९। ८०। ८१। ८२। ८३। ८४। ८५। ८६। ८७। ८८। ८९। ९०। ९१। ९२। ९३। ९४। ९५। ९६। ९७। ९८। ९९। १००।} ^{पूरी} बोल हो जाता है। यह मांग ज्यों-त्यों तीव्रतर होती जाती है त्यों-त्यों नींद जाना, और शरीर से होने वाली क्रियाओं का स्वाभाविक सम्पादन समाप्त हो जाता है। शरीर फुलने लगता है। धीरे धीरे मानसिक द्वास भी प्रारम्भ हो जाता है। आत्मा की यह भूत प्रेमात्म्य को भी प्रभावित करती है। वह अपने स्वर्ग के एकाकीपन को और असीमित औरव को तिरस्कृत करके आत्मा की ओर अभिमुख हो उठता है। मिलन की तीव्रतम उत्कण्ठा जागृत हो उठती है। मिलन होता है और होती है आश्चर्यजनक आनंद की अनुभूति। यह लीला अनवरत है; आकाल से होती चली आ रही है। भारतीय धर्म और दर्शन तथा साधना की पुच्छभूमि में उपर्युक्त रहस्यात्मक अनुभूति नितांत संभव है। हमारे यहां का चेतन और आनंदमय किन्तु अनिर्वचनीय ब्रह्म ही रहस्यवाधिया का साध्य है। उसको अभिव्यक्त करने का और उसकी प्राप्ति-मिलन - की स्थिति की अनुभूतियों की अभिव्यंजना का असकल प्रयास जाठरों - नर्वी घता-बिघनों के सिद्धाचार्यों में मिलता है। भक्ति आन्दोलन ने उस ब्रह्म को रागात्मकता से युक्त कर दिया। अद्वैत ने उसमें और हममें अभिन्नता स्थापित कर दी थी। आध्यात्मिक चेतना की अन्तःसमाप्ति जागृति पर अपूर्ण का पूर्ण के लिये वैधेन होना नितांत स्वाभाविक है। अपना अपने से मिलने के लिये वैधेन ही उठता है। यह जागृति जब हठयोग की साधना से होती है तब प्रेसी ~~मिलन की तीव्रतम उत्कण्ठा~~ ~~स्वर्ग-भूमि से वा-मिलता है~~

रहस्य^{रुचि} साधनात्मक होती है। इय्यतत्व की प्रधानता अर्थात् भावनात्मकता की तीव्रता भी व्यक्ति को उसकी अनुभूति की ओर उन्मुख कर सकती है। विरह की तीव्रता का स्वरूप सुफियाँ से ज्ञात मिला है। यदि भावात्मक रहस्यवाद है। कवियों का रहस्यवाद प्रायः इसी प्रकार का होता है। इस पृष्ठभूमि में आधुनिक युग के कवियों ने रहस्यवादी कविताएं लिखीं। आधुनिक भारत चिन्तन प्रधान अधिक और कर्मप्रधान कम है। ^{द्वि. कर्मसाधना} कर्मप्रधान की ओर कम उन्मुख होता है। इस युग में बुद्धितत्व अधिक मुत्तर और प्रसर हो उठता है। आपस कबीर आदि से प्रेरणा लेकर जो स्वयं सिद्धों की परंपरा में आते हैं और जिस परंपरा में ही टेंगोर भी हैं - बुद्धि से तौंचकर और चिन्तन करके आधुनिक हिन्दी साहित्य की रहस्यवादी कविताएं लिखी गईं। इसीलिये वह जिज्ञासा प्रधान अधिक है। कबीर के अधिक निकट होने के कारण राम कुमार चर्मा में मिलन की स्थिति की अनुभूतियों की व्यंजना का प्रयास अधिक है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि इन लोगों की अभिव्यक्त अनुभूतियों में कोई असाधारण नवीनता नहीं। नवीनता भाषा, शैली और अभिव्यंजना के स्वरूप में है। आध्यात्मिक अनुभूतियों की यथार्थता के अभाव में जिज्ञासा के अतिरिक्त आधुनिक हिन्दी साहित्य के रहस्यवाद में जो कुछ है उसका अधिकांश लौकिक सुंगार अधिक प्रतीत होता है - यद्यपि यह लौकिक सुंगार इतना महानू है, इतना उच्चार है, इतना अतीन्द्रिय और वासना से इतना परे है कि अलौकिक सा लगने लगता है। कबीर के रहस्यवाद में भी रूपक के रूप में - सादृश्य के द्वारा अनुभूति को इय्यंगम कराने का प्रयास करता हुआ जो आया है वह भी लौकिक सुंगार ही है। यहाँ उसका रंग कुछ आकर्षक हो गया है।

पार्श्वाल्प-वर्णन

देवराम ने लिखा है, 'वर्तमान काल में पार्श्वाल्प चिन्तन मुख्यतः योरोप और कुछ हद तक अमेरिका में ही होता रहा है'।^१ ऐसे योरोप के

१. 'पार्श्वाल्प वर्णनी' का इतिहास, पृ. ९।

निकटतम सम्पर्क में आकर भारतवासी उससे प्रभावित न होते, यह असंभव था। उसी पुच्छ पर योरोपीय दर्शन की सबसे स्मृहणीय विशेषता के रूप में चिन्तन स्वा स्वातन्त्र्य का उल्लेख किया गया है। भारतीय संस्कृति भी विचार-स्वातन्त्र्य एवं चिन्तन का स्वातन्त्र्य का समर्थन करती है। योरोपीय दर्शन की इस विशेषता को, जो हमारी भी विशेषता है, इस युग में हमने पूरी तरह से अपना लिया है।

ज्ञान-मीमांसा: बुद्धिवाद

दर्शन के मुख्य भाग दो हैं :- ज्ञान मीमांसा और तत्त्वमीमांसा। तत्त्वमीमांसा में आत्मा, जगत् और ईश्वर पर विचार किया जाता है और ज्ञान-मीमांसा में ज्ञान की उत्पत्ति ज्ञान के स्वरूप और ज्ञान की सीमा पर। ज्ञान की उत्पत्ति के संबंध में योरोप में तीन विचारधाराएं पाई जाती हैं :- बुद्धिवाद, प्रतीतिवाद और कांट का समन्वयवाद। डेकार्ट, स्मिथोना और लाइबनीज नाम के दार्शनिक बुद्धि की ही प्रधानता देते थे। डेकार्ट बुद्धिवाद का पिता कहा जा सकता है। वह दर्शन में गणित की प्रणाली का उपयोग करता है। बुद्धिवाद कहता है कि ज्ञान विवेक की उपज है। कुछ बुद्धिवादी यह भी कहते हैं कि ज्ञान कुछ आदि सिद्धांतों की विवेकपूर्ण विवेचना का फल है। यह बुद्धि को सार्वभौम और निरन्तर आवश्यक मानता है। कांट का भी यह सिद्धान्त है कि बुद्धि किसी न किसी रूप में बाह्य जगत् या प्रकृति को बनाती है। बुद्धि जिन संबंधों की स्थापना करती है उन्हीं को हम बाह्य जगत् का सार्वभौम धर्म कहते हैं। कांट का यह कहना है कि वैज्ञानिक लोग अपनी सौर्वा से प्रकृति के जिन नियमों का फल चलाते हैं वे वास्तव में मानव बुद्धि के नियम हैं। उसी बौद्धिक धारणाओं की आवश्यकता और प्रमायिकता सिद्ध की है। पन्द्रहवीं - सोलहवीं शताब्दी की योरोपीय पुनर्जागृति तथा बाद में छीने वाली विज्ञान की उन्नति ने बुद्धि की धार्मिक ग्रंथों एवं धर्मग्रंथों के आतंक से मुक्त कर दिया। योरोप ने बुद्धि की इस स्वतंत्रता की

रखा करने के लिये सभी उपायों का सहारा लिया है। इसी का परिणाम है कि आज के योरप की प्रधान प्रवृत्ति हो गई है आध्यात्मिकता विहीन बौद्धिक उन्नति। योरोपीय दर्शन प्रधानतः बौद्धिक गवेषणा है।¹ अस्तु, कुछ तो योरप की नकल करने और कुछ भारत को फिर से उन्नत करके योरप से भी श्रेष्ठ बनाने के लिये और अपने को बुद्धिवादी सिद्ध करने और यदि हो सके तो उससे लाभ उठाने के लिये हमने बुद्धिवाद को यथासंभव अपना लिया। यहाँ तक अपना लिया कि कविता भी बुद्धिवाद के प्रभाव से बच न सकी। प्राचीन तथ्यों और तत्त्वों की नई व्याख्या बुद्धिवाद के ही सहारे हो सकी है।

(२) समन्वयवाद

ऊपर कांट का उल्लेख किया गया है। वह बुद्धिवादी था तो किन्तु उसने बुद्धि को ही सब कुछ नहीं मान लिया। उसकी ज्ञान मीमांसा वस्तुतः बुद्धिवाद और प्रतीतिवाद का समन्वय उपस्थित करती है। उसने संवेदन का हेतु पदार्थ या वस्तुओं का अपने यथार्थरूप में होना बताया है। इसीलिये वह व्यावहारिक जगत को श्रेय मानता है किन्तु उसने बुद्धि की एक सीमा निर्धारित कर दी है। उसने परमार्थ जगत को बुद्धि के लिये अश्रेय मानकर अश्रेयवाद को जन्म दिया। उसका विचार है कि अपनी स्वाभाविक प्रकृति के अनुसार बुद्धि ईश्वर और आत्मा आदि के संबंध में जिज्ञासा उत्पन्न तो कर देती है किन्तु इनके विषय में कुछ बता सकना बुद्धि के लिये असंभव है। नैतिक जीवन में उसने ज्ञान की सीमा बांध कर ईश्वर आदि को मानना आवश्यक माना है।

(३) प्रतीतिवाद

ज्ञान मीमांसा का तीसरा सिद्धांत है प्रतीतिवाद। इस मत को मानने वाले दार्शनिकों में लाक, बर्के और ह्यूम का नाम आता है। लाक

1. "अधिति", अरविन्द विश्लेषक, पृ. 100।

को अनुभववाद का पिता कहा जा सकता है। इसके मानने वाले लोग बुद्धि या विवेक की निष्क्रिय, सहज-प्रत्ययों का अभाव, तथा गणित संबंधी एवं वस्तु-संबंधी विज्ञान मानते हैं। इनके अनुसार प्रत्ययों की प्राप्ति हमें इन्द्रियों से होती है। अस्तु, ज्ञान एकमात्र अनुभव है।

रोमांटिक भावना या मानवतावाद

19 वीं - 18 वीं शताब्दी के पहले योरोप में संपन्न और विपन्न व्यक्तियों के बीच बहुत बड़ी गहरी लाई थी। निर्धन बड़ी ही हेय की दृष्टि से देखे जाते थे। धीरे धीरे धारणा बदली और निम्न वर्ग वालों की और सहाय्यपूर्ण दृष्टि डाली जाने लगी। इसीसे रोमांटिक भावना का जन्म हुआ। 19 वीं शताब्दी के आसपास का युग फ्रांस, इंग्लैंड और जर्मनी के धार्मिक युद्धों विद्रोहों और क्रांतियों का युग रहा है। लोग मार-काट, हत्या, हिंसा, पकड़ता, बल-प्रयोग की मर्यादकता आदि से ऊब चुके थे। इसकी प्रतिक्रिया के रूप में रोमांटिक भावना और मानवतावादी विचारधारा का जन्म हुआ। अठारहवीं शताब्दी के अंतिम चरण में इंग्लैंड और फ्रांस में जड़वाद का जोर बढ़ रहा था। आगस्ट काम्ट ने इस पृष्ठभूमि में वैज्ञानिक अन्वेषण-प्रणाली का आग्रह करने का विचार प्रकट किया। उसने कहा कि ज्ञान का अर्थ वस्तु जगत को आसित करने वाले नियमों की खोज है। उसने परलोक की चिन्ता छोड़कर मानवता के ऐहिक जीवन को सुधारने का कार्य बताया। उसके अनुसार, पूजा, उपासना या सेवा का वास्तविक विषय मानवता है। उसके समय तक यांत्रिक आधिष्ठातारों और उद्योग-धर्मों में बहुत प्रगति हो चुकी थी। औद्योगिक क्षेत्रों में पूंजीपतियों द्वारा सरीदे गये इन्सानों की जो भयानक दुर्गति एवं पशुओं से भी गई-बीती अवस्था होती है उसकी प्रतिक्रिया ने भी इस विशाल विपन्न, अमाने मानव-समुदाय की और विचारकों का ध्यान आकृष्ट किया। इनको सुखी करना एक पवित्र कार्य हो गया। इनसे विशाल मानवसमाज बनता है जिसकी प्रवृत्तियाँ अन्ततोगत्वा,

प्रत्येक व्यक्ति को प्रभावित करती हैं। मनुष्य अपने जीवन में यह अनुभव करता है कि वह अपने से बहुत बड़ी किसी शक्ति पर निर्भर है। यह अनुभूति मनुष्य को शान्ति देती है। वह इस शक्ति की भक्षा, उपासना, पूजा करता है। यह शक्ति न ईश्वर है, न देवता, यह शक्ति मानवता है। यही वह देवता है जिसकी उपासना हमें करनी चाहिए। यही हमारे चिंतन का लक्ष्य होना चाहिए इसी का प्रेम हमारे भावों का लक्ष्य होना चाहिए। हमें इसी की सेवा करनी चाहिए। यही हमें सुख दे सकता है। ईश्वर को कोई नहीं जानता; इसे हम सभी जानते हैं। विचार क्षेत्र में यह नया विचार था और समझ में आने वाला विचार था। इसने यूरप के ज्ञान-विज्ञान को प्रभावित किया और भारत की धारा को भी प्रभावित किया। हजारों प्रभाव द्विवेदी ने लिखा है, "परन्तु जी साहित्य क्षेत्र में मूल बालक मनोवृत्ति मानवतावाद हो थी। इस मानवतावादी दृष्टि के पेट से ही काठ्य में छायावाद का जन्म हुआ और उपन्यास और कहानियों के क्षेत्र में सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक शोषण से विद्रोह करने वाली स्वच्छन्दतावादी प्रेम धारा का भी जन्म हुआ।" यह विचारधारा हमने इसलिये भी अपनाई कि इस दृष्टिकोण को अपनाने से भारत की विचाल ३५ करोड़ जनता की, जो अंगरेजी शासन में पिस्तकर पशुओं से भी गया-बीता जीवन बिता रही थी, उन्नति की आशा थी। "सर्वे भवन्तु सुखिनः" के भारतीय स्वप्न को सकल देखने की यह आशा देती है।

ज्ञान का स्वरूप

ज्ञान के स्वरूप के विषय में योरोपीय दर्शन तीन धारणाएँ उपस्थित करता है :- (१) ज्ञान के विषय ज्ञाता से स्वतंत्र है, (२) ज्ञाता के मन से बाहर कोई भी वस्तु नहीं, और (३) ज्ञाता के मन से बाहर कुछ है तो पर हम उसे जान नहीं सकते। पहला प्रचलित वास्तववाद है, दूसरा विज्ञानवाद या

अध्यात्मवाद ह शर तासरा शाधत-वास्तववाद।

बुध्वाध

जर्मनवादीकी हीगल मयानक रूप से बुध्वादी है। यह अनुभव निरपेक्ष बुद्धि को मान्यता देता था। उसकी धारणा है कि विश्व तत्त्व या ब्रह्म केवल बुद्धि द्वारा ही जाना जा सकता है। उसके अनुसार दार्शनिक चिन्तन का विषय बुद्धितत्त्व है। यह विश्व को व्यक्तित्व या व्यक्तित्व मानता है। यह मानता है कि प्रकृति केवल वस्तुओं की व्यवस्था मात्र है। स्थिति या देश की दृष्टि से ये वस्तुएं एक दूसरे से पृथक् होती हैं। इस प्रकार यह प्रकृति को वास्तव मानता है। प्रकृति में पुनरावृत्ति होती है। यह मानता है कि परिवर्तन की द्रिया सत्य है लेकिन उसके उपादान परमभाव या परम आत्मा के आविर्भाव हैं। "परम" है विमुक्त अस्तित्व। परम को अपने विकास क्रम में स्वातन्त्र्य की प्राप्ति क्रमशः होती रहती है। हीगल धारणाओं का द्वात्मक विकास मानता है। प्रत्येक विचार अपूर्ण या विरोध प्रस्तुत होता है जिसे मिटाने के लिये वह दूसरे विचार या दूसरे सिद्धान्त को जन्म देता है। हीगल के विचारों ने धर्म, दर्शन, राजनीति, कला आदि ज्ञान के सभी क्षेत्रों को प्रभावित किया। इसी हीगल ने आगे चलकर मार्क्सवाद को जन्म दिया।

प्रकृतिवाद

तत्त्वमीमांसा^{ने} पहले प्रकृतिवाद को जन्म दिया जिसके अनुसार संसार लक्ष्मीन और प्रयोजनहीन है। संसार का एक बहुत बड़ा भाग यन्त्र है जो अपने नियमों से स्वतः परिचालित होता है। यह वाद मानता है कि प्राण तथा मन का विकास भी भौतिक पदार्थों से ही होता है।

भौतिकतावाद

इसी जड़वाद या भौतिकवाद निकला। जैनेन्द्र का कथन है, "भौतिक वाद ईश्वर की आवश्यकता में नहीं रहता। वह अनादिमृत को मान

कर उस आधार पर समस्त सृष्टि और इतिहास की रचना को हृदयंगम करने की विधि सुगम करता है..... संक्षेप में भौतिकवाद चेतन और अधिकतर पर न टिक कर वस्तु और विन्दु से आरंभ करता है।¹ भौतिकवाद के अनुसार सभी पदार्थों की उत्पत्ति जड़ से होती है। जड़ की विशेषता यह है कि वह जगह जगह धरता है, उसका ज्ञान इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होता है, उसमें वजन है, जबतक वह एक जगह है तबतक उस जगह पर दूसरा नहीं जा सकता, और वह एक स्थिति से दूसरी स्थिति में किसी बाहरी शक्ति के बिना नहीं जा सकता। यह परमाणुवाद पर विश्वास करता है और मानता है कि जड़ का सा तत्त्व उसकी शक्ति है। प्राण सत्ता और चेतन सत्ता इसी जड़ के परिणाम हैं। इस के अनुसार भौतिक जगत सम्पूर्ण रूप से सत्य है। जड़वस्तु परमाणुओं से निर्मित है। परमाणु जब एक साथ ढंग से मिलते हैं तब भौतिक वस्तुएं बनती हैं। परमाणुओं के एकत्रीभूत होने से ही चेतना का संसार होता है। हर घटना के पीछे भौतिक कारण होता है। यह जड़वाद कार्य-कारण सिद्धान्त पर विश्वास करता है। यह आत्मा, धर्म, ईश्वर, नैतिकता, इच्छा स्वातन्त्र्य आदि कुछ नहीं मानता। कांट ने भौतिक शास्त्र की प्रामाणिकता का समर्थन किया है। हाब्स, डार्विन, स्पेन्सर आदि दार्शनिक भौतिकवादी ही हैं। भौतिक विज्ञान के तथ्यों और सीजों ने भी इसे प्रतिष्ठा प्रदान की। भारत के भी धर्म और ईश्वर के प्रचलित रूप की विकृति ने लोगों को उससे विमुक्त करके भौतिकवादी बना दिया। हिंदी के नाटक, कहानी, नई कविता, उपन्यास आदि में यह भौतिकवाद अनेक रूप में धारण करके और अनेक के साथ प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में अब उपस्थित रहने लगा है। अंधविश्वास के साथ साथ इसने विश्वास की भी जड़ सौंप दी है। कुछ लोग भारत का कल्याण और अस्तित्व इसी में देखते हैं।

सृष्टि : (1) सृष्टिवाद

सृष्टि के संबंध में योरप में दो प्रमुख विचारधाराएं हैं - पहली

विचारधारा सृष्टिवाद कहलाती है। इसके अनुसार विश्व का सृष्टिकर्ता ईश्वर है। जब उसने इच्छा उत्पन्न होती है तब यह विश्व सृष्ट हो जाता है। ईश्वर ही सृष्टि का कर्ता है। ईश्वर और जड़तत्त्व से यह जगत रचा जाता है।

(२) विकासवाद - सुवनात्मक

दूसरी विचारधारा है विकासवाद की। इसके अनुसार प्राणियों का क्रमशः विकास हुआ है। इस विकास के तीन प्रमुख स्तर होते हैं। सृष्टि के मूलतत्त्व सर्वप्रथम इधर-उधर बिखरे पड़े रहते हैं। जब सृष्टि की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है तब इन इधर-उधर बिखरे तत्वों का एकीकरण होता है। दूसरी अवस्था में इन एकीकृत तत्वों का आवश्यकतानुसार विभेदीकरण होता है। इसके बाद उनका निर्धारण होता है। विकास की अवस्था में तत्व व्यवस्थित रूप में रहते हैं और नाश की अवस्था में अव्यवस्थित रूप में। यह विकास प्रारम्भ में सरल होता है किन्तु आगे चलकर इसकी प्रक्रिया बड़ी जटिल हो उठती है। कुछ विचारकों का मत है कि सृष्टि का यह विकास उनके उद्देश्यगर्भित या प्रयोजनपूर्ण होता है। उनके अनुसार जगत विचारपूर्वक बनाया गया है। एक बुद्धिमान विचारक जगत के नियमों का पथ-प्रदर्शन कर रहा है। मानव के शरीर उसके अंग-प्रत्यंग, पौधों के अस्तित्व एवं उनके अंग-प्रत्यंग आदि - यहाँ तक कि निर्जीव पदार्थों में भी प्रयोजन निहित है। यह प्रयोजनवादी विकासवाद या उद्देश्यपूर्ण विकासवाद कहलाता है। आगे चलकर वर्ण-सां^{ने} सुवनात्मक विकास की कल्पना की। विकास सम्बन्धी घटनाओं पर विचार करने से वर्ण-सां इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि विकास का कारण न तो कार्य-कारण नियम है और न कोई अन्तिम प्रयोजन। उसका लक्ष्य है प्राणवृद्धि या जीववृद्धि की सुवन्नीलता। एलेक्जेंडर और मार्सन इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि विकास की विभिन्न स्थितियों में मूलतत्त्वों का जन्म होता है। पुराने तत्व नये तत्वों को जन्म देते हैं। ये पुराने गुण नये गुणों को जन्म देते हुए भी अपने (गुणों) को नष्ट नहीं होने देते। कुछ भ्रूणों को

संख्या में वृद्धि ही होती है। ध्यान रहे कि हमारी हिन्दी के अति-आधुनिक कवि इसी नवीनता के पीछे पागल हैं तो मगर उन्हें अपने से पुराने गुणियों के या गुणों के प्रति कोई भी अनुराग नहीं। पुनरावृत्ति कविकासवादी यह मानते हैं कि सृष्टि-क्रम में कहीं कोई नवीनता नहीं होती। पहले की ही पुनरावृत्ति होती है।

यांत्रिक-विकासवाद

विकासवाद का दूसरा पक्ष है यांत्रिकविकासवाद। इस मत वालों की धारणा है ^{कि} विकास आकस्मिक यंत्रवत् संयोग के कारण होता है। स्वयंभू परमाणु गति के कारण आकस्मिक रूप में एक दूसरे से मिलते हैं और फिर अपने आप एक दूसरे से अलग हो जाते हैं। विश्व-विकासवादी विकास को प्राकृतिक नियमों पर आधारित मानते हैं। यह जड़वाद के अधिकाधिक अनुरूप है।

जीव-विकास

इसके पश्चात् हम जीव-विकास के सिद्धान्त पर आते हैं। इस वाद में डार्विन और लामार्क के सिद्धान्त विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार जड़ से जीव और जीव से चेतन प्राणियों का विकास होता है। सभी का विकास जीव-कोषों से होता है। सबसे पहले सृष्टिकर्ता ने कुछ जीवकोषों में प्राण फूंक दिया। उन्हीं से सारी सृष्टि बनी। एक जाति के जीव धीरे-धीरे बदलकर दूसरी जाति के जीवों में परिवर्तित हो जाते हैं। धीरे-रचना में होने वाले कुछ परिवर्तन उस जीव योनि के वंशजों में संक्रान्त हो जाते हैं। यह परिवर्तन उस जाति के लिये सभी प्राणियों के लिये समान रूप से उपयोगी नहीं सिद्ध नहीं होता। इस भेद या परिवर्तन से कुछ को पुष्ट वरपुष्ट लाभ पहुंचता है और कुछ का अस्तित्व मिट जाता है। सल और उपयुक्त जीवित रहते हैं; शेष नष्ट हो जाते हैं। अस्तित्व के लिये ही निरन्तर संघर्ष चलता रहता है जिसमें वक्षि-वाली का अम्पुय और वक्षिहीन का विनाश होता रहता है। प्रकृति अनुकूल

प्राणियों को चुन लेती है और प्रतिकूल का नाश कर देती है। परिवर्तन के कारण उत्पन्न होने वाले जीव कभी कभी पुराने जीव से अलग होकर नई और बलवान योनि की सृष्टि करते हैं।

लामार्क ने कहा कि प्रत्येक प्राणी पर उसके वातावरण का प्रभाव पड़ता है। वातावरण के साथ उसका क्रिया प्रतिक्रिया का सम्बन्ध रहता है। भेद या परिवर्तन का मूल कारण यही है। वातावरण ही प्राणियों के अन्दर आवश्यकतानुसार अवयव विशेष का विकास करते हैं जो निरन्तर प्रयोग के कारण सबल अथवा अप्रयोग के कारण नष्टप्राय होते रहते हैं। वंशक्रम के अनुसार ये गुण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को मिलते हैं।

इस विकासवाद के परिणामस्वरूप जड़वादी और नास्तिक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिला। इसी रास्ते पर चलकर स्पेन्सर ने यह सिद्धांत निकाला कि जीव और उसके पर्यावरण या वातावरण में पारस्परिक सहयोग अनिवार्य होता है। आगे चलकर व्यक्ति का व्यक्तित्व वातावरण का सिलौना हो गया। हक्सले ने संघर्ष पर जोर दिया और ^{नीचे} मिल्ने ने कहा कि नैतिकता की स्पष्ट कसौटी है जीवित रहने की श्रेष्ठता। उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है। साहित्यिक रूप धारण करके ये सारी विचारधाराएं कलात्मक ढंग से हिन्दी साहित्य में अभिव्यक्त हो चुकी हैं और हो रही हैं। अपने एक व्याख्यान में पन्त ने कहा था कि हिन्दू धर्म में कहे गये विभिन्न अवतार ध्यान से देखने पर विकास की विभिन्न अवस्थाओं के प्रतीक माने लगते हैं :- मछली, कछुआ, भूकर, मुक्ति, यामन, परशुराम, राम, बलराम, बुद्ध, कल्कि, कृष्ण आदि।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

हीगल का प्रकृतिदर्शन प्रकृति जगत के क्रम विकास की द्वन्द्वात्मक व्याख्या है। विरोध इसके मूल में है। यही विकास की गति देता है। हीगल का दर्शन मानवता के सारे अनुभवों को समष्टि का रूप देने का प्रयास

है। हीगल अध्यात्मवादी था। हीगल से ही प्रेरणा लेकर किन्तु उसके अध्यात्म-
 वाद को पूर्णतः तिरस्कृत करके मार्क्स ने द्रव्यात्मक भौतिकवाद प्रस्तुत किया।
 मार्क्स जड़वादी हुआ। मार्क्सकृत इतिहास की ठ्याख्या मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन
 की उसकी राजनीति, अर्थनीति, इच्छाओं और अभिलाषाओं की ठ्याख्या है।
 मनुष्य का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है। यह सिद्धान्त हर प्रकार की अ-
 जलौकिक शक्तियों को, आत्मा-परमात्मा उसके अस्तित्व को, समस्त अति-भौतिक
 और आध्यात्मिक सिद्धान्तों को अस्वीकार करके बाह्य, भौतिक, दृश्य जगत को
 ही सत्य मानता है। यह प्रकृति को तमाम जगत का मूल मानता है। हीगल के
 सिद्धान्त को लेकर उसे ही दृश्य जगत और सामाजिक प्रगति पर मार्क्स ने लागू
 कर दिया। उसमें डार्विन के विकासवाद और हीगल के द्रव्यात्मक प्रगतिवाद
 का सम्मिश्रण है। भौतिक विश्लेषण, परीक्षण की कसौटी पर ठीक उतरना, प्रयोग
 द्वारा प्रमाणित और प्रदर्शित हो सकेना स्वीकार्य होने की कसौटी बनी। द्रव्या-
 त्मक भौतिकवाद की तीन कसौटी है - वाद, प्रतिवाद और समुच्चयवाद। वह
 मानता है कि जगत परिवर्तनशील है। पूर्ण या पवित्र या चिरंतन कुछ नहीं है।
 सामाजिक संबंध, राजनीतिक संबंध, संचार, धर्म और आध्यात्मिक चेतना के
 तत्पुल्ल रूप अपने समय के इतिहास से स्वतंत्र नहीं होते। प्रत्येक वस्तु गतिशील
 है, प्रत्येक वस्तु प्रक्रिया में है। उसी वस्तु में ही वस्तु का विरोधी वर्तमान
 रहता है। यह अपने अस्तित्व का परिवर्तन निरन्तर घेता रहता है। दोनों का
 द्रव्य ही जीवन है। द्रव्य की समाप्ति जीवन की समाप्ति है। प्रकृति में काम
 करने वाली शक्तियाँ अंधी, क्रूर, और संहारक होती हैं। जब तक कि हम उनके
 रहस्य का ज्ञान प्राप्त करके उनपर अधिकार न प्राप्त कर लें। धर्म मनुष्य के मन
 में उन बाहरी शक्तियों का कपोल कल्पित चित्रविचित्र प्रतिबिम्ब मात्र है जो
 दैनिक जीवन का नियंत्रण करती है। इस प्रतिबिम्ब में पार्थिव शक्तियाँ अलौकिक
 शक्तियों का रूप धारण कर लेती हैं। परस्पर विरोधी वस्तुओं में जो धनात्मक
 और उपात्मक संघर्ष होता है वही द्रव्यात्मक प्रकृति का कारण होता है। इस
 प्रकार यह वर्णन अनीश्वरवादी, अनास्थावादी, हिंसाप्रधान, और जड़वादी है;

फिर जैनेन्द्र के शब्दों में "मार्क्स के ऐतिहासिक विकासवाद और द्वान्द्वीयक
 भौतिकवाद में मेरे लिये कोई चौंकने या आपत्ति करने की बात नहीं। इतिहास
 और कालगति को समझने का यह तर्क शुद्ध प्रयास है।" गांधी और बिनोबा
 तथा इनके प्रेरणा-स्रोत अजर-अमर भारतीय संस्कृति की शक्ति और उसके प्रभाव
 के कारण यह मार्क्सवाद भारत को पूर्णतः अपने रंग में तो नहीं रंग सका पर
 इसकी व्याख्याओं ने हमारे दृष्टिकोण को थोड़ा बहुत यहाँ-वहाँ परिवर्तित
 अवश्य किया है। इसका उल्लेख किया भी जा चुका है और आगे भी किया
 जायेगा।

उपयोगितावाद

जान स्टुअर्ट मिल के उपयोगितावाद ने भी हम पर अपने रंग के
 छोट्टे डाले हैं। उपयोगितावाद का यह आदर्श नहीं है कि कर्ता को ही सबसे
 अधिक आनन्द मिले। उपयोगितावाद का आदर्श तो यह है कि सबको मिला
 कर सबसे अधिक आनन्द मिले। मिलके अनुसार अधिक से अधिक मनुष्यों का
 अधिक से अधिक सुख अथवा सामाजिक सुख जीवन का आदर्श है। मिल व्यक्ति
 स्वातन्त्र्य का पक्षपाती था। वह केवल निश्चित तीव्र और दीर्घकाल-व्यापी
 ही सुख को मनुष्य का ध्येय नहीं मानता था। वह उच्च कोटि के सुख को
 ध्येय रूप में रखना चाहता था। उपयोगितावाद आशावादी है। अपनी ध्येय
 प्राप्ति के लिये सर्वसाधारण के महत्व से घीपित देखना चाहता था। उपयोगि-
 तावाद का मूल्य आनन्द प्राप्ति तथा दुःख से बचना है। उपयोगितावाद में
 अन्य बातों के साथ साथ सुख और सौन्दर्य की भावना भी सम्मिलित है। इसी-
 लिये वह उस आत्मन्याय की प्रशंसा करता है जो मनुष्य जाति के या जाति-
 विशेष के सुख या सुख के कुछ साधनों को बढ़ाता है। ये बातें सत्य, शिव, और
 सुन्दर के अन्दर आ जाती हैं और अपने वर्तमान रूप में यह सूत्र योरोप से आने
 पर भी भारतीय संस्कृति की अनुरूपता के कारण आधुनिक हिन्दी साहित्य के

बहुत बड़े भाग का आदर्श वाक्य बन गया है।

अध्यात्मवाद और चैतन्यवाद

और वैज्ञानिकता के विरुद्ध योरोप में प्रतिक्रिया हुई। लोगों की ठीक फिर अध्यात्मवाद और चैतन्यवाद की ओर उन्मुख हुई। उन्नीसवीं सताब्दी के द्वितीयाध में यह प्रवृत्ति प्रारंभ हो गई थी। लाट्जे, हार्टमान ग्रीन ट्रेडले, बोसांके, कोचे और जेण्टायल इसी प्रवृत्ति के दार्शनिक हुए। लाट्जे बुद्धि पर सन्देश करना संभव नहीं मानता। वह बुद्धि में विश्वास करता है। वह भ्रम को भी आवश्यक मानता है। वह विश्व तत्त्व को चैतन मानता है। वह तत्त्व पदार्थ का लक्षण आत्मचेतना और सचेतन व्यक्ति भाव मानता है। हार्टमान मानता है कि अचेतन कृत्स्नचित्सर्वज्ञ बुद्धि द्वारा संवालिता मालूम होती है। ग्रीन ज्ञान या अनुभव के अस्तित्व के लिये चैतन तत्त्व की आवश्यकता का अनुभव करता है। ट्रेडले इंग्लैंड का सर्वश्रेष्ठ अध्यात्मवादी विचारक है। वह मानता है कि मूल तत्त्व एक है और वह सामंजस्य पूर्ण है। वह अनुभव रूप है। इसकी कल्पना व्यक्तिभाव की होनी चाहिये। परम ब्रह्म गति और परिवर्तन^{शून्य} है। तत्त्वपदार्थ कभी कभी अपना विरोध नहीं करता। बोसांके मानता है कि विश्व तत्त्व अपने को चिन्तन प्रक्रिया में अभिव्यक्त करता है। मानता है उच्चकोटि के अनुभवों में विश्व की समष्टिरूपता या व्यक्तिभाव प्रकाशित या फलित है। कोचे का दर्शन नव्य अध्यात्मवाद है। वह मानता है कि विषय अनुभव का ही एक पहलू है और अनुभव मानसिक होता है। विषय अनुभवकर्ता से भिन्न नहीं है। चैतन्य आप ही जगत की सृष्टि करता है। उसने चैतन की (१) ज्ञानात्मक क्रिया (२) धारणा, (३) व्यावहारिक क्रिया और दार्शनिक क्रिया एवं ऐतिहासिक क्रिया को मानाहै। उसके शिष्य जेण्टायल ने इन चार प्रकार की क्रियाओं का विरोध करके चैतना को एक रूप माना।

अस्तित्ववाद

अति आधुनिक विचारधाराओं में सर्वप्रमुख भाववाद और

अस्तित्ववाद आते हैं। तर्कमूलक भाववाद मानता है कि अतीन्द्रिय पदार्थों, जैसे ईश्वर, आत्मा आदि के विषय में तर्क करना उचित नहीं है। यह वाद मानता है कि हमारे सारे ज्ञान का आधार इन्द्रियों से उत्पन्न अनुभव है। अतीन्द्रियपदार्थों के सम्बन्ध में कही गई अनुभव संबंधी बात अनिर्णयक और मिथ्या होती है। इसके अनुसार दर्शन का कार्य है वाक्य की समीक्षा और विश्लेषण। यह मत भाषा अथवा प्रतीकों के प्रयोग का भी विश्लेषण करता है। यह अध्ययन तीन भागों में बंटा है :- प्रेगमेटिक्स, (मनुष्यों के व्यवहार और उनके भाषा-प्रयोग के संबंधों का अध्ययन), सिमेन्टिक्स (प्रतीकों और उनके द्वारा संकेतित तथ्यों के आपस के संबंध का अध्ययन), लाजिकल सिन्टेक्स (प्रतीकों के विभिन्न तत्वों के पारस्परिक संबंधों का अध्ययन)।

अस्तित्ववाद का प्रवर्तक है कीर्केगार्ड। यह वाद व्यक्तिगत जीवन या अस्तित्व का दर्शन है। यह मंत्र व्यक्ति का स्वतंत्रता को आवश्यक मानता है। इसकी इच्छा है कि व्यक्ति को उसकी स्वतंत्रता एवं जिम्मेदारियों के प्रति जागरूक बनाया जाय। यह मत इस प्रकार के व्यक्ति को आदर्श मानता है। कीर्केगार्ड सत्य की प्रतीति आत्मा के भीतर मानता है। वह समष्टिवाद का विरोधी है। व्यक्ति अपने स्वतंत्र निर्णयों के द्वारा ही सत्य का साक्षात्कार कर सकता है। चिन्तन का मुख्य काम यह है कि व्यक्ति का विश्व से इस प्रकार का संबंध हो कि वह अपने जीवन की विविध संभावनाओं का साक्षात्कार कर सके। हमारा ज्ञाना जीने के लिये होता है। हम यथार्थ से भागे न, बल्कि उससे अपने को संबंधित करके निर्णय लेने का साहस कर सकें। हेडेगर नामक अस्तित्ववादी आत्मज्ञान या मानवज्ञान को मानता है। यह मानता है कि मानव जीवन की संभावनाएँ बदलती रहती हैं। संभावनाओं का पुनराव मनुष्य के रूप को बदल देता है। दुनिया मेरी आवश्यकताओं की पूर्ति का यंत्र है। साथ ही हम अन्य मनुष्य से भी संबंधित हैं। इसी संबंध से सामान्य मनुष्यता का जन्म होता है। जहाँ पाल

सार्त्र सौच की महत्वपूर्ण आवश्यकता है। वह दो सत्ताएं मानता है - (१) अपने में, और (२) अपने लिये। यह चेतना दूसरे को (अ) वस्तु मानकर और (ब) अपनी ही तरह प्रकृष्टा-भौकता विषयी मानकर, ^{प्राप्तनीय स्वीकृति} सार्त्र ने स्वतंत्रता को मानव का असली रूप माना है। मनुष्य विश्व-प्रताण्ड का पूरक नहीं; स्वतः पूर्ण एवं स्वतन्त्र है। मनुष्य का निर्माण उसकी अपनी संभावनाओं और इच्छाओं द्वारा होता है। ब्रह्म स्वयं अपनी प्रकृति ^{के} विधाता हैं। वैसे, मनुष्य का कोई निश्चित लक्ष्य नहीं है। यह जैसा चाहे, बन जाय। न ईश्वर, न कुछ अच्छा, न बुरा। मानव प्रकृति नाम की कोई भी चीज नहीं। हमारा अति आधुनिक साहित्य इन विचारधाराओं से बहुत हद तक प्रभावित है।

हमने स्वका अध्ययन किया

हम भारतीयों ने योरप और भारत के इन चरित्रों का अध्ययन किया और प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप में इनसे प्रभावित हुए। एक दूसरे को एक दूसरे के समीप लाने के प्रयत्न में लगे। टैगोर ने कहा है, "आधुनिक भारत के अच्छे भले व्यक्तित्वों ने अपने जीवन का यह लक्ष्य बना लिया है कि वे पूर्व और पश्चिम को एक दूसरे के समीप लै जाएं।" यह आवश्यक भी था क्योंकि इसके बिना हमारे उत्थान का और कोई उपाय ^{था} भी नहीं। यह आवश्यक है कि नवनीत अभी निकल नहीं पाया; उसे निकलना है।

वर्तमान हिंदुधर्म

साने गुरु जी ने लिखा है, "भारतीय धर्म बढ़ता रहने वाला धर्म है। वह नवीन नवीन विचार ग्रहण करके आगे बढ़ता रहेगा। वह नवीन-नवीन धर्मों में पुतेगा। सारे ज्ञान को अपना कर समाज का निर्माण करेगा।" ^१ बदली हुई एवं अवांछित वृत्तियों वाली पृष्ठभूमि में तथा नई यूरोपीय संस्कृति के संघर्ष

१. "इण्डस यूनिवर्सल मेन", पृ. १३३।

२. "भारतीय संस्कृति", पृ. ३९।

अतः भारतीय धर्म ने यही किया। लोग प्रायः कहा करते हैं कि हिंदूधर्म भी विविध धर्म है क्योंकि हिंदुओं की न कोई अपनी एक पोशाक, न कोई एक सर्वमान्य धर्म-पुस्तक, आदि। वे ऐसी बात करके और विशेष रूप से भारतीय इस्लाम से उसकी तुलना करके उसे निकृष्ट अथवा निर्बल सिद्ध करके हिंदुओं में उबाल लाना चाहते हैं। उनकी बात सही है लेकिन जिसे वे हमारी कमजोरी समझते हैं, सौभाग्य से वही हमारी सबसे बड़ी विशेषता है। उसे छोड़ना हिंदुत्व को मिटा देना है। हिंदुत्व में कटुता नहीं है, क्योंकि राधाकृष्णन के आधार^५ पर, 'यह स्पष्ट है कि हिंदू धर्म एक प्रणाली है, परिणाम नहीं, एक वर्तमान परम्परा है, अटल विषय प्रकाशन नहीं। किसी और से भी आने वाले ज्ञान पर इसे कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया, क्योंकि (इस) आत्मराज्य में मेरे और तेरे का भेद नहीं है।' उसकी प्रकृति है सभी धर्मों के लिये आधार और सद्भावना, अपनी बौद्धिक चेतना और सत्य के प्रति अपनी अनुभूति को सतत जागरूक रखना, सभी महान पुरुषों के प्रति सच्ची श्रद्धा, धर्म की वास्तविक प्रकृति (छिपी हुई अग्निविज्ञा) की खोज, प्रगतिशीलता और रूपपरिवर्तन की आवश्यकता और अनिवार्यता।

समस्त भारत का योग

इसीलिये हिंदूधर्म किसी एक पुस्तक, व्यक्ति, प्रवेश या देश की ही चीज कभी नहीं रहा। यह अवश्य है कि इस पर पड़ी हुई छापों में मैं से किसी की छाप अधिक ल्यायी है और किसी की कम। उदाहरणार्थ ब्रह्म भारतीय धर्म का जो संस्करण रंकाराचार्य द्वारा उपस्थित किया गया है वह अब भी सर्वपाक्षिकहीन नहीं हुआ है। रामानुज तथा माधव, कबीर तथा नानक आदि ने भी हिंदू धर्म पर अमिट छाप लगाये हैं। भारत के विभिन्न प्रांतों और प्रवेशों ने भारतीय धर्म और दर्शन के उस स्वरूप को विकसित करने में अपना अपना

महत्वपूर्ण योगदान दिया है जो आज भारतीय जीवन का मुलाधार हो रहा है। विभिन्न धर्मों के रूप में जीवन के विभिन्न मौलिक कार्यसंघात और विभिन्न दर्शनों के रूप में विभिन्न मौलिक चिन्तन विभिन्न प्रदेशों ने विकसित किये हैं। यह कुछ ठीक वैसे ही है जैसे हिन्दी। ब्रजभाषा भी हिन्दी है, लड़ी बोली भी, राजस्थानी भी, बिहारी भी। जैसे हम यह नहीं कह सकते कि बस इतना ही और यही हिंदुत्व है वैसे ही हम यह भी नहीं कह सकते कि यही रूप हिन्दी है। बंगाली का क्षेत्र है बंगाल, पंजाबी का भी अपना एक विशेष क्षेत्र है लेकिन हिंदी ! नाम के अनुसार हिंदी का अगर कोई भी क्षेत्र कहा जा सकता है तो वह है हिंद या तो सम्पूर्ण हिंदुस्तान!! और यह सही भी है क्योंकि सिर्फ बिहार, बंगाल, उड़ीसा, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान, पंजाब आदि सभी ने हिंदी का पोषण किया है। ठीक इसी प्रकार का हिंदू धर्म भी है जहाँ विभिन्न प्रदेशों के चिंतनों और कार्य संघातों ने गंगा-यमुना की भाँति मिलकर समन्वय-संगम पर एकत्व और सुस-संतोष की अलौकिक पवित्रता उपस्थित कर दी है। देखिए:-¹

१. कश्मीर	वैव, त्रिकुपर्वन	२. पंजाब	वेदों के प्रार्थनागीत
३. मिथिला	जनक-याज्ञवल्क्य	४. मध्यप्रदेश	कर्मकाण्डी साहित्य,
५. मगध	महावीर और बुद्ध		प्रारंभिक उपनिषद्,
६. बंगाल	चैतन्य, तन्त्रसाधना,		महाभारत, रामायण,
७. असम	शंकरदेव का विभुद		कुछ पुराने पुराण।
	वैष्णववाद और तंत्र	८. पूर्वीप्रदेश	मध्ययुगीन सिद्ध
	साधना।	९. नेपाल	बौद्ध और ब्राह्मणधर्मका
१०. उड़ीसा	सूर्योपासना, साँवपुराण		समन्वय।
	चैतन्यकथा के वर्णन-ग्रंथ।		
११. प्रविष्ट	ब्रह्मसूत्रमाध्यम, शालिवार, वेदनायनार संहिता और आगम के		
	अनेक लेखक।		

१२. महाराष्ट्र - तुकाराम, नामदेव, तिलक, विनोबा, शिवा, रामदास;
शानैश्वर आदि।

१३. राजस्थान -
विन्ध्य, विहार
के कुछ भाग } असाधारण और प्राचीन धार्मिक विश्वास।

१४. गुजरात का ठियावाड - प्रारंभिक मानव धर्म, जैन साहित्य, दयानंद,
गांधी।

अभी इस सूची में न मालूम कितनी बातें जोड़ दी जा सकती हैं।

सह-अस्तित्व

बात यह है कि भारतवर्ष ने धर्मों के सह-अस्तित्व अथवा घुस-पानी की तरह से मिल जाने की समस्या युगों-युगों से हल कर ली है। चूंकि भारतवर्ष के प्रत्येक युग, प्रत्येक भूभाग एवं प्रदेश का अपना अपना धर्म एवं धर्म या जिनका संगम हिन्दूधर्म है अतः हिन्दुत्व की दृष्टि से कोई भी भाग ऐसा नहीं है जहाँ पूज्य मंदिरों न हों, जहाँ पवित्र नगरियाँ न हों। इतिहास संसार और पुस्तकें तो कुछ ही को जानती हैं, जैसे :- काशी, प्रयाग, अयोध्या, मथुरा, हरिद्वार, नासिक, बदरिकाश्रम, सारनाथ, बुधनगर, रामेश्वरम्, पंढरपुर, गंगा, यमुना, सिंधु, कृष्णा, नर्मदा, ताप्ती, कावेरी आदि, किन्तु यहाँ तो मिट्टी का कण-कण एवं जलका एक-एक सिन्धु पवित्र है। जहाँ लीप-पोतकर मिट्टी का मात्र का ही जेना चबुतरा बनाकर उस पर चार-फूल और चावल के चार दाने रख दिये वही पूज्य हो गया। जिस पेड़ पर जल डालकर सिन्धुर लगा दिया जाय वही प्रथम्य है। यहाँ 'गंगा' का अर्थ पवित्रता से अभिन्न है। हर नदी हर तालाब, हर पोखरा, गंगा है। कहावत है - 'मन चंगा तो कठौती गंगा' और स्नानार्थी जब कुपं या नल का पानी लोटे में भरकर अपने सरपर डालता है तो 'हरगंगा' या 'हर हर गंगे' कहता है। स्थानीयता को बर्दाश्त करके माय

कहें कि माया अथवा भौगोलिकता को अनावश्यक प्रधानता देकर हमने धर्म को "धार्मिकता" में बदल रक्खा है। उसे अस्तित्व भारतीय रूप दे रक्खा है। भारतीय को अच्छा धार्मिक एवं अच्छा आराध्यक होना चाहिए - चाहे जिस धर्म का हो, चाहे जिस देवता का। प्रायः लोग धर्म को गलत समझने, गलत ढंग से विधासे और उसका गलत उपयोग करने लगे हैं। मोतीलाल जी का यह कहना था, "आज धर्म का उपयोग सबसे बड़ी विभाजक शक्ति के रूप में किया जाता है। हमारे दैनिक जीवन में उसका अर्थ है मूर्तिपूजा और धर्मांधता, असहिष्णुता और मस्तिष्क की संकीर्णता, स्वार्थ परता और स्वल्प समाज का निर्माण करने वाले गुणों का निषेध। राजनीति के साथ भी उसका संबंध किसी काम का नहीं।"

जनता की कमजोरी और उसका दुरुपयोग

वास्तव यह है कि अल्प बुद्धि वाली सामान्य जनता धर्म के वास्तविक स्वरूप को ही जानती-मानती है क्योंकि उसके तार्त्विक रूप को ग्रहण करने की क्षमता उसमें होती नहीं और इसीलिये उसको बहका सकना कठिन होता है। "धर्मनिरपेक्ष" अंगरेजी सरकार यह व्यवस्था करना नहीं चाहती थी कि लोग धर्म के असली रूप को समझें। धर्म-ग्रन्थ हो जाने की आशंका ने सामान्य जनता को धर्म के वास्तविक स्वरूप से इतना चिपका दिया कि वह उसपर किसी तरह का आघात करने वालों को अपना धीर खड़ा समझने लगी। अंगरेजी सरकार और उसके अस्तित्व से प्राणवान बने रहने वाले स्वार्थियों ने इस जन-मनोवृत्ति का लाभ उठाया। उसे बहकाकर एक दूसरे से लड़ाया और कुछ राज्य और पद प्राप्ति किया। जनता के पास धार्मिक आस्था मात्र बचने पाई। उसके अतिरिक्त धर्म की सारी अस्तित्व उससे छिन गई।

पीछे देखा गया

विचारकों ने देखा कि एक स्तर आ गया है। इसको लगी

दूर किया जा सकता था जब प्राचीन भारतीय संस्कृति के महत्वपूर्ण तत्वों और मूल्यों पर बराबर जोर दिया जाता रहे। अस्तु, हिंदू महापुरुषों और विचारकों ने अपने धर्म और संस्कृति के मौलिक अंशों और मूलभूत तत्वों को नहीं छोड़ा। वे छोड़ने लायक थे भी नहीं। इसके साथ ही साथ उन्होंने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के नवीनतम आविष्कारों के अनिवार्य और महत्वपूर्ण प्रभावों को अस्वीकार भी नहीं किया।

हिन्दुत्व की काया-पलट

परिणामतः हिंदूधर्म की कायापलट हो गई। हिंदूधर्म के विभिन्न तत्वों की सूक्ष्मतरंग परीक्षा, निरर्थक एवं अनुपयोगी तत्वों का तिरस्कार और उपयोगी तत्वों की नवयुग के अनुरूप व्याख्याएं प्रस्तुत की गईं। इसके परिणामस्वरूप हिंदूधर्म को संजीवनी अक्षति मिली। उसका रूप समाजीययोगी होने लगा, उसका लक्ष्य जन-हित होने लगा। सामाजिकता की दृष्टि से अनुपयोगी तत्व निरर्थक एवं अस्वीकृत हो गए। व्यक्तिगत धार्मिक जीवन और धार्मिक अनुभवों के जो तत्व शाश्वत और स्थायी महत्व के थे वे ही स्वीकृत एवं मान्य हुए। धर्म की वास्तविकता उन तत्वों में सौजी गई जो सामाजिक अन्त्याय असमानता आदि से कलंकित होने से बचे थे। अन्त्याय और अन्याय को जन्म देने वाली सामाजिक प्रथाओं और संस्थाओं से धर्म को अलग करने का प्रयत्न किया गया। परिणामतः धर्म, संस्कृति और इतिहास का उज्ज्वलतम पक्ष उभरता चला गया। भारत प्रेम की भावना से इस प्रवृत्ति को और भी प्रोत्साहन मिला। हिंदूधर्म में जो भी सुधार हुए उन सब की आवश्यकता का अनुभव राष्ट्रौत्थान की दृष्टि से ही हुआ था। मान्यता की मलाई और जन कल्याण की भावना ने नति दी। हिंदी का यथार्थवादी और आदर्शवादी साहित्य इसी पुच्छभूमि में लिखा गया। वास्तविकता यह है कि शास्त्रों के अनुमोदन की बात आजकल केवल कहने पर के लिये रह गई है। शास्त्रों की तनिक भी चिन्ता किये बिना

आज का मानव वही करता है जिससे उसका हित हो, उसे कुछ मिले या उसे आराम मिले।¹ रुढ़ियों और प्रथाओं पर आधारित नैतिकता से आलोचना-प्रधान नैतिक विचार विनिमय और तदनुरूप क्रियाशीलता की और चला जाना ही नये दृष्टिकोण की विशेषता है। इसका परिणाम यह भी हुआ है कि आधुनिक हिंदी साहित्य में शास्त्रों का उल्लेख उतना नहीं हुआ जितना आलोचना-प्रधान नैतिक विचार और तदनुरूप जीवन यापन का प्रयास अभिव्यंजित हुआ है। हिन्दू दृष्टिकोण चिन्तन की और विचार विनिमय की पूरी पूरी स्वतंत्रता देता है किन्तु व्यवहार के क्षेत्र में शास्त्र, संस्कृति, और परम्परा के विधि विधियों का पालन अनिवार्य मानता है। आधुनिक हिंदी साहित्य में - विशेषतः कथा साहित्य में भी - हम यही पाते हैं कि चिन्तन और अभिव्यक्ति नवीनतम एवं क्रान्तिमयी है किन्तु कथियाँ, मुनियों, वेदों शास्त्रों आदि के प्रति आदर के साथ साथ, व्यावहारिक जीवन में रुढ़ियाँ और परम्पराएँ भी मान्य हैं, अनुरक्त हैं और अधिकतर स्वको बाँधे हुए हैं। इसीलिये समाज विघटित नहीं होने पाया है। तात्पर्य यह है कि हमारे सांस्कृतिक जीवन और हमारी धार्मिक विचारधारका अधिकांशतः तो कुछ भी नहीं बिगड़ा किन्तु व्यक्तियों के सामाजिक संबंधों और उनकी मनोवृत्तियों में घने घने परिवर्तन अवश्य होता गया। उदाहरण के रूप में हम यह मानने लगे कि अपने जीवन, अपने धर्म और अपनी परिस्थितियों के उत्तरदायी किसी न किसी रूप में हमी हैं। हमने राजा को ईश्वर मानना छोड़ दिया। हमने उनको अपनी ही तरह के हाड-मांस का मनुष्य मान लिया। समाज और व्यक्ति की दुरवस्था को बदलने का काम मान्य और भगवान के ऊपर छोड़कर हाथ पर हाथ धरे बैठने में जो मूर्खता है वह हम समझ गये। धार्मिक डोंग और डकोसला अब हमारी भक्षा और पूजा पाने में अक्षर्य हो गये। हम उनकी उधेखा करने, इनकी आलोचना करने और इनके प्रभाव से अपने को मुक्त रखने का साहस पा गये। कहीं कहीं अति भी हो गई।

1. "इंडियन सोशल थिंकर" के सम्पादक का 1912 में कथन।

सुधारवाद और रुढ़िवाद

इस प्रकार दो विचारधाराएँ हमारे अन्दर पनपीं। इसमें से कुछ लोग सुधारवादी हो गए और कुछ लोग प्रगतिशील या क्रांतिकारी। अरु आर्यभट्ट हुसैन ने लिखा है, "... .. दो विरोधी प्रवृत्तियाँ क्रियाशील रही हैं। (१) एक तो उदात्तावादी आंदोलन जिसने अपने आपको धर्म में समन्वयवाद, सामाजिक दृष्टिकोण में आधुनिकतावाद और राजनीति में मध्यमवाद के रूप में अभिव्यक्त किया। और, (२) रुढ़िवादी आंदोलन। इसमें दो विभिन्न रूप रहे। एक में तो वैदिक धर्म और सामाजिक जीवन में लौट जाने का आग्रह था; दूसरे में वेदान्त दर्शन को धार्मिक जीवन का आधार बनाया गया जिसमें पौराणिक हिंदूधर्म समन्वित था। इसमें हिंदू समाज का ढाँचा बदलने का आग्रह तो था किन्तु उसकी आत्मा नहीं। टैगोर, राधाकृष्णन, और गांधी ने हिंदुत्व को इतना व्यापक बना दिया कि उसमें मानवता, और उदार राष्ट्रीय दृष्टिकोण समाविष्ट हो गया।

धार्मिक व्यक्ति और हिंदूधर्म

हमारे धर्म के मानने वाले दो श्रेणियाँ में बंट गये: (१) गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए यथासंभव धर्माचरण करने वाले और (२) भिक्षाटन, तीर्थाटन करने वाले तथा मठों आदि में बैठकर पूजा-पाठ करने वाले साधु एवं पुजारी आदि। ^{प्रज} वैदिक कर्मकाण्ड नहीं चल पाता। उसकी जगह पर वैष्णव एवं पौराणिक कर्मकाण्ड चलते हैं। उपासना प्रायः विष्णु अथवा उनके अवतारों की होती है। क्योंकि वे भक्तवत्सल, दयालु, अहिंसावादी, कल्याणकारी, अमर एवं अमरिषियों के नाशक, धर्मसंस्थापक, अवतारी, ज्ञान्त, उदार, अष्टा, प्रतिपालक, संहारक, देवाधिदेव, अनादि, अनंत, अधिकारी, सच्चिदानन्द, परमेश्वर हैं। विष्णुस्वामी ने तो कायाकष्ट को निरर्थक मानकर एकमात्र नाम स्मरण को ही मोक्ष का साधन बताकर इसे सर्वशुद्ध एवं सर्वप्रिय बना दिया था। इष्टदेव कहीं राम हैं, कहीं

कहीं कृष्ण, कहीं अकेले, कहीं युगलमूर्ति के रूप में। देव किसी से नहीं। ब्रह्मा तुलसी और वालिग्राम के लिये भी हैं। वंशधर कौह भी नहीं। लोक-व्यवहार और सुविधा के अनुसार जैसे चाहें आराधना करें, मिलने पर परस्पर श्रद्धा-वादन 'जै राम जी की', 'जय सियाराम', 'राम राम', आदिके रूप में होता है। वृन्दावन में एक तांगे वाले को मैंने 'हटो राधे', 'बचो राधे', कह कर नारियों को रास्ते से हटाते हुए देखा-सुना है। इस प्रकार एक परात्पर विश्वात्मा के अस्तित्व में हिंदुत्व को कभी भी आशंका नहीं हुई। वह संसार को सत्य तो नहीं मानता किन्तु उसकी प्रतीति को प्रबल एवं आकर्षक अवश्य मानता है। हिंदुत्व उस विठ्ठल स्वरूप के व्यक्तिस्वीकरण में आस्था रखता है और उसे आवश्यक मानता है। हिंदुत्व सम्पूर्ण स्वरूप और सापेक्षिक सत्य का अन्तर समझता है। हिंदूधर्म और हिंदू जाति असाधारण रूप से सहनशील है। हिंदू स्व का आदर करता है। हिंदुत्व मायावाद, कर्म सिद्धान्त और पुनर्जन्म को मानता है। वह विवाह को धार्मिक कर्तव्य और पति-पत्नी को जन्म-जन्मांतर का साध मानता है। हिंदुत्व आज भी लोकतन्त्रात्मक है। उसमें सबके लिये जगह है। हम 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' को आज भी मानते हैं। मंदिर को, ^{सर्वोपरी मानते हैं श्री आपत्ति में} भगवान की और देखते हैं। मन्दिर, मूर्ति, देव, शास्त्र, पुराण, स्मृति, ज्ञान, मक्ति, माता-पिता-गुरु-गुरुजन का आदर और उनके आज्ञापालन, दम, दम, निष्कामता, तितिक्षा, योग, निवृत्ति मार्ग, आध्यात्मिकता आदि को हम अपने धर्म का महत्वपूर्ण अंग मानते हैं। उपनिषद् और दर्शन शास्त्र के ज्ञाता उच्च वेणी के थोड़े लोग ही हैं। सामान्य जनता में अंध विश्वास है। 'आधुनिक हिंदू-रीति-रिवाजों में आज जो कुछ पाया जाता है उसमें कुछ भाग वैदिक रीति-रिवाजों का है, कुछ योग सधन पद्धति का है और कुछ वेदान्त दर्शन का है'। आधुनिक हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि में भी वैदिक, योगिक और वेदान्त का धर्म-दर्शन है। धीरे-धीरे वयां लिखा है, 'जन-साधारण धर्म अभी भी पौराणिक सनातन धर्म है, जिसके अन्तर्गत अनेक वैष्णव, शैव और शक्ति संप्रदाय चल रहे हैं। गंगा जी का माहात्म्य, तीर्थ

स्थानों का महत्व, गौरवा की भावना, श्राद्ध तथा धार्मिक व्रत-उत्सवों का मनाना इसके मुख्य बाहरी लक्षण हैं। आस्तिकता की भावना, पुनर्जन्म तथा कर्मफल में विश्वास और जन्मगत विरादरी व्यवस्था इसके मौलिक सिद्धांत कहे जा सकते हैं। धर्मग्रंथों के रूप में गीता, उपनिषद्, भागवत तथा तुलसीकृत रामायण का पाठ पढ़े-लिखी में होता है..... सर्वसाधारण में इनका स्थान सत्य नारायण की कथा और कीर्तन ने ले लिया है।^१ अतुल्य=ब्र चटर्जी ने भी रामायण और महाभारत को सामान्य हिंदू जनता के धार्मिक आदर्शों का आधार माना है।^२ तुलसीदास विशेष रूप से मान्य हैं। हमारे सारे धार्मिक अनुष्ठान पण्डित-पुरोहित ही कराते हैं। इसका एक शुभ परिणाम यह हुआ है कि हिंदू धर्म और समाज विघटित होने से बच गया। उच्छृंखलता और मनमानी नहीं होने पाई। पूरे का पूरा साल हिंदुत्व-विधान के अनुसार व्रतों और त्योहारों से मरा है। इनकी पुष्टभूमि धार्मिक है। सबके पूजा संबंधी कर्मकाण्ड हैं, और विधान है। ये भी हमारी सांस्कृतिक चेतना के अंग हैं। इन व्रतों और त्योहारों पर सभी ने कुछ न कुछ लिखा है। चाय ही कोई कवि ही जिसने बसंत पर कुछ न लिखा हो। दीपावली अंधकार और प्रकाश के अनंत सौन्दर्य का प्रतीक बनकर कलाकारों की सृजनात्मक प्रतिभा को प्रेरणा देती है। होली और यम द्वितीया राखी आदि ऐसे ही त्योहार हैं। इसी प्रकार भैरव और तीर्थस्थान हैं। हम हिन्दुओं ने महान आत्माओं एवं महान साधनाओं से संबंधित स्थानों को भी बाहर दिया है। विभिन्न सम्प्रदायों के लोगों ने अपने अपने संस्थापकों, उद्धारकों अथवा अपने अपने सम्प्रदायों के प्रमुख व्यक्तियों से संबंधित स्थानों को बार-बार देखने और प्रेरणा लेने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया। मूर्तिपूजा बढी और मूर्तियों की प्रतिष्ठा के लिये मन्दिर बने। तीर्थ यात्राएँ होने लगीं। ऐतरेय, ब्राह्मण और महाभारत से लेकर गांधी और विनोबा तक यात्राओं की परंपरा अक्षुण्ण रही है। आर्य संन्यासियों से लेकर राहुल सांकृत्यायन तक ने यात्राओं का महत्व बताया और बढ़ाया है। कुछ तीर्थ यज्ञा के महान केन्द्र भी हो गये हैं।

१. 'मध्यप्रदेश - ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक संज्ञाचलौक्य', पृ. १८८।

२. 'न्यू इंडिया', पृ. २८।

अब तो राजनीतिक और साहित्यिक तीर्थ और भवन भी बन गए हैं। सतत जा जागरूक कलाकार की चेतना इस सांस्कृतिक प्रभाव से अपने को मुक्त नहीं रख सकती। प्रेमचन्द की अनेक कहानियाँ, प्रताप का 'कंकाल' नामक उपन्यास, शिव सिंह 'सरोज' की 'आनंदध्वन' जीर्णक कविता, सोहनलाल द्विवेदी का 'सेवाग्राम' कविता संग्रह आदि अनेक सुलभ कृतियाँ इसी सांस्कृतिक मनोभूमि पर हैं। बुन्धावन का साहित्य में स्थान सूरदास के समय में था तो 'रत्नाकर' और गोपाल चरण सिंह के लगभग-समय में भी है। सांस्कृतिक जागरण और राष्ट्रीयता के प्रेरणा स्रोत के रूप में 'दिनकर' आदि ने अनेक स्थानों को अपनी कविताओं का विषय बनाया है।

हम पर गलत प्रभाव ऊपर ही ऊपर पड़ा

उपर्युक्त धर्मों और दर्शनों का हमारे ऊपर असाधारण रूप से प्रभाव पड़ा है। धार्मिकता हमारे जीवन और व्यक्तित्व की नस नस में है। प्रत्यक्ष रूप से दिखाई पड़ने वाली बाहरी जीवन की कुछ बातों (और इस क्षेत्र की महत्वपूर्ण बातों) के कारण कभी कभी यह भले ही जान पड़ता हो कि हमने धार्मिकता छोड़ दी है किन्तु वास्तव में ऐसा कुछ है नहीं। धार्मिकता का यह परिवर्तन केवल कुछ ही समय और क्षेत्र के लिये और यह भी बोद्धिकता के स्तर पर होता है। सांस्कृतिक दृष्टि से तो हम अपादमस्तक धार्मिकता में रंगे हैं। धूर्तदीप्रसाद मुकुर्जी ने लिखा है, 'निर्णय यह निकलता है कि हम धार्मिक हो जा सकते हैं और नहीं भी हो सकते किन्तु इसमें कोई भी संदेह नहीं कि संस्कृति हमारी संस्कृति पर धार्मिकता का चिप्पक लेबिल - लगा है।' यहाँ बिनिये बेईमानी भी भगवान का नाम लेकर करते हैं, विपन्न एवं असमर्थों पर संपन्न और समर्थ लोगों के द्वारा होने वाले अन्याय और अत्याचार भी धर्म और भगवान का नाम लेकर ही किये जा सकते हैं, भगवान का नाम लिखकर परीक्षाधी प्रश्नों के उत्तर लिखते हैं और बिना भगवान का नाम लिखे वे 'नकल' करने का भी साहस नहीं रखते,

पुकानदारी का प्रारंभ भगवान का नाम लेने और उनकी पूजा करने के बाद ही
 शुरू होता है। भगवान की कृपा से परीक्षा में उत्तमोत्तम देवी मिलती है, भगवान
 की कृपा से अच्छी नौकरियां मिल सकती हैं, लड़की के लिये अच्छा घर मिल सकता
 है, मुकदमे जीते जा सकते हैं, बीमारियां अच्छी की जा सकती हैं और क्रिकेट
 मैच जीता जा सकता है। धीरे-धीरे बर्मानेहिता है, "..... अधिकांश नामों पर
 धार्मिकता की छाप(है)..... अपने देश पर धार्मिकता, पिछेपतया पौरा-
 णिक और भक्ति-सम्प्रदायों की छाप इस बीस्वी सताब्दी में भी कम नहीं हुई
 है रामप्रसाद त्रिपाठी का आर. पी. त्रिपाठी हो जाना तो केवल
 इतना ही जतनाता है कि त्रिपाठी जी ने धौती, चादर, छाँडकर समय की
 आवश्यकता के अनुरूप कोट-पतलून पहिन लिया है।" अस्तु, धार्मिकता हमारे
 कण-कण में रमी है। जितना धार्मिक संस्कार अनेक अन्य देशों के लोग जीवन
 भर साधना करके प्राप्त करते हैं उतना संस्कार यहां के अखिवित व्यक्त को
 भी बहुधा पैतृक अधिकार के रूप में आपसे आप प्राप्त हो जाता है। आज के
 हिंदू की यह बड़ी विचित्र स्थिति है कि उसका मस्तिष्क भी सक्रिय है और
 उसके पुराने धार्मिक एवं दार्शनिक संस्कार भी सक्रिय। भगवान का नाम लेकर
 कार्य प्रारंभ करेगा। फिर भगवान को मुक्कर अजर-अमरवत् ईमानदारी-बैर्माननी
 आदि त्म उपाय लगाकर सकलता प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा। सकल होगा
 तो 'परसाय' बढायेगा, असकल होगा तो मान्य को घोंघ देकर कुछ धिनो में
 सब कुछ भूल जायगा। मौत और असकलता को पराजित करने की कुंजी हमारे
 लछाय से अभी गई नहीं है।

प्रगतिशील हिंदुत्व और उसका प्रभाव

आर्नेल्ड ट्वाइन्सी ने लिता है, 'मेरा विश्वास है कि पश्चिमी
 दृष्टिकोण - या आधुनिक दृष्टिकोण - बिना किसी विरोध के प्राचीन सत्यता
 और पर विजय प्राप्ति करने जा रहा है। संभवतः भारत में परम्परागत कट्टर

१. विचारधारा

हिन्दुत्व अन्तिम मोर्चा है।^१ आर्नल्ड साहब यहाँ बूक गये। अन्तिम मर्ने मोर्चा 'परम्परागत कट्टर हिन्दुत्व' नहीं लेगा, प्रगतिशील कुम्हार हिन्दुत्व लेगा। सुब तो जीने जीतेगा मगर आधुनिक पुष्टिकोण को हारने न देगा। समन्वय होगा। जैसे चांद अंधेरे में चमकता है वैसे हिंदुत्व प्रकृत्य की घड़ियाँ में निसरता एवं प्रदीप्त होता है। राष्ट्रवाद की भूमिका में हिंदुत्व ने जिस और सफाई^२ सफाई के साथ अपना रूप और प्रभाव बघला है वह दर्शनीय है। उसकी बन्धुता का रस किसी और होता है और गौली कहीं और लगती है और पुरा हो जाता है अदृश्यलक्ष्य। स्वामी दयानन्द प्रचलित हिंदू धर्म का सुधार करना चाहते थे, उपदेश दिया उन्होंने वेदों की और लौटने का और आर्यसमाज मंदिरों से स्वतंत्रता के प्रदीप्त प्रकार को पाने के लिये निकले लालों छलम। संभ्रान्त बंदन करने वाले कण्ठों से उद्भूत वेद-मन्त्रों की स्वर-लहरी छान्ति की अमरता का स्मृत घोष, वैतालिक का स्वर, लगी का कलकल निनाद बन गई। कह नहीं सकते कि स्वामी दयानन्द ने यह समझा देखा था या नहीं किन्तु विवेकानन्द का गैरिक बन्धु संमत्ता: राष्ट्रवाधियों के त्याग-बलिदान-फाँसी की ज्वाला की लाल लपटों को अपने अंदर छिपाये था। धर्म राष्ट्रीयता के अभिर्याण-रथ की ध्वजा बना। कारण सून सरल है। धर्म या दर्शन का लक्ष्य है आत्मकल्याण या आत्मस्वरूप की प्राप्ति और वह परतंत्रता में संभव नहीं। इस पुष्टि से राजनीतिक परतंत्रता सबसे भयानक है। इसीलिये कर्मयोगी महात्मा स्वतंत्रता की सेना का अधिनायक हो गया। इस प्रकार^३ और राजनीति एक ही सूत्र के दो छोर बन गये जाते हैं। पराधीन भारत की दो बीमारियाँ बड़ी भयानक थीं। उनमें से एक है हुआहुत और दूसरा फिरका-परस्ती। ये आज्ञाधी की प्राप्ति में बाधक थीं। ध्यान से देखें तो इनके लिये धर्म में भी कोई आवश्यक स्थान नहीं हो सकता। मोतीलाल नेहरू का यह कथन इस पुष्टि से बड़ा ही महत्वपूर्ण है, 'एक लम्बा हिंदू हुआहुत और फिरका-परस्ती को नहीं मानता।'

१. 'दिव पडिया मैगजीन', २९ अप्रैल, १९६२ वाला अंक।

२. 'मोतीलाल नेहरू बन्धुता-धर्म स्मृति ग्रंथ', पृ. २०३।

चूंकि धर्म और राजनीति दो पृथक् तत्व नहीं हैं इसलिये दोनों को उदय एक ही मानस के अन्दर और साथ ही साथ ही सकता है। अरविन्द का यह कथन इस्लाम सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है^१। मेरे तीन पागलपन हैं। पहला पागलपन यह है कि मेरा बृहदविश्वास है कि भगवान ने जो गुण, जो प्रतिभा, जो उच्च शिक्षा और विद्वता, जो धन दिया है, वह सब भगवान का है। जो कुछ मरण-पौका में लगता है और जो नितान्त आवश्यक है उसी को अपने लिये स्वयं करने का अधिकार है। उसके बाद जो कुछ बाकी रह जाता है उसे भगवान को लौटा देना उचित है। यदि मैं सब कुछ अपने लिये, सुख के लिये, विलास के लिये स्वयं करूं तो मैं चोर कहलाऊंगा.....^२ दूसरा पागलपन हाल में ही सवार हुआ है। पागलपन यह है कि चाहे जैसे ही भगवान का साक्षात् दर्शन प्राप्त करना ही होगा..... तीसरा पागलपन यह है कि अन्य लोग स्वदेश को जब पदार्थ कुछ मैदान, सैत, वन, पर्वत, नदी भर जानते हैं, मैं स्वदेश को मां जानता हूँ भक्ति करता हूँ, पूजा करता हूँ..... मैं जानता हूँ कि इस पतित जाति का उधार करने का बल मेरे अन्दर है.....।^३ इससे धर्म-दर्शन से प्रेरणा लेकर हमारे देशभक्त उपेक्षा की उपेक्षा कर सकें, कठिनाइयाँ मैं भी मुस्करा सकें, आत्म-विश्वासी और साहसी बन सकें, अकेले मैं भी धमकाये नहीं, धोखेबाजी और दगाबाजी के कारण वे परास्त नहीं हुए, किसी से डरे नहीं, बलिदानी कष्ट सहिष्णु असीम विश्वासी और अक्षुण्ण बृहद्विश्वासे बन सकें और उनकी साधना आत्म-समर्पण योगरूप पा सकी। अचीन्प्रनाथ सान्याल ने लिखा है, "भारत की छाती पर जो यह महान आन्दोलन हो चुका और हो रहा है, यह उन्हीं (भगवान) की इच्छा से हुआ और हो रहा है; हम लोगों का यही विश्वास है।"^४

आधुनिक हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि के रूप में

इस प्रकार के धर्म और दर्शन की पृष्ठभूमि में हमारी जनता का एक निश्चिन्त विशिष्ट मानस विनिर्मित हुआ और ऐसे विशिष्ट मानसवाली

१. "अधिति" अरविन्द विशेषांक, १९५१ ई.

२. "वन्द्यजीवन" भाग १, पृ. ३०।

जनता के कुछ सच्चे प्रतिनिधियों ने आधुनिक हिंदी साहित्य का निर्माण किया है। इस प्रकार इस आधुनिक धार्मिक और दार्शनिक दृष्टिकोण के समन्वित स्वरूप की नींव पर हमारा आधुनिक हिंदी साहित्य प्रणीत हुआ। इन साहित्यिकों में से अधिकांश असाधारण प्रतिभा से संपन्न नहीं थे, न उनके पास बहुत-सी सम्पत्ति या अतुल्य धन था, सुविधित वर्ग ने उनका उत्साहवर्धन भी नहीं किया और न वे कवि-मुनि थे। वे समाज के साधारण प्राणी थे। अधिकांश गरीब थे। फिर भी आतंकवादी क्रान्तिकारियों की भांति उन्होंने त्याग-बलिदान किया। मा^{और}ग्यपरिस्थितियों की, विपत्तियों और प्रतिकूलताओं की, अन्यायों और अत्याचारों की विषमताएं बर्दाश्त कीं। तूना और पत्नीने से, पत्नी और बच्चों की दलित आवाजों, उमंगों और इच्छाओं से, आहों और कराहों से, अपनी सीखों और झुंझलाहटों से एक गौरपूर्ण साहित्य का प्रयत्न किया। निराला ने सब कुछ "स्वाहा" कर दिया, पंत और महादेवी ने एकाकी जीवन बिताया, प्रेमचंद ने फाँके किये, रामचन्द्र शुक्ल टूटे इक्के पर बैठे, श्यामसुन्दर दास बीमारियाँसे घूबे, महावीर प्रसाद द्विवेदी ने दो-ढाई सौ की नौकरी छोड़कर तीस पर गुजारा किया और अन्त में आँस की ज्योति सौ बैठे, स्वास्थ्य सौ बैठे, बचकाने झालरापाटन के महाराज का राजकवि होना छोड़कर सहगल की डाँट फटकार और अनीतियाँ सहनीं। जैसे भारत देश माता हो गया था वैसे ही हिन्दी भी माता हो गई। सेवा की लगन थी, निर्माण का उत्साह था। यदि प्रश्न किया जाय कि इन सबको ऐसा असाधारण मनोबल कहाँ से मिला तो इसका एकमात्र उत्तर होगा हमारे धर्म से, धर्म से, हमारे सांस्कृतिक साहित्य से। उसने इनको मनोबल भी दिया और लिखने के लिये विषय भी दिये और हमारा आधुनिक हिंदी साहित्य भी आत्मा, विश्वास और जीवन के महत्वपूर्ण मुद्दों का साहित्य हो गया। उसका आधार चतुर्विध्याप्त विभिन्न वातावरण, तदनु-रूप कर्म, सनातन विश्वास, नव आवृत्तों के प्रति जागरूकता, मानवता का अक्षर-व्यवहार रूप और राष्ट्र प्रेम अधिक है। इनका मूल स्रोत है विभिन्न धर्मों और

दर्शनों का समन्वित स्वरूप। गुलाबराय ने लिखा है, "हमारे कवियों ने अधिकांश में भारतीय विचारधारा का आश्रय लिया है किन्तु वर्तमान भारत पूर्व और पश्चिम के विचारों का मिलन-विन्दु रहा है। योरोप के कुछ विचार तो भारतीय परम्परा से मेल खाते थे और उन्होंने उनको पुष्ट भी किया और कुछ स्वतन्त्र तैल और पानी की तरह अलग रहे। प्राचीन परम्पराओं में तो 'शांकरवेदांत' और वैष्णव भक्तिमूलक दैतता अपवा अदैतता और श्रद्धेतता का समन्वय रहा। वैष्णव सम्प्रदायों में बल्लभाचार्य और रामानुजाचार्य का प्रभाव अधिक रहा है। जैव आगम यद्यपि कम पढ़े गये तथापि काशी में उनका भी प्रभाव रहा। राष्ट्रीय भावना ने बौद्धधर्म को कुछ अधिक पोषण दिया। कुछ तो बौद्धधर्म का दुःखाद तत्कालीन परिस्थितियों से उत्पन्न निराशावाद से अधिक मेल खाता था और बौद्धधर्म के नाते चीन, जापान और एशियाई देशों से हमारा घनिष्ठ संबंध स्थापित हो जाने की सम्भावना हो जाती है। धार्मिक क्षेत्र में अदैतवाद की पुष्टि करने वालों में रामकृष्ण परमहंस, अरविन्द घोष, स्वामी विवेकानन्द, और रामतीर्थ मुख्य हैं। ब्रह्मसमाज ने भी उपनिषदों की अदैतविचारधारा को अग्रसर किया। स्वामी दयानन्द ने दैतवाद कमन्तसमर्थन किया, अदैतवाद का समर्थन किया है। उन्होंने ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों को स्वतन्त्र माना। इन वैज्ञानिक प्रमापों के अतिरिक्त हेगेल का आध्यात्मिक स्वातन्त्र्यवाद और मार्क्स का भौतिक द्वांदात्मक तर्कवाद हमारे चिन्तित युग-मन को आकर्षित करता रहा।^१ जम्शेद बहादुर सिंह का कथन है कि उन्नीसवीं सताब्दी में प्रचलित धर्म संबंधी बहुत से नये दृष्टिकोण मैथिलीकरण जी के समय तक हिंदू जनता का संस्कार में घुलमिल गये थे।..... हिंदुओं में चारों ओर 'वैदिक युग' और 'आर्यसंस्कृति' की गुंज सुनाई पड़ती थी। बहुत कुछ मनुस्मृति का सनातनी पक्ष भी लिये हुए एक प्रगतिशील समन्वय के रूप में

१. 'अध्ययन और आस्था', पृ. २५९-२६०।

२. 'बौद्धवाद', पृ. १६१।

"भारतभारती" उसी की प्रतिबिम्बिनी है।^१ कमलाकान्त पाठक ने "भयिलीखरण
 - व्यक्ति और काव्य" में लिखा है, "गुप्त जी विधिष्ठादेतवादी हैं.....
 पर यह भी सत्य है कि उनके काव्य का वर्ण्य-विषय जीवन की कर्मयता है,
 उत्थान वैष्ठा है, व्यक्ति और वैराग्य की निवृत्तिमूलक भावना नहीं^२। साहित्यिक
 दृष्टि से वे उदार वैष्णव भक्त हैं। रामानुज का विधिष्ठादेत उनमें है। वे जीव
 और ब्रह्म की स्थिति को कुछ अंशों में निश्चय ही पृथक् मानते हैं। राम ब्रह्म है;
 सीता माया। परमात्मा लीलाधाम है। भक्त वत्सल है। दासोऽहं ही सोऽहं
 है। उनपर भारतीय चिन्तन, रामकृष्ण और विवेकानन्द की सांस्कृतिक जागृति
 और उनके मान्यतावादी मूल्यों, धार्मिक और सांस्कृतिक एकता की भावना,
 तिलक की राष्ट्रीयता, मिल और स्पेन्सर की लोकता और सामाजिक समता
 की भावनाएं, अरविन्द घोष के अध्यात्मवादमूलक क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद, विज्ञान-
 मयी सम्प्रज्ञा के बुद्धिवाद, मान्यतावादी भावों नारी के प्रति प्राच्य उवाच
 भाव, काम्पे के उपयोगितावाद, टालस्टाय के मानवतावाद, वैष्णववाद की
 "सर्वभूतहिते रताः" की भावना, बुद्ध की कल्याण-भेदी, और रामायण तथा महा-
 भारत आदि का प्रभाव देखा जा सकता है। इसी प्रकार "हरिऔध" में भारतीय
 धार्मिक विश्वासों और दार्शनिक मान्यताओं के सुन्दर स्वरूप मिलते हैं। ब्रह्म की
 एकता एवं व्यापकता (अद्वैतवाद या अमेदवाद), ब्रह्म का विश्वरूप होना, जीव
 की कर्मानुसार गति-प्राप्ति, संसार की परिवर्तनशीलता, भैतिक व्यवस्था, अज्ञान
 या अधिव्यथा को बंधन का कारण समझना, वेद के साधन के रूप में निष्काम कर्म,
 लोकसेवा, साहित्यिक जीवन, उच्च विचार, आत्मोत्सर्ग विश्वबंधुत्व परीक्षार,
 निष्कामभक्ति, निःस्वार्थ सेवा, कर्तव्यपरायणता आत्मसाक्षात्कार को या लोक-
 हित को जीवन के चरम लक्ष्य के रूप में मानना आदि मिलता है। तन्मयता के
 कारण राधा का प्रेम विश्वप्रेम में बदल जाता है। इनमें से कुछ तो बुद्ध भारतीय
 दर्शन और चिन्तन की बातें हैं, जैसे जीव की कर्मानुसार गति, आदि और कुछ

अभिप्राय से मैं अनेक प्रकार के ग्रंथों - उपनिषद्, गीता, रामायण, रामकृष्णवचन, चिदम्बरम्, रामतीर्थ, पातञ्जलि योगवासिष्ठ, रत्निक, टालस्टाय का लाइल, थोरो, इयरसन आदि अनेक विचारकों का गंभीर ध्यानपूर्वक पारायण करने लगा^१। मुझे स्मरण है, जब दर्शन ग्रंथों, टालस्टाय की पापपुण्य की धारणाओं, तथा उंकर माध्य, मर्तुहरि आदि के जीवन-निषेध मरे निर्मम प्रभावों से मेरा हृदय हिमखिलासंड की तरह जमकर कठोर विषम, तथा रसबुन्ध हो गया था और मुझे उन्मिद्र रोग रहने लगा था। तब बाइबिल की सृज, प्रेम-सिक्त, जीवन मधुर अंतर्दृष्टि मरी सुक्तियों से मुझे बड़ी सान्त्वना तथा शान्ति मिलती थी। किन्तु प्रथम महायुद्ध के बाद जो पश्चिमी आदर्शवादी विचारधारा को आघात लगा तथा रूसी क्रान्ति के फलस्वरूप जिस नवीन सामाजिक व्यवस्था की धारणा को और धीरे धीरे ध्यान आकर्षित होने लगा और साथ ही वैज्ञानिक युग ने हमारे मध्ययुगीन निषेधात्मक दृष्टिकोण के विरोध में जिस नवीन मावात्मक दर्शन (फिलसफी आफ पाजिटिविज्म) को जन्म दिया उस सत्ता की सम्मिलित प्रतिक्रिया स्वरूप विश्व जीवन तथा मानव जीवन के प्रति मेरी आस्था तथा आशा बढ़ती गई^२ मेरे कवि-हृदय को नव-युग मंगल के लिये एक स्वर्णिमपूर्ण रससिद्ध चैतन्य की सृज थी^३। कहने को तो यह एक व्यक्ति की कहानी है किन्तु वस्तुतः यह सम्पूर्ण आधुनिक हिंदी साहित्य की धार्मिक दार्शनिक पुच्छभूमि की सही शांकी प्रस्तुत करती है। पंत जी सारे सौर मंडल को एक ही पितृव्यव्यक्ति का प्रकाश और प्रसार मानते हैं। फिर भी कभी कभी इनमें जटिलता की ओर झुकाव अधिक दिखाई पड़ता है। उनके अनुसार मूल सत्य शुद्ध चैतन्य है। वे स्थिर सत्ता और उसकी चेतनाशक्ति अर्थात् शिव और शक्ति को मानते हैं। वे अवल से गति का उदय मानते हैं। उनके अनुसार संपूर्ण

१. 'साठ वर्ष - एक रेसॉर्से', पृ. ३९

२. वही, पृ. ३९

३. वही, पृ. ४८-४९

४. वही, पृ. ५२।

सृष्टि या परिवर्तन आत्माभिरुचि के अतिरिक्त और कुछ नहीं। अरविन्द के समान वे भी मानते हैं कि पदार्थ से प्राण, प्राण से मन, मन से अति मन, और वहाँ से सच्चिदानन्द की प्राप्ति जगत के प्राण का आरोहण है और इसके विपरीत गति अवरोहण है। उनके अन्तर मानव और प्रकृति का तादात्म्य भी मिलता है। माया सच्चिदानन्द की सृजनात्मिका शक्ति है। जग को वे अनित्य मानते हैं ("अनित्य जग" कविता)। "एकतारा" और "नौका विहार" पर उपनिषदों के अध्ययन का प्रभाव देखा जा सकता है। "एकोऽहं बहु स्यामः" का संकेत है। उनमें कोरे अध्यात्मवाद को भी संछेन है और कोरे मौलिकवाद का भी। वहाँ अध्यात्मवाद और श्रुतवाद में, गांधी और मार्क्स में समन्वय है। 'गुंजन' में आध्यात्मिकता का निस्तार और परिमार्जन है। 'पल्लव' में दार्शनिक छद्माने (भारतीय दार्शनिक धारणाओं संबंधी) हैं। 'वीणा' में प्रकृति के प्रति और आदर्श के प्रति मोह है। ~~अनुत्पन्न होने के कारण उनके वर्णन से उनका चरित्र बनने लगता है~~ महादेवीयमा ने लिखा और स्वीकार किया है कि बचपन में ही भगवान बुद्ध के प्रति एक भक्तिमय अनुराग होने के कारण उनके वर्णन से उनका चरित्र ही गया था। उनके दुःस्वाद में वेदान्त अद्वैतवाद और स्वात्मवाद एवं बौद्ध वर्णन का अद्भुत समन्वय है। इतने पर भी वह बौद्धिक-स्तर पर ही है। निराला को दार्शनिक चिन्तन पद्धति पर विवेकानंद का प्रभाव है। वे संकर के अद्वैतवाद के समर्थक होकर भी व्यावहारिक दृष्टि से जगत का मिथ्यात्व नहीं स्वीकार करते। प्रसाद में भारतीय वर्णन का स्वर अधिक सुतरित है। रामकुमार वर्मा के काव्य का भारतीय स्वरूप उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार देखा जा सकता है, "आलिंगन की उज्जता और गुंजन की बाधकता भरे रीति-कालीन साहित्य की रंगमाला में मेरा ^{अंतः} कर्म तपस्वी की भाँति बैठा रहा... अपने अंतःकरण का सज्ज बत्न धारक मेरा काव्य ज्योति का अनाह्वान करता रहा..... मैं जब कभी आत्मविश्लेष करने बैठता हूँ तो खो जाता होता है कि सम्भवतः इसी पवित्र अनुप्राति में मेरे काव्य में रहस्यवाद की प्रेरणाएं जाग

ठठी हौं नी लेकिन अपने पवित्र कर्णों - संभवतः कबीर के काव्य के प्रभावों में धीरे धीरे अनजाने ही वार्धनिक हो चला था ।^१

वस्तुतः जिन प्रभावों ने गांधीवाद को जन्म दिया उन्होंने ने छायावाद को भी जन्म दिया है। इनका मूल दर्शन एक ही है - यानी भारतीय दर्शन का सर्वात्मवाद। दिनकर ने लिखा है, "राममोहन राय, विवेकानन्द, तिलक, और गांधी के समान हम छायावादी कवियों में भी वेद और उपनिषद के कुछ सनातन सत्त्यों को पूर्णरूप से जीवित पाते हैं, यद्यपि उनकी अभिव्यक्ति के लिये ये कवि पाश्चात्य शैलियों की ओर बड़े ही ममत्त्व से देख रहे थे।^२ पन्त ने भी छायावाद को भारतीय जागरण की चेतना के सर्वात्ममूलक कबीर समारंभ से उत्पन्न एक विशिष्ट भावात्मक दृष्टिकोण की अभिव्यंजना के रूप में ही स्मृत माना है।^३ छायावाद में संसार मन्वान का घिराट रूप है। उनमें हम में पूर्ण एकता है। हमइस स्तीम में उस अस्तीम को ही देखते हैं। आज के साहित्य की जो प्रवृत्ति की ओर रुचि है उसका कारण है अंगरेजों की भौतिक-तात्प्रधान विचारधारा का संघर्ष। नहीं तो, महादेवी के विचारों के अनुसार "जासक्य के प्रथम चरण में हमारी राष्ट्रीयता ने अपनी व्यापकता के लिये जिस अध्यात्म का आह्वान किया काव्य ने सौन्दर्य काया में उसी की प्राण-प्रतिष्ठा कर दी।^४ नन्दबुलारे बाजपेयी का भी विचार है कि छायावादी कवियों ने अपने जीवन दर्शन के निर्माण में भारतीय दर्शन और जीवन की समृद्ध परम्परा का ही उपयोग किया है।^५ इसी प्रकार उन्होंने लिखा है, 'छायावाद भारतीय आध्यात्मिकता की नवीन परिस्थिति के अनुरूप स्थापना करता है आधुनिक छायावादीकाव्य किसी क्रान्तिकारी अध्यात्म-पद्धति को लेकर नहीं चलता।^६

१. 'अनुशीलन', पृ. १९३-१९५।

२. 'काव्य की भूमिका', पृ. ७४।

३. 'विदेवरा', भूमिका।

४. 'साहित्यकार की आस्था', पृ. ४७।

(५) 'हिंदी अनुशीलन-धीरे-धीरे-द्रवमा' विश्लेषक, पृ. ५२७।

(६) 'आधुनिक साहित्य', पृ. ३१९-३२०।

छायावाद स्वयं भी तो इन्हीं प्रभावों के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आया। उपनिषदों के ब्रह्म, अतीन्द्रिय जीवन, अद्वैतभावना, देवागम की समरक्षा और आनन्द, भाष में लिपटी हुई बौद्धिक कठना, आध्यात्मिक सर्वप्रथम, सर्वात्मवाद, अभेददृष्टि, अध्यात्मवाद आदि की संयोजित साहित्यिक अभिव्यक्तियाँ ही छायावाद हैं। छायावाद का सांस्कृतिक पक्ष अत्यंत महत्वपूर्ण है। छायावाद तो प्रकृति का चेतन आधार लेकर चला ही है। पदुमलाल पुन्नालाल बाल्जी ने लिखा है, "आधुनिक युग में सत्य की परीक्षा आरम्भ होने पर लोग अपने अन्तर्जगत की यथार्थता की जाँच करने के लिये उद्यत हुए तब उन्होंने वहाँ एक अतीन्द्रिय जगत का आभास पाया.... इस रहस्य-मय जीवन को प्रकट करने के लिये हिंदी में वस्तुवाद के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया आरंभ हुई वह कवियों की रचनाओं में छायावाद के नाम से प्रकट हुई।" चतुरसेन बाल्जी ने लिखा है, "उपनिषदों के अधिष्ठित अद्वैत ब्रह्म तत्त्व की ^{इस} धृष्टि में चित्रमयी भाषा में व्यक्तिकल्पना की गई है। इसी परम्परा में विविध आध्यात्मिक अभिव्यक्तियाँ छायावाद के रूप में अवतरित की गई।" निश्चित रूप से किन्तु अपरोक्षतः यह आधुनिक काल के धर्म और दर्शन का प्रभाव है। प्रसाद और पंत आदि में सर्वात्मवाद है। छायावाद को आध्यात्मिक न मानते हुए भी नगेन्द्र ने छायावाद पर पड़े हुए प्रभावों का विश्लेषण इस रूप में किया है, "हां, इसमें सन्देह नहीं कि छायावाद के कवियों की चेतना में नैतिक और आध्यात्मिक प्रभावों के कारण एक विशेष परिष्कार आरम्भ से ही था.... आरंभ से ही उन्होंने सूक्ष्म आंतरिक मूल्यों को ही महत्व दिया था। और फिर बाद में तो प्रसाद तथा महादेवी ने भारतीय अध्यात्म दर्शन के सहारे और पंत ने देव-विदेव के विभिन्न दर्शनों के आधार पर अपनी चेतना को और भी परिखुब्ध एवं संस्कृत कर लिया।" वे छायावाद को एक बौद्धिक युग की दृष्टि मानते हैं। प्रगतिवाद अपने वर्तमान रूप में यूरोपीय

१. 'मेरी अपनी कथा', पृ. ११३

२. 'हिन्दी साहित्य का परिचय' पृ. १५

३. "आधुनिक हिंदी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ", पृ. १३

४. वही, पृ. १४।

धर्म-दर्शन से उद्भूत हुआ है। भारत में आकर भी उसका रूप अभी मार्क्सवादी दर्शन का है। प्राचीन विचारों के ही परिणामस्वरूप व्यक्ति का महत्व कम और सत्ता समाजका अधिक हो गया है। इधर पश्चिम के व्यक्तिवाद के परिणामस्वरूप वैयक्तिक जीवन की अभिव्यक्तियों की भी प्रधानता हुई। प्रगतिवादियों के लिये भौतिक वस्तुव्यक्तित्वानुसृत्य, भौतिक वस्तु की पुष्टि ने धर्म का और स्वाभाविकता ने सुन्दर का रूप धारण कर लिया है। नोएन्ड ने लिखा है, 'फ्रायड ने दमन और गोपन का पर्दा काटकर उसकी तह में नै छिपी हुई इन्साजों का प्रदर्शन किया। अतएव प्रगतिवादी स्वस्थ मानव प्रवृत्तियों को जिनमें मुख्य बुद्धि और काम है, प्रकृत रूप में व्यक्त करने से नहीं ध्वराता।' वस्तु, इन्द्रात्मक भौतिकवाद, साम्यवाद, फ्रायडका डार्विन, मार्क्स आदि के तत्त्वों से प्रगतिवाद बना। भौतिकवाद मुक्त। मार्क्स दर्शन से ही प्रभावित है। नोएन्ड ने प्रयोगवाद की दुर्लभता के जो कारण बताये हैं जैसे भावतत्त्व और काठ्यानुभूति के बीच बुद्धिगत संबंध, साधारणीकरण का त्याग, उपचेतन मन के अनुभव लण्डों के यथावत चित्रण का आग्रह, काठ्य के उपकरणों एवं भाषा का एकांत वैयक्तिक और अनर्गल प्रयोग और (इन सबका मूल कारण) नवीनता का सर्वांगी मोह,^२ ये सब पश्चात्य दार्शनिक स्थानों और धारणाओं का परिणाम है।

बाद के कवियों पर नठ्य फ्रान्तिवाद का प्रभाव है। उसके सबसे महत्वपूर्ण कवि और कथाकार जेय की सांस्कृतिक चेतना का निर्माण नठ्यो-फ्रान्तिवादी दर्शन पर है। कथा साहित्य में जो आदर्शवाद है वह धर्म का ही प्रभाव है। सब बात तो यह है कि हिंदी साहित्य में मध्ययुगीन धर्म या धर्म का मध्य युगीन - कर्मकाण्डों वाला - स्वरूप नहीं मिलता। गुप्त जी के राम

१. 'आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ', पृ. १०१।

२. 'विजल भारत', अप्रैल, १९५५ ई.

पृथ्वी को स्वर्ग बनाने के लिये ही जाते हैं। हिंदी कविता का रहस्यवाद
 साम्प्रदायिक रहस्यवाद नहीं है। कहानियाँ और नाटकों तथा उपन्यासों
 में प्राचीन, आध्यात्मिक, चमत्कारप्रधान धर्म नहीं चित्रित होता। अवतारों
 के चमत्कारों की बौद्धिक व्यक्त्या सद्गुरु वरुण अवस्थी के एकांकियों और सैठ
 गौरीचन्द दास^{के} 'कर्तव्य' में अवश्य मिलता है। यशपाल और राहुल सांकृत्यायन
 तथा पहाड़ी आदि पर मार्क्सवाद, यथा र्कवाद एवं मौलिकवाद का प्रभाव अस-
 न्विद्य है। एक मात्र प्रेमचन्द ही ऐसे कथाकार हैं जिन्होंने दोनों प्रभावों
 को पूर्णरूपेण आत्मसात कर लिया था। लक्ष्मी नारायण मिश्र का नाट्य साहित्य
 युरोपीय बुद्धिवाद की पुच्छभूमि पर है। इस प्रकार हमारा सम्पूर्ण आधुनिक
 हिंदी साहित्य युरोपीय और भारतीय धर्म एवं दर्शनों की मिली जुली पुच्छ-
 भूमि पर निर्मित हुआ है जिसका लक्ष्य^{है} नवीन भारत का उत्थान एवं उसकी
 गौरवमयी परम्परा को अक्षुण्ण रखना।

अध्याय-६

नैतिक और जातिगत उत्थान सम्बन्धी गान्धीय

(पृष्ठ १२१ से १२२ तक)

नैतिक की आधार शिला -- नैतिकता और संस्कृति -- हमारी नैतिकता की जड़ें
स्व आपत्तिशाली नैतिकता -- नैतिकता की डावांढोल स्थिति -- तानने वाली
जोरा -- संमेलन के प्रयत्न और स्वरूप -- अपनी प्राचीन सांस्कृतिक सम्पत्ति से
सहायता -- गान्धी के प्रयत्न -- कार्यक्षमता का योग -- ब्रह्मविद्या समाज का योग --
प्राचीन तत्वां और नवीन व्याख्याओं का योग -- रामतीर्थ का योग -- विवेकानन्द
का योग -- गान्धी की धन -- हम पर उनका प्रभाव ।

नीति की आधारशिला

इस अध्याय को एक प्रकार से दार्शनिक और धार्मिक पुच्छ-भूमि का पूरक ही समझना चाहिए। बात यह है कि हमारे भारत में दर्शन, धर्म, नीति और आत्मोत्थान परस्पर एक दूसरे से इस प्रकार जुड़े-मिले हैं कि प्रत्यक्ष जीवन में उनका एक दूसरे से सर्वथा निरपेक्ष एवं स्वतंत्र अस्तित्व संभव नहीं है। समग्रता में ही इनकी सार्थकता एवं उपयोगिता हवयंगम की जा सकती है। दार्शनिक विवेचन "पदार्थों" अर्थात् अस्तित्व के विभिन्न तत्वों के विभिन्न पक्षों एवं रूपों का एवं उनके सापेक्षिक संबंधों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म अध्ययन एवं विश्लेषण करके उन्हें स्पष्टतः गोचर करके धर्म का एक स्वरूप निश्चित करता है। हम यह जान जाते हैं कि वह कौन सा तत्व है जो हमें धारण किये है। उसी को "धारण" करके अर्थात् उसी के अनुरूप जीवन बिताकर हम धर्म की व्यावहारिक अथवा जीवन-संबंधी रूपरेखा निश्चित करते हैं। जीवन के विभिन्न रूपों एवं उसके विभिन्न क्रिया-कलापों को इस रूप में अग्रसर करना या ले चलना कि वह धर्म के मूल रूप या तत्व के विपरीत न पड़ जाय, उसको काटने, उस पर आघात करने, न लग जाय, नीति है। इस प्रकार नीति धर्म से संबंधित ही नहीं और धर्म संबंधित है दर्शन से। रही आत्मा की बात तो वह एक और दर्शन की चीज है और इस प्रकार धर्म की भी चीज है और दूसरी ओर उसका संबंध नीति से है। भारतीय धर्म-दर्शन के अनुसार आत्मा परमात्मा का ही एक अंग है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जिन गुणों का आरोप परमात्मा में है वे गुण, यदि पूर्ण रूप में नहीं तो अंशरूप में, जीवने अवश्य हों अर्थात् आत्मा में प्रत्यक्ष हों। प्रश्न यह है कि आत्मा में वे गुण हैं या नहीं, इसका पता कैसे लगे। तो, यदि सूक्ष्म, अमूर्त, निराकार आत्मा में वे गुण होंगे तो इसका पता उस आत्म-प्रकाश से प्रदीप्त-प्रोज्ज्वल बुद्धि द्वारा प्रेरित और इन्द्रियों द्वारा सम्पादित कार्य-कलाप से चल सकेगा।

सूक्ष्म की अक्रियवृत्ति सदैव स्थूल होती है। इस प्रकार हमारे कार्यों और विचारों से निश्चित होने वाला रूप - गुण और पुष्टिकोण - ही हमारी आत्मा का स्वरूप है। हमारी आत्मा का स्वरूप वह है जो हमारे पूर्णरूप परम आत्मा का है। परम आत्मा का गुण या स्वरूप क्या है ? वह सत् रूप है, चित् रूप है और आनन्द रूप है। गांधी जी कहते थे कि परमात्मा सत्य है इसके बजाय यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि सत्य ही परमात्मा है। इसलिये आत्मिक उत्थान का रूप हुआ सत् रूप या सत्य रूप होना अर्थात् असत् से बचना। यही नीति की भी आधारशिला है। परमात्मा रचनात्मक या सर्वात्मक है। हमारे यहां विनाश या मृत्यु तत्त्व नहीं है। अक्षमता, अयोग्यता, एवं अशक्ति के बमता, योग्यता एवं उक्ति में परिवर्तन की एवं जबर प्राचीन के सस्की नवीन में परिवर्तन की प्रथम प्रक्रिया ही मृत्यु है। मृत्यु का सत् जन्म की पुष्टभूमि में है। तो, परमात्मा पूर्णरूपेण विधायक हुआ, रचने वाला हुआ और इसीलिये जीव को भी रचनात्मक होना चाहिए। मतलब यह कि परम आत्मा हिंसावृत्ति का नहीं है और इसलिये जिसकी आत्मा का उत्थान हो चुका है वह पूर्ण अहिंसक हो होगा और कुछ ही ही नहीं सकता। परमात्मा अद्वैत है, अमेद है तो आत्मा का वास्तविक रूप अमेद वाला हुआ। वह अपने में सबको और सब में अपने को देखेगा। जब ऐसा होगा तो किसी से भी बैर, हिंसा, प्रतिस्पर्धा, घृणा की ही नहीं जा सकती। तब तो यदि ^{कोई} अयुध एवं अपांछित करता है तो दोष आवरण का हुआ, मूल तत्त्व का नहीं, और इसलिये बैर अपराधी से नहीं, अपराध से बनेगा। इससे यह निकलता है कि वही आत्मा सरीदार में है और इसीलिये डांढी मारना, बेइमानी करना, परमात्मा के साथ किया गया अपराध हुआ। परम आत्मा सूक्ष्म तत्त्व है तो आत्मा सूक्ष्म तत्त्व हुआ। स्थूल सब का सब तत्त्व हीन है। लक्ष्य है आत्मा को इतना स्वच्छ दर्पण बना लेना कि परमात्मा उसमें सही और स्पष्टतम रूप से प्रतिबिम्बित हो सके। जब वास्तविक

1. अखिल भारतीय आकाशवाणी से बुधवार को प्रसारित गांधी सन्निधौ में

यह है तो फिर तमाम बाल-बाजियां और वेईमानियां करके उपकुलपतित्व प्राचार्यत्व, मंत्रिपद, राज्यपालत्व आदि ले लेने से क्या बनेगा! अस्तु, इस एक बात की अनुमति कर लेने से जो होता है वह है आत्मिक उत्थान और जो निकलती है वह नीति। इस प्रकार नीति का उत्थान आत्मा के उत्थान से मुक्तः पृथक् नहीं सिद्ध होता।

नैतिकता और संस्कृति

स्पष्ट हुआ कि नीति-निर्माण और आत्मस्वरूप की कल्पना में अपने धर्म और अपनी संस्कृति से बड़ी सहायता मिलती है बल्कि यों कहें कि ये ही एकमात्र साधन हैं। भीतर है तो आत्मा है, बाहर से संबंधित है तो नीति है। अपने समाज की प्रकृति और प्रगति के अनुसार इनमें परिवर्धन एवं परिवर्तन हुआ करता है। दोनों जब हाथ में हाथ डालकर चलते हैं, एक दूसरे को साथ लेकर एवं एक दूसरे का साथ देकर चलते हैं तो समतोल सन्तुलन बना रहता है और विकास उत्थान तथा कल्याण होता है। हमारे समाज के अन्दर कोई नई बात पैदा हुई हमने अपने को और अपना को उसके अनुसार बदला, नई नीति बनी और यह क्रम चला। यह विकास का क्रम है। इससे छटके नहीं लगते। नीचे की चीज ऊपर या ऊपर की चीज नीचे ^{नहीं} होती जाती। नैतिक सन्तुलन बना रहता है। आत्मा फतनो-मुसी नहीं होती। जब कोई चीज ऊपर से थोड़ी जाती है बलात् लाबी जाती है, तो नैतिक प्रलय उत्पन्न हो जाती है। आत्म-विस्मरण हो जाता है। दूसरी बात यह है कि सवारियाँ का मोड़ समकोण नहीं जानता। गति की दिशा का परिवर्तन आधा तिहाई घुमा बनाकर ही होता है। तेज चलती हुई साइकिल को एक बाइकी यदि मोड़ा जाय तो पहिया चकरा जाता है। यदि किसी जाति या समाज की गति - प्रकृति - को रात-भर में बदलने की कोशिश की जाती है तो उस समाज या जाति का सन्तुलन बिगड़ जाता है। एक विविध उलटन भरी परिस्थिति पैदा हो जाती है। आदमी बाह्य परिस्थितियों से

इतना उलझ जाता है कि भीतर का आत्मा विस्मृत-उपेक्षित-मृतप्राय हो जाता है। नई परिस्थिति तत्काल ही नई आस्था एवं नई नीति का निर्माण कर नहीं पाती और न वह समाज में सबको स्वीकार्य होती है। नई परिस्थिति जो माँग शान्ति के अतुल्य या अतुकूल होती नहीं। अंधनी सुल और सुविधा चाहता ही है और नई परिस्थिति में वह सब जैसे ही देदे दंग से मिलता है। यह देदा दंग सनीति और अधर्म का बला हुआ करता है। अंधनी मान्यताओं के उल्लंघन करता है। इन सबका परिणाम होता है नैतिकता की हानि, अनुनाम भय, जड़ दृष्टि, स्तब्ध मनोवृत्ति एवं आत्मा का पतन। एक बार जब यह चल पड़ता है तो इसे रोककर अभीष्टित चारों ओर के अतुकूल जगत्वा की सर्जना के लिये अनेक आन्दोलन चलाने पड़ते हैं एवं अनेक महत्त्वपूर्ण की बलि देनी पड़ती है। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में भारत में यही हुआ।

हमारी नैतिकता की जड़ें एवं आधुनिकता की नैतिकता

सांस्कृतिक दृष्टि से देखने पर हमारे वैदिक और पुराणिक पतन की जड़ें बहुत गहराई में, कई-कई शताब्दियों पीछे की परिस्थितियों में हैं। पीछे कहा जा चुका है कि हिन्दुत्व का वर्तमान स्वरूप मुख्यतः तत्काल निर्मित हो चुका था। उसके पश्चात् हिन्दुत्व में कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं हुआ। बात यह है कि धर्म और दर्शन में क्रान्तिकारी परिवर्तन शताब्दियों के बाद होते हैं और सजग एवं सशक्त तथा प्रगतिशील अध्वरुद्धों जातीयों द्वारा होते हैं। पौंचवीं शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी के बीच भारत का आध्यात्मिक पतन हो चला था। कोई भयानक प्रौद्योगिक-तत्काल प्रभाव नहीं। सुब-चैन के दिन थे। हमारी प्राचीन शास्त्रों की व्याख्याओं और उल्लंघनों में उलझ गये जनता का मन वैराग्य हो गया। साधु धर्म को भूल गये। अनेक तंत्रों और रहस्यमयी साधनाओं का जन्म हुआ। शराब, लो-संभोग, मृदला, अंध विश्वास चारों ओर फैल गये। सन्यासी और वैरागी बड़े सुख और भोग पाने लगे सामान्य गृहस्थ जिसकी

(शेष जगले पृष्ठ पर)

कल्पना या नहीं कर सकता था। तभी इस्लाम का आक्रमण हुआ। इसके अन्दर विषय का तेज था। अनेक देशों को अपने अन्दर समा लेने का अहंकार था। भौतिक शक्ति भी थी। आध्यात्मिक दृष्टि से जर्जर हिन्दुत्व इस्लाम के सांस्कृतिक आक्रमणों का उत्तर प्रत्याकस्मय से दे नहीं सकता था। दिनकर ने लिखा है, "हिन्दुत्व पराजित प्रजा का धर्मशा और इस्लाम विजेताओं का। पश्चिम यह कह रहा कि अपनी रक्षा के लिये हिन्दुत्व, घाँघे की तरह, स्किड कर ~~अ~~ अपनी ही सौली में छिपने लगा। जात-पात के नियम उसने और भी कड़े बना लिये, लड़कियों का बचपन में ब्याह आम बात हो गई एवं हुजाहत की भावना पहले से भी भयंकर हो गई।" यह जकडबन्दी है - रेजिमेन्टेशन। यह आध्यात्मिक पतन है। यह आत्म-विस्मरण है। हिन्दुत्व एक आपद्धम हो गया। उसकी स्वाभाविकता नष्ट हो गई। हिन्दू शाखाधारी तक संश्लिष्ट हो गया। कर्मकांडमात्र को ही हमने धर्म समझ लिया। हमें जड़ता आ गई। इससे आत्मिक उत्थान नहीं होता।

नैतिकता की डाँवाडोल स्थिति

जब आत्मबल नहीं रह गया तो नैतिकता घुटता भी समाप्त हो गई। धर्म जीवन का प्रेरणा स्रोत नहीं रह गया। झूठ, विश्वासघात, बेईमानी, आदि अनैतिकताएं सभी जगह पाई जाने लगीं। यह सामान्य जनता की बात है- हुलसी, कबीर, मीरा, राधा प्रताप, शिवा जी आदि की नहीं। तभी आ गया अंगरेजी राज्य और अंगरेजी सभ्यता। अंगरेजी मुहावरे के अनुसार हम कूड़ाई से निकल कर आग में जा गिरे। यह नया स्तरा पहले से अधिक भयानक था और इधर हम अभी संभल भी नहीं पाये थे। हम पर जो नया आक्रमण था वह अधिक सूक्ष्म, गहराई वाला और व्यापक था। यह स्तरा जीवन की धारा की गति को सहसा एक दूसरी ओर मोड़ देने के कारण अधिक भयानक ~~हो गया~~

होगया। अंगरेज शासक या और इसलिये उसके पास यह अधिकार भी था कि वह हमारे जीवन को नये रास्ते पर चलाने का कानून बना सके और इतनी शक्ति भी थी कि लोगों को उस रास्ते पर चलने के लिये मजबूर भी कर सके। उसने एक रास्ता और पैता भी निकाल दिया कि उसे इस रास्ते पर चलाने के लिये विशेष प्रयास न करना पड़े बल्कि हम स्वयं ही उस रास्ते पर चल पड़ें। यह रास्ता था अंगरेजी शिक्षा का और उसके एक विशिष्ट दृष्टिकोण का। अंगरेजी रहन-सहन और उसकी भाषा विजेता का रहन-सहन और विजेता की भाषा थी। विजेता शासक की भाषा और उसके रहन-सहन का अनुकरण सभी जनता तेजी से करने लगती है। इस पर जब पद, प्रतिष्ठा और पैसे का लोभ भी हो तो कहना ही क्या। दुजली में कोढ़ ! और अंगरेजों की यह नीति इज्जतनी सफल हुई कि हम अपने रहन-सहन और अपनी भाषा का अनादर, अपमान और उसकी क्षमता पर अविश्वास आजावी पाने के सतरह वर्षों बाद भी करते हैं। यह आत्म-हीनता है और बड़े बड़े पंडितों, विद्वानों, संस्कृत के आचार्यों एवं देशभक्तों * तक फैली है। अंगरेजों के आने और ये अधिकार छिनवाने के पहले हम मध्ययुगीन थे - मन और तन दोनों से। अंगरेजों ने हम पर सख्खित आधुनिकता ला दी। इतिहासकारों ने मुक्तकण्ठ से और प्रशंसात्मक स्वर में इसे उनके द्वारा किया गया सुधार कहा है। यह बात विचारशील व्यक्ति की समझ में नहीं आ सकती। अंगरेजों ने एक रात में ही हमें आधुनिक बनाना चाहा। परिणाम यह हुआ कि न हम आधुनिक ही हो पाये और न मध्ययुगीन ही रह गये। तन आधुनिक बिसने लगा और ^{मन} तहा हुआ मध्ययुगीन ही रह गया। यह स्थिति बीसवीं सदी के इस उत्तर-राज्य में भी है। हम विभक्त हो गये, भक्त किसी के न हो सके। यह स्थिति आत्मिक और नैतिक उत्थान की भूमिका नहीं बन सकती। इस आधुनिकीकरण में हमें जिस ढंग से धुन कर रस दिया गया, वह किसी भी जाति की अत्यंत कठम कहानी हो सकती है। हम पर पश्चिमी शासन पद्धति ला दी गई। हम पर पश्चिमी न्याय पद्धति ला दी गई। भारतीय जाड़ी के पहिये में पश्चिमी हवा

मरी गई। हम आदर शानी, तपस्वी और सच्चरित्र का करते थे किन्तु हमें
 शासक और अधिकारी का आदर - सत्कार करना पड़ा। हमारे लिये विद्या
 का रूप या ज्ञान किन्तु हमें विद्या का रूप सर्टीफिकेट में दिखाया गया। हमारी
 विद्या व्यक्तित्व का विकास करके जीवन को सुखमय बनाती थी किन्तु नहीं
 विद्या हमें नौकरों बनाने लगी। पहले त्यागी बड़ा आदमी होता था किन्तु
 अब अत्याचारी, मौगी, धिलासी, अनैतिक और चापलूस बड़ा आदमी हो
 गया। पहले प्रेम सब कुछ था किन्तु अब रुपया सब कुछ हो गया। अंगरेजी व्यवस्था
 ने देश में झूठ, पातंड, रुपया, रीब, और नौकरी को सब कुछ बना दिया।
 शिक्षा से धर्म निकल गया। परिणामतः सुशिक्षित लोग भी धर्मज्ञान की दृष्टि से
 वैसे ही भ्रष्ट रह गये जैसे बेपढ़े लोग। धर्मविहीन शिक्षा यानी पतवार विहीन
 नाव। संस्कृत पढ़े लिखे धार्मिक लोग आदर और प्रतिष्ठा के झोंत नौकरी से
 वंचित होने लगे। उनमें भी आत्महीनता आ गई। लज्य हो गया येनकेन प्रकारेण
 धर्म, इज्जत, ईमानदारी आदि बेचकर भी मोटी तनखाहों और अधिक अधिकारों
 वाली नौकरी पाना। इस्लाम, ईसाइयत और अंगरेज के अत्याचारों और फिर
 भी उनकी समृद्धि ने पराजित - पीड़ित जनता की दृष्टि स्थूल कर दी और
 व्यावहारिक दृष्टि से भगवान पर से उत्कृष्ट विश्वास टूट गया। पैसा भगवान
 हो गया, अधिकारी माई, चाप हो गये। 'ऊपरी आमदनी' यौज्यता की
 निशानी हो गई, ईमानदारी का अर्थ मौखिकता हो गया। परस्पर विरोधी
 आदर्शों की टकराहट में तब ^{यह} सब हो स्वाभाविक निष्कर्ष था। यह संभव हो
 नहीं था कि परिणाम इसके अतिरिक्त और कुछ हो सकता। उताधिक वर्षों तक
 जिस देश ने मानव बुद्धि की यौज्यता का एकमात्र आधार विदेशी भाषा को
 सही लिखना ही माना - काबिल वह है जो अंगरेजी लिख-बोल सके - और आज
 भी यही मानता है - उस देश का नैतिक और आत्मिक पतन न होगा तो क्या
 होगा ? हम जड़ हो गये, स्थूल बुद्धि और जड़ चेतना वाले हो गये, विमद्वत
 व्यक्तित्व वाले हो गये, विमद्वत भाषा वाले हो गये, आत्महीनता की प्रवृत्ति

वाले हो गये। हम हतात्म और जनैतिक हो गये। दिनकर ने लिखा है,
 'भारतवासियों की बुद्धि इतनी ढ़ड हो गई थी कि कोई यह सोचता ही
 नहीं था कि हुआदूत मनुष्यता के प्रति घोर पाप है, कि विधवा विवाह नहीं
 होने देना नारी जाति के प्रति अन्याय है, कि युद्ध और नारी को वे ही
 अधिकार मिलने चाहिए जो उच्चवर्गों के पुरुषों को प्राप्त हैं। समाज में
 भ्रष्ट हत्याएं चलती थीं, बालिकाओं का बध चलता था, जहाँ - तहाँ सती
 की प्रथा भी कायम थी और लोग छिपकर नीच जाति की स्त्रियों से भी संबंध
 करते थे। किन्तु इन बातों के खिलाफ समाज में कोई नहीं सोचता था। तीर्थों
 में व्यभिचार के अड्डे ^{बने} हुए थे। किन्तु, इन बातों को रोकने वाला कोई नहीं
 था।' वे फिर लिखते हैं, "हिन्दुओं का दुर्भाग्य यह था कि वे जीवन को
 निःसार मानने लगे थे। अतएव जीवन का अपमान एक ऐसी वस्तु का अपमान
 था जिसका अस्तित्व नहीं था। अन्याय और न्याय में कोई अन्तर नहीं था
 और न कोई अत्याचार ही ऐसा था जिसका उत्तर देना आवश्यक हो। यह बड़ी
 ही अर्थपूर्ण बात है कि उन्नीसवीं सदी से पूर्ण भारतीय साहित्य में कोई भी
 लेखक या कवि ऐसा नहीं हुआ जो यह कहने का साहस करता कि यह अन्याय है
 और हम इस अन्याय का विरोध करने को आये हैं....." तात्पर्य यह
 है कि मुत्त और जड हिन्दुत्व की टकराहट जब उत्थानोन्मुखी विवेकी जीवन-
 पद्धति और विवेकी जाग्रत अर्थात् आधिमौक्तिकता से हुई तो भारतीय जीवन
 और दृष्टिकोण का सन्तुलन बिगड़ गया। विषमताएं उत्पन्न हुई और हमारा
 नैतिक तथा आत्मिक पतन हो गया। धीरे-धीरे ने लिखा है, "वीर्यकालीन
 विवेकी शासन के कारण देश की जो सबसे अधिक बलि पहुंची वह जनता के नैतिक
 स्तर से संबंध रखती है। स्वतंत्र देशों की तुलना में देशवासियों का नैतिक स्तर
 साधारणतया चरम पतन को पहुंच गया।" हमने अपनी पवित्रता की जो कसौटी

१. 'संस्कृति के चार अध्याय', पृ. ४३६।

२. वही, पृ. ४४५

३. 'मध्यदेश - ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक सिंहावलोकन' पृ. १२०।

बनाई यह हमारी दुःख की जड़ता दुष्टिकोण की स्फूर्तता, नैतिक छिछलेपन और सृष्टि की कमी की द्योतक है। यह कसौटी है सानपान के क्षेत्र में छूत-छात और संस्कारों के क्षेत्र में बेसमझे कर्मकाण्डों का सम्पादन। सानपान संबंधी हुआ-छूत ने तो शाकत का रूप धर लिया। भगवानदास ने इसके विषय में अपने विचार यों प्रकट किये हैं, "... .. 'हुगो मत..: हुगो मत' यही पुकार पुकार कर पवित्रमन्यता और धम्म और अहंकार का सन्तोष, -पौका किया जाता है... परस्पर स्नेह और तज्जनिता संघर्षित की हत्या की जाती है, और दूसरों को निर्मम्रण दिया जाता है कि ऐसे छिन्न भिन्न हिन्दुओं को रोज जूतियां लगावों। संस्कारों के सम्पादन की जड़ता इतनी हास्यास्पद स्थिति में पहुंच गई कि आधी होती है सोते हुए बच्चों वच्छियां या जाहिल युवक युवतियों की और झूठा झूठन के द्वारा जाने वाली प्रतिपाद संस्कृत भाषा में करते हैं दोनों और के दो जड़-स्वार्थी रद्द तोते !! पतन की ये कहानियां हमारी इस बीसवीं सदी के लिये भी ब्यर्थ हैं। इन्हें हम समी जानते हैं। अधिक कहने से लाभ भी क्या

सामने भारी सतरा

कुछ भी हो, यह स्थिति अशोभनीय थी। ऐसा नहीं चलने दिया जा सकता था, क्योंकि यह स्थिति विपटन को जन्म देने वाली होती है, किसी जाति के मरण की भूमिका होती है एवं जाति विधेय की सभ्यता और संस्कृति का अंत कर देने वाली होती है। यह स्थिति चल्ती रहती तो हम भारत वासी रेड इंडियनों की तरह, आस्ट्रेलिया के आदिवासियों की तरह, अफ्रीका के वच्छियों की तरह आदिवासी मात्र रह जाते, अमेरिका और आस्ट्रेलिया की तरह भारत कुछ सास सभ्य जाति वालों का केंद्र हो जाता और वे हमको अच्छी तरह से 'सभ्य' बनाते। धोती कुर्ता सत्तम हो गया होता, हिंदी संस्कृत मिट गई होती, रामकृष्ण समाप्त हो गए होते, मन्दिर - मस्जिद का रूप बचल गया होता, हवन-या मुसलता हो गए होते, ब्याह-बादी ^{आदि संस्कार} डकौसले सिद्ध कर दिये गये होते, वेद-उपनिषद्, गीता, रामायण महाक की चीज हो गये होते और संध्या-पूजा डींग करार दिया गया होता। आज तो कुछ ही महापुरुषों

ऐसा करते हैं मगर तब हम स्वयं के स्व कौट-पतलून, टाई पहन कर अंगरेजी ही अंगरेजी बोलते-लिखते, हमारी माताएं-बहनें-बहू-बेटियां साया पहनतीं, कचहरी में ही आदियां होतीं, "नाइट क्लबों" में बरबादियां होतीं, बाइबिल का पाठ होता, हम नंगे बदन आधे पेट मेहनत करते और वे सभ्य आतावरण का निर्माण करते। भारत मिट गया होता, "इंडिया" बन गया होता। प्रक्रिया कुछ ऐसी ही प्रारंभ हुई थी। कौट-पतलून पहनकर और अंगरेजी में ही अपने सांस्कृतिक समारोहों के "इन्विटेशन" भेजकर अपने को सम्मानित समझ कर रोब और पैठ से अकड़ते-वालों की चेतना की "विपुलता" पर मुझे तरस जाता है !!! यह सही है कि ऐसा होना विश्व की सबसे बड़ी दुर्घटना होती, यह काण्ड विश्व-मानवता की आत्महत्या का माध्यम - बहर - होता किन्तु इसे आज कोई भले ही मान ले, उस समय मानता ही कौन ?

संयत्न के प्रयत्न और स्वरूप

लेकिन ऐसा नहीं होना था, क्योंकि भारतीय संस्कृति अमर है। भारतीय आत्मा की भांति भारतीय संस्कृति भी चिर परिवर्तनशील बाह्य रूप को बदल कर अपनी जीयनी चक्षि को अक्षत एवं अमर बनाए रखना जानती है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हमें प्रयास और प्रयत्न नहीं करना पड़ता। परिस्थिति और लक्ष्य के अनुरूप हम प्रयत्न करते हैं और सफल होते हैं। उन्नी-सवीं सताब्दी में हमने तय कर लिया कि हमें अपने पूर्व गौरव की, अतीत के प्रौज्ज्वल आत्म रूप की प्राप्ति करनी है। यह अपने को लोकर भुलाकर भी नहीं हो सकता, वर्तमान से भाग कर भी नहीं हो सकता; और वर्तमानकाल में जो हमारी दुर्गति है, नैतिक और आत्मिक पतन की जो दुरवस्था है, उसके बने रहने से भी नहीं हो सकता। तुलसीदास ने कहा है - "वीरज, धर्म, शिवा अरु नारी," आपत्ति काल परस्पर चारी।" हम "धर्म" की ओर मुड़े। आत्मिक बल और नैतिक बल को इस जगत में सर्वोच्च मानना भारत की एक प्रमुख विशेषता

है। हमने इधर भी ध्यान दिया। निवृत्ति मार्गों दृष्टिकोण ने हमारा बहुत अहित किया था। संसार में रहकर प्रवृत्ति-पराङ्मुख होने का परिणाम हम भुगत चुके थे। अब हमने प्रवृत्ति और निवृत्ति में समन्वय स्थापित करना चाहा। हमारे जीवन का बाह्यपक्ष - भौतिक पक्ष - पश्चिम के रंग में रंजित होने लगा था। उस का उत्थान हमने उन्हीं की पद्धति से करना चाहा। हमारी आत्मा, हमारी नीति और हमारा मन, हमारी आस्था का भारतीय रंग अभी पूरी तरह से बहरंग होने से बचा था। इसका सुधार हमने भारतीय संस्कृति की परंपराओं और मान्यताओं द्वारा करना चाहा। यही नव-भारत है। प्रयास के महत्व का मूल्यांकन प्राप्त सफलता के आधार पर उतना नहीं किया जाता जितना प्रयास की सच्चाई और ईमानदारी के आधार पर। यह तो सही है कि हम भारतीयों के नैतिक और आत्मिक स्तर को उस वांछित भूमिका पर आज भी नहीं प्रतिष्ठित कर सकें जहाँ करना चाहते थे किन्तु फिर भी हमारी कोख में बन्ध्या नहीं सिद्ध हुई। परिस्थितियों की प्रतिकूलताओं से आच्छादित रहकर किसी सम्पूर्ण जाति का वांछित सुधार तथा सांस्कृतिक संघर्ष की स्थिति में मनो-वृत्तियों व आवर्णों का आमूल अभीष्ट परिवर्तन इतनी जल्दी संभव भी नहीं है।

अस्तु, हमने अपने देश के आत्मिक और नैतिक उत्थान के लिये प्रयास किये। प्रयास व्यक्तिगत रूप से भी हुए और संस्थाओं के माध्यम से किये गये आंगवौलकों के रूप में भी। वैसे, इन आन्दोलनों और संस्थाओं के मूल में भी व्यक्ति ही प्रधान रहा करते थे। प्रयास बौद्धिक स्तर पर भी हुआ और भावात्मक स्तर पर भी। व्यक्तिगत प्रयासों का पर्यवसान भी अन्ततोगत्वा संगठनों एवं आन्दोलनों में हो गया। व्यक्तिगत प्रयासों का स्वरूप यह रहा कि एक असाधारण आत्मा पुण्यदि पर अवतरित हुई। मानव शरीर धारण करके उसने मानवों के उदाहरणार्थ साधनार्थ की और उनसे व्यक्ति अर्जित करके कुछ ऐसे व्यक्ति को प्रभावित किया जो उनका चिन्तन सन्देश लेकर जनता में घुस गये।

वैसे ही, जैसे सूर्य उदय हुआ और उसकी किरणें अपने अन्तर को उद्भासित करती हुई जगत को प्रदीप्त होने का सन्देश देती हुई धरती पर फैल गईं । रामकृष्ण ने विवेकानन्द, दयानन्द ने मदानन्द और गांधी ने मोतीलाल, जवाहर लाल, राजेन्द्र प्रसाद, सरदार पटेल और विनोबा का निर्माण किया । फिर भी सूर्य के अन्तर का जो प्रकाश है वह उसका अपना ही स्वरूप है । इसी प्रकार इन आत्माओं की ज्योति वस्तुतः इनका अपना ही स्वरूप था । यह उनका आत्म स्वरूप था, और, आत्मा^{का} स्वरूप ही परमात्म रूप है यानी परम आत्मा का अंश रूप है । इसीलिये उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध के अन्तिम कुछ वर्षों या उत्तरार्ध में जन्म लेने वाले ये महापुरुष - जो भारत के हर प्रदेश हर क्षेत्र में अवतरित हुए थे, जैसे रामकृष्ण परमहंस, दयानन्द, विवेकानन्द, मदन मोहन मालवीय, गांधी, तिलक, मोतीलाल नेहरू अरविन्द जवाहरलाल नेहरू, राजेन्द्र प्रसाद, विनोबा, टेंगौर, रमन, जगत, रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचन्द्र, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रसाद, मैफिलीशरण गुप्त आदि - अंशावतार थे । इन लोगों ने आकर भारत के जीवन के हर को को गौरवान्वित किया, किसी न रूप में धैतिक और आत्मिक उत्थान करने का प्रयत्न किया और अपने इस प्रयास में किसी न किसी रूप में अवश्य सफल रहे । संसार में कोई भी काम कोई मनुष्य स्वतः नहीं कर सकता - संभवतः कर भी नहीं सकता - बल्कि उससे कोई करवा लेता है । लेकिन लौकिक मानव है क्या ? कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ, तन्मात्राओं क्रों, महत्, चित्, बुद्धि, अहंकार और प्रकृति का समुच्चय । इनमें से किसी में इतना सामर्थ्य नहीं कि वह अपने आप कोई असाधारण महत्व का कार्य कर सके - बुद्धि बड़ तत्त्व है । उसे सर्वोन्मुख करने वाला कोई और होता है । वही सुझाता है । बुद्धि स्वी अज्ञ के रथ के घोड़ों को सही दिशा की ओर ले जाने वाला कृष्ण ही वह "कोई" और है । जब वह कुछ कराना चाहता है तभी कुछ सुझता है और बुद्धि उस सूझ को व्यवस्थित रूप दे देती है । उसी कृष्ण ने, उसी परम आत्मा ने इन सबको आत्ममग्न दिया । इनमें अपना अंश दिया । इन लोगों ने धैतिक और

आत्मिक उत्थान के चक्र का प्रवर्तन किया। रामकृष्ण परमहंस ने आध्यात्मिक साधनाओं, विषय-वस्तुओं और ज्ञान-बुद्धि के परे रहने वाली शक्ति पर - आत्मशक्ति पर - विश्वास उत्पन्न किया। भक्ति, प्रेम और अनुभूति पर बल दिया और सर्वधर्म समन्वय का प्रतिपादन किया। इसी विश्वास से संपन्न होकर विवेकानन्द ने वेदान्त का संत फुंका और लोगों में आत्मबल अर्जित करने की प्रेरणा भरी। उनके द्वारा स्थापित रामकृष्ण मठ ने इस संदेश का सुव्यवस्थित रूप से प्रचार करना प्रारंभ किया। सुनीतिकुमार चटर्जी ने लिखा है, "विचार-शीलता की एक शान्त और हल्की आवाज मानों विठ्ठल लोक से आई जो स्वामी विवेकानन्द के मुख से ऐसी संसृष्टि के रूप में निकली कि उसने तन्त्रा में पड़े हुए लोगों को सजग कर दिया और उन विचारशील लोगों में जिज्ञासा उत्पन्न कर दी।" ¹ जिनमें तत्त्वज्ञान की गहराई और विस्तार देखनेकी क्षमता थी।" ² विनकर ने ठीक ही लिखा है कि भारत क्या है और उसकी संस्कृति क्या है, उसको देखना है तो विवेकानन्द को पढ़ो।" ³ बीसवीं शताब्दी की नैतिक चेतना और आत्मिक शक्ति के ^{अजित} आने पर विवेकानन्द का बहुत प्रभाव पड़ा है। अपने उसी लेख में विनकर ने कहा है कि उन्होंने जो कुछ लिखा है वह विवेकानन्द की ही बात है। गर्टर्ड एमरसन सेन ने विल्कुल सही लिखा है, "घेर की तरह बहाडकर स्वामी विवेकानन्द ने भारत वर्ष को आलस्य, निर्बलता और ईर्ष्या-द्वेषादि की लघुतम प्रवृत्तियों को, जो गुलामी की कलंक हैं, परित्याग कर देने का और अपनी महानता के पूर्णतम स्वरूप को प्राप्त करने का आह्वान किया।" ⁴ उनके द्वारा-स्थापित-रामकृष्ण-मठ-ने-इस-संदेश-का-सुव्यवस्थित) स्वामी विवेकानन्द ने लोगों में प्रचलित धर्म की आलोचना करने का साहस उत्पन्न किया, वेदों की पुनर्प्रतिष्ठा स्थापित की और दूसरे धर्म वालों के सामने हिन्दुत्व को जिस आत्महीनता का अनुभव होने लगता था उसे दूर किया। रामतीर्थ ने वेदान्त

1. "सरस्वती", जनवरी, 1942, पृ. 25।

2. "रत्नमती", वर्ष 4, अंक 4, पृ. 48।

3. "कलुरल पुनिटी आफ इंडिया", पृ. 46।

को अपने जीवन में उतार कर दिखा दिया और भारत को एक चेतन तत्त्व के रूप में उपस्थित किया - न कि भौगोलिक प्रदेश के रूप में। अरविन्द ने योगसाधना को महत्व दिया और अतिमानस की कल्पना द्वारा सबको दिव्य जीवन प्राप्त कर सकने का विश्वास पिलाकर सबको नवीन आशा से स्पर्शित कर दिया। तिलक ने सत्त्वप्रधान प्रवृत्तिमान अपना देने का संदेश दिया। गांधी ने सत्याग्रह की कल्पना द्वारा सत्य और अहिंसा को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उपयोगी सिद्ध किया और भौतिक बल के ऊपर आत्मबल को स्थान दिया। टैगोर ने विश्व बंधुत्व, अन्तराष्ट्रीय दृष्टिकोण, राष्ट्रप्रेम, राष्ट्रसुखी की अभिव्यक्ति की और रुढ़ियों का विरोध किया। गीता, उपनिषद्, और रामायण आदि के अध्ययन ने भी लोगों का आत्मबल बढ़ाया। विन्नेबी ने सात्विक दान के प्रचार के द्वारा आत्म-विस्तार की धारणा को जीवन में अवतरित करने का मार्ग बताया। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक हमने नैतिक शक्ति और आत्मबल पर अडिग विश्वास पैदा करने का प्रयत्न किया और बीसवीं शताब्दी में धर्म, राजनीति, समाजनीति, अर्थनीति, आदि के क्षेत्रों में उसी नैतिक शक्ति और आत्मबल के सहारे कार्य करना आरंभ कर दिया। हम सबको इस रास्ते पर नहीं चला पाये लेकिन इसमें दो मत नहीं हो सकते कि हमने अनेक को इन शक्तियों से ऊर्ध्वस्वित कर दिया। इसके लिये हमें बहुत कुछ बदलना पड़ा, समझना पड़ा, याद करना पड़ा, और अपनी पूंजी को टटोलना पड़ा। दूसरे की पूंजी के सहारे हम अपना लक्ष्य नहीं प्राप्त कर सकते थे क्योंकि हम अच्छी तरह जान गये थे कि पर धर्म भयावह होता है।

अपनी प्राचीन सांस्कृतिक सम्पत्ति से सहायता

उस समय हमें ऐसे धर्म की आवश्यकता थी जो हमारी आत्मा को सजल बना सकता और हमारे परंपरागत स्वरूप को महत्वपूर्ण बता सकता। यही हमारी आत्मा और हमारे विश्वास को फिर से जीवित कर सकता था। रामाकृष्णन ने लिखा है, "हमें एक ऐसे धर्म की आवश्यकता है जो आत्मा की

व्यक्ति को वस्तुओं से अधिक महत्वपूर्ण घोषित करे तथा जिस दुनिया में विज्ञान और संगठन एवं संस्थाओं का संबंध और महत्व समाप्त हो गया है परंपरा से स्थापित मूल्यों और मानों के सामने उसी दुनिया में कुछ तत्व और महत्व सौज सके।^१ जब ऐसे धर्म की सौज होने लगी तब स्वभावतः हमारा ध्यान गया अपने हिन्दुत्व की ओर और हमने पाया कि हिंदुधर्म आध्यात्मिक विचारों और अनुभूतियों की अनंत राशि है और वही अनंतराशि हमें फिर महान बना सकती है। हमने वेदान्त, गीता, महाभारत, उपनिषद् आदि आर्षग्रन्थों की आध्यात्मिकता, उनके द्वारा प्रतिपादित आत्मतत्त्व की सौज विवेचना और उनसे निकल सकने वाली संभावनाओं को स्पष्ट रूप में देखा। वेदान्त भारत की वह व्यक्ति है जिसके सक्रिय होने पर संसार की कोई भी और कौसी भी व्यक्ति भारत का बाल तक बाँका नहीं कर सकती। गीता का तत्त्वोपगत दर्शन हमारी प्रेरणा कर जाति बना। रामचरित मानस का धर्मरथ रुपक और भरत की आध्यात्मिकता एवं लक्ष्मण का आत्मापालन हमारी यात्रा का ध्रुवतारा बना। राधाकृष्णन ने कहा, 'प्राकृतिक/वृत्तियों पर मनुष्य की विजय से नहीं, वरन् वास्तवों के निरोध से ही उसकी नैतिक उन्नति को जांचना चाहिए... गौलियों की बोझार में भी सच बोलना, घुली पर चढ़ा दिये जाने पर भी प्रतिहिंसा से विरत होना, मनुष्य तथा पशु सभी का सम्मान करना, सर्वस्व ज्ञान कर देना, परीपकार में जीवन उत्सर्ग कर देना, अत्याचार को अविचलित भाव से सहन करना आदि मनुष्य के प्रधान कर्तव्य हैं।'^२ यह हमारा आदर्श बना। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि यही सब कुछ हो गया और हमने जीवन का निषेध कर दिया। जीवन का निषेध हमने नहीं किया - कभी नहीं किया - हमने तो केवल मोन की पर्याया बाँधी थी। मोन की सामर्थ्य मोन से दूर रहने में निहित है इसलिये प्रत्यर्थ है;

१. 'रिक्वरी आउट कैव', पृ. ९

२. 'भारत की अन्तरात्मा', पृ. १७।

संयमित योग ही सुख है इसलिये मर्यादित गृहस्थ जीवन है, योग की शक्ति
 अवयव नहीं होती इसलिये छोड़ने की तैयारी की भूमिका में मानप्रस्थ है और
 मरने के समय जबरदस्ती छूटे इससे अच्छा है कि हम अभी से छोड़ दें - इस रूप
 में संन्यास है। यह जीवन का निष्प्रेष नहीं, बल्कि व्यवस्थित एवं कलात्मक ढंग
 से उसका योग है। आध्यात्मिकता जीवन से माग्ना नहीं तिराती। चीनी
 का दूध से, घी का दाल से और मक्खन का रौटी से विरोध नहीं होता, तो
 आध्यात्मिकता का ही जीवन से विरोध क्यों होगा। कपूरियों के भी पत्नियाँ
 होती थीं। वे भी पिता होते थे। रामकृष्ण परमहंस और गांधी की आध्या-
 त्मिकता संवेष्ट से परे है। आध्यात्मिकता को जीवन की व्यापक भूमिका से
 और कर्मकाण्ड को धर्म की अन्तरात्मा से अलग कर देने का ही तो परिणाम है
 मठों का भोग-व्यभिचार-विलास का केन्द्र बनना। आध्यात्मिकता योग या
 संन्यासमात्र ही नहीं है। जबसे हम यह बात भूल चले थे तभी से हमारा पतन
 प्रारम्भ हो गया था। इसलिये उत्थान की भूमिका में हमें जीवन का समग्र
 वर्धन चाहिये था। जवाहर लाल नेहरू ने लिखा है कि हम समन्वय, संतुलन,
 और पूर्णता वाला धर्मवर्धन चाहते थे। भारत वर्तमान में भी जानेंप पाता था
 और ज्ञान की गहराइयों तथा दार्शनिक जिज्ञासाओं में भी। जो लोग यह कहते
 हैं कि भारत केवल धार्मिक, दार्शनिक, चिन्तन प्रधान, आध्यात्मिक तथा लोको-
 त्त विचारों में डूबा रहने वाला देश है वे गलत कहते हैं। चायद वे भारत को
 ऐसा ही देखना चाहते हैं ताकि वे इस संसार और इसकी समग्रता का उपयोग
 कर सकें और भारत को उसके वंचित रख सकें। भारत यह सब भी है किन्तु यह
 वैभव की निर्बाधता, योजना की उमंग और प्रौढता की परिपक्वता आदि से
 भी परिचित है। कोमल मानवता, विभिन्नताओं से पूर्ण और सहनशील संस्कृति
 जीवन की गहनतम तथा सूक्ष्मतम सूझ-बूझ और उसके रहस्यपूर्ण तरीकों का मार्मिक
 ज्ञान, अनंत से प्राप्त अव्यय स्मृति भारत की अक्षय जीवन-शक्ति और अव्यय
 उत्साह के रहस्य हैं।¹ उपर्युक्त कथन पर यदि गंभीरतापूर्व विचार करें तो इसी

1. "हिस्वरणी आक ईशिया", अध्याय ७।

निष्कर्ष पर पहुँचने कि यह हमारी नैतिक और आत्मिक शक्ति है। उदाहरणार्थ
 श्रेष्ठ की निर्बाधता की ले लीजिये। बड़ता, शौचिता एवं ऐन्द्रियता से परि-
 पूर्ण चेतना में श्रेष्ठ की निर्बाधता नहीं पाई जा सकती। यह उनमें पाई जा
 सकती है जो इन सबसे ऊपर उठकर आत्मशक्ति तन्मय हो गये हों। इसीलिये
 ती बच्चों की जिस मुस्कान और हंसी के माध्यम से दिव्य-अलौकिक राग और
 आलोक सांकता है वह ईसा और गांधी जैसी के ही मुसमंडल पर ऋी देखी जा
 सकती है। अंगरेजी हमारी संस्कृति और प्रकृति के प्रतिकूल है और इसलिये वह
 हमारी आत्मिक शक्ति अन्न और नैतिक पुनरुत्थान के प्रयत्न और उसकी अभि-
 व्यक्ति की भाषा बन नहीं सकती थी। बावद यही कारण है कि सभी दृष्टियों
 से अनमोल बातें कहने वाले विवेकानन्द, टैगोर, शिवानन्द, राधाकृष्णन, भगिनी
 निवेदिता, बेसेन्ट, आदि की बातें जनसमूह के गले का हार, जीवन की स्फूर्ति
 और शोभा नहीं बन सकी और सारे देश का कायापलट न हो सका; और अंग-
 रेजी को छोड़कर देने के कारण तथा संस्कृत और हिन्दी को अपनाने के कारण
 बयानन्द और गांधी ने जन साधारण को आश्चर्यजनक रूप से बदल दिया। ऊँचे
 छोटे से छोटे लोग भी अपने जीवन और छोटे से क्षेत्र में असाधारण रूप से बदल
 कर नैतिकतावादी एवं आत्मवादी हो गये।

गांधी के प्रयत्न

बीसवीं सदी के आते आते गांधी ने अपना आत्मिक और
 नैतिक उत्थान संबंधी कार्यक्रम जनता के सामने रस दिया। क्योंकि गांधी में यह
 शक्ति थी। श्रीनिर्मल कुमार बोस ने लिखा है कि गांधी उस तीर्थयात्री की
 तरह हैं जो किसी अनन्त पथ पर निर्बाध गति से चलता चला जा रहा है।
 एक यती का बंध हाथ में लिये हुए गांधी कहीं दूर पर विस्तार देने वाले किसी
 ज्योति की ओर बढ़ता चला जा रहा है। यह ज्योति उसे आराध्यतापूर्वक
 अपनी ओर बराबर/ सींच रही है। उसने अपने अन्तर में आशा की ज्योति

जला रही है। वह उसी के संकेतों से प्रेरणा पाता है। इससे अतिरिक्त उसके पास करने के लिये कुछ भी नहीं है। उसकी चेतना का गहनतम स्तर उसे बता चुका है कि उसके आदर्शों का कल्पनालोक कभी अवतरित होगा या नहीं यह जानना ^{उसका} कार्य नहीं है..... उसका लक्ष्य है उस अलौकिक कुम्भकार के दिव्य हाथों में सानी हुई मिट्टी का एक पिंडमात्र बनना।^१ बीस म्हाउय ने आगे फिर लिखा है कि गांधी अपने निश्चित उद्देश्य को लिये हुए मगवान की राह पर अकेला बढ़ता जा रहा है। मानवता के अन्तर में उठने वाली पीड़ा की प्रत्येक लहर से उसका हृदय तड़प उठता है। मानवता के दुःख और उसकी अधोगति में हिस्ता बंटा लेने का उसका अडिग निश्चय है। जिस जिस तत्त्व ने मानव को दबा रखा है उन सबको हटा देने के प्रयत्न में आत्ममर्त्यादान करने के लिये वह सदैव तत्पर है। वह क्षणिक लाभ के लिये मानवी एकता की दिव्य एवं पवित्र पाती के प्रति विश्वासघात करने के लिये कभी भी तैयार नहीं।^२ अस्तु, ऐसा महामानव सभी प्रकार की नैतिक और आत्मिक तथा आध्यात्मिक क्षितियों से संपन्न आत्मा ही हो सकता है जो सभी प्रकार के स्वार्थों से ऊपर उठ चुका हो। टैगोर ने लिखा, "आज हम लोगों के बीच में जो महात्मा आया है—उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह सब प्रकार की व्यक्तिगत अथवा राष्ट्रीय स्वार्थपरता के भाव से बिल्कुल मुक्त है।^३ गांधी में राष्ट्रीय स्वार्थपरता भी नहीं थी। वे तो राष्ट्रका ऐसा उत्थान चाहते थे जो विश्व कल्याण का माध्यम बन सके। इसीलिये उनके कार्यक्रम आत्मिक और नैतिक उत्थान को दृष्टि में रखकर बने। गांधी जी ने लिखा - "(१) सच्चा स्वराज्य अपने मन पर शासन करना है, (२) उसकी कुंजी, सत्याग्रह, आत्मबल अथवा प्रेमबल है

१. 'स्टडीज इन गांधीज्म', पृ. २४९।

२. वही, पृ. ३५४।

(३) इस बल से काम लेने के लिये सोलह बाने स्वदेही बनना जरूरी है, और
 (४) हम जो कुछ करना चाहते हैं वह इसलिये नहीं कि अंग्रेजों से हमें डेप है,
 या हम उन्हें सजा देना चाहते हैं, बल्कि इसलिये कि वह करना हमारा कर्तव्य
 है।^१ गांधी जी का सत्याग्रह कार्यक्रम आत्मिक और नैतिक शक्तियों के
 आधार पर जीवन को चलाने का विशाल और क्रांतिकारी परीक्षण है। उन्होंने
 जीवन की शुद्धता पर जोर दिया। तप पर उनका विश्वास है। अहिंसा और
 सत्य उनकी चेतना के अनिवार्य अंग हैं। उनकी प्रार्थना समापं और उनके प्रार्थना-
 प्रवचन आत्मिक और नैतिक उत्थान के ही लिये हैं। उनकी प्रार्थना में हरिः
 के बाद इंडोपनिषद् का प्रथम श्लोक रहता था। "प्रातःस्मरणम्" के प्रथम
 श्लोक की प्रथम पंक्ति है "प्रातः स्मरामि हृदि संस्मराम् आत्मतत्त्वम्"। पृथ्वी
 माता की पैर से छूने में भी जो अपराध की अनुभूति करके क्षमा मांगता है ऐसी
 अनुभूति को जगाने वाला श्लोक भी वहां है। यहां सरस्वती, गुरु, विनायक,
 विष्णु, महादेव, ब्रह्म, की उपासना के श्लोक है। इस प्रार्थना में यह कामना
 प्रकट की जाती है कि दुस से तपे हुए प्राणियों की पीड़ा का नाश हो - "कामये
 दुःखान्तानां प्राणिनां मार्तिनाशनम्"। वहां कुरान की "यनाह" और "फातिहा"
 है, जरायूस्ती गाथा है, बौद्ध मंत्र है। प्रातः सायं दोनों समय "अहिंसा,
 सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, असंग्रह, शरीर भ्रम, अस्वाद्य, सर्वत्र भय वर्जन, सर्वधर्मसमानत्व
 स्वदेही, स्वर्ग भावना" का चित्र, व्रता, निष्ठा से इनके पालन का निश्चय
 होता है। सायंकाल की प्रार्थना की में परमात्म तत्त्व के नमस्कार के बाद
 गीता का सम्पूर्ण स्थितप्रज्ञ लक्ष्म पुहराया जाता है। "सहनायवतु सर्व नो मुक्त्यु
 सर्वार्थं करवावहे तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहे" की कामना तथा अस्त,
 से सत् की ओर, तमस से ज्योति की ओर और मृत्यु से अमृत की ओर ले जाने
 की प्रार्थना है। इंडोपनिषद्, कठोपनिषद्, मुंडकोपनिषद्, तैत्तिरीय उपनिषद्,
 बृहदारण्यक उपनिषद्, छान्दोग्य उपनिषद् के श्लोकों का पाठ होता है।

रामचरित मानस की सुन्दर सुक्तियाँ, राम के निवास योग्य मानस संबंधी
 चौपाइयाँ, राम-रघु, तुलसी के दिनय के पद, सुर-कबीर-नामक-मीरा-रैदास-
 नरसी मेहता-तुकाराम-नामदेव-तथा ईसाई संतों के भजन भी यहाँ हैं। उनका
 सर्वाधिक प्रिय भजन "वैष्णवजन तो तेने कहिए जे पीर पराई जाये" उच्चकोटि
 के नैतिक जीवन की कल्पना उपस्थित करता है। सुष्ठुतम जीवन का आदर्श उप-
 स्थित करता है। सादगी का जीवन गांधी जी चाहते थे। मशीन की जगह
 चरें और बड़े कारखानों की जगह गृह उद्योग की प्रधानता के पीछे अमनिष्ठ ज्ञे
 सादे जीवन की ही बात थी। उनके आश्रम में सादे भोजन, सादे वस्त्र, अम की
 प्रतिष्ठा, आत्मोन्नति के प्रयत्नों के ही कार्यक्रम होते थे। बाहरी सफाई जो
 अन्तर के निष्कलुष एवं परिष्कार की द्योतक थी उन्हें प्रिय थी। सेवा और
 सफाई की आसिरी सीमा आश्रम वहाँ थी जहाँ गांधी जी दूसरों के मल-मूत्र को
 साफ करना अपना सबसे प्रिय कार्य मानते थे। सादी की धवला में उन्हें आत्मा
 उज्ज्वल ज्योति के दर्शन होते थे। सूत कातने में वे मानसिक एकाग्रता एवं चित्त
 वृत्ति निरोध देखते थे। इस प्रकार चर्खा चलाना वे आध्यात्मिक कार्य मानते
 थे। निर्धन जनता में वे भगवान को देखते थे। उनकी समाज-सेवा और वैयक्ति-
 मय आत्म विस्तार की भावना से मरी थी। उनका सर्वोपय वस्तुतः व्यक्तित्व
 की दृष्टि से आत्मोपय ही था। गांधी ने माना कि आत्मबल शारीरिक
 बल से बेष्ठ है। रामकृष्ण भी मानव के स्वभाव में आध्यात्मिकता को ही सर्वा-
 धिक महत्व देते हैं। उन्होंने भारत की आत्मिक साधना को फिर से जीवित
 कर दिया। उन्होंने सौंदर्य और नारी को पवित्र दृष्टि से देखा। रामकृष्ण भी
 नारियों को माता काली की साकार स्त्रीव प्रतिमाएँ मानते थे। वे जिह्वा
 पर विजय काम पर विजय मानते थे। वे इन्द्रिय निग्रह के पक्षपाती थे। उन्होंने
 ईश्वर को सदाचार का स्वरूप माना। रामकृष्ण ने अपने जीवन में क्रियात्मक
 रूप से सारे धर्मों की मूलभूत एकता का अनुभव किया था। गांधी जी उसी भावना

भूमि पर पहुंच गये थे जहाँ से सभी धर्म सच्चे और समान मिले। गांधी जी धर्म-दृष्टि को धर्म का वास्तविक रूप और मन की विभुजता को धर्म का काम समझते थे।

आर्यसमाज का योग

आर्य समाज का आंदोलन भी तेजी पर था। उसने रुढ़ि और परम्परा का डटकर विरोध किया। जिस पौराणिकता ने हिंदुत्व के संड-संड कर दिये थे उसका भयानकतम और उग्रतम एवं क्रूरतम विरोध करके आर्यसमाज ने आत्मशक्ति एवं नैतिक जीवन पर पड़ी हुई धूल झाड़ दी। हुआकूत को अंधाधुंध बसाकर और आत्मतत्त्व का प्रचार करके आर्य समाज ने हिंदुत्व की अस्पष्टता को पुनर्जीवित किया। स्त्रियों का शिक्षा का समर्थन करके उनकी शिक्षा के लिये स्कूल कालेज खोलकर और उनको भी ज्ञान और धर्म के क्षेत्र में पुरुष के समान महत्व देकर उनके ऊपर मध्ययुगीन संतों का आरोपित कामिनीत्व, रमणीत्व एवं शृंगार-काम के उद्बोधन का घातक एवं मिथ्या आवरण हटाकर आर्य समाज ने हिंदू जाति के आधे भाग को आत्म चेतना और नैतिक चेतना की संभावनाओं से मुक्त कर दिया। आगे चलकर गांधी जी ने तो उन्हें अहिंसा और सत्याग्रह का साक्षात् प्रतीक माना। ब्रह्मचर्य अपने असली रूप में सामने आया। आर्य समाज धर्म संबंधी जिन शास्त्राचार्यों की आयोजनाएं करता था उन्होंने जनता के सामने धर्म के वास्तविक स्वरूप को उपस्थित करने की क्रिया में एक महत्वपूर्ण योग दिया। गुरुकुलों की स्थापना करके और यथासम्भव प्राचीन गुरुकुल प्रणाली पर शिक्षण का कार्यक्रम बना कर और उसे कार्यान्वित करके भी आर्यसमाज ने आर्ष-ग्रन्थों के प्रचार का तथा आत्मिक - नैतिक पुनरुद्धान का कार्य किया। आर्यसमाज के अधिवेशनों में कई कई दिनों तक होने वाले आर्य सत्यासियों और उपदेशकों के उपदेशों ने भी जनता के आत्मिक - नैतिक स्तर को ऊंचा उठाया है। लाला लाजपत राय ने लिखा है, "आर्य समाज ने विचारों के महासागर का संस्कृति का तथा उपारतावादी

बांध - द्वार - हिन्दू समाज के लिये उन्मुक्त कर दिया है" और वह हमारे
अन्तर इस तथ्य की चेतना को फिर से जागृत कर रहा है कि हम विचारों और
कार्यों - धीनों के संसार में महान और स्वतंत्र थे।^१

ब्रह्मविद्या समाज का योग

धियासोकी के रंगमंच से भीमती एनीबेसेन्ट ने घोषणा की, "चालीस
वर्षों के सुगंभीर चिन्तन के बाद मैं कहती हूँ कि विश्व के सभी धर्मों में हिंदूधर्म
से बढ़कर पूर्ण, वैज्ञानिक, दर्शनयुक्त एवं आध्यात्मिकता से परिपूर्ण धर्म दूसरा और
कोई नहीं है।" परिणामस्वरूप हिंदुओं में आत्मविश्वास पैदा हुआ। धियासो-
फिकल सोसाइटी अर्थात् ब्रह्मविद्या समाज ने परोक्ष नियमों के अनुसंधान करने,
उच्चनैतिकतापूर्ण पवित्र जीवन व्यतीत करने, विज्ञान और आधुनिकता की
वृद्धि के विरोध करने, विश्वमानवता के प्रचार करने, सभी धर्मों की मूलभूत एकता
की अनुमति करने सब धर्मों की पवित्रता और अछाई पर विश्वास करने तथा
धर्म और ज्ञान के तत्त्वों के सम्यक् प्रचार करने को अपना कार्य क्रम बनाया था।
स्पष्ट है कि पूरी सच्चाई और ईमानदारी से जो ये कार्यक्रम अपनाएंगे वह सुं-
क्षित हृदय वाला अनात्मवादी तथा अनेतिक नहीं रह सकता। उसकी आत्मा
का उत्थान होगा। उसके जीवन में साक्षात् नैतिकता अवतरित हो जाएगी।

प्राचीन तत्त्वों और नवीन व्याख्याओं का योग

प्राचीन तत्त्वों और बातों की नवीन व्याख्याओं ने भी
आत्मोत्थान की प्रक्रिया में पर्याप्त सहयोग दिया। राधाकृष्णन ने कहा,
"धर्म के दो रूप होते हैं, एक वैयक्तिक और दूसरा सामाजिक। ये धीनों ही
अन्वोन्याभित हैं।"^२ इस व्याख्या के द्वारा उन्होंने अनेक अनेतिकताओं का

१. "दि आर्यसमाज", पृ. २८२।

२. "भारत की अन्तरात्मा",

निराकरण करने का रास्ता सौल दिया। तिलक-चन्दन लगाकर तथा पूजा-पाठ करके भी यदि कोई किसी गरीब का गला काटता है, कोई अधिकारी किसी अपरिचित यौज्य की जगह किसी परिचित अनुवंसित अयौज्य की नियुक्ति करता है, डांडी मारता है, किसी छात्र के प्राप्तांक बढ़ाता है, अनुवंसताओं के द्वारा अधिकार लेता है तथा धन कमाता है तो वह अधार्मिक है। यही सही है

कि हमारे समाज का आचरण अभी इस धारणा के स्वरूप नहीं हो सका है किन्तु यह भी सही है कि हम इस ढंग से सोचने लगे हैं। नैतिकता का स्वरूप यह हो गया है कि सामाजिक कल्याण का आचरण करने वाला विधान पुण्य हो गया और इसके प्रतिकूल होने वाला आचरण पाप। तात्पर्य यह कि हट्टे-कट्टे "बामन" को सिलाने की अपेक्षा भूसे मरते हुए चमार को सिला देना अब पुण्य माना जाने लगा। पंडे के जाने बछिया की पूंछ हूना अब पुण्य नहीं रह गया, अब पुण्य है भूमिबिहीनों के लिये भूमिदान देना और सदुदर तरीकना, तरीककर सत्साहि त्व पढ़वाना, किसी साधनहीन को बोलने के लिये बीज, जोतने के लिये हल-बैल आदि तरीककर सम्पत्तिदान देना। उच्चतम नैतिकता का एक स्तर यह भी है कि विनोबा भावे द्वारा प्रवर्तित सम्पत्तिदान के अनुसार जब कोई सम्पत्ति दान देता है तो अपनी आत्मा को साखी बनाकर देता है। हिसाब सर्वसेवा संघ के पास भेजता है और दान का रुपया खुद सर्व करता है। विचारनी की इसी पीठिका पर बहन का अर्थ, अंकुराचार्य से प्रेरणा लेकर (दान संविभागः) "सम्यक्" विभाजन ही मान लिया गया है। गांधी-विनोबा के यहाँ मन और बाणी प्रार्थना में लीन होती है और हाथ सुत करतते हैं। कर्मकाण्ड का रूप बदला क्योंकि पुजारी जी हाथ से पंटी बजाते और जवान से श्लोक कहते थे। अब रूप बदल गया। प्रार्थना का साथ ही गया समाजोपयोगी रचनात्मक कार्य से-उत्पादन के कार्य से । सीने गुब्बारी ने लिखा, "समाज रुपी ईश्वर की यह कर्ममय पूजा रसमय नैधमय करना है। उस कर्मका ही जप करना है। यह कर्म किस प्रकार उत्कृष्ट होगा यही चिन्ता हमें रहनी चाहिये।..... जप याने निषिध्यास। कल की

अपेक्षा आज का कर्म अधिक सुन्दर हो, आज की अपेक्षा कल का काम अधिक सुन्दर हो। इस प्रकार की भावना मन में रहना। इस प्रकार लगातार मन में अनुभव करना ही जप है - इसी से हम मोक्ष के अधिकारी होते हैं।^१ पहले "राम राम राम राम राम राम राम राम" करना जप था। यह जड़ जप था। अब जप में सुगंधि आ गई। यह सुगंधि है नैतिकता की। पहले गुरु होता था किसी मठ का अधीश्वर, किसी सिन्धपीठ का आचार्य आदि। वह एक विशेष कर्मकांड के साथ होने वाले शिष्य के कान में फूंक मार देता था, बस। यह जड़ता थी। कंठी गले को फांस लेती थी। अधिकांश समाज इस जड़ता में जकड़ा जाकर ब्रह्म जड़ ज्ञान वाला होकर अनैतिक होता जा रहा था। नये आम्बोलन या नई दृष्टि ने गुरु का नया अर्थ बताया। "गुरु का मतलब है ज्ञान तक का सम्पूर्ण ज्ञान। गुरु मानो एक प्रकार से हमारा ध्येय है। हमें जिस ज्ञान की पिपासा है वह अधिक यथार्थता से जिसके पास हमें प्रतीत होता है वही हमारा गुरु बन जाता है"^२। अपने कर्त्तव्य या उत्तरदायित्व से भ्रमना या उसकी ठीक से न सम्पादित करना अनैतिकता है लेकिन ऐसी अनैतिकता के लिये आज हम मजबूर हो गये हैं। मजबूर इसलिये हो गए हैं कि उसमें हमारा मन नहीं लगता और मन इसलिये नहीं लगता कि हमें वह कार्य करना पड़ता है जो हमारी रुचि का नहीं है, जिसके लिये हमारे पास समुचित संस्कार नहीं। संस्कार हैं, रुचि हैं, पुडिया बांधने की और डांडी मारने की मगर जमाने ने बना दिया है प्रोफेसर्स और वह भी इसलिये कि रट कर और किसी की कृपा से प्रमाणपत्र और पद पालिया गया है। निश्चित है कि वह ऐसे जादूमी का "स्वधर्म" नहीं। स्वधर्म है पुडिया बांधना और अधिक लेकर कम देना और जिससे ^{मन न} मानना ^{ही बैठे। इसलिये स्वधर्म} है उसकी जड़ काटना। ऐसे लोग विद्यार्थियों भी "स्वधर्म" की छयाख्या हुई अपनी विपुल रुचि का काम हाथ में लेना। ऐसे कर्म के प्रति प्रेम पैदा हो जायगा। "भक्ति"

१. "भारतीय संस्कृति", पृ. ८०।

२. वही, पृ. १२१।

की भी आवश्यकता है व्यार्त्त करना यह है कि जिनके लिये हम कर्म कर रहे हैं उनके प्रति भी प्रेम पैदा हो जाय। उन्हीं को हम मगवान मानने लगे। ऐसा होते ही हमारा कर्ममन्त्रितमय हो जायगा। गांधी ने आजीवन इसीका प्रयत्न किया है, विनोबा भी यही कर रहे हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि हम यह मानने लगे कि सच्चा आनन्द कर्म में है। अपने हाथ-पैर, अपने हृदय, और अपनी बुद्धि को सेवाकर्म में नियोजित कर देने से विषुद आनन्द पाने की कल्पना हममें पैदा हुई।

रामतीर्थ का योग

बीसवीं सदी के प्रारंभ में रामतीर्थ विषुद आत्मउदित के रूप में विस्तार पड़ते हैं। उनके पीछे वस्तुतः न कोई बड़ा संगठन था और न कोई बड़ी संस्था। उनके उद्गार और विचार केवल पुस्तकों के माध्यम से हम तक पहुंचे। फिर भी उनकी बातें स्थायी प्रभाव डालने वाली हुई। स्वयं उनकी आत्मा देश, काल, जीवन, मृत्यु, और विभिन्न धर्मों से बहुत ऊपर उठ गई थी। वे सही मानों में अपनी वेद को मूल जाया करते थे। असाधारण भावुकता और तन्मयी स्थिति उनकी स्वाभाविकता हो गई थी। उन्होंने कहा कि जापान को मैं अपने देश के समान समझता हूं और यहां के अधिवासी मुझे अपने देश-बान्धव मालूम होते हैं। क्या चमत्कार था कि उनका जन्म भी बीपावली के दिन, कुष्कार्पण भी बीपावली के दिन और हजल-समाधि भी बीपावली के दिन !! उनकी तन्मयावस्था का यह स्वरूप था कि वे अपने को विषुद और केवल आत्मा ही समझते थे और इसीलिये कहते थे, "मैं स्वयं मृत्यु हूं। बिना मेरी इच्छा के वह मेरा बाल भी नहीं बाँका कर सकती।" वे पूर्ण स्वतंत्र थे और उनकी स्वतंत्रता का अर्थ था देश, काल और वस्तु से मुक्ति। आत्म-उत्पत्ति की अत्यंत उंची सीढ़ी पर सटे होकर, उन्होंने कहा, "त्रिदिव्य,

१. इनके ये उद्गार इतने प्रसिद्ध हैं कि उनके मूल ज्ञातों या स्थानों के उल्लेख करने की कोई आवश्यकता नहीं समझी गई - लेखक।

हिन्दू, पारसी, आर्यसमाजी, सिख, मुसलमान और वे लोग भी, जिनकी हड्डियाँ, नसें, रक्त, मांस, मेरी प्रिय इष्ट देवी, भारतभूमि के अन्न जल से पुष्ट हुए हैं, मेरे भाई हैं - नहीं, मेरी आत्मा हैं। उनसे कह दो कि मैं उनका हूँ। मैं सबको स्वीकार करता हूँ - किसी को नहीं छोड़ता।" आत्म उत्थान की एक दूसरी छवि देखिए - "मैं प्रेम हूँ - सगुण मैं प्रेम का सागर और प्रेम का विभव हूँ। मैं सबसे समान प्रेम करता हूँ। और तो क्या - यदि कोई अज्ञानत्व भाव से भी मेरे सामने आये तो उसे भी मैं बड़े प्रेम के साथ गले लगाऊँगा। मेरा प्रेम इतना गहरा है कि अज्ञानत्व उसमें डूबकर तुरन्त नष्ट हो जायगा"। इस आत्मभावने स्वदेखाभिमान और वेदान्त को असाधारण आश्चर्य के साथ एक कर दिया - "अपने हृदय मैं यह भाव उत्पन्न कीजिए कि 'मैं देश हूँ - भारत हूँ - भारतवर्ष हूँ। भारत की भूमि ही मेरा शरीर है, 'कमोरिन' मेरे पैर हैं, हिमालय मेरा शिर है, मेरे शिर की चौटी से ही ब्रह्मपुत्र और सिंधु निकली हैं; विन्ध्या बल मेरी कमर में बंधा हुआ कमरबन्द है, 'कारो मंडल और मलाबार मेरा दाहिना और बायाँ पैर है। मैं समस्त भारतवर्ष हूँ। भारत की पूर्व और पश्चिम दिशाएँ मेरी दाहिनी और बाईं मुखाएँ हैं और समस्त मानव जाति को आलिङ्गन करने के लिये मैंने अपनी दोनों मुखाएँ फैला दी हैं। मेरा प्रेमविश्वव्यापक है। अहा ! हा ! मेरे शरीर की गठन ही इस प्रकार है। सड़ा होकर अनन्त विकृ-
काल की ओर अपनी दृष्टि बौड़ाता हूँ, परन्तु मैं अन्तरात्मा - विश्वात्मा हूँ। मैं ज़रूर
तो मालूम होता है कि सारा भारतपल्लव है, बोलता हूँ तो भारतवर्ष बोलता है और श्वास लेता हूँ तो सारा देश श्वास लेता है। मैं भारत हूँ, शंकर हूँ, शिव हूँ, यह भाव हृदय में उत्पन्न होना ही स्वदेखाभिमान है और इसी को व्यावहारिक वेदान्त कहते हैं।" इसके की तरह से लिखना आसान है किन्तु साधारण कल्पना शक्ति के पर लड़ जाते हैं उस आत्मा की विभुता तक पहुँचने में जिसे पूरी इमानदारी के साथ उपर्युक्त भाव की अनुभूति होती हो। ऐसे स्वामी रामतीर्थ ने देश के आत्मिक और नैतिक उत्थान के लिये कहा, "राम सबसे ऊँचे पर्वत पर सड़ा होकर घोर गर्व के साथ कहता है कि परिरक्षता और

दीर्घत्व की विकाश करने वाले लोगों, तबजुब तुम सर्वव्यक्तिमान परमात्मा
 हो, स्वयं 'राम' हो। अपनी ही कल्पनाओं में स्वयं मत जकड़ जाओ। उठो,
 जागृत हो जाओ और अपनी निद्रा और संसार रुपी स्वप्न को हाठकर अलग
 फेंक दो। जब तुम्हो सज्ज हो तो बुधा दुःख और दरिद्रता में क्यों कैसे पड़े
 हो। अरे, जरा उठो और निजस्वरूप को पहचान लो। यह सब दुःखदरिद्र
 अपने आप ही लौप हो जायगा। सारे सुखों की लालन और सम्पूर्ण आनन्द का
 अन्तरात्मा तुम्हीं हो।" इस दुःख और दरिद्रता का स्वरूप समझाते हुए
 उन्होंने कहा कि "यह मेरा", "वह मेरा" कहकर ममत्व के पीछे पड़े हुए मनुष्य
 हो सच्चे दरिद्री और कंगाल हैं। उनके अनुसार अपने आपको एक शरीर में
 परिच्छिन्न करना काश्वास है और अपने आपको सारा देव ही नहीं सम्पूर्ण
 संसार अनुभव करना आत्मरूप की प्राप्ति, आत्मा का विस्तार एवं उत्थान
 है। स्वामी रामतीर्थ के अनुसार पशुपुत्तियों की जीतना और अपने अहम् को
 सर्वव्यापकत्व करना चाहिए। उनके कथनानुसार इच्छाएं सभी पूरी हो सकती
 हैं जब हम इच्छाओं से ऊपर उठ जायें। मौकता या कर्ता के भाव को वे उत्थान
 का बाधक मानते थे। उन्होंने चार कृपा बताए - परमेश्वर के प्रति, मानव जग
 जाति के प्रति, देव के प्रति और अपने प्रति। ये तीन कृपाएं मानते थे -
 ईश्वर की कृपा, गुरु की कृपा और आत्मकृपा। उनके अनुसार सकलता का साधन
 है उद्योग, स्वार्थत्याग, निरभिमान, 'मैं' का विस्मरण, विश्वव्यापी प्रेम,
 प्रसन्नता, निर्मयता, स्वावलम्बन। वे भारत के लाखों साधुओं को तैयार के
 यानी की कार्य मानते हुए भी उनमें से कुछ को कमल मानते थे।

विवेकानन्द का योग

स्वामी विवेकानन्द के योग और महत्व को हम पीछे देस
 चुके हैं। यहाँ उनके भी उन विचारों को देस लेना अनुचित न होगा जिन्होंने
 हमारे आत्मिक और भौतिक स्तर को गौरवमयी स्थिति तक ऊपर उठाया है।
 स्वामी जी व्यक्तिगत ईश्वर की उपासना के विरुद्ध थे क्योंकि इससे धर्मगुरुओं

का सम्प्रदाय पोषित होता है और जब तक ये धर्म-गुरु हैं तब तक समाज में अत्याचार होंगे और इसलिये उच्चभाव ही नहीं पैदा हो सकते। धर्मगुरु और व्यक्तिगत ईश्वर वेदान्त की तलवार से धराशायी हो जाते हैं। निश्चय हुआ कि समाज को उच्चभाव भूमि पर प्रतिष्ठित करने के लिये ही स्वामी जी ने वेदान्त धर्म का प्रचार किया। इस वेदान्त धर्म का प्राण है "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति"। स्वामी जी ने कहा है, "ऐसी चिरस्मरणीय वाणी और कभी उच्चरित नहीं हुई थी और न ऐसा महान सत्य ही कभी आविष्कृत हुआ और यही सत्य ही हमारी हिन्दु जाति के जीवन का मेरु कण्ड होकर रहा है"। तात्पर्य यह हुआ कि वही सत्त कुटुम्ब में भी है और वही गीता में भी। कोई भी कर्म दुरा नहीं। हर कर्म पूजा है। आयु, आवश्यकता और परिस्थिति तथा बुद्धि के अनुसार कोई भी कार्य किया जा सकता है। यदि उसका सदुपयोग किया नक्क जाय तो सभी कार्य किसी न किसी रूप में मनुष्य के उत्थान के लिये हैं। इस लोक में मनुष्य से बढ़कर और कुछ नहीं है। स्वामी जी ने बताया है, "अतएव वेदान्तदर्शन के मत से मनुष्य ही जगत् में समिष्ट प्राणी है और पृथ्वी ही सर्वोष्ठ स्थान है, कारण कि एकमात्र यहीं पर मुक्त होने की संभावना है।"^१ इस आशाग्रह वाणी के द्वारा स्वामी जी ने लोगों में अपने नैतिक और आत्मिक उत्थान की आशा और रुचि पैदा की। तरीका यह बताया "मस्तिष्क को ऊँची-ऊँची चिन्ताओं, ऊँचे-ऊँचे आदर्शों से भर लो, उन्हीं की दिन-रात मन के सम्मुख स्थापित करो।"^२ उनके गुरुदेव रामकृष्ण ने कहा था कि बाह्य में भी ईश्वर है, यह सत्य है परन्तु जैसे बाघ के सम्मुख जाना उचित नहीं वैसे ही दुष्ट मनुष्य के अन्तर में ईश्वर के होते हुए उस दुष्ट मनुष्य का संग करना उचित नहीं। बीसवीं सदी में गाँधी जी ने कहा कि पूजा दुष्ट से नहीं, उसी दुष्टता से होनी चाहिए। आत्म स्थापना को ध्यान में रखकर स्वामी विवेका-

१. 'वेदान्तदर्प', पृ. १९९।

२. 'ज्ञानयोग', पृ. ७८।

३. वही, पृ. ६२

प्रश्न ३०८

नन्द ने कहा कि जो / शुभकर्मों में भी कुछ न कुछ ^{अशुभ} कर्मों में भी कुछ न कुछ शुभ देखते हैं वास्तव में उन्होंने कर्म का रहस्य समझा है। यह कर कर स्वामी जी शुभ-अशुभ के भी संकुचित बन्धन से मानव की चेतना को ऊपर उठाना चाहते थे। उनका मत था कि प्रकृति के बन्धन को चीरकर मनुष्य अपने गन्तव्य मार्ग को प्राप्त करता है। भारत का लक्ष्य था अपने प्राचीन गौरव की पुनर्प्राप्ति और इसलिये भारतीयों का लक्ष्य हुआ महान भारतीय बनना, अपने पूर्वजों की तरह बनना। इसके लिये यह आवश्यक था कि हम दूसरों के मुसापेक्षी न रहें बल्कि स्वयं सख्त तथा समर्थ बनें। स्वामी जी ने कहा, "अपने आप में विश्वास करो और यदि तुम धन-सम्पत्ति चाहते हो तो उसे पाने के लिये प्रयत्न करो, वह तुम्हें अवश्य मिलेगी। यदि तुम प्रतिभाशाली और मनस्वी होना चाहते हो तो उसके लिये भी चेष्टा करो, तुम वैसी ही होगे। यदि तुम स्वतंत्रता चाहते हो तो प्रयत्न करो, तुम देवता बनोगे।" इस आश्वासन के द्वारा स्वामी जी ने प्रयास करने और कर्मयोगी होने का संदेश दिया। स्वामी जी धुरंधर कर्मों या कर्मयोगी और ज्ञान इच्छा शक्ति वाले को ही महापुरुष मानते थे। कर्मयोग और बुद्धि इच्छा शक्ति ही महापुरुषत्व है। ऐसा मनुष्य जो होना चाहे वही ही जायगा, तो प्रश्न उठता है कि मनुष्य क्या होना चाहे। स्वामी जी की राय है कि मनुष्य का लक्ष्य होना चाहिए आत्मोपलब्धि। कारण यह है कि अन्य सभी चीजों की प्राप्ति क्षणिक होती है। उनका विचार है कि जो लोग येशू आराम और विलासिता की ओर झुक जाते हैं वे कुछ देर के लिये बले ही तेजस्वी और बलवान बन पड़ें किन्तु अन्ततोगत्वा वे बिल्कुल नष्ट हो जायेंगे। इसीलिये स्वामी जी अपरिग्रह, संयम और त्याग को महत्वपूर्ण मानते थे। त्याग को वे "भारत की स्नातन पताका" मानते थे। यही कारण है कि योडे में जीवन यात्रा का निर्वाह करके आत्म संयम पूर्वक प्रयत्न करना चाहिये। वे पवित्रता को मूल तत्त्व मानते थे। इसके बिना पर्वत, गुहा, काशी अथवा स्वर्ग-सभी बेकार हैं। यदि पवित्रता हुई, चित्त निर्मल हुआ तो वास्तविक सत्य का अनुभव

अवश्य होगा। ऐसा व्यक्ति किसी से भी नहीं डरेगा, क्योंकि उसे अपने ऊपर विश्वास होगा। हमारे पतन का कारण उन्होंने यही बताया कि हम डरते हैं क्योंकि हम अपने ऊपर विश्वास नहीं। उनका कथन है, "हमारे देश के ये तैतीस करोड़ लोग मुट्ठी भर विदेशियों के सामने सिर झुकाते हैं और वह लोग हमसे नहीं झुकते, इसका कारण क्या है? इसका कारण यह है कि उनको अपने पर विश्वास है और हम लोगों को अपने ऊपर विश्वास नहीं है"। इसीलिये उन्होंने हमें सक्रियशाली बनने का उपदेश दिया और कहा कि वे ऐसे युवक चाहते हैं जिनका शरीर फौलाद का बना हो। उन्होंने जाति और वर्ग के भेद को मिलाकर स्वयं आत्मन के देखने का संदेश दिया और सभी को महान तथा साधु बन सकने का अधिकार दिया, "जाति विशेष, स्वल, निर्बल का विचार न कर प्रत्येक स्त्री-पुरुष को, प्रत्येक लड़के-लड़की को सिसला-जो, बतलाजो कि स्वल-दुर्बल, ऊँच-नीच सभी के भीतर वह अनन्त आत्मविषयमान है इसीलिये सभी महान बन सकते हैं, सभी साधु बन सकते हैं"। स्वामी जी की दृष्टि में भारतीयों की महानता का स्वरूप पार्श्वात्य नहीं हो सकता। उनका कथन है, "हमें अपनी जातीय विशेषता को रक्षित रखना होगा... हमारे अधिकांश आधुनिक संस्कार पार्श्वात्य कार्यप्रणाली का अनुकरण मात्र हैं। भारत में कभी इसके द्वारा तुष्टार नहीं हो सकता।" हिंदू जाति और उसकी अमरता की शक्ति में स्वामी जी का अक्लबल विश्वास था। वे मानते थे कि हिंदू जाति की यह जीवनी शक्ति समय आने पर महानवी की तरह प्रवाहित होगी। उनको ही ऊर्ध्व में इसका कारण यह है, "अपनी वीरता के कारण वे (भारतवासी) दुश्मन का एक सहीपके सामने सामना कर सकते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि उनके लिये कोई दुश्मन नहीं है। इसी वीरता ने उन्हें सताकियों के विदेशी आक्रमणों और निर्बल अत्याचारों के सम्मुख अजेय रक्खा है। वह जाति आज भी जीवित है और उस जाति में इस जघन्य दुर्वला और विषमता के बिना मैं भी आत्मिक

१. 'वेदान्त-दर्प', पृ. २०६।

२. यही, पृ. २११।

३. यही, पृ. २१४।

उन्नति के प्रबल महारथी उत्पन्न हुए हैं^१। निश्चित है कि ये विचार किसी भी जाति के आत्मिक और नैतिक उत्थान में असाधारण रूप से सहायक हो सकते हैं। यह आत्मा की भाषा है; यह नीति की वाणी है। बीसवीं सदी में स्वामी जी के ये विचार पुस्तकों के माध्यम से चारों ओर फैल गये।

गांधी की दैन

पीछे हम देख चुके हैं कि गांधी जी ने किन किन उपायों और साधनों के द्वारा देश के आत्मिक और नैतिक उत्थान का प्रयास किया था। यहाँ हमें यह देखना है कि उन्होंने किन किन गुणों और प्रवृत्तियों को विशेष रूप से उभारा। गांधीवाद पर अपना मत प्रकट करते हुए शैतिप्रिय द्विवेदी ने लिखा है, कि जब तक अज्ञान के वातावरण में साधारण वर्ग दुःख सहता आया है एक मूढ़ पार्श्विक की तरह; उच्चवर्ण स्वर्गीय सुख प्राप्त करता आया है एक कूट-नीतिज्ञ की तरह। इस मूढ़ता और कूटनीतित्व के बीच पुनर्मानवता का जागरण ही समाजवाद और गांधीवाद है^२। उनके मत में पुनर्मानवता सामाजिक विवेक, ऐतिहासिक तत्त्वान्वेषण और ऐतिहासिक विकृतियों का प्रकटीकरण समाजवाद के द्वारा होता है तथा ईश्वर, धर्म और मान्य का समुचित स्वरूप आध्यात्मिक बल, पौराणिक शोधन और सत्य को उसके आदर्श रूप में उपस्थित करना गांधीवाद के द्वारा होता है। अन्य सभी महात्माओं की ही तरह गांधी जी भी यह विशेषता थी कि वे कहते-ये बाद में और करके पहले दिखा देते थे। उनके गुण वाणी द्वारा अभिव्यक्त होने के पूर्व उनके कर्मों और व्यक्तित्व से पूर्ण रूपेण अभिव्यक्त हो उठते थे - ठीक वैसे ही वैसे प्रसर प्रकाश के विकीर्ण होने के पूर्व अज्ञात। लोग यह तो कह सकते थे कि क्या करें, माई, हम महात्मा नहीं हैं, यह हमसे नहीं होता, लेकिन कोई नहीं कह सकता था कि गांधी जी की बहुत बल की ही नहीं जा सकती। उनकी इस विशेषता के

१. 'मक्ति वेदान्त', पृ. १४।

२. 'धुन और साहित्य', पृ. २७।

कारण लोग उनकी बातों से असाधारण रूप से प्रभावित हो जाया करते थे।

गांधी जी ने आत्मबल को अश्वत बल और जडवाद या पशुबल को निकम्मी चीज माना। उन्होंने कहा है, 'आज जडवाद का ही बोलबाला है और लोग ऐसा समझने लगे हैं कि चैतन्यवाद या आत्मबल कुछ है ही नहीं, क्योंकि हम न तो हाथों से उसे छू सकते हैं और न बाँसों से देस सकते हैं। परंतु मैं अध्यात्मवादी हूँ और मेरे लिये नैतिक बल के सामने पशुबल की कोई कीमत ही नहीं है। मैं तो अब भी यही कहूँगा कि पशुबल अत्याची है और अध्यात्मबल या आत्मबल या चैतन्यवाद एक अश्वत बल है। यह हमेशा रहने वाला है कम क्योंकि यह सत्य है। जडवाद तो एक निकम्मी चीज है।' ^१ अकेले इसी आत्मबल के सहारे गांधी ने सारे संसार की मौलिक शक्तियाँ और प्रभुताओं को चुनौती दे दी थी। सत्याग्रह मैं इसी आत्मबल की अभिव्यक्ति होती है। ऐसे सत्याग्रह कोई नई चीज नहीं है। गांधी जी ने स्वीकार किया है कि सत्याग्रह शब्द से पहले उसकी उत्पत्ति हो चुकी थी। नामकरण मैं विलम्ब हुआ। पहले इसे 'पैस्विम रेजिस्टेन्स' कहा गया। पर जब गांधी जी ने देखा कि इसका संकुचित अर्थ किया जा रहा है, इसे कमजोरों का हथियार समझा जाता है और उसमें से हिंसा के प्रकट होने की सम्भावना है तो मदनलाल गांधी ने 'सत्याग्रह' का सुझाव दिया जिससे गांधी जी ने 'सत्याग्रह' बना लिया। यह सत्याग्रह संघर्ष का अंत नहीं करता बल्कि उनके स्तर को ऊँचा उठा देता है। यह संघर्ष कुरूपताओं से मुक्त है। यह संघर्ष विनाश नहीं, निर्माण करता है। यह नैतिक स्तर पर उठ जाता है। यह गलती करने वालों को बदल देता है। सत्याग्रही विरोधी के प्रति प्रेम, स्थापुष्टि, और आदर रखता है। यह विरोधी के पक्ष को भी ध्यान में रखता है। इसका सबसे कठिन अंग है विनय और 'विनय से तात्पर्य है विरोधी के प्रति भी मन में आदर, सरलभाव, उसके हित की इच्छा और तदनुसार व्यवहार।' सत्याग्रही कभी निराश नहीं होता। ऐसे विनय और ऐसी आशावाधिता

१. 'प्राचीन प्रवचन', भाग १, पृ. २००

२. 'गांधी जी की आत्मकथा', पृ. ३०९

के लिये असाधारण आत्मबल की आवश्यकता है जो असतु वादियाँ या कायरी
 में भी कभी नहीं पाया जा सकता और इसीलिये गांधी जी ने लिखा था,
 "नामर्ष कभी सत्याग्रही हो ही नहीं सकता, इसे पक्का समझिये"।^१ शक्ति
 आती है सत्य के आचरण से और अहिंसा के भाव से। सत्य का स्वरूप है निर्माण
 या सृजन या रचनात्मकता और अहिंसा का स्वरूप, पर से प्रेम या पर से आत्म-
 प्रतीति। सत्याग्रही को असतु भाषा नहीं करना है। झूठ नहीं बोलना है।
 सम्पारन में गांधी जी पर चलने वाले मुकदमों की असाधारणता का उल्लेख करते
 हुए राजेन्द्र बाबू ने कहा है कि गांधी जी ने गवाही को यह कर निरर्थक सिद्ध
 कर दिया कि उनको हुक्म मिला था और उन्होंने मानने से हन्कार कर दिया।
 गांधी जी ने कहा कि उन्होंने विवेक बुद्धि की आज्ञा मानकर सरकार की आज्ञा
 टाल दी। इससे मजिस्ट्रेट जो हक्का-बक्का रह ही गया, न मालूम कितनी के
 अन्दर सब बोलने की चाह पैदा हो गई।^२ न मालूम कितने किसानों के अन्दर
 इतनी शक्ति आ गई कि जो गोरों का नाम सुनते ही कांप उठते थे वे उनके
 खिलाफ बयान देने आने लगे। फिर सत्यकिष्का आई। उनकी कार्य प्रणाली
 बताते हुए राजेन्द्र बाबू ने लिखा, "... . जब तक सब बातों की पूरी तरह
 जांच न कर लें और उनका यह अपना विश्वास पक्का न हो जाय कि जिन
 शिकायतों को वह दूर करना चाहते हैं, वे सच्ची हैं, वह कुछ करना नहीं चाहते।^३
 फिर इतनी शक्ति मिली कि वह जो करना चाहते थे उसकी सूचना अपने विरो-
 धियों को भी दे देते थे। इसीलिये गांधी छिड़र थे। वे न मीठ से डरे, न
 पुलिस से डरे, न जेल से डरे, न कठिनाइयों से डरे, और न नौआसाली के मुँहों
 से डरे। यही स्थिति उनके सबसे अनुयायियों की भी थी। शक्ति मिली;

१. 'हिन्द स्वराज', पृ. ८८।

२. 'बापू के कदमों में', पृ. ११, १२।

३. वही, पृ. १५।

निर्भयता मिली। इसी सत्य ने अपने निश्चय पर दृढ़ रहने की शक्ति दी। गांधी का आत्मबल सत्य से निकलता है और सत्य ही गांधी का परमेश्वर है। इस सत्य पर विश्वास ही जास्तिकता है। इसलिये गांधी जी बहुत बड़े आदित्य थे। उन्होंने बार-बार कहा है कि ईश्वर पर विश्वास बहुत बड़ी सहायता है। उन्होंने कहा है, 'धर्म उन लोगों के कारण बढ़ता है जो ईश्वर का नाम लेते हैं, ईश्वर का काम करते हैं, ईश्वर का स्तवन करते हैं, उपवास और व्रत करते हैं और ईश्वर से आशु करते रहते हैं कि मग्यन्, हमें रास्ता नहीं दीसता, तू ही बिता।'¹ गांधी जी मानते थे कि राम नाम सबसे ऊँची दवा है किन्तु उसकी अनुभव करने के लिये धीरज चाहिये। उस ईश्वर से शक्ति पाने के लिये प्रार्थना होनी चाहिये और गांधी जी के लिये प्रार्थना कितनी महत्वपूर्ण थी - यह कहने की आज आवश्यकता नहीं रह गई है। यह आत्मशक्ति की एक बहुत बड़ी देन थी कि गांधी को सबकी मलमलसाहत पर विश्वास था। उनका कहना था कि विश्वास में से विश्वास निकलता है। विश्वास से दगाबाजी का सामना करने की ताकत मिलती है। संयम को वे अहिंसात्मक बहादुरी का एक साधन समझते थे। संयम ही हमें प्रतिहिंसात्मक होने से रोक सकता है। वे गुस्से का जवाब गुस्से से देना अन्याय समझते थे। वे केवल साध्य की ही सात्त्विकता से संतुष्ट नहीं थे बल्कि साधन को भी सात्त्विक देना चाहते थे। उनका विश्वास था कि शत्रु साधन से सही काम कभी हो ही नहीं सकता। गांधी जी उपवास को आत्मशुद्धि का श्रेष्ठ साधन मानते थे। उनका यह भी विश्वास था कि किसी विषय में यदि सहजता नहीं मिली तो उसका कारण अपने ही अन्दर की कोई कमी है। इसीलिये उनका विश्वास था कि कोई बाहरी शक्ति इन्सान को नहीं गिरा सकती। गांधी जी अपने प्रतिपक्षी को प्रेम के प्रयोग से जीतते थे। उसके मन में अपनी भावनाओं को जागृत करके वह मै करते थे। उन्होंने अपने लड़ने का जी तरीका बताया है वह पूर्णरूपेण 'आत्मिक और नैतिक शक्तियों पर

आधारित है। उनका कथन है, 'मेरा लड़ने का तरीका तो राम-जैसा है। राम रावण युद्ध जब चल रहा था तब विभीषण ने राम से पूछा कि आप विनयरथ के हैं, आप कैसे लड़ेंगे? तब राम ने सच्चाई, शौर्य आदि गुणों के आधार पर कैसे लड़ाई लड़ी जाती है, यह बताया।'^१ गांधी जी जिस अचरीरी सत्त्व के उपासक थे "राम" उसी का प्रतीक बना। गांधी जी ने सच्चाई पर बड़ा जोर दिया और कहा कि जिसका शरीर मलिन है, क्योंकि वह भी मन की मलीनता से ही होता है, और साथ ही जिसकी दृष्टि में गंदगी रहती है, जो भगवान का भजन न सुनकर दुष्टों का इतिहास सुनता है वही सच्चा कौड़ी है। गांधी जी के अनुसार अपनी सच्ची सच्चाई अपने ही द्वारा ही सकती है और इसी लिये वे युद्ध की मदद या ^{स्व}आश्रय के कायल थे। स्वावलम्बन को वे नितान्त आवश्यक समझते थे। वे चाहते थे कि आदमी कम से कम में अपना गुजरारा कर ले। वे अपरिग्रह सिखाते थे। वे स्वादेन्द्रिय पर विजय पाने को अत्यन्त कठिन किन्तु अत्यन्त आवश्यक मानते थे। हुआत का प्रमो उन्हींने घोर विरोध किया। वे इतना साधा भोजन पसंद करते थे कि नमक-मिर्च जैसी चीजें भी मिलाकर कुछ पांच ही चीजें प्रमोजन में चाहते थे। बुराई दूर करने का तरीका सक्रिय असहयोग का था। कानून और सरकार को वे हिंसा से संबंधित मानते थे और हिंसा उन्हें इतनी अस्वाभी कि उन्हींने लिखा है, 'यह मानना नास्तिकपन और बहम है कि बहुसंख्यक की बात अल्पसंख्यक की माननी ही चाहिए।'^२ वे मानते थे कि संख्या और शक्ति के सामने संकल्प और साहस का बल भारी पड़ सकता और विजयी हो सकता है। इन और जैसे ही अनेक गुणों का और प्रवृत्तियों का प्रत्यक्ष एवं परीव रूप से प्रचार करके गांधी ने मोतीलाल नेहरू से लेकर वैद्यों के ज्ञात-अप्रसिद्ध कार्यकर्ताओं तक को ऊपर पहनवा दिया, चप्पलें कतवा दिया, साधा जीवन बितावा दिया, उभासे

१. 'प्राथम्य प्रवचन', पृ. १५, १६।

२. 'हिन्द स्वराज्य', पृ. ८६।

चने चबवा दिये, प्रार्थना में बिठला दिया, जेल जाना और वहाँ के कष्ट सहना सिखा दिया। गीता लेकर हंसते-हंसते ज्वांसी पर चढ़ जाना सिखा दिया। पंजाब के गुरुद्वारों के बहुतेरे निकम्मे और पुराचारी महन्तों का गुरुद्वारों पर नियन्त्रण कम करने के लिये अकालियों ने बीसवीं सदी के तृतीय चरक में जो आन्दोलन चलाया था वह गांधी जी की उपर्युक्त शिक्षाओं का ही प्रभाव था। उसका स्वरूप यह था कि सरकार ने अकालियों को सत्याग्रह करने के लिये जाने से रोका, 'कुछ अच्छे तगड़े जवान सिक्ख हाथ जोड़े हुए आगे बढे। उधर से लोहे और पीतल से मढ़ी हुई लाठियाँ लिये हुए पुलिस के सिमाही एक अंग्रेज अफसर के साथ आगे आए। उन लोगों को उन्होंने रोका। वे लोग बैठ गये। इस पर उन लोगों की लाठियों से खूब पीटा। वे फिर उठकर सड़ा होना चाहते पर मार कर गिरा दिये जाते। यह क्रम उस वक्त तक चलता रहता जब तक वे बेहोश नहीं हो जाते। बेहोश हो जाने पर ऐम्बुलेन्स पर लाकर उनको दूसरे लोग उठा लाते। कभी कभी उनके केश पकड़ कर उन्हें घसीटा भी जाता.... पीठ पर ^{अपना} सिर पर वार करते थे, अक्का दोनों जंघों के बीच में लाठी लगाकर कोतों पर चोट करते या पेट में मारते थे..... सिक्खों की हिम्मत और बर्बाद की शक्ति भी अद्भुत थी।' यह आत्मशक्ति का ही प्रभाव था कि एक बार जब गांधी से कहा गया कि अपना सन्देश रीफंड करवा दें तो उन्होंने कहा कि यदि मेरे सन्देश में सत्य है तो मैं जेल के अन्दर रहूँ या बाहर उसे लोग सुन ही लेंगे। चान्तिप्रिय द्विदेवी ने नेहरु जी का यह विचार लिखा है कि साधी का सबसे अच्छा परिणाम मानसिक हुआ है। साधी ने शहर वालों और गांधवालों के बीच की खाई को पाटने में ^अकुछ कामयाबी हासिल की है। अतएव से आत्म-निर्भरता ^{की} निकली। राजेन्द्र बाबू ने लिखा है कि हम सत्याग्रह की जिस छंवाई पर पहुँचे हैं उससे निःसन्देह इतिहास का रूप बदल निकल गया है। यह आत्मिक और नैतिक उत्थान संबंधी आन्दोलनों का ही

१. 'राजेन्द्र बाबू कृत 'आत्मकथा' पृ. २३५, २३६, २३७।

२. 'वृन्त और विकास', पृ. १६।

३. पदटापिसीतारामेया कृत 'काँग्रेस का इतिहास', की प्रतिका, पृ. ७।

प्रभाव है कि वह लाठी जो मारने का साधन थी जाने बढने का सहारा बन गई। इसी प्रभाव के परिणामस्वरूप भारत की राष्ट्रीयता में अंगरेजों के प्रति द्वेष या घृणा बहुत कम थी। आर्यसमाज ने औद्योगिक सामाजिक विवेक जागृत किया था जिसे गांधी ने आत्मशक्ति द्वारा सत् प्रधान राजनीति में परिवर्तित कर दिया और खीन्नाय साह्याल ने लिखा है, "..... अधिकांश युवक एक ऊँचे आदर्श की साथ में अपने संपूर्ण जीवन को सार्थक बनाने की सोच में, अपने मनुष्यत्व का, अपने व्यक्तित्व का, अपने "स्व" का स्वा-गीण स्वतंत्र विकास करने की सातिर इस व्रत में घीवा लेते थे।"

हम पर इनका प्रभाव

इस प्रकार नैतिक और आत्मिक पुनरुद्धान की प्रवृत्तियाँ एवं आन्दोलनों ने हमारे जन-मानस को आश्चर्यजनक रूप से प्रभावित किया। साहित्यिक-चेतना जन - मानस की अपेक्षा कहीं अधिक संवेदनशील और ग्रहणशील होती है। उन पर इनका प्रभावभारतेन्दु युग से ही पडना प्रारम्भ हो गया था क्योंकि आधुनिक काल में भारतेन्दु युग से ही हिन्दी साहित्यिकों ने धार्मिक सहिष्णुता का मार्ग अपनाना प्रारम्भ कर दिया था जिसकी पूर्णतम परिणति ब/ बीसवीं सदी में हमें मैफिलीवरण गुप्त में दिसाई पडती है। रूढ़ियाँ, और अ-अन्धविश्वासों की विपुल राशि को काट फेंकने के आर्यसमाजी कार्यक्रम का यह प्रभाव पडा कि हिंदू धर्म विबुध नीति वाला धर्म हो गया। उसका नैतिक पक्ष प्रचल हो गया। आधुनिक हिन्दी साहित्य में धार्मिक साम्प्रदायिक^{ता} इसीलिये कहीं भी नहीं दिसलाई पडती। वह उच्च कोटि के नैतिक और आत्मिक स्तर की अधिकव्यक्तियाँ का वृन्दावन है। विश्वनाथ मिश्र ने लिखा है कि आर्य - समाज ने "अपनी और से हिंदी लेखकों और कवियों के जीवन संबंधी दृष्टिकोण को अधिक युक्तिवादी अथवा बुद्धिमान बना दिया"।^१ दिनकर ने लिखा है,

१. 'बन्धी जीवन', भाग, २, पृ. ६।

२. 'इंग्लिश इन्कलुपन्स ऑन हिन्दी पैड लिटरेचर'; (१८७० ई. से १९२० ई.) नामक थीसिस, पृ. ८७३

कि शृंगार की कविता लिखते समय द्विवेदी युग के कवियों को माना ऐसा लगने लगता था जैसे कि स्वामी दयानन्द पीछे सड़े देस रहे हों^१। यह बड़ी भारी बात थी। परिणामस्वरूप आर्य समाजी लेखकों को आर्य समाजी विचारधारा से संबंधित विविध कृतियाँ से हिन्दी साहित्य भर गया। लक्ष्मी नारायण गुप्त ने इस विविध साहित्य का विस्तृत परिचय देने का प्रयत्न किया है^२॥ "आर्यदर्शन", "आर्यवर्त", "आर्यमित्र", "दयानंद पत्रिका", "वैदिक मार्गदर्श", "वैदिक सम्पत्ति", "अर्जुन", "आर्यगण्ड", "आर्यजीवन", "सार्वभौमिक", "हिन्दी" मिलाप" आदि पत्र-पत्रिकाएँ, उपन्यास, कहानियाँ, नाटक, जीवनचरित, वैद्यभाष्य एवं अन्य वैदिक साहित्य के अनुवाद आदि निकले। तुलसीराम स्वामी का सामवेद और श्वेताश्वतर का भाष्य, पं. आर्जुन का "वेदान्त तत्व कौमुदी", "इन्द्र वेदा-लंकार का "उपनिषदों की भूमिका", देवदत्त शर्मा "अमर" का "वैदिक विनय", नारायण स्वामी द्वारा रचित "वैदिक साहित्य", मंगलदत्त का "वैदिक वाङ्मय का इतिहास", बामोदर सातवलेकर^३ का "वैदिक साहित्य", "रघुनंदन शर्मा का "वैदिक सम्पत्ति", मुंशीराम शर्मा "सोम" का "प्रथमजा", नारायण स्वामी का "आत्म-दर्शन", "मृत्यु और परलोक", गंगाप्रसाद उपाध्याय का "आस्तिकवाद", दीवान चंद का "स्वाध्याय संग्रह" लक्ष्मण शर्मा के प्रहसन, वासुदेवचरण का "उज्ज्वलीति" और सैकड़ों छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ हिन्दी साहित्य को आर्य समाज की महत्त्वपूर्ण देने हैं। इन नैतिक और आत्मिक उत्थान के आन्दोलनों का हिन्दी साहित्यिकों के मानस पर कितना असाधारण प्रभाव पड़ा था और वह कितना अनुभूति झील हो गया था इसका एक उदाहरण दयानंद मुन्दरदास ने प्रस्तुत किया है - "जब कौछ की समाप्ति पर उत्सव मनाने की चर्चा हो रही थी तब यह निश्चय हुआ कि प्रत्येक जीवित सम्पादक को एक पुछाला, एक पड़ी और एक काउन्टेन पेन उपहार में दी जाय.... एक दिन बातों बातों में मैंने अपनी स्त्री से कहा इस आयोजन का हाल पूछा। उसने पूछा कि "क्या तुम भी पुछाला, पड़ी

१. "काव्य की भूमिका", पृ. २८

२. "हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्य समाज की देन"

और कलम होगे।" मैंने उत्तर दिया, "क्यों नहीं ?" उसने प्रत्युत्तर दिया - "यह स्वभा अनुचित है। समा को तुम अपनी कन्या मानते हो, उसकी कोई चीज को लेना अनुचित और धर्मविरुद्ध समझते हो, फिर ये चीजें कैसे ले सकते हो ? यह था द्विवेदी युग के हिन्दी साहित्यिक का भावात्मक या आत्मिक उत्थान। फिर भी द्विवेदी युग का साहित्य निम्नलिखित साहित्य नहीं है। जैसे इस युग के आत्मिक उत्थान संबंधी आन्दोलन व्यक्ति को संन्यासी नहीं बनाना चाहते थे, कर्मठ गृहस्थ बनाना चाहते थे, वैसे ही इस युग की कविता से संन्यास की ध्वनि नहीं निकलती और न वह संन्यासी की वृत्तियों से मरी है। वहाँ नर और नारी दोनों का मूल्य समाज में उठा था। 'पथिक' में, 'प्रियप्रवास' में, 'साकेत-यशोधरा' - 'भारत-भारती' में एक उच्च कोटि की आत्मिक श्रेष्ठता दिखाई पड़ती है। ये पुस्तकें असाधारण रूप से ऊँचे नैतिक स्तर पर हैं। जाति-गत कटुता और संकुचित दृष्टिकोण जो इसमें कहीं नहीं है सो इसी उन्नत आत्मा का फल है। अनुवादकों के द्वारा रामकृष्ण परम हंस और विवेकानन्द के वचनामृत हिंदी की निधि हो गये। निश्चित रूप से हिन्दी इनसे समृद्ध हुई है। रामकृष्ण मिशन के हिंदी प्रकाशन इसके प्रमाण हैं। द्विवेदी युग में साहित्य-सृजन कविता लिखना तथा हिंदी का प्रचार और प्रयोग पवित्र कार्य समझा जाता था। इस पृष्ठभूमि में हम रामकुमार वर्मा के इन कथनों को सही समझते हैं और उनपर विश्वास करते हैं, "मैंने कविता को एक अत्यन्त पवित्र अनुभूति के रूप में समझा है। इसीलिये मैंने किसी हल्के काम में कविता नहीं लिखी। अपने काष्ठ्य जीवन के प्रगात में तो मैं स्नान करकविता लिखने बैठता था, आज जब मैं कविता लिखने बैठता हूँ तो जैसे पूजा की पवित्रता मेरी लेखनी की नौक पर आ बैठती है। संभवतः यही कारण है कि मैं भौतिक दुनिया की कोई कविता नहीं लिख सका था जीवन की उन बातों पर प्रकाश नहीं डाल सका जिन पार्थिव जीवन के द्रोह में अपनी दैनिक गति से घटित होती रहती हैं।" ^१ सम्भवतः यही कारण है कि

१. 'मेरी आत्म कहानी', पृ. १७५।

२. 'आधुनिक कवि' भाग ३ की भूमिका, पृ. ३।

उनके हास्य और व्यंग्य प्रधान नाटकों का उद्देश्य केवल हंसाना ही नहीं है, हृदय का परिष्कार भी करना है। उन्होंने स्वयं इसे स्वीकार किया है।^१ नैतिक और आत्मिक उत्थान संबंधी आन्दोलनों की भूमिका में ही अथवा उनके द्वारा पढ़ने वाले व्यापक प्रभाव के परिणामस्वरूप ही महावीर प्रसाद द्विवेदी ने उन विनी दो-सौ रुपये मासिक की नौकरी छोड़कर तेईस रुपये मासिक की सम्पादकी स्वीकार की और इन्हीं आन्दोलनों से निःसृत ^{नवनीत} व्यक्तीय के प्रभाव ने ही उन की धर्मपत्नी के मानसिक और नैतिक स्तर को इतना ऊंचा उठा दिया था कि द्विवेदी जी को उनका भी समर्थन और सहयोग मिल गया। तत्पश्चात् द्विवेदी युग में साहित्य की एक नैतिक मर्यादा थी - एक ऊंचा आदर्श था। "कानन कुसुम" में मातृ धर्म आदि को धूर करके मानवमात्र से प्रेम करने, संसार भर को मित्र बनाने एवं परम पिता की प्रिय संतान की तरह अभिन्न रहने की बातें हैं। "कामना" में विश्ववन्द्युत्त्व और सम्पूर्ण मानवता के प्रति प्रेम की भावना है। पंत का "उद्योत्स्न नामक आदर्शवादी रूपक आत्मिक और नैतिक उत्थान सम्बन्धी इन आन्दोलनों की पुष्टभूमि पर ही लिखा जा सकता था। पंत ने लिखा है, "रागात्मिका वृत्ति के परिष्कार को मैंने नव मूर्खता के निर्माण के लिये अनिवार्य मूल्य माना है। गांधी जी का सक्रिय अहिंसा का सांस्कृतिक राजस दान नव मानवता के अमूल्य उपादानों में रहेगा"^२। वे स्वीकार करते हैं कि 'पश्चिमका जीवन सौष्ठव हो विकसित विश्वतंत्र में वितरित, प्राची के नव आत्मोपपत्ति से स्वर्णप्रसिद्ध भू तमस तिरौहित' इत्यादि ऐसा कहकर मैं स्वामी विवेकानन्द के सारगर्भित कथन का "मैं यूरोप का जीवन सौष्ठव तथा भारत का जीवन-दर्शन चाहता हूँ" की ही अपने युग के अरूप पुनरावृत्ति कर रहा हूँ।"^३ विवेकानन्द ने लिखा है,

१. "दिमखिम", पृ. १९।

२. "चिंतन", पृ. १७।

३. वही, पृ. ३१।

४. "उत्तरा" की भूमिका, पृ. २२।

‘बल्कि इस (सार्वभौमिक साहित्य) विषय में तो चींटी अन्य जन्तुओं से श्रेष्ठ है’^१ और पन्त ने ‘चींटी’ डीपक कविता में लिखा, ‘वह समस्त पृथ्वी पर निर्मय, विचरण करती श्रम में तन्मय, वह जीवन की चिन्ताहीन अक्षय!’...’ जीवित चींटी जीवन-वाहक, मानव जीवन का घर नायक!’ प्रसाद की ‘कामायनी’ में अलौकिक उक्ति संपन्नता, यम, नियम, उपासना, समन्वय, नारी के उदात्तकृष्ण रूप विश्व मैत्री, मानवता-प्रेम, विश्व बन्धुत्व आदि की भावना और उच्चकोटि के नैतिक जीवन तथा आध्यात्मिक बल प्राप्ति का संदेश मिलता है। प्रेमसन्ध और प्रसाद का आदर्शवाद इन्हीं आन्दोलनों की पुष्ठभूमि पर है। बालकृष्ण राय ने सही ठीक ही लिखा है, ‘छायावाद विद्रोह की भूमिका में साहित्य के मंच पर उतरा था पर उपदेशक बनकर हमें शान्त रहने, सन्तोष करने और दुःख को हंस कर स्वीकार करने का पाठ पढ़ाने लग गया।’^२ छायावाद में निश्चित रूप से विराट और उदात्त भावनाएं हैं। इसके पश्चात् राजनीति में समाजवादी विचारधारा फैल गई और साहित्य में प्रगतिवाद आ गया। सहज स्वभाव, अशेष, जोशी, पहाड़ी, धर्मवीर भारती आदि की रचनाओं ने अपने की इन नैतिक और आत्मिक उत्थान सम्बन्धी आन्दोलनों के प्रभाव से सैद्धान्तिकता और बोधिकता के द्वारा जैसे - जानबूझ कर मुक्त कर लिया हो। गांधी, विनोबा - विवेकानन्द के युग पर प्रजासत्त और समाजवाद के बाधल छा गये हैं। साहित्य मार्क्स, फ्रायड, भौतिकवाद, यथार्थवाद आदि के धुरं में घुटन और कुंठा की अनुभूति कर रहा है।

१. ‘मानवीय’, पृ. ६२।

२. ‘कल्पना’ पत्रिका, मार्च, १९५५

पार्श्ववात्य सभ्यता और हिन्दी प्रवेश

(पृष्ठ ७२२ से ७६८ तक)

पार्श्ववात्य सभ्यता क्यों लाई गयी -- लाने की प्रक्रिया -- बीसवीं सदी में उत्तम
ज्याकर प्रभाव -- पुनरुत्थान की प्रक्रियाओं पर उनका प्रभाव: कार्य समाज --
ईसाइयों से जनता की वरुधि -- हमारी उदारता, उनकी कुराई -- पार्श्ववात्य
सभ्यता के उपकरण और उनका प्रभाव -- हिन्दी प्रवेश के मुख्य गडों पर अधिकार --
असन्तुष्ट का अंकुर और उसका बढ़ना -- प्राचीन नवीन की तुलना और नवीनका
अनर्थ-ज्ञान -- अंगरेजी सभ्यता का साहित्य पर प्रभाव -- विज्ञान और वैज्ञानिक
दृष्टि -- साम्यवादी विचारधारा -- फ्रायड -- मनोविज्ञान -- इलियट --
प्रतिविम्बवाद तथा कुछ महत्वपूर्ण विचारक -- पार्श्ववात्य सभ्यता हमें पतन की ओर
ले चली -- दो इंग्लैंड और एक से हमें सहायता मिली -- हमारे भीतर की संजीवनी
शक्ति -- अच्चे का उपयोग और उसका प्रभाव ।

पार्श्वान्त्य सम्पत्ता क्यों लाई गई ?

भारत के व्यापार और धन पर अपना सम्पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त करने के अन्तर्गत अधिकारी की प्राप्ति के लिये भारत में होने वाले यूरोपीय व्यक्तियों के संघर्षों में जब अंगरेज पूरी तरह से विजयी हो गया तो उसका दूसरा काम हुआ फल का उपयोग अर्थात् व्यापार पर अपना हजारों कायम करना और जिस तरह से हो सके धन बढ़ाना। उन्होंने राजनीतिक परतन्त्रता की गुंथला से बांधकर हमें अपंगु, अशक्त और प्रतिकार कर सकने में पूर्णतः असमर्थ कर दिया। निर्भीक का ही अहर्षण और उसकी विभूतियाँ को ही यथेष्ट उपयोग संभव भी होता है। अंगरेजों ने पहले तो सेवा-सत्कार के बदले प्राप्य बत्थीस के रूप में व्यापार करने की स्वतंत्रता ही मांगी थी किन्तु जब उसे १ राजनीतिक अधिकार भी मिल गये तो उसने उसका भी अपने उद्देश्य की दृष्टि से लूटी (और मानवता तथा नैतिकता नीति की दृष्टि से गलत) उपयोग प्रारंभ कर दिया। तात्पर्य यह कि नीति-अनीति, लूटी-गलत, अच्छे-बुरे, सभी ढंगों से धन इंग्लैंड पहुँचाया जाने लगा। व्यापारियों को 'लाम' होने लगा। यदि अंगरेज व्यापार तक ही सीमित रहता तब तो बात दूसरी थी लेकिन व्यापार की भूमिका में जो उसने राजनीतिक अधिकार लिये तो रंग-ढंग बदल गया। इससे फायदा भी हुआ और नुकसान भी। फायदा यह हुआ कि व्यापार के क्षेत्र में जहाँ, जिस दर पर, जिस क्षण पर जिस प्रकार, जितना जिसके द्वारा और जो चाहा वह करने की उसे सुविधा मिल गई। दूसरी ओर जो उसकी जिम्मेवारी देश पर राज्य करने की हुई वह एक बहुत बड़ी बात थी। के हमारे तंत्र यानी हमारी संस्कृति से अपरिचित था अस्तु, इसके अनुसार यानी हमारी प्रकृति और परम्परा के अनुसार वह शासन न कर सका और न जीवन की मतिविधि ही नियोजित और निर्धारित कर सका। कुछ कुछ क्षेत्रों में (जैसे कानून के) उसने मौलवियों और पंडितों से राय ली किन्तु हमारी संस्कृति परम्परानुसार से संभव

न-हरे-सकने-न-वैसे-बने;-हमकरे-जिनन-मै-हमकरे-हने जैसे छिन्ननरी से खड्गों की प्रकृति और भाषा की प्रकृति नहीं जानी जा सकती वैसे ही उसकी गतिविधि हमारी सांस्कृतिक परम्पराओं से सम्बद्ध न हो सकी। वैसे भी, हमारे जीवन में हमारे ही तंत्र को चलते देने में उसका कोई विशेष लाभ भी नहीं था। लाभ तभी संभव था जब हमारे जीवन को अंगरेज अपने अंगरेजी तंत्र से बांधते। ऐसा करने से लाभ यह था कि स्थूल इन्द्रियों से लेकर बुद्धि तक हम उनके अनुगामी (नकलवा) बन सकते थे। परानुयायी या परानुगामी का अपना विशेष कुछ भी नहीं होता। जब इनका स्वका प्रभाव वह आंतरिक रूप से भी ग्रहण कर लेता है तो उसकी अपनी संस्कृति भी नष्ट हो जाती है। तंत्र का संबंध जहाँ तक अस्तित्व के जड़ पद से है वहाँ तक सत्यता का वृत्त है, और जहाँ तक आन्तरिक पद से है, चेतन से है वहाँ तक संस्कृति का। तो, स्थूल इन्द्रियों से लेकर बुद्धि तक यदि हम उनके रंग में अनुरंजित हो जायें तो 'तन से काळे लें मन से गौरे' बन जायें। उनके जैसे बने - सिले कपड़े पहनने की नकल करें, उनके यहाँ की ही बनी चीजों का उपयोग करें, उनके जैसे बने घर-कसरतों में रहें, उनके जैसे कुर्सी-मैज का उपयोग करें, उन्हीं की तरह बोलें, उनकी ही बोली बोलें, उन्हीं का साहित्य पढ़ें, अपना साहित्य और बोली बोलने में अहचन कठिनाई और अपमान का अनुमान पद करें, उन्हीं की तरह अपनी पत्नी से बोलें, व्यवहार करें और प्रेम करें, उन्हीं की तरह के विशालय जुलें, उन्हीं की तरह मुँह भी हँ और चिख्य भी, उन्हीं की तरह हम भी रुपये के गुलाम हों और आदमी को रंग मात्रमाने, बादि। इससे उसके व्यापार में भी फायदा था। उनकी जैसी चीज हम बना नहीं पायेंगे। तो हम अपने यहाँ का कच्चा माल उन्हें देकर कहेंगे किताबत जैसे आपकी चीज है वैसी ही इसे भी बना दीजिये। इस बनी चीज को हम तिलुने दाम पर उनसे खरीदेंगे। यों उनका व्यापार बढ़ता है। वैसे, हम अपने यहाँ से भी सूट सिलवाते हैं लेकिन सन् १९५४ में भी ऐसे प्राणी हैं जो इंग्लैंड अमेरिका में सिला सूट पहनकर कुछ ज्यादा अकड़ और शान से चलते हैं। कहां वह और कहां यह। तो

इस तरह यदि सभ्यता की दृष्टि से भारत इंग्लैंड का अच्छा नकलवी हो जाय - और ध्यान रहे कि सभी दृष्टियों से सबसे अच्छा नकलवी पुत्र होता है - तो इंग्लैंड सभ्यता की दृष्टि से हमारी "पितृभूमि" हो सकती थी। अंगरेजों ने यही चाहा था मगर दुःस है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् मेकाले के कुछ सच्चे बेटे बे-बाम के होगये। अस्तु, कुछ व्यापार की दृष्टि से और कुछ अपने शासन को भारत पर लादे ही रहने की दृष्टि से यह नितान्त आवश्यक और सुविधाजनक तथा उपयोगी था कि भारत को शारीरिक, मान-सिक और बौद्धिक - सभी दृष्टियों से उसके अपने तंत्र से विमुक्त करके इंग्लिस्तान के तंत्र में बांध दिया जाय। सच्ची और समग्र पर-तंत्रता तो यही है।

पाश्चात्य सभ्यता के प्रचार की प्रक्रिया

अंगरेजों ने अपने तंत्र को हम पर ला देने का प्रयत्न बड़े ही व्यापक रूप में किया था। उनका कार्यक्रम स्थूल इन्द्रियों से लेकर अचेतन मन और बुद्धि तक बना। धर्म को भी उन्होंने नहीं छोड़ा। केरल-गौजा से लेकर काशी-प्रयाग - मथुरा तक मसीह के भक्तों ने हर संभव उपाय से मसीह के भक्तों की संख्या बढ़ाने का प्रयत्न किया और इस प्रकार उन्होंने भारत के पापियों की उद्धार क्रियान्वयन प्रारम्भ कर दी। १८५७ की विद्रोही के रूप में सुप्रसिद्ध और पहला बमबोम पड़ा और कुछ होकर अंगरेजों ने उस हाथ को पंजे को - दूरता-पूर्वक मिटाना - बर्बाद करना चाहा। ऐसा लगता है कि जैसे चौर किसी बेखबर सोये हुए आदमी को नोच रहे हों और ज्यों ही हाथ कलेजा काटने को बड़े त्यों ही वह करवट बदलकर हुंकार मर कर एक हाथ फटकार दे। धर्म-संस्कृति भारत का मर्म है। १८५७ के बाद अंगरेज समसुदर हो गया। उसने घोषणा की - हम तुम्हारे धर्म को न छुंयेंगे और हम यह सब काम तुम्हारी मालाई के लिये कर रहे हैं क्योंकि तुम हमारी प्रजा हो। बीस बड़ी से हमारी स्वतंत्रता का अपहरण करने वाला बड़े डुलार से हमें अपनी "प्रजा" कहने लगा। कुछ भी हो, १८५७ में जो नींव टूटी तो फिर हम सोये नहीं। सांस्कृतिक तंत्रा या प्रमाद का शौका

उसके बाद बड़ी तेजी से यदि फिर कभी आया है तो गांधी के मरने के बाद ही। अस्तु, भारतवर्ष में आकर अंग्रेजों ने यहाँ की भूमि व्यवस्था के क्षेत्र में अस्ति मार-तीय पैमाने पर जो परिवर्तन प्रारंभ किये उन सबका सारांश यह था कि जमींदार ठीक से राज्य कर देते रहें और अच्छे "ठेकादार" या गुड सिटीजन" बने रहें तो उन्हें इस बात में भी पूरी स्वतंत्रता थी कि वे जो चाहें करें और जैसे चाहें, रहें अर्थात् कुछ भी कमाई किये बिना जैसा चाहें, धन बसूँ - सम्पत्ति बढ़ावें और भोग-विलास, अनैतिकता, अत्याचार और जड़ता एवं पशुता की लाई में भारत के परवश-विस्मृत अमृतपुत्रों को ढकेलते रहें। हाँ, धन और प्रशासन संबंधी किसी विशेष अधिकार की मांग न करें। अंग्रेजों ने अपने अस्तित्व और स्थायित्व के लिये इनसे पूरी सहायता और सहयोग की आज्ञा की थी और वे निराश नहीं रहें। वे अंग्रेजों के मानसुत्र बने और अपने समस्त प्रभाव क्षेत्र को भी वैसा ही बनाने लगे। राज्य शक्ति की प्रकृति की अनुरूपता और प्रवृत्तियों का अनुसरण प्रजा की देते भी स्वाभाविकता होती है। एक ओर आजादी के, प्रयत्न भी होते रहे और दूसरी ओर पश्चात्य सभ्यता भी अपना जोर बिताती रही। यह घात - प्रतिघात चलता रहा। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी में १८५७ ई. की 'क्रान्ति के बाद अंग्रेजी शासन के कुछ होने के साथ ही पश्चात्य विचारधारा भी बेग से चलने लगी।'^१

बीसवीं सदी में उसका व्यापक प्रभाव

बीसवीं सदी में उन्नीसवीं सदी की ^{इन} प्रवृत्तियों का पूर्ण परि-पाक हमें मिलता है। अंग्रेजों की शासक या अज्ञात स्वाभाविक या अस्वाभाविक रूप से बरती जाने वाली कूटनीति की पूर्ण सकलता बीसवीं सदी में जुड़े रूप से-स्पष्टतम रूप से - हमारे सामने आ गई। हम में से लगभग सभी ने उनकी सभ्यता की थोड़ी बहुत सभी चीजें अपना ली - कुछ जान-बूझ कर, कुछ स्वारस्यवश, कुछ

१. 'आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक प्रोत्', पृ. ४०।

विवशतावश। आस्था और विश्वास, भावुकता और रागात्मकता की दृष्टि से हम मध्ययुगीन ही रह गये किंतु व्यवसायात्मिकता बुद्धि और बाह्य जीवन में हमारे अन्दर अंगरेजियत आ गई - आधुनिकता आ गई। हमारी आधुनिकता का अर्थ था, और बहुत कुछ है भी, अंगरेजियत या अंगरेजों की नकल। आधुनिकता यदि हमारे समाज की, हमारे जीवन की, प्रवृत्तियों के घात-प्रतिघात और तत्त्वजन्य आवश्यकताओं से उत्पन्न हुई होती तो समुद्र-मंथन से निःसृत अमृत की तरह होती किन्तु यह हमारे समाज पर लादी गई थी हम पर शासन करने वालों की स्वार्थ-पूर्ति की आवश्यकताओं के परिणामस्वरूप। घोड़ा गाड़ी के आगे नहीं था; गाड़ी घोड़े के आगे की गई। घोड़े ने गाड़ी साँची नहीं, गाड़ी ढकेली गई। हम विभक्त हो गये। आधा तीतिर आधा बटेर हो गये। पराजय और पराधीनता का यह सब परिणाम होता ही है। आर्नेल्ड ट्वेन्टन भी का भी यही मत है। यद्यपि उनके ये विचार योरोप तथा सारे विश्व को ध्यान में रखकर व्यक्त किये गये हैं फिर भी वे भारत पर भी चरितार्थ होते हैं,। वे कहते हैं, "विश्व में यूरोप का प्राधान्य और पश्चात्य सभ्यता की विस्तार साथ-साथ हुआ है। दोनों आन्दोलन एक दूसरे के पूरक और सहायक रहे हैं। यह कहना असम्भव होगा कि इनमें एक-दूसरे से कौन किसका कारण रहा है और कौन किसका प्रभाव। स्वाभाविक था कि यूरोप के राजनैतिक प्राधान्य के कारण पश्चात्य सभ्यता के प्रचार में सुविधा हुई क्योंकि व्यक्तिहीन और अकर्म के द्वारा सज्जता और सक्म का अनुकरण सदा से ही होता रहा है..... जिस सतावधी की समाप्ति १९१४ ई. के आसपास हुई है उसमें संसार को आर्थिक दृष्टि से नवीन पश्चात्य औद्योगिक व्यवस्था ने ही नहीं जीता था बल्कि उन पश्चात्य राज्यों ने भी जीता था जिनके अन्दर यह नवीन व्यवस्था पाई जाती थी और जिनकी इस व्यवस्था का आविष्कार किया था।" राजनीतिक दृष्टि से हारने वाली जाति के अन्दर एक प्रकार की मानसिकहीनता जो पैदा हो जाया

करती है, अंगरेजों के सामने वह हमारे अन्दर पैदा हो गई थी। फिर वह गौरे थे, हम काले और वह भी हमारी एक बड़ी कमजोरी है - चायद सारी मनुष्य जाति की कमजोरी कि हम काले की अपेक्षा गौरे की और अधिक आकृष्ट होते हैं। छोटा बच्चा काली की अपेक्षा गौरी दुलहिन, और मां-बाप काली सन्तान की अपेक्षा गौरी सन्तान अधिक पसंद करते हैं। इसलिये गौरा अंगरेज अपने आप देवदूत हो गया। 'बर्हमानी' या ईमानदारी, नीति या अनीति किसी भी तरह से हो, वह जीता और कई बार जीता। हम हारे और कई बार हारे। दूरता हम दिसला नहीं सकते इसलिये जब हम जीते तो हमने उन्हें आतंकित नहीं किया लेकिन जब वे जीते तो उनके नृसंहार, पाशविक व्यवहारों, पान्थीय प्रदर्शनों और दूरतापूर्वक यमन ने इन्सान तो क्या, धरती-वायु-आकाश, पानी और आग के एक-एक कण को धरा दिया था। बहु बैटियों की इज्जत गौरे सिमाही जुले आम दिन वहाडे सके सामने लूट लेते थे। जीना तभी संभव था जब हम अपने को उनका भक्त सिद्ध करके उन्हें यह विश्वास दिला देते कि हम हर संभव असंभव उपाय से उनके हैं। उनकी हर क्रिया के समर्थक हैं। १८५७ के बाद वे भी हम पर तभी विश्वास कर सकते थे जब हम इस तरह का पूर्ण आत्म समर्पण करते। जिवनी बहुत प्यारी होती है और सामान्यतः मानव 'जेती बड़े बयार पीठ तब तेती कीजे' का सिद्धांत मानता है। कमजोरों ने घुटने टेक दिये; वीर आगे पर खेल गये। कमजोरों की संख्या अधिक होती है; वीर अकेला ही होता है। हम कमजोर नहीं थे - कभी नहीं थे - पराधीनता के इन दिनों में भी नहीं थे - लेकिन एक बार हारने पर हमको अंगरेजों के हाथों जितना कुछ पुनर्जात पडा उसने हमको असहाय कर दिया। अंगरेजों को ब्राह्मण ज्ञान से स्तरा था तो संस्कृत के शास्त्र और वेदों-उपनिषदों के मर्मज्ञों को सरकारी नौकरियाँ और प्रतिष्ठा से इतना वंचित कर दिया गया कि ब्राह्मण को धिंदा रहने के 'पीर बबर्जी' मिश्री सर' सब कुछ बनना पडा। अंगरेजों को ठाकुरों की तलवार से डर था सो सेना में 'हवलदार' बन घाना भी उनके लिये कठिन हो गया।

उन्हें भारतीयों की बुद्धि से और संगठन शक्ति से मस या तो ऊँचे पदों पर भारतीयों को नियुक्त ही नहीं किया जाता था। भारतीय ठकुरसाय से वे पवरते थे तो कारीगरों के अंगूठे काटते फिरते थे, कच्चा माल, अपने भाई-बन्धुओं के ही हाथ बेचने पर भारतीयों को मजबूर करते रहते थे, ठकुरसाय के सभी प्रमुख स्थलों पर अपनी जाति के लोगों को रखते थे और भारत में व्यापार के लायक कोई चीज बनने नहीं देते थे। सेती का धर्म कंगाली होगया। अमहीनता का पर्याय हो गया। सारी नाकेबन्दी अंगरेजों ने पक्की कर रखी थी।

पुनरुद्धान की प्रक्रियाओं पर उनका प्रकोप:- आर्यसमाज

भारतीय विद्रोह का डर अंगरेज जाति की नस-नस में इतना भर गया था कि जिस किताब में दो बात भी उनके हित के प्रतिकूल या वास्तविक लिखी मिलती थी वही जळत कर ली जाती थी। जो भी आन्दोलन भारतीय को बुद्धिमान, युक्तियुक्त, समझदार, आत्मविश्वासी, आत्म-निर्भर एवं उन्नत बनाने के लिये होता था उसी पर हमारे इन महाप्रमुओं की कोप-दृष्टि पड़ जाती थी। बीसवीं शती के आर्यसमाज का आन्दोलन भारतीयों को उनके प्राचीन गौरव की प्राप्ति के लक्ष्य की ओर प्रयत्नशील करने के लिये था तो ठाकुरसाय के शब्दों में, "भारतवर्ष के विदेशी शासकों को आर्यसमाज कभी घूटी भाँसों भी - नहीं सुहाया। उन्हें इसकी आज्ञाचारी, और आत्म-विश्वास आत्मनिर्भरता अपनी सहायता आप करने के आवेधों" का प्रचारकभी भी अच्छा नहीं लगा। उसके कार्यक्रमों के राष्ट्रीयता वाले पक्ष ने उनको इसका विरोधी बना दिया था।¹ बात यह है कि सब कुछ गंवा बैठने पर भी भारतवर्ष के पास अभी एक चीज ऐसी बची थी जो जले उसकी सारी लोई हुई चीजें वापस दिला सकी थी। वह चीज थी धर्म। यह धर्म भी उस समय कुछ धूमिल हो गया था। आर्यसमाज उसी धूल को झाड़कर हिंदूधर्म का वह धर्म्य निर्मल कर रहा था जिसमें

भारतीय अपने वर्तमान और अतीत का प्रतिबिम्ब देखकर कुछ निष्कर्ष निकाल सकते थे। अंग्रेज इस धर्म से द्रैप करते थे किन्तु उसे छूने का साहस नहीं कर पा रहे थे क्योंकि भारत के इस मर्मस्थल को कुरेदने का कल १८५७ में मुगल चुके थे, फिर भी उनके द्वारा पालित-पोषित और प्रोत्साहित पावरी चुकते नहीं थे। आदिवासियों के गाँव के गाँव तथा गोआ और केरल इसके उदाहरण हैं। भारत के छोटे छोटे कस्बों में भी संसदी बजाते हुए आठ-दस गौरे बुढ़ा के प्यारे बेटे का गुमानुवाद करते फिस्ते थे। उनकी इस आँधी के सामने भी सीना तान कर सहे होने का साहस हिंदू जाति को जिस आर्य समाज ने दिया था, उनको जैसे का तैसा जवाब जिस आर्यसमाज ने दिया था, उनके स्कूलों के सामने जिस आर्य समाज ने गुच्छल सहे कर दिये थे, पतनूवारी विद्यार्थियों के बदले जिस आर्यसमाज ने लंगोट उत्तरीय और पीले बस्त्रवारी ब्रह्मचारी उपस्थित कर दिये थे और पारचात्य सभ्यता की कूकानी लहरों को पराजित करके जिसे आर्यसमाज ने भारत में पहली बार क्रियात्मक रूप से भारतीय वैद्य भूषा, रहन-सहन, विचार-धारा के प्रति आवर और अपनेपन की भावना पैदा की थी वह यदि अंगरेज महा-प्रभुओं को न सुहायक तो कोई आश्चर्य नहीं था। इन ईसाइयों की बाल-जव भारतीयों के उच्च वर्ग में गली तब उन्होंने अहूतों और पिछड़ी जातियों को लक्ष्य बनाया किन्तु आर्य समाज के अहूतों द्वार और गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस के हरिजनोद्धार कार्यक्रम के सामने वहाँ भी इनकी आशाओं पर तुषारपात हो गया। फिर भी ईसाइयों ने बहुतां के बचन पर कोट-पतलून और चेतना पर चीसू-मसीह का रंग चढ़ा ही दिया।

ईसाइयों से जनता की अठि

पारचात्य सभ्यता की आक्रमणवालीन सेना के एक ^{अंग} और ये भी थे। और सभ्यता के क्षेत्र में इसे जितनी ही सकलता मिलती थी, हिन्दुत्व इनसे उतना ही अक्षत रहता होता जाता था - चिड़ता जाता था। उसने अंगरेजी शिक्षा

रेशमी की पुस्तकों का बाजार बढेगा और हमारी व्यापारिक उन्नति होगी। साथ ही हमारी सम्यता का रेश भी पडेगा। बस, हमारे जीवन के/हर क्षेत्र में पार्श्वात्त्य सम्यता अपनी पूरी समझ, विविधताओं और विचित्रताओं, के साथ वेगपूर्वक घुसने लगी। पहले वस्तुएं आती हैं, रुचि बनती है। फिर वस्तुओं की भाषा आती है। कालान्तर में उनकी मनोविज्ञान बनता है और तदनुकूल विचार बनते हैं। अन्ततोगत्वा इन सबका वर्धन जन्म लेता है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक ये वस्तुएं अधिक आईं, रुचि अधिक बनी और भाषा अधिक अपनाई गई। बीसवीं सदी में इनके साथ-साथ इनका मनोविज्ञान बना और हमने उनको विचार भी अपनाये। कुछ दिनों के अन्दर वहाँ के नये-नये आविष्कार भी हमारे बीच प्रचलन पाने लगे। नव स्वतंत्र भारत उनके वर्धन को भी अपनाने की ओर उन्मुख किया जा रहा है। समाजवादी रूपरेखा या ढर्रे (सोशलिस्टिक पैटर्न) की ओर फिर समाजवाद या जनतांत्रिक समाजवाद को भारत में चलाने की जगह लाल नेहरू की मनोवृत्ति इसी की द्योतक है।

पार्श्वात्त्य सम्यता के उपकरण और उनका प्रभाव

अंगरेजी भाषा और साहित्य से हमारा परिचय बढा। हम अंगरेजी लिखने, बोलने और पढने लगे। हमने कोट, पतलून, टाई, शर्ट, केल्ड हैट, हैट, बूट, और कोट बुझाई आदि पहनना शुरू किया। पड़ी, चश्मा काउन्टेन पेन आदि आवश्यक हो गये। न्याय की विकृततम परिणाम वाली संस्था, जिसे कचहरी कहते हैं, पूरी तरह से अंगरेजी नमूने पर भारत में छा गई। ब्रिटिश बैरिस्टर समाज की शोभा बनगये। विद्यालय और विश्वविद्यालय नामक संस्था, उसकी कार्य प्रणाली आदि सब, अंगरेजी ढंग पर दिखाई पड़ी और प्रोफेसर गाउन, डिग्री और स्टूडेंट भारत में पार्श्वात्त्य सम्यता के प्रमुख मंड बने। आज भी स्नातक की शान-सम्मानता का प्रतीक डॉक, अज्ञान एवं

तमसु का यथोक्त कालापन (काल नाशन) है। बनियाँ ने तो अपना बहीखाता और 'भीमसेठ जी सदा सहाय' तथा 'भीलकमी जी सदा सहाय' जब भी चला रक्खा है किन्तु बाजार और दुकान की रुपरेखा अंगरेजी नमूने पर है। मिलों का सारा नाक-नकशा अंगरेजी है। अंगरेजी सभ्यता की रेलगाड़ी, मालगाड़ी मोटर कार, बस, हवाई जहाज, स्टीमर, ट्रामवे, बाइसिकिल, मोटर बाइसिकिल, कै, सहकारी समितियाँ देव में फैल रही हैं। सिनेमा की सारी रुपरेखा पाश्चात्य है। रेडियो परिचय की ही देन है। तार घर और हाकलाने विदेशों के आविष्कार हैं। मुद्रणकला के विभिन्न अवयव और समाचार पत्र-पत्रिकाएँ पाश्चात्य की देन हैं। 'टिकट' एक विदेशी व्यवस्था है। कंथा, झीम, पाउडर, वैकिंग सेट, दूध चूड़ा, दूध पेस्ट, होडजाल, सिगरेट, वियाक्तलाई, कुर्सी, मेज, बिस्कुट, कैक, पेस्ट्री, कप, सासर, प्लेट, ग्लास, जग, सातपैन, आदि विदेशी रंग-रंग की चीजें हमारे दैनिक व्यवहार की वस्तुएँ हैं। कपड़े सीने की मशीन भी संभवतः विदेशी आविष्कार है। बिजली, बिजली घर, बिजली घर की मशीनें, तार-सम्प्रे, उसकी इंजीनियरिंग, बल्ब, बिजली का तार, बिजली का मायन, बिजली की आटा चक्की, धान-चक्की, और कई चक्की आदि, बिजली का हीटर, कूलर, रेफ्रीजरेटर आदि हजारों वस्तुएँ विदेशी सभ्यता की देन हैं। अस्पताल, अस्पतालों के डॉक्टर, डॉक्टरों के हजारों औषधियाँ दवाइयाँ, इलाज करने की पद्धति - सबकी सब विदेशी है। शासन पद्धति एवं प्रशासन की रुपरेखा विदेशी है। सारा शासन-तंत्र विदेशी सभ्यता की देन है। जेलों की भी रुपरेखा का आधार भी विदेशी है। अपराधों के कारण विदेशी हैं और उनके निवारण के प्रकार भी विदेशी हैं। 'राम राम' की जगह 'गुड मॉर्निंग', 'गुड इवनिंग', 'गुड नाइट', 'बाई-बाई' भी विदेशी है। स्वतंत्र भारत तक मैं ऐसे महत्वाकांक्षी कम नहीं हैं जिनकी प्रसन्नता का अतिरेक और सभ्यता की धान उस समय विलाई पड़ती है। उन का बच्चा, दलौक पाठ न करके 'द्विचकिल द्विचकल लिटिल स्टार' गाता है और 'पापा जी' पापी जी' की जगह 'हेलो बंकिम', 'दियर बाटी' बोलकर

'नमस्ते' की जगह 'टा', 'टा' कहता है। यह विदेशी देन है। फुटबाल, बालीबाल, बैडमिन्टन, टेनिस, टेबुलटेनिस, हाकी, क्रिकेट, बिलियर्ड, फ्लार्क्स, ब्रिज, पोलिस और ब्रास्मर्ड, हासरेस, आदि पारश्चात्य रंग के मनोरंजन हैं। पाठशाला व्यवस्था और पुस्तकालयों का संगठन भी विदेशी ढंग पर होता है। लाउड स्पीकर, माइक्रोफोन, हठताल, पब्लिक मीटिंग आदि भी विदेशी हैं और विभिन्न संस्थाएं और संगठन भी अपने वर्तमान रूप में विदेशी हैं। 'लाइफ इन्डयोरनेन्स कारपोरेशन' और इस तरह की अनेक संस्थाओं के संगठन और उनकी कार्यप्रणालियाँ की रूपरेखा विदेशी है। पैसे का प्रभुत्व विदेशी चीज है। नारी का पुत्र की प्रतिद्वन्द्विता में आकर स्वतंत्र व्यक्तित्व और आर्थिक दृष्टि से एक स्वतंत्र इकाई के रूप में आना, वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त, औद्योगीकरण तथा मशीनीकरण, राष्ट्रवाद, हिंसावादी संस्कृति, पारिवारिक विघटन, मौलिकवादी सभ्यता, तन-मन-की ही स्थापना, नारी को मनोरंजन के एक साधन के रूप में देखना, सेक्स की प्रवृत्तियों का निर्बन्ध उभार, जीवन में कौतूहल की प्रधानता, कमाई के लिये शिक्षा, गुरु का गुरुत्व और शिष्य का शिष्यत्व केवल कक्षा भवन तक ही सीमित रहना आदि असंख्य बातें विदेशी सभ्यता की देन हैं। ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में अनुसंधान और आविष्कार की हमारी वर्तमान रूप रेखा भी विदेशी ही है। विदेशी सभ्यता के इन विभिन्न उपकरणों ने हमारे साहित्य को भी प्रभावित किया है। साहित्य - और विशेषतः हिन्दी साहित्य - यथार्थ जीवन के परिणामस्वरूप कम आन्तरिक दृष्टिकोण के परिणाम-स्वरूप ^{अधिक} निर्मित होता है। कविता भाव-जगत की चीज है और चूंकि हमारा भाव जगत - हमारा राग - अधिकतर अभी पश्चिमी सभ्यता के रंग में नहीं रंगा है इसलिये कविता पर इस पारश्चात्य सभ्यता का प्रभाव कम दिखाई पड़ता है परन्तु साहित्य की जिन विधाओं में बाह्य जीवन के चित्रण की ही सम्भावना अधिक होती है आधुनिक हिन्दी साहित्य की उन विधाओं में - यथार्थ नाटक, कहानी, उपन्यास, रेखाचित्र आदि में - हिन्दी प्रवेश पर पड़ने वाले ये पारश्चात्य प्रभाव और उनके रंग में रंगा हुआ हमारा बाह्य जीवन पूरी तरह से चित्रित

आधुनिक मिला है। आधुनिक हिंदी साहित्य और मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में अन्तर का मूल कारण यही है।

इस युग के भारतीय जीवन में रेलों का महत्व असाधारण रूप से बढ़ा। रेलों को प्रतीक मान लीजिए यातायात के उन समस्त साधनों का जो भारत के किसी भी कोने को समग्र राष्ट्रीय जीवन से एकत्रित - अलग - नहीं रहने दे रहे हैं अर्थात् जिन्होंने भारत के कोने कोने को एक सूत्र में जोड़ दिया है। इन्होंने भारतीय जीवन पर निम्नलिखित प्रभाव डाले हैं :-

(१) इन्होंने के कारण भारत की प्राचीन अर्थव्यवस्था और जीवन व्यवस्था समाप्त-सी हो गई है।

(२) इन्होंने के कारण औद्योगीकरण सम्भावित ही नहीं, वास्तविकता के रूप में प्रतीत होता है।

(३) इन्होंने के कारण देश में राष्ट्रीय दृष्टिकोण का युर्जुर्जा वर्ग पैदा हुआ जिसके स्वार्थ जब अंगरेजों के स्वार्थ से टकराये तो राष्ट्रीयता की धिन्ना के रियां निकलीं और स्वाधीनता के सूर्य का उदय हुआ।

(४) इन्होंने देहात बघल दिये क्योंकि बैसिल मैथून केकड़ों में 'जैसे चूहे, चलेग ले जाते हैं वैसे वे बसे आधुनिकता फैलाती हैं'। इन्होंने के कारण देहातों का आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अवरोध समाप्त हो गया।

(५) इन्होंने भारतके हर व्यक्ति का दृष्टिकोण सभी दृष्टियों से असिल भारतीय तथा एक भारतीय संस्कृति वाला बना दिया।

(६) इन्होंने विभिन्न क्षेत्रों, स्थानों और व्यक्तियों को एक दूसरे से जोड़ दिया।

(७) इन्होंने के कारण इतिवादी सामाजिक दृष्टिकोण समाप्त हो चला।

(८) इन्होंने ही प्रगतिशील सामाजिक और वैज्ञानिक विचारों की जन्मदात्री फैला दिया।

(९) इन्हीं के कारण एक की सौज और प्राप्ति सारे देश की निधि होने लगी क्योंकि ये ही चिट्ठियाँ पार्सल, समाचार पत्र-पत्रिकाएँ और सामान इधर से उधर लाने और ले जाने के साधन हैं ।

(१०) इन्हीं के कारण देश भर की प्रतिभाएँ सुविधापूर्वक समय समय पर एक जगह एकत्रित होने लगीं ।

इनका साहित्य पर प्रभाव निम्नलिखित रूप और प्रकार से पड़ा :-

(१) किसी एक लेखक की कृति समस्त हिंदी प्रदेश की सम्पत्ति हो गई ।

(२) कवियों और लेखकों की कृतियों से आनन्द उठाने और लाभ पाने वालों की सीमा गौणियों से तिरछ कर पूरे भारत तक फैल गई ।

(३) भिन्न भिन्न प्रदेशों के लेखक एक दूसरे से मिलने लगे और उनमें परस्पर मैत्री और स्थापनप्रति तथा एक दूसरे की बातों को समझने की प्रवृत्तियाँ विकसित हुईं ।

(४) विभिन्न भाषाओं जैन और वैष्णवों का एक दूसरे से सम्मिलन हुआ ।

(५) दृष्टिकोण उदार और व्यापक हुआ ।

(६) किसी स्थान विशेष की घटना पूरे साहित्यिक वर्ग को प्रभावित कर ले लगी । उदाहरणार्थ बंगाल के १९४४ ई. वाले अकाल ने महादेवी वर्मा को तड़पा दिया ।

(७) रेलों पर चढ़कर कार्यकर्ताओं, समाचार पत्रों, पुस्तकों और परीक्षाओं की उत्तर पुस्तकों ने हिंदी को कश्मीर से कन्या कुमारी तक और बंगाल से लेकर काठियावाड़ तथा बारिकापुरी तक पहुंचा दिया ।

(८) लेखकों के सम्मेलनों की आयोजनाएँ होने लगीं और लेखकों तथा साहित्य की समस्याओं पर विचार विनिमय संभव हो सका ।

और (९) रेल साहित्य अर्थात् यात्रा के समय पढ़ा जाने वाला हल्का साहित्य भी लिखा जाने लगा ।

हिन्दी प्रदेश के मुख्य गढ़ों पर अधिकार

बीसवीं सताब्दी के आते आते हमसे अंगरेजी पढ़ना या अंगरेजी स्कूलों

मैं पढ़ना पूरी तरह से स्वीकार कर लिया था। 'हमने' का तात्पर्य है मार-
 तीय समाज के उस वर्ग से^४ जिसने साहित्य का निर्माण किया है। वैसे, पाश्चात्य
 शिक्षा और विधि-व्यवस्थाओं को हिन्दुओं ने अपने मुसलमान माइनों की अपेक्षा
 पहले सीखा और अपनाया किन्तु बीसवीं सदी के प्रारम्भ में मुसलमानों के
 हितैषी नेता सर सैयद अहमद खां ने भी मुसलमानों के अंगरेजी सीखने पढ़ने की
 आवश्यकता का अनुभव बड़ी तीव्रता से कर लिया था। जिसका परिणाम अलीगढ़
 आंदोलन या मुस्लिम कॉलेज, अलीगढ़ के रूप में दिखाई पड़ा। अंगरेजी ने पटना
 बनारस, प्रयाग, लखनऊ, आगरा, मथुरा और हिंदी प्रदेश के अन्य महत्वपूर्ण
 स्थानों पर अपना मजबूत अधिकार जमाया। उन्होंने सांस्कृतिक केन्द्रों को अपने
 कब्जे में किया। यही से उन्हें अपना राजनीतिक एवं सांस्कृतिक अभियान करना
 था। इन्हीं केन्द्रों को उन्होंने अपनी पाश्चात्य शिक्षा का भी केन्द्र बनाया।
 लगता है जैसे हमारी पुरली को उन्होंने अपने बापों का वरासत बना लिया हो।
 जैसे कोई सेना किसी प्रदेश के मुख्य जगहों पर पहले अधिकार जमावती है वैसे ही
 अंगरेज और अंगरेजी संस्कृति ने संस्कृत और हिंदी के गढ़ों पर अधिकार करके
 वहाँ जमकर हमारी भाषा और संस्कृति को उन्मूलित करने का प्रयत्न किया।
 अंगरेजी शिक्षा और अंगरेजी भारत में पाश्चात्य सभ्यता के लाने और^{उपे} चारों ओर ले
 जाने वाले रथ की पुरी है। अंगरेजी जब हिन्दी प्रदेश में घुसा तब राजसत्ता के पथ से
 जुसा और तब उसके एक हाथ में स्वार्थ और क्रूरता एवं बड़ता विनिर्मित राजवंश
 था और दूसरी ओर ये टेनिशन और क्लिपलिंग बैकस्पीयर और मिस्टन, हाडी
 और ठिकैस, मिल और रस्किन। यह अंगरेजी जब भारत में आईतब संसार एक
 नये युग के द्वार पर सड़ा था। इस अंगरेजी ने सारे संसार के साथ ही साथ
 भारत को भी नये युग के नये आलीखान मकल के नीतर ले जाकर सड़ा कर दिया।
 संसार के साथ साथ भारत ने भी अपने को बदलना प्रारंभ किया। वेष संसार का
 बदलना उसकी अपनी आवश्यकता और प्रकृति के अनुसार हुआ, हमारा बदलना
 हमारे चौकों की आवश्यकता और दया के अनुसार हुआ। प्रतिक्रियावादी अंगरेज
 की राजनीतिक एवं आर्थिक दास्ता, मर्यादक जीवन एवं अमानवीय नीति ने ही

हमें सभी तरह इस प्रकार से अक्षय एवं निर्जीव कर दिया था कि हम ^{पू}ग्रीको-जीवी, सरासि, एवं आत्मगौरव विहीन होने लगे। यह अंगरेजी शिक्षा चूंकि हम पर लाठी गई थी इसलिये यह बहुत दिनों तक यह हमारी अपनी स्वाभाविक वृत्ति नहीं हो सकी - संभवतः आज तक नहीं ^{जीवन}। ^{भाषा}अस्तु के जिस मन्त्र ने हमारी चेतना इतनी ताजी और समर्थ होती है कि हम अधिक से अधिक ज्ञान ग्रहण कर सकें - वह भ्रान्त, सुस्त, और निढाल नहीं होती - उन दिनों उसकी सारी शक्ति और शक्ति इस और व्यय होने लगी कि हम अंगरेजी का हिन्दी में और हिन्दी का अंगरेजी में अनुवाद कर सकें। तात्पर्य यह कि हम ज्ञान नहीं, भाषा के अनुवाद की क्षमता में जीवन बिताने लगे। इस प्रक्रिया की दूसरी स्थिति में हम यूरोप के साहित्य और संस्कृति से परिचित होने की चेष्टा में लगते थे। इस प्रकार सारे जीवन में हम अपनी सभ्यता और संस्कृति के अभाव का डारको देखने का कभी अवसर ही नहीं मिलता था। जीनिवास आर्बेनर ने लिखा है, "पश्चिमी प्रभाव का आघात लगते ही यहाँ की धरती गौड़ी गई थी। अंगरेजी साहित्य ने मानों इस क्षेत्र को और उपजाऊ बनाया, धीरे धीरे आधुनिक भारतीय साहित्य जन्म लेने लगा।" वास्तविकता तो यह है कि अंगरेजी साहित्य ने इस क्षेत्र को अर्थात् पश्चात्य सभ्यता के प्रभाव क्षेत्र को ही और अधिक उपजाऊ बनाया था। अस्तु, बीसवीं शताब्दी में भारत ने पश्चिम से नवीन ज्ञान विज्ञान प्राप्त किया। इस ज्ञान-विज्ञान की पृष्ठभूमि में व्यावसायिक और राजनीतिक क्रान्तियाँ थीं। यूरोप में यह सब उन्नीसवीं शताब्दी में ही समाप्त होकर निष्कर्ष रूप में सामने आने लगा था। भारत में यह बीसवीं शताब्दी में आया।

अंगरेजी का अंगुर और उसका प्रभाव

अस्तु, अंगरेजी शिक्षा जब भारत में प्रचलित हो गई तो कुछ समय के बाद कुछ ऐसे महत्वाकांक्षी भारतीयों का भी चल सामने आया जो दलील करने

मात्र से सन्तुष्ट न हो सका। भारत बौद्धिक जिज्ञासा एवं लालसा दून्ध कभी
 भी नहीं रहा। हम ज्ञान-दून्ध नहीं रहना जानते। अपनी ज्ञान सम्पत्ति
 नहीं मिली तो पश्चिम की ज्ञान सम्पत्ति ही प्राप्त की जाय। अनुवाद और
 क्लर्की मात्र से सन्तुष्ट न होने के कारण चेतना की बौद्धिक जिज्ञासा अथवा
 चेतना के स्तर की ऊँचाई या। बाद में यह भी कारण हो गया कि एकता
 और कोई सुन्दर विकल्प नहीं है और दूसरे यथासंभव यह हमारे आत्म -
 गौरव एवं उत्थान में सहायक भी हो सकेगा। अस्तु, हम अंगरेजी भाषा और
 पश्चात्य ज्ञान - विज्ञान के निकटतम संपर्क में आये। अंगरेजी भाषा पर असा-
 धारण अधिकार प्राप्त कर लिया। आश्चर्य होता है भारतीयों की कमता पर
 कि विपरीत वृत्तियों की संस्कृति और सभ्यता वाली जाति की भाषा पर
 इतना असाधारण अधिकार वे प्राप्त कर सके। अंग्रेजी साहित्य को रट डाला।
 प्लेटो और अरस्तू से लेकर माक्स और लास्की तक सबका ज्ञान प्राप्त कर लिया।
 यूरोप और अमेरिका के समान प्रतिभावाल्याँ की कृतियाँ और उनके द्वारा आ-
 विष्कृत समस्त ज्ञान-विज्ञान हमारी जवान पर आ गये। रूसी, वास्तैयर,
 मिल, स्पेन्सर, डार्विन, हक्सले, रसेल, ब्रायड, गुन आदि कोई भी हमसे अपरि-
 चित न रह गया। कुछ ने यहाँ रह कर पढ़ा और कुछ ने यूरोप में जाकर पढ़ा।
 भारतीय विदित समाज में एक जम्बूस्त बौद्धिक हलचल पैदा हो गई। धुर धुर में
 तो हमें उनके अन्दर सभी अच्छा बिताई पढ़ा और अपने अन्दर सब कुछ जोर डीन
 ही प्रतीत हुआ। भारतीय प्रतिभा की एकान्तता समाप्त हो गई। कुं की
 दीवालें टूट गई और 'स्कूलों और कॉलेजों के तरुण विद्यार्थियों की आश्चर्यचकित
 आँखों के सामने विचारों का एक नवीनतम संसार आ गया।' ¹ दृष्टि को एक
 विस्तृत क्षेत्र मिला; जीवन को एक नवीन दृष्टिकोण प्राप्त हुआ। पश्चात्य
 विद्या आलोचनात्मक और वैज्ञानिक है। परिणाम यह हुआ कि हमारी भी
 बुद्धि आलोचनात्मक एवं विश्लेषणात्मक हो गई तथा हम भी रुठियाँ और पर-

पराजों के विरोधी और विद्रोही हो गए । इस विरोध और विद्रोह की संप्राप्ति मिली आलोचना और विश्लेषण से प्राप्त उन निष्कर्षों से जिन्होंने रुढ़ियों, परम्पराओं और अंध-विश्वासों की अस्मयिकता, अनुपयोगिता एवं निःसारता की प्रतीति करा दी।" विश्वनाथ मिश्र ने लिखा है, "अंगरेजी भाषा और साहित्य और इस भाषा के माध्यम से अन्य यूरोपीय भाषाओं के साहित्यों का अध्ययन हमारे आज के युग के वैज्ञानिक आलोचनात्मक और मानवतावादी दृष्टिकोण के उदय और विकास का प्रधान कारण रहा है।" यह अध्ययन एक प्रक्रिया का कारण - साधन उपलब्ध करने का कारण - मलै ही रहा हो किन्तु मानवीय दृष्टिकोण के उदय और विकास आदि का प्रधान कारण रहा है अंगरेजी का भारत-जोष, तज्जन्य आक्रोश एवं वैदनी और उस चंगुल से मुक्त होकर आत्म-गौरव की पुनर्प्राप्ति की तीव्रतम कामना । इस कामना का कारण था रामकृष्ण, विवेकानन्द, दयानंद और रामतीर्थ का उद्बोधनात्मक संसनाह ।

प्राचीन-नवीन की तुलना और नवीन का अध्ययन

इसी सांस्कृतिक कारण से हमने अपने अतीत और वर्तमान की तुलना की थी और इस तुलना से हमने अपने वर्तमान को दयनीय पाकर उस का दयनीयता से मुक्ति पाकर श्रेष्ठतर बनने की प्रेरणा पाई थी । ऐसा करने और सोचने वाला वर्ग प्रायः मध्यवर्ग था और एक ऐतिहासिक विवशता ने इस वर्ग की जमान पर अंगरेजी बिठा दी थी इसीलिये हमारे पुनरुत्थान की भावना का भेय अंगरेजी को देने की मूल प्रायः कर दी जाती है । वास्तविकता तो यह है कि अंगरेजी और अंगरेजियत हमें गड़बड़े में डकेलने के लिये थी और इसी यही किया था । कुछ सांस्कृतिक कारणों से ही इसके इतने प्रभावों के होते हुए भी हम यह टने नहीं पाये नहीं तो भारतवर्ष में जो इतनी अधिक गिरावट, गूढ़ता, मूर्खता, पुरुष-रिक्ता, मौलिकता का अभाव, अनुकरण की प्रवृत्ति, अनैतिकता, स्तर की निम्नता

1. "इंग्लिश इन्फ्लुएन्स ऑन हिंदी लिटरेचर" लिखते हैं एड लिटरेचर, नायक
लीला, पृ. १

दिखाई पड़ती है यह अंगरेजी की ही देन है। यह अंगरेजी का ही प्रसाद है कि जहाँ जनता की संख्या करोड़ों में है वहाँ बिकने वाली पुस्तकों की संख्या सैकड़ों - या बहुत हुआ तो, हजार - तक ही रह जाती है। राजेन्द्र प्रसाद ने लिखा है कि अंगरेजी शिक्षा हमारे प्रान्त के लोगों को कायर और निकम्मा बना देती है^१। के. आर. नीनिवास आयंगर ने लिखा है, "हमारी शिक्षा-व्यवस्था का सबसे बड़ा नैतिक दोष यह है कि वह कामगारों की कूलों का एक आकर्षक गुच्छा है, न कि एक सजीव एवं संप्राप वृक्ष जिसे न दिखाई पड़ने गहरी जड़ें संभाले हुए हों। आधुनिक विश्व विद्यालयों की न कोई स्पर्शा है न कोई जीवन, न मस्तिष्क है और न आत्मा।"^२ राष्ट्रीय आन्दोलन में विश्वविद्यालयों का कोई भी महत्वपूर्ण योगदान नहीं रहा। राष्ट्रीय जीवन की प्रधान-धारा से ये विश्व विद्यालय प्रायः दूर रहे। इस दृष्टि से ये सक्रिय, प्रत्यक्ष, और धनात्मक न होकर, निष्क्रिय, परीक्ष और कृपात्मक रहे। ये धिमेयात्मक न होकर संहारात्मक रहे। सामूहिक जीवन की रचनात्मक प्रेरणाओं से इन विश्वविद्यालयों वालों ने - चार हाथ दूर रहना - भ्रम रहना ही पसन्द किया। यह बात दूसरी है कि गांधी की आत्मिक शक्ति ने - जाधू ने - इन्हें स्तम्भित करके इनसे राष्ट्र का कुछ हित करा लिया लेकिन तब इसका भेय इस शिक्षा व्यवस्था और इस अंगरेजी को नहीं दिया जा सकता, क्योंकि उस जाधू के ^{उठते} स्वर ही इनका वास्तविक रूप - इनका वास्तविक प्रभाव सामने झुलकर आ गया। जिन्होंने कुछ ठोस किया वह उनकी अपनी व्यक्तिगत आत्मिक शक्ति थी और इसलिये उसका भी भेय इसको नहीं मिल सकता क्योंकि वे लोग न तो इन विश्वविद्यालयों की उपज थे और यदि वे भी, तो राष्ट्रीयत्वान का कार्य प्रारम्भ करने के बाद इन विश्वविद्यालयों के रह भी नहीं गये थे। हमारे इन सांस्कृतिक देवताओं में रामकृष्ण, क्या नन्द, गांधी, विन्तोषा, टेगोर आदि

१. 'आत्मकथा', पृ. ६५०।

२. 'जायर ग्रेटेस्ट नीड' की प्रस्तावना, पृ. १२।

कोई भी इस सिद्धा-व्यवस्था की देन नहीं है। विवेकानन्द, मोतीलाल,
 जवाहरलाल, सुभाष, अरविन्द, तिलक, मालवीय आदि इस सिद्धा-व्यवस्था के
 प्रभाव से मुक्त होने के बाद ही देश के हितकारी बन पाये। कन्हैयालाल माणिक
 लाल मुंशी का कथन है कि नवीन सिद्धा हमारे नवयुवकों में जीवन-संघर्षों से एक
 यौद्धा की भाँति ब्रूहने की, महान्तम एवं उच्चतम आदर्शों की बलिबेदी के ऊपर
 चढ़ जाने की, बौद्धिक ऊँचाइयों एवं महत्वाकांक्षाओं की प्राप्ति एवं उनकी
 प्राप्ति के मार्ग की कठिनाइयों को सहने की शक्ति एवं साहस बनाए रखने की
 प्रेरणा एवं स्फूर्ति नहीं देती।¹ कठिनाइयों के सामने बार-बार झुकते रहना, उनसे
 कतराते रहना, बेईमानियाँ से समझौते करते रहना, हर काम को 'चलने दीजिये'
 टाइट से करना, 'शार्टकट' लोजते रहना, विवेक विहीनता, किसी भी कीमत
 पर 'चमकदार' दिखाई पड़ना, जड़ता की ओर उन्मुख रहना आदि आज की
 सिद्धा-व्यवस्था की देन हैं। चिकने-चमकते कपड़ों की चिकनी-चमकती अंगरेजी
 पौशाक पहनना, ब्लेडसाबुन-क्रीम से रोज अपने चेहरे को और बूते को चिकना
 और चमकदार बनाना विद्वत्ता या योग्यता का 'ट्रेडमार्क' हो गया है। जीवन
 की सकलता और गौरव तिकड़म और चापलूसी से मिलने लगी, न कि बल, न
 व्यक्ति और योग्यता से। नैतिकता की यह हालत है कि जिनके अन्दर विश्व
 विद्यालयों में पढ़ाने की योग्यता थी वे हाई स्कूल और इन्टर के लड़कों की
 भाषा-सम्बन्धी अशुभियाँ सुधारते और ट्यूशन करते हैं और जो पान-और पंसारी
 की दुकान पर बैठने लायक थे वे सिगारेट और चापलूसी के बल पर सिद्धा क्षेत्र
 की बड़ी से बड़ी नौकरियाँ पा लेते हैं। अंगरेजी और अंगरेजी सिद्धा-व्यवस्था का
 विषाक्त प्रभाव जहाँ जहाँ पड़ा समाज का वह वह अंग नैतिकता से सहता गया।
 हम सत्य की प्रेरणा से वंचित हैं, धर्ममय जीवन से दूर हैं और हमारी नैतिक चेतना
 कुंठित हो गई है। हम कहते^{उठ} हैं और करते कुछ हैं। जिन सांस्कृतिक मूल्यों से
 चेतना सुदृढ़ और सशक्त होती है इस अंगरेजी सिद्धा में और उसके परिणामस्वरूप
 निर्मित जीवन में उनकी उपयोगिता और मान्यता संदिग्ध हो उठी है। विज्ञान

1. 'जावर ग्रेटेस्ट ग्रीड', पृ. २४२-२४३।

ने भौतिक और आर्थिक दृष्टि से सारे संसार को एक कर दिया है किन्तु व्यक्ति अभी अपनी रागात्मक एवं भावात्मक लक्ष्णाओं से ऊपर नहीं उठ पाया।

अंगरेजी सभ्यता का साहित्य पर प्रभाव

इस अंगरेजी सभ्यता ने जहाँ हमारे जीवन को प्रभावित किया है वहाँ हमारे साहित्य को भी प्रभावित किया। जैसे यह प्रभाव हमारी आत्मा को अभी नहीं प्रभावित कर पाया, उसी प्रकार हमारे साहित्य को अपनी आत्मा का अभी भी हनन नहीं हो पाया है। प्रभाव जीवन में भी बाहरी पर्वों पर है और साहित्य में भी रूप विधान पर ही अधिक है। जीवन में हमारा रंग-रंग बदला है और साहित्य में हमारी शैली बदली है। यहाँ भी हमारी भाषा का स्वरूप बदला है और वहाँ भी बदला है। महावीर प्रसाद द्विवेदी और चंडसेन के काव्य सिद्धान्तों में पर्याप्त समानता मिल सकती है। साहित्य की विधाएँ बहुत कुछ अंगरेजी साहित्य की विधाओं के अनुरूप ही गईं। कथकोष, ठयाकरण, वाक्य-निर्माण, विराम-^{चिह्न}सू, परिच्छेद एवं पैराग्राफ - विभाजन, मानवीकरण, विशेष्य विपर्यय, रीमांस के प्रति आकर्षण आदि लोक तत्त्वों पर अंगरेजियत की छाप है। अंगरेजी नाट्यशास्त्र के परिणामस्वरूप ही हमारा नाट्यशास्त्र संस्कृत नाट्यशास्त्र की पैवीधनियों से मुक्त होकर जीवन के अधिकाधिक निकट आ गया। इसी प्रकार विषय वस्तु का क्षेत्र और रूप भी विस्तृत हो गया है। उपन्यास और कहानी के वर्तमान रूप, निबन्ध, आलोचना, जीवनचरित्र आदि अंगरेजी प्रेरणा से विकसित हुए हैं। भाषा विज्ञान, समाजशास्त्र, इतिहास, राजनीति, विज्ञान, भौतिक विज्ञान आदि के अध्ययन और तत्संबंधी साहित्य के सृजन की प्रेरणा पश्चिम से ही मिली है। एकांकी के आधुनिक स्वरूप निर्माण में मेटर् लिंक, बर्नाड शा आदि से मिली प्रेरणाओं ने योगदान किया है। इन प्रभावों का विश्लेषण करके यदि हम देखना चाहें कि अंगरेजी और उसके साहित्य के हम कितने बंधी हैं, कितना हमने उनका लिया है और कितना हमारा अपना है तो हम यों कह सकते हैं कि उत्थान की प्रेरणा विपुल रूप से हमारी अपनी; रूप और विधा

(बाह्य रूप) बहुत कुछ उनकी और कुछ हमारी अपनी भी; माया की प्रकृति हमारी, पैली उनकी, विषयस्तु हमारे, अपने जीवन की, और उद्देश्य, विबुध रूप से राष्ट्रीय एवं विश्वमानवता से संश्लिष्ट है।

विज्ञान और वैज्ञानिक दृष्टि

पारवात्य सभ्यता की दूसरी महत्वपूर्ण घटना है विज्ञान और वैज्ञानिक दृष्टिकोण। बौद्धिकता की प्रधानता और मौक्तिकावादी दृष्टिकोण इससे निकलता है - बनता है। उन्नीसवीं शताब्दी को विश्व के वैज्ञानिक युग की पहली शताब्दी कहा जा सकता है; और यही युग भारतीय संस्कृति की राजनीतिक पराधीनता के कुपरिणामों का युग है। जहाँ पिछले युगों में हम यूरोप से किसी बात में नहीं पिछड़े थे वहाँ आने की ठेठ शताब्दियों में हमारी राजनीतिक स्वतन्त्रता पर घातक ग्रहण लग जाने से - अपने हाथों पैरों के बंध जाने से - हम निष्क्रिय हो गये और आज इतने पिछड़े लगते हैं कि लगता है कि यह पिछड़ापन हमारा जातीय स्वभाव है। हम अवैज्ञानिक कभी नहीं थे। इतना ज़रूरत है कि हमने इस मौक्तिक विज्ञान को ही एकमात्र स्तंभ कुछ नहीं समझ लिया था। उसे आध्यात्मिकता से आच्छादित रखा था। हमारी वैज्ञानिकता और आज की नई वैज्ञानिकता में यही अन्तर है। हमने जीवन के स्थूल एवं जड़ पक्ष को विज्ञान से और मूलज्ञानव को अध्यात्म से कलित किया था। साथ ही, जड़तत्त्व की अपेक्षा आत्मतत्त्व को प्रमुक्ता दी थी। उपनिषदों की धारणा है कि मूर्खों को ध्यान में रखने की शक्ति के कारण और अमरत्व की शारदा युवा के कारण मानव इस धरती पर देवी शक्ति का सर्वोच्छ शरीररूप है। नवीन वैज्ञानिक दृष्टिकोण यह है कि मानव जीवन-सरिता में अपनी स्वीकृति के बिना ही डाल दिया गया है। विभिन्न प्रकार की शक्तियाँ से मरी हुई इस दुनिया में उसे डकेल दिया गया है। उसे ऐसा लगता है कि इस दुनिया में वह तभी जीवित रह सकता है जब वह उन शक्तियों पर, जिन्हीं वह घिरा हुआ है, अपना अधिकाधिक प्रभुत्व स्थापित कर ले।" इस विज्ञान ने केवल तथ्य देता है। उसने जाका

१. राधाकृष्णन द्वारा 'ईस्ट एंड वेस्ट'

की शक्ति बढ़ा दी कि वह शक्तियाँ को जीत ले। ऐसा करके उसने यह समझा कि स्वतंत्र मानव भौतिक वातावरण को बदल देगा। हुआ कुछ और ही। मानव ने वातावरण बदलने की अपेक्षा शक्ति बढ़ाते बढ़ाते प्रकृति पर अपना अधिकार जमाने का स्वप्न देखा। मानव भूतत्व विद्या की एक शक्ति हो गया। भौतिक और रसायनिक उन्नति करते करते वह ग्रहों को भी बदल देने पर तुल गया है किंतु इस विज्ञान ने मानव को जीवन के आश्चर्य तत्त्व का ज्ञान नहीं दिया - शायद दे भी नहीं सकता। विज्ञान मानव को उसका लक्ष्य नहीं बता पाया। अस्तु वैज्ञानिक युग का मानव न अपने को रोक पा रहा है, और न अपने द्वारा विनिर्मित वैश्य को। सम्यक्ता विनाश की ओर जा रही है। चिन्कर ने इसी प्रकार के विचार प्रकट किये हैं :-

यह समय विज्ञान का, सब भाँति पूर्ण समर्थ
तुल गये हैं गूढ़ संस्मृति के अमित गुरु अर्थ।

प्रकृति पर सर्वत्र है विजयी पुरुष आसीन

प्रकृति की प्रवृत्तता को जीत,
सिन्धु से आकाश तक सबको किये मयभीत
सृष्टि को निज बुद्धि से करता हुआ परिमेष

जा रहा तू किस दिशा की ओर को निरुपाय ?

लक्ष्य क्या ? उद्देश्य क्या ? क्या अर्थ ?
यह नहीं यदि ज्ञात तो विज्ञान का जग ठग्यर्थ ?

रसवती मू के मनुष्य का भेष,
 यह नहीं विज्ञान, विदधा-बुद्धि यह आग्नेय
 विश्व-वाहक, मृत्यु-वाहक, सृष्टि का संताप
 भ्रान्त पथ पर अन्य बहते ज्ञान का अभिशाप ?

जीव एक संश्लेषण है और विज्ञान एक विश्लेषण। विज्ञान में कोई आंतरिक ब्रह्म कितना नहीं। यह सुतों की व्यवस्था कर सकता है परन्तु नैतिक दृष्टि से मनुष्य को ऊँचा नहीं उठा सकता। यह वेश्यावृत्ति रोक सकता है पर हर नारी को कभी हर पुरुष की बहन बेटो-माँ बना देना उसके बस की बात नहीं। यह जीवन का बाहरी नक्शा मात्र बदल सकता है। तो, जीवन पर विज्ञान का यह प्रभाव पड़ा कि इस विज्ञान प्रधान पार्श्वात्य सभ्यता में जीवन टुकड़े-टुकड़े होकर विघटित हो गया है। यह विज्ञान यदि वैज्ञानिकों या निष्पक्षों तक ही सीमित रहता तो इसका प्रभाव इतना अहितकर न होता किन्तु निहित स्वार्थी राजनीतिज्ञों - की छाया के नीचे आकर इसने - वैज्ञानिक आविष्कारों ने - मानव का बड़ा अहित किया और बदनाम हो गया। भारतीय जीवन में यह विज्ञान अभी बुद्धि और चिन्तन के क्षेत्र तक ही सीमित है; जीवन में व्यावहारिक क्षेत्र में अथवा भारतीय मानव के हृदय प्रदेश में अभी इसकी पहुँच नहीं हुई है। फिर भी साहित्य में यह वैज्ञानिकता और बौद्धिकता घुस गई है। कवियों का वैज्ञानिक अध्ययन, प्रवृत्तियों का वैज्ञानिक अध्ययन, कवियों के जीवन वृत्त का वैज्ञानिक अध्ययन, पाठों का वैज्ञानिक सम्पादन, वैज्ञानिकसमालोचना, भाषा विज्ञान, आदि के अतिरिक्त कवियों के भी दृष्टिकोण और उनकी कविताओं की पृष्ठ-भूमि मेंमायुक्तता और रागात्मकता की जगह वैज्ञानिक चिन्तन घिसाई पड़ता है। विज्ञान अभी साहित्य का विषय तो नहीं बना लेकिन दृष्टिकोण बनकर आधुनिक हिन्दी साहित्य को बबल अवश्य रहा है।

१. 'कुशकेतु' का 'वधिवध मानव' सर्ग

साम्यवादी विचारधारा

हिंदी प्रवेश के चिन्तन को प्रभावित करने वाली पाश्चात्य सम्प्रदाय की दोनों में से एक साम्यवादी विचारधारा भी है जो बीसवीं सदी के पूर्वार्ध के तृतीय दशक तक भारत में आ गई थी। मूलतः यह एक आर्थिक विचार है और काल को समझने का तर्क युक्त प्रयास है। यह सत्य से उतना संबंधित है नहीं जितना समाज से संबंधित है। इसकी पृष्ठभूमि में नैतिकता विहीन भौतिकवादी प्रवृत्तियाँ हैं। राहुल सांकृत्यायन ने लिखा है, "साम्यवाद का ध्येय है सारे देश या विश्व को एक सम्मिलित परिवार बना देना और देश की सारी सम्पत्ति को उस परिवार की सम्पत्ति करार देना।" यह ईश्वर और धर्म को नहीं मानता। यह ईश्वर को ही मूल तत्त्व मानता है और उसी से सब की उत्पत्ति और विकास मानता है। यह समाज के विकास को समाज के ही विभिन्न वर्गों के संघर्षों का परिणाम मानता है ^{जो मानता है} कि समाज के प्रत्येक अवयव के स्वरूप का निर्माण उस उत्पादन के साधनों के स्वरूप के आधार पर होता है। यह श्रम का उद्गार है। सम्प्रदाय की दृष्टि से देखें तो साम्यवाद व्यक्तिगतता को - व्यक्तिगत पूँजी या पूँजी पर एक व्यक्तिगत अधिकार को समाप्त करने का समर्थक है अर्थात् यह व्यक्ति को बिल्कुल महत्व नहीं देता। यह जो कुछ भी समझता है वह समाज को समझता है। यहाँ व्यक्ति का कोई आवर नहीं। वह भी मशीनका एक पुर्जा है। जबतक उपयोगी है तब तक चमकाया जायगा और नहीं तो फेंक दिया जायगा। 'बूट' किया जा सकता है। यह मशीनों का दोस्त और वस्तुकारों का दुश्मन है। यह पारिवारिक जीवन का उद्गार है। स्त्री-बच्चे रहेंगे तो परन्तु उनका उत्तरदायित्व समाज पर रहेगा और इसीलिए अधिकार भी समाज का रहेगा। व्यक्ति अपनी व्यक्ति भर काम करेगा और आवश्यकता भर पायेगा। समाज के निर्माण में चूंकि हर व्यक्ति आवश्यक है और हर काम आवश्यक है अतएव न कोई काम बड़ा, न छोटा। अतएव न कोई उच्चवर्ग और न कोई निम्न वर्ग।

यह साम्यवाद शक्ति का उपासक है। अतएव समाज को बदलने के लिये राज्य
 शक्ति पर मजदूर वर्ग या प्रोलेतारियत का अधिकार अनिवार्य समझता है। यह
 इसके लिये मारकाट और सभी तरह की हिंसा करने को तैयार है। इस शक्ति
 का स्फुल्लतम रूप पैसा है। पैसा यानी सिक्का। अस्तु उत्पादन वृद्धि, व्यापार
 वृद्धि अर्थात् बाजार (मार्केट) की वृद्धि और सैनिकवाद की भावना इस सभ्यता
 का आधार बनी। इस सभ्यता में निश्चित रूप से नारी का मूल्य घट जाता है।
 पौरुष एवं उसकी पहचता महत्वपूर्ण हो जाती है। नारीत्व का योग इस सभ्यता
 के विकास में बहुत कम होता है। यह सभ्यता भावप्रधान नहीं, कर्मप्रधान हो
 जाती है, कर्म जबर बढ जाता है। संघर्ष और स्पर्धा से यहाँ प्रेरणा मिलती है।
 यहाँ भेद और संहार का साम्राज्य है। यहाँ मन की और आत्मा की मूल और
 माँग नाम की कोई भी चीज नहीं होती। यहाँ प्रेम एकरोग है। पुंवन एक गंदी
 चीज है। इससे संक्रामक रोग पैदा हो सकते हैं। यहाँ नारी उत्पादन की एक
 ईकाई मात्र है। वह कमाई करने निकली है। बराबरी की/ हकदार है। यहाँ
 नारी-पुरुष के पारस्परिक संबंध के साथ कोई उच्चतर मूल्य या आवश्यक नहीं संयुक्त
 है। वह एक घटना मात्र है। स्वादिष्ट भोजन, साना, सुत्तकर पहनना, जम खूब
 भोज करना, रमक विलास करना, कम मर मेहनत करना, मन मरे तो मिल जाना
 नहीं तो दूर से दोस्त बने रहना और बुद्ध-अबुद्ध, लौकिक-अलौकिक, विठय-दानवी
 आदि की बेकार की झुटाफातों से मन को मुक्त रखना तत्त्व (भाव और अध्यात्म)
 की कुछ न हूँ मानकर तथ्य ही को सब कुछ मानना, आदि बातें इस सभ्यता में
 स्वामाधिक रूप से पाई जाती हैं। निश्चित है कि ये विचार और सिद्धांत
 भारत के हर जाति, हर वर्ग और हर छवि वाले समाज को नहीं पसन्द आ सकतीं।
 हमारी संस्कृति के प्रतिकूल हैं। जिसकी यह पसन्द भी आपनी वह इसे समाज के
 अन्दर व्यावहारिक रूप से भी नहीं पायेगा और देने की नहीं पाएगा। यह गर्म
 सुन और गर्म उमर वाली की बुद्धि और कल्पना का वैभव मात्र होकर रह गया है।
 जीवन पर इसका असर उतना नहीं पड़ा जितना साहित्य पर पड़ा है। इससे प्रसूत

एवं प्रौत्साहित बुद्धिवाद एवं विश्लेषणवाद ने आलोचना का रूप ही बदल दिया है। जब आलोचना वैयक्तिक रुचि एवं रस्वाले सिद्धान्तों के आधार पर न होकर समाजवादी सिद्धान्तों के आधार पर होती है। इसी के परिणामस्वरूप साहित्य में हीन वर्ग वालों का पर्याप्त चित्रण होने लगा है - हालांकि वह पूर्ण रूप से स्वाभाविक नहीं होता। गणेश प्रसाद की "सुहाग बिन्धी" लक्ष्मी नारायण मिश्र का "राक्स का मन्दिर", अशोक के "बेसर - एक जीवनी" आदि में जो सेक्स की मनोवैज्ञानिक गांठें हैं - उलझने हैं - वे भी इसी के परिणाम के रूप में देखी जा सकती हैं। नारी शरीर के मार-उमार तथा चढ़ाव-उतार को गुदगुदी और मन्त्रहलाव की पीठिका समझना और बेसरमी से परा हुआ उनका चित्रण करना इसी सत्यता और तज्जन्य मनो-रुचियों की देन है। अनेक उपन्यास और उपन्यासलेखक इस रंग में रंग गये हैं क्योंकि इस रंग में बड़ा आकर्षण है और चलने में यह काफी मिर्च मसालेदार और परिणामस्वरूप काफी गन्भीर लगने वाला है। कविता पहले की अपेक्षा कुछ अधिक सरल हो गई है क्योंकि इस सिद्धान्त और आवश्यकता के अनुसार साहित्य भी जन-समूह के लिये होता है और जनसमूह सरलता प्रिय होता है। अनुभूतियों की तीव्रता में कमी हो रही है और सस्ती माड्युका¹ बढ रही है। कविता का क्षेत्र विस्तृत हो गया है। धार्मिक, नैतिक और परम्परागत बन्धनों की अब कोई परवाह नहीं की जाती। जैसा कि ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है, साम्यवाद^{और} औतिकवाद तत्त्व और प्रभाव की दृष्टि से जो नहीं हैं। इसमें प्रौक्तिक तत्त्वों की ही सब कुछ माना जाता है। यहाँ सूक्ष्म या आध्यात्मिक तत्त्व नाम की कोई भी चीज नहीं होती। इसमें धर्म की प्रधानता नहीं होती। तात्त्विक दृष्टि से यह पुद्गल या भौतिक अणु-परमाणुओं की तथा राजनीति की दृष्टि से राष्ट्र को सब कुछ मानता है। जब ब्रह्म या परम आत्मा को बस्वीकार कर दिया जाता है तो आत्मा भी नहीं रह जाती; और आत्मा के न रहने पर वह अद्वैत रूप नहीं मिल सकता जो स्वयं ही आत्मीयता - तादात्म्य - की अनुभूति करा सके।

१. "गुनाही का वैपता" में सुधा और चन्दर की माड्युका - जैसी।

ऐसी स्थिति में रागात्मक अज्ञेयता या अज्ञेयता का सम्बन्ध अकल्पित होता है।
 किन्तु किसी के साथ भी अविच्छिन्नता की प्रतीति नहीं होने पाती। पारि-
 वारिकता सत्त्व हो जाती है या उसमें धिली को जोड़े रलेवाला प्रेम-तत्त्व रह
 नहीं जाता। स्वार्थ प्रधान हो जाता है। अपने मन में और अपनी आवश्यकता
 की बात ऊपर आ जाती है। 'पर' के लिये अपने को दे डालने की और इस
 'दे' डालने से अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति की बात दब जाती है। एक बात
 और भी पैदा होती है। भौतिकता की दृष्टि से व्यक्ति इस विशाल ब्रह्माण्ड
 और उसकी अभित प्रकृतियाँ एवं शक्तियाँ की दृष्टि से नगण्य है, एक दम छोटा
 है, और भाव की दृष्टि से प्राकृतिक शक्तियाँ मानव के सामने विपन्न हैं। भाव
 से मानव विभु होता है और प्रभु के समकक्ष बैठता है, नहीं तो, यह मानव
 बड़ा ही अशक्त और अस्हाय है। तो, भौतिकता मानव को अस्हाय, नगण्य, अल्प,
 असमर्थ, विपन्न बना देती है। इतनी कम शक्ति और इतने कम दिनों तक रहना
 और सामने अनंत वैश्व वैभव - सुख - सम्पदा - भोजन और, इस विश्व में जितना
 हम पा सकते हैं उससे कहीं अधिक पाने वाले अस्हाय हैं। यह विचार व्यक्ति में
 'हाय' पैदा कर देता है। वह अस्तुष्ट होकर अधिकाधिक पाने, लेने, छीनने,
 चुराने, नोचने, ससोटने का प्रयत्न करता है। मायात्मक विघटन होता है। प्रेम
 समाप्त होता है, घृणा उपजती है; स्नेह सूखता है, द्वेष उत्पन्न होता है; त्याग
 समाप्त होता है, भोग बढ़ता है। स्थिरता की जगह हिंसा सिर उठाती है;
 प्रीति की जगह पैसा चलता है। जीवन टुकड़ों में बंटता है। परिवार का रस
 नहीं मिलता तो प्यासा हृदय मर जाता है और रुखा मन मनोरंजन माँगता है।
 मुर पर की संस्कृति की ध्वजा पर मायक कलाओं की सभ्यता की आकर्षक हमारत
 बनती है। हृदय नहीं समझता तो स्त्री-सजाय ड्राइंग रूमों के लिये मन बेचन हो
 उठता है। ^म मन के पैदा की लाज बरीचरिदनी पर जब विनाश की काली चावर
 तन जाती है तो आर्केस्ट्राओं और शराब से घनघनाती हुई छलेमनापूर्ण 'नाइट-
 क्लबों' की संस्कृति उरोजक उभार पर आती है। परन्तु ज्ञान भी से नहीं चुकती;

वासना भोग से शान्त नहीं होती और अधिक मड़कती है, और अधिक भोग हो जाता है और अधिक मड़कती है, और अधिक भोग मांगती है और यह कम शक्ति एवं क्षमता की बीजता की अंतिम स्थिति तक चलता रहता है। अधिकाधिक भोग अधिकाधिक पदार्थ चाहता है और अधिकाधिक पदार्थ अधिकाधिक धन मांगता है। अधिकाधिक धन अधिकाधिक को धन से वंचित करने से संतुष्ट होता है। वस्तु के संग्रह से सिक्के का संग्रह सुविधाजनक और सुरक्षित होता है। अस्तु, सिक्के का महत्व बढ़ा। औषध बढ़ा। दूसरे का धर्म कम मूल्य पर खरीदा गया। धर्म का मूल्य घटा, बुद्धि का मूल्य बढ़ा। ईमानदारी तिरस्कृत हुई; तिक-डम्माजी पुरस्कृत हुई। धर्म की सार्थकता सिक्के से जांकी गई। निर्माण वास्तविक लक्ष्य नहीं रह गया। बैंक, फर्म आदि जुड़े। आदमी का मूल्य घट गया। वह आर्थिक दृष्टिकोण की प्रधानता ने चेतन मानव का महत्व घटा दिया। वह कायर हो गया। भाव, नैतिकता, आध्यात्मिकता, राग का सुख नहीं मिला - अंतर तुष्ट नहीं हुआ तो पैसे के जोर से सुख, सुविधा, यश, गुत्थन, महत्व, प्रीति आदि खरीदने की प्रवृत्ति बढ़ी। कहा गया - 'टका धर्मों टका कर्मों टका मौख प्रवाचकः'। - मदिरा, नारी के शरीर और (ध्रुव) उत्तेजना की मांग बढ़ी। अधसाधारण और असाधारण कल्पित होने लगीं। साहित्य चरम - सीमा और कीतुल्य प्रधान हो गया और कहा गया कि उसके बाव चीत्र ही कथावस्तु समाप्त हो जाय क्योंकि फिर कोई लुत्फ नहीं रह जाता। भीतर डट-पटाहट और बाहर झोझ; भीतर कमजोरी और बाहर अकड, भीतर दीनता, और बाहर शान यह जडवादी सत्यता की उपलब्धियाँ हैं। ये भारत में भी आ गईं। इस भीतिकवादी सत्यता ने नारी का ^{अव} मूल्यन कर दिया। उसका महत्व घट गया, मूल्य घट गया, आदर घट गया, सम्कार घट गया, च्यार घट गया। पहले वह सहकर्मिणी थी, अब सहकर्मिणी ही गई। पहले वह देवी थी, अब 'कुमारी' या 'श्रीमती' मात्र रह गई। पहले उसकी स्नेह, प्रेम, शक्ति मिलती

थी, अब मसालेदार मडकीली वस्तुएं मिलती हैं। पहले उसे देखकर हम आदर से सिर झुका लेते थे, अब बेहयाई से आंसे फाड़े रहते हैं। पहले वह एक परिवार में बंधकर भी हजारों लासों से स्वतंत्र रहती थीं, अब पुरुष मुक्त होकर भी पुरुष प्रधान समाज की बन्धनी हो गईं। पहले वह पति, सन्तान एवं परिवार की आवश्यकताओं की पूर्ति करती थी, आज मैनेजरों डाइरेक्टरों, साधियों एवं अध्यापकों की इच्छा की तृप्ति करती है। प्रेम स्निग्ध एक की वासी आज वासना-प्रधान हजारों की 'बिडिया' हो चली है। आज वह 'उपेक्षित' हो गई है। भौतिक सम्पत्ति में 'उपेक्षित' की कीमत होती है उसकी गर्जन-बमता के अनुसार जिसमें नारी पुरुष की अपेक्षा हीन है। अस्तु, पुरुष की प्रतियोगिता में स्त्रियाँ आकर वह 'हीन' हो गईं। नारी पुरुष नहीं हो सकती। नारीपन लौकर वह विपन्न हो जाती है। नारी गर्जन के लिये नहीं, 'सर्जन' के लिये है। आज उसका महत्त्व उसके गुणों के आधार पर नहीं, उसकी तनूत्वाह और उसके आकर्षण की बमता पर आँका जाता है। आज स्त्री का सहयोग नहीं, उपयोग होता है। आर्थिक और सामाजिक छोट में झुलने वाले भौतिकवादी-जडवादी मानव के तन की मूल और मन की एकान पिटाकर उसकी गुवगुवाने का साधन मात्र नारी हो गई है। आज सेक्स मनोरंजन का साधन हो गया है। धर्म की बात बेकार की बात हो गई है, 'प्रजनन' अवांछित रेवसीटेन्ट हो गया है। भयुन हो किंतु उसका स्वाभाविक फल न संभालना पड़े, इसके लिये अनेक उपाय और साधन निकाले जा चुके हैं और उनके उपयोग को अनैतिक नहीं माना जाता। ठीक भी है, क्योंकि भौतिकवादी जड सम्पत्ति की नैतिकता का रूप कुछ तो बयल होना ही। अस्तु, आदमी 'मैं' को प्यार करने लगा। सार्थकता देने में नहीं, पाने में समझी जाने लगी। तो, जो हमें एक दूसरे से बाँधता है वह 'संबंध' न होकर 'बन्धन' समझा जाने लगा। विवाह 'सोशल कन्टेक्ट' या 'स्युजल रेग्रीमेंट' हो गया जो आज किया जाता है और कल तोड़ा जाता है। जड सम्पत्ति में पुरुष और नारी दोनों के भीतर से सहने और निगाहने की भावना समाप्त कर दी। विवाह जन्म-जन्मांतर का बन्धन नहीं रह गया और अब ती सरकार

ने भी "तलाक" का रास्ता सौल दिया है। पटे तो ठीक है, नहीं तो, छोड़ दो, इस छोड़-छाड़ में नारी सदैव घाटे में रहती है। पति या पत्नी को पौस्त मानने का रिवाज चला जिसका तात्पर्य यह है कि दोनों दो ऐसे व्यक्तित्व हुए जिनका भावात्मक या रागात्मक संबंध-सूत्र बड़ा ही कच्चा होता है। यह भौतिकवादी सभ्यता है। इस प्रकार अब हम सबको एकमात्र बुद्धि की दृष्टि से देखने लगे। अस्तु, इस भौतिकवाद ने वैज्ञानिक मनोवृत्ति, वैज्ञानिक विचारपद्धति, एवं तर्कशक्ति दी। अब जीवन मयानक रूप से कर्म संकुल एवं उष्वेद्य प्रधान हो गया। भौतिक विज्ञान प्रधान हो गया। नैतिक-नित्य युद्ध, कला, व्यापार, उद्योग एवं चिकित्सा आदि के क्षेत्रों पर विशेष रूप से इस नैतिकतावादी सभ्यता की छाप पड़ी। भौतिक लघुताएं मिट गईं। प्राचीन रूढ़ि टूट गईं। नवीनता की अभिवृद्धि हुई। वस्तुओं की विविधता और प्रचुरता जीवन की सीमाओं से उफना उठी है। साहित्य में मनोविज्ञान आदि का प्रवेश हुआ। बौद्धिकता बढ़ गई। धर्म, नीति और आध्यात्मिकता का स्थान यथातथ्य चित्रण ने ले लिया। आदर्श का स्नेह-स्निग्ध आंचल छोड़ दिया गया।

फ्रायड

वीत्स्की बतावदी ने पश्चिमी सभ्यता ने भारत को एक और महत्वपूर्ण चीज दी है। यह चीज है फ्रायड के विचार और निष्कर्ष। इस कीलान्तर विज्ञान ने मानव मनका विरलेषण वैज्ञानिक ढंग से किया और कुछ अपने निष्कर्ष निकाले। उसके निष्कर्षों ने मनोविज्ञान की बुद्धियां में एक हलचल मचा दी। इसने मानव चेतना के कई स्तर बताये। उन स्तरों में एक है अवचेतन मन। अनेकाने अनेक कारणों से हमारी जो इच्छाएं पूरी नहीं हो पाती वे सबकर अवचेतन मन में पड़ी रहती हैं। उनमें असाधारण शक्ति होती है और वे चुपके चुपके उत्पन्न मचाय करती हैं। मनुष्य का चिंतन, मनुष्य की प्रकृति और प्रवृत्तियां, मनुष्य का व्यवहार, मनुष्य की कल्पना और कामना, मनुष्य के भाव और विचार, मनुष्य की क्रिया और प्रतिक्रिया इनसे प्रभावित होती रहती है। इन दमित वासनाओं में

भी सबसे अधिक स्वतन्त्र होती है काम-वास्ता। फ्रायड के अनुसार काम-वास्ता से ही हमारा सारा जीवन अनुप्राणित होता है। बच्चे से लेकर बृद्ध तक की समस्त क्रियाओं के पीछे यही होती है। बच्चा माँ को इसलिये अधिक प्यार करता है कि उसमें काम-वास्ता है; माई-बहन के भी प्यारका यही आधार है। दमित काम-कुंठाएँ ही हमारी मूल प्रेरणा हैं। कला में इन्हीं दमित काम-वास्तुनाओं का श्रेष्ठतम रूप मिलता है। कला के माध्यम से हमारी सभी हुई इच्छाएँ समाज से समझौता करने के लिये रूप बदल कर जाती हैं। कलाकार प्रतीकशैली अपनाता है। वह जीवन-संघर्ष से भाग कर कल्पनाओं का एक संसार बनाता है - मैं जग-जीवन का भार लिये फिरता हूँ; फिर भी जीवन में प्यार लिये फिरता हूँ, है यह विस्तृत संसार न मुझको भाता, मैं सपनों का संसार लिये फिरता हूँ। फ्रायड की इस विचारधारा ने कला और साहित्य को समझनेकी एक नई दृष्टि दी जो पारवात्य सत्यता की प्रवृत्ति के सर्वथा अनुरूप है।

मनोविज्ञान

आधुनिक विज्ञान ने मानव मन को भी जड़ता नहीं छोड़ा। उसका भी विश्लेषण और विश्लेषण किया गया है। यह विज्ञान मनोविज्ञान कहलाता है। इसमें मन की विभिन्न वृत्तियाँ, प्रवृत्तियाँ एवं उस पर पड़ने वाले विभिन्न प्रभावों और उसके द्वारा मनुष्य के व्यक्तित्व और जीवन पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन किया जाता है। आधुनिक कविता में जिन मनो-वैज्ञानिक तत्वों एवं प्रक्रियाओं का उपयोग हुआ है वे इस प्रकार हैं - (१) निर्बाध निवेद्य या फ्री एसोसिएशन जिसका आधार है आत्मोन्मूलन.... (२) व्यंग्यना का उपयोग अर्थात् सांकेतिकता (३) प्रतीकवाद, (४) उद्घोषक प्रतीकों द्वारा भावाभिव्यक्ति का प्रयत्न, (५) वैयक्तिकता और (६) अचेतन प्रक्रियाओं के विस्तृत समूह मात्र के रूप में मानव की कल्पना।^१ नाटकों में तो मनोविज्ञान

१. 'आलोचना', नवम्बर, १९५५ ई. पृ. २९-३०।

२. बच्चन की एक कविता की कुछ संकेतियाँ।

चित्रण अनिवार्य हो गया है।

इलियट

इस सम्यता की उपज, इलियट, की मान्यताओं ने भी हमको प्रभावित किया है। प्रयोगवादी कविता का बहुत कुछ आधार इलियट है। उसके अनुसार कवि का व्यक्तित्व और कवि की कृतियाँ ये दोनों दो स्वतंत्र इकाइयाँ हैं। जो मन रचना करता है वह उस मन से भिन्न है जो मौन करता है। इस प्रकार यह आवश्यक नहीं है कि हमने जो भाव प्रकट किये हैं वे हमारे अपने ही हों। इसीलिये काव्य में कवि की अपनी व्यक्तित्वगत अनुभूतियों को ही सौजना बेकार है। हमने जिन भावों की व्यंजना की है उनके मौलिक रूप का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करना कोई अनिवार्य शर्त नहीं है। कला-सृजन की उत्कट प्रेरणा के परिणामस्वरूप ही हमें वे संवेदनाएँ और अनुभूतियाँ मिल जाती हैं जिनका समन्वित रूप हमारे द्वारा रचित काव्य के रूप में पिताई पड़ता है। रचना करते समय कलाकार अपने 'स्व' को अपनी रचना से अलग करता है। इसलिये कला में कलाकार के व्यक्तित्व को सौजने का प्रयास नहीं करना चाहिये।

प्रतिबिम्बवाद तथा कुछ विचारक

१९०९ ई. में हल्से के नेतृत्व में प्रतिबिम्बवादी जाँचीलन प्रारंभ हुआ था। एवरट पार्सेड और एमी पावेल ने इसकी समुचित प्रदान की। प्रथम महापुरुष के बाद यह जाँचीलन समाप्त हो गया। साहित्य क्षेत्र में इसका पर्याप्त विरोध हुआ था। इस जाँचीलन ने छात्राध्यक्ष पद्धति को स्वीकार किया। इसके अनुसार कविता में संश्लिष्ट के साथ और एक मर्यादापूर्ण ढंग से पुरुष के प्रतिबिम्ब को अभिव्यक्त करना चाहिए। यह अभिव्यक्ति स्पष्ट होनी चाहिए। इसके अनुसार शब्द की शुद्धता भी आवश्यक है। विषयवस्तु चुनने में कवि पूर्णरूप से स्वतंत्र है। भावों की अभिव्यंजना में नाव का भी सहारा वह ले सकता है।

इससे किसी भाव की अनुभूति ध्वनित की जा सकती है। प्रतिबिम्ब को अभिव्यक्त करने के लिये हमको रुढ़ि का सहारा लेने की मजबूरी नहीं है। हमें इस ढंग से अभिव्यक्त करना चाहिये कि उसकी अपनी विशिष्ट वैयक्तिकता बनी रहे। उद्ब-
चित्रों के विधान में दुष्कळोरता आवश्यक है। इस प्रकार यथार्थ अभिविज्जित होना चाहिये। वस्तु के अपने सही रूप को ही चित्रित करना है। इस चित्रण में हमें अपनी मान्यता को अलग रख देना है। काव्य आत्मपरक भावुकता प्रधान दार्शनिक अथवा वर्णनात्मक नहीं होना चाहिये। कठोर, दुष्ट और ठोस रूप सामने लाना चाहिए। जो कुछ लिखो उसमें कुछ अजनबीपन, अनोखापन, असाधारणता हो। कविताएं छोटी हों। प्रभाव थोड़े समय तक के लिये पड़े। बुद्ध आ-
र्क्यता का इसमें ^{अर्थ} महत्व है। निरीक्षण पूर्ण एवं वास्तविक होना चाहिए। ईलियट की ये धारणाएँ फ्रांस के प्रतीकवादी आन्दोलन से मिलीं। असफलताओं और भोगवाद ने फ्रांस में जनतांत्रिक आदर्शों और मूल्यवादी ^{विचार} रोमांटिक काव्य-परम्पराओं के विरुद्ध पैदा किये। विक्टर युगो रोमांटिक स्कूल के थे। उनके ठीक विपरीत विचार लेकर बोध लेकर पतनवादी कविता के सम-
र्थक हुए। इसके अनुसार मानववाद, बुद्धिवाद, आदर्शवाद आदि सभी कला के लिये अवार्जनीय हैं। प्रतीकवादी कविता इसी पतनवादी कविता की एक शाखा थी। मालार्मे, रेमी द गुमां और पाल वालेरी आदि के नेतृत्व में यह यूरोपीय साहित्य का एक प्रमुख आन्दोलन हो गया। प्रतीकवादी कवियों में से अधिकांश कलावादी, पलायनवादी और घोर व्यक्तित्वावादी थे। उनकी कविताएं आदर्शों और मूल्यों से दूर रहती थीं। ऐसाकरेन से 'विबुद्ध' कविता बनती है क्योंकि यदि कविता में कोई सार, विचार, सिद्धांत, मत एवं बोधगम्यता रही उनका आकार बृहद रहा या वह समझकर लिखी गई या समय में आ सकी तब वह 'वि-
बुद्ध कविता' नहीं रह जायगी। तब 'समय में आने वाली चीज' हो जायगी, 'सिद्धांत' हो जायगी, 'बड़ी रचना' हो जायगी, 'कविता' कहाँ रह जायगी।। इसी तरह एक और विचारधारा हमको यादचान्य सत्यता ने दी। उसका नाम

है अस्तित्ववाद। अस्तित्ववाद दो प्रकार का होता है। एक के अनुसार मानव यह अनुभव करता है कि यह स्वतंत्र है और 'कुछ' है। यह सोचने के बाद वह यह अनुभव करने लगता है कि तब उसका उत्तरदायित्व भी है। उसके सामने के बन्धन एवं उठसकी बाधाएं उसे अपने को अक्षम और मनुष्य की लघुताएं उसे अपने को अकेला सोचने को विवश कर देती हैं। अब वह अपने को ईश्वर के सामने प्रणत करके अपने को शून्य कर देता है। यह आस्तिक अस्तित्ववाद है। दूसरे प्रकार का अस्तित्ववाद नास्तिक अस्तित्ववाद है जिसके अनुसार मनुष्य की कोई भी अपनी स्थायी प्रकृति नहीं। मनुष्य पदार्थ नहीं, कर्ता है और इसके कारण उसका प्रत्येक कार्य एक नई कृति है, सृष्टि है। इसका पता भी लगता है कि आप किसी भी मनुष्य की पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक एवं व्यक्तिगत स्थितियों को पूरी तरह से जानते हुए भी यह नहीं कह सकते कि वह अमुक परिस्थिति में अमुक आचरण करेगा ही। अनुमान कर सकते हैं और गलत हो सकते हैं। यह मानव पूर्णरूप से स्वाधीन है। उसकी इस असीम स्वाधीनता की सीमा बना देने में समर्थ शक्ति कोई है ही नहीं—ईश्वर, न और कोई परम-चरम शक्ति। मनुष्य की यह असीम स्वाधीनता ही उसके लिये पातक है, अभिशाप है। सामने अनंत है। उसमें से अपने लिये 'कुछ' चुनने को वह बाध्य है। ऐसा कि किये बिना वह रह नहीं सकता। अब प्रश्न उठता है कि कैसे चुने। इसके लिये उसके पास कोई शाश्वत मापकण्ड ही नहीं है। यही परिस्थिति मानव के जीवन की शाश्वत दुविधा है। उसके अन्दर व्याकुलता होती है। उसे अपनी इस व्याकुलता का कोई स्पष्ट ज्ञान होता नहीं पर वह बैधन रहता है। भीतर ही भीतर कुछ कपीटता है। वह मरना चाहता है परमात्मन नहीं सकता। बयनीय, एककी, शक्तिय, बेचारा ।। साहित्य इसी हीनता के देवता की अक्रियशक्ति है। टाल-स्टाय का सिद्धांत था कि कलाकार अपनी कृतियों में जिन भावों की अक्रियशक्ति करता है उनकी प्रकृति, उनके स्वभाव और जनता पर पड़ सकने वाले उनके प्रभाव का अनुमान उसे होना चाहिये। ऐसे भावों की अक्रियशक्ति उसे नहीं करनी

चाहिये जिन्से लोक का अहित हो। साहित्य में लोक-हित के उत्कृष्ट भावों की अभिव्यक्ति होनी चाहिये। साहित्य एक उपयोगी वस्तु है। उसका एक उद्देश्य है और नव बुलारे वाजपेयी के उद्धरण में "साहित्य प्रवृत्तियों के संघटन प्रस्तुत करता है और उनके निर्माण में सहायक भी होता है क यह रिचार्ड्स के कल का सार है।" आगे चलकर काठवेल ने मार्क्सवादी विचारधारा का प्रवेश साहित्य में कराया। इसके अनुसार साहित्य की स्वतंत्र स्था नहीं। वह साध्य भी नहीं। वह साधन मात्र है। वह "पार्टी" के हित के लिये होना चाहिये। कार्य-कारण परंपरा से मुक्त न होने के कारण साहित्य किसी कार्य-कारण है^१ किसी का "कारण" जिससे कोई "कार्य" होगा। युग का आर्थिक विधान और स्वरूप ही साहित्य का रूप-निर्माण करता है। मध्यवर्गीय और उच्च-वर्गीय व्यक्तियों द्वारा रचित साहित्य बुर्जुआ प्रवृत्ति प्रधान और शोषण का सहायक एवं समर्थक होता है। व्यक्तिवाद बुर्जुआ प्रकृति का परिणाम है। इटली का वेनेडिटी क्रोचे काव्य को अभिव्यंजना मात्र मानता है। उसके अनुसार कला एक मानसिक प्रक्रिया है। वह आत्माभिन्न है। मनुष्य की सहज चेतना और कल्पना नाम की जो दो चीजें मिली हैं उन्हीं से कला का जन्म होता है। मन एक स्नेहनाशील तत्व है। सामान्य जीवन-व्यापारों के द्वन्द्व-प्रतिद्वन्द्व मन पर अपनी छाप छोड़ते जाते हैं। उन्हीं छापों की अभिव्यंजना कला है। एडलर का विचार है कि चूंकि मानव शारीरिक, मानसिक, आदि अनेक क्षमताओं की दृष्टि से हीन है अतएव व्यक्ति के मन में हीनता की भावना बस जाती है। इसकी प्रतिक्रिया यह होती है कि वह कमी पूरा करना चाहता है अर्थात् असाधारण स्तर और महत्ता प्राप्त करने की इच्छा पैदा होती है। साहित्य और कला भी मनुष्य की इस हीन भावना की धुन भुला देने के लिये हैं। काव्य रचना की शक्ति न प्रकृति की देन है, न परम्परा से उत्तराधिकार में मिलती है और न यह किसी पुण्य का फल है। वह मानव की हीन भावना की प्रतिक्रिया है।^{अथ} ^{अथ} संघर्ष और निराशा भावना को कवि बना देते हैं। यह कहना लिखकर

और सुनाकर जो जनता के हृदय को प्रभावित कर लेता है तो अहंकार से फूल उठता है। अपनी हीनता का दर्द मूल जाता है। उसमें एक सामाजिक भाव जागता है। वह दूसरे मनुष्य से प्रेम भी करने लगता है। सारे संसार को अपना समझने लगता है। इससे अपना और सबका कल्याण होता है। यह विचार अंतःचेतनाविषय है। युंग "सामूहिक अचेतना" से कला को उद्भूत मानता है। कला और साहित्य में इस दृष्टि से कोई सास अन्तर नहीं पड़ता। युंग की कवि-विचार-की विचारधारा का सार नन्दहुलारे वाजपेयी के ऊष्णों में यह है, "साहित्य ऐसी ही कृतिपूरक क्रिया है। उसमें कलाकार समस्त मानवता की उन निगूढ़ अभिलाषाओं को अभिव्यक्त करता है जिनका उसके युग विवेक की भूलाँ और छुट्टियाँ के निराकरण और एक अभिनव संतुलन की प्राप्ति के साथ गहरा संबंध है"। अतिव्यथार्थवाद के अनुसार कलाकार को चाहिये कि वह अपने चेतन मन की क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं पर कोई ध्यान न दे। अपने आप उसके अचेतन मन से कुछ भाव और कुछ छवियाँ उभरेंगी। उन्हें उसी रूप में ही साहित्य में अभिव्यक्त करना चाहिये। यह अतीन्द्रिय यथार्थ नियमों और अनुशासनों से परे होता है।

हमने इन सभी सिद्धान्तों को पढ़ा। इनमें से कुछ हमारे अनुकूल थे और कुछ हमारे प्रतिकूल। ठीक तब सुगठित जीवनधारा के अभाव में मूर्खतापूर्ण चिन्तन कल्पना मात्र है। हमारा पढ़ा-लिखा मध्यमगं ऐसी अमर बेलि था जिसकी जड़ न हमारी संस्कृति में रह गई थी और न पारंपार्य संस्कृति में। यह निर्मूल वर्ग लहरों पर उतराता - बहता है। जब कुछ ठोस नहीं दे मिलता तो वह नहीं मिलता और अहं की पूर्ति नहीं होती। इसकी पूर्ण कमी की पूर्ति हमने नवीनता और चौंका देने वाली चीजों से करनी चाँहती। इन नवीनता की सोच ने हमें ऊपर उठे नये सिद्धान्तों की बौद्धिक रूप से अप-

माने को मजबूर कर दिया। आधुनिक युग का पश्चात्य समाज और उसकी नकल करने वाला भारतीय समाज अभी उस रूप की सोज कर रहा है जिसमें वह अपने मन और आत्मा की ठीक ठीक अभिव्यक्ति कर सके। मानव जीवन में ही जब स्थिरता नहीं आई, तब क्या उसकी अन्तरात्मा और अन्तश्चेतन की अभिव्यक्ति करने के रूप और शैली में स्थिरता आ सकती है।^१ बात यह है कि औद्योगिक क्रांति अपनी चरम सीमा पर बीसवीं सदी में ही पहुंची। इससे मानव के ज्ञान में वृद्धि हुई। उसका मानसिक स्थितिज विस्तृत हुआ। साथ ही साथ असंख्य मानव दुःख और विपत्तियों की चट्टिकी में पिस उठे। ज्ञान-विज्ञान की नई नई सोजों तथा मन और जीवन के नये-नये रहस्यों की जानकारी का बाढ़ लघुमन वाला मानव डूबा नहीं पा रहा है, सह नहीं पा रहा है। वह बिखरा जा रहा है। पागल हुआ जा रहा है। अपने को उल्टा^{की} जा रहा है। यह योग प्रधान भौतिकवादी सभ्यता हाड-मांस और जड़ वृत्तियों का विरलेका हो कर सकती है। नये ज्ञान के रूप में भारत को पश्चिम से कड़ी मिला है, मिला रहा है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् फिर हम उसी रंग में रंगे जा रहे हैं, हमारा जीवन उसी रंग में रंगा जा रहा है, हमारी चेतना उसी में ~~रंगी~~^{रंगी} जा रही है, हमारी बुद्धि उसी में ~~रंगी~~^{रंगी} जा रही है।

पश्चात्य सभ्यता हमें पतन की ओर ले चली

पश्चात्य सभ्यता से ज्यों-ज्यों हमारा परिचय बढ़ता गया त्यों-त्यों हमको यह प्रतीत होने लगा कि वहाँ की शिक्षा, समाज तथा वास्तविकता यद्यपि जाद्वं और सिद्धान्त की दृष्टि से हमसे बेह्त नहीं है किन्तु हमारे जीवन को बल्लूात उसी के सांघे में डाला जा रहा है और हम विषम होकर ज्ञाी के अव्यस्त होते जा रहे हैं। कही हुआ। हमारे जीवन को पश्चात्य सभ्यता के तंत्र से इस प्रकार कस दिया गया है कि हमें उसकी पुमन की अनुपुति तो होती है किन्तु हम अपने को उससे डूबा नहीं पा रहे हैं। कुछ तो यह भी सोचने लगे हैं

कि जब सारी दुनिया "उसी रास्ते जा रही है और आज की दुनिया में किसी का भी सबसे पृथक् होकर रह सकना संभव नहीं है तब उन्नति ~~और~~ और उस का एक ही रास्ता है और वह यह है कि जहाँ तक चलसके वहाँ तक पश्चात्य विधान को स्वीकार कर लो। यह दृष्टिकोण अनुचित है। इसके अनीचित्य का अनुभव तभी हो गया था जब पश्चात्य सभ्यता हम पर लावी जा रही थी। इसीलिये इस बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में महात्मा गांधी ने लिखा था, "यह तो मेरी पक्की राय है कि हिंदुस्तान अंग्रेजों के नहीं बल्कि आजकल की सभ्यता के बोझ से पिस रहा है। इस पुतना की पकड़ में वह आ गया है। इससे बचने का उपाय है अवश्य पर दिन दिन वह अधिक कठिन होता जा रहा है।" ^१ आज हम अनुभव करते हैं कि इस "पुतना" की पकड़ और भी मजबूत हो गई है - इस से छूटना और भी ^{अधिक} हो गया है।

इस सभ्यता की उन्नति स्वार्थात्मक है। हर राष्ट्र अपनी उन्नति चाहता है। इसी दृष्टिकोण से प्रेरित होकर राष्ट्रों ने अपनी अपनी अर्थनीति बनाई है। सब चाहते हैं कि उनका अपना सामान सभी जगह जाय और बिके मगर दूसरे के सामान की सपत उनके अपने यहाँ न होने पाये। सभी औद्योगीकरण और मशीनीकरण चाहते हैं। राजस्व इसी अर्थनीति के एक तन्त्र के रूप में ज्यों परिवर्तित हो रही है। जीवन में वैयक्तिक प्रयत्न हो रही है। पैसा आवश्यक हो गया है और इसीलिये संघर्ष अनिवार्य हो गया है। वर्गसंघर्ष की उत्पत्ति हो रही है। हिंसा करवटें लेती है। वैनेन्त्र के शब्दों में "कृषि से राज्य भेष्ट" ^२ हो चला है। राजस्विक प्रवृत्ति वाले का उत्कर्ष और सात्विक का अनादर होता है। नपित स्वार्थपरक हो गई है। हिसाब यों चलता है कि कितने पैसे लगे और कितने मिले ; यों नहीं चलता कि समाज का जितना धन और अर्थ

१. "हिंद स्वराज्य", पृ. ३८

२. "समय और हम",

व्यय हुआ उसकी वृत्तिपूर्ति कितनी हो सकी है। काम का अर्थ हो गया सिक्के की बढ़ोतरी - न कि मानवता की वृद्धि। हिंसा का गठबन्धन स्वार्थ से हो गया। उसी न्याय को तलाक दे दिया। आज अंग्रेज की समस्या प्रधान हो गई है। बीसवीं सदी के भारत की भी यही कहानी है। अस्तु, वस्तुपरक दृष्टि बुद्धिवाद की अधिकता, संस्थाओं के चलपर यश और पद का रीति या कुरीति से अवन, जन साधारण से संपर्क का अभाव, गलत बातें कह सकने और गलत धारणा कर सकने का सामर्थ्य, नवीनता का मोह, रोब गांठने की इच्छा, अपनी हीनता छिपाकर अपने को बड़ा पिलाने की इच्छा, अनेकता, साधना^{की} कमी, नीति और धर्म से डरने की प्रवृत्ति का नाश, स्वार्थ, गुटबन्दीवाद अर्थात् वृत्तियाँ पार्श्वगत्य सत्यता के संपर्क के परिणामस्वरूप हमारे जीवन और हमारे साहित्य को मिली हैं। स्वार्थ प्रेरित अंग्रेजी क्रांति और पतनी-मुक्ती भारतीय-मानस तथा जटिलता - इन तीनों के सम्मिलन से किसी बहुत अच्छे परिणाम की आशा भी नहीं की जा सकती थी। हमारी बौद्धिक उपलब्धियाँ अत्यन्त छिछली और साधारण रहीं। के. एम. मुंजी ने कहा है, कि उच्चतर बौद्धिक-उद्भावना^{को} के परों को अब भी संयुक्त एवं सबल होना है। सावरता का अभाव हो चला। शिवित हिन्दू दो संतारों के बीच सोया-सोया-सा है। भारतवातियों की रीढ़ की हड्डी बहुत कमजोर हो गई और वे पलायनवादी प्रवृत्ति के हो गये। वे विगत गौरव की छाँकियों पर सन्तोष करने लगे। जवाहरलाल नेहरू ने इसे मुखतापूर्ण और भयंकर मनोविनोद कहा है।^१ स्वामी रामतीर्थ ने कहा कि अंग्रेजी शिक्षा के कारण हमारे विचारों में जो क्रान्ति हुई उसका सारांश यी ऊँदों में दिया जा सकता है। एक तो यह कि निर्यात पर अधिकार बनाने से सुत की वृद्धि होती है और दूसरे यह कि अपनी ही सुसुविधि करना मुख्य का प्राप्तिव्य है। पैत ने लिखा कि हमें भाषा नहीं, बल्कि

१. 'आयर प्रेस्टिड नीड', पृ. ३४।

२. 'हिन्दुवरी आफ इंडिया', पृ. ६९-७०।

राष्ट्र भाषा की आवश्यकता है; पुस्तकों की नहीं मनुष्यों की भाषा-
चाहिये।^१ हम पश्चिमी विचार वर्धन तथा साहित्य के दास हो गये। हम
यह समझने लगे कि हमारी आध्यात्मिकता और वर्धन सामंती परिस्थितियों
की देन है और आज के युग के लिये उपयोगी नहीं है। हमारा जीवन सज-
बला किन्तु अन्तर - बेतना , भाव एवं विचार सुसज्जित एवं संगठित बन
हो सके।

दो इंग्लैंड - जिनमें से एक से हमें कुछ सहायता मिली

जवाहर लाल नेहरू ने दो इंग्लैंडों की चर्चा की है^२ :-

वेक्सपियर और मिल्टन वाला, उदार बातों और लेखों वाला, वीरता के
कारनामों वाला, राजनीतिक क्रांति और आजादी के लिये लड़ने वाला,
विज्ञान और कला कौशल की उन्नति वाला, और 'बहियाना जाहता फौज-
दारी करने वाला, बर्बर व्यवहार करने वाला सामंतवादी एवं प्रतिश्रियावादी'
हम दूसरे इंग्लैंड की स्वार्थपरक साम्राज्यवादी नीति के नीचे खड़े रहे किन्तु धीरे-
धीरे पहले के भी संपर्क में आये। दूसरे इंग्लैंड ने पहले इंग्लैंड के प्रभाव को रोक-
ना चाहा, पहले इंग्लैंड ने हमारे महत् कार्यों और उद्देश्यों में सहयोग और
सहायता दी। भारत ने अपनी शक्ति, अन्तर्प्रेरणा और वमता के बल पर पा-
श्चात्य सभ्यता से कुछ बातें अपने यथासंभव लाभ के लिये भी सीख लीं। हमारी
प्रसुप्त बौद्धिक और आलोचनात्मक शक्ति का पुनर्जीवन, जीवन की फिर से
बसने लगे और नये सृजन की इच्छा, नई परिस्थितियों और नये आव्हानों को
देखने, समझने और अपनाने की इच्छाएं इस नये युग में हमें पाश्चात्य सभ्यता के
संपर्क से ही प्राप्त हुईं। ये विचार विचार अरविन्द के हैं और इनकी सत्यता
में कोई भी सन्देह नहीं। इस नवीन संपर्क अथवा उसके धक्के ने ही हमें जगाया
और जीवित रहने के लिये एवं गौरव की प्राप्ति के लिये नई परिस्थितियों के
के अनुरूप बदल जाने की प्रेरणा दी। तभी तो हमने जाति व्यवस्था की कठो-

१. 'पल्लव' की प्रेमिका, पृ. १०।

२. 'हिंदुस्तान की कहानी', पृ. २४९।

रता और इसी तरह की अनेक अनावश्यक परम्पराओं को यथासंभव तोड़ दिया । धार्मिक एवं साम्प्रदायिक कट्टरता भी इसीलिये समाप्त होती जा रही है। इससे हमारा दृष्टिकोण बन उधार बना और हम किसी व्यक्ति या जाति के विरोधी न होकर उसके दोषों मात्र के विरोधी हुए। हमारे यहां भी वैज्ञानिक अन्वेषण और अनुसन्धान होने लगे। ललित कलाओं और वास्तुकलाओं में नई-नई छवियां उमरीं। हम हर तरह से दुनिया के बीच में आकर खड़े हो गये। जब सबसे अलग - ^{स्कांति} - नहीं रह गये। दूसरों की हवा लगने का दूत समाप्त हो गया।

हमारे भीतर की संजीवनी शक्ति

दूसरे के रूप और दूसरे की आत्मा को स्वीकार कर लेना यदि निर्मलता, पराजय एवं मृत्यु है तो भी पर के प्रभाव को स्वीकार करके परि-स्थिति के अनुरूप अपने को परिवर्तित कर लेना स्वीयता, क्षमता, शक्ति और जिवंजी की निशानी है। हिंदी के सेवक मुर्दा नहीं हैं और यह इसी से प्रकट है कि यद्यपि अंगरेजी साम्राज्यवाद ने हमें कुछ भी देना नहीं चाहा था किंतु तब भी हमने उनकी और उनकी सभ्यता की बेछूताओं में से बहुत कुछ लेकर अपने को यथोचित ढंग से उत्थित और समृद्ध कर लिया है। हमने पश्चिम का सारा साहित्य भय डाला इसमें हमारी आवश्यकता और संस्कृति के अनुकूल जो अमूल्य ^{या} प्रभं उसे ले लिया और अपने साहित्य के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ा। इसके अतिरिक्त और कोई चारा नहीं था। सचिन्धानन्द हीरानंद वात्स्यायन ने लिखा है, "नये विचार और नये साहित्य की यदि बड़े जमाने थीं और उन्हें फलना-फूलना था तो विचार और उद्देश्य का नया वातावरण भी निर्मित करना आवश्यक था। यह वही परिचित भारतीय भूमि ही सकती ^{पल्लु} आधुनिक उपकरण और समृद्ध साध का स्वागत भी बहुत आवश्यक था।"

जो पारश्चात्य जीवन और दर्शन भारत में ला दिया गया था उसका इस्तेमाल अधिक सुन्दर उपयोग और कोई दूसरा हो भी नहीं सकता था। वह अपना स्वाभाविक प्रभाव डाले बिना रह नहीं सकता था। हमारे अधिकार में केवल इतना ही रह गया था कि उसका सदुपयोग कर लें। वही हमने किया।

जड़ों का उपयोग और उनका प्रभाव

दर्शन के क्षेत्र में भौतिकवाद, राजनीति के क्षेत्र में लोकतन्त्रवाद और समाजवाद, समाज के क्षेत्र में प्राचीन अनावश्यक रूढ़ियों और परंपराओं का त्याग, जीवन में प्रवृत्ति का मार्ग तथा व्यक्ति और समाज की मज्जा हमने स्वीकार की। हमें एक बौद्धिक अन्तर्दृष्टि मिली। अब हमने हिन्दी की सेवा का केवल व्यक्तिगत मार्ग ही नहीं अपनाया बल्कि दल और संस्थाओं का निर्माण करके आन्दोलन का भी रास्ता पकड़ा। बीसवीं सदी के आते आते नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना होगई और हिन्दी प्रवेश में चारों ओर उसकी छा-सापं फैल गई। बीसवीं सदी का तृतीय चरण समाप्त होते-होते प्रयाग में 'हिंदुस्तानी पैकेडमी' की स्थापना हो गई। इसी प्रकार हिन्दी साहित्य सम्मेलन भी बन गया। भौतिकवादी एवं बुद्धिवादी दृष्टि ने यह जुराया कि साहित्य की सेवा का तात्पर्य केवल कविता, कहानी, नाटक आदि लिखना ही नहीं है, सेवा के इस क्षेत्र में ज्ञान-विज्ञान का साहित्य प्रस्तुत करना तथा कचहरी से लेकर छादी ब्याह के उत्सव की नियंत्रण और घर के नामकरण आदि में भी हिन्दी का प्रयोग भी हिन्दी की सेवा है। यह एक व्यापक-समग्र-दृष्टि थी जो मिली। यह एक आन्दोलन था। इस नयी सत्यता के प्रभाव ने ही जीवन में विविधता उपस्थित की और हमारे हिन्दी साहित्य को अनेक विधाएं मिलीं। हमने हूब लिखा। के. एम. मुंशी ने लिखा है कि पिछले पचास वर्षों में भारतवर्ष की पुस्तक सर्वाधिक बढ़ी है।¹ इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन

1. 'आवर' प्रेस्टेड नीड', पृ. ५०।

पिछले पचास वर्षों का पुस्तक साहित्य हिन्दी का समृद्धतम पुस्तक साहित्य है। नवकाव्य, कथचित्र, रेखाचित्र, कवियों की आलोचना, रिपोर्टाज आदि अभिव्यक्ति के नये ढांचे मिले। कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास, एकांकी, आदि की आकर्षकतम नया रूप-विधान मिला। पारचात्य जगत के साहित्यिकों ने भी हमें प्रभावित किया। रामकुमार वर्मा ने लिखा है, "मेरे इन नाटकों में कहीं कहीं काव्य की छाया भी है। यह मेरे लिये स्वाभाविक है। इस क्षेत्र में जेम्स जर्ले के 'ट्रेटर्स' और 'लक्स हूपस्टी' आदि नाटकों ने मुझे बल प्रदान किया है। पी. बी. शेर्ली^१ 'सैली' रचना भी मुझे विशेष रुचिकर है। आ के क्या रखा है तो कोई भी नाटककार प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता।" पद्म सिंह वर्मा ने लक्ष्मी नारायण मिश्र का यह कथन उद्धृत किया है, "तब भी मिल्टन और आ को मैं पसन्द करता हूँ। इरुस्तन का बहुत अधिक प्रभाव मेरे नाटकों की बाह्यरूप रचना पर पड़ा। गेटे, नीत्शे और रोम्या रोलां के भीतर मुझे भारतीय जीवन-दर्शन की झलक मिली। प्लेटो के सिद्धांत जहाँ तक समझ सका हूँ सब और से भारतीय हैं।" प्रभाकर माचवे ने अपने एक लेख में हिन्दी पर पड़ने वाले आ के प्रभाव का अच्छा विवेचन किया है।^२

पारचात्य सभ्यता उत्सुकता और नवीनता की मनोवृत्ति पसन्द करती है। हिन्दी में एकांकीयों की लोकप्रियता मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस प्रभाव के परिणाम-स्वरूप भी हो सकती है। रामकुमार वर्मा भी लिखते हैं, "इन दोनों को लिखते समय मैं बार बार यह अनुभव करता हूँ कि मैं अपने मित्रों को ऐसी चीज हूँ जो किसी न किसी तरह नई हो और जो उनके मन की उत्सुकता बढ़ाती हुई उन्हें किसी सत्य या रहस्य से परिचित करा दे।" पारचात्य सभ्यता जाट्या हिम-कता प्रधान नहीं है। पंत स्वयं लिखते हैं कि मेरा काव्य मुख्यतः जाट्या हिम-

१. 'पृथ्वीराज की जाँच', की मुद्रिका, पृ. १०

२. 'हंस' अप्रैल, १९४६

३. 'कल्पना' पत्रिका, दिसम्बर, १९५२ ई.

४. 'विचार दर्शन', पृ. ८७।

काव्य नहीं है बल्कि वह महान संपर्क का काव्य है - अंतरतम संपर्क का - भू-जीवन, लोक मंगल तथा मानव मूल्यों का काव्य।^१ पार्श्वात्य सच्च्यता के संपर्क के परिणामस्वरूप ही हमारा साहित्य धीरे धीरे रस्सेयून्य हो गया। उसमें दुर्घम प्यास और दुर्दान्त साहस की अभिव्यंजना होने लगी। ऐतिव्यता, अश्लीलता के साथ साथ बीमत्स भी अधिक चित्रित होने लगा। हमारे साहित्य में अंगरेजी रहस्यवाद, डोवे के अभिव्यंजनावाद, फ्रांस के प्रतीकवाद, पौ के विषादवाद आदि पार्श्वात्य साहित्य की विचारधाराओं की झलकियाँ भी इधर-उधर मिलती हैं। इस युग में कविता बन्धनों से मुक्त हो गई। हिंदी के साहित्यिक की सारी और सभी झिलक इस युग में समाप्त हो गई। व्यक्तिवाद ने उसे साहस और बल दिया और दूसरी ओर उसने यह भी अनुभव किया कि उसका अन्तिम एवं पूर्ण कल्याण सामाजिक अन्वेषण में निहित है। हजारों प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, "धीरे धीरे व्यक्ति-मानव के स्थान पर समाज-मानव का महत्व प्रतिष्ठित होता गया। यह काल एक और सामूहिक आन्दोलनों में विश्वास करता है और दूसरी ओर सामाजिक अन्वेषण के प्रति आकृष्ट होने का भी समय है।"^२ छायावाद का आंदोलन उद्दाम वैयक्तिकता, रुढ़ि एवं परंपरा के विरोध तथा विरि नवीन के ग्रहण की पार्श्वात्य प्रवृत्तियों को अपने भीतर लिये है। दिक्कर ने लिखा है, "छायावाद हिन्दी में उद्दाम वैयक्तिकता का पहला विस्फोट था। वह केवल साहित्यिक गैलियों के ही नहीं, अपितु समग्र जीवन की परम्पराओं, रुढ़ियों, शास्त्रनिर्धारित मर्यादाओं एवं मनुष्य की चिंता को सीमित करने वाली तमाम परिघाटियों के विरुद्ध जन्मे हुए एक छायापक की विद्रोह का परिणाम तथा मनुष्य की दबी हुई स्वतंत्रता की भावना की प्रत्येक दिशा में उभारने वाला था।"^३ हजारों प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, "कवियों की प्रेरणा अधिकांश में विवेकी माध्यम के द्वारा आती है और जो शास्त्र आधुनिक युग के मनुष्य को प्रभावित कर रहे हैं उनकी बहुत कम चर्चा हिन्दी साहित्य

१. 'विषयवरा', पृ. २७-२९।

२. 'हिन्दी साहित्य', पृ. ४८२।

३. 'हिन्दी आन्दोलन नामक पत्रिका के वर्ष ५, अंक १-४, पृ. ७२ से उद्धृत।

भाषा में हुई।^१ यह माध्यम पश्चिम का है, यह शास्त्र पश्चात्त्य है। पश्चात्त्य जीवन स्तब्धता नहीं, सकलोरता है, वह निर्माण नहीं, ध्वंस करता है, वह आलोचना करता है, बताता नहीं, यह पाव, सहाय, पिशाच है, दया नहीं करता। ये सारी प्रवृत्तियाँ आधुनिक साहित्य में मिलती हैं। इसी प्रभाव से साहित्य ठयाख्या मात्र हो गया है। यह हित के भाव के सहित नहीं रह गया है। मध्ययुग की हिन्दीलिपि और आज की हिन्दीलिपि में जो अन्तर हो गया है उसकी तरह मैं भी पश्चात्त्य वैज्ञानिक मनोवृत्ति है। आज की लिपि का स्वरूप निर्माण आवश्यकता और वैज्ञानिकता से प्रेरित है। व्यक्ति के चरित्र और मनोविज्ञान का उसकी लिपि और लेखन शैली पर बहुत प्रभाव पड़ता है। आज का व्यक्ति स्पष्ट, साफ, स्वतंत्र, वैयक्तिकता प्रधान, ठहर-ठहर और समझ समझ कर चलने का अभ्यासी, कुछ सरल, और सौन्दर्य की जगह सुविधा का प्रेमी हो गया है। आज की हिन्दी लिपि पर इस मनोवृत्ति का कितना अधिक प्रभाव पड़ा है, इसका पता तब और अधिक स्पष्ट रूप से लगता है। जब इसकी तुलना किसी मध्ययुगीन हस्तलेख से करते हैं। वहाँ प्रत्येक अक्षर एक दूसरे से मिला - जुटा है। अनेक अक्षर बहुत ही घुमाव - फिराव वाले हैं। विरामचिह्नों का अभाव है। ऊँच भी एक दूसरे से इतने सटे होते हैं कि पता न लगे कि कौन ऊँच कहाँ समाप्त होता है। आधुनिक लिपि में इन सारी बातों का परिष्कार हो गया है। यह विश्लेषण प्रधान पश्चात्त्य सत्यता का प्रभाव है। टाइपराइटर अर्थात् मशीन ने ऊँचों के हिज्जे - बर्तनी - बदल दिये हैं। राजनीति प्रधान सत्यता में भाषा का रूप और लिपि का रूप राजनीतियों द्वारा राजनीति के दृष्टिकोण से हो^{ते} होने लगा है। अतुलबन्ध चटर्जी ने लिखा है कि भारत के अन्धर पिछले सौ वर्षों में जितना भी कुछ लिखा गया है उसी ऊँच यूरोपीय विचारधारा और साहित्य का प्रभाव असाधारण है।

१. 'हिन्दी साहित्य की भूमिका', पृ. १४०।

आधुनिक भारतीय भाषाओं में प्रयुक्त वाक्यों के निर्माण के स्वरूप और पुनरावर्तन एवं कहावतों के ऊपर भी अंगरेजी का प्रभाव डूँडा जा सकता है।^१ सारे भारत के लिये एक राष्ट्रभाषा या राजभाषा का विचार भी पूर्णतः भारतीय नहीं है।

- :::: -

१. 'न्यू इंडिया', पृ. ९१।

सांस्कृतिक दृष्टि से हिन्दी प्रेम की आत्मस्वरूप की लीज

(पृष्ठ ७६८ से ८०८ तक)

हमारा आत्मरूप -- हम पर आक्रमण -- हम रक्षा के लिए प्रयत्नशील हुए -
विवेकानन्द -- गान्धी -- तिलक -- बाल्य समान -- अरविन्द -- ठेगौर --
राधाकृष्णन -- आत्मस्वरूप की लीज की सुफल -- अतीत दर्शन ।

सांस्कृतिक दृष्टि से हिंदीप्रदेश की आत्मस्वरूप की लोज

हमारा आत्मरूप

भारत की अपनी विबुध संस्कृति का पौडे में चित्रण कर सकना सम्भव नहीं है किन्तु जहाँ इसकी एक झलक बिताये बिना जाने की बात की स्पष्ट रूप से उपस्थित कर सकना सम्भव न हो - जैसा कि यहाँ है - वहाँ कुछ यही कहा जा सकता है कि भोग की वासना से मुक्ति; यंत्रों की गुलामी में फँसकर नीति और सभी प्रकार के स्वास्थ्य से वंचित होने की अपेक्षा अपने हाथ-पैर से काम लेकर सच्चा सुख और स्वास्थ्य प्राप्त करना; कठोर बुद्धिवाद और कौमल मानवीय तत्वों का समन्वय; जीवन के प्रतीयमान विरोधी तत्वों में भी सामंजस्य स्थापित करने के लिये धर्म के आंतरिक तत्वों और ईश्वर का उपयोग; कर्म और कर्म के साधनों को पवित्र मानना; उत्कृष्ट सेवा-कर्म के लिये उत्कृष्ट साधनों की अनिवार्यता; वस्तु की अपेक्षा व्यक्ति, व्यक्ति की अपेक्षा बुद्धि, बुद्धि की अपेक्षा परम्परा, परम्परा की अपेक्षा विवेक और विवेक की अपेक्षा आत्मतत्त्व की गेष्ठ समझना; चर-अचर सभी से प्रेम करना, सर्वत्र कृतज्ञता एवं विनम्रता का प्रकाशन; चर-अचर सभी को मानवीय भावना प्रदान करना; साहित्य में ही नहीं, जीवन में भी व्यावहारिक रूप से सर्वत्र प्रतीकों को अपनाना; पशु-पक्षी-वनस्पति आदि सभी से आत्मीयता का संबंध; यत्न; धान; त्याग; नारी को पूज्य मानना; चरित्र का फलत्व, अद्वैत भाव; समन्वय; आध्यात्मिकता; धर्मपरायणता; किंतु की स्वतंत्रता; व्यावहारिक जीवन में संस्कारों से और समाज से बंधकर चलना; काम-वासना या भेषुन को मनोरंजन न समझना; पुनर्जन्म; सत्य; अहिंसा; अस्तौय, ब्रह्मचर्य; निर्भीकता; संयम; ब्रह्म; वाक्स्वरूपों की बगल "मूल्यों" की फलत्वपूर्ण समझना; सबको अपनाने की प्रवृत्ति; परिवार और पारिवारिकता की उदार वृत्ति; ऐहिक को पारलौकिक से जोड़ना; कर्म में धर्म का विचार; गाँवों की प्रधानता; विवाह का जीवन से संबंधित होना आदि भारत की संस्कृति का अपना स्वरूप - आत्मरूप - है।

संसार के इतिहास की भारतीय संस्कृति के अतिरिक्त जिन अन्य दो महत्वपूर्ण संस्कृतियों ने असाधारण रूप से प्रभावित किया है वे हैं इस्लामी संस्कृति और ईसाई या योरोपीय संस्कृति। एक ने मध्ययुग में संसार का जीवन बदला है और दूसरी ने आधुनिक युग में। उन्नीसवीं और अब तक की बीसवीं, सताठ्ठियां निःसन्देह रूप से योरोपीय संस्कृति के प्रभुत्व की सताठ्ठियां हैं। भारत को इन दोनों प्रबल संस्कृतियों से टक्करें लेनी पड़ी हैं और भयानक टक्करें लेनी पड़ी हैं। इस्लामी संस्कृति ने जीवन का बाह्य रूप बदला और हमें कुछ पराजय की भावना पैदा कर दी; योरोपीय संस्कृति ने अंतर और बाह्य - दोनों को बदलने का प्रयत्न किया और हमारी चेतना को चकित, बुद्धि को प्रमित और आस्थाओं एवं धारणाओं को विचलित करने का प्रयत्न किया। इसने हममें हीनता की भावना भरने का बहुत कुछ सकल प्रयत्न किया है। धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है, "किंतु एक दलदल से निकलते ही दूसरी बाढ़ में फंसे गये। यह दूसरी नदी अधिक तीव्र और अधिक भयंकर है - पश्चिमी संस्कृति की बाढ़ इस नदी का जल विशेष नशीला माहूम होता है क्योंकि समाज का अपने मन और मस्तिष्क पर से काबू छूटा जा रहा है। .. एक समय था.. जब पश्चिमी संस्कृति की चकाचौंध ने थोड़ी देर के लिये हमें जन्मा कर दिया था।" जॉर्ज ड्यूयानबी ने ठीक ही लिखा है कि भारत ने पश्चिमी का जो अनुभव किया है वह चीन, तुर्की या उससे भी कहीं अधिक रुस और जापान के अनुभवों से बहुत अधिक दुःसपूर्ण और अपमानजनक बन रहा है लेकिन इसी कारण वह अनुभव इन सबकी अपेक्षा कहीं अधिक निकट का रहा है और भारत की आत्मा में पश्चिम का लौहा संभवतः बहुत गहराई तक धंस गया है।" कहा जा सकता है कि इस लौह-स्तम्भ पर जो ऐसा उत्कीर्ण होला वह भारतीय संस्कृति की

१. 'विचारधारा', पृ. १६९-१७०।

२. 'दि बल्ट पैड दि वेस्ट', पृ. ३४।

विषय का - जो वैजयन्ती पहरायेगी वह भारतीय संस्कृति की जीवन्ती शक्ति और मंगलमयी जीती की होगी। फिर भी, उन्नीसवीं सताब्दी के उत्तरार्ध में यह बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती थी क्योंकि "भारत जैसे प्राचीन देश की प्राचीन जाति की सम्पत्ता का इतिहास नष्ट हो चुका था और उस जाति के कच्चा को इसकी कुछ स्वर नहीं थी। वे या तो भेड़-बकरियों के झुंड की भाँति मन्दिरों में देवता के सम्मुख बैठकर अपने को कायर, कुपूत, कुकमी और अधम कह-कह कर कात्पनिक स्वर्ग की सुख-स्वप्नों की हास्यास्पद कामनाएं करते थे या अपने धीन, दुसी, अरक्षित, अस्हाय और निराश जीवन में बैठे-बैठे संसार की अनित्यता का रोना रोयाकरते थे। साहित्य की मर्यादा और गुंजार या तो मारकाट की प्रशंसा करने में या अपनी ही बकूटियों के निरंज और अत्युक्ति पूर्ण अलौल वर्णन करने में समाप्त हो जाता था"।¹ पार्श्ववात्य संस्कृति की प्रवृत्तियाँ^{प्रवृत्तियों हमारी संस्कृति की} से मेल नहीं लाती थीं और जो लोग पार्श्ववात्य संस्कृति के चाहक थे वे उधारवेत्ता न होकर स्वाधीन, संकुचित और दूर प्रकृति के थे। पहले हमारे अपने राजनीतिक अधिकारों का अपहरण करके फिर उन्होंने हमारी संस्कृति के विभिन्न तत्वों के प्रति हमारे मन में होन मान्यपेदा की और स्वयं "मयर" इंडिया" और "हिन्दू मेनर्स रैंड कंस्टन्स इन इंडिया" जैसी पुस्तकें लिखकर उन को तुच्छ एवं नैतिकता विहीन सिद्ध करना चाहा। जिज्ञा को हमारे अपने सांस्कृतिक तत्वों से उच्छिन्न करके हमारी जानकारी को सोखला कर दिया। आस्थाएं और मान्यताएं टूट चलीं। हम लोग हल्के, छिछले और कमजोर हो गये। हमारे अन्दर अवैज्ञानिक वृत्तियाँ पैदा हो गईं। पार्श्ववात्य संस्कृति के देवदूत भारत को पश्चिम का एक सांस्कृतिक उपनिवेश बनाने में लग गये। एक देश पर दूसरे देश की संस्कृति को लापने का प्रयत्न किया गया। आश्चर्य होता है उन लोगों की बुद्धि पर जो इसे संभव समझ बैठे थे, जो भारत की आत्मा को इतना निर्मल, निर्मल निःसार एवं निःसत्य समझ बैठे थे।

1. चतुरसेन आसत्रीकृत "हिन्दी साहित्य का परिचय", पृ. ७०-७१।

हम रबा के लिये प्रयत्नशील हुए

बात यह है कि जो कुछ न हो, उसे तो आप जो-कुछ चाहिये बना लीजिए किन्तु जिसके अन्दर कुछ ^{ही} है वह सरलतापूर्वक और कुछ नहीं बन सकता। भारतवर्ष के अन्दर "कुछ ही" नहीं, बहुत कुछ था। भारतवासी अपने को मूल भर गये थे, बस! इस विस्मृति काल में हमने उनकी सभ्यता तो अपना ली किन्तु सभ्यता ही ^{सब} कुछ नहीं होती, सब कुछ होती है संस्कृति; और एक संस्कृति पर दूसरी संस्कृति का आरोप आसान नहीं होता। स्वभाविक रूप से उद्भूत होने में भी संस्कृति को हजारों वर्ष लग जाते हैं, अपनी ही सभ्यता के तत्वों को सांस्कृतिक रूप ग्रहण करने में अताछियां लग जाती हैं। सम्भवतः यही कारण है कि जिस जाति की कोई अपनी संस्कृति होती है उस पर किसी दूसरी जाति की संस्कृति का पूर्णरूपेण चिर आरोप दुःसाध्य कल्पना मात्र है। फिर भारतीय संस्कृति !!! यह घेर वैसी है जो चोट साने और धूसे होने पर कटाडता है, अन्यथा आलसी-जैसा पड़ा रहता है। यह उस शिव-जैसी है जिसके पास एक तीसरा भेज है जिसे सामान्यतः देहा तो नहीं जा सकता किन्तु जिसके जुल्ले ही बहुत बन-ठन कर रहने वाला और मन को मादक बनाने वाला काम रूप चत्रु जलकर मरुम हो जाता है। स्तरा पाकर ही यह संभलती और अपने को संभालती है। विधि टक्कर भी यह दो संस्कृतियाँ की। १९ वीं अताछी के पूर्वार्ध में टक्करों हुई और पूर्वार्ध के समाप्त होते-होते राजनीतिक रूप से हम परास्त हुए। फिर भी हम "फि" नहीं हुए; केवल एक बार धरती पर गिर पड़े और कुछल अनुमति सेलाही की भाँति गिरते-गिरते ही याद करने लगे अपने वचने के दाँव को, अपनी सभ्यता के मूल ज्ञात को, अपनी उक्ति के उत्स को। पूरी तरह गिरे हम १८५७ ई. में और हिन्दुत्व के पुनरुद्धान की पहली शलक, हिंदुत्व के तैज की प्रथम तैज किरण १८२० से १८२३ ई. के ^{आहत} विसाई पड़ी जब राजा राम मोहन राय ने "इसाई जनता से अपील" शीर्षक के अन्दर तीन लेख लिखकर ईसा की ईश्वर का पुत्र न होना, ईश्वर ^{अथ} के सिद्धांत की प्रामाण्य

और पश्चात्ताप मात्र से पाप-निवृत्ति को असंभव सिद्ध किया। १८४९ ई. में
 बम्बई में परमहंस समाज नामक संस्था बनी जिसका उद्देश्य ^{प्रा}जाति को समाप्त
 करना था। १८५७ में हम गिरे और १८ वर्षों बाद ही "आर्यसमाज" की स्थापना
 हो गई। १८८७ तक थियासाफिकल सोसायटी भी भारत में सक्रिय हो गई थी।
 १८३६-१८८६ ई तक रामकृष्ण परमहंस ने ज्ञान की किरण फैलाई। १८९३ ई. में
 विवेकानन्द ने भारत की आध्यात्मिकता का सिक्का शिकागो सम्मेलन में सारे
 विश्व पर फिर बैठा दिया था। कहा जा सकता है कि तभी से भारत आध्या-
 त्मिक क्षेत्र में फिर जगद् गुरु हो गया। तिलक के "गीता रहस्य" ने भारतीय
 संस्कृति रूपी अर्जुन के हाथ में फिर से गाँछीव रस दिया। अरविन्द ने आध्या-
 त्मिक बल दिया और गांधी ने अध्यात्मके आधार पर देश के जीवन को चला
 दिया। अस्तु, यूरोप की आधिपत्यता की टकराहट ने भारत की नींव तोड़
 दी। भारतीय विचारकों ने अपने शास्त्रों, धर्मग्रन्थों और विपुल साहित्य का
 फिर से अध्ययन किया। उनकी सोच का एक विषय यह भी था कि यूरोप जिन
 बातों को लेकर अपनी बैठकता सिद्ध करना चाहता है क्या सम्भव हम उन से
 वंचित थे अथवा क्या सम्भव थे उसकी अपनी ही हैं अथवा उसने उन्हें हम से ही
 कभी सीखा था। हमने पाया कि भारत वस्तुतः उतना परिग्र, विपन्न, असमर्थ
 एवं हीन नहीं है जितना वे पादरी अथवा योरप के विचारक बताते हैं। हमने
 पाया कि जब भी भारत के पास कुछ ऐसा है जो यूरोप के पास नहीं है। अंग्रेज
 अपनी मस्तिष्क को श्रेष्ठतम समझता है। उसने भारतीयों को "काला जादमी", "कु-
 "कुली", "कुत्ता" "नेटिव" आदि नामों से पुकारा और इतनी घृणा की दृष्टि
 से देखा जितनी से संभवतः किसी अन्य जाति ने किसी भी संपन्न जाति को न
 देखा होगा। नव शिक्षितों में से कुछ को अंग्रेजों की यह बात बहुत लगी और
 इसकी प्रतिक्रिया बहुत ही तेज तीव्र हुई। इस वर्ग ने समान एवं व्यापक उपाय-
 हारिणी मांग की। मेकाते ने लिखा था कि एक दिन भारतीय अपनी पद्धतियों
 को भुलकर यूरोपीय संस्थाओं तथा अन्धो सरकार आदि की मांग करने और

वह दिन इंग्लैंड के इतिहास का सर्वाधिक गौरवपूर्ण दिन होगा। मेकाले की
 इच्छापूर्ति में बहुत दिन नहीं लगते मगर उसकी नासमझी का दुर्भाग्य कि सांस्कृ-
 तिक पुनर्जागरण की प्रक्रिया प्रारंभ हो गई और हम अपने प्राचीन गौरव की
 पुनर्प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील हुए। स्वतंत्रता की मांग हुई। राजा लॉग पूर्वी
 तान-विज्ञान के पुनरुद्धार के प्रयत्नों के संरक्षक बने। भारतीयों का रहन-सहन आ
 अपनाया गया। पंडितों को प्रोत्साहन मिला। पाठशालाओं की दान मिले।
 संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद कराये गये। ~~राष्ट्रीय और धार्मिक मेलों संगठित किये~~
~~गैम-रन-पुन-समाचार-पत्र-निकले-कुछ-लोग-राजनीतिक~~ सांस्कृतिक पुनरुद्धान
 के इस कार्य में उस युग में हमें विलियम जोन्स, चार्ल्स विल्किन्स, कोल्बुक,
 विल्सन, म्यूर, मोनिएर, विलियमस और मैक्समूलर आदि से पर्याप्त सहायता
 मिली। इन्होंने भारतीय बुद्धि वैभव की कौश भारत और योरोप के विद्वित
 विद्वानों के सम्मुख सौल दिया था। इसी प्रकार जेम्स फर्गुसन, बुह्लर, फ्लीट
 हेवेल और जानंद कुमार स्वामी ने भी हमारे जी प्राचीन मन्त्रावलीषों आदि
 की वैष्ठता प्रतिपादित की और इस प्रकार कने-कनेर हमारे गत सांस्कृतिक वैभव
 की विद्यालता का एक चित्र हमारे मानस पटल पर अंकित कर दिया। राष्ट्रीय
 और धार्मिक मेलों संगठित किये गये। राष्ट्रीय समाचार पत्र निकले। कुछ लोग
 राजनीतिक स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिये अग्रसर हुए। जो यह नहीं कर सकते
 थे वे धार्मिक और सांस्कृतिक पुनरुद्धान में सक्रिय भाग लेने लगे। यद्यपि दोनों
 का लक्ष्य और परिणाम एक था, दोनों एक दूसरे के पूरक थे किन्तु आखिर इसे
 अंग्रेज समझ नहीं सका था। आजादी के घोषानों का तो उल्टे बड़ी दूरता, निर्मा-
 नता और लोच्येश्यता के साथ दमन किया मगर सांस्कृतिक क्षेत्र के धीरे से यह
 कुछ न चला। संभवतः बोल भी नहीं सकता क्योंकि एक तो यह कुछ डरता भी
 था, दूसरे बुद्धि और सत्य की इतनी ठोस प्रामिका पर यह आन्धोलनचला था
 कि इसे रोक सकना संभव भी नहीं था। यह सूर्य धीरे धीरे जहर उगा किन्तु
 ऐसा उगा कि हजार बाघल भी इसका आलोक आच्छादित करने में अवम थे।

नाराज होना एक बात है, कुछ कर सकना, एक बात। हम धौती पहनते हैं, सूट नहीं, हम सदृश पहनते हैं, लंकाशायर का कपड़ा नहीं; हम मंदिर में जाते हैं, गिरजे में नहीं। हम संस्कृत पढ़ते हैं, अंगरेजी नहीं। आपके स्कूल में नहीं पढ़ते। आप बहुत करेंगे, नौकरी न देंगे। तो वह हम आपसे मांगेने नहीं; बल्कि मिली भी होगी तो छोड़ देंगे। कम साधेंगे, मोटा पहनेंगे, मेहनत करेंगे! फिर? कोई क्या सकता है। बहुत - बहुत करना तो फांसी देगा, तो हम कहते हैं कि शरीर अस्त है - नाशवान है - उसकी ऐसी कोई बात नहीं; मूल तत्त्व है आत्म सौ, उसका कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता। हम निर्भय हो गये।" टायम्स और मेरेट ने लिखा है, 'बुरु-बुरु में हिन्दुस्तान के पुनरुद्धार का स्वरूप धार्मिक अधिक, राजनीतिक कम था दक्षिण में तिलक और पंजाब में लाला लाजपत राय धार्मिक उत्साह को राजनीतिक क्षेत्रों में प्रवाहित करने के मुख्य माध्यम बने।'¹ बात यह है कि ज्यों-ज्यों हम जगड़े गये त्यों त्यों रूप, रंग भाव और कर्म से भारतीय बनते गये, पाश्चात्य रीब-दाब और प्रभाव कम होता गया, अंगरेज की छूट में कमी होती गई, वह सीझता गया, हमको दबाता गया और हम अनुभव करते थे कि हमारी आत्मोन्नति स्व-तंत्रता - में सबसे बड़ा बाधक अंग्रेजी साम्राज्यवाद है और इसलिये इसे समन्यक्त अब सीधा तिथीप्र समाप्त हो जाना चाहिए। एक रोचक बात यह है कि इस तरह के चिंतने की सांस्कृतिक आन्दोलन ने अपनी धजा-कता अर्थात् स्वरूप और संज्ञा में वे सब विस्तृत रूप से भारतीय थे। राम मोहन राय से लेकर जवाहरलाल नेहरू तक कोई भी स्थायी रूप से कोट-पतलून टाई धारी नहीं हुआ। जो ऐसा नहीं रहा उसका प्रभाव कम पड़ा। यौड़ी सी भी ईसाइयत या अंगरेजियत किसी कि भारत की आत्मा - जनसमूह - उससे चौकन्ना हो गया। थियोसाफिकल सोसाइटी मुक्त। योरोपियत के विरुद्ध थी " परन्तु उसमें योंप यह था कि जहाँ यह विदेशियों की भारतीय संस्कृति की ओर आकृष्ट करती थी वहाँ भारतवासियों को यौडा

1. "राइस पैड फुलफिलमेन्ट आफ ब्रिटिश रूल इन इंडिया", पृ. ४९०।

बहुत अंगरेजी सम्यता की ओर झुका देती थी।^१ इसलिये जनता में इसका प्रचार हो न सका। आर्यसमाज ने धियोस्मिक्कल सौसायटी की अवस्था हिंदुत्व की आलोचना कहीं अधिक की किन्तु चूंकि उसकी रूप-रूपा अंगरेजी न होकर भारतीय थी अतएव उसका प्रभाव हमारे जीवन पर बहुत अधिक पड़ा। भारतीय सम्यता और संस्कृति के उन्नततम समर्थक और उज्ज्वलतम प्रतिनिधि ये तिलक और गांधी और आजादी के बाद हैं विनोबा। समाज में ऐसे सुधारक, अध्यापक, संत और विद्वान भी पैदा हुए जिन्होंने हिंदू धर्म से दोषों का बहिष्कार किया। उन्होंने अनिवार्य को अनावश्यक से पृथक् करके, ठग्य को धरापायी करके तत्त्व को अपना कर हिंदू धर्म को विस्तार दिया। उन्होंने स्नातन सत्य को आत्मा-पुष्टि से स्वीय परंपराण कर दिया। परिणामस्वरूप हिंदुत्व ईसाइयत की गोली को झेलकर उसे अकृतकार्य करके मयमुक्त हो गया है। वह संसार के किसी भी धर्म के साथ धरापरी या ऊंचाई की हैसियत से बात और मुलाकात कर सकता है। पारश्वात्य संस्कृति से ज्यों-ज्यों हमारा परिचय बढ़ता गया त्यों-त्यों यह प्रतीत होने लगा कि वहाँ की शिक्षा, समाज तथा आत्मपद्धति शुद्ध है। इस प्रतीति के साथ साथ अपनी संस्कृति की वैष्टता पर आस्था उत्पन्न हुई। अनुभव हुआ कि प्रकृति को अधिकृत करने की चेष्टा में आधुनिक मानव बड़ मशीनोंका पर्य बढता का दास होता जा रहा है और उसके पुंस में बुद्धि होती जा रही है। वह विनाश की ओर बढ़ता जा रहा है।-- 'यह प्रगति निस्तीम! नर का यह अपूर्व विकास! / परम-तल भूगोल! मुदही में निहित आकाश! / किन्तु, है बढतागवा मस्तिष्क ही निःशेष, / बूट कर पीछे गया है रह हृष्य का वैश; । नर मनाता नित्य नूतन बुद्धि का त्योहार, / प्राण में करते दुस्ती हो देवता चीत्कार।' हमारे संन्यासी वैजयन्ती ने इस चिन्तासिता का तिरस्कार किया और कवि ने लिखा - 'ते पुकी सुख-पाग समुचित से अधिक यह वैश, / देवता हैं मांगते मन के लिये लघु गेह'।^२ यह आत्मोत्थान की वाणी है - 'रसगती धू के

१. पुरुरसेनवर्ग-स्मिक्कल--हिंदवी--भारतीय इन्द्र विद्यावाचस्पतिकृत 'भारतीय

२. चिन्तक-रुत - 'बुद्धि' का 'अभिमान' मानव सर्ग। संस्कृतिका प्रवाह, पृ. १८२।

३. यही,

मनुज का श्रेय/ यह नहीं विज्ञान, विदया, बुद्धि यह आग्नेय/..... किन्तु
 मावों के जगत में जागरण का गान,/ मानवों का श्रेय, आत्मा का किरण
 अभियान।^१ तथ्यों का उद्घाटन कर करके और तत्त्वों का विश्लेषण और
 आलोचनात्मक अध्ययन कर करके धियासौफिकल सौसाइटी और आर्यसमाज ने
 गौरी जातियों^२ का रोग समाप्त कर दिया और गांधी जी ने जीवन के
 हर क्षेत्र से गौरी का छर निकाल फेंका। यव. सी. ई. जकारिया ने लिखा
 है कि भीमती एनी बेसेन्ट का कथन है कि गौरी जातियों के प्रभुत्व में विश्वास
 के ह्रास का कारण आर्यसमाज और धियासौफिकल सौसाइटी के प्रचार के साथ
 साथ होता है।^३ पट्टाभि सीतारामैया ने भी लिखा है कि पूर्वीय संस्कृति में
 जो कुछ महान और गौरवमय है उसके आविष्कार और पुनरुद्धार पर धियासौ-
 फिकल आन्दोलन में सास और दिया जाता था।^४ भारतीय साहित्य का
 उद्धार हुआ तो उसकी श्रेष्ठताएं भी सामने आईं और हमने वेद, उपनिषद्, गीता,
 महाभारत आदि में अभिव्यक्त महान तत्त्वों को पहचाना। उनकी श्रेष्ठता और
 शाश्वतता ने हमारा सिर ऊंचा कर दिया। सहस्राब्दियां बीतीं। साम्राज्यों
 के उत्थान और पतन हुए। जीवन के अनेकानेक पक्षों के संबंध में मनुष्य का दृष्टि-
 कोण बदला। के. एम. मुन्शी ने लिखा है, "किन्तु मनुष्य के शाश्वत अनुभवों को
 अभिव्यंजित करने वाली मानवीय प्रकृति की दृष्टि से महाभारत के महत्व में
 किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ। पुराणों में जो उपास जी को अपने
 युग का मनु कहा है वह बिल्कुल ठीक है। वे भारत के सच्चे निर्माता और नेता
 हैं।" कालिदास के "अभिज्ञान शाकुन्तल" ने पाश्चात्य कलापारसियों को ही
 नहीं बल्कि किया भारतीय साहित्य की श्रेष्ठता का लोहा भी पश्चिम से मनवा
 लिया। हमने सोचा - कहां कालिदास और कहां शेक्सपियर !! सिद्ध हो गया
 कि हर देश, हर जाति, और हर धर्म का मानव गीता की श्रेष्ठता, असाधारणता

१. विनकरदुत "कुशोत्र" का "अभिनव मानव" सर्ग

२. "रेनेसेन्ट इंडिया", पृ. ३९,

३. "कांग्रेस का इतिहास", पृ. ९

४. "भगवद्गीता पैड मादर्न लाइफ", पृ. १५।

अध्वितीयता, एवं विध्वयता स्वीकार करता है।^१ एडविन आर्नेल्ड इसे "विध्वय एवं अलौकिक गीत" कहते हैं और हम्बोल्ट ने इसे "सुन्दरतम और संभवतः विश्व की सभी शांत भाषाओं में अध्विध्यक्त गीतों में से एकमात्र सच्चा पारंपरिक गीत" माना है। के. एम. मुंशी ने लिखा है, "इस नन्हरी-सी पुस्तक के बाधाओं के सामने झुकने के स्थान पर उनकी अवज्ञा कर सकने वाले उस पौरुष के तेज की प्रशंसा और प्रदीक्षित कर रही है जिसमें पराजय और मृत्यु को चुनौती देने का साहस है और उस स्थूल भौतिकतावाद का सामना कर सकने की शक्ति है जिससे आधुनिक पश्चिम ने सारे संसार को विधाकृत कर रखा है... रामायण और महाभारत जैसे अमर महाकाव्यों के प्रभाव ने अनेक रूपों में हमारे सामूहिक अवचेतन मानस के विभिन्न तत्वों का निर्माण किया है.... यह एक गम्भीर मानवीय आलेख है; मानव जीवन की विभिन्न परिस्थितियों के लिये पथ-प्रदर्शिका है; यह जीवन युद्ध की गम्भीरतम स्थिति में पड़े हुए मानव को कमजोरियों और कायरता के परित्याग का उद्बोधन करती है, यह वह विजयी जीवन सिखाती है जिस के द्वारा मनुष्य आत्म नियन्त्रण करके इसी जीवन में दिव्यता का स्वरूप प्राप्त कर सकता है।"^२ सचमुच गीता-महाभारत की समस्या शाश्वत मानव की शाश्वत समस्या है। उसकी समस्या है सम्यक् कर्मसम्पादन में मानव की कर्मशक्ति को पराजित करने वाली शक्तियाँ, उनका कारण और उनका निवारण। स्पष्ट है कि यह समस्या प्रत्येक व्यक्तित्व की समस्या है, और प्रत्येक युग के व्यक्तित्व की समस्या है और इसीलिये गीता प्रत्येक युग के मानव का अमरकाव्य है। अपने को पहचानने में हमको नये युग में गीता से बड़ी प्रेरणा मिली। गांधी, तिलक, बिर्सा मण्डे, पन्नी बेसेन्ट, राधाकृष्णन, मुंशी आदि अनेक विचारकों ने इस युग में गीता का मथन किया है और उससे प्रेरणा पाई है। गीता ने हिंदी प्रवेश के - समस्त भारत के - मस्तिष्क को भारतीय संस्कृति के अनुरूप बनाने में बड़ा कार्य

१. "कल्याण" के गीतातत्त्वार्थ में श्री गुरु सम्मतिर्या और विचार

२. "मनवगीता रैड माडर्न लाइफ", पृ. १०-१८।

किया। गीता के कई संस्करण, कई अनुवाद, कई छयाख्यारं, कई टीकाएं, और कई संस्करण हुए। गीता भवन बने। गीता जयन्ती मनाई जाने लगी। गीता परीक्षा प्रारंभ हुई। आर्य समाज का लक्ष्य ही था हिन्दुत्व का इतना परिष्कार कि उसके ऊपर इतालिदियों के अन्तराय में जो धूलि की पर्तें पड़ गई हैं वे उल्ट कर अलग हो जायें और हिन्दू धर्म तथा हिन्दू जीवन और वैदिक जीवन और वैदिक धर्म ही हों जायें। आर्यसमाज को भारत का आत्मरूप वैदिक युगमें प्रतीत होता था - आधुनिक युग में नहीं। लाला लाजपत राय ने लिखा है, 'जब आर्य समाज प्राचीन भारत के गौरव के गीत गाता है... तब राष्ट्रीयता की स्वस्थ चकितियों को प्रेरणा मिलती है... और जिन राष्ट्रीयतावादी नवयुवकों के कानों में ये शोक-सूत्र गुंजाए जा रहे थे कि भारतीय इतिहास निरन्तर पर्यं अबाध रूप से चलने वाले अपमान पतन, विदेशी शासन, परदेशी-शोषण आदि की कलम छहानियों का ऐसा-जैसा मात्र है वे अब यह अनुभव करने लगे हैं कि उनका प्रसुप्त राष्ट्रीय स्वामिमान जागरूक हो उठा है और उनकी महत्वाकांक्षाओं को सबल प्रोत्साहन मिल रहा है।' इसी बीच रशियाई वैद्य जापान से यूरोपीय वैद्य रुस हारा और इस तथ्य ने गौरों की अपराधीयता का झुम मिटा दिया। हम यह सोचने लगे कि यदि जापान - ऐसा वैद्य रुस को हरा सकता है तो क्या बात है कि भारतवर्ष ऐसा राष्ट्र अपने गौरांगमहाप्रभुओं को अपने वैद्य से निकाल कर स्वतन्त्रता नहीं प्राप्त सकता। हमने अपनी तुलना जापानियों से की, 'जापानी स्वाधीन हैं; हिंदुस्तानी पराधीन। जापानी वैद्यमत्त हैं, हिन्दुस्तानी वैद्यमत्त नहीं। जापान में एकता है, हिंदुस्तान में एकता का अभाव है। वैज्ञानिक शिक्षा के लिये सात समुद्र पार कर जाना जापानी लोग अपने और अपने वैद्य के लिये गौरव समझते हैं, पर समुद्र पार कर जाना हिंदुस्तानियों के लिये पाप है, क्योंकि उनका धर्म जाता रहता है। जापान में जाति-भेद का बहुत ही कम विचार है, हिन्दुस्तान में जातिभेद का सबसे अधिक विचार है जापान में सब लोग परस्पर भावी कविवाह करते हैं,

हिंदुस्तान में अपने वर्ग में भी जागी करने में अनेक संघट पैदा होते हैं। जापान में हुआ दूत नहीं, हिंदुस्तान में इसकी पराकाष्ठा है। ये बातें विचार करने लायक हैं। पर विचार करने वालों ही की कमी है।^१ ध्यान से देखा जाय तो उपर्युक्त उद्धरण में अपनी जिन कमियाँ और दोषों की ओर संकेत किया गया है, उनके निराकरण द्वारा ही हिन्दुत्व अपने आत्म रूप के अधिकाधिक निकट पहुँच सकता है। इसी प्रकार दोनों विश्व महायुद्धों ने भी द्रवित जातियों की बहुत प्रचारित भ्रष्टता के भ्रम को दूर कर दिया और हम हीनता की भावना से मुक्त होकर राष्ट्र के कल्याण और स्वतंत्रता की बातें सोचने लगे। भारतीय राजनीति के रंग में पर जो उग्रतावादी विचारधारा आई उसका भी कारण आत्म-रक्षा की भावना थी। टामसन पैड गैरेट ने बिल्कुल ठीक लिखा है, "उग्र विचारधारा एक विदेशी सम्यता के द्वारा हजम कर लिये जाने की आशंका के प्रतिनिधि प्रतिक्रिया थी। ब्रिटिश साम्राज्य के अन्दर एक भारतीय की हैसियत से जो^७ एवं सन्निवृत्त स्थिति पर उतारे जाकर अपनी प्रतिष्ठा लौ जाने की आशंका के^७ प्रतिनिधि थी। यह इस भय की भी प्रतिनिधि थी कि हिन्दू समाज विघटित हो जायगा और उसकी स्थान-पूर्ति में समर्थ अन्य कोई व्यवस्था भी हमारे सम्मुख न होगी।"^२ आज भारत में जो बात चारों ओर - सभी क्षेत्रों में - बराबर दिखाई पड़ रही है वह है परस्पर विरोधी विचारों और कार्यों के समन्वय स्थापित करने की - समझौते की, सामंजस्य की। स्वतंत्र होने के बाद तो हम किसी का भी तिरस्कार नहीं कर रहे हैं। आज हमारी दृष्टि 'इस' या 'उस' की नहीं, 'इस' और 'उस' की हो गई है। समन्वय का यह रास्ता भारत के लिये नया नहीं है। यह बही पुराना रास्ता है जिसने हिंदुत्व को सदैव सभ्रान्तता एवं वमता दी है और सर्वथा विपरीत परिस्थितियों में से भी सही-सलाहत - बलिष्ठ कुछ और सत्पूर्ण होकर - निकल जाने की शक्ति दी है।

१. 'सरस्वती' १९०५, अंक. ८, पृ. २२४।

२. 'टासन पैड गैरिट और ब्रिटिश रुठ इन इंडिया', पृ. ४८९।

अपनी आध्यात्मिकता के द्वारा आज हम योग-साधनाओं में उतना प्रयत्न नहीं
 करते जितना व्यक्ति की आत्मा को स्थूल भौतिकवाद से मुक्त करने में प्रयत्न-
 शील होते हैं। अस्तु, पुनर्जागरण और प्राचीन गौरवपूर्ण अर्थव्यवस्था को पुनः
 प्राप्त करने की इस महत्वाकांक्षा ने राष्ट्रीय जीवन के लगभग सभी पक्षों को
 प्रभावित किया है। सर्वत्र नयी व्यवस्थाएँ, नये रंग-ढंग एवं नयी उद्भावनाएँ
 बिखर गई हैं। इन सभी क्षेत्रों में ऐसी विभूतियाँ का उदय हुआ है जो
 संसार के किसी भी प्रगतिशील राष्ट्र के लिये आनन्द और गुमान देने वाले आभूषण
 की तरह हैं। सबका लक्ष्य रहा समाज का अधिकाधिक कल्याण और जीवन के
 मूल उद्देश्य की ओर उन्मुख ध्यान। स्वार्थियों की बात छोड़ दें तो अपने अंदर
 से धार्मिक कट्टरता को भी हमने दूर निकाल रखा है। इसने भी हमें अपने
 प्राचीन रूप के निकट पहुँचाया है। अस्तु, अपनी प्राचीन गुरुता को प्राप्त करने
 के लिए ^{हमने अतीत की धार्मिक आकांक्षाओं को} उन सब का प्रारंभ प्राचीन हिंदू धर्म के सिद्धान्तों पर हुआ है और सब
 को भारतीय संस्कृति से ही प्रेरणा प्राप्त हुई है। ईश्वर की अद्वैतता पर विशेष
 महत्व दिया गया। रुढ़िवाद, कुरीतियाँ, कुसंस्कारों एवं कथ-विश्वास्तों को
 दूर हटाकर धर्म के विभूत रूप को सामने लाने का प्रयत्न किया गया। बाह्याङ्ग-
 षरों का परित्याग करके विभूत आचरण, निर्गुण आराधना, आध्यात्मिक उपलब्धि
 एवं नैतिक जीवन का उपदेश दिया गया। सभी धर्मों की मूलभूत एकता प्रदर्शित
 की गई। सहिष्णुता की भावना जागृत करके उदार वृत्ति, अफसाने का प्रयत्न
 किया गया। वर्ग व्यवस्था की जटिलताओं की उपेक्षा की गई। कठोर प्रतिस्पर्धा
 और संकीर्णताओं की उपेक्षा की गई। देश के अतीत वैभव व महानता पर गर्व
 प्रकट किया गया। उसकी तुलना में आधुनिक चीन-हीन दशा को चित्रित करके
 सुधार की भावना की तीव्रता प्रदान की गई। राष्ट्र प्रेम एवं संस्कृति प्रेम को
 उभारा गया। ^{एत} हम प्रयत्नों के द्वारा भारत ने योरोपीय समाज, धर्म और
 राजनीति की विभिन्न परम्पराओं के श्रेष्ठतम स्वरूप को अपनाने का प्रयत्न
 किया है। अब हमारे समाज के कुछ लोग इसी को श्रेष्ठ मानते हैं। कुछ लोग
 भते भी मानते हैं जो प्राचीन भारत के तत्त्वों को ही श्रेष्ठ समझते हैं। कम्युनिज्म

और जनसंघ इन्हीं दो वर्गों के प्रतीक हैं । दोनों के अपने अपने अडिग विश्वास हैं । स्वतंत्र भारत इन्हीं दोनों को मिलाकर जिस नये सिद्धान्त एवं जिस नई जीवन पद्धति को जन्म देगा उसकी कोई स्पष्ट रूपरेखा अभी नहीं प्रस्तुत की जा सकती। हो सकता है कि जवाहर लाल नेहरू द्वारा प्रवर्तित जनतन्त्रात्मक समाजवाद ही उसको सामने ला सके। कुछ भी हो, धर्मवक्त्र प्रवर्तित हो चुका है। कोई आश्चर्य नहीं कि निष्कर्ष आधुनिक विश्व इतिहास का एक कल्याणकारी आश्चर्य हो - धर्मवक्त्र का अमृतकलश हो। तब तक न जाने कितने विष, श्री चन्द्र, कौस्तुभ, ऐरावत आदि निकलेंगे, मगर तब तक धैर्य धारण करना होगा। अभी केवल इतना ही स्पष्ट है कि भारत ने यूरोप के राष्ट्रवाद में सहनशीलता और उदारता का समावेश और कर दिया है। भारतीय आत्मा पुरोहित बना है, भारत प्रणय परिणय भूमि बना है और विज्ञान तथा ज्ञात्मा एक दूसरे को स्निग्ध दृष्टि से देख रहे हैं।

ऊपर हमने उन प्रक्रियाओं का वर्णन किया है जिनके द्वारा हमने अपने पहले वाले गौरवपूर्ण स्वरूप को प्राप्त करने की चेष्टा की। यहाँ हम यह देखेंगे कि किस किस तत्त्व या व्यक्ति ने हमारे पहले के गौरवपूर्ण स्वरूप के किन-किन तत्वों को किन-किन रूपों से हमारे अन्दर फिरसे प्रचारित करने एवं लोक प्रिय बनाने का कार्य किया।

विवेकानन्द

बीसवीं सदी के प्रारम्भ होते होते रामकृष्ण परमहंस के शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दुओं को जागृत करके उन्हें अपने को पहचानने का संकेत दिया। उन्होंने अपने गुरु के व्यावहारिक या क्रियात्मक धर्म को उस विशाल उत्तोलन बंद का स्वरूप दे दिया जिसका सहारा पाकर बलबल में आकंठ धंसा हुआ हिन्दू धर्म और भारत बलबल से ऊपर उठ आया। स्वामी जी ने यह

बताया कि परमहंस के ढंग पर वेदान्त को लेकर यदि भारत के आधुनिक जीवन में उसे उतारा जाय तो उससे भारत की अनेक समस्याएं हल की जा सकती हैं और वह फिर अपने गौरवपूर्ण पद को प्राप्त कर सकता है। स्वामी विवेकानन्द एक ऐसे गुरु के शिष्य थे जिसे पुस्तक ज्ञान कुछ भी नहीं था किन्तु जिसने साधना और अनुभव के बलपर ही यह प्रत्यक्ष कर लिया था कि सभी धर्म एक हैं और भगवान् अद्वैत तत्त्व है। उन्होंने विवेकानन्द को भी इसका प्रत्यक्ष अनुभव करा दिया था कि ईश्वर है। इसलिये वे ज्ञान को अनुभूति का विषय मानते थे। वे सताब्दियों के ज्ञान और अनुभव के बाद बनी हुई कार्य प्रणालियाँ तथा परम्पराओं को केवल इसी लिये छोड़ने को तैयार नहीं थे कि कलर्की नौसिंसिया केवल तर्क के बल पर उन्हें ठग्य सिद्ध कर रहा है। वे मानते थे कि हिन्दुओं का अपना जातीय ^{मूल} आध्यात्मिकता है और आध्यात्मिक ज्ञान का प्रसार ही मुख्य जी जाति की सबसे बड़ी सेवा है। वे धर्म की बातों की जांच तर्क और बुद्धि की फसौटी पर करनेको तैयार थे और उसकी आवश्यकता का अनुभव करते थे। उनका विचार था कि शांत, बमाशील, अनुशिन्न और स्थिर चित्त मुख्य ही सबसे अधिक काम कर सकता है। वे ईश्वर को अपौरुषेय मानते थे और उस विज्ञाता को सर्वश्रेष्ठ मानते थे। उनका विश्वास था कि स्वका अपना कोई न कोई आदर्श अवश्य होना चाहिये जिसकी पूर्ति उसके जीवन का उद्देश्य हो। यह आदर्श मुख्य को नष्ट होने से बचाता और चकित देता रहता है। वे मनुष्य को ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ अधिक्यकित मानते थे। उनका विचार था कि धर्म के प्राणयून्य आन्तरिकता हीन बाह्यचार सर्वथा त्याज्य हैं। उनका कहना था कि अज्ञान और प्रमाद ने हमें पूरी तरह से घेर रखा है। आज हम मरीचिकाको मरीचिका न समझ पाते हैं, न कह सकते हैं। वास्तविक तत्त्व से विमुक्त एवं चंचित होकर हम मटक रहे हैं। वे सांसारिक सुख और आनन्द को उस अनंत आनन्द का कम मात्र मानते हैं। ऐसा मानने से हम उस लोभ लालच और "वस्तु" के छिन जाने केमय सेमुक्ति या जायेंगे जो हमें अंगरेजों के सामने बकरी बनाये

रक्ता था। मात्र लौकिक सुख और आनन्द भारतीय संस्कृति में महत्वपूर्ण नहीं माना गया है। स्वामी जी आत्मा में स्त्री-पुरुष का भेद नहीं मानते थे। इस प्रकार नारी-उद्धार के कार्य को सहायता मिली। उसके ऊपर पढ़ने वाली एकमात्र काम इच्छित मत्स्य हुई। भारतीय संस्कृति में सीता, सावित्री, गार्गी, भैरवी, भारती, मीरा, अन्नाल आदि महादेवियाँ हैं। विश्व की नारी विभूतियाँ में आत्म-विस्मृत हिंदू जाति की भी दोन कम महत्वपूर्ण नहीं है। गत गौरव की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील हिंदू जाति ने संयुक्त राष्ट्र जैसी विश्व संस्था की ऐसी नारी दी जिसे वह प्रधान बनाकर गौरवान्वित हुई। कस्तूर बा विजय लक्ष्मी, कैप्टेन लक्ष्मी, सरोजिनी, कमला, रामेश्वरी, इन्दिरा, दीदी (झुझीला), नलिनी आदि प्रमाण हैं कि नारी संबंधी दृष्टिकोण के क्षेत्र में हम चिर प्राचीन एवं चिरन्तन हो गये हैं। जास्तिकता और आध्यात्मिकता भारतीय संस्कृति की आधार शिला है और इसी के अनुरूप स्वामी जी कहते हैं कि ईश्वर में अनन्त प्रेम रखना ज्ञान प्राप्ति का उपाय है। संसार के सभी प्राणियों को ईश्वर रूप मानना चाहिये और उन से प्रेम करना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से बन्धन टूटते हैं और मुक्ति मिलती है। भारतीय संस्कृति की ही धारणा के अनुसार स्वामी जी धर्म को प्रत्यक्ष अनुभव का विषय मानते हैं वे और इस प्रकार कुछ शिष्य परंपरा को बनाये रखना चाहते थे। वे धर्माध्यता के आचरण को मूर्खता और धर्म के स्नातन तत्वों के अनुसार जीवन बिताना बुद्धिमानी समझते थे। उनके अनुसार निर्मय एवं सज्जत वही हो सकता है जो धर्म-प्राप्त हो क्योंकि ^{प्रिय} आत्मज्ञान संपन्न एवं आत्मानुभूति से तेजोमय हो सकता है। अहिंस और शांत है तथा ताकत या भारीपन और शांत। दूसरे का उदाहरण है घेर और पहले का संन्यासी। अहिंसा से निर्मयता आती है और हिंसा से कायरता। हिंसक घेर में चाहे जितना बल हो, कृत्युधि हो, किन्तु वह मनुष्य से डरता-भागता है। यही ^द प्रिया सांप की है। अहिंसक पक्षी या हिरन निर्मय विचरता है। स्वामी

जी मय और दुर्बलता के छत्रु थे। वे व्यक्ति को प्राचीन हिन्दू दार्शनिक की तरह साहसी देखना चाहते थे और कहते थे, 'जगत में तुम्हीं तो एकमात्र सत्ता हो। तुम्हें किस का मय है ? लड़े हो जाओ, मुक्त हो जाओ'..... मृत्यु को दुर्बल और भयभीत बनाने वाला संसार ने जो कुछ भी है वही पाप है और उसी से बचना चाहिए..... एक सिंह सिंह की भांति पिंजड़ा तोड़ दो, अपनी शृंखलाएं तोड़ कर स्वा के लिये मुक्त हो जाओ। तुम्हें किसका मय है, तुम्हें कौन रोक सकता है.... तुम बुद्ध स्वरूप हो, तुम नित्यानन्द हो'¹। यह संन्यासी की वाणी है, यह आत्मा की वाणी है। यह भारत की सांस्कृतिक शक्ति है, यूरोप की शक्ति संबंधी धारणा, शक्ति संबंधी भौतिक धारणा, इससे भिन्न होगी। प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' में पाण्ड्यायन ने सिंदूर के दूत को जी उत्तर दिया था वह स्वामी विवेकानन्द की वाणी है। वह पश्चात्य भौतिक शक्ति एवं तज्जन्य अहंकार की सांस्कृतिक भारत का सनातन उत्तर है। वह जैसे बर्धल को गांधी का उत्तर है। दादा धर्माधिकारी का कथन है कि विवेकानन्द कहते थे कि तुम तो साधन की चिन्ता करो, साध्य अपनी चिन्ता आप कर लेना आगे चलकर यही गांधी की वाणी हुई। स्वामी जी पश्चिम की समृद्धि और वहाँ के लोगों की वास्तविकता जानते थे। वे अन्य जातियों के दुर्भाग्य को ही ईसाइयों की समृद्धि का कारण मानते थे। वे भारतीय नारियों को पश्चिम की नारियों की अपेक्षा कहीं अधिक पवित्र मानते थे। अतएव स्वामी जी भारत में सत्त्वप्रधान शक्ति का स्फुरण देखना चाहते थे। उनका कथन था, 'अब हम लोगों को कौमल भावों के ग्रहण करने का समय नहीं है। इस तरह की कौमलता की सिद्धि करते करते हम लोग इस समय मुर्दा सरीसे हो रहे हैं, हम लोग रूढ़ की तरह कौमल हो गये हैं। हमारे देश के लिये इस समय आवश्यकता है लोहे की तरह मांसपेची और स्नायुर्वा से युक्त बनने की, इतनी बृहद् शक्ति संपन्न होने की कि कोई उसका प्रतिरोध करने में समर्थ न हो....'²। इसके लिये वे

1. 'ज्ञानयोग', पृ. ३२५

२. 'सर्वोदय दर्शन', पृ. २०५-२०६

३. 'वैश्वान्त धर्म', पृ. २०५-२०६

स्वार्थ के अभाव, बलिदान, त्याग, अनासक्ति, निर्मयता, एवं कर्तव्यपरायणता, एवं इन्द्रियों की दासता से मुक्ति आदि अनिवार्य समझते थे। थिलासुति हमें जर्जर कर देती है, कपटी और उलिया बना देती है और हमारा व्यक्ति-ब्रौत सुसा देती है। हमारी निर्बलता का कारण पारस्परिक ईर्ष्या - द्वेष एवं हिंसा दृष्टि भी है। यह आत्म ह्रास है। इसकी जगह हमें आत्मापालन एवं सेवा करने की आवश्यकता डालनी होगी। उनका स्ववैय प्रेम भी ईश्वर प्रेम था और उनके अनुसार, यदि स्ववैय अथवा स्वधर्म के लिये युद्ध करते-करते मृत्यु हो जाय तो योगी जन जिस पद को ध्यान द्वारा पाते हैं वही पद उस मृत्यु को भी मिलता है।¹ स्वामी जी वैयमक्ति को सभी संभव समझते थे जब इतना विराह हृदय (योगियों वाला हृदय) मृत्युको मिल जाय कि वह वैय के सभी प्राणियों के सुख-दुख को अपना समझ सके और सारे वैय के लिये जिसमें सहानुभूति एवं प्रेम हो। स्वामी जी अद्वैत को कार्यरूप में लाने की आवश्यकता समझते थे जिससे वैय सेवा के कार्यों का स्वरूप भारतीय संस्कृति के अनुरूप हो जाय। जब ईश्वर सर्व है और अद्वैत होने के नाते सर्वत्र वही है तब निष्कर्ष यही निकलता है कि समाज के प्राणियों की सेवा ईश्वर की सेवा है। इस प्रकार स्वामी जी ने भारतीय सिद्धान्तों को लेकर भारतीय ढंग से उन्हें कार्यान्वित करके हमारे प्रयत्नों के स्वरूप को विपुल भारतीय रूप देना चाहा जिससे हम आधुनिक युग में रहकर अपने आत्मरूप की प्राप्ति की ओर भी अग्रसर होते रहे क्योंकि अन्यथा किसी भी दूसरे ढंग से भारत का कल्याण नहीं हो सकता।

गांधी

विवेकानन्द जी कुछ चाहते थे वह सन् १९०२ ई. तक कहकर संसार संसार से चले गये। पांचजन्य गूँज उठा। गांधी जी उन्हीं बातों को अपने जीवन में उतार कर उससे कुछ सिद्धान्त बनाकर उनको भारतीय जीवन में फैला देने के

लिये सामाजिक और राजनीतिक जीवन में कुद पड़े। आत्मशक्ति उनमें इतनी
 थी कि उनकी बातों को प्रमुख भारत अस्वीकार न कर सका। संकर वस्तुत्रेय जा-
 डेकर ने लिखा है कि आधुनिक भारत के येमान्त में से एक एक जाणितकारी
 आध्यात्मिक राजनीतिक उपपत्ति जन्मी कि अपनी अन्तरात्मा के संदेश का
 पालन करने के लिये प्रस्थापित राज्यसत्ता के अवाधी बन्धनों को तोड़ना हमारा
 आध्यात्मिक कर्तव्य है।¹ इसी में से सत्याग्रह का निःसंशय जांति आस्य सडा
 हुआ। गांधी जी भारतीय लोकजाहीका जन्म आम जनता का आत्मबल संगठित
 करने से ही संभव मबन्ती थे। सब पुछिए तो गांधी जी की जीवनी श्रीमद्वृषभवदु
 गीता की एक सजीव व्याख्या थी। उनका मार्ग गीता का मार्ग था - सनातन
 सिद्धांतों का सामयिक भाष्य। गांधी ने अतीत से संपर्क स्थापित किया था
 और इसलिये उनके द्वारा प्रवर्तित राजनीतिक आन्दोलन को अतीत के अध्यात्म
 द्वारा सांस्कृतिक स्वरूप प्राप्त हो गया। वह शुद्ध राजनीतिक आन्दोलन न हो
 कर एक समग्र सांस्कृतिक आन्दोलन हो गया। सद्गुरु शरण अवस्थी ने लिखा है
 'एक ही मानव में सपुष्टियाँ और सद्भावनाओं का इतना बडा समूह सहजा वि-
 चों से पैलने में नहीं आया। महात्मा गांधी में इस उच्चता ने एक बडा भारी
 विश्वास उत्पन्न कर दिया था। शिव जी के त्रिज मस्तक पर ऊपर से गिरने क
 वाली पवित्र धारा की भांति महात्मा गांधी इस मरुता की गंगा को हमेशा
 ऊपर से जाती हुई बया और कृपा के रूप में ही ग्रहण करते थे।'² एक भारतीय
 स्वरूप है कि हमारा अपना कुछ नहीं है, जो कुछ है मन्वान की बया है। गांधी
 की संस्कृति भारत की अपनी संस्कृति है - माँ-बहनों के जांचल में पली हुई
 संस्कृति।' महादेव प्रसाद ने लिखा है कि जीवन की समस्याओं के विषय में
 गांधी का दृष्टिकोण निश्चित रूप से हिंदुत्व पर आधारित था।³ आचार-
 सम्बन्धी नैतिकता के लिये उन्होंने गीता, सामाजिक नियन्त्रणों के लिये

1. 'आधुनिक भारत', पृ. २९४-२९५।

२. 'माधुरी' पत्रिका, जुलाई, १९४०, पृ. ४८६।

३. 'सौचल फिलासफी आफ महात्मा गांधी',

मीमांसा, अमेद की भावना के लिये संकर, वास्तविकता के लिये वैजय, एवं तात्त्विक निष्कर्षों के लिये वेद उपनिषद्, पुराण आदि का सहारा लिया था। त्यागवाद, पुनर्जन्म, आध्यात्मिकता, सत्य, अहिंसा, आदि उनके मूलभूत सिद्धांत थे। अहिंसा, सत्य, अस्तौय, ब्रह्मचर्य, अस्त्रह, शरीर धम, अत्याद, निर्मयता, सभी धर्मों की मूलभूत एकता, स्वदेशी, स्वर्शभावना उनकी दृष्टि से अवश्य करणीय थे। विकेन्द्रिकरण, जनतंत्रवाद, वस्त्रा, बुनियादी शिक्षा, प्राकृतिक चिकित्सा, उपवास, सादा जीवन, हृदय परिवर्तन, साधन-शुद्धता, सत्याग्रह, ट्रस्टी-शिप आदि उनके कार्यक्रम थे। उन्होंने समझाया कि घृणा से घृणा, हिंसा से हिंसा और प्रेम से प्रेम निकलता है। एकता, सहिष्णुता और शांति गांधी मार्ग है। सर्वोच्च उनकी कामना है - लक्ष्य १। वे नैतिक मूल्यों को प्रतिष्ठित देखना चाहते थे। वे सौध समझकर कार्य करने को कहते थे। वे आत्म-विश्वास, स्वाभिमान, उद्यु के प्रति भी अहिंसकभाव रखने की, उत्तेजित न होने की, बदला न लेने की, निःस्वार्थ सेवा की, भीतर और बाहर की सभी गंदगिर्यों से बचने की, प्रार्थना पर अखंड विश्वास करने की और आत्मा के उत्थान की बातें करते थे। वे प्रार्थना को जीवन से अधिक आवश्यक मानते थे। वे चूंकि हर हृदय में भगवान की देखते थे और भगवान पुरा नहीं होता इसलिए वे किसी को भी मूलतः पुरा नहीं समझते थे और इसलिये सबसे प्रेम करते थे और "सर्वभूतहिते रता" थे। वे मानते थे कि संसार का इतिहास भौतिकता के विरुद्ध आत्मिकता के संघर्षों और अन्तर्ता-मत्वा उसी की विजयों का इतिहास है। भारतीय संस्कृति की परम्पराओं के ही अनुसार गांधी संस्कृति ग्राम संस्कृति, गृह-उद्योग प्रधान संस्कृति तथा संयम-सरलता-सात्विकता-प्रेम-सहयोग प्रधान संस्कृति है। गांधी जी ने मानवधर्म की धारणा की थी। उनका स्वराज्य आत्मराज्य था। इसका लक्ष्य केवल राजनीतिक पराधीनता से मुक्ति ही नहीं था। वे ऐसा सैन्य चाहते

~~गांधीजी की व्यक्तिगत~~

ये जो मानव के स्व - आत्मा - की उन्नति के अनुकूल हो और जिससे मानव को आत्मोपलब्धि हो सके। वह भौतिकता में डूबकर निर्जीव - जड़ संसार में न हो जाय। भौतिक उन्नति - भोगविलास के उपकरणों की प्रचुरता - और उसी के भोग में रात-दिन डूबे रहकर हृदय के देवता - आत्मा - को मार डालना गांधी जी का स्वराज्य या राम राज्य नहीं था। भौतिकता मानव के लिये 'पर' है, और आत्मा उसका 'स्व' है। पराधीनता अंगरेजों की या हमारे विदेशियों की ही आधीनता नहीं, भौतिकता की भी आधीनता है। मात्र भौतिकता धैतानियत है और इसीलिये गांधी ने उस समय के भारत को समझाया था कि अंगरेजों की संस्कृति धैतानों की संस्कृति है। अंगरेजों की संस्कृति या सभ्यता स्वार्थमूलक थी, भारत की परमार्थमूलक रही। धैतानों की संस्कृति के ये इसीलिये पिछड़े थे क्योंकि उससे स्वार्थमूलक और संकुचित दृष्टिकोण को पोषण मिलता है। उससे सत्य और अहिंसा की वृत्तियाँ मूर्छित होती हैं। ये वृत्तियाँ जिससे पनपती हैं गांधी ने उसी मार्ग को अपनाने की, अभ्यास करने की राय दी थी। वे कहते थे कि आवश्यकताओं को न चाओ। किसी पर अपना स्वाभिमन्य न समझो। जो कुछ मिला है, भगवान का है। उसका भोग त्याग की भावना से करना चाहिये। त्याग समाज के लिये करो। उससे आत्मा का विकास होता है। आवश्यकता से अधिक भोग पाप है। आवश्यकता से अधिक संग्रह चोरी है। धरीर भ्रम किये बिना लाना पाप है। आवश्यकता से अधिक जो कुछ है उसे समाज की परीक्षर समझकर रलो। अपने को उसका ट्रस्टी समझो। सबके हित के लिये कार्य करना ही यत्न है। परिवार को भी इसी रूप में समझकर उसका पोषण करना चाहिये। परिवार त्याग की प्राथमिक पाठशाला है। जेनेन्द्र ने लिखा है कि समाज मानो वह क्षेत्र है जहाँ परस्परता के सहारे हमारा आत्मीय भाव विस्तार पाता जा सकता है। गांधी को भी इसी प्रकार मानव की आत्मा का विकास हुआ था। इसीलिये गांधी ने भारत के सामने

सामूहिक त्याग और तपस्या का आदर्श उपस्थित किया था। धर्म के अतिरिक्त
 और कोई भी भूमिका ऐसी नहीं है, नैतिकता के अतिरिक्त और कोई भी
 धरातल ऐसा नहीं है, आत्मा के अतिरिक्त और कोई भी तत्त्व ऐसा नहीं है
 जिसके सहारे यह सम्भव हो सके। इसीलिये गांधी हमको लेकर उस भूमि में गये
 जो भारत की चिरपरिचित है। वह भूमि है आध्यात्म की, वेदान्त की। संपूर्ण
 विश्व में एक ब्रह्म की ही व्याप्ति है और जीव उसी का एक अंग है केवल इसी
 नाते व्यक्ति विश्व से एवं व्यष्टि समष्टि से तादात्म्य स्थापित कर सकता है।
 इसी रूप में 'सब भूमि गोपाल की' एवं 'सम्पत्ति सब रघुपति के आली' वाली
 बातें ठीक लगेंगी। गांधी हमसे इसी पर विश्वास करने की बात करते थे क्योंकि
 इन तथ्यों का विश्वासी ही कह सकता है 'राम के चिरई, राम के सेत, साजी
 चिरई भर भर पेट'। यही साधना गांधी को दृष्ट थी और तभी गांधी ने कहा,
 'वह (ईश्वर) हृदय रूपी बन में रहता है और उसकी बंसी है अन्तरनाद। हमें
 निर्जन बन में जाने की आवश्यकता नहीं। अपने अन्तर में हमें ईश्वर का मधुर
 नाद सुनना है और जब हर्ममें से हरेक वह मधुर नाद सुनने लगेगा तब हिंदुस्तान
 का मला होगा।'¹ यह अन्तरनाद, अन्तर्प्रेरणा मुख्य चीज है। जो इससे संपन्न
 होता है वह दूसरे जीवों को भी अपने जीवन में शामिल कर लेता है। तभी वह
 सर्वोदय का मर्म समझता है। इस भूमिका में हार्विन का 'सर्वाइवल आफ दि
 फिटटेस्ट' वाली नीति निरर्थक लगने लगती है। अद्वैत और समन्वय आत्म-तत्त्व
 सम्पन्न व्यक्ति को सारी सुष्टि से एक कर लेते हैं। ऐसे व्यक्ति को किसी से
 द्वेष नहीं हो सकता। ऐसा व्यक्ति बुरे को नहीं, बुराई को दूर करना चाहेगा।
 वह दूसरे के दोष को अपना दोष समझ कर दूसरे को कण्ड न देकर अपने को काट
 देगा। वह दूसरे का अहित न चाहकर, उसका सुधार, उसकी मलाई चाहेगा। वह
 अविनयी नहीं हो सकता। उसे सत्य का आग्रह होगा। वह दूसरे को भी सत्य-
 निष्ठ देखना चाहेगा। ऐसी आध्यात्मिक संपत्ति से संपन्न व्यक्ति किसी

1. 'प्रार्थना प्रवचन', भाग 1, पृ. 131।

व्यक्ति या वर्ग से प्रेम नहीं कर सकता। वर्ग संघर्ष नहीं हो सकेगा। वर्ग-प्रेम का निराकरण हो जायगा। इस दृष्टि को देखकर गांधी जी विषयता को घृत में, वरिधता को अंशुल में, और भुल को उपवास में बदल देना चाहते थे। गांधी सभी प्राणियों में - चेतना की उपस्थिति का विश्वास करा कर हृदय परिवर्तन पर विश्वास कराना चाहते थे। इस प्रकार गांधी ने विभक्त भारत चित्त को एकत्व प्रदान करने का प्रयत्न किया था। मछीनों ने व्यक्ति का महत्व समाप्त कर दिया। गांधी-सत्यता के झुनझार और छोटे पैमाने के उत्पादन द्वारा गांधी ने व्यक्ति के व्यक्तित्व की रक्षा करने का प्रयत्न किया। सत्य और अहिंसा पर ही आधारित नई तालीम के द्वारा भी गांधी जी ने नैतिक मूल्यों का उधार करना चाहा था क्योंकि नैतिक तत्त्व भगवान की ओर और औचित्य तत्त्व अहंकार की ओर उन्मुख होते हैं। गांधी जी विचार को ऊंचा करने की बात करते थे। वे सेवा को श्रेष्ठ मानते थे, सत्ता को नहीं। वहाँ कृषि का महत्व था, बी का नहीं। वे विवेक को प्रधानता देते थे। प्रेम को महत्वपूर्ण मानते थे। वे विवेक को भगवान का प्रतिनिधि समझते थे। वास्तविकता तो यह है कि गांधी राजनीति में ही नहीं। भारत की तात्कालिक परिस्थितियाँ में राजनीति उनके कार्यक्षेत्र में पड़ गई अन्यथा वे राजनीति से परे थे। वे सांस्कृतिक गंगा के मगीरथ थे। भारत की अपनी जीवन पद्धति के फिर से अपनाये जाने का संदेश लाने वाले देव दूत थे। यह उनकी आत्मा थी। राजनीति गौण थी - उनके लिये। इसी लिये में भारत की स्वतंत्रता एकमात्र राजनीतियों की ही अर्जित सम्पत्ति न मानकर इसका सारा श्रेय उन्हें नहीं देता। उसका श्रेय सांस्कृतिक आन्दोलन के उन देवदूतों को है जिनमें ध्यानन्द, विवेकानन्द, रामतीर्थ एवं अरविन्द आदि भी आते हैं। गांधी का वास्तविक स्थान इन महान आत्माओं के बीच में है। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि भारत के प्राचीन कवियों-मुनियों की तरह गांधी कहते थे कम, करते थे अधिक। चितना करते थे उसका घताई मात्र ही संभवतः कहते थे। भारतीय सामाजिक दृष्टि यह है कि वह "कथनी" की अपेक्षा "करनी" पर - बाजी

की अपेक्षा चरित्र पर - अधिक विश्वास करती है। वह कर्म की वाणी समझती है। बच्चन ने गांधी को एक उदाहरण दिया है। उन्होंने लिखा है कि समय पर स्नान कर जे की दृष्टि से नौकर के अमाव में स्वयं सेवकों के सामने से, जिनमें बच्चन भी थे, सौलते हुए पानी^{की} बाट्टी गांधी जी अपने हाथ से उठाकर नहाने के कमरे की ओर चले गये यह कहते हुए - "जो काम जिस बख्त करना है, करना, न करना बख्त के साथ दगाबाजी है।" गांधी जी की पूरे की पूरी हथेली (अंगूठा, तर्जनी) जल गई थी। बच्चन लिखते हैं कि समय की पाबन्दी तो बहुतों ने सिसलाई पर अपना हाथ जलाकर केवल बापू ने सिसलाया और ऐसा सिसलाया कि जैसे अपना संदेश हृदय पर दाग दिया। गांधी ने जीवन को आध्यात्मिक दृष्टि से देखा था। उन्होंने सबसे अर्थों में क्रान्ति की। उन्होंने कुसूत्यों के बदलने का प्रयत्न किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि गांधी जी ने प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा का आध्यात्मिकता के सहारे उत्थान करके भारतीय समाज की गति अध्यात्ममुखी करके पूरे भारत को - और इसीलिये हिंदी प्रदेश को भी - प्राचीन आत्मस्वरूप की लोज की ओर प्रवृत्त किया। थोड़े ही समय में आत्मशक्ति की ऐसी सरिता प्रवाहित कर दी कि बहुतों का जीवन उसी में पूर्णतः निमग्न हो गया।

तिलक

तिलक पूर्ण रूपेण भारतीय संस्कृति में रंगे थे। भारतीय संस्कृति का प्रेम कभी-कभी उन्हें समय से पीछे घसीट ले जाता था। उनका 'गणेशोत्सव' और शिवाजी संबंधी उत्सव को फिर से चलाना उनका भारतीय प्रेम ही प्रकट करता है। अपनी परिभाषा द्वारा उन्होंने हिंदू धर्म को बहुत व्यापक रूप दे दिया था। उन्होंने कहा कि जिसमें अनेक प्रकार के साधन होते हैं वह हिंदूधर्म है। उनके 'गीतारहस्य' ने अनेक भारतीयों को भारतीय संस्कृति के अनुकूल प्रवृत्ति मार्ग की

और प्रेरित किया। ये लोगों को प्रवृत्ति प्रधान मक्ति मार्ग की ओर ले गये। उन्होंने भारत की सांस्कृतिक वृत्ति का रूप स्पष्ट किया जिसके अनुसार चलकर लोगोंने राजनीति में भी भाग लिया और अपने प्राचीन गौरव को प्राप्त करने का प्रयत्न भी किया।

आर्य समाज

आर्य समाज के विषय में थोड़ा सा पहले लिख आये हैं। यहाँ इतना और समझ लेना चाहिये कि आर्य समाज के प्रवक्ताओं और आंदोलनों ने हिंदू समाज में एक ऐसा मन्थन पैदा कर दिया कि वह अपने सभी दोषों का निराकरण करके अपने असली रूप को पहचानने में लग गया। स्वामी दयानन्द आर्य संस्कृति अर्थात् भारतीय संस्कृति के पूर्ण समर्थक थे। एक बार तो ऐसा लगने लगा था कि देश सचमुच वैदिक युग में पहुँच जायगा। आर्य समाजी अपने अपने देश, अपने धर्म और अपनी संस्कृति के प्रगतिशील मन्त्र थे। सर विलेम्स टाइन चिरील लिखते हैं कि स्वामी दयानन्द की सारी शिक्षाएँ और उनके समस्त उपदेश उन विदेशी प्रभावों के सक्रिय प्रतिकार के लिये अधिक हैं जिन्होंने उनके विचार से हिन्दुत्व के अराष्ट्रीयकरण का स्तरा था।¹ बात यह भी कि दयानन्द ने देखा कि अभी राजनीतिक आंदोलन उठने का उपयुक्त समय नहीं आया क्योंकि भारतीय असंगति और निर्बल हैं। इसलिये उन्होंने हमारी सामाजिक धार्मिक एवं आध्यात्मिक कमियाँ को दूर करने में अपनी सारी शक्ति लगा दी। उनकी समझ में इसका सबसे सुन्दर उपाय यह था कि हिन्दू अपनी जाति में आई हुई बुराइयों को दूर करके वैदिक संस्कृति को अपना लें। आर्य समाज ने इस दृष्टि से शिक्षा की और विशेष ध्यान दिया। गुरुकुल शिक्षापद्धति का पुनरुद्धार इस दृष्टि से बड़ा ही महत्वपूर्ण था। एच. सी. ई. जकारिया ने गुरुकुल कांगड़ी को 'संसार की सर्वाधिक महत्वपूर्ण शिक्षा संस्थाओं में एक' माना है। इस

1. 'अनोस्ट इन इंडिया', पृ. ५।

२. 'रेनेसेन्स इंडिया', पृ. ४१।

दृष्टि से ~~हिन्दी की जो नीमदेव-कान-विषय-मुक्त-वि~~ संस्कृत के भारतीय संस्कृति संबंधी साहित्य का हिन्दी में अनुवाद उपस्थित कराने के लिये आर्य समाज ने एक नियम भी बना दिया। लक्ष्मी नारायण गुप्त ने लिखा है, "इस समय आर्यसमाज के २८ नियम बनाये गये थे जिनमें पाँचवा नियम यह था: "प्रधान समाज में वेदोक्तानुसूल संस्कृत और आर्यभाषा में नाना प्रकार के स्तुतियों की पुस्तकें होंगी....."।^१ आर्यसमाज ने वेदोक्त सभी संस्कारों का भी प्रचलन प्रारंभ करा या था और इसके लिये स्वामी जी ने "संस्कारविधि" नामक पुस्तक भी लिखी। आर्यसमाज ने अपने सारे कार्य हिन्दी में करके जहाँ एक ओर हिन्दी की सेवा की वहाँ दूसरी ओर यह भी सिद्ध कर दिया कि अंग्रेजी देश के जीवन के लिये उतनी अनिवार्य नहीं है जितनी लोग कहते हैं। स्वामी दयानन्द इसके प्रत्यक्ष उदाहरण थे। निराला ने लिखा है, "मतलब यह कि जो लोग कहते हैं कि वैदिक अथवा प्राचीन शिक्षा द्वारा मनुष्य^{उत्तम} उत्तमता नहीं हो सकता, जितना अंग्रेजी शिक्षा द्वारा होता है, महर्षि दयानन्द सरस्वती इसके प्रत्यक्ष संडन हैं। महर्षि दयानन्द से भी बढ़कर मनुष्य होता है, इसका प्रमाण प्राप्त नहीं हो सकता।"^२ यह बहुत बड़ी बात थी। इस प्रकार आर्यसमाज ने देश को ध्यान पाश्चात्य सभ्यता - संस्कृति की ओर से हटाकर अपने प्राचीन काल की सभ्यता-संस्कृति से कुछ ऐसा सौजने की ओर लगाया जो उसके प्राचीन रूप गौरव को प्राप्त करा दे।

अरविन्द

योगीश्वर अरविन्द ने भारतीय संस्कृतिके योग का महत्त्व हमारे सामने उपस्थित किया। आत्मा की विभुता का वे भी प्रतिपादन करते हैं और बतलाते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति साधना करके उस स्तर तक पहुँच सकता है

१. "हिन्दी भाषा और साहित्य की आर्यसमाज की देन", पृ. २७।

२. "प्रबन्ध प्रतिमा", पृ. ५४।

जिस स्तर तक मशीन युग या भौतिकतावादी युग व्यक्ति की चेतना कोकभी भी नहीं पहुंचा सकता। उनका दर्शन भी आध्यात्मिकता प्रधान है। उनके अति-मानस का स्तर भारतीय संस्कृति के योगियों के मानस के स्तर की ही याद दिलाता है। छयाख्या चाहे जितनी नवीन हो, उनके रास्ते से चलकर हम वही सौज निकालेंगे जिसकी हमें सौज है अर्थात् अपना प्राचीन उन्नत रूप- गौरव।

टैगोर

आधुनिक भारत की आत्मरूप की सौज में टैगोर का भी योग कम नहीं था। वे मानवता के देवदूत थे। उनका मानवता प्रेम, उनकी आध्यात्मिकता का ही परिणाम था। डी.एस. खर्मा ने लिखा है कि सम्भवतः किसी भी आधुनिक भारतीय ने उपनिषदों का तत्त्व अपने अन्दर जितना अधिक आत्मसात् नहीं किया जितना टैगोर ने।^१ राधाकृष्णन ने टैगोर पर जो पुस्तक लिखी है उसमें उन्होंने कहा है कि टैगोर का जीवन - दर्शन भारतीय तत्त्वों पर ही आधारित है और उनकी रचनाएं प्राचीन भारतीय आत्मा की प्रतिबिम्बित करने वाले दर्पण के समान हैं। उनको हम उपनिषदों की आधुनिक टीका कह सकते हैं। उनका रहस्यवाद है संसार और व्यक्ति की वैयक्तिक अनुभूतियों के पीछे ईश्वर की उपस्थिति। ईश्वर संसार में सौन्दर्य की सृष्टि और प्रेम की मांग करता है। वह प्रेम पाना और प्रेम करना चाहता है। वैष्णव धर्म का भी यही सिद्धान्त है। टैगोर को अवेद और समन्वय की अनुभूति होगी थी। टैगोर ने यह आशा व्यक्त की है कि मानवता का सन्चार हिले भी एवं उझारक जा रहा है और वह निर्धनता से अपमानित झोपड़ी तुल्य भारत में - हमारे बीच ही - पैदा होगा।^२ इसी की सौज में हिन्दी प्रवेश और समस्त भारत लगे है।

१. 'हिन्दूज्म यू पि एजें', पृ. १७२।

२. 'दुर्बलत अनिवर्तन भन' पृ. ३५८।

राधाकृष्णन

भारतीय संस्कृति की उदारता, प्रगतिशीलता और अध्यात्म या आदर्शवाद ही राधाकृष्णन की भी आत्मा है। उनके रूप में आधुनिक भारत ने भारतीय दर्शन का गहरा मंथन किया है और अपने प्राचीन रूप की डटकर सौज की है जिसके निष्कर्षों के परिणाम स्वरूप हिंदुत्व का युक्ति^{युक्त}रूप - वही जो हमारी सौज का विषय है - हमारे सामने मथे हुए वही से निकलने वाले नवनीत के रूप में उभर रहा है। विष्णुमूर्ति तिवारी ने राधाकृष्णन के विषय में स्टालिन के-विषय-में का यह वाक्य उद्धृत किया है, 'डा. राधाकृष्णन मानवता के लिये कष्ट सहते हैं तथा सच्चे हृदय से बोलते हैं।' ध्यान रहे कि प्राचीन भारत के ऋषियों-मुनियों की वृत्ति का स्वरूप भी यही था।

आत्मस्वरूप की सौज का सुन्दर

जब हम आत्मविस्मृत यैतव अवस्था यह थी, 'लोक में धारण यही थी कि टोपी देकर साहब के सामने उपस्थित होने वाले को अर्धवन्द्य मिलना असम्भव वा असाधारण बात न थी.....।' परन्तु आत्मस्वरूप की सौजने का आन्दोलन हमको इस स्थिति पर उठा ले गया कि मामूली चटपल और घुटनों तक की धोती ओढ़कर आत्म-विश्वासी गांधी साहबों के पूज्य सम्राट जार्ज पंचम से भी मिलने गया और जन से मिल आया। इसका एक मात्र कारण यही है कि हम अपनी सांस्कृतिक सम्पत्ति को भूले नहीं। विनकर ने विलकुल ठीक 'कहा है, 'केवल भारत ही एक जैसा देश है जिसका अतीत कभी मरा नहीं। वह बराबर वर्तमान के रूप पर चढ़कर मविष्य की ^आचलता रहा है।' इस युग में भी यही हुआ। परिणाम यह हुआ कि यूरोपीय साम्राज्यवाद की गुलाबी

१. 'आजकल' मासिक, अप्रैल, १९५४

२. 'हिमालय' मासिक, अगस्त, १९४५, में राधाकृष्णन का कथन।

३. 'संस्कृति के चार अध्याय' पृ. ८१।

का युग दुरे सपनों की तरह हट गया और सुदूर अतीत की सुनहरी यादें फिर हमें शक्ति देने लगीं। भारत को जो चाहिये था अंगरेजी साम्राज्यवाद उसे दे नहीं सका। चाहे वे भी नहीं सकता था क्योंकि वह उसके पास था ही नहीं। यही कारण था कि भारत को अपने प्राचीन अध्यात्मिक मंदिर - सांस्कृतिक सम्पत्ति - की ओर मुड़ना पड़ा। वह महान् था और उसी से हमें अपनी लौह हुई महानता को प्राप्त करने की संभावना, प्रेरणा और शक्ति मिल सकती थी। भारत की आधुनिक आदर्शवादियों का यही रहस्य है। सरकार और उसकी जिज्ञासु संस्थाओं ने भारतवर्ष पर अपनी पाश्चात्य संस्कृति सभ्यता^{परिने} के यथासंभव सभी प्रयत्न किये। इसने हमें झकझोर दिया। समाज के धरातल को आलौकिक - वि-लौकिक कर दिया। किन्तु झकझोरने से आदमी जग भी जाता है। हम भी जग गये। जानने के बाद हम अपनी मूल सम्पदा की खोज खबर लेने में लग गये। अपनी बुराइयों को दूर करके अपने को फिर से विबुध अपना बनाने में लग गये। परिणामतः 'यदि गहराई में घुस कर देखें तो भारत की अनादि काल से बली जाती हुई परम्पराएं बहुत अधिक कुप्रभ एवं अधान्त नहीं हुई'^१। भारतीय जन-पद गांधी जी के नेतृत्व में भारतीय जीवन और भारतीय संस्कृति के वातावरण में आने बढने लगा। राष्ट्र की मानसिक क्रान्ति हुई तथा सत्य और अहिंसा ने देश की काया पलट कर दी। देश पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति की अनु-कूल अज्जाइयों को उल्टे-ठुके-विस्तृत-नहीं-कने-कहना-तने-कह-बन-रिप-कि अपनाकर भी अपनी प्राचीन संस्कृति के अभिमान को धारण किये है। इन्द्र विद्यावाचस्पति ने लिखा है कि 'परन्तु भारत युग-युगान्तरों के परिवर्तनों क्रान्तियों और तूफानों में से निकल आज भी उसी (अपनी) संस्कृति का वैध धारण किये, विरोधी शक्तियों की चुनौतियों का करारा उत्तर दे रहा है। अपनी विषेयताओं और बेच्छताओं को उल्टे उपेक्षा विस्तृत नहीं की। कहना तो यह ठीक चाहिए कि नया भारत प्राचीन भारत का बालु भक्त बन गया। यह

अपने मौलिक सिद्धांतों के साथ अपनी संस्कृति के मौलिक अधिकारों के साथ अब भी गर्वोद्दीप्त सदा है। निष्क्रियता एवं निवृत्तिवाद के कारण बहुत कुछ मुक्तने वाले पस्त और निराश भारत में "बुद्धं हृदयदीर्घस्य त्यक्त्योत्तिष्ठ परंतप" तथा "युञ्जस्व विगतज्वरः" के संकेत बहुत ही लोकप्रिय हुए। प्रस्थानत्रय (ब्रह्मसूत्र, गीता और उपनिषद्) को मिलाकर देवों की मुख्यतम शिक्षाओं पर आधारित एक व्यापक धर्म के पुनरुद्धार का प्रयत्न किया गया। रुढ़ि एवं अस्पृश्यता से युक्त धर्म का स्वरूप कश्यप आदि की कथाओं में मिला। रामकृष्ण परमहंस के प्रभाव से हिंदुत्व प्रत्यक्ष अनुभूति का विषय बन गया। विवेकानंद ने आत्मशक्ति जागृत करके सामाजिक कल्याण की प्रेरणा तथा तेज और ओज की भावना भरी। तिलक ने स्वाधीनता का संसनाद फूँका। अरविन्द ने आध्यात्मिक एवं यौगिक साधना पर जोर दिया। हिंदुत्व की सार्वभौमिक उपयोजिता की क्षमता निःसंदिग्ध रूप से विधित हो गई। हिंदुत्व की भागीरथी कुछ दिनों तक सुस्ती-सी प्रतीत होने के बाद फिर उद्दाम वेग से गरजती हुई आगे बढ़ी। रामकृष्ण, विवेकानन्द, रामतीर्थ, अरविन्द, गांधी, बयानन्द, तिलक, विनोबा-बे-नेहरू उस भागीरथी के पवित्रतम तीर्थस्थल हैं। एक महान सांस्कृतिक संग्राम छिड़ा। विजेता यूरोपीय संस्कृति और पराजित-ही भारतीय संस्कृति। देवासुर संग्राम छिड़ा। ऐसे सांस्कृतिक संग्रामों में आज तक भारत कभी नहीं हारा और न जाने कभी हारने की संभावना है। भारत की जीत अमरतीय अछाद्यों को आत्मसात कर लेने से हुआ करती है। भारत बही कर रहा है। समय अपने साथ अनेक नये अनुभव लाया। और स्व अन्तर्गतत्वा उसी अतीत गौरव की अनुभूतिओं की सरिता में घुलमिल गये। भारत ने सबको आत्मसात किया। एक अंगरेज का स्वतंत्र भारत का प्रथम गवर्नर जनरल बनना मेरी दृष्टि में भारतीय संस्कृति की एक महत्वपूर्ण प्रकृति - उदारता - का प्रतीक है। आज के हिन्दी प्रवेश एवं

१. "भारतीय संस्कृति का प्रवाह", की प्रस्तावना।

सम्पूर्णतः भारत की आत्मा को देखकर कोई यह नहीं कह सकता कि हम पश्चिम की नकल हैं और न कोई यही कह सकता है कि हम दकियानूसी हैं। सांस्कृतिक संकट हमारे ऊपर आया था वह नवचेतना, आत्मचेतना और हमारी इसी समन्वयशील प्रवृत्ति के कारण दूर हो गया है। ठीक यही स्थिति हमारे हिन्दी साहित्य की है। वह न रीतिकाल की परम्परा में है और न पार्श्वात्य साहित्य की बिल्कुल नकल ही। हिन्दी ने पार्श्वात्य भाषा-साहित्य के महत्वपूर्ण तत्वों को लगभग आत्मसात-सा कर लिया है। जैसे, हिन्दुओं ने इस युग में मूल तत्वों का अध्ययन किया, ऊपरी स्पर्श में ही नहीं उलझे, पूर्व और पश्चिम दोनों का गहराई से अध्ययन, मनन और विश्लेषण किया और अब समन्वय की ओर चल पड़े हैं। वैसे ही और उसी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर हमारे साहित्यिक पूर्व और पश्चिम की साहित्यिक प्रवृत्तियों का अध्ययन, मनन और विश्लेषण करके उन्हें आत्मसात करके उसका नवनीत हमारे सम्मुख उपस्थित कर रहे हैं। आधुनिक हिन्दी साहित्य भारत के इस महान सांस्कृतिक जागरण की साहित्यिक अभिव्यंजना है। परिवर्तनीय स्मृतता का मोह छूट-सा गया है। रूढ़ियों और परम्पराओं से मुक्ति मिल गई है। पौराणिक, कर्मकाण्डमूलक, रूढ़िप्रथा-परम्परा-रीतिरिक्त आदि अपने मूल और महत्वपूर्ण रूप में आधुनिक हिन्दी साहित्य में कहीं नहीं हैं। आधुनिक हिन्दी साहित्य एक सुधारोन्मुखी, उत्थान एवं उदार जाति के मानस की साहित्यिक छवियों का आभास है। जैसे हमारे जीवन और समाज में आज भी अनेक प्रकार की विकृतियाँ, संकीर्णताएँ एवं दुर्बलताएँ हैं (जिनके कुछ कारण हैं राजनीतिक, कुछ काल सङ्क्रान्तिकाल, आदि) वैसे ही आधुनिक साहित्य में भी कुछ दुर्बलताएँ, कुछ विकृतियाँ और कुछ कमियाँ हैं किन्तु जैसे, 'बाहरकी इस काँड़ को हटा लेने के बाद भारत के अंतर्चेतनमानस में जो कुछ वैच रहता है उसकी जड़ का आज के संसार में कुछ भी देखने को नहीं मिलता।' ¹ वैसे ही निश्चित रूप से आधुनिक हिन्दी साहित्य के पास कुछ ऐसा है जो उसकी समग्र कमियों के होते हुए भी आज के संसार में बेजोड़ है। पंत, प्रसाद, निराला, रामकुमार

वर्मा, विनकर, महादेवी, प्रेमचन्द, चन्द्रावन लाल वर्मा, रामचन्द्र शुक्ल, हजारी
 प्रसाद द्विवेदी, रामकुश्र वेणीपुरी आदि की कृतियाँ नै ये अद्वितीय निधियाँ हूँ
 जा सकती हैं। आज के भारत में रीति-रिवाज, सान-पान, रहन-सहन, वेशभूषा,
 आदि स्वयं आमूल परिवर्तन हो रहा है। हमने अपने अन्तर को पश्चिम के रंग
 में नहीं रंगा है। बाह्य रूप में पश्चिम की केवल वे ही चीजें अपनाई हैं जिन्हें
 हमारे विचार में, हमारी संस्कृति में निषिद्ध नहीं कहा गया है और जीवनधारा
 की गति के कारण जिनको अपनाने के लिये हम विवश हैं। पुराने दकियानूसी
 लोग इन परिवर्तनों को भी नहीं सह पाते। वे "जाँस मुँद लेने" की कामना
 करने लगे हैं। ध्यान देने की बात यह है कि हमारी संस्कृति के मूल तत्व, हमारी
 तात्त्विक मान्यताएँ, हमारे मूलधार्मिक विश्वास अभी वैसे ही हैं - लगभग वैसे ही
 हैं। और, जब तक ये अटँड हैं तब तक भारत अजेय एवं अमर है। मनु, चन्द्र-
 गुप्त, बुद्ध, अशोक, हर्ष, पृथ्वीराज, अकबर, औरंगजेब, विक्टोरिया, नेहरू,
 नेहरू के पुत्रों के भारतीय रहन-सहन में बराबर परिवर्तन होते रहे हैं। इन
 परिवर्तनों के बावजूद भी यदि भारत महान एवं अपराजेय रहा है तो उसका कारण
 हमारे आतिथेयिक तत्वों - सांस्कृतिक विशेष तत्त्वों का अक्षत रहना ही
 था। इसी अक्षतता के कारण आज भी भारत का मूल अधिष्ठान की सुन्दरी कल्प-
 ना से प्रदीप्त है। पहले हम मानते थे कि आदमी रोटी के बिना रह सकता है
 पर धर्म के बिना नहीं रह सकता है। पश्चिम ने कहा कि तुम धर्म के बिना रह
 सकते हो परन्तु रोटी के बिना नहीं रह सकते। आत्म स्वरूप की खोज ने हमें
 विश्वास कराया कि दोनों ही जीवन हैं। रोटी के बिना धर्म शरीर बिहीन
 है और धर्म के बिना रोटी जीवन बिहीन है। रोटी धर्म की और धर्म रोटी
 की रक्षा करे। समाज बढता रहता है, नये विचार आते रहते हैं और समाज
 में कालान्तर में फैलते रहते हैं किन्तु कोई भी विचार, चाहे कितना ही अमृत
 तत्वों से भरा क्यों न हो, एक बारगी ही समाज भर में फैल नहीं जाता।
 बतने पर भी समाज इन नये विचारों से परिपुष्ट एवं उन्नत होता रहता है।

नये और अछूते विचारों का उदय न होना मृत्यु है। ज्ञापन यद्यपि यह ठीक है कि आत्मसौज से प्राप्त निष्कर्ष अभी सारे समाज की सम्पत्ति नहीं बन सके किन्तु यह भी सही है कि उनसे समाज को अमृतत्व मिला है। इसीलिये यद्यपि आधुनिक हिन्दी साहित्य की विधाओं आदि में बहुत नवीनता मिलती है परंतु उससे हमारी कोई हानि नहीं हुई क्योंकि आत्मसौज से प्राप्त तत्व हमें संजीवनी दक्षि दे रहे हैं। यूरोपीय सभ्यता की चमक-दमक की सम्मोहिनी उक्ति आज न भारतीय समाज को मोहग्रस्त कर पा रही है और न यूरोपीय साहित्य की चमक-दमक भारतीय साहित्य एवं उसके 'एक अंग - आधुनिक हिन्दी साहित्य' को। यह स्वीकार किया जाने लगा है कि केवल भारत ही, चाहे यहाँ ज्ञान और उक्ति का कितना भी क्षय या ह्रास क्यों न हो गया हो, आध्यात्मिक आवर्ष के मूल स्वरूप के प्रति निष्ठावान बना हुआ है भारत ही एक ऐसा राष्ट्र है जो समष्टि रूप में अपने उपास्य देव का त्याग करने या युक्ति यंत्र, व्यवसाय तंत्र एवं अर्थतंत्र रूपी प्रबल प्रभुत्ववाली प्रतिमाओं, पश्चिम के सकल लौह-देवताओं के आगे घुटने टेकने से अब तक भी हन्कार करता आ रहा है... उसकी गम्भीरतर प्रज्ञा ने नहीं, बरन् उसके स्थूल मन ने ही बाध्य होकर स्वतन्त्रता, समानता और प्रजातंत्र आदि अनेक पश्चिमी विचारों को स्वीकार किया है तथा अपने वेदांतिक सत्य के साथ उनका समन्वय किया है... अपनी विचारधाराओं में वह पहले से ही उन्हें एक भारतीय रूप प्रदान करने के लिये प्रयत्नशील है जो कि एक अध्यात्मभावित रूप हुए बिना नहीं रह सकता।' आज विनीता की प्रार्थना समाजी की "मेहनत सेवा राम की", "मेहनत बंधी इशाम की" जैसी उक्तियां तथा "मेहनत इन्सान की, दोस्त भगवान की" वाली धारणा इसी विचारधारा की ओर संकेत करती है। आज का भारतीय ऊपर से घले हो पारंपार्य के सभ्यता के रंग में रंग गया हो परन्तु अन्तरतम से वह भारतीय है। यह संभव नहीं कि वह संस्कृति की इस गंगा में स्नान किये बिना और इससे प्रभावित हुए बिना रह सके। मोतीलाल नेहरू से बढ़कर पारंपार्य सभ्यता के रंग में

रंगा हुआ दूसरा व्यक्ति मिलना कठिन होगा किन्तु सर्वप्रसूती राधाकृष्णन का कथन है कि अपने अन्तरतम में मोतीलाल नेहरू भारतीय संस्कृति में विश्वास रखते थे।¹ हिंदी इसी नवजागरण की एक मात्र सकल भाषा थी और और यह नव जागृत व्यक्तियों के अन्तर में इतनी रम गई थी कि पुरुषोत्तमदास टंडन ने अपनी कन्या डुलारी के विवाह में विवाह के मंत्रादि का हिंदी में अनुवाद कराया और विवाह मंडप में केवल हिंदी ही सुनी गई। भारतीय मानस कितना उदार है इसके प्रतीक एक और औधुदानी निराला थे और दूसरी और देहातों की ये भारतीय नारियां हैं जो किसी कुयार्स को बिना भोजन कराए नहीं जाने देतीं। आज भारत का गांव-गांव स्वा^अलम्बन सीस रहा है। सेवा करना सीस रहा है। बीसवीं सताब्दी के इस पूर्वार्ध में ऐसे असेंख्य अनजाने व्यक्ति हुए जो स्वतंत्रता की इस अन्धमार्ग में आनंदार इमारत की नींव के पत्थर इस तरह बने कि इतिहास की आंखों से ओझल हो गये - विस्मृति के गर्म में विलीन हो गए। यह इमारत उन्हीं की आहों कराहों, कष्टों और आपदाओं के ऊपर सड़ी हो सकी है। ये सारी बातें हिन्दी साहित्य में अभिव्यंजित हैं और हिंदी साहित्यिकों के जीवन में प्रत्यक्ष हैं। इस प्रकार आत्मस्वरूप को सीज के परिणामस्वरूप हमारे दृष्टिकोण बहुत बदल गए।

अतीत-दर्शन

जागृत होकर जातियां अपने निम्न विगत गौरवपूर्ण इतिहास की ओर देखती हैं। वर्तमान से उसकी तुलना करती हैं। इस तुलना से वर्तमान की अधोगति उनके हृदय में बेचैनी पैदा करती है और तब वे विगत युग की महान्ताओं से प्रेरणा लेकर अपने भविष्य का मार्ग-निर्धारित करती हैं। भारत ने भी यही किया। उसका अतीत युंकि असाधारण रूप से गौरवपूर्ण एवं उन्मत्त^४ अतएव वह उस पुराने समय से असाधारण रूप से प्रभावित हो गया। उसके हृदय में

1. 'मोतीलाल नेहरू जन्म सताब्दी स्मृति ग्रंथ', पृ. ८४।

हिलोरे उठी। गर्व से उसका सिर ऊँचा हो गया किन्तु वह वर्तमान को भी
 अस्वीकार न कर सका। कहा गया कि पहले आप चाहे जो कुछ रहे हों, इस
 समय तो कुछ नहीं रह गये। इससे प्रेरणा मिली अपने को स्तिर फिर वैसा ही
 उन्नत बनाने की। यूरोप की चमक-दमक का रोष-आतंक समाप्त हो गया और
 भारत ने यह स्वीकार ^{कली} बुद्धतापूर्व अस्वीकार कर दिया कि वह हीन है। निजत्व
 की अनुभूति उपमासित हुई। पुनरुद्धार एवं पुनरुत्थान के प्रयत्न प्रारंभ हुए।
 आधुनिक हिंदी साहित्य पूर्व और पश्चिम की इन्हीं दो धाराओं के घात-
 प्रतिघात का परिणाम है। सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से इस घात
 प्रतिघात का परिणाम गांधीवाद के रूप में सामने आया था। इसी कारण हिंदी
 साहित्य का गांधीवाद से अभिन्न संबंध स्थापित हो गया। स्वयं हिंदी भाषा
 का आंदोलन ^{जो १९४६ सांस्कृतिक आंदोलन} का एक अनिवार्य अंग था। १९ वीं शताब्दी के अंत तक हमारा
 सांस्कृतिक पुनर्जागरण स्वयं प्रभावशाली हो गया था। फिर भी उसकी भारत
 की अपनी भाषी नहीं मिल पाई थी। वह किसी भारतीय भाषा द्वारा अभि-
 व्यक्त नहीं होती थी। यह एक कमी थी किन्तु इस कमी की पूर्ति भारत कर
 सकता था। इसकी और स्वामी दयानन्द ने द्विआत्मक रूप से संकेत कर दिया
 था। उन्होंने प्रत्यक्ष कर दिया था कि हिंदी में ऐसा सामर्थ्य है कि यदि इस
 को ठीक ढंग से विकसित किया जाय तो हम विदेशी संस्कृति के साथ साथ वि-
 देशी भाषा की वास्तव से भी छुट्टी ^{पा} सकते हैं। संस्कृत हमारे संस्कारों की
 भाषा है, हिन्दी हमारे नवजागरण की भाषा है, हिन्दी हमारे नव-जागरण की
 भाषा है, अंग्रेजी हमारी हर तरह की लुप्तगामी एवं हीनवृत्ति की सीमाओं, जड-
 ताओं एवं लघुताओं की भाषा है। हिंदी आधुनिक युग की हमारी जाति की
 भाषी है। हिंदी की सेवा के महत्व को समझने का सही दृष्टिकोण यही है।
 इस बात को केजवचन्द्र सेन समझ गये थे, दयानन्द समझ गये थे, तिलक समझ गये
 थे, गांधी समझ गये थे, टैगोर समझ गये थे, विनोबा समझ गये थे और कमी
 राजगोपालाचारी भी समझ गये थे। इसीलिये हिंदी प्रचार का पवित्र कार्य हुआ

और इसीलिये जनेकौं ने अपने जीवन की इस कार्य में - यत्न में - आ^{हुति}हित दे दी। हजारों प्रसाद द्विवेदी ने "स्वी-ब्रनाथ की हिंदी सेवा" नामक लेख में लिखा है, "हिन्दी भवन की स्थापना के समय उन्होंने इन पंक्तियों के लेखक से कहा था: तुम्हारी भाषा परम उक्तिशाली है। बड़े-बड़े पदाधिकारी तुम से कहेंगे जो कि हिन्दी में कौन-सा रिश्ता होगा मला ! तुम उनकी बातों में कभी न जाना। हिन्दी को वे एक ऐसी लोक भाषा मानते थे जिसकी शब्दभूत और अक्षयशक्ति अभी प्रकट नहीं हुई" ¹। इस हिन्दी के उत्थान के लिये - उसको सशक्त एवं सक्षम बनाने के लिये - हमें संस्कृत भाषा के छायाकरण और शब्दकोष का सहारा लेना पडा। यह भी उसी छायाफ संस्कृतिक - आत्मसौज - केआंदोलन की प्रकृति के अनुरूप था। आत्मसौज के लिये हम संस्कृत साहित्य की और नये और आत्म-सौज की अभिव्यक्ति के लिये संस्कृत भाषा की और। आत्म/सौज के आंदोलन में संकीर्णता नहीं, समन्वय धृति की प्रधानता थी और हिन्दीभाषा ने भी अंगरेजी, उर्दू, बंगला आदि के अनेक तत्त्वों को अपने अन्तर समाधिष्ट किया है। इधर सुनीतिकुमार चटर्जी ने हिंदी भाषा को रोमन लिपि में लिखने का वैज्ञानिक दृष्टिकोण से सुझाव दिया था और संविधान सभा ने हिंदी अंकों को रोमन अंकों में लिखे जाने का। यह बात असांस्कृतिक है और इसीलिये अग्राह्य हुई। इस शताब्दी के प्रारम्भ में भी कभी यह बात उठाई गई थी और हिंदी की और से यह उत्तर दिया गया कि अंगरेजी में से किसी - किसी का मत है कि हिंदुस्तान में रोमन अक्षरों का सांवेदिक प्रचार होना चाहिये। पर रोमन अक्षर यहाँ के लिये विशुद्ध ही अयोग्य हैं। ² असांस्कृतिक लोग आज तक हिंदी और हिंदी वालों को हीन दृष्टि से देखते हैं लेकिन संस्कृति की अमृत प्रेरणाओं से संपन्न हिंदी वालों ने अपने सुर्त और प्राणों की बाजी लगाकर सारा हाड-हस्ताड सपाट कर दिया। यहावीर प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, "साथ पर काफी देता रहा; कभी

१. 'सरस्वती', १९४५ ई. पृ. ७२०।

२. यही, , १९०५ ई. पृ. ३१३।

एक बार भी, कोई हीला-हवाला नहीं किया। न बीमारी बाधक हुई, न
सर्कर बाधक हुआ, न समय-भाव बाधक हुआ। जानबूझकर कभी इसके द्वारा मैंने
अपनी लेखनी का दुरुपयोग नहीं किया। न किसी के कोप से विचलित हुआ, न
किसी के प्रसाद से कर्तव्य च्युत। इसे बहुजन प्रिय बनाने मैं मैंने कभी कसर नहीं
की। अपने लाभालाभ का कुछ भी विचार न करके सदा इसके पाठकों ही के लाभ-
लाभ का विचार ध्यान मैं रक्ता। जो कुछ लिखा केवल कर्तव्य बुद्धि की प्रेरणा से
लिखा। तिसपर भी समय-समय पर मुझ पर व्यक्तिगत आक्रमण हुए और मैं अनेक
घोषों का आरोप भी हुआ। मैंने न किसी की सेवा की है, न किसी
पर पहचान किया है.....।^१ स्पष्ट है कि यह एक तपस्वी की वाणी है जिसने
इस कर्तव्य के सम्पादन में अपनी आंखें लीं। आत्मसौज से प्राप्त प्रेरणाओं ने
हिंदी के अनन्त लेखकों के प्राणों को इसी प्रकार ऊर्जित कर दिया था। अस्तु
ऐसे तपस्वियों की साधना से संबलित होकर हिन्दी समर्थ हो गई और अतीत गौरव
वर्तमान के असंतोष तथा भविष्य के सपनों को वाणी देने लगी। नवीन प्राणों का
स्पन्दन उत्तम प्रकट होने लगा। काशी प्रसाद जायसवाल जैसे विद्वानों ने भारतीय
इतिहास के गौरव का अध्याय खोल दिया। राहुल देव देव की धूलि चरनों से
से रौंदकर विश्व के कोने कोने में विसरी भारतीय संस्कृति के मुकुटों^२ अपनी खोली
में भर लाये। यह आत्मरूप की सौज थी। पंडित जगन्नाथ की 'लाइट ऑफ
पश्चिमा' और राधाकृष्णन की व्याख्याओं ने बुद्ध का गौरव निरघ्न किया। देव
का कब कब इस आत्मरूप की सौज से मास्वर हो उठा। बच्चन ने लिखा है कि
उनके विद्यार्थी जीवन में 'प्रताप' के मोटों की ये पंक्तियाँ उत्तर भारत में गूंज रही
थीं, इनके लेख छाया महावीर प्रसाद द्विवेदी^३ - 'जिसकी न निज गौरव तथा निज
देव का अभिमान है; वह है नहीं नर पशु निरा है और मुक्त समान है'^४। 'हम
कौन थे, क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी, आजों विचारों' आज मिलकर ये
समस्याएं सभी^५ का आह्वान देकर सबको आत्मसौज की ओर प्रवृत्त करने वाली

१. 'सरस्वती', जनवरी, १९२१, पृ. २

२. 'नये पुराने तरीके', पृ. १२०।

३. मैथिलीशरण गुप्त कृत 'भारत भारती'।

"भारत भारती" उत्तर भारत की गीता बन गई। हमारे गौरव के एक प्रतीक शिवा जीकी चरित्र निष्ठा को अभिव्यंजित करने वाला रामकुमार वर्मा का "शिवाजी" नाटक असाधारण रूप से लोकप्रिय हुआ। प्रसाद के नाटक हमारे इतिहास के गौरवपूर्ण व्यक्तियों को सामने लाने लगे। संभवतः पहली बार प्रसाद ने ही अपने "चन्द्रगुप्त" में सिकन्दर की भारत में पराजय दिखाई जो जो बाद में गोविन्ददास के "अश्विगुप्त" नाटक में भी अभिव्यंजित हुई। हमारा साहित्य - उपन्यास और नाटक विशेकर - हमारे इतिहास के इन्हीं गौरव क्षिप्तों को अवतरित करने लग गया। ऐतिहासिक नाटकों और कहानियों का एक समृद्ध परम्परा ही चल सड़ी। उस युग की कविता भी इस आत्मसौज के आन्दोलन से संप्राण बनी। "कामायनी" की कथा का आधार भारतीय ग्रंथों में बिखरी हुई सामग्री है। इन ग्रंथों में अतपयब्राह्मण, कण्वेय, छान्दोग्य उपनिषद् का उत्कृष्ट स्वयं कवि ने किया है। गीता, उपनिषद् महाभारत आदि की बातें भी उसमें हैं। भारतीय संस्कृति के एक अमूल्य रत्न ब्रह्मा को उसमें सर्वप्रधान रूप से मूर्त किया गया है और जीवन एवं आत्मा पर पढ़ने वाले उसके अमृत प्रभाव को अभिव्यंजित किया गया है। निराला के काव्य के सभी स्वर भारतीय संस्कृति की बीजा के हैं। बीन-बुली, कातर एवं अस्हाय के प्रति निराला की कञ्जा-ममता-उनकी भाव विगलित विबुध मानवीय दृष्टि - बुद्ध की कञ्जा से कम नहीं थी। वे रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द और भारतीय संस्कृति के रहस्यवाद के रंग में डूबे छे। "पल्लव" काल में पंत परमहंसदेव के बचनावृत तथा स्वामी विवेकानन्द और राक्षसीय के विचारों के संपर्क में आ गये थे। गांधी का आत्मदर्शन उन्हें प्रिय था और "स्वर्ण किरण", "स्वर्णधूलि" आदि तक आते-आते वे अरविन्द से प्रभावित हो चले थे। रामकुमार वर्मा और महादेवी वर्मा, रहस्यवाद विबुध रूप से भारतीय अमृत तत्वा से अनुप्राणित हैं। और, इन सबके द्वारा प्रवर्तित छायावादी आन्दोलन, प्रायः लोग कहते हैं कि इस पर रवीन्द्र नाथ टैगोर का प्रभाव है और अंगरेजी के रोमांटिक धारा के कवियों का प्रभाव है। थोड़ा-बहुत प्रभाव है, इससे इन्कार

नहीं किया जा सकता किन्तु प्रमुख तत्त्व प्रभाव नहीं होता, प्रमुख तत्त्व वह होता है जिस पर प्रभाव पड़ता है। इस आंदोलन परपड़ने वाले ये बाहरी प्रभाव प्रायः भाषा शैली के ही स्तर तक रह गये। उसके भीतर कोई तत्त्व सरे-निसरे रूप में बही है जो हमारे आत्मरूप की सौज से मिला है - स्वात्मवाद। "साकेत" "यशोधरा", "प्रियप्रवास", "कामायनी", "कृष्णायन" आदि जो महाकाव्य लिखे गये उनमें अपने आर्यधर्म, अपनी आर्य सभ्यता और अपनी आर्य संस्कृति का ही युगानुकूल सुन्दर रूप मिलता है। हमारी प्रसाद द्विवेदी ने अस्तहयोगी आन्दोलन के विषय में जो लिखा है वह हिंदी साहित्य के लिये भी पूर्णतः सही है। उनका कहना है, "यह संपूर्ण देश का आत्मस्वरूप समझने का प्रयत्न था और अपनी गलतियों को सुधार कर संसार की समुद्र जातियों की प्रतिद्वन्द्विता में अग्रसर होने का संकल्प था। संक्षेप में यह एक महान सांस्कृतिक आंदोलन था आधुनिक काल में आत्मविश्वास की ऐसी प्रचंड लहर इसके पूर्व कभी इस देश में नहीं दिसाई पड़ी थी। इस महान आंदोलन ने भारतीय जनता के चित्त को बंधन मुक्त किया। यही बंधन मुक्त चित्त काठियाँ, नाटकों और उपन्यासों में नाना भाव से प्रकट हुआ।" आत्मस्वरूप की सौज के परिवर्णमस्वरूप ही हिंदी साहित्य ने मौलिक रूप से धर्म का पस्ता आज भी नहीं छोड़ा है। यहाँ युग और धर्म में समन्वय स्थापित करने का प्रयास है। इसी आंदोलन के परिवर्णमस्वरूप आज हमें वह दृष्टि मिल गई है कि हम अपने महत्व का वास्तविक मूल्यांकन करके अपने को हीन भावना से मुक्त कर सकें। इसी दृष्टि के परिवर्णमस्वरूप आज हमें सोचने लगे हैं कि आखिर सांस्कृतिक दृष्टि से सूर और तुलसी सेक्सपियर से न जाने कितने जाने हैं। बिहारी लाल और भूषण का जातीय शौर्य अंगरेजी साहित्य के किस कवि से कम है। हमें दोष देने वाले हमारी सक्ति और क्षमता की प्रशंसा नहीं करते कि पचास वर्षों के अन्दर ही हमने एक नई क्रांति कर दी - भाषा के एक

नये रूप को इतना साहित्यिक सामर्थ्य दे दिया । यह सही है कि प्रत्येक संस्कृति के सौन्दर्य और कला के प्रतिमान का दृष्टिकोण अलग अलग होता है किन्तु यदि वे सब कहीं एक प्रतिमान पा सकते हैं तो उसे दृष्टि में रखकर मैं कह रहा हूँ कि शुद्ध काव्य कलात्मक सौन्दर्य की दृष्टि से रत्नाकर का साहित्य - विशेषतः "उद्यम उत्तम" - विश्व साहित्य की सर्वप्रथम एवं सर्वोच्च श्रेणी में जाएगा और हिंदी का यह एक कृष्णवर्ण सेवक सैकड़ों गौरी चमड़ी वाले कवियों के आगे आगे चलने का अधिकारी होगा - हाँ, दृष्टि निरपेक्ष अवश्य हो (विश्व सुन्दरी की प्रतियोगिता के पारस्त्रियाँ जैसी न हो) । "रत्नाकर" का साहित्य आधुनिक युग की रचना है । निश्चित है कि ^{यह} व्यक्ति और सामर्थ्य इसी आत्मस्वरूप के सौज की साधना में लगने के परिणामस्वरूप मिली है ।

जीवन, दृष्टिकोण और संस्कृति

(पृष्ठ-८०७ से ८१२ तक)

हमारी जीवनी शक्ति -- संस्कृति का सीमाप्रान्त मात्र प्रभावित परन्तु उसका भी
महानग वाह्य प्रभाव -- फिर भी हम जिये -- हमारा शत्रु विकृत अंगरेज -- एकमात्र
वर्द्धिष्ट वयो -- उत्थान की प्रक्रिया -- उसका पुनरुत्थान -- नहीं आत्मा --
पुराने लोग भी बदले -- पुनर्जागरण का सुम प्रभाव -- समन्वय -- आधुनिक युग में
भी आधुनिक नहीं -- देशात का जीवन -- शहर का जीवन -- मध्य वर्ग -- इस वर्ग
में परिवर्तन -- अंगरेजी राज्य में भारत का जीवन -- एक सामान्य दृष्टि --
विविक्तताओं से भरा हुआ भारत और उसका दृष्टिकोण ।

जीवन, इष्टिजीण और संस्कृति

हमारी जीवनी शक्ति

काल के अनन्त प्रवाह में भारतवर्ष ने -- विशेषतः हिन्दी प्रदेश ने -- विषम परिस्थितियों एवं प्रतिकूलताओं के बनेक बाधात रहे हैं। हमारी जीवनी शक्ति की परीक्षा भी होती-चलती- है और साथ ही साथ शक्तियां हमकी जीवन - सत्त्व के तत्त्व भी प्रदान करती जाती हैं। वे अखंड कवि-मुनि (जिनके बाव हम नाम भी नहीं जानते किन्तु जिनकी साधन क्षमताओं ने हमें अनन्त जीवनी-शक्ति-सम्पन्न तत्त्व दिये हैं), वेद, उपनिषद, गीता, ब्रह्मसूत्र, पुराण, शास्त्र, स्तुतियां, मनु, बुद्ध, पाणिनि, कौटिल्य आदि बाव भी हमारे जीवन की सज्जित रूप से प्रभावित कर रहे हैं। फिरकि आदि कुछ विकृत मस्तिष्क वाले लोग नहें कि जो-कुछ भारतीय है वह सब निरुपेक्ष है किन्तु इन के कर्म से कुछ होता नहीं। भारतीय जीवन उपर्युक्त तीर्थ-स्थानों एवं पवित्र क्षेत्रों वाली भागीरथी से ही जीवन पा कर सम्पूर्ण एवं सज्जित होता रहा है और हो रहा है और इसी कारण विश्व भारत की सांस्कृतिक उपनिवेश बनाने की हच्चा रखे वालों की, स्वार्थी मुँहों की, एवं मानसिक विकृतियों की दृष्टि की हच्चा रखे वालों की कुराहियां कभी पूरी नहीं होने पायीं। भारत एक बनीसा देश है। बाह्यमत्त बार हैं, जीता है तथा राजसी उद्देश्यों एवं पारस्वीय प्रयत्नों से प्रेरित हो कर कुरतापूर्वक हमें स्ताब्दियों तक फाज्माओरा है और इन सबके बावजूद भी भारत की जीवनधारा बल्लुड रूप से प्रवाहित होती रही है। इतिहास के सम्पूर्ण युगों में भारत ने उसी प्रकार का जीवन बिताया है जिस प्रकार की इपरीक्षा उसने प्रागैतिहासिक युग में बनाई थी। यह भारत की गतिहीनता का चोत्क नहीं, भारत की दूरदर्शिता, कल्पना शक्ति और उसकी योजना की शक्तियों की प्राणवत्ता का चोत्क है। भारतवर्ष ने फुफ्फा बाना है, टूटना नहीं; और बहुत दिनों तक सल्ले सल्ले बाहिर में वह जीत भी बाता है। भारतवर्ष पर दो बाह्यमत्त बहुत ही शक्तिशाली दुर। फल्ला वा बाठवीं स्ताब्दी में इस्लाम का और दूसरा, १८ वीं स्ताब्दी में ईसाइयत का। ये दोनों बाह्यमत्त शिमुली थे। बाह्यमत्त के तलवार की एक बार राजनीति - क्षेत्र सम्बन्धी थी और दूसरी, कर्म-क्षेत्र

सम्बन्धी । दोनों में से पहली कुछ समय के लिए सफल हो गयी थी परन्तु दूसरी की सफलता के दर्शन के लिए धनघोर आशावादियों की अभी अनन्तकाल तक की प्रतीक्षा करना पड़ती । आक्रामकों ने यदि भारत को अपने रंग में रंगना चाहा तो इस दृष्टि से उनका कोई दोष न था कि उन्होंने यूरोप, अफ्रीका, अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया और एशिया के अनेक देशों की अपनी संस्कृतियों के पुराने रूप की सर्वथा नष्ट कर दिया था ; गलती केवल यह हुई कि वे भारतीय संस्कृति के अमूल्य तत्त्व को पहचान नहीं पाए थे ।

संस्कृति का सीमाप्रान्त मात्र प्रभावित : परन्तु उसका भी मर्यादक बाह्य प्रभाव

आक्रामक संस्कृतियां भारतीय संस्कृति के सीमाप्रान्त मात्र को छू सकीं । कृत और मजबूत वस्त्र पर पहने वाला ढंडा जैसे उसकी गर्द की ही उड़ाने में समर्थ होता है वैसे ही कुछ यहां भी हुआ । उत्तरी भारत के कुछ भाग और दक्षिणी भारत की कुछ रियासतें और यहांभी शहरों और राज्यों से सम्बन्धित कुछ वर्ग विशेष ही -- इस्लामी संस्कृति से विशेष रूप से प्रभावित हुए थे । साधारण जनता के सांस्कृतिक जीवन को यह संस्कृति प्रभावित नहीं कर पायी थी । देश की लगभग ६५ प्रतिशत जनता अपनी उसी परम्परागत संस्कृति के प्रभावों में पकड़ी रही जो सारे देश में एक-से हैं । देश के दो भाग हुए:- (१) राज्य से सम्बन्धित शिक्षित नागरिक, और (२)-सामान्य जनता । पहले की रीढ़ की छड़ों में पुन लाना गया था । पश्चात्य संस्कृति जब भारत में आई तो उसका पड़ता कबरदस्त आक्रमण इसी पहलू का वालों पर हुआ । पुन लाना ही था । रज्जा की सर्वप्रथम पंक्ति -- सिंह द्वार -- टूट गया । सेना सेनापति विहीन हो गयी । एक एक करके राजा हारते गये और प्रजा कच्चाई के हाथ में फँस भेजने की तरह ज़िबड़ होती गयी । वे जीतते गये और ज्यों-ज्यों जीतते गये त्यों-त्यों हारने वालों की पैतना और उनके जीवन को शासन-श्रृंखला से बान्धते गये । जला जला प्रान्त बन गये । प्रान्त निर्माण की इस प्रक्रिया के पीछे कोई भी सांस्कृतिक दृष्टिकोण नहीं था । इसमें हमको विभावित करने की सूखनीति मात्र थी । हम हार गये । हम मुक गये । सबके लिए नहीं -- तब तक के लिए जब तक कि हम फिर सर उठाने के योग्य न हो जाएं ।

फिर भी हम जीव

बसाइ में डुबती होती है तो गिरने वाला पल्लवान हारने ही वाला नहीं होता

गिरते-गिरते वह प्रायः यह सोचने लगता है कि कैसे करें कि हम 'चित्त' न होने पाएं। कभी कभी पहले गिरने या नीचे हो जाने वाला जीत भी जाता है। हिन्दू जाति बंगलों में जमीन पर पहले जा जाती है परन्तु 'चित्त' जाय तक कभी नहीं हुई। यह विचित्र बात है कि १८५७ ई० हमारी कांग्रेसों की पराधीनता का वर्ण है परन्तु अपने उद्धार का उपाय -- पुनर्जागरण की हस्तगत -- हमने १८९० ई० के ही आसपास से प्रारम्भ कर दी थी। गिरने के पहले पहलवान समझ गया था कि हम गिरने वाले हैं और बन्त के उपाय के लिए उसकी अन्तर्ध्वजता सज्जित हो उठी थी।

हमारा शत्रु विकृत कांग्रेस

ध्यान देने की एक बात और है। थोड़ा बगै-पोंडे भारत में दो इंग्लैंड बार। इंग्लैंड या पारशात्य सम्प्रदाय के भारत में जाते समय यदि भारत सामान्य जनता तथा उच्चवर्ग के लोगों में -- इन दो वर्गों में -- विभक्त था तो भारत में जाने वाला इंग्लैंड भी विभक्त था। एक का प्रतिनिधित्व हेस्टिंग्स, क्लाइव, डलहौजी आदि ने किया और दूसरे का कर्न, शेली, मिस्टर आदि ने। इस्लाम विभक्त हो कर नहीं आया था, यूरोप स्वतः विभक्त हो कर आया। यूरोप या इंग्लैंड की भारत में अग्रिय बनाने वाला वर्ग यही दूसरा था। ये और उनके द्वारा नियुक्त कांग्रेस अफसरों की एक फांकी क्वाहरताल नेक ने बड़ी कुशलता से उपस्थित की है। कांग्रेस भारत में अपने को एक विजयी सेना का सैनिक सम्प्रदाय था। कांग्रेस और भारतीय, प्रत्येक दूसरे से ऊक्ता था और उससे अलग हो कर आबादी की सांस लेता था। स्वाभाविकतापूर्वक धूमता था। प्रसन्न होता था। दो नस्लें थीं; दो संस्कृतियां थीं। भारत वर्ण में कांग्रेसी राज्य ने कांग्रेसों और भारतीयों -- दोनों के बीच एक सरकारी वर्ग (अफसरों या साहबों वाला वर्ग) पैदा कर लिया। यह वर्ग बड़ बुद्धि, मूढ़ और संकुचित मस्तिष्क वाला होता था। वास्तविक भारतीय यदि वास्तविक कांग्रेस से मिलता तो शायद ऐसा अनुभव न होता। भारतीय कांग्रेस दफ्तर में काम करता था तथा फाइलों में गडारहता था और जब निकलता था तो सीधे कलबों में फुस जाता था जहां झिंझकी, उजेकक तस्वीरों वाले बख्शार और मीढ़-मीढ़े मबाक आदि का वातावरण रहता था। वहां से लौटता था तो या तो खाना-खीना या फिर चापकुर्छों से धिरे रहता पड़ता था। यह जीवन क्रम विहीन और उन्मत्तावर्षों से

रखित होता था । परिणामतः धीरे धीरे ज्ञान प्रारम्भ हो जाता था । परिस्थितियों का परिहास यह है कि अंगरेज इस कृतन के लिए भारत की जलवायु को दोष देता था, और भारतीय, अंगरेजों के स्वभाव को । इस प्रकार, 'ब्रिटिश जाति का भारतीय संस्कृति से परित्यक्त विद्वान और निवारशील प्रतिनिधियों के द्वारा नहीं हुआ था प्रत्यक्ष भारतीयता से उनका परिचय राजनीतिकक्षेत्र के बीच हुआ था और राजनीतिक क्षेत्र में दोनों ओर ऐसे व्यक्ति थे जिनका चरित्र ऐसा न था जिसके प्रति श्रद्धा होती।^१ यही कारण है कि दो सत्ताधियों के सम्पर्क के बावजूद भी अंगरेज भारतीय भावना, दृष्टिकोण, प्रवृत्ति तथा भाषाओं एवं आकांक्षाओं को समझ नहीं पाया और शायद स्वीकार हिन्दी को एक भी उच्चकोटि का अंगरेज साहित्यिक प्राप्ति न हो सका । भारत ने तो फिर भी अंगरेजी साहित्य को टॉर, चरॉपिनी, गान्धी, नेहरू, रामाकृष्णन दिये किन्तु अनुदास्ता, दक्षिणानुशीलन, रुडिवादिता, जहंगार एवं हीनता की ग्रन्थ में ग्रस्त इंग्लैंड ने उन्हें एक भी साहित्यिक नहीं दिया । इसके विपरीत उन्होंने जो दिया उसका परिणाम यह हुआ कि भारत को मानसिक दासता, निराशा और उसकी प्रतिक्रिया के स्वरूप मुक्ति की छटपटाहट मिली । वस्तु , आधुनिक हिन्दी साहित्य के कलाकारों की विशेषतः हुई जीवन और जात के बाह्य और आन्तरिक रहस्यों को समझने की मार्मिक व्याकुलता और निराशा एवं अपेक्षा के बाधात से उत्पन्न प्रचण्ड गतिशीलता । सम्भवतः इतिहास में पहली बार भारतीय मस्तिष्क एवं प्रतिभा का सन्तुलन बिगड़ गया । पहली बार हमें से बहुत हद तक अधःपातित हो गये कि उन्हें अंगरेजों की राजनीतिक दासता सुझने लगे लगी । उनकी भाषा और उनके साहित्य के हम गुलाम हो गये । भारत, भारतीय और भारतीयता हमें जुमे लगी । मेथिलीशरण गुप्त ने लिखा कि हम :-
'हैं भारतीय, परन्तु हम बनते विदेशी सब कहीं'^२ । अपना उपहास हम स्वयं भी करने लगे ।
'भाई, इंडियन टाइम से आए हैं ।- कल में हमें तनिक भी सोम नहीं होने लगा ।
भौतिकवाद की लहरें भारतीय बध्यात्मवाद के किनारों से टकराने लगीं । लगा कि हमारे सभी बादशे और सिद्धान्त वह बाले । धर्म और नीतिज्ञता की टकराहटें हुईं । इस टकराहट

१- 'आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक प्रोत्', पृष्ठ २५

२- 'भारत भारती', पृष्ठ १५१

रखित होता था। परिणामतः धीरे धीरे ज्ञान प्रारम्भ हो जाता था। परिस्थितियों का परिहास यह है कि अंगरेज इस कृतन के लिए भारत की जलवायु को दोष देता था, और भारतीय, अंगरेजों के स्वभाव को। इस प्रकार, 'ब्रिटिश जाति का भारतीय संस्कृति से परिचय विद्वान और विचारशील प्रतिनिधियों के द्वारा नहीं हुआ था प्रत्यक्ष भारतीयता से उनका परिचय राजनीतिकक्षेत्र के बीच हुआ था और राजनीतिक क्षेत्र में दोनों और ऐसे व्यक्ति थे जिनका चरित्र ऐसा न था जिसके प्रति श्रद्धा होती।^१ यही कारण है कि दो सताव्दियों के सम्पर्क के बावजूद भी अंगरेज भारतीय भावना, दृष्टिकोण, प्रवृत्ति तथा आशाओं एवं आकांक्षाओं को समझ नहीं पाया और शायद इसीलिए हिन्दु को एक भी उच्चकोटि का अंगरेज साहित्यिक प्राप्ति न हो सका। भारत ने तो फिर भी अंगरेजी साहित्य को ठीकर, चरोपिनी, गान्धी, नेहरू, राधाकृष्णन दिये किन्तु अनुदास्ता, दक्षिणानुसमन, रुडिवादिता, जहंगार एवं हीनता की ग्रन्थ में ग्रन्थ अंग्लैंड ने हमें एक भी साहित्यिक नहीं दिया। इसके विपरीत उन्होंने जो दिया उसका परिणाम यह हुआ कि भारत को मानसिक दासता, निराशा और उसकी प्रतिक्रिया के स्वरूप मुक्ति की दृष्टपटादृष्ट मिली। वस्तु, आधुनिक हिन्दी साहित्य के कलाकारों की विशेषतः हुई जीवन और जात के बाह्य और आन्तरिक रहस्यों को समझने की मार्मिक व्याकुलता और निराशा एवं उपेक्षा के आधार से उत्पन्न प्रचण्ड गतिशीलता। सम्भवतः इतिहास में पहली बार भारतीय मस्तिष्क एवं प्रतिभा का सन्तुलन बिगड़ गया। पहली बार हमें से बहुत क्षेपे अधःपातित हो गये कि उन्हें अंगरेजों की राजनीतिक दासता सुझाकर लाने लगी। उनकी भाषा और उनके साहित्य के हम गुलाम हो गये। भारत, भारतीय और भारतीयता हमें जुमने लगी। मैथिलीशरण गुप्त ने लिखा कि हम :-
 'हैं भारतीय, परन्तु हम बनते विदेशी सब कहें'^२। अपना उपहास हम स्वयं भी करने लगे।
 'माई, इंडियन टाइम से बाहर हैं।-- कलमें में हमें तनिक भी पौम नहीं होने लगा।
 मोतिकबाद की लहरें भारतीय बध्यात्मवाद के किनारों से टकराने लगीं। लगा कि हमारे सभी बादरों और सिद्धान्त वह बाले। धर्म और नीतिज्ञता की टकरावटें हुईं। इस टकरावट

१- 'आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक प्रोव', पृष्ठ २५

२- 'भारत भारती', पृष्ठ १५९

के परिणामस्वरूप हमें पार्श्वात्य सभ्यता भी दोषपूर्ण लगने लगी । हम विभिन्न सभ्यताओं और जातजातों से भी एक बीराह पर लड़ हो गये । धार्मिक और सामाजिक मान्यताओं ने जो विधि-निषेध निर्धारित किये थे वे निरर्थक हो गये । नवीन नैतिक और आध्यात्मिक मान्यताएं अभी स्थापित नहीं हो पायी थीं । वस्तु , व्यवहार में जाने वाला धर्म वास्तविक जीवन से अलग हो गया । बौद्धिकता या हेतुवाद बढ़ता और शक्तिशाली होता । पुरानी सभ्यता अनुपलब्ध होती , तथा पार्श्वात्य सभ्यता अयोग्य, अपर्याप्त एवं असमर्थ ।

समाज धर्म दृष्टि की

सब कुछ छो देने पर भी भारत ^{में} कुछ महाप्राण व्यक्तियों ने धर्म-दृष्टि नहीं छोड़ी थी और अनुभूतिशील हृदय को जड़ पाहन नहीं बनने दिया था । ईसाइयों की हिन्दुत्व-विरोधी सरगर्मियों ने हिन्दू विचारकों को अपने वेद-उपनिषद्-गीता आदि की फिर से उत्खनन के लिए बाध्य कर दिया क्योंकि धर्म हिन्दुत्व का मर्म स्थान है । यहां उसके प्राण रहते हैं । हिन्दू जाति का सब कुछ जीवन लीजिए, नष्ट कर दीजिए , बदल दीजिए और वह शान्त रहेगा ; उसके धर्म पर चोट कीजिए, वह आपकी कमी जमा नहीं कर सकेगा क्योंकि तब वह तिलमिला उठेगा । नवजातकृतिक पुनरुत्थान इसी भागीरथी का व्रत कमण्डल या गंगात्री यही है ।

उत्थान की प्रक्रिया

इसी धर्म के कारण हम अज्ञाधारण गर्व से फिर सिर उठाने लगे । हम यह भी अनुभव करने लगे कि हमारा यह विरोधी हमसे कहां बोटा है । तब यूरोपवासियों का हमारे साथ होने वाला व्यवहार हमें खतरे लगा । हमें अनुभव होने लगा कि दुनिया वाले हमें जितनी बीड़ी लगाइ है देखो हैं । इसका अनुभव बाहर पढ़ने के लिए गये हुए एवं बाहर व्यवसाय के लिए गये हुए भारतीयों को विशेष रूप से हुआ । रंग और नस्ल के पक्षपात का भी अनुभव हुआ । इसका कारण यह भी मालूम हुआ कि हम एक विदेशी जाति के आधीन हैं । हमारी राजनीतिक बागुति का भी युग आया । पुरानी और पुराने ढंग की छेती को भी हमें अपनी हीनता और असमर्थता का कारण समझना । सामाजिक दुराचारों पर भी दृष्टि गयी । दूसरे देशों में होने वाली नयी-नयी चीजों और

वाविकारों की बीर भी हमारी दृष्टि नहीं और इस प्रकार हमने इस क्षेत्र की भी अपनी ज़म्मेदारें एवं ज़िम्मेदारें देखीं। निद्रा, वातस्थ, निष्क्रियता आदि का युग खत्म होने की जा गया। नया युग जाता हुआ दिखाई पड़ा। यूरोपीय पण्डितों ने संस्कृत साहित्य का अन्वेषण, उद्घाटन, अध्ययन और मनन किया तथा उसके महत्व को स्वीकार किया। हमारी जाँचें जुतीं। पुनर्जागरण की शक्तियाँ ज़ियाशाल हो चलीं। भारत काफ़ी लो जुग था और उसी प्रकार काफ़ी लो भी जुग था। धीरे-धीरे किन्तु बुनियादिक रूप से उत्तम वातस्थ टूटा। उसकी पुराण प्रियता भी नहीं मस्ति परिस्थितियों से सम्मर्पिता करने लगी। जनता तक ये प्रवृत्तियाँ पहुँचीं। गान्धी युग में भारत के सभी वर्गों की जनता -- नेहरू से निरहु तक -- एक बारगी जो राजनीतिक कर्मक्षेत्र में जुतर दूध पड़ी, वह पागलों का या भावविश-बन्ध सस्ता उठाया हुआ कदम नहीं था। उसके पीछे बरसों से नवजागरण की ये सांस्कृतिक प्रवृत्तियाँ काम कर रही थीं। अनन्त सम्भावनाओं की अपने में सन्निहित ज़िये हुए एक नवीन शक्ति का भारतीय जीवन में उदय हुआ। १८८३ ई० में स्वामी दयानन्द सरस्वती की मृत्यु हुई थी और १८८५ ई० में मास्तेन्दु की। स्वामी जी ने २० वर्ष कार्य किया और मास्तेन्दु ने २१ वर्ष। फिर इन दोनों आत्माओं ने अपने अपने क्षेत्र में ऐसी सांस्कृतिक पैतना उत्पन्न कर दी कि समस्त प्रदेश जलते जाप्लावित हो उठा। शास्त्र बोध और बौद्धिक सज्जता पुनः जा गयी। धर्म रह गया तो एक एक करके सभी लौट जाने लगे। यह भारतीय संस्कृति के अनुरूप ही है कि इस धीरे वैज्ञानिकता, मोतिकता एवं बौद्धिकता प्रधान युग में भी भारतीय नवजागरण का उदय धार्मिक आन्दोलनों से हुआ। राजनीतिक नेताओं का भारत की धार्मिक परम्परा से गहरा सम्बन्ध स्थापित हुआ। तिलक, गान्धी, अरविन्द, काकोरी फेस के अनेक शहीद आदि धार्मिक मनोभावों एवं स्वभावों वाले थे। इधर भारतीय जनता भी धर्म, धर्म के संस्थापकों एवं उन्नायकों के स्वरूपों की तथा धार्मिक भाषा और शैली को ही खूब सम्मर्पित थी। वस्तु, हमारा - पुनर्जागरण धर्म से सम्बन्धित हो गया। पारस्परिक क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं ने हमको अपने मूल तत्वों की लोच की और प्रवृत्त कर दिया। धर्म का आन्दोलन धर्म की भी उसके बाह्य रूप से अलग करके आन्तरिक सत्य की ओर ले जाने लगा। पुनर्जागरण आत्मोत्थान का आन्दोलन बन गया। इससे हमको हमारा इतिहास मिला।

धर्म की जायापसंद हुई । समाज सुधार होने लगे । मन्मावैशेषों के रूप में प्राचीन वैभव सामने आने लगा । हमें हमारा प्राचीन दिगदर्श पढ़ने लगा और उस प्राचीन पर होने वाले गौरव एवं बलिमान की भावनाएं भी हमारे अन्दर आईं । हिन्दू धर्म नेता ही संस्कृति और सत्ता हो गया नेता पहले किसी भी युग में रहा ही सकता है । जब उसके लिए कोई भी मय नहीं रह गया । विदेशों से सम्पर्क बढ़ा । मविष्य की नवीन महत्वा-कांक्षाएं हममें पैदा हुई । हम सही और कल्याणकारी कल्मना करने लायक हो गये । नये विचार और नये भाव मिले । धर्म की विवेक मिली । विश्वास की न्याय और युक्ति मिली । अन्यविश्वासों पर विज्ञान का प्रकाश पड़ा । आत्मसत्य प्राप्ति में परिवर्तित हुआ । निराशा, उदासीनता, पस्ती एवं कर्मविहीन नियतिवाद अवैगपूर्ण सुधार कार्यों में बदल गया । बी० एन० जुनिया ने लिखा है, '----भारतीय पुनर्जागरण भारतीय सांस्कृतिक जीवन की नवीन यौवनावस्था है जिसने बिना प्राचीन सिद्धान्तों के जोड़े नवीन वैश्वगुणाधारण कर ली है। प्राचीन भारतीय संस्कृति ने ही वह मूलधार प्रदान किया है जिस पर वर्तमान नवाम्युत्थानी भारत ने अपना मध्य मवन-निर्माण किया है । इस प्रकार भारतीय पुनर्जागरण प्रमुखाः एक भावना का विषय है जिसने राष्ट्र के विकास की मांग के साथ-साथ धर्म, समाज और संस्कृति में विलक्षण परिवर्तन कर दिये हैं । एक नवीन आत्मजागृति की भावना का प्रादुर्भाव हुआ है । भारतीय आत्मा की कड़ी विकसित हो रही है और भारत वर्तमान और भूत कालीन विदेशी वातावरण द्वारा उत्पन्न बेडियों को तोड़ रहा है ---- इस पुनर्जागरण ने भारतीय आत्मा को उसकी गहराई तक खिटा दिया है ---- (हस्ते)---- राष्ट्रीय जीवन के लगभग समस्त क्षेत्रों को प्रभावित किया----यह ती पुनर्जागृति राष्ट्रिय भावना द्वारा आत्म-विविधयन्त्रि की नवीन पुनर्जागृति अन्तःप्रेरणा की बीज करने का प्रयास है जिसने दिव्य पुनर्निर्माण के हेतु नवीन आध्यात्मिक बत दिया----।'^१ हमारा चिन्तन सूक्ष्म भी हो चला और व्यापक भी । हम विशुद्ध सत्ता के विषय में भी सोचने लगे और विश्व सत्ता के विषय में भी । हमने मन, मनोविज्ञान और आत्मा की बातें भी

चीनी तथा इतिहास, जीवन, समाज और राजनीति को भी । अरविन्द ने लिखा,
 'जतः हमारे सामने दो सत्य हैं -- एक विद्युद्व सत्ता और द्वितीय विश्व सत्ता -- सत्ता का
 सत्य और जाति का सत्य । किसी एक को बस्तीकार करना वासान है किन्तु सन्धी और
 फलवती योग्यता तो जेतना के सत्तों को सम्मानने और उनके पारस्परिक सम्बन्धों के
 उद्घाटन करने में है।' ^१ नैतिक उत्थान की ओर भी हमारा ध्यान गया और फलन तथा
 दानवीय वृत्तियाँ हमने ज़ुमने लीं । बे०बी० कृपलानी का यह कथन है कि कांग्रेस ने देश
 का विभाजन इसलिए स्वीकार किया कि यदि हम इस प्रकार एक दूसरे से बदला लेने के
 लिए पार करते रहे तो अन्त में हम नरमझी राक्षस या उससे भी ज्यादा पतित हो जाएँगे।
 इस प्रकार नैतिक उत्थान की चाह ने हमें हानि उठा लेने की शक्ति दी । इसी पुनरुत्थान
 की प्रष्टमामि में हमारा जीवन दृष्टिकोण बदला और एगोर ने १९०४ में लिखा कि आज
 हम समझ गये हैं कि कहीं दूर जा कर अपने को क्षिपा लेना आत्मरक्षा नहीं है बल्कि अपने
 को सुरक्षित रखने का सही रास्ता है अपने अन्दर निहित शक्तियों को जागृक कर लेना। ^२
 बीसवीं सदी की हमारी समस्त क्रियाशीलताएं अपने अन्दर निहित शक्तियों को जागृक करने
 के लिए ही थी । पेशवाओं के मृत्यु का विरोध करके हमने अपने सामाजिक मनोविनोद या
 मनोरंजन को विद्युद्व करना चाहा । वैदिक शिक्षा, गुरुकुल प्रणाली, वैदिक शिक्षा, राष्ट्र
 या सम्प्रदाय, शान्तिनिकेतन आदि के द्वारा हमने शिक्षा-शक्ति को जागृक और प्रभाव-
 शाली बनाना चाहा । नारी शिक्षा, नारी स्वतन्त्रता, पैं का विरोध, बाल विवाह
 का विरोध और विधवा विवाह के समर्थन आदि के द्वारा नारी-शक्ति को जागृक करके
 उसके पुनरुत्थान द्वारा समाज की उन्नति का प्रयत्न किया । अन्यविश्वास एवं धार्मिक
 रूढ़ियों के विरोध द्वारा धर्म की शुद्ध एवं जागृक किया । सामाजिक रूढ़ियों, समुद्र-यात्रा-
 निषेध आदि के विरोध द्वारा सामाजिक शक्ति को जागृक किया । ब्रूतीदार और शुद्ध
 बान्दोतलों के द्वारा जाति को संगठित करना चाहा ।

१- 'डिवाइन लाइफ' प्रथम भाग, ११६

२- पट्टटामि सीतारामिया जून 'कांग्रेस का इतिहास' से उद्धृत

३- 'ट्वेन्टीथ यूनीवर्सल मेन', प्रष्ट ६

इसी उद्देश्य को ध्यान में रख कर हमें बातों को नये ढंग से समझना पडा । पुराने लोग हर उस व्यक्ति को नास्तिक कहते थे जो किसी प्रवृत्ति कठि का उत्खनन करता था। नयी जीवन-गति में इनका उत्खनन अनिवार्य था । इसलिए आवश्यकता पडी कि नयी नयी व्याख्याएं की जाएं ताकि व्यक्ति बहिष्कृत हो कर विषटित न हो जाए या पराया न हो जाए । इस दृष्टि से महाबोधदास की 'उपन्यय' नामक तथा शनिगुरु की की 'भारतीय संस्कृति' नामक पुस्तकें बहुत ही महत्वपूर्ण हैं । देश की आवश्यकता, अपनी जाफा और अपनी सुक के अनुसार गान्धी जी ने भी मृत्यों, मान्यताओं एवं धारणाओं को बदला है । प्यारेलाल दाश लिखित 'दि लास्ट फीज' और दादा धर्माधिकारी द्वारा लिखित 'सर्वोदय दर्शन' में इस तरह की नवीन व्याख्याएं प्रचुर संख्या में मिलती हैं । कन्न दादा धर्माधिकारी लिखते हैं, 'बाब लोक-सत्ता के चन्दम में, वास्तिक वह है जिसका मनुष्य को मूलभूत उत्प्रेरकत्व में विश्वास है, जो यह मानता है कि मनुष्य मूलतः उत्प्रेरकत्व है और परिस्थिति-जन्य विकारों से ही वह दुष्ट होता है'^१ गान्धी जी की व्याख्या के अनुसार स्वदेशी 'हमारे चन्दर की वह भावना है जो सुदूर स्थित वातावरण की उपेक्षा करा के हमें अपने निकटवर्ती वातावरण की सेवा और उसके उपयोग की ही और सीमित कर देती है'^२ दादा धर्माधिकारी इस स्वदेशी की 'स्वावलम्बन एवं परस्परवलम्बन' मानते हैं जो लोग सुधारकों तथा सुधारक संस्थाओं के प्रभाव में जाए थे तो पूरी तरह से बदले।

पुराने लोग भी बदले

हमारे अतिरिक्त जो ध्यान या ज्ञात रूप में पुराने की ही मानने वाले थे उनमें भी परिवर्तन हुए । हमारे विचारों की बदला में भी कमी हुई । हम्होंने भी 'नयी हवा' या 'कमाने के रुब' के अनुसार या तो कठियों को बदला या उनको नयी न्क वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की। चौटी इसलिए रखी बाहिर कि उसके पास छाल के नीचे 'मास्तिष्क' होता है और चौटी में घेल लाता है तो दिमाग को तरावट मिलती है । यज्ञीकभीत हमारे

१- 'सर्वोदय दर्शन', पृष्ठ १६६

२- 'दि लास्ट फीज', भाग २, पृष्ठ ५४६

तीन कर्त्तव्यों की याद दिलाने के लिए है। सड़ाऊं से पर के कंगूठे के पास की एक नव दबती है और इसके कामोत्थना दबती है। इस तरह की कौक-बातें कही गयीं। इसी क्रम में पौराणिक कथाओं एवं उपाख्यानो की भी तन्निगत रूप में उपस्थित किया जाने लगा। देवी-देवताओं के स्वरूप की भी ऐसी ही वैज्ञानिक व्याख्यान उपस्थित की गयीं। इनका एक मात्र उद्देश्य अपनी संस्कृति और सम्यता को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से समझाना और अपने वास्तविक महत्व को पहचान कर वात्सल्य की प्राप्ति करके आगे भी उन्नति के पथ पर अग्रसर होना था। परिणामतः रुढ़िवाद बापाद मस्तक छिन्न गया।

पुनर्जागरण के पुनः प्रभाव

इस पुनर्जागरण का एक प्रभाव तो यह हुआ कि हमारी क्रियाओं एवं दोषों का निराकरण होने लगा और हम कुछ उदार मनोवृत्ति के हो गये और दूसरा परिणाम यह हुआ कि पश्चात्य सम्यता और अंगरेजी का रोग हमारे ऊपर से छूटने लगा। रोग तो छटा किन्तु चूंकि हम ज्ञानपूर्ण प्राणा किसी से नहीं करते और सबकी बख्शाहियों पर विश्वास करते हैं एवं मनुष्य-वृत्ति वाले हैं अतएव हमने पश्चिम के भी समस्त ज्ञान-विज्ञान का अध्ययन किया। विवेकानन्द अंगरेजी के उद्भव विद्वान एवं यूरोप के तार्किकों एवं दार्शनिकों की विचारों में परम निष्णात थे। हर्बर्ट स्पेन्सर, स्टुवर्ट मिल, शेली, वॉल्टेयर, कान्ट, हीगेल, इसो आदि का ये अध्ययन कर चुके थे। स्वामी रामतीर्थ गणित, दृष्टि शास्त्र, रसायन शास्त्र, वनस्पति शास्त्र, तत्व ज्ञान, उत्क्रान्ति शास्त्र, संकर, कणाद, कपिल, गौतम, प्रबोधि, जैमिनि, व्यास, कांट, हीगेल, गेटे, फिक्क, स्मिथोत्रा, क्यांठ, स्पेन्सर, बर्किन, हेनल, टिंडाल, इनसले, बार्डन, जेम्स आदि पढ़ चुके थे। सादी, हाफिज़, रूमी, तबरीज़ आदि का भी उनका अध्ययन था। 'बाटोबाय्फाकी' पढ़ने से पता लगता है कि क्वाहरलात नेक ने कियासीफी, काल बुक एण्ड किम, स्काट, डिकेन्स, थेकरे, वेल्स, पाश्चागोरस, डेविलियन्स गेरीवाल्डी बुन्स, टाउन्सेन्ड का 'रशिया एण्ड यूरोप' आदि का गम्भीर अध्ययन किया था। गान्धी ने साट्ट की 'बन्नाहार की हिमायत', हावर्ड विलियम्स की 'बाह्यनीति', वेल्स का 'स्टैंडर्ड खोल्मसनिस्ट', एडविन आर्नल्ड की 'गीता', मेडम बुक्विट्स्की की 'की टू कियासीफी', टालस्टाय का 'बैकुण्ठ के हृदय में है' रसिक का 'बन्दू दिव सास्ट', कार्लोस की 'विमुक्तियां और विमुक्तिप्राप्ति', न्यू टेस्टामेंट,

बाह्यबल आदि का भी सम्मोहतापूर्वक मनन किया था। हिन्दी के समाचार पत्र और पत्रिकाओं का भी यही लक्ष्य था कि हिन्दी के पाठक पूर्वी और पश्चिमी ज्ञान कोष से पूर्णरूपेण परिचित हो जाएं। 'विषयों' की विविधता से स्पष्ट है कि 'सरस्वती' के संस्थापक और सम्पादक ज्ञानवर्द्धक साहित्यिक पत्रिका बनाना चाहते थे। वे प्राचीन और वर्तमान पर समान बल देते थे^१ सम्भवतः यह स्याद्वादी मीवृत्ति थी कि इस अर्द्ध-शताब्दी भर हम अंगरेज से लड़े लेकिन हमने यह माना, 'अंगरेज स्वभाव से अच्छा होता है। वह किसी की झुलाई करना नहीं चाहता --- स्थिति को पूरी तरह सम्मानने में उसे कुछ देर लगती है पर जब वह चीजों को साफ साफ देख लेता है तो अपना कर्तव्य करने से नहीं चूकता'^२ परिणाम यह हुआ कि कुछ हमारे पास था और कुछ हमें बाहर से मिल गया। अध्यात्म हमारा अपना था ही, भौतिकवादी प्रवृत्तियाँ पश्चिम से मिलीं; इन्द्रियवाद हमारे पास था, बुद्धिवाद वहाँ से मिल गया; निवृत्ति हमारे पास रह गयी थी, प्रवृत्ति की ओर फिर रुचि बाग्रत हुई; हस्तकलाएँ हमारे पास थीं ही, मशीनें हमें पश्चिम से मिली गयीं, आदि। प्राचीन व्यवस्थारं टूट गयीं किन्तु उनसे बना मन नहीं टूटा, नई व्यवस्थारं लाद दी गयीं किन्तु वे मनोविज्ञान न बना पायीं।

समन्वय

भारत की यह नवीन पूंजीवादी बर्णव्यवस्था अंगरेजों की भारत विजय का परिणाम है। इस प्रकार भारतीय बर्णव्यवस्था में अंगरेजी पूंजीवाद, व्यापार, उद्योग और पूंजी — तीनों प्रकार से घुस आया। भारतीय पूंजीवाद की प्रकृति, स्वरूप और विस्तार, अमाश्रितियों द्वारा निश्चित किया गया। जिस समय यह कार्य हुआ उस समय का अंगरेजी राज्य और भारत में उसके प्रतिनिधि सीलही जाने सामन्तवादी ढाँचे के थे। उनके द्वारा भारत में सामन्तवादी प्रवृत्तियाँ ही — और वे भी पराधीनता से पूर्णतः अमिश्रण ही कर — भारत में फैलीं और जब तक यह हुआ तब तक अंगरेज पूंजीवादी देश हो गया और हमसामन्तवादी के सामन्तवादी रह गये। सामन्तवाद ही पूंजीवाद अधिक सुगठित एवं

१- 'सरस्वती' का हीरक ज्यन्ती विशेषांक, पृष्ठ ७

२- मोतीलाल नेहरू बन्म छाब्दी स्मृति ग्रन्थ, पृष्ठ १२३

शक्तिशाली लगता है और अंगरेज हमसे अच्छा लगने लगा । इसीलिए जहाँ एक भी अंगरेज ने भारत में एंग्लिंड की एक बार भी छानि नहीं की, वहाँ विभूत भारतीयों की देश-प्रेमता की एक अटूट श्रृंखला है । जो आविष्कार अंगरेज भारत में लाए उससे जीवन का कुछ रूप आधुनिक-सा भी लगने लगा । जब पुरातन प्रवृत्ति और आधुनिकता, सामन्तवादो, पूँजीवादो और अध्यात्मवादो प्रवृत्तियों आदि में समन्वय स्थापित करने की समस्या बीसवीं सदी के भारत के सामने उपस्थित हो गयी । वीरा मिश्र ने स्वीकार किया है कि 'भारत के पास एक बनीसी चीज़ है नये विचारों की पुराने सारे में ढाल लेना और विप्लवों की भी इस प्रकार बात-बैसा बना लेना कि वे उसके इतिहास की प्रचुरमान प्रक्रियाओं के एक अंग मात्र हो जाएं । इसी चीज़ ने उसे आज के आपादमस्तक कफ़कारी देने वाले परिवर्तनों के युग में भी — जब कि रूस, चीन, अरब, जापान, मित्र आदि देश इन परिवर्तनों से छित गये हैं और उनकी अपनी संस्कृतियाँ चिथड़े-चिथड़े हो रही हैं — पूरी तरह से संभाल रखा है' ^१ यह भारत ही है जहाँ आज की बातों का आख्यो में भी जानवरों और फल-फल पौधों की सम्पूर्ण मानवीय व्यक्तित्व और मानवीय भावनाएं प्रदान की जाती हैं, ज्योतिषियों से यात्रा आदि के बारे में श्रुति पूछा जाता है और इसके साथ साथ मशीनों का उपयोग, विज्ञान पर विचार-विनिमय और युक्तिवाद के आधार पर विचार-विमर्श किया जाता है। यहाँ ऐटमिक रीरेक्टर, सूर्य-ताप-प्रयोग, वैज्ञानिक अनुसन्धान तथा गो पूजा नागपूजा, एवं सरित पूजा साथ साथ चलती है। यहाँ ग्रहों की पूजा होती है। यहाँ सूर्य की जल और पित्तों की तर्पण किया जाता है। यहाँ मशीनों की पूजा होती है। गंगा की माता भी माना जाता है और उसकी छाती में श्वेद करके लम्बे गला गला कर उन पर पुत भी बान्धा जाता है। यहाँ मध्य युगिन और नवीन प्रवृत्तियों का गठबन्धन होता है बीमारियों के विशेषज्ञ भी होते हैं और बीमारियों की फाड़ फूँक तथा मृत्युंजय का जाप एक साथ होता है । ऐसा समाज कर्म और आस्थाशून्य नहीं हो सकता । भारत विज्ञान और कर्म की विवाह वैदी है। यहाँ एक विचार समष्टि की छाया की दूसरे विचार समष्टि की छाया अपने में समा लेती है। यहाँ विमाक रेखा संगम क्षेत्र बन जाती है । यहाँ मध्ययुगिन प्रवृत्तियों वारे, एक दो नहीं, पांच ही बाठ राजा एक ही रात में सामन्त से बुझा बन

गये । समस्त यूरोप आज तक एक राष्ट्रीयता की भावना में बाबद्ध न हो पाया और चौदह विभिन्न भाषाओं वाला, अनेक जातियों वाला एवं अनेक रीति रिवाजों वाला भारत देखी देखी एक राष्ट्र बन गया । चौदह और पन्द्रह अगस्त के बीच मात्र के समय में संसार में का सबसे बड़ा उपनिवेश संसार का सबसे बड़ा प्रजातन्त्र हो गया । यहाँ हृदय और मस्तिष्क पूर्व और पश्चिम, पुरातन और नवीन गैल मिल रहे हैं। बहुमुत दृश्य है। आधुनिक हिन्दी साहित्य इसी बहुमुत दृश्य की साहित्यिक अभिव्यंजना है । वस्तुतः उसमें सामन्ती और मध्य-युगीन प्रवृत्तियाँ भी हैं और नवीन प्रजातन्त्रवादी एवं साम्यवादी भी । बाबू सम्पूर्णानन्द एक समाजवादी के रूप में प्रसिद्ध हैं । भारत की एक प्रमुख उपलब्धि -- योग के विषय में उनका कथन है, ' मेरी ऐसी धारणा है कि योगाभ्यास ही उपासना का सच्चा मार्ग है और किसी उपाय से बांझित कल नहीं प्राप्त हो सकता । यह कहना गलत है कि बाबकल का मुख्य हतका अधिकारी नहीं है। ' समाजवाद पारम्पर्य उपलब्धि है और योग भारतीय। इस प्रकार हमारे विचारक पूर्व और पश्चिम का समन्वय कर रहे हैं। यहाँ रामचंद्र शुक्ल ' रसाल ' भी हैं और ' औद्य ' भी , मेघिलीशरण गुप्त भी हैं और पन्त भी। आज हिन्दी में कई पीढ़ियों और प्रवृत्तियों के लेखक हैं । मेघिलीशरण गुप्त, ब्रन्दावनलाल वर्मा आदि एक पीढ़ी के हैं; पन्त, महादेवी, रामकुमार वर्मा आदि दूसरी पीढ़ीके ; मास्नलाल कुर्वेदी, बच्चन, दिनकर, नीरज आदि की अपनी अपनी प्रवृत्ति है, औद्य, यशपाल, पहाड़ी, नागार्जुन आदि का अपना दृष्टिकोण है ; बंचल, भगवतीधरण वर्मा, नरेन्द्र आदि अपने ढंग से चल रहे हैं और धर्मवीर भारती, आदि प्रयोगवादियों का अपना दृष्टिकोण है । संस्कृति से मिली सामाजिक प्रकृति के कारण हिन्दी सबको स्नेह-दुतार से अपनाये हुए है ।

आधुनिक युग में भी आधुनिक नहीं

इस सांस्कृतिक पुनर्जागरण का यह प्रभाव पड़ा कि यद्यपि आधुनिकता हमारे पास लाई गयी किन्तु हम आधुनिक नहीं हो पाए । हम आधुनिकता का स्वांग मात्र मरते हैं । हमारे अन्दर अब भी रोमांटिक प्रवृत्तियाँ मरी पड़ी हैं। रोमांटिसिज्म का जीवन और विकास इस भावना पर भी आधारित है कि जो बीत गया है वह बहुत अच्छा है। उसके बिना

उन्नति, बुद्धि और समृद्धि की कल्पना मात्र कल्पना है। आधुनिक प्रवृत्ति इससे बिल्कुल भिन्न है। जो० जो० जूंग ने लिखा है, 'आधुनिक व्यक्ति वह है जिसका निर्माण अभी अभी हुआ है और आधुनिक समस्या वह है जिसका उद्घरण अभी अभी हुआ है किन्तु जिसका समाधान भविष्य में है --- अबतक वही आधुनिक है जो वर्तमान के प्रति पूर्ण रूप से जागरूक है --- इस प्रकार वह पूर्ण रूप से ऐतिहासिक हो गया है। उसका उन मनुष्यों के बृहत् समान है जो ईश्वर से सम्बन्ध नहीं जो रीतियों-रिवाजों की शृंखलाओं में पूरी तरह बन्धे रह कर जीवित रहते हैं --- आधुनिक व्यक्ति ने मध्ययुगीन मानव की सम्पूर्ण आध्यात्मिक मान्यताओं और विश्वासों को तो दिया है और उनके स्थान पर भौतिक सुरक्षा के उनके कल्याण के, क्याता एवं परोपकारिता के सिद्धान्तों को अपनाया है।' स्पष्ट हुआ कि आधुनिकता का लक्षण नहीं है। यह बात नहीं है कि जो कल था उसकी औसतता जो आज है वही आधुनिक है। वस्तुतः आधुनिकता जीवन की एक दृष्टि है। आधुनिक व्यक्ति के सोच-समझने, रहने-सहने, विश्वासों और धारणाओं आदि की दृष्टि उसके पहले के युगों के व्यक्ति की दृष्टि से बिल्कुल बदल गयी है। इतिहास की गति-विधि के प्रति जागरूक रह कर उसकी गति को तीव्रतर बनाना और उसके साथ चलना-आधुनिकता है। हम अपने सांस्कृतिक नवजागरण की प्रवृत्तियों के कारण सही मानों में आधुनिक नहीं बन सके। आधुनिक होने का ढिंढोरा मात्र पीटते हैं। ढिंढोरा पीटने वाले लोगों में की उम्र नयी है। उनमें तारुण्य का उन्माद है। स्कूर्ति है, धीर्धन है। अत्यम और उच्चरुक्ता है। उनमें साहस है पर सहिष्णुता नहीं है। उनके पास प्रचार के साधन हैं पर साधना का बल नहीं है। नये-पन की सर्वग्राही चाह है किन्तु भारत के वसती जीवन की मांगी नहीं है। उनके नथन में जाकर्षण है किन्तु ईमानदारी नहीं। उनके पास तर्क बल है किन्तु भारत के व्यापक जीवन का स्मरण अनुभव नहीं। और, भारत का वास्तविक जीवन है कैसा ?

देशात का जीवन

भारत का जीवन मूलतः दो भागों में बंटा है -- १-देशात का जीवन, और २-सहर का जीवन। भारत के गांवों का जीवन बड़ा ही शानदार था। सर वात्स्य भट्टनाक ने उन्हें अपने में पूर्ण तथा विदेशी आक्रमणों से वा सम्बन्धों से परम स्वतन्त्र, लघुतम गणराज्य कहा है। पुराने जंग की छेती, साथ से बने सामान और पशु के बाजार पर थे गांव

आत्मनिर्भर थे। जमीन गांव कौंटी या पंचायत की होती थी। परिवार के सदस्यों की सामूहिक ज़िम्मेदारी होती थी। जमीन पर कुषक परिवार का परम्परागत अधिकार होता था। जमीन राजा की नहीं होती थी। एक कमाता है, बहुत जाते हैं। कुषक परिवार कमाता था और अन्य भागीदारों की तरह कुषक परिवार की कमाई में राजा का भी एक भाग होता था। परिणामतः वहां जमीन के ~~निकट~~ ^{लिये} कमी फगड़े हो नहीं होते थे। यहां सब सब के लिए पैदा करते थे। किसान सबके लिए जनाव पेटा करता था, मोची सबके लिए जूते बनाता था और बुनकर सबके लिए कपड़े बनाते थे। बीजों की जदला-बदली कर ला जाती थी, वे बेची नहीं जाती थीं। सम्भवतः इसीलिए आधुनिक युग के सबसे अधिक अनर्थकारी तत्त्व-सिन्धे- उस समय नहीं था। बीजार जोधित रखने के साधन थे और इसीलिए उनकी पूजा होती थी। सामान्यतः परिवार से व्यक्ति का व्यवसाय निश्चित हो जाता था। शादी या तीर्थयात्रा के अतिरिक्त बाहर जाने की आवश्यकता भी नहीं पड़ती थी। ये चित्र धुंधले रूप में जब भी 'वज्र देहात' में देखने को मिल सकते हैं। अंगरेजों ने इन देहातों का सारा नक्शा ही बदल दिया। जो जमीन उस क्षेत्र विशेष के भी राजा की नहीं थी उसे कलम के एक फटके से सात समुन्दर पार के विदेशी राजा ने अपनी मान ली। किसानों और ग्राम पंचायतों के किस अधिकार को किसी ने भी चुनौती नहीं दी थी उसकी पूरी तरह व्यापारी साम्राज्यवाद ने क्रूरतापूर्वक हानि ली। देहात में समाज के बाठ वर्ग हैं :--
 १- अंगरेजों के आरा बनाए गये, २-वे जमींदार जो देहात में कमी-कमी जाते हैं और ज़िम्मेदारी नहीं करते-कराते, ३-इस दूसरे प्रकार के जमींदारों की जमीन को लगान पर जोतने वाले किसान, ४-उच्च, मध्य और निम्नस्तर के कारखानेदार, ५-खेतों में काम करने वाले मजदूर, ६-बडई, लोहार, मोची, कुलाहे आदि, ७-छोटे-मोटे दुकानदार और ८-साहू-महाजन। देहात का वास्तविक जीवन उपर्युक्त पहले, दूसरे और तीसरे प्रकार के प्रथम वर्ग के लोगों में नहीं पाया जाता। इनका देहात और देहात के जीवन से कोई भी सम्बन्ध नहीं होता। ये देहात में भी यथासम्भव शहर का एक पर बर्बाद होते हैं। अधिकतर इनका जीवन शहर अथवा शहर के वातावरण में बीतता रहा। देहात में इनका कार्य छप्या बसुलना मात्र होता था। इन लोगों ने जनता की बहुत दुखी किया। उनकी पसु-सा बना दिया। शरीर होड़ कर बाब के विकसित मानव का कोई भी चिह्न उनमें नहीं मिलता। इनका जीवन क्षिप्त दयनीय, इनका मन उससे भी अधिक दयनीय। जैसे इन्हीं दयनीय लोगों की ध्यान

में रख कर महादेवी ने लिखा :-

ये निर्धन के दीपक-सी
बुझती-सी मृक-व्यथारं
प्राणों की चित्रपट्टी में
बाँकी-सी करुण क्यारं ।^१

ये जमींदार 'माई-बाप' 'सरकार' बन कर मगवान बन गये और आज तक लोग उनकी पूजा करते हैं। उनकी उनके ऊँचे स्तर से नीचे उतारने और उनकी जमींदारी लेने वाली कांग्रेस सरकार को ये ही क्षणीय मानवेंतर मानव कोसते और गालियाँ देते हुए जुने गये हैं। इन्होंने लोगों को जनपद, काश्त, लालची, चालची, जन्मविश्वासी एवं कुशा बना दिया। इन्होंने लोगों को निर्धन बना दिया। उनकी 'प्रजा' मल मानव-जीवन का अनुभव पीढ़ी-दर पीढ़ी नहीं कर पाती थी। उनकी प्रजा का वार्षिक और भौतिक जीवन स्तर पिछड़ेपन की बालिरी सीमा पर था। 'फूल' को इन्हीं का प्रतीक मान कर जैसे महादेवी ने सान्त्वना दी:--

मत व्यथित हो फूल । जिसको तुझ दिया संसार ने
स्वार्थमय सबकी बनाया है यहाँ करतार ने ।^२

किन्तु यह वर्ग भी उप न रह सका। मली जिन्दगी की चाह ने इन्हें जनजाने की राश्ट्रीय बना दिया। राजा उत्तानपाद की गीद की चाह ने जैसे बालक को 'फूल' बना दिया हो। प्रेमचन्द का हीरो यही है। मध्य और निम्न भणियों के भूमिपतियों की भी अवस्था कुछ विशेष अच्छी नहीं थी। लगान की बाधिता, ज़ेतों का छोटा होना, भूमि के टुकड़े होते रहना और लगातार बढ़ने वाले कृषि बादि के कारण इस वर्ग का प्रायः विघटन ही होता रहा। ये लोग प्रायः तबाह हो गये हैं। इस वर्ग के लोग बड़े बड़े 'मालिक' और पट्टे-पट्टे 'मनूर' या 'मुंशी' हो गये हैं। ये किसान भारत के वास्तविक प्रतीक हैं। ये किसान प्रायः रुठियादी, मजदूरों की अपेक्षा अधिक शान्त, व्यक्तिवादी, हथर-उधर बिहरी हुए, सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़े, सुस्त, स्क्रस, ठहर से प्रायः दूर, मान्यवादी, कर्मभीरु, लज्जा शील, वास्तिक, सन्तोषी, भीरु और पस्त तबियत के होते हैं। ये ही हमारे भारत के हलधर या हलपति हैं। ^नइसका मस्तिष्क अविकसित रह गया है। वैज्ञानिकता-सून्य है। उनके भौतिक उत्पादन एवं निर्माण का शिल्प जानान्धताम है। बाहरी दुनिया उनके लिए कुछ

१- यामा , प्रुष्ठ २७

२- वही प्रुष्ठ ३०

है ही नहीं। जीवन तदैव आशंकाओं और आपत्तियों से घिरा रहता है। धार्मिक कठिणों के पालन और प्रकृति-पूजा में उनकी आस्था है। वे पराजित मनोवृत्ति के हैं। परम्पराओं के दास हैं। इनका दृष्टिकोण सीमित और संकुचित है। कठिणों और रीतियों के सहारे इनका जीवन परिचायित होता है। रामलीला, नाटक-नौटंकी, कथा-वार्ता, पूजा-पाठ इनके सांस्कृतिक कार्यक्रम हैं। ताया जिनकिन ने लिखा है कि हमारे ये देहात गन्दे ही रहते हैं किन्तु यहाँ के लोग बहुत साफ होते हैं।^१ प्रतिदिन स्नान, बीती का प्रतिदिन बांटा जाना, बूल्हे-बीके और कर्तन की दोनों समय सफाई आदि बातें उनकी स्वच्छता एवं पवित्रता-प्रियता की सूचक हैं। सताव्वियों से भी अधिक काल तक धर्म और नीति की शिक्षा से वंचित होने पर भी उनमें कुछ बातें असाधारण महत्व की हैं। यहाँ का कोई भी प्राणी अवांछित, स्तब्ध, सम्बन्ध एवं सम्बन्धों विहीन नहीं होता। वह ममत्व की ऊष्मा से अनुप्रेरित तथा अपनत्व की प्रेरणा से अनुप्राणित रहता है। वह माँ-बाप, भाई-बहन, रिश्तेदारों-पट्टीदारों, पड़ोसियों, गाँव-बंवार, समाज एवं अपनी घरती माता का होता है। उसको चाहने वाले होते हैं; वह अनचाहा नहीं होता। जिसका अपना कोई भी नहीं होता, उसका भी कोई न कोई हो ही जाता है। लोग लड़ कर भी एक हो कर रहते हैं। देहात में उम्र और अनुभव की बहुत इज्जत होती है। अपने परिवार के बन्दर सबका अपना अपना महत्वपूर्ण स्थान होता है। आर्थिक और सामाजिक महत्व का पूर्ण रूप से तिरस्कार किये बिना भी उम्र और रिश्ते की बढाई-ओटाई का भी ध्यान रखा जाता है। अपने से बड़े सम्बन्धी, 'मान' का मान रखा जाता है मले ही वह असाधारण रूप से निरंक हो ही। आदर पद और फन से स्वतन्त्र है। आज भी देहात में बड़ा जायु की मंगिन बी के लिए 'मंगिन बाबी', और इसी प्रकार ऋहार दादा, 'कीरिन दादी' आदि सम्बोधन जुने जा सकते हैं। फन और शिक्षा का भी अपनी अपनी काह आदर लिया जाता है। जदब और कार्यदे से रहने वाले की बात बड़े भी बड़े आदर से जुने हैं सामाजिक मामलों में बिरादरी और पंचायत का निर्णय एवं मान्यता असंदिग्ध है। गाँव अपना गाँव, घर अपना घर, छेद अपने छेद और आदमी अपने आदमी होते हैं। एक गाँव का रिश्तेदार सारे गाँव का रिश्तेदार और गाँव की लडकी सारे गाँव की लडकी होती है।

जमी भी लड़की वाले गांव का कोई भी आदमी, वरं वाले गांव के किसी भी आदमी से वैसा हो हंसी-मजाक करता है मानो अपने सगे रिश्तेदार से हंसी-मजाक कर रहा हो । गांव के आदमी को जमी अबसर मिलता है सभी वह वर्ष में पन की माघना से मरा हुआ अपने गांव लौटता है क्योंकि यह गांव उसका है, यह घर उसका है, जब कि शहर उसका नहीं, वहां का घर उसका अपना घर नहीं । पीढ़ियों के सम्बन्ध का सशक्त प्रभाव और आकर्षण होता है। प्रत्येक परिवार का एक 'कुल देवता' होता है जिसकी विशेष पूजा होती है और जिसका उस परिवार के साथ धैर्य सम्बन्ध होता है। ईश्वर और सामान्य देवता के साथ हमारा सम्बन्ध वस्तुतः बहुत ही अनौपचारिक ढंग का होता है । कोई दुराव नहीं, कोई हिमाव नहीं, कोई फार्मैलिटी नहीं । व्रत, त्योहार, उत्सव और पर्व सेक्तों की संख्या में होते हैं । तीर्थ यात्राएं होती हैं। देवताओं की सवारियां निकलती हैं । देहातों की एक विशिष्ट संस्कृति है -- अर्थात् कृषि संस्कृति । वहां एक सौन्दर्य है -- अर्थात् गरीबी का सौन्दर्य , कृत्रिम सौन्दर्य, कम का सौन्दर्य, प्रकृति का सौन्दर्य । वहां की एक व्यवस्था है -- अर्थात् असहायता, आपत्ति, निर्धनता, कम और जीवन की संजीवनी में समन्वय-स्थापन के परिणामस्वरूप उद्भूत व्यवस्था । यह प्रातिशीला की विरोधिनी नहीं किन्तु चूंकि दूध की बत्ती बिल्ली मट्ठा भी फूंक फूँक कर पीती है अतएव यह स्वार्थ, संतक और साथ ही साथ विश्वसनीय अतिथि है । इस संस्कृति की प्रवृत्ति शताब्दियों के अनुभव से निर्धारित एवं निर्मित हुई है ।

अंगरेजों ने भारत में जो भूमि-व्यवस्था बनाई उसके कारण भूमि व्यक्तिगत सम्पत्ति हो गयी अर्थात् क्रय-विक्रय की वस्तु । 'परीती माता' का भाव समाप्तप्राय हो जाता । गांवों की आत्मनिर्भरता समाप्त हो गयी । रुपये का महत्व बढ़ा । स्कूला कुत्त हो गयी । उत्पाद विक्रयार्थ होने लगा । जमीन का का साधन हो गयी । उसे रखने और बढ़ाने का लोभ बनमा । मुकदमेबाजी बढ़ी । देहात अब एकलित नहीं रह गये । उन पर शहर की शहरियत और समस्त देश की परिस्थितियों का प्रभाव पड़ने लगा । प्रेमचन्द ने देहात का जो चित्रण किया है उसमें ये सब प्रवृत्तियां हैं । उनका और राजकुल सांस्कृत्यायन के साहित्य का देहाती जिस नवीन चेतना से सम्बन्ध है उसका दर्शन मध्ययुग में अस्तमव या क्योंकि तब के देहात पूर्णतः एकलित थे। अधिक जमीन बंटाई पर उठाई जाने लगी, दान में दी जाने लगी और लान पर उठाई

जाने लगी। उद्योगों के बमाव में रेली पर दबाव पड़ा। जमीन बंटने-कटने लगी। उन्नति
 शीघ्र कृषि कर्म स्वप्न हो गया। अपने उग्रतम कमिशापों के साथ निर्धनता बड़ी। बाव-
 पिबाव करने वालों के कारण जनाज बेघरे पर भी धन की कमी पुरी नहीं हुई। गरीबी
 के कारण काम दोषपूर्ण होने लगा और दोषपूर्ण कार्य के कारण गरीबी बढ़ने लगी।
 कण लेना प्रारम्भ हुआ। लोग साहूकारों और कमींदारों के कुंठ में फंसे लगे। रेली के
 मासिक कम हो गये। मृत्तिलीन किसान बिक्री हुए। रेली पर काम करने वाले मजूरों की
 संख्या बड़ी। कारिन्दों का महत्व बड़ा। देहातों में न पूजोपास है, न जीयोगोकरण।
 वहाँ विजुल सामन्तवाद है। कारोगरों के नाम पर बडई, लोहार, मोची, शीट-मीट
 चीनार आदि भेदे एवं कलात्मकता-युक्त व्यवसायो पार जाने लगे। जिनकी रीटी के लाले
 पड़े हैं उनमें कलात्मकता का प्रचार ही भी तो भेदे। देहात पड़े लाले आदमियों की रुकियों
 और आकांक्षाओं की पूर्ति में असमर्थ हैं और इसलिए ऐसे लोग वहाँ नहीं पार जाते।
 सरकारी पदाधिकारी -- चाहे वे कितने ही शीट क्यों न हों -- वहाँ सबसे अधिक आदर
 पाते हैं। कृषि की अधोगति चरम सीमा पर है। अत्यन्त लालन, पुराने ढंग की रेली, आदि
 अनेक दोषों के कारण न अच्छे ढंग से रेली हो पाती है, न उत्पादन बढ पाता है। रेली
 के योग्य उपजाऊ जमीन या तो ऊँचर पड़ी है या उस पर फाड़-फाँटा और कंगल छे है।
 विदेशी सरकार को इसके लिए बर्द भी नहीं होता था। जानकारी और सुविधा के बमाव
 में कड़े के रूप में गौबर की कला डाला जाता है। कंगरीजी व्यवस्था में जमीन का मासिक
 रुपय वालों को बना दिया। जो रेली का अपना होता था वह किसान के का मासिक
 नहीं रह गया और जिसे के की धूल भी नहीं लाती थी वह उसका पति हो गया। पतित्व
 पैस के बल पर कायम रह सकता था। वस्तु, कमींदार सीधे-टोके के से किसान से बिक्रीय
 रुपया चाहते और लांचने लगा। उनके बीच का मधुर सम्बन्ध -- मानवीय रिश्ता -- समा
 हो गया। जमीन उपेक्षित हो गयी, रेली काष्ण हो गयी और किसान की निचोड डाला
 गया। फिर भी न पुरा पडा तो जमीन छीन ली गयी। किसान बेदखल हो गया। पैस
 की कमी से हन्सान पीस डाला गया। किसान बर्बाद हो गया। ऐसे किसान का कमींदार
 से ले कर बकील तक सभी अपने-अपने ढंग से लोणन करते हैं। प्रेमचन्द ने किसानों की इन
 सारी स्थितियों का बडा ही मार्मिक चित्रण उपस्थित किया है। जी तोड कर कम करने
 वाला किसान न बीचन में नाय पा सका, न मरते समय ॥ भारत के देहात का किसान

बर्बादी की बाबिलो हद तक पहुँच गया । अब वहाँ भी परिवर्तन होने लगे हैं । शिवा तथा शहर का सम्पर्क, फा और सुविधा की चाह और प्रयत्न, दण्ड-विधान के मय से मुक्ति एवं उन्हें न मानने तथा उनके बने रह सकने की सुविधा तक उनकी पहुँच जादि ^{उपे} ~~जाने~~ बहुत अधिक परिवर्तित कर रही है ।

शहर का जीवन

अंगरेजी राज्य के पूर्व भारत में प्रायः तीन प्रकार के शहर थे -- १-राजनीतिक महत्व के, २-धार्मिक महत्व के, और ३-व्यापारिक महत्व के । इनमें प्रायः दो वर्ग के लोग रहते थे :-- (१)-प्रशासनाधिकारी वर्ग, (२)-व्यापारी वर्ग, (३)-कारिगर जादि । मजदूरों नाम की कोई जाति नहीं थी । पहले और दूसरे वर्ग के लोग प्रायः सम्पन्न होते थे और शेष, बच्चे-मते लाते-मोते लोग थे । इन शहरों में हाथ की कारिगरी का नमूना दिखाई पडा करता था । विविक्तताओं से पूर्ण कारिगर कारिगरी का प्रकार था । पिलास के लिए, बेमव-प्रदर्शन के लिए और आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए चीथें बनाई जाती थीं । बनाने में असाधारण परिश्रम और कुशलता की आवश्यकता थी । वस्तुएं मजदूरों और कलात्मक होती थीं । कारिगर स्वतन्त्र रूप से भी काम करते थे और राज्य द्वारा निम्न न्यक्त मजदूरी पर भी । सामान्य जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति सामान्य कारिगर करते थे । राजनीतिक दृष्टि से सामन्तशाही की गुलामी थी, गांवों की अपेक्षा ये शहर अपेक्षाकृत अधिक गतिशील, सक्रिय, समीप, समृद्ध एवं उन्नतिशील थे । बाहरी दुनियान् दुनिया के सम्पर्क में रहते थे । दूसरे देशों से सम्पर्क भी था । कुछ अधिक विकसित थे । जीवन में विविक्तता, विविक्तता, कीचुल्ल, आश्चर्य, उषेनना और सनसना अधिक थी । अच्छी और कलात्मक वस्तुओं के ग्राहक और संरक्षक वहाँ अधिक थे जतः ये यहाँ बनाई भी अधिक जाती थीं । आदर्शवादो एवं आध्यात्मिक दर्शन, धार्मिकों का अनुशासन तथा कठिनों एवं परम्पराओं का पालन अधिक होता था । यह संस्कृति मूलतः और तत्पतः धार्मिक थी ।

अंगरेजों ने भारतीय कारों का भी रूप बदल दिया । कारिगरी और कला-कीचल समाप्त कर दिया । अंग्लि की बनी वस्तुएं जूत और निर्वाध रूप से भारत में जाने लगीं । भारत की बनी वस्तुओं के अंग्लि जाने पर बहुत अधिक कर बडा दिये गये । तेयार माल की चाह इन्वा माल भारत से अधिक मंगाया गया । वस्तुओं के यातायात का व्यव

और उसकी कुंठि की दर बढ़ा दी गयी। भारत में अंगरेज व्यापारियों की विशेष सुविधा दी जाने लगी। रेलें चला दी गयीं। भारतीय कारीगरों को अपने राज-रहस्य बताने के लिए विवश किया गया। प्रदर्शिनियों में अंगरेजी माल की अधिक जाकर्णिक रूप में उपस्थित किया गया। इन सबके परिणामस्वरूप भारतीय नगरों की कला-कारिगरी नीपट हो गयी। कारीगरों का सामाजिक महत्व घट गया। मन्त्र यूरोपीय कौशल के अनुकरण में तथा यूरोप से जाने वाली सस्ती वस्तुओं ने भारतीय कारिगरी का बाजार और संरक्षण समाप्त कर दिया। शहर वाले कारिगरी की काह नौकरी और भोकरों में भी सरकारों नौकरी की अधिक धार देने लगे। हिन्दी के सम्पूर्ण तथा साहित्य में बाधुनिक युग के चित्रकार, दर्जी, वर्तन बनाने वाले, कुम्हार, खिलौने बनाने वाले आदि जैसा कि ऐसे वर्ग वालों का सम्मान एवं गौरवास्पद रूप में चित्रण कहीं भी न मिलता। इन नगरों में समाज के निम्नलिखित वर्गों के लोग पाए जाते हैं :-- (१)-पूंजीपति, उद्योगपति, व्यापारपति आदि, (२)-छोटे व्यापारी और दुकानदार, (३)-छोटे-मोटे नौकर और मजदूर, और (४)-व्यावसायिक वर्ग, जैसे डाक्टर, वकील, अध्यापक, लेखक, मैजर आदि। इन्हीं मध्यवर्ग के बुद्धिवादी और शिक्षित लोग होते हैं।

पहला वर्ग ही बाधुनिक भारतीय बुद्धिवादी है। इसका उदय उद्योग, व्यापार और बैंकों आदि के प्रचार के तथा कुछ उद्योगों के -- थोड़े बहुत औद्योगिकरण के -- साथ हुआ है। १९०५ ई० तक यह औद्योगिक वर्ग पर्याप्त रूप से सशक्त और जागरूक हो गया था। इसकी उन्नति अंगरेजी साम्राज्यवाद के उद्देश्यों की पूर्ति में बाधक होती और अंगरेजी साम्राज्यवाद की उन्नति इसकी वधौगति की सुदृढ़ता थी। अंगरेज किसी भी सच्चे भारतीय को सम्मान न दे सकता था और उसका आदर कर सकता था और सच्चा भारतीय अंगरेजों के द्वारा सतत क्रिये जाने वाले अपमानों और अपनी उन्नति के रास्ते में बाड़ी जाने वाली रुकावटों से झुझने लगे थे। हिन्दी सिता में टकराव हो गयी थी। यहीं से राष्ट्रीयता का उदय हुआ। भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में जब यह वर्ग आया तो इसकी मार्गदर्शक भारतीय उद्योगों का संरक्षण, पिकावशील उद्योगों की सरकार सहायता की प्राप्ति, उच्चतम नौकरियों की प्राप्ति और उसकी प्राप्ति की सुविधाओं की प्राप्ति, पद और प्रशासन में भाग पाने की सुविधा आदि। बीसवीं सदी के प्रथम दशक से ही ये लोग राष्ट्रीय आन्दोलन में जाने लगे थे। स्वदेशी के समर्थन और विदेशी के बहिष्कार

में इन्होंने पर्याप्त उत्साह से भाग लिया क्योंकि इससे अन्तर्गतता लाभ इन्हीं का था । १९१६-२० ई० के बाद कांग्रेस में इन्हीं लोगों का महत्व और प्रभुत्व बढ़ा । तब से इन्हें कोई डर नहीं था क्योंकि वे तब की कमजोरियों को पहचानते थे । इनमें से कुछ ने पहना तब और उत्पादन किया मिल के कपड़ों का । जॉर्ज जॉर्ज के विरोध, ट्रस्टीशिप आदि के सिद्धान्तों में इन्होंने अपने लाभ की सम्भावना देख ली थी। इन्होंने कांग्रेस का झूठ और छिपे दोनों रूपों में साथ दिया और इसी प्रकार कांग्रेस ने भी इनका साथ दिया । इनके बिना शायद कांग्रेस का अस्तित्व ही अकल्पित हो गया था। बात यह है कि भारत का औद्योगिकीकरण अभी तबहीं में ही और वह भी कुछ ही कंपनियों के हाथों में केन्द्रित है। भारत के समस्त आर्थिक जीवन को उद्योगपतियों के कुछ पराने ही पारचायित और नियंत्रित किया है । १९४० ई० में जशोबेन मेहता ने लिखा था कि हमारे देश की ५०० प्रमुख औद्योगिक कंपनियों को २००० डायरेक्टर बताते हैं । डायरेक्टरों की वास्तविक संख्या ८५० ही है क्योंकि ७० व्यक्ति १००० विभिन्न कार्यों के और १० जादूमी २०० कार्यों के डायरेक्टर थे। सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ५२ व्यापारों के डायरेक्टर थे। इन उद्योगों के लिए जिन बैंकों से रुपये लिए जाते हैं उन पर लगभग १२ व्यक्तियों या घरानों का अधिकार है। आज के युग की समस्त आकर्षक और मजकिली वस्तुएं, समस्त सुख और सुविधाएं, सारे अधिकार और स्वत्व, दान और दया, धर्म और पुण्य, और साथ ही साथ, सारी कूटनीतियां और झूठारें, सारी विकृतियां और व्याधियां, मानस और मानसशास्त्र की सारी गुरुपतारें और विद्रुपतारें, अनीति और अत्याचार एवं क्रूरतारें और विभीषिकारें इनके यहां मौजूद हैं । ये कर्मराज भी हैं और यमराज भी; इनके बाहर स्वर्ग है, भीतर नरक । आज के इस व्यर्थमान युग में देश को सांस्कृतिक, बौद्धिक, राजनीतिक और सामाजिक जीवन पर भी इन्हीं का प्रभाव है । उन्कनोटि की सभी पत्र-पत्रिकाएं, सभी प्रकाशन संस्थाएं इन्हीं के अधिकार में हैं। कला, कलाकार, कलाकृतियां, उनका प्रकाशन और प्रचार आदि सब इनकी दयादृष्टि के भित्तारी हैं । सरस्वती पहले राधा की दासी थी, अब तन्मीपति की दासी हो गयी है। सम्भवतः इसीलिए जापादमस्तक कंकड़ोंर देने वाला एवं मौलिकरूप से ज्ञान्ति की जाग करना उम्मे वाला साहित्य हिन्दी में नहीं है । सामान्य जनता के व्यापक प्रतिनिधित्व की प्रवृत्ता के आवेग का भी यही मौलिक कारण है तथा उदारता एवं प्रगतिशीलता और पूर्वावादी राष्ट्रीयता के दृष्टिकोण का भी यही कारण है । इस साम्यवादी जीवन-दृष्टि ने अभी ऊपरी परातल को ही चौड़ा-बहुत रखाया है ।

छोटे मोटे व्यापारियों और दुकानदारों का कोई विशेष महत्वपूर्ण योग नहीं है।

ये बेचारे एक काह से सामान जमा कर अपने स्थान पर ले जा कर यथासम्भव अधिक मुनाफा ले कर दूसरों के हाथ बेच देते हैं। पूंजीपतियों की तुलना में ये 'बेचारे' हैं, 'बेचारी' हैं और गरीबों की दृष्टि में 'लाडूजी', 'मेया जी' या 'मालिक'। वर्ष प्रधान युग में अधिक वर्षसंकय या वर्ष संकट के लिए धन देना और लेना, पुंजी बनाना, अधिक काम लेना, जनीति और पैसानी जादि सबकुछ उनके नारा सम्भव है। इनका लक्ष्य होता है लक्ष्मी या करोड़-पति बनना, पतला पहनना, तर-माल खाना और पुरोहिताँ-वफाचरों-बेथों-डानटरों से मित्रता बनार स्था रखना। पहले वर्ग की तरह वह वर्ग भी आत्मविहीन जड़ या पित्रुत बुद्धि द्वारा प्रेरित होता है। इनके यहां 'लामशुम' और 'आ लक्ष्मी जी सहाय' बराबर अंकित रहता है। लोग कहते हैं कि युद्ध और प्रेम के क्षेत्रों में तब कुछ सही है। ये नाह इस युद्ध में 'व्यापार' को भी सम्मिलित किये हैं। इनका भौतिक स्तर प्रायः अत्यन्त दयनीय होता है। ये धार्मिक रुढ़ियों और परम्पराओं का पालन करते हैं और 'पंडितजी महाराज' तथा 'पुजारी जी महाराज' को बड़ी 'सखा' करते हैं। 'फाँदा' के रूप में ये भी दया-धर्म-पुन्य करते हैं क्योंकि इनके आदर्श रूप प्रथम वर्ग के लोग तोर्य स्थानों में धर्म-शांति बनवाते हैं, मन्दिरों का पुनरुद्धार कराते हैं, नये मध्य विशाल मन्दिर बनवाते हैं, स्कूलों, कालेजों और पाठशालाओं को उपजुत करते हैं, पञ्चालिक स्कूल, विद्यालय, महाविद्यालय और स्नातकोत्तर महाविद्यालय जादि जुलवाते हैं। अब ये चन्दा भी देने लगे हैं लेकिन बहुत चीज-सम्पत्ति कर। पहले ये माई रुपये गाड़ते थे, अब बैंकों में रखने लगे हैं, पहले रोकड़-बही बत्ती की और अब बत्ती तो रोकड़ बही भी है पर उसके साथ साथ 'लेवरे', खोद चुक और ये ढंग से स्काउंट भी बने लगे हैं। साहित्य पर इनका कोई भी प्रभाव नहीं पड़ा। साहित्यिक साहित्य ये पढ़ते भी नहीं -- नयी पढ़ाई इनके लिए निरर्थक भी है -- उसकी काह 'माया', मनोहर कहानियाँ, जासूसी उपन्यास (जो रेलों के इक्कीलर स्टाल पर जुलते हैं) पढ़ते हैं। अब बाजार का भाव जानने के लिए ये दैनिक समाचार पत्र भी खरीदने लगे हैं और बेचारे समाचार-पत्रों को भी कन्च करने लगे हैं। चीन के जाक्रमण के समय एक दिन एक पंचारी जी भी भरे सामने मेरु की की युद्ध-नीति सम्बन्धी क्योग्यता और असमर्थता सिद्ध कर रहे थे।

शहरों में रहने वालों का तीसरा वर्ग। इसकी दुर्गति के बारे में जो कुछ भी कहा जाए कम है। यह वर्ग इतना अधिक कण्ठि रहता है कि वह कण तीन महीनों की पूरी की

पूरी मजदूरी से भी नहीं चुकाया जा सकता । पांच-पांच बीर ह:-ह: वर्गों की आयु तक के बच्चे मजदूरी करते देखे गये हैं। जावास समस्या का यह हाल है कि मजदूरी करने वालों के जानान्ध परिवारों की रहने के लिए एक एक कमरे भी नहीं मिल पाते । बम्बई में कभी कभी तो एक-एक कमरे में १० से लेकर १६ आदमी तक रहते हुए पार गये हैं । बम्बई की जनता का तेरह प्रतिशत भाग सड़कों के पार्श्वस्थित फाड़ेंडियों पर रातें बिताता है । सफाई की तरफ से जो लापरवाही बरती जा रही है वह अन्तर सड़ते हुए फूँडे के ढेरों और मैले से भरे बरतों गडों के रूप में स्पष्ट है ।^१ शौचालयों के अभाव में हवा और मिट्टी में गन्दगी बढ़ जाती है । मकान के नाम पर एक चौंठरी जिसकी न तो^{को} नांव, न छिन्नी, न हवा के जाने जाने की पर्याप्त व्यवस्था; दरवाजा इतना नावा कि बिना मुँहके प्रवेश असम्भव; पर्दा करने के लिए मिट्टी के तेल के पुराने टिनों की आवार और उस पर पुराना बोरा; प्रकाश का प्रवेश भी बड़ी कठिनाई के बाद । इन्हीं घरों में प्रजनन, जावन, विवाह, सात-सठ बीर पुत्र-पुत्रव्यू के दाम्पत्य जावन । यौवन की दुर्दम उम्रों की नितैज्यता की शरण लेनी पड़ती है ।) लाव और शर्म के सौन्दर्य और उसके अस्तित्व का गला घुंट जाता है । पशु-सा बनना पड़ता है । दो-दो सौ परिवार वाले के लिए दो नल , १६ से २० परिवारों के लिए एक-एक शौचालय । कभी कभी सार्वजनिक शौचालयों की शरण । रहने के कमरे दरवाँ-जैसे । इतने नीचे कि आदमी ठीक से खड़ा भी न हो सके । कमरे में इतना बन्देरा कि बाहें बन्देरे की ही अभ्यस्त हो कर देखें । रजनीपाम दत्त ने एक ऐसा उदाहरण भी प्रस्तुत किया है जहाँ १५ फीट लम्बे और १२ फीट चौड़े मकान में ६ परिवार अर्थात् २० प्राणी थे जिनमें ३ गर्भवती महिलाएँ (या मादाएँ) भी थीं और जहाँ रात में ६-६ चुल्हे जलते थे ।)^२ अंगरेजों ने अपना माल जो भारत में सस्ते दाम पर खाना प्रारम्भ किया तो केनारे कारीगरों ने अपने जीबारों से 'राम राम' कर लिया और जाली हाथ क्षीणोन्मुखी श्रम बेचने लगे । श्रमिक बड़े । श्रम की महत्ता घटी । पैस का मूल्य बढ़ा । मजदूरों की पैसा कम मिली । परिवार के स्त्री और बच्चे भी मजदूरी करने जाने लगे । हथर देह मेहनत से सब दूर और जीवन परवृत्ताओं और सीमाओं से मजदूर और उधर श्रम-विहीन हरामखोरों का पैस और बफिकार तथा पद और साधनों से सम्पन्न जाती जीवन ,

१- 'डिपटेल कमीशन की रिपोर्ट', प्रुम्ब २७१

२- 'हंडिया टु-डे', अक्टूबर १९

यानी रैलान की दुकान-वा मन और खूब की तरह खिंचती जाने वाली वासना । सुन्दर और
 सुन्दर शरीर बड़े और छोटी वासनाओं की कुरियों से दिन या रात किसी भी समय और
 कहां भी होता है जाने लगे । प्रकृति की मालकारिणी व्यवस्था एक गिलास पानी जैसी
 हो गयी । अम का, अमिक बिका ; तन बिका जीवन बिका, ; कला बिकी, कलाकार
 बिका ; बुद्धि बिकी, बुद्धिमान बिका । तृतीय महायुद्ध में यह कर्ज कफान और नमक तक
 के लिए मोहताब हो गया । जीवोत्पत्ति नगरों की शान-शौकत दूना ही गयी । उजाड़ और
 निर्जन सड़कों के दोनों ओर मच्छरों हमारातीं वाली बाजारें बस गयीं । पस्तुओं के दाम
 पांच गुने और दूध गुने बढ़े । मजदूरी नहीं बढ़ी । बीसी बाजारी कुल कर लेती । इस कर्ज
 का कमाई हाथ से मुंह तक जाते-जाते समाप्त हो जाता है । अम का फल से कोई भी
 सम्बन्ध नहीं रह गया । सामूहिक और बड़े पैमाने की मशीनों वाली उत्पादन प्रकृति में
 यह कर्ज वर्षावारा हो गया है । अमिक, अम और उसके उत्पादन में कोई भी आंतरिक
 सम्बन्ध नहीं रह गया । बाव कोई भी एक पस्तु एक मजदूर की बनाई हुई नहीं रखती ।
 जाति और वंश की श्रेष्ठता समाप्त हो गयी । धर्म का सामाजिक महत्व खत्म हो गया ।
 मूल्य और मान्यता खंडल गयीं । कठियां और प्रथारं ~~का~~ बदल गयीं । विश्वास बदले ।
 परिवार का स्वरूप बदला । नारी मुक्त होने लगी । पैसे की कमी के कारण इस कर्ज के बज्ज
 अधिक पठ भी नहीं पाते और यदि पठ भी जाएं और अच्छी श्रेणी में उत्तीर्ण भी हो जाएं
 तब भी समाज में उनके लिए अच्छी जगह बड़ी हो कठिनाई से मिलती है । मिलने का उपाय
 इन्हीं लोगों की जमा इष्टि प्राप्त करना है। प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण युवक को प्रतिभा
 इन्टरव्यू कपी ल्योडे से परास्त करके चूर चूर कर दी जाती है । 'डिड नाट इम्प्रिस' एक
 ऐसा बमोघ बस्त्र है जिसने जाने कितने तपस्वी 'रामों' की 'क्योप्यारं' हर ली हैं ।)
 इसके विपरीत नाय की एक प्याली पर, एक पत्र पर, टेलीफोन के सन्देश सब मात्र पर
 बच्चे-बच्चे फल आपत्तियों के उन पुत्रों की मिल जाते हैं जिन्हें पढाई के समय कुछ भी कष्ट
 नहीं उठाना पड़ा^{ता} बल्कि उनकी पढाई का खर्च प्रथम श्रेणी के गरीब छात्रों के वास्तविक
 जीवन की कमाई के फल से भी अधिक होता है । ये सब भी जानन्द करते हैं और जब भी ;
 हमें तब भीजनी क्या बाहिर की और जब भी । इस कर्ज में कोई कलम का मजूर है और
 कोई हाथी-पैरों का । कलम के मजूर की जांतों की रात-दिन का कम गड़डे में डीकल देता
 है और उस पर टूटी कमावी का चरना पठ जाता है । और हाथी-पैरों के मजूर की शरीर-

शक्ति पर क्षीणता का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। ऊपर दोनों की टूट जाती है। जीवन दोनों का इकलौता होता है। मानव का वर्तमान दोनों काहीं पर होता है। विन्तन स्वातन्त्र्य और शक्तिपूर्ण दुष्ट दोनों में नहीं होती। राज्यों, राज्यों, परम्पराओं, व्यवस्थाओं का पालन दोनों की बाधा और निष्ठा के करते हैं। वर्तमान में खेता, मार ता कर पटना, शादी-व्याह करना, बच्चे पैदा करना, सम्बन्धियों के यथा-सम्भव व्यवहार बनार रहता और अपने निगाह करते रहता, 'मातृ' की कुछ रह कर 'तरीकी' और 'बख्शी' माना और इसी तरह रहते हुए एक दिन संसार के नीचे जाना मात्र ही समाधान है। जीवन की शोटी-मोटी आवश्यकताओं एवं आजीवनियों की पूर्ति में भी ये कर्मचारी रहते हैं। समाज जीवन का संवर्धन होता है। ये जानती बातें बत पढ़ने की नहीं पाते। मजदूर अपना कृत जन्म बल्की जगति ही जाता है। समाज सामाजिक महत्त्व बहुत होता है यद्यपि दुर्भाग्य में उसकी मान्यता नहीं है क्योंकि ऐसे समाज नाम नरवाते रहना वह अपना जन्मकार समझता है। दोनों की का बोद्धि प्राप्त बहुत जल्दी ही पुनः है। इनमें दोनों की बोद्धि जागृति या चेतना नहीं है कि ये स्वयं अपनी बातें कह सकें। १९१८ के बाद ये लोग कुछ संगठित हुए और तब समाज हथियार जुटा हुआ। औद्योगीकरण और वर्ग संघर्ष की शक्ति थोड़ी-थोड़ी जाने लगी है। समाज राजनीति के क्षेत्र में प्रतिनिधित्व स्थापित उच्चकर्माधि और कुछ निम्नकर्माधि लोगों ने किया है। साहित्य में समाज प्रतिनिधित्व के लोग करते हैं जो हैं निम्न मध्यम वर्ग के किन्तु अवधारणा रूप उठा कर पढ़-लिख कर कुछ जीवन और शिक्षा लायक हो गये हैं। प्रेमचन्द ऐसी के गौरवपूर्ण चित्र हैं। उनके कथनों की प्रत्यक्ष अनुभूति किसी नहीं है ऐसे कलाकारों की रचनाएं उच्चकोटि की कलाकृति नहीं बन पाती।

मध्य वर्ग

लोहे की लकड़ी काटने के लिए लकड़ी का बंट बनाना पड़ता है। यदि कांग्रेस की लोहा और भारत की लकड़ी मान लिया जाए तो भारत की समृद्धि का काटने और लकड़ी के लिए कुछ भारतवाहियों की आवश्यकता कांग्रेस की पड़ी और कांग्रेस ने कांग्रेसी फौज-लोक लोगों का एक वर्ग भारत में इसी उद्देश्य के निर्मित कर दिया। यह वर्ग तब के भारत-वासी और मन के कांग्रेस बन गया। फौजदार यही भारत का मध्यवर्ग हो गया। बी० बी० मि

ने भारतीय मजदूरों की सूची कुछ इस प्रकार दी है:—

- १-बैंक व्यापार से सम्बन्धित ऊपर के कुछ बड़े लोगों को छोड़ कर व्यापारी कंपनियों के डायरेक्टरों, सक्रिय समीक्षकों, प्रोप्राइटरों, एजेंटों और दुकानदारों का वर्ग ।
- २-व्यक्तिगत बैंकों, व्यापारों और माल बेचने वाले कारोबारों में नौकरी करने वाले उद्योग-विशेषज्ञ, सुपरवाइजर, इन्स्पेक्टर और मैनेजर आदि विभिन्न पदाधिकारी ।
- ३-बैम्बर आफ कामर्स तथा अन्य व्यापारिक संस्थाओं से ले कर राजनीतिक संस्थाओं, ट्रेड यूनियन, जन कल्याणकारी, सांस्कृतिक और शैक्षणिक संगठनों आदि के बड़ी बड़ी तन्त्राहें पाने वाले व्यक्तियों ;
- ४-जैविक तथा अन्य प्रकार के नागरिक क्षेत्रों में नौकरी करने वाले लोगों में से सरकार के अधिकारियों और हाई कोर्ट के न्यायाधिकारियों की हस्तियत से ऊपर के लोगों को छोड़ कर बाकी सभी लोग (इनमें कृषि, शिक्षा, सार्वजनिक निर्माण, परिवहन तथा पब्लिक विभागों में नौकरी करने वाले भी हैं) ;
- ५-कमील, डॉक्टर, प्रोफेसर और प्राध्यापक, उच्च और मध्य श्रेणियों के लेक्चर और प्रवक्ता, ज्योतिष तथा अन्य प्रकार के कलाकार तथा ज्योतिषी आदि ।
- ६-बिना कमाई किए हुए मिलने वाली आमदनी, या व्यक्तिगत रूप से थोड़ी-बहुत पैसा खर्च करने से मिलने वाली आमदनी पर जीवन बिताने वाले तथा-कथित बड़े आदमी * ; सम्पत्ति कृषि स्वामित्व तथा मूस्वामित्व के अधिकारी ; ज़मीन कण्ड से निरिक्ता बाय पाने वाले और लान देने वाले कास्तकार, जमींदार आदि ;
- ७-बड़े बड़े दुकानदार, होटलों के मालिक, ज्वेलर स्टॉक कंपनियों के मैनेजर, स्कान्टेन्ट तथा अन्य व्यक्तियों आदि ;
- ८-देशांत में उद्योग या व्यवसाय चलाने वाले वे लोग जिनकी मुख्यमालिका पर पैतृक मीठी मैनेजर आदि ज़मीनारी काम करते हैं ;
- ९-विश्वविद्यालयों या उन्हीं के समान स्तर पर उच्चतम शिक्षा में पूरा समय लगाने वाले शिक्षार्थी ;
- १०-मैनेजर, जैसे पैतृक पाने वाले कर्तव्य आदि ; और

* 'द इंडियन मिडिल क्लास' , पृष्ठ १२, १३

११-माध्यमिक शिक्षा संस्थाओं की उच्चतर कक्षाओं के अध्यापक, जिंता बोर्डों और
यूनिवर्सिटी बोर्डों के सदस्य, सामाजिक तथा राजनीतिक कार्यकर्ता आदि ।

उपर्युक्त चुनौती पर एक दृष्टि डालें से यह स्पष्ट है: विदित हो जाएगा कि भारत
की अपनी सांस्कृतिक विधान-व्यवस्था में इनका इन रूपों में कोई अस्तित्व नहीं था । जब
यूरोपीय समाज-व्यवस्था भारत में लागू की गयी तभी ये अनिवार्य हुए । यह क्या भारतीयता
के मूल्यों से जन्मा था और इसकी विशेषता हुई अपने धर्म, समाज और संस्कृति से पूर्ण
अनभिज्ञता तथा यूरोपीय समाज और संस्कृति की अनुकूलता । जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है,
“---अंगरेजों ने हिन्दुस्तान में एक नयी जमात या जाति पैदा कर दी थी और वह थी
अंगरेजी पढ़े-लिखे की जमात, जो अपनी निजी दुनिया में रहती हुई थी, काम जनता से
जला-धला की और जो हमेशा ही—यहां तक कि विरोध के अवसरों पर भी—अपने शासकों के
मुंह की तरफ देखी थी”^१ इस कार्य का उद्देश्य या विनाश हमारे सामाजिक प्रवृत्तियों के
घात-प्रतिघात के परिणामस्वरूप या हमारे आवश्यकतानुसार नहीं हुआ था । यह
नफ़्तधियों का कार्य था, न कि नये मूल्यों और नयी रीतियों का आविष्कार करने वाला ।
अंगरेजों द्वारा विकसित की गयी नयी व्यवस्था की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपनी
कल्पना उठी थी । भारत की शिक्षा की व्यवस्था और जागृकता इन्हीं की ध्यान में रख
कर की गयी थी। प्रारम्भ में उनकी जारी प्रवृत्तियां अंगरेजों की प्रारम्भिक कल्पना के
अनुसार ही विकसित हुई । अंगरेजों से इनका अस्तित्व या अस्तित्व से इन्हीं के मकसद थे । अंगरेजी
व्यवस्था की प्रवृत्तियां इनका जन्म भूमि थीं अस्तित्व से इन्हींकी पोषक भी थीं । अंगरेजों
के जैसे जाने के बाद भी इनका यह अंगरेजी-पद्धति-प्रेम समाप्त नहीं हुआ । किसी न किसी
रूप में दिखाई ही पड़ जाता है -- कभी अंगरेजी बतार रहने की कामना के रूप में और
कभी अंगरेजी बेशुका बनाने रहने के रूप में। यह कार्य ज्ञान्ति तो क्या करेगा, इसके समक्ष
के प्रतीक काले रंग के गाउन तक की दीक्षान्त समारोहों से छटाते नहीं बन सकता । कहां
विद्या की सत्प्रधान ज्योतिर्मयी उज्ज्वल कल्पना और कहां विद्याध्ययन की समाधि के बाद
उसके प्रतीक के रूप में काले रंग के कपड़े की अपनार रहना ।) नौकरी जो कार्य का लक्ष्य हो
गयी । सरकारी नौकरी की कामना और सरकारी-मन्त्रि इसकी लीमा हो गयी । सरकारी
नौकरी इसकी ‘तरक्की’ थी और अपना ‘रोज्दाव’ (प्रसिद्धि ‘या’ कन्दोर्त) बनाए रखना

उसका पहला कर्तव्य हो गया । मातृकुल हुआ है, इनकी हज़ारों न पट्टे तो फिर जनता की
 शिक्षा, उसकी सामाजिक, वार्षिक, वीर्यजनक उन्नति है या न हो, कोई चिन्ता की बात
 नहीं । यह कर्तव्य बड़ी तेजी से बढ़ा । बुद्धिमान गरीब छात्र इस कर्तव्य में जा कर अपने ज्ञानदान
 का गौरव बढ़ाने वाला माना जाने लगा । इस प्रकार शहर या यह कर्तव्य की प्रतिभाएं
 यहां से खोज कर उन्हें अपने में समाहित करके गांव की प्रतिभा-विहान करता रहा । यह
 कर्तव्य जंगलों की जूपा और उनकी सम्पत्ति की बुद्धिमान भी भोगता रहा और जंगलों के
 बाद भारत की निधि का भी जानन्द लटका रहा । क्योंकि जायादा के बाद जंगल भी
 हो भी गये हों, उनकी व्यवस्था नहीं गया और जब उनकी व्यवस्था नहीं गयी तो उस
 व्यवस्था की उपज और उस व्यवस्था की सफलतापूर्वक बताते रहने के लिए अनिवार्य यह कर्तव्य,
 इस कर्तव्य का महत्व और इस कर्तव्य की प्रवृत्तियां भेजे जा सकती हैं । इसी गांव का शोधन
 किया या यों समझिए कि भारत के शोधन में यह सहयोगी बना । इसीलिए गान्धी जी
 ने लिखा है, 'लेकिन एक सिलसिला बन गया है - १५० वर्षों से भीषण समय से कि शहर
 है वह देशतियों से पैस लेने के लिए है, देशतियों से कच्चा माल ले, देश-विदेशों में व्यापार
 कर और करोड़ों रुपये कमाए । लेकिन करोड़ों रुपया देशतियों को नहीं मिलता, थोड़ा
 मिलता, ज्यादा रुपया करोड़पतियों, धनिकों तथा मातृकुलों को मिलता । शहर देशतियों
 की कुसने के लिए है ।' ^१ इस प्रकार जंगली नाति ने भारतीय समाज में एक 'दोगला मध्यम' ^२
 पैदा कर दिया जो 'युवटीप्रसाद मुकर्जी' ने 'मद्रास' की पुस्तक संज्ञा दी है जो 'देश के
 सामाजिक वार्षिक विकास में कोई भी सच्चे ऐतिहासिक महत्व का कार्य नहीं करता, जो देश
 जन-समूह से चार हाथ दूर हो रहता है और व्यावसायिक दृष्टि से भी अपने को सबसे ऊंचा
 रहता है । इनमें से अधिकतर केवल ज्ञान वसुत करने वाले मात्र हैं । बापन की सामाजिक
 और वार्षिक जंगलों की यथार्थ प्रवृत्तियों से इनका कोई भी परिकल्प नहीं है । भारतीय संस्कृति
 के प्रति इनकी निष्ठा संस्कार और सदाचार से सुचारु तक के बीच भरमा करती है । इनमें से
 बहुत कम लोग सामाजिक दृष्टि से शान्तिकारी होते हैं --- भारतीय संस्कृति सम्बन्धी इनकी
 जानकारी कुछ भी नहीं होती --- इनकी सामाजिकता जितनी अधिक नगण्य है उतना ही
 अधिक वे अपनी संस्कृति और सम्पत्ति, रत्न-सज्ज, बोल-चाल, बात-ढाल, और-वरीक पर

अभिमान करते हैं।^१ सांस्कृतिक दृष्टि से यह सौकील होते हैं और सांस्कृतिक दृष्टि से ही ये दौंगले भी होते हैं। और कारणों से हममें से कुछ लोग धर्म और दर्शन की ओर अधिक मुक्त जाते हैं। इन लोगों ने हमारी स्थिति को नवीन रूप देने में कोई भी महत्वपूर्ण कार्य नहीं किया।

इस क्रांति में परिवर्तन

बीसवीं सताब्दी के आते न जाते इस क्रांति के कुछ लोग काफी बदल गये। बात यह है कि यह क्रांति एक प्रकार से हमें का पीदा था। उसको एक पारंपारिक सम्प्रदाय या संस्कृति में भी बहुत गहरी नहीं थी, क्योंकि अंग्रेजी साम्राज्य के अतिशय व्यापारों ने इस भाव को भी चिर हिलाने के लिए प्रयत्न कर दिया। अंग्रेजों के व्यवहारों और नस्ल सम्बन्धी पक्षपातों तथा जीवण से ये छटपटा उठे। बातें उन्हें चुभतीं। उधर, सांस्कृतिक पुनर्जागरण ने हमको एक नयी दृष्टि दी। उदार और निष्पक्ष यूरोपवासियों के अध्ययन, सौम्य एवं भारत की प्राचीन महानता सम्बन्धी निष्कर्षों ने भी उन्हें प्रेरणा दी। मैथिली शरण गुप्त ने लिखा :—

हैं रह गये कदापि हमारे गीत आज रहे उहे

पर दूसरों के क्लम भी साक्षी हमारे हो रहे।

परिणाम स्वरूप इस नये क्रांति की पुरानी प्रवृत्तियाँ कुछ बदली जाँतीं। यह जाग्रत हो कर सम्मिलित गया। अपने मौलिक दोषों का पूरी तरह से निराकरण तो नहीं कर सका किन्तु दृष्टिकोण को व्यापक राष्ट्रीय, सांस्कृतिक और प्रातिष्ठित करके देश के परिवर्तन में यह बहुत सहायक हुआ। गान्धी जी की जादूई पर चल कर इस क्रांति ने अपने और जनता के बीच की खाई को भी पाटने का कुछ कार्य किया। कांग्रेस के बान्धोत्तम ने इस क्रांति की पहली बार कम्पनीरा पा। इस क्रांति की पश्चिमी सम्प्रदाय की अनुकरण की प्रवृत्ति का सामान्य भारतीय जनता ने व्यापक तिरस्कार किया। इस कारण भी यह क्रांति सम्मिलित। यह राष्ट्रीय हो गया। फिर भी जो वास्तविक है उसका स्थापन अनुकरण नहीं ले सकता। हमें का पीदा अपनी पीढ़ी से बन्हा नहीं हो सकता। अंग्रेजों का मध्यम समाज का

१- 'मार्कंडेय इंडियन क्लर', पृष्ठ २४

२- भारत माता, पृष्ठ ७

स्वाभाविक परिणाम था । यहाँ का ऐसा नहीं था । यही कारण है कि सांस्कृतिक पुनर्जागरण की उर्वर भूमिका में पल्लवित पुष्पित होने पर भी भारतीय मध्यवर्ग द्वारा रक्ति वाधुनिक हिन्दी साहित्य एंग्लैंड के मध्यवर्ग द्वारा रक्ति साहित्य से बहुत उत्कृष्ट न हो सका । अपमान और अनादर तभी जाता यह कर्ण-हृद-हृद की तरह था । जिसके अन्दर गहराई नहीं है या जिसकी कंठ मजबूत नहीं है, शिक्षित या हल्की मायुक्ता उसकी स्वाभाविकता होती है । वाधुनिक युग में इस कर्ण ने विवेक-विशेषन नेतिकता और हल्की मायुक्ता की वृद्धि कर दी । जीवन के सभी क्षेत्रों में यह देखी जा सकती है । हमारी राजनीति, धर्मनीति, जय-नीति, मनोरंजन आदि में हल्की मायुक्ता भी है । गहराई तक हम सोच ही नहीं पाते और यदि सोचें भी हैं तो उसे व्यवहार में ला नहीं पाते । साहित्य में यही दिशाई पड़ता है । प्रेमचन्द के प्रेमाश्रमों और सेवासदनों के पीछे, रामनरेश त्रिपाठी के 'पथिक' के पीछे, 'राक्षस' की वात्रमवासिनी जीता और यशोधरा के पीछे हल्की मायुक्ता का वर्तमान है । भारतवर्ष के लोखे मध्यवर्ग की अवसाय स्थिति ने हमें बहुत अधिक प्राचीनमुखी कर दिया था । ऐतिहासिक उपन्यासों और नाटकों के रूप में यह मध्यवर्गीय निराशावाद और मायुक्ता कंठ ही गूढ़ रूप में अभिव्यक्ति होती है। जैसे चारी चम्कारें रक्तों हुए भी मध्यवर्ग का अन्तर लोखता था जैसे ही सभी प्रकार की शक्तियाँ रक्तों हुए भी प्रवाद के नाटक-नायिकारं 'हाय' 'हाय' करती-रहती है । समर्थ कलाकार ने रक्ति का हृदय प्रेम से कमजोर कर दिया । यह कमजोरी — यह मायुक्ता प्रवाद के उस चन्द्रगुप्ता में भी है जो ऐतिहासिक दृष्टि से भारत का प्रथम सम्राट है । सम्भवतः नारी उसकी सबसे बड़ी कमजोरी है । यह मध्यवर्ग बाब की बात को किसी सुदूर ऐतिहासिक या ज़ैमिक प्रागैतिहासिक युग के व्यक्ति से कहता-वाता है । मन की गहराई के किसी कोने में कहां किसी प्रकार का डर छिपा है जो अपनी बात अपने मुख से नहीं कहने देता, और बाब यह बात कहने की नहीं रह गयी है कि यह मध्यवर्ग कंगरेजों से कितना अधिक डरता था । हमारे समाज का एक मात्र नायक — यह मध्यवर्ग — कुछ उतना फीका, कुछ उतना क्षुब्ध, कुछ उतना ही हल्का या कितना विराटा की पद्धिमी, कांसी की रानी, क्वनार आदि का नायक ।) बीस्वीं शताब्दी के बीच और पाँचवीं दशक में इतिहास का यह ब्रह्म कुछ कुछ उतरने लगा । उपन्यासों के पात्र वाधुनिक समाज के होने लगे किन्तु मध्यवर्गीय मायुक्ता बनात हल्का रोमांसवाद यहाँ भी चरित्र रहा। चाहे यशपाल हों, चाहे नागाधुन, बीस हों या लक्ष्मीनारायण मिश्र, हैं तो सभी मध्यवर्ग

के ही। जागरण अंशान की कमजोरी नहीं समाप्त कर पाया। इसका सबसे ज्वलन्त उदाहरण मध्यवर्गीय धर्मवीर भारती का प्रथम उपन्यास 'गुनाहों का देवता' है। भाषा और शैली की वसाधारण मोहकता के बाद इस उपन्यास का सबसे बड़ा आकर्षण -- जिसने शरत बाबू की कृतियों की ही तरह 'गुनाहों का देवता' को तरुण-तरुणियों में बहुत लोकप्रिय बना दिया है -- वह मध्यवर्गीय फिल्ली रोमांस है जिसके कारण तरुणी बन्दा नन्ही बच्ची की तरह ठगान करती है। इस शिष्टी भावुकता में मुकुंदी जी है परन्तु वह गहराई नहीं जो मिलन के आनन्द की गम्भीर मर्यादित रूप दे सके और विद्रोह के दुःख को अपने की शक्ति दे सके। यह मिलन की हलाहल और विद्रोह की आत्महत्या में बदल देती है। बन्दा में यही भावुकता है। उसके अन्दर अपनी प्रेमिका को जलाने का नैतिक शास्त्र नहीं और उसकी निर्मूल भावुकता में इतनी उदात्तमुक्ति नहीं कि वह बिन्दी के प्यार को दुलार सके। निर्मूल क्रूर होता है और बन्दा सुधा की किता कीरात है बिन्दी की मांग का क्रूर मूलाक उठाता है। यह स्वस्थ दृष्टिकोण नहीं। यह मध्यवर्गीय शहर की पूर्ण रूप से अपना न सका और देशात से अपना मानसिक सम्बन्ध तोड़ न सका। उसका 'देशात' 'कंगरेजों' द्वारा नष्ट-प्रष्ट किया गया दयनीय देशात कम, उसकी अपनी कल्पना का रोमांटिक देशात अधिक है। इस निर्मूल मध्यवर्गीय के पास मोरां और राधा की भावुकता नहीं, जीता और राम का वियोग नहीं, सूर-केसा समर्पण नहीं, तुलसी जैसी स्वस्थ जीवन दृष्टि और सांस्कृतिक समन्वय की क्षमता नहीं, भैरव का पांडित्य नहीं, विहारी की कला नहीं।

फिर भी यह मध्यवर्गीय सशक्तिय है क्योंकि अपनी तमाम मौखिक कमजोरियों के बावजूद इस भी अपने भारत के लिए बहुत-कुछ किया। पराजित और सभी तरह से शोचित भारत में एक यह मध्यवर्गीय ही ऐसा था जिसके कुछ लोग नवीन भारत को जन्म दे सके। कंगरेज इसका उपयोग अपने लाभ के लिए करना चाहते थे और उन्होंने बहुत दिनों तक किया भी किन्तु समय और अनुकूल परिस्थिति पा कर उस वर्ग के ही कुछ लोगों ने अपने की अन्तर्गतत्वा देश और जाति की सेवा में ला दिया। पुनरुत्थान और पुनर्जागरण के कार्य में इस नये मध्यवर्गीय ने बहुत अधिक भाग लिया। ये नवीन शिक्षण और ज्ञान के प्रवर्तक थे और जो नया भारत बना उसके नेता थे। यही वर्ग भारत का बुद्धिजीवी वर्ग हुआ, भारत का मासिक हुआ, भारत की आत्मा बना। निम्नवर्गीय जागृति, स्वीत्याह और छात्र था; तथा

तथाकथित उच्चर्ग ह्यात्म एवं ह्येतन । दोनों परास्त थे ; निष्क्रिय थे । सक्रियता -- नाई
 किसीभी प्रकार की नहीं न हो -- यदि थी या सम्भव थी तो केवल इसी नये मध्यर्ग में ।
 इस युग में बौद्धिक उन्नति का सबसे अधिक महत्वपूर्ण माध्यम विश्वविद्यालय या स्नातकोत्तर
 विद्यालय हो था । इस नये मध्यर्ग ने इन्हीं के द्वारा जैसा सामाजिक शास्त्रों, अंग्रेजी
 साहित्य, संस्कृत, इतिहास आदि का अध्ययन किया । प्राचीन और नवीन भारत का
 अध्ययन भी ~~इन्हीं~~^{इन} विश्वविद्यालयों में हुआ । भारत से सम्बन्ध रखने वाले तथ्यों और उनकी
 व्याख्याओं से -- जो इन शिक्षा-संस्थाओं में पढ़ाई जाने वाली पुस्तकों में थीं -- क्वापि
 पूर्णतः औरवास्तविक चित्र नहीं उभरता था किन्तु इस अध्ययन से गतिशील मध्यर्ग को यह
 लाभ अवश्य हुआ कि वह पूरी तरह से अन्धकार में नहीं रहा । कुछ न कुछ ज्ञानास तो मिल
 ही गया । राष्ट्रीय प्रेरणा के लिए जिस एक मातृका की आवश्यकता थी वह मिलने लगी ।
 यह प्रेरणा पा कर मध्यर्ग के इन लोगों ने अपने समाज की कमियों को सुधारने का सक्रिय
 प्रयत्न इस आलोच्य काल में प्रारम्भ कर दिया । नवानता के लिए भी प्रेरणा मिली ।
 पारम्भात्य प्रभावों ने दृष्टि को पूर्णतः नीतिज्ञ तो नहीं रखे दिया किन्तु दृष्टि को
 संतुलित रखने का जितना प्रयत्न सम्भव था उतना इस क्षेत्र मध्यर्ग ने किया । लगभग प्रत्येक
 कस्बे और शहर में विश्वविद्यालयों से शिक्षा पार हुए लोग -- कानून, डॉक्टर, अध्यापक,
 वक़्तार आदि फौज गये । ये ही लोग प्रगतिशील विचारों के फैलाने के माध्यम बने । इन्हीं
 के द्वारा सामाजिक और नैतिक जीवन का एक रूप निश्चित किया गया । उन्नति करने के लिए
 एक आवश्यक उपकरण के रूप में पारम्भात्य संस्कृति और संस्कृति को स्वीकार किया गया ।
 बातियों के अन्दर भी सुधारकों का उदय हुआ । रेत, समाचार पत्र, शिक्षा और
 राजनीतिक हस्तियों ने पुरानी सीमाओं, पुराने बन्धनों और दृष्टिकोणों को नष्ट करना
 प्रारम्भ कर दिया । ऊंची जाति के लोगों में एक पत्नीयुक्त नियम-सा हो गया । नारी
 शिक्षा बढ़ी । विधवा विवाह से लोगों की फिक्र कम हो पुरी तरह से जा न सकी किन्तु
 विधवाओं की स्थिति सुधारने की मांग लगी और से उठी लगी । शासक-बहु और नन्द-माफी
 का निश्चित-सा स्वरूप इस काल में समाप्त-सा हो गया । अंगरेजों से लौटे हुए विधवा मातृकी
 प्राथमिक के पश्चात् जाति, धर्म और खान्दान में वापस लिये जाने लगे । अन्धकाराधीन विचार
 भी बरदास्त लिये जाने लगे । बातियों की सामाजिक संस्था मात्र के रूप में यह क्षेत्र बर्ग
 देखने लगा । उसने उन्हें एक शाश्वत मानवीय विमान के रूप में नहीं देखा । सांस्कृतिक दृष्टि

बाला हो गया

ये यह का कुछ अधिक उदार दृष्टिकोण और व्यवहार करने लगा। विभिन्न जातियों का पारस्परिक सहयोग बलवत् रूप से ही स्वीकृत हो गया। इस युग में सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत समझौते हुए। कठिनाय प्रगतिशीलता में बदल गया। जनक राष्ट्रीय, राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक जाक़ीलों का जाह्वान, संगठन और भुक्त्य इस मध्यकाल में ही किया। जात्मत्याग और कष्ट सहन इस काल के कुछ लोगों ने बहुत किया। ये जन साधारण के भीरुत्व में आए। यहाँ का कैफ़ारे और अस्तौष का भी तिलार बना। रस्किन, मिल, ह्यू, वाट्टेयर, टालस्टाय, मार्क्स, लेनिन आदि के ज्ञानिकारी विचार इस काल के कुछ लोगों में मर गये थे। अपनी अपनी भाषाओं के साहित्य को भी इस काल ने फिर से समृद्ध करने का प्रयत्न किया। यहाँ का साहित्य में धर्म और दर्शन की जाह राष्ट्रीयता और प्रजातन्त्र, ज्ञानिक और विद्रोह की भावना लाया। इसी काल में अफ़्रीक़ी साहित्यिक पैदा किये हैं। आधुनिक हिन्दी साहित्य इस मध्य काल के द्वारा अस्मिन्मय के लिए इसी मध्यकाल का है। महावापराद विवेकी के बाद स्मिन्मि विनिर्गित साहित्य की तुलना यदि उनके पूर्व निर्मित साहित्य से करें तो यह बात पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है। इसी मध्यकाल में दो प्रकार के लोग हैं। एक ये हैं जिनका विचार है कि उन्हें न कुछ जानना है और न कुछ भुलना है। इस काल का आधार है शास्त्र को इसके लिए कारागार-सा बन गया है। यह प्रगति धिरोधी है और प्राचीन की मानसिक दासता स्वीकार कर चुका है। इसमें किसी भी प्रकार की जिज्ञासा नहीं। यह वैज्ञानिक सत्य को अस्मान की दृष्टि से देखता है। इस काल के लोगों के लिए सभी प्राचीन ज्ञानान्त शास्त्र सत्य हैं। इसके विपरीत कुछ लोग ऐसे हैं जो कतिपय के मार से बिलुप्त मुक्त हो जाने की सलाह देते हैं क्योंकि भारत की आध्यात्मिकता ने बाक्रमणकारियों और हुंटरों से इसकी रक्षा बिलुप्त नहीं की। ये लोग भारत की दुर्दशा का दोष उसकी आध्यात्मिकता की देते हैं। इनके लिए पार्श्वत्य संस्कृति — विशेषतः साम्यवादी संस्कृति — अनुकूल है। उन्हें चीती से बिड़ और पतलून से प्रेम है। इसी मध्यकाल में जब ऐसे भी लोग पैदा हो गये हैं जो उपर्युक्त दोनों की गलत समझते हैं। सांस्कृतिक दृष्टि से मध्यकाल ने जब भी कोई सुनिश्चित मार्ग नहीं अपनाया है। यह बाबा तीतर, बाबा बटेर है और इस प्रकार इसका जीवन एक बिड़म्बना मात्र हो गया है। इसकी कोई भक्तिता नहीं, आस्था नहीं, विश्वास नहीं। यह एक सर्वविधित बात है कि बाबादी के बाद इस काल के पास कंगरीवा कपड़ों के साथ खर की धेरवानी का भी एक-दो घंट रहने लगा है। इन्हीं की

ध्यान में रख कर श्रीरामचन्द्र वर्मा ने व्यंग्य किया है, "सब पृथ्वी तो लोगों ने अपने जीवन की एक बड़ा भारी झूठ बना लिया है। ज़रा-ज़रा की बातों में लोग दुहरे कोट रकते हैं, जब बाह्य बैसा बदल लिया। एक ओर देश के उद्धार के लिए जीवन दान देने पर व्याख्यान दिया जा रहा है, दूसरी ओर लड़के की डिप्टी कौन्टरि दिलाने की कोशिश की जा रही है --- श्री रामचन्द्र, शिवाजी व लोकमान्य तिलक के बजाय लालबहादुर, झोटलाल, साहू भिखारी लाल व बाडिट आफिस के महादुर हेडक्वार्टर्स बाबू रामसहाय बीपनी लाखों बाप-बाप कर हर लड़के के हाथ में दे देनी चाहिए। इन्हीं की नज़ल जीवास्तव में लड़कों से करानी है। दुनिया बड़का झूठी है।" गान्धी जी के आदर्शवाद के अनुकरण अथवा उनके आदर्शवाद के कारण पहले हमारी कमज़ोरियाँ कुछ कबी थीं किन्तु उनके बाद या यों कहें कि स्वराज्य मिलने के बाद हमारे भीतर का मध्यस्थान मन बाहर निकल आया है। सुमित्रानन्दन पन्त के लड़कों में "बाप भी देश के अधिकांश लोग उसी शीघ्र-संज्ञित मानसिकता से परिचित हैं।" यह कर्तव्य का लेखन दो संसारों के बीच में मटक रहा है। उनमें से एक संसार मृत है और दूसरा अभी जन्म लेने में असमर्थ है। द्वितीय महायुद्ध के बाद यह कर्तव्य पूरी तरह से नष्ट भिन्न गया। यह अवसाद स्थिति में फुट फुट कर मरने लगा। यह पतलून पहनना बौद्ध नहीं सकता था और घुटनों तक पोड़ी पहन नहीं सकता था। कोट के नीचे फटी हुई कमीज और कमीज के नीचे किड़-किड़ बनिबान पहनता था। पस्ती, हार, घुटन आदि में फड कर भी यह अपने को "बाबू" रूप में ही दिखाता है। यह भीतर से जीकता ही गया और इसकी नैतिकता की दीवारें टूट गयीं। यह बुरा करने की बुरा नहीं समझता; बुरा करके उसे न क्षमा पाने की बुरा समझता है। दयनीयता यह है कि यह कर्तव्यमय रूप से जड़ हो गया है। जीवन के शरकत, उच्चतर एवं सूक्ष्मतर मान्यताओं और मानदण्डों का कोई भी महत्त्व इसके लिए नहीं रह गया है। संस्कार, कर्म और अध्यात्म के बारे में यह "पंडित जी" की आज्ञा, सामाजिक कर्तव्यों के बारे में रुढ़ियों और परम्पराओं की व्यवस्था और देश के विषय में या तो अपने अफसर की प्रशन्नता का अनुशासन या फिर अपनी भीतिप्रधान रुढ़ियों और वासनाओं की उष्णताओं का सैत मानता है। यह कर्तव्य इतना जड़ हो चला है कि कुछ भी जीने की तैयारी नहीं है। ज्ञान के क्षेत्र में अपने से बड़ों की बातें और निष्कर्ष और देश के विषय में अत्युन्नत विधि-निषेध स्वका दृष्टिकोण है। दूर तक मौलिक अंश अपने समझ के अनुसार यह सोचता ही नहीं। यह अपनी जानकारी का भी आदर नहीं करता

परलोक का दण्ड-विधान चुंकि बाँलों से दिखाई^{नहीं} पड़ता और यह परीक्षा भी जाती ही नहीं
 जतख परलोक का डर समाप्त हो गया । गहराईयों के जमाव में यह जड़ जाकबणों से
 ऊपर उठ नहीं पाता । इसका परिणाम यह हुआ है कि यह 'यम नियम' को फेंकार सम्मत्ता
 है । इसके पास यदि वास्तवा नाम की कोई चीज़ रह नहीं है तो वह केवल मानव स्वभाव की
 कमजोरियों और उनके स्थायित्व पर ही ; नहीं तो यह का पूर्ण रूप में जनास्था वाला हो
 गया है । यह का इसलिए सामाजिक रुढ़ियों को तोड़ने लगा कि सबसे उसकी जड़ वासना द्वारा
 होती है या अकसर तथा ऐसे ही लोग -- जिन्हें वह महत्त्वपूर्ण सम्मत्ता है -- इसके इस
 कार्य से प्रसन्न होते हैं या इसे दक्षिणानुसी या 'बाउट बाफ डेट' नहीं समझते । निर्धन ,
 काती, कमंग एवं जगध हरिकन वाला से विवाह करने ज्ञानिा करनेवाले नयसुवक कहाँ मिलते
 हैं ! सुनसुरत ब्राह्मणतर वाला से विवाह करने को नहीं हूत वाले कई ब्राह्मण युवक तैयार हो
 जाते हैं । तत्ताक प्रिय है -- इसलिए नहीं कि उसके पीछे कोई ज्ञानिाकारी दृष्टिकोण
 है ; बल्कि इसलिए कि कई नये शरीर भोग के लिए मिल जाते हैं । बाटा की दुकान पर
 ब्राह्मण नौकरी जैसा इसलिए नहीं कि वह चमड़े के जूते का व्यापार करने में कुछ बुरा नहीं
 समझता बल्कि इसलिए कि शीक पूरा करने के लिए जिनके रूपमें बाहिए उतने वह अन्यथा
 नहीं कमा पाता । पहले के सत्याग्रह संग्रामों की प्रतीयमान अकलताएं ये दुश्य उपस्थित
 कर सकती थीं किन्तु यदि ऐसा न हो पाया तो इसलिए कि तब गान्धी जीवित थे । इस
 मध्यका और उज्जका को अपनी खाली तिजोरियों को भरने की , पैस पंजी बढाने की जयवा
 अपनी जेब गर्म करने की इसकी लालसा रहती है कि ये किसी भी समय जलता की पीछा दे
 सकता है । यह दयनीय मध्यका बाब अध्यात्म की उपेक्षा करता है किन्तु अपने 'बड़े' का
 दाव है । इस का में फिर दिखावा बढ गया है। वास्तविकता की कमी हो गयी है । यह
 भारत के प्राण और भारत के वास्तविक रूप -- देहात -- से मानसिक दृष्टि से अब भी
 दूर है और इसीलिए माकलतात चुर्वेदी ने लिखा है, 'हम तो इस शहराती साहित्य लिखी
 हैं । पीछे से विमागी देवाओं को हूँड कर उनकी रसों पर भिनकती या सूकों पर बनकती
 हन्हाओं के बशीमुत जब उनकी तात्तियां जुन लेते हैं, हम निहाल हो जाते हैं।' यह मध्यका
 कैस अपने जीवन में किसी को अपना गुरु नहीं समझता कैस ही साहित्य क्षेत्र में भी अपने

१- 'सम्यक्त पत्रिका', फाल्गुन २००० संख्या में प्रकाशित, 'साहित्य का' शीर्षक लेख से ।

गुरु-शिष्य-परम्परा का वन्त कर दिया है। जैसे इसके जीवन में शोषण और अनैतिकता है वैसे ही इसके द्वारा निर्मित साहित्यिक वातावरण में भी शोषण और अनैतिकता है। जैसे इसके जीवन में गहराई नहीं, केवल ऊपरी चमक-दमक और दिखावा है वैसे ही इसके द्वारा रचित साहित्य में भी अब शैली की चमक, भाषा का शौन्दर्य, कला का आकर्षण अधिक है। जैसे यह हर नये कौशल का दोषाना है वैसे ही इसके द्वारा रचित साहित्य का स्वरूप भी शैली और भाषा का नया पन अधिक लिये है। साहित्य में भी नवीनता का खग्राही मोह छतना बढ़ गया है कि दस-दस और पन्द्रह-पन्द्रह वर्षों में नये वाद चल पड़े हैं। दार्शनिक गहराई अब मध्यमों के जीवन में कम है और इसके साहित्य में भी कम है। यशो-लिप्ता जीवन में भी है और साहित्य में भी। व्यावसायिक वृत्ति अब मध्य वर्गों के जीवन में उतरी-उर प्रधान होनी गयी है और इसकी साहित्यिक वृत्तियों में भी। जीवन में भी उच्चैःश्रिता है और साहित्य में भी। गुटबाजी जीवन के अन्य पक्षों में भी है और साहित्य में भी। जीवन में भी चोरी भरी है और साहित्य में भी। जैसे जन मंगल की भावना का क्यन मात्र जीवन में है मगर जन-मंगल कौनों दूर है वैसे ही साहित्य में जनमंगल का नारा जोरों से जाता है किन्तु जनमंगल उससे होता नहीं। फेररीनारायण शुक्ल ने लिखा है, 'कवियों का समुदाय जिस (मध्यम) वर्ग से जाता है उसकी जड़े सामान्य जीवन के बीच नहीं बनी हैं। यह शिक्षित, दीक्षित और शिष्ट वर्ग देश की जीवन-सरिता के ऊपर ही उतराता हुआ स्वर से उधर बह रहा है'।^१ इसलिए इनकी कविताओं में क्रान्तिकारिता का प्राधान्य है। 'मारत मारती' और बच्चा इसी मध्यम वर्ग की भावनाओं और अनुभूतियों से अनुप्राणित थे और यही इनकी कथाधारण लोकप्रियता का रहस्य है। साहित्यकारों के बीच का स्नेह और वैमनस्य इसी मध्यम वर्ग मन का स्नेह और वैमनस्य रहा है। यह मध्यम वर्ग यथार्थ से दूर रहा और इसकी रचनाओं में भी यथार्थ का आनास मात्र — सैद्धान्तिक या कल्पना प्रधान रूप ही — मिलता है। जिस तरह की विद्वता अब वर्ग के पास है इनकी रचनाओं की सम्मान के लिए उसी तरह की विद्वता — या विरक्ति मन और मनोवृत्ति — चाहिए। रामकुमार वर्मा, 'बसक', मुनीश्वर, काशीरामन्द्र माधुर आदि के सामाजिक स्तरों की नाटकों में यही मध्यम वर्ग विशेष रूप से चित्रित है। पन्त ने ठीक ही लिखा है, 'किन्तु हमारे निष्प्राण

प्रेरणाशून्य साहित्य में उपेक्षा की मध्यवर्गिय रुग्ण प्रवृत्तियों का चित्रण ही बाज सुनने की कौशल की कमी की वजह से बन गया है और वे परस्पर के अस्कार-प्रदर्शन, लांछन तथा घात-प्रतिघात का दौर बन गयी है जिससे हम कुंठित बुद्धि के साथ संकीर्णहृदय की छीरी बा रहे हैं।^१ इस मध्यवर्ग का शास्त्र भी मुक्त हृदय का शास्त्र नहीं रह गया है और रुदन की मुक्त हृदयका रुदन नहीं है। यह सैदान्तिक रंजीत रंजता है और सैदान्तिक रोना रोता है। महादेवी के रुदन के विषय में प्रिंसिपल विश्वमोहन कुमार सिंह ने लिखा है, "बापकी रोने की एक वादत ही हो गयी है — रोने की वादत ही नहीं, रोने में बापको आनन्द आता है — सुतरीं, बापकी दुःखों से पाठकों के हृदय में दुःख का संसार नहीं होता, न बापकी प्रति सहानुभूति के भाव का ही जन्म होता है। एक लम्बा पाठक जानता है कि बाप रो नहीं रहे हैं, रोना बापकी रता का एक अंग है —"।^२ द्वितीय युग के पूर्व यह मध्यवर्ग सांस्कृतिक पुनर्जागरण के लक्ष्य: प्रभावों से उत्सुक और लोत्साह था और इसलिए उस युग के साहित्य पर जागरण, उत्साह और स्फूर्ति की क्षाप है। एक नवीनता है। एक प्रियकर जागरण है — प्रीत्या भी हो नहीं है। उसके पश्चात्त कार्यसमाज के पांचजन्य धीन के परिणाम स्वरूप सामाजिक पुषारों का युग आया, उत्थान के प्रयत्नों का युग आया, कर्तव्य की बुद्धता का युग आया, नव्य सांस्कृतिक भेदना के सक्रिय होने का युग आया, सात्विकता का युग आया और यह द्वितीय युग है। फिर इस काल ने गान्धी का नेतृत्व जीवन और साहित्य दोनों क्षेत्रों में स्वीकार किया। एक सात्विक भावुकता, एक आदर्शवाद, आदर्श प्रेम, आदर्श जीवन, भावुकता, रोमांस आदि का जीवन आया और हमारे सामने प्रसाद, पन्ना, निराशा, रामकुमार वर्मा, महादेवी, प्रेमचन्द, रामचन्द्र शुक्ल, आदि आए। बाद में यही काल साम्यवाद, जैविक, कष्ट, नीतिज्ञावाद, पराजय आदि से जीवन में भी प्रभावित हुआ और साहित्य में यथार्थवाद का या प्रातिवाद का युग आया। नरेन्द्र, जगत, यशपाल, पहाडी, मुमेश्वर आदि ने आयावाद की अक्षरीय भावनाओं का जगत न पकड़ कर स्थूल मांसल शरीर का आकर्षण देता। बाग चल कर इसी काल में योड़ी बहुत सामाजिक भेदना की और की द्वितीय महायुद्ध आ गया जिसमें यह मध्यवर्ग बुरी तरह पित गया और उसकी

१- 'उत्तरा,' पृष्ठ ११

२- 'स्मितालय,' गुवाहटी १९४६, पृष्ठ ६५, ६६

सारी स्थिति मान्यताएं नष्ट-प्रुष्ट होने लगीं । जीवन कराह उठा, मानव जुब गया, मानवता रो उठी और बादर्श धुंधले पड़ गये । एक और महायुद्ध और दूसरी और ४२ का बान्दीलन । भारत की भेत्ना विमृष्ट-सी हो उठी । होश बाया जो बाबादी मिली और नये प्रयोग प्रारम्भ हुए क्योंकि नयी समस्याएं आ खड़ी हुई और पराधीनता के युग के दृष्टिकोणों को बदलना अनिवार्य हो गया जिसकी पूरी तैयारी सम्भवतः हम नहीं कर पाए थे। प्रयोगों का युग देश में चला और प्रयोगवाद तथा नई कविता हिन्दी में । इस मध्यमर्ग का जीवन राजनैतिक तथा सामाजिक जागृति का वाहक हो गया है और हस्तका रसा साहित्य भी ।

कंग्रेसी राज्य में भारत का जीवन — एक सामान्य दृष्टि

अन्त में भारत के जीवन पर जब एक बार हम फिर से दृष्टिपात करना चाहते हैं तब हमें दांडी यात्रा के समय गान्धी जी की कही यह उक्ति बरबस याद आ जाती है कि कंग्रेसी राज्य ने भारत का नैतिक, भौतिक, सांस्कृतिक और वाय्यात्मिक सभी तरह नाश किया है । शाह और सम्पाता ने लिखा है कि जन संख्या का १ प्रतिशत भाग राष्ट्रीय आय का ११२ भाग पाता है जब कि जनता का ६० प्रतिशत भाग राष्ट्रीय आय का २० प्रतिशत पाता है ।^१ द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ होने के ठीक पहले भारत की अधिकतर जनसंख्या के जीवित प्राणी की आय एक पैनी से ले कर सवा पैना तक थी । ब्रिटिश भारत में एक किसान की जीवित आमदनी ४२ रुपये वार्षिक से अधिक नहीं ठहरती।^२ शाह और सम्पाता ने कई रोक-टोक से हमारी गरोबी का अनुमान कराने का प्रयत्न किया है, 'भारत की जीवित आमदनी सिर्फ इतनी है कि जनता के प्रत्येक २ वादमियों में से एकमत दो का पेट मरा जा सके या यों समस्त समझिए कि यदि उनकी तीन बार खाने की आवश्यकता है तो दो ही बार खिलाया जा सके और वह भी तब जब वे इस बात के लिए तैयार हों कि वे सबके सब नौ रहें, पूरे साल भर तक बिना घर के रहें, मनोरंजन या खेल की कोई भी चीज़ न मांगेंगे — खाना के अलावा और कुछ न चाहें और उनका खाना निम्नतम स्तर का,

१- 'दि वेल्थ एण्ड टेन्सिबल कैपैसिटी ऑफ इंडिया' ।

२- 'दि इंडियन सेन्ट्रल बैंकिंग कमीटी, १९२६' के विवरण के प्रथम भाग का ३६ वां पृष्ठ ।

३- 'दि वेल्थ एण्ड टेन्सिबल कैपैसिटी ऑफ इंडिया,' पृष्ठ २५३

रुखा-सूखा, मोटा-भोंटा और कर्मकर्म स्वास्त्र्यप्रद होगा।^३ धार्मिक दृष्टि से हमारी स्थिति यह हो गयी है कि वेद वैसे तो हैं किन्तु हैं वे पुस्तकालय के ढेरों में। स्तुतियां सभी देवताओं की की जाती हैं। ध्यान बाह्य रूप और वातावरण पर रहता है। जो सच्चिदानन्द निराकार तत्त्व सभी का मूल है उस पर ध्यान नहीं जाता। वह दार्शनिक विवेचनों और साहित्यिक व्यंजनाओं मात्र के लिए रख छोड़ा गया है। आज की पीढ़ियों के कृष्ण दो-दो होने लगे हैं। व्याकरण पांडित्य प्रदर्शन के लिए ही गया है, वेद समझने के लिए नहीं। देवताओं की संख्या २२ करोड़ बताई जाती है, नाम ही पचास के भी मुश्किल से पाद होंगे। वेदों की जाह विष्णु सख्यनाम का पाठ होता है। 'भूत-प्रेत' सिद्ध नित्य जाते हैं। धर्म तर्क बुद्धि से दूर कर दिया गया है। सम्पूर्णानन्द ने लिखा है, 'उपवास तथा श्राद्ध न कुर्यादन्तर्धावनम्, दन्तानां काष्ठसंयोगो दहत्यासप्तमुत्सु' --- अब इसकी कौन समझदार अपनी बुद्धि में उतार सकता है। वेद कहता है कि तपस्वी पाप होन योगी उसको प्राप्त होते हैं जो विष्णु का परमपद है परन्तु नया उपदेश यह है कि 'यः करोति तृतीयायां विष्णोश्चन्दनपूजनम्, देशावस्य सिते पक्षौ स याति हरिमन्दिरम्'^४ बागे फिर लिखा है 'व्यास जी ने कहा है कि -- नाशित्वा पर ममाणि, ना कृत्वा-कर्मिण्यम्, नाशत्वामत्स्यधातीव, प्राप्नोति मर्त्यो प्रियम्।' व्यास जी विष्णु के अवतार थे इसलिए उनकी कही हुई बात की सत्यनाशयण देव की भी ज्ञात रही होगी पर वह (साधु) बनिए से यह एक बार भी नहीं पूछते कि तुम्हें स्वना रूपया कैसे कमाया --- सत्यनारायण की पूजा से कहीं काम लिया जाता है जो सरकारी वक्लकारों की रिश्तत देने से निकाला जाता है -- तुम जो चाहो करो, हम बांछ वन्द कर लें परन्तु हमारा हिस्सा देते बावो।^५ अन्यविश्वास यहां तक है कि ब्राह्मण माताएं भी अपने बच्चों पर फुंफ उलवाने कुत्तार की शाम मालिक के सामने खड़ी रखी देती गयीं। ब्राह्मण लोग (पुजारी भी) विदेशी और विधर्मी शासकों के प्रति 'कर्मावतार' जैसे शब्दों का प्रयोग करते देखे गये हैं। देवता ऐसे हैं जिनसे हमारे साधारण धर्मीक गृहस्थ ही बहुत बच्चे। विशिष्ट अधिकार सम्पन्न न हो कर भी हमारे गृहस्थ दुश्चारी और परस्त्रीगामी तो नहीं होते। तपस्वियों का तप तो मंग नहीं करते। उनकी बच्चराओं और गुप्तराओं में क्या बन

४- 'ब्राह्मण सावधान', पृष्ठ ६

५- वही, पृष्ठ ११

लड़के-लड़की की योग्यता और उनके विवाह तथा नारी जाँदरी के सम्बन्ध में
 ब्रजमोहन व्यास ने लिखा है, 'साधारण श्रेणी के माता-पिता लड़के को मोहल्ले की किसी
 पाठशाला में भिठा देते थे या किसी स्कूल में भरती करा देते थे और चौलह वर्ग की उम्र
 तक पढ़ुंकी-पढ़ुंकी उसका विवाह कर देते थे, चाहे वह किसी भी वर्ग में पढ रहा हो।
 इसके बागै उसके मान्य की बात थी। इतना वे अवश्य स्माल रखते थे कि अपनी लड़के के
 लिए विरादरी में जहाँ तक हो सके, किसी भी घर की लड़की लाना। मला घर उनकी
 सम्पत्ति में नहीं है जहाँ की लड़कियाँ दुर जाएं पर उफा न करें। उनके स्माल से 'न्या गनीमत
 नहीं है जाजादा, चाँस लै है बात करते हैं'। लड़की के माता-पिता का एक सिद्धान्त था।
 लड़की का बाल-विवाह करना और उसे न पढाना और यदि पढाने का शौक बरखाया और
 उसकी माता यदि थोड़ा-बहुत पढ़ी लिखी हुई तो वह अपनी लड़की को केवल इतना पढा
 देती थी कि वह भले-बुरे 'इमामान जातीजा' पढ सके और सपुरात में गाँठे के समय मायके
 खर भेव सके --- लड़की के माता-पिता इस बात का बहुत स्माल रखते थे कि लड़की की
 अभिलाषाओं की परिधि बहुत सीमित रहे --- घर की ढंडी में लड़की के माता-पिता इस
 बात पर बख्श और देते थे कि लड़की के माया खसुर का धराना ऐसा है कि नहीं कि
 उनकी लड़की के मुँह में कल्ला-बुल्ला बारा पढ जाए। लड़के की योग्यता का स्थान सदा गौण
 ही रहता था --- मगवान ने बाछा तो उनकी लड़की सुखी रहेगी और सुख की परिमाण
 में वे युधिष्ठिर से सहमत थे -- 'दिवसस्याष्टमे मागे शके पचातियो नरः, कण्ठि नाप्रवासी
 च स पुषिव्यां पुषीनरः। --- सपुरात जाने के समय लड़की को दो बार ऐसे चुंबन बता दिये
 जाते थे कि सन्द रहे और वन्त-बकरत काम जायें। एक ती उपर्युक्त युधिष्ठिर वाला। दूसरे
 कावि कुमारदास वाला -- 'स्त्रियो न पुंसामुख्यस्य साकं, न स्व तदाम विमूति हेतवः।
 तद्विदियुक्तीपिक्तः प्रवन्ती विना न भयं पितृवन्ति विदुतः। --- और उनके ऊपर
 कालिदास वाला -- 'मूर्ध्विप्रकृतापि रोचणतया मा स्म प्रतीपं गमः --- ऐसे बातावरण
 में किसी भी 'भैर धर' की लड़की की मानसिक दुःख ही ही पैदा करता है --- चौहागिन
 मरने पर स्वर्ग में जाती है, सती की उसका दर्शन करने जाती है ---। यह अवस्था बत्यन्त
 दयनीय थी। यह जीवन बत्यन्त कठण जीवन था। नरीजा, धार्मिक बन्धविश्वास, बीमारी,

गन्धी बापों, अधिकारी की दास्ता, कन-सम्पत्ति की लालुपता, विषा, अशुच, अविद्या, मूर्खता, नैतिक पतन, उद्योग-धन्यों का पतन, असंगठित कार्य, वास्तविक शिक्षा-व्यवस्था का अभाव, धार्मिक कर्मकाण्डों और संस्कारों का विवेकविहीन पालन, नये दृष्टिकोण का अभाव, स्वार्थिभाव रक्षित-निरक्षम लोगों की बढ़ती हुई संख्या, दुर्मिज्ञ, करुण नीतियाँ, अन्याय, अत्याचार, रिश्वत, मुनाफाखोरी, चोरी, मुकदमें बाजी, अनैतिकतापूर्ण व्यवहार आदि हमारा जीवन था । बिजले विचार, लुप्तताएँ, यश की चाह, चोरी, जाति-पाँति के भागड़े, साहित्यिक मण्डली का घना, जमांधार, और बंफतर आदि के सामने अपने को हीन समझना तथा विद्वान साहित्यिक की अपेक्षा ~~निकी~~ उन्हीं का ध्यान रखना और उन्हीं की प्रशंसा के गीत गाना , आदि आलोच्य काल के जीवन की सामान्य कहानी है । इस युग का चतुर और सफल व्यक्ति वह था जो मुकदमा जीतने की कला जानता था ; जो फूँट बोलता था किन्तु यह कभी नहीं कहता था कि फूँट बोलना बुरा है, जो शान से रहना जानता था, जो करता वह था जिसके विपरीत बोलता या लिखता था, जो अपनी क्षमताओं को रोककर जमाना जानता था, जो फूँट बोल कर और फूँट लिख कर अपने को प्रतिष्ठित कर लेता जानता था, जो अपनी तारीफ करवाने की कला जानता था, जो सफाई के साथ बुराई का जीवन बिता सकता था, आदि । द्वितीय महायुद्ध के बाद स्थिति और भी विषम हो गयी । सिवदानसिंह चौहान ने लिखा है, "राष्ट्रीय नागरण की प्रवृत्तियों में भारतीय सांस्कृतिक पुनर्निर्माण (रिनेसांस) के इस उत्थान का उत्तम विकास २० वीं सताब्दी के चौथे दशक में पहुँच कर रुक सा गया और ज्ञान की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गयी।" और स्वाधीनता की प्राप्ति के पश्चात् ॥ गान्धी जी ने लिखा है, " सताब्दियों पुरानी दास्ता की समाप्ति और आजादी के उदय के प्रारम्भ के साथ-साथ भारतीय समाज की सारी कमजोरियों का घरातल पर ऊपर आ जाना अनिवार्य है।" हमारी सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों की द्वितीय महायुद्ध के बाद थका लग । जीवन विमूढ़ , विज्ञान, विमत्त हो उठा । इस और चीन के विचारों ने भी उद्वुद्ध और क्रियाशील किया। विवेकहीनता एवं आन्तरिक संघटन के अभाव में विघटित अन्तर ने उच्छ्वसता और आत्महत्या

१- ' हिन्दी साहित्य के बस्ती वर्ष ', पृष्ठ २४२

२- ' हरिक, १ जून १९४७

का स्वरूप धारण किया। हम मूल गये कि हम क्या हैं। पागल की तरह 'बिधर' पाते हैं दोड़ पड़ते हैं। व्यक्ति को जो चीज़ें से विकार मिल गये हैं उनसे वह अपने को अनन्त-शक्ति-उत्पन्न समझ बैठता है। वह गहरे नहीं देखता; वह दूर तक नहीं देखता। बाज का व्यक्ति भँबुका हो गया है। शान्तिप्रिय द्विवेदी ने लिखा है, "अप्रैल (१९५६) में विश्व स्वास्थ्य निम्नोक्त दिवस के अवसर पर डाक्टरों ने मनुष्य की विकण्ण मनःस्थिति पर मनो-वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया है। उनका निष्कर्ष यह है कि 'बाज कल अधिकांश लोग मानसिक रोग से पीड़ित होते जा रहे हैं। धीरे धीरे, जैसे जीवन कावभाव, भौत का गलत चुनाव, सामाजिक वातावरण, ये सब मानसिक रोग के कारण हैं।" ऐसे मानसिक रोगी साहित्य में भी हैं जो बेईमानी से ऊँचे पद प्राप्त करते हैं और ज्ञान से रहित हैं मगर साहित्य में 'कुंठा' की कलाकृत करते हैं। बाज का यह मानव निरंकुश हो गया है। धर्म और नीति पर से उसकी अपनी वास्था उठ गयी है। संयम यह मूल गया है। कुछ ही नीतियों पर वह चिढ़ जाता है। सहचिन्तन के अभाव में उसका जीवन ज़हरीला हो गया है, अपनी व्यवहार और अपनी तेज़ी से वह बीरों के भी जीवन को ज़हरीला बना रहा है। दलबन्दी है। प्रचार के साधनों को अधिकृत करने की कला जाती है। अपनी फ़िदाव इपवाई जा सकती है। मित्रों से प्रशंसा लिखाई जा सकती है। विरोधियों को गालियाँ दितवाई जा सकती हैं। चूंकि विरोधी साक्ष्य और संगठन विहीन हैं, अतः उसकी बात सुनी न जायगी इसलिए अपनी बात को मान्य घोषित किया जा सकता है। बाज का गर्व प्रमत्त यह लघु मानव काल की शक्ति और देव-शक्ति को मूल गया है। "कब तक हूँ ज्ञान से रहूँगा" - यह उसका 'मीटो' बन गया है। इस प्रकार यह युग संघर्षों और क्वास्यावीं का युग हो गया है। मानसिक असन्तुलन का युग हो गया है। अविश्वास का युग हो गया है। बात यह है कि प्राचीन वास्थावीं आदि के सामाजिक, अनुष्णीगी और नष्ट हो जाने का प्रचार पूरी शक्ति के साथ किया जा रहा है। नयी वास्थावीं के दे सन्ने की क्षमता है नहीं। विनाश करना आसान है, निर्माण कर सना कठिन। वस्तु, यह मानव 'विध्वंसात्मक' हो गया है। पूँजीवाद बचपन से क्वानी की बीर पर बड़ा रहा है और इसके साथ ही साथ वे सारी समस्याएँ लड़ी हो गयी हैं जो पश्चिम के व्यवसाय प्रधान देशों में पड़ी हो च थीं। देव संयोग कहिए

या कुछ और, जोसकीं सताव्दी के प्रारम्भ में भारत के जीवन की जो अवस्था थी उसमें
 और १९५० ई० के भारत के जीवन में कोई मौलिक अन्तर नहीं पड़ पाया । यह पूरे का पूरा
 युग ही गम्भीर समस्याओं से बाढ़ान्त है। प्रतिक्रियाओं का पूजा सामाजिक जीवन में भर
 गया है । महादेवी ने लिखा है, 'एक ओर समाज पक्षाघात से पीड़ित है और दूसरी ओर
 धर्म विद्रोह । एक चल ही नहीं सकता, दूसरा वृत्त के भीतर वृत्त बनाता हुआ एक पर
 से दौड़ ला रहा है।' ^१ हम इन समस्याओं के समाधान में अतहास हैं क्योंकि न हमारे
 पास उतनी क्षमता है और न समस्याओं की गहरी फहल । एक हल करते हैं तो दूसरी समस्या
 उठी ही जाती है । शान्ति एक फौजन बन गयी है । इस विकृति का चित्रण महादेवी के
 ही शब्दों में अत्यन्त कलात्मक ढंग से इस प्रकार किया गया है, 'सताव्दियों की दासता
 ने हमारा नैतिकता नष्ट कर दी --- हमारा वर्तमान विकृति में अन्धकार जैसी व्यापकता
 और मृत्यु-जैसी स्मरता तो है ही, साथ ही उसकी व्यवहारिक विभिन्नता में विचित्र
 स्वरूपता भी मिलेगी' ---- हम अपनी 'व्याधिलिखित अतन्त्रता' को स्वीकार न करके रास्ते
 की दुर्गमता, तथ्य की अप्राप्यता को ही दोष देते हैं --- 'सब चाह हमारा दम्भ गहरा
 है और विवेक उथला है --- हमारा नैतिक पतन बाब उस अन्धकार के समान ही उठा है जो
 सौन्दर्य और सत्य की सजीव प्रतिमाओं को भी सांस के साथ उदरस्थ कर लेता है और फिर
 अपने शरीर की जोड़-मरोड़ कर उन्हें चूर चूर बना ऐसी स्थिति में पहुँचा देता है जिसमें वह
 उस अन्धकार के शरीर के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहतीं --- आदर्श-गान से सन्तोष और
 परिस्थितियों की विषमता के बागे फुलना -- हार स्वीकार करना -- इन दो को हमने
 अपनी दुर्बलता की बेसाक्षी बनाया है' । शान्ति के नाम पर अंगरेजों ने भारतीय जनता के
 जीवन की निरस्त्र करके उन्हें कायर बनाने का प्रयत्न किया और इसमें सन्देह नहीं कि वे
 बहुत दूर तक अपने उद्देश्य में सफल रहे । बुद्धि की मुक्ति और स्वतन्त्रता का नारा उठा कर
 उनकी भूतनीति ने हमारे समाज और हमारी पुरानी संस्कृति की नींव खोदने का प्रयास किया
 और इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे उसके रूप को बहुत अधिक दात-विज्ञात कर लेंगे । बाब हम
 ब्राह्मण पुजारी को उस हथौड़ेदार के रूप में देखते हैं जिसका संरक्षण हमें अपनी हड्डी और

जीर आवश्यकता के प्रतिकूल भी करना पड़ रहा है। इसके विपरीत, बाज पुराना वणान्नम
 की -- बाति की प्रभुता -- कनाचुर ही उठा है। जतने पर भी बाति-कनाचा समाप्त
 हो-जिनहां दिताई पड़ती। संयुक्त परिवार की एक-एक ईंट लिखती जा रही है। पति-
 भक्ति गये-बीते युग की बात ही नहीं है। पूर्ण सामंजस्य और अनुत्पन्न का अभाव है।
 निम्न निम्न संस्कृतियों का समन्वय अभी ही नहीं पाया है। की है राष्ट्र की, भक्ति के
 समाज की और समाज के राष्ट्र की उन्नति अभी बैठ नहीं पाई है। वास्तव और साहित्य
 का नीर-छीर भेद अभी नहीं हो पाया है। करते हैं बेईमानी और लिखते हैं ईमानदारी।
 करते कुछ हैं और लिखते कुछ हैं। यह है हमारा -- बाज का -- जीवन। लेकिन यह तस्वीर
 का एक पक्ष है।

इसी ~~प्र~~ चित्र का एक दूसरा पक्ष भी है और वह इतना काजा, इतना बेराश्यपूर्ण
 इतना जेजक नहीं है। वह श्याम होते हुए भी धनश्याम है। इस चित्र की वास्तविकता
 की हम सांस्कृतिक पुनर्जागरण की प्रवृत्ति में ही देख लेंगे। इस चित्र की रंगें उसी के
 रंग में रंगी हैं। वह हमारी राष्ट्रीय भावना की वन्मूति है। जब हम पर सांस्कृतिक
 बाक्रमण हुए तब धियातोंकी, कार्यसमाज, सुधारवादी अनातनी, प्राविशाल पीराणिक
 और कर्मप्राण राष्ट्रीयता की प्रभुता उमड़ती हुई तरंगों में विदेशी संस्कृति की बढ़ती हुई
 धारा की स्फूर्ति की अपने में समाहित कर लिया। इतने हमारी अस्तिकर प्रवृत्तियों के
 निराकरण का प्रयत्न किया। यह ठीक है कि उपर्युक्त जीवन दशकें समाज में जितनी व्यापक
 है उतनी ये नहीं किन्तु तब यह भी तो सही है कि एक राष्ट्र में लाख-दो लाख व्यक्तियों
 की जीवन-दशा का परिवर्तन समाज की ऊर्ध्व-गति का चोकर होता है। शेष जनता के
 जीवन पर उनका प्रभाव बाद में पड़ा करता है किन्तु उन लाख-दो लाख का जीवन उस समाज
 की प्रगति का चोकर निःसन्देह रूप से होता है। इस युग में भारत की स्थिति यही रही
 है। इस युग की मोटे तौर पर हम तीन विभिन्न स्थितियों में कल्पित कर सकते हैं :-
 जागरण, परिवर्तन और सुधार तथा प्रगति। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में ये तीनों स्थितियां
 पूरी तरह से स्पष्ट हैं -- महावीरप्रसाद द्विवेदी की फेफड़े का युग, द्विवेदी की और बीर
 के बीच का युग तथा बीर और उनके बाद का युग। समाज के अपेक्षाकृत उन्नत भाग में ये
 तीनों स्थितियां स्पष्टतम रूप से दिखाई पड़ रही हैं। परिवर्तन की धारा उत्पीड़न-प्रद रूपसे
 निरन्तर प्रवहमान होती रही है। अपूर्व वागुति है। इस की में विचारों का आदान-प्रदान
 हुआ है। भावी में सत्ता स्थापित करने का प्रयत्न हुआ है। जातीय और राष्ट्रीय एकता

उभरती हुई दिखाई पड़ी है। गान्धी और दयानन्द के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप व्यक्तियों की समस्या उग्रतम नहीं रह गयी। विरोधियों के साथ भी सामंजस्य स्थापित करने के प्रयत्न होने लगे। अनुपयोगी मान्यतारों और रुढ़ियों टूटीं। सुधार और क्रान्ति के प्रयत्न हुए। हम कूटी निवृत्ति से उठी और सच्ची प्रवृत्ति की ओर बढ़े। यह युग उग्र राजनीतिक भेदना तथा बान्धवताओं का युग रहा। पूर्व और पश्चिम का जो सम्पर्क भारत के लिए अस्तित्व सिद्ध हो रहा था उसे भारत के लिए उपयोगी और हितकर बनाने का प्रयत्न किया गया। बड़ एवं विवशताजन्य क्रियाओं के स्थान पर शीघ्र सम्पर्क कर सामूहिक रूप से कार्य किया जाने लगा। पूर्ण और व्यापक जीवन हमारा लक्ष्य बना और हम उस ओर बढ़े। जाति पर अधिक ध्यान दिया गया। ^{जाति} संस्कार और जाति भेदना में ऐसे परिवर्तन हुए और हो रहे हैं कि ये नवीन और सशक्त समूह-भेदना के अनुकूल हो जाएं। सामाजिक और राजनीतिक क्रियाशीलताओं के साथ साथ कला, संस्कार, समितियां, रेलें, मिलें, नौकरियां निर्वन्ध सामाजिक सम्पर्क को अनिवार्य बनाए हैं। ब्राह्मण प्राचार्य वैश्य उप प्राचार्य के साथ एक ही मेज पर रोजी चाय और नाश्ता करता है। मोटी चोटी, पूरी जैज और पवित्र चौके वाले कर्मकाण्डी ब्राह्मण क्षात्र क्षात्रालयों में कुछ समय के बाद 'सार्वजनिक' चौके में जा जाते हैं। जाति सम्बन्धी ऊँच-नीच की भावना ऐसे अवसरों पर अकेल मन की किसी अन्येरी कीठरी में और की भांति दुबक जाती है। आधुनिक हिन्दी साहित्य में यह जाति-पांति का भेद कहीं नहीं दिखाई पड़ता। प्रताप, पन्त, निराला, महादेवी, रामकुमार वर्मा, फगवतीचरण वर्मा, प्रेमचन्द, फेनर, भास्करचरण गुप्त, द्विवेदी, श्यामसुन्दर दास, रामचन्द्र गुप्त आदि के मते पर भी ब्राह्मण, क्षात्रिय, वैश्य का भिन्नक लगाना चाहता है वह नौकरी देते समय एक और की तरह झोटे-मोटे-नये-वसमय नवयुवकों की मते हो सका शिकार बना ले क्योंकि तब वहाँ वही एक मात्र निर्णायक होता है और अपने को भगवान से कम नहीं सम्मकता होगा वह चाहे क्षुब्ध हो, चाहे त्रिपाठी, चाहे द्विवेदी हो, चाहे गुप्त, चाहे वर्मा हो, चाहे रमा, राष्ट्र-विरोधी है, अतिक्रम है, प्राति विरोधी है और साक्षर होते हुए भी साक्षर है और व्यक्ति कार्य करता चाहता है। कुल रूप में यह करने का साहस वह समय साक्षर की नहीं करता होगा; वह केवल कल्पना में इन समय साहित्यिकों का के मस्तक पर जाति का भिन्नक लगा कर अपने दुष्ट मानव-बुद्ध के कुल की कुलकुलाहट शांत करता होगा। यह बात जातिवाद के सम्बन्ध में की जा रही है। वस्तु, नारियां स्वतन्त्र हो रही हैं। अनुपत्न

प्रया उनामा हो चली है। प्रेम और रोमांस का वातावरण हो रहा है। चेतना का क्षेत्र विस्तृत हो रहा है। जीवन और कर्म से जुड़ा जा रही है। नृत्य, संगीत, नाटक आदि सांस्कृतिक आयोजन भी लोगों की रुचि बन रहे हैं। नारियां जीवन के अनेक क्षेत्रों में अपने लिए एक कानूनी काह बना रही हैं। उनका सामाजिक और राजनीतिक महत्व बहुत अधिक बढ़ रहा है। उनकी इस स्वतन्त्रता में उनकी शिष्टता, सुसीलता और गार्हस्थ्य निष्ठा किसी भी हालत में कम नहीं की है। हां, बदर बोट कर, धुंमट डाल कर, किसी के घर में जा कर किसी की बेटी, किसी की पत्नी, किसी की ननद आदि की जुगली-चाई का रस लेने की जादत में कम हो गयी है और जाल-फाली तथा ननद-भानो का भगडा विनाश न हो कर संपूर्ण हो गया है। नारियां जड़पत्नी न रह कर सम्मानदात्री के साथ जाज्ञाकारिणी पत्नी हैं, मुक्तपूर्ण मौहम्मो मां की काह है वास्तविक सम्मानमयी मां हैं। वे अब भी सेवा के लिए उत्पन्न हैं। बिना किसी भी प्रकार का अवन्तोष प्रकट किये यह जागृत भारतीय नारी गृह कार्य में भी मान रखती है। धुंमट उठ गया है मार बाँध का शील नहीं गया है। बादर उतर गयी है मार लाज बची है। नारियों के अन्दर आशाओं-आकांक्षाओं के एक नये सुन्दर संसार की वस्तु-पदार्थ दिखाई पड़ रही है। ये नये भारत के जीवन और प्रेम की मूल प्रीति हो रही हैं। मध्ययुगीन चर्चों ने उनकी देखने का जो दृष्टिकोण दिया था उसे आज के जीवन ने अस्वीकार कर दिया है। आज उन्होंने भारत में फिर वही काह पा ली है जो प्राचीन काल में थी किन्तु आधुनिकतात्मक मध्ययुग में खिन गयी थी। ध्यान रहे, मैं १९६५ ई० की निर्लज्ज फैशन परस्त आधुनिकताओं की बात नहीं कर रहा हूँ। वे अभी हमारे समाज का महत्वपूर्ण वर्ग नहीं बन पायी हैं। मैं १९०० से लेकर १९४६ ई० तक की सुशीलाओं और वन्द्यपूर्णियों की बात कर रहा हूँ। पौराणिक कथियों में नये उद्देश्य, नये कर्म और नयी साम्प्रदाय लीजी जाने लगी हैं। अध्यात्म, साहित्यिक और वैज्ञानिक भी पूज्य हो रहा है। गान्धी, मातृवीय, ठोकर, नेहरू और राजाज्यन्त की महत्ता आज के काङ्गुरु संक्राचार्यों से किसी कदर भी कम नहीं है। विश्वास और पूजा का स्थान बुद्धि-बल और सेवा ले रही है। 'मन्त्रि' के दीवानों का उन्मत्त और स्थान निरस्त हो गया है। देश और जाति के दीवाने व्यापक हो रहे हैं। पुराने गौरवपूर्ण व्यक्तित्वों की बादर और नन्दा की जाती है। उनकी प्रशंसा के गीत गाए जाते हैं। ये क्या कहानियों के विषय हो गये हैं। तथाकथित आध्यात्मिकता और विद्वत्ता की अनेक उपयोगी भौतिक विद्वानों की

२४

अधिक मान्यता मिली है। उनके नवयुवक और नवयुवतियों ने ही ऐसा भेँ लिए अच्छी-बड़ी और
 उनकी नौकरियों को तात मार दिया है। विद्यालयों, बस्कितालों, जनाथालों और
 सेमिनटोरियों बादि में भी अपना धन लगा कर धनी लोगों ने भी ये ही भावप्रकट किये हैं।
 भारत की स्वतन्त्रता और विश्व मान्यता की शान्ति के लिए इसी जन कल्याण की भावना
 का उपयोग किया गया है। अहिंसा ने व्यापक रूप धारण किया है। वह केवल चींटियों,
 गीरियों, बकरियों और गायों बादि की बड़ बुराई का माध्यम ही नहीं रह गया है।
 बलिदान और तपस्या के अहिंसात्मक साधनों के द्वारा बुराईयों (हराब बादि) के प्रतिरोध
 का स्वरूप भी अपने धारण किया है। भारत का राष्ट्रिय मस्तिष्क अपने प्राचीन गौरव के
 रहस्यों की जीव में भी ला है ताकि विदेशी तत्त्वों को अपने अन्दर समाहित कर लेने वाली
 शक्ति मिल सके। बातियों और पौराणिक धार्मिक विश्वासों का रूप बदल कर -- काया
 पतट करके -- उन्हें व्यापक बना कर सज्जन और उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया गया है।
 परलोक का जादू लोगों के लिए पर उतना नहीं बज्जा जितना पहले बज्जा था। हमारी
 राष्ट्रीयता की जनता ने भी स्वीकार किया है। उसे धर्म का भी समर्थन मिला है। वह सब
 के द्वारा मान्य और पूज्य हुई है। विश्व मान्यता का शायद भाग उससे प्रेरित और अनुप्राणित
 हुआ है। यह बातहास की एक बहुत बड़ी बात है। साथ ही ध्यानरत्नी की एक महत्वपूर्ण
 बात यह भी है कि इसका उदय अंगरेजी साम्राज्यवाद की मर्यादक पराधीनता के वातावरण
 में हुआ। इस भावना तथा सांस्कृतिक पुनर्जागरण ने पराधीन भारतीयों की साहस, शक्ति
 और दृष्टिकोण दिया और ये पंक्तियाँ सारे भारत की भावनाओं और जाकांजाबी का
 प्रतिनिधित्व करने वाली हो गयीं, 'उस समय सिवाजी की मैं जादशं पुरुष सम्मने ला
 था। पिताजी पूछते थे, तुम बागे चल कर क्या करोगे, मैं कहता था, मैं सिवाजी बनूंगा,
 नेपोलियन की तरह मैं जीवन बिताना चाहता हूँ।' यही वह प्रेरणा थी किने हिन्दुओं
 और मुसलमानों की एकता का स्वप्न दिखाया। 'वन-येम' में माधिलीशरण गुप्त ने
 युधिष्ठिर से कहा था, 'वहाँ तक है जाकर की जांच,
 वहाँ तक है सी है, हम पांच
 किन्तु यदि करे दूसरा जांच
 गिने तो हैं एक जो-पांच'

गान्धी की कल्पना हुई कि बापसी मामलों में २५ करोड़ एक तरफ और ७ करोड़ दूसरी तरफ रहने वाली बातियों को अंगरेजों के सामने ३२ करोड़ के रूप में उपस्थित होना चाहिये। बाब यह बात कहने की नहीं रह गयी है कि दोनों बातियों के मेल की नींव पर ही गान्धी जनित राष्ट्रीयता का मूल तड़ा हुआ था। हम जनतन्त्र और मानवतावाद के संघर्ष में आए। ये जमी अनुमति नहीं बन सके -- कमी खानी ही रह गयी। सामान्य जन-जीवन बाहर से लार हुए सिद्धान्तों और मताग्रहों को सहसा स्वीकार करता भी नहीं है। अतएव जन जीवन में फैल खानी ही बात दिखाई पड़ी कि वह 'स्कूर्ति सम्पूर्ण' है, प्रगति के लिए उत्सुक है, बच्चे बुझारों के लिए तैयार है और यथासम्भव त्याग और बलिदान के लिए कटिबद्ध है। इस पूरे जालोच्य काल में जीवन में स्कूर्ति थी, उत्साह था, उम्मा थी -- कमी थोड़ी बहुत कम, कमी थोड़ी-बहुत अधिक। मेरी और शकुता दोनों के कुछ मानी होते थे -- बाब की तरह दोनों निष्क्रिय-निष्प्रभ नहीं थीं। बातें कम, काम अधिक होता था। जीवन की गति क्षिप्र थी। कार्य-क्षमता थी। विविधता थी, वैचित्र्य था। उदारता थी, सहानुमति थी; प्रेम था; सेवा थी। जाति और धर्म का व्यवधान सोह बाधक नहीं था। निर्धन और दयनीय ही कर भी बनता खेती, गाती, नाचती हुई 'महाजनों' येन गतः तस्मिन् पौ ' बत कर अपना जीवन कितानी रही। पारवात्य संस्कृति और सम्यता की तहरी एक-दूसरे के तट पर टकरा टकरा लीट गयीं। भिन्नो मेल ही नहीं गयीं किन्तु हुआ न सकीं। भारतीय संस्कृति और सम्यता का वास्तविक रत्नक तो यही वर्ग रहा। मध्य वर्ग का अग्रगामी दल फतवार बना। परिवर्तन की प्रक्रिया पहले इसी वर्ग में हुई क्योंकि अज्ञात रूप से यही वर्ग भारतीय संस्कृति-सम्यता की सेना की पहली पंक्ति था और विदेशी सम्यता तथा संस्कृति के आक्रमण की टकराहटें इसी वर्ग में होतीं। सीमान्त की बात कह थी -- अथवा सम्यता: यह स्वाभाविक ही था -- कि इस वर्ग के जिस दल विवेक ने हिन्दी जीवेवा की वह अन्तर और बाह्य दोनों ही रूपों में पारवात्य संस्कृति और सम्यता का जानकार तो था किन्तु मानसिक दृष्टि से उनका दास नहीं बना था। भारतेन्दु से से कर बाबकल के क्षत्र हिन्दी सेवकों तक जिसका भी लाव हिन्दी से रहा उनमें से वह अधिकतर ने पश्चिम की सम्यता तो लेकिन भारतीयता से दूर रहने की कसम नहीं खाई। इसका परिणाम यह हुआ कि हम उस विशाल मण्डार में से अपनी सम्यता और अपनी आवश्यकता के अनुसार उपयोगी तत्व लेने में और अपना अपनापन ब्यार रह कर उनके साम

उठाने में समर्थ हुए । भारत में ऐसे व्यक्ति भी पैदा हुए जो स्वयं विदेश में भी योती-कुर्ता पहनने का सहस्त्र रखते थे । अपनी संस्कृति के प्रेमी और सादगी के पुजारी थे । मातृवीथ जो ने राष्ट्रीय भावनापूर्ण हिन्दू विश्वविद्यालय स्थापित करने के लिए इतना अधिक धन एकत्र कर लिया किना किजी सार्वजनिक संस्था के लिए तब तक एकट्ठा नहीं हुआ था । हिन्दी प्रचार के लिए समा सम्मेलन और स्कैडमो बादि की स्थापनाएं हुईं । रामकुमार वर्मा ने कहा कि 'बीपन फूल की तरह लौ और सुगन्धि की तरह संसार में समा जाए।' हम पढ़ लिख कर तैयार हुए और हमारी गृहणियांभी निरी अपड नहीं रह गयीं । हमें अपने उद्यमी पूर्वजों से जागे बढने की पुन सवार हुई । बज्जन ने लिखा है, ' जिसकी पोछे बीप में सीधो रोड नहीं है वह सघर्ष नहीं कर सकता। ' ^१ नवीन भारत के पिछले ऐतिहासिक युगों में -- प्रच्छभूमि में -- ' पाठ के बीप में ' -- हमें भारतीय संस्कृति की, मानव की गरिमा की, एक सीधो और मजबूत रोड -- बल्लभ परम्परा -- बराबर दिखाई पड़ती है। वह रोड इस युग में भी संप्राप्त रही । इसी ने द्विवेदी, गुप्ता, प्रेमचन्द, प्रसाद, पन्त, निराला, श्यामसुन्दरदास बादि की वह प्राणशक्ति दी कि ये लोग देव्य, दुःख, संकट, कष्ट, अपमान, ग्लानि बादि को सह कर भी हिन्दी की जागे बढाते रहे ; और यदि उन्हें प्रतीक मान लें, तो भारतीयजने भारत की उन्नति की ओर बढाते रहे । इसी ने लोगों की राजनीतिक और सामाजिक जागृति करने का साहस किया । जन्मिन्मस्मिन् जागृतिकारिणी कुमद्राकुमारी बीरान का उल्लेख करते हुए महादेवी ने लिखा है, ' ये राजनीतिक जीवन में ही विद्रोहिणी नहीं रहीं, अपने पारिवारिक जीवन में भी उन्होंने अपने विद्रोह की सफलतापूर्वक उतार कर उसे सुजन का रूप दिया था --- इतना ही नहीं, जिस कन्यादान की प्रथा का सब मूल भाव से पावन करते जा रहे थे उसी के विरुद्ध उन्होंने धोषणा की -- ' में कन्या-दान नहीं करूंगी । क्या मुख्य मुख्य की दान करने का अधिकारी है ? क्या विवाह के उपरान्त मेरी पैटी मेरी नहीं रहेगी ? ' ^२ इस प्रकार स्वदेताभिमान, स्वदेही, सांप्रदायिक रक्ता, हरिनीदार, वर्ण व्यवस्था में शिथिलता, हिन्दुस्तानी, भारतीय संस्कृति पर और, प्राचीन साहित्य से सम्पर्क स्थापित करना, पंच महाव्रत, समानता का

१- ' नये पुराने करीब, ' प्रच्छ २१

२- ' पथ के बायीं, ' प्रच्छ ४५

भाव, राष्ट्रभाषा, अपनी संस्कृति के प्रति गौरव की भावना, राजनीति का धार्मिक रूप भी स्वीकार करना, सत्य और अहिंसा की नीति, निर्भयता, कष्ट सहिष्णुता, श्रान्ति, नारी की स्थिति में परिवर्तन, प्रेम, सहानुभूति आदि इस युग का नया जीवन हुआ ।

विभिन्नताओं से भरा हुआ भारत और उसके दृष्टिकोण

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'सम्यक्ता और संस्कृति की सबसे पुरानी अवस्था से ले कर नवीनतम विकसित अवस्था तक के प्रत्येक स्तर के वर्ग भारतीय समाज में पाए जाते हैं । बड़े से बड़े पैमाने की सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक समस्याएं अपने नग्नतम रूप में भारत के अन्दर देखी जा सकती हैं । विभिन्न नस्लों और धर्मों के पारस्परिक सम्बन्ध और सहअस्तित्व की समस्याएं, पुराने अन्धविश्वासों, ढूँढ़ते हुए सामाजिक स्वरूपों, और परम्पराओं से संघर्ष करने की समस्या, शिक्षा के लिए प्रयत्न, नारी की स्वतन्त्रता के लिए लड़ाई, कृषि के पुनर्गठन और उद्योगों के पुनर्विकास, गांवों और शहरों के बीच वांछित एवं समुचित सम्बन्धों की समस्या, विभिन्न प्रकार और तीव्रतम रूप का वर्ग संघर्ष, राष्ट्रीयता और उमाकवाद के समुचित सम्बन्ध की समस्या -- आधुनिक ज्ञान की ऐसी बनेक प्रकार की समस्याएं विशेष तीव्रता और बड़ी तेजी के साथ हमारे इस आलोच्य काल के भारत के सामने आयीं । साम्यवाद के अध्ययन ने एक नवीनतम दृष्टिकोण दिया - बीबी की देखने का, समस्याओं की समझने का और उनका हल निकालने का, पुरानी और नयी बीबी पर विचार करने का । हम उस दृष्टिकोण को जीवन में और वास्तवों में पूरी तरह से उतार नहीं पाए । पारवात्य सम्यक्ता ने हमें भीतिभादी दृष्टिकोण दिया । इस वाद का सम्बन्ध केवल दृष्ट से है । अनिवार्य अदृश्य शक्तियों और तत्त्वों को यह वाद इन्कार कर देता है । यह दृष्टिकोण भी पूरी तरह से हमारा नहीं हो सका । हमने हमारा ज्ञान लाभ अवश्य हुआ कि हम भीतिक तथ्यों के प्रति अपनी उदासीनता मिटा दें । लोकतन्त्र हमने इसलिए अपना लिया कि एक तो जंगली व्यवस्था एक आजादी से भी अधिक समय घेउसकी कान्की हमें दिता रही थी और दूसरे, वह विश्व की नवीनतम, मान्य और शान्तिपूर्ण राज्य व्यवस्था थी । हमारा वार्षिक संगठन भी उसी के अनुरूप चल रहा था ।

इस पूंजीवादी व्यवस्था पर आधारित लोकतन्त्र से हमने अपने सम्पूर्ण जीवन को गुथारने की
 आशा की जो अन्ततोगत्या सफल नहीं हो सकती थी क्योंकि लोकतन्त्र का आधार है
 पूंजीवाद और पूंजीवाद का परिणाम है आर्थिक वैषम्य, बिकारों का असन्तुलन, तथा
 धर्म और बिकार के फेन्ट्रीकरण से उत्पन्न व्यवहार और काम सम्बन्धी अव्यवस्थारं और
 कमीशियां । परिणामतः हमारा समाज इन विकृतियों का शिकार होने लगा । वस्तु
 प्रधान हो गया जिसका परिणाम यह हुआ कि हम व्यक्तिवादो हो गये । जाकुता,
 जगता, बटपटाहट और विद्रोह हाथ आया । अहं की दीवाल अपने चारों ओर खड़ी करके
 उसमें अपना तिर बिपा कर हम इन शक्तियों से दूर रह कर अपने को अन्तुष्ट समझने लगे जिन
 पर हमारा कोई अधिकार नहीं किन्तु जो हमें प्रभावित करने पर जुती थीं । अपने कर्तित
 से मोह हो गया और हम परिवर्तन को अवांक्षित समझने लगे । जंसार-समाज में जो कुछ है
 उसे अधिक से अधिक भोगना चाहते लगे । हम इस लोक और इन्द्रिय-भोग में लिप्त हो गये
 और इस क्षणभंगुर जीवन में अधिक से भी अधिक जो सुख भोग सकें थे, भोगने की कामना
 करने लगे । मान्यवादि का भी सहारा लेना पड़ा । विस्मृति और पलायन की इच्छा हुई।
 स्त्राम की ऊपरी कलक बड़ी प्यारी लगी । सामान्य व्यक्ति विज्ञान से बड़ी बड़ी आशारं
 करने और वैज्ञानिक मानव जीवन को इन्द्रिय सुख और सुविधा के अनन्त उपकरणों से भरने पर
 तल गया । आत्मा मरने लगी । विनारसाल साहित्यिक ने ज्ञावनी दी, 'यह विज्ञान
 हमारे समस्त सुखों का कोषाध्यक्ष होना चाहता है; जीवन की इकाई में बाढम्बरों के
 शून्य बाँड कर वह सख्तों का गुमान करना चाहता है । यह इतना दुष्ट है कि जंसार को
 ज्माडने के लिए ही बार बार बनाता है'^१ वैज्ञानिक स्वभाव और उससे सख्त ही उत्पन्न
 बीडक विज्ञासज्जों ने मात्र विश्वास पर ही स्वीकार करने से इन्कार कर दिया । ज्ञानवीन
 बातचीत और प्रश्न करने वाला स्वभाव बना । सख्य-विश्वास का ज्ञास हो गया । धर्मों
 के तुलनात्मक अध्ययन ने धर्म पर किये जाने वाले अन्धविश्वास की नींव तोड दी । धार्मिक
 उदास्ता बाई । तकनीकी विकास नये-नये आर्थिक जंमल सामने ला रहा है। बड़ी बड़ी मशीनों
 ने उत्पादन के क्षेत्र में से व्यक्ति की अनिवार्य महत्ता और संज्जों तथा सामाजिक शक्तियों
 ने समाज के क्षेत्र से व्यक्ति की अनिवार्यता समाप्त कर दी है। मानव का अवमूल्यन हो गया

है। हजारों पैदा होते हैं; एक मर गया या मार डाला गया तो क्या हो गया। हजार
 बकरे कटौते हैं; एक मनुष्य भी कट गया तो क्या बिगड़ गया। मनुष्य का मृत्यु फल के तुल्य
 हो गया। वह मशीन का एक पुर्वा हो गया। दुर्घटना में उसके मर जाने पर उसके
 'कम्पन्मेंशन' की -- चिन्तों या मोटों में उसका मृत्यु पुनर्जन्म की प्रथा बत पड़ी है। सत्य
 अनुभव और प्रयोगों की सिद्धि का मुलापेजी बना दिया गया। वास्तविक दृष्टि के अभाव
 में अर्थकाण्ड को फल समझने की मूल की जाने लगी। विज्ञान के प्राप्त पुविधाओं का पालन
 करते हुए भी धार्मिक जन विज्ञान की अवहेलना करते हैं। सामाजिक समस्याओं के उदात्त
 रहते हैं। विपत्तियों का तिरस्कार और सम्पत्तियों का वाद धार्मिकों की सामान्य प्रकृति हो
 गया है। बड़ धार्मिकता में भी मानव को मानव से लड़ाया है। जीवन में डोंग लगा गया।
 मानव विध्वंसित हो गया। सत्य का निरादर यहां तक होने लगा कि यदि दस-बीस हजार
 बादमी प्रान्त हो गये तो उनकी प्रान्ति को भी एक सामाजिक सत्य माना जाने लगा।
 प्रचार के शक्तियों की पुलकता और सामान्य मानव की उल्लेख कमजोरी में वैयक्तिक और
 सामाजिक लूटा-करकट को भी साहित्यिक सम्पत्ति घोषित कर दिया है। अकिंश बुद्धि
 बोधी का मानसिक होना की भावना में पक्का और बड़ता है। क्योंकि वाद प्रायः
 राजनीति का होता है, अध्यापक या विद्वान का नहीं। ऐसे लोग विद्वान्त भी पश्चिम
 से लेना चाहते हैं और अनुभूतियों भी उन्हां की पाना चाहते हैं। जीवन में जंग लगा रहा है।
 सैद्धान्तिक व्याख्याओं वाली मोटी मोटी पुस्तकें निकली हैं। उच्च कोटि के विद्वान और
 मनन का व्यापार हो नहीं है -- सम्भव भी नहीं। शिक्षा बिगड़ी, अध्यापक बिगड़ा,
 समाजबिगड़ा और अध्यापन व्यवसाय बन गया -- ऐसा व्यवसाय जिसमें कामदनी सबसे कम,
 किन्तु जिसके व्यवसायी से उम्मीदें बहुत बड़ी-बड़ी की गयीं। अध्यापकों की दुर्दशा को सत्य
 करने की पद्धतिलाल पुन्यालाल बख्शी ने लिखा है, 'उन्होंने कहा कि वो गर्दम फूल जन्म से में
 दूसरों के लिए बाजीवन मारवहन कर सुखी धातु जाता हुआ मर जाता है वही दूसरा जन्म
 है जो मास्टर होता है' मध्ययुगीन मानुष्य से अभी हमारा पीछा नहीं बूटा जिसका
 परिणाम यह हुआ कि हिन्दी साहित्य की स्वस्थ शास्त्र और व्यंग्य की उच्चकोटि की
 कृतियां नहीं मिल सकीं। हिन्दी के कर्नाटिका का जन्म अभी होना है। सामाजिक प्रथाओं

के बन्धनों के प्रतिकार का आह्वान किया गया । बुराईयों की आलोचनाएं की गयीं ।
 जाति-प्रथा और ब्राह्मणवाद के विरुद्ध आवाजें उठीं । रोमांटिक शादियां लोकप्रिय होने
 लीं । दुपारों में आन्दोलन दिये । प्रातिशील लेखकों ने उन्हें अपना विषय बनाया और
 पुस्तकों में दुपार के चित्र दिये । वहां के थे दुपार व्यक्ति और परिवार के जीवन में अवतरित
 होने लगे । लोगों ने दहेज लेना कम किया । बहुओं को कुछ स्वातन्त्र्य दी गयी । गरीब किन्तु
 सुन्दर लड़की का उद्धार होने लगा । नारियों ने भी बाढ़ में ज्ञान्ति की और कदम
 उठाया । भावनाओं में असाधारण तीव्रता रखी हुए भी उनका प्रियात्मक रूप आजीवन
 असन्तुष्ट एवं रुदन, आत्महत्या, आजीवन कीमारी, अध्यापिका या नर्स का जीवन
 अनाने जादि तक सीमित रह गया । साहित्य में ऐसे चित्रों को कभी नहीं जहां विपत्ति
 के कारण शरीर पति की, दैनिक जीवन सम्बन्धियों की और आत्मा प्रेमी की समर्पित कर
 दी गयी है । साहित्य के इन चित्रों के पीछे निर्वल मातृका ही तो है । तभी
 बात तो यह है कि भारत जाण बड़ी तेजी से बदल रहा है । यह कहना असम्भव है कि किस
 परिवर्तन की कीमती सीमा कहाँ है । सांस्कृतिक पुनर्जागरण, गान्धी, राजनीतिक
 आन्दोलनों एवं विश्व की नया तथा अपने राष्ट्र की परिस्थितियों में हमकी असाधारण गति से
 बदलना चाहता है । एक नया समाज बनने वाला है । एक नये मानव का जन्म होने वाला है ।
 बाह्य परिस्थितियां बड़ी ही तेजी से बदली हैं । एक विभिन्न ज्ञान्ति हो रही है और वह
 भी लोकान्त्रात्मक विधि से । एक ही देश में भारत उन सभी ज्ञान्तिमयी स्थितियों को पार
 कर जाना चाहता है जिसे पार करने में सारे संसार की दो सताब्दियां लग गयी हैं । विडम्बना
 यह है कि जितनी तेजी से बाह्य परिस्थितियां हमारे बाह्य रूप को बदलना चाहती हैं
 हमारा सांस्कृतिक मन उतनी तेजी से बदलने की तैयार नहीं । परिणामतः बाह्य जीवन
 और मन में अंगति उत्पन्न हो गयी है । हमारी सारी विभूतियां इसी अंगति की पुत्रियां
 हैं । जो वहां तक जागे बढ कर सोच सका उसने वहां तक जागे बढ कर सोचा; सोचा तो जागे
 बढ कर किन्तु मन उतना सुसज्जित न हो सका ; वादों न बदल सका । जितना बदल सके,
 बदला । स्थिर जितना न बदल सके, उसे हिमाया । नवीन का स्वागत किया ; प्राचीन
 को शोड न सके । आगत को भी बदला - न बदला ; अपने को भी बदला - न बदला ।
 कुछ बातें बड़ी अच्छी जीवनदायिनी और कल्याणकारिणी रहीं । हम यह नहीं भूलें कि हम
 एक महान सांस्कृतिक परम्पराओं वाले और ऊँचे ज्ञानदार इतिहास वाले देश के निवासी हैं।

निराशा अध्यात्मवाद की ही तो ही , किन्तु सामान्यतः जीवन को यथासम्भव निराशा से बचाते हुए आशाओं और महत्वाकांक्षाओं से सुन्दर बनाते रहना है । शक्ति और पुरुषार्थ में पूरा विश्वासहीनता चाहिए और मान्य पर आस्था रखनी चाहिए किसी सन्तोष का सम्बल न टूट जाए । सबसे बलम रहने की नीति पूरी तरह से ढोड़ दी गयी । उनकी जमाने, मिलाने और साथ ले कर कत्तों का समाव बना । जीवन में भले ही बहुत अधिक परिवर्तन नहीं हुआ किन्तु मस्तिष्क को नया दृष्टिकोण निश्चित रूप से मिला है । यह परिस्थितियों का परिणाम था, किसी नवीन दार्शनिक एवं वैज्ञानिक विद्वान का नहीं । सबसे अधिक तो हमने यह स्वीकार किया कि 'पुराणमित्येव न चाधु ज्यै, न चापि नूनं नवमित्यवंपद्य', अन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भवन्तै, मूढः पर प्रत्येनय बुद्धिः ।

यह प्राचीन और नवीन की -- परम्परा और नवान्तर परिवर्तन की -- विरोधी प्रकृति बातों की -- संगति बिठाना -- समुचित समन्वय -- भारत की बहुत पुरानी सांस्कृतिक प्रकृति है । वह सदैव इसी सज्जि रही है कि भारत में शाश्वत तत्त्वों की परिवर्तनशील तत्त्वों से पूर्णतः अलग कर लेना सही नहीं है । नवीन आधुनिक युग में हमने यही करने का प्रयास किया । यह सही है कि समुचित एवं वांछित रूप में समन्वय अभी स्थापित नहीं हो सका किन्तु यह भी सही है कि समन्वय की प्रक्रिया प्रारम्भ से ही प्रारम्भ है । कांग्रेसों के आने के पूर्व भारत के सामने हिन्दू और मुस्लिम संस्कृति के समन्वय का प्रश्न था और यह प्रश्न भारत ने अपने अंग से बहुत कुछ हल भीकर लिया था । हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों के समन्वय का सुन्दर चित्र राबिन्द्र बाबू ने 'संछिन्न भारत' नामक पुस्तक में प्रस्तुत किया है । समन्वय समाप्ति कर लेने का -- पचा लेने का -- हल कर लेने का -- नाम नहीं है। समन्वय में विविधताएं बनी रह सकती हैं । केवल वे एक दूसरे की काटखी हुई नहीं बल्कि । वस्तु, प्रतीयमान दार्शनिक, धार्मिक, सौन्दर्य सम्बन्धी एवं आत्मिक विरोधी प्रकृतियों के होते हुए भी हिन्दुओं और मुसलमानों ने एक-ही जीवन-परम्पराएं और जीवन पद्धतियां विकसित कीं । एक दूसरे की साझा-पद्धतियों पर भी प्रभाव पड़ा । एक दूसरे के रहन-सहन, ज्ञान-दान, रीति-रिवाज भी परस्पर प्रभावित हुए । दोनों में एकता भी है, दोनों में विरोध भी है, दोनों में विभिन्नताएं भी हैं और दोनों का प्रत्यक्ष प्रभाव अपना अस्तित्व भी है । समन्वय की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हो गयी थी और उसका जो

सुकल मिल रहा था उसमें यदि बाधाएं न पड़तीं तो शानदार स्वस्थ विकास होता । पर
 ऐसा नहीं हो सका । विरोध, विभिन्नताएं और विविक्तताएं स्वार्थी दृष्टिकोण वाली/ उप-
 निवेशवादी विदेशी साम्राज्यवाद के हाथों में पड़ गयीं । उसने उन्हें विनाशित कर दिया ।
 अपने लाभ के लिए उनका उपयोग किया । यह भूल निराला शक्तिशाली हो सकता था, इसका
 प्रमाण १९३९ के वात्सल्य का समय जानता है । संसार की महानतम साम्राज्यवादी शक्ति
 के हाथ-पैर यह सम्मिलित शक्ति डीले कर दे सकती थी । विभाजित हो कर जो दो स्वतन्त्र
 देशों का निर्माण कर सकती है समन्वित हो कर वे क्या नहीं कर सकती थी ।) इन्हें
 विनाशित करके अंगरेजी साम्राज्यवाद ने विश्व-संस्कृति की निम्नी महत्वपूर्ण तत्व से वंचित
 कर दिया है । हिन्दी साहित्य भी उसी तत्व से वंचित हो गया । हिन्दू-मुस्लिम सांस्कृतिक
 समन्वय का एक रूप हमें हिन्दुओं के कायस्थ नामक वर्ग में मिलता है और इस वर्ग के माध्यम
 से जो परंपराएं आयीं उनमें न तो कठमुल्लापन है और न पंढिताउपन । सांस्कृतिक दृष्टि
 से इस वर्ग ने बड़ी उदार मनोवृत्ति अपनाई थी और इसके द्वारा शक्ति बाधुनिक हिन्दी
 साहित्य में भी वह प्रवृत्ति है । मैं यह नहीं कहता कि अन्य निम्नी वर्ग ने ऐसा दृष्टिकोण
 नहीं पाया । अवश्य पाया है क्योंकि यह भारतीय संस्कृति की एक प्रधान प्रवृत्ति है । मैं
 कहना यह चाहता हूँ कि हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों के समन्वय की पत्यक्षा रूप इस रूप में
 इतना अधिक दिखाई पड़ा कि यह कहा जाने लगा, 'कायस्थ जाया सुखतमान होता है' ।
 समन्वय प्रवृत्ति से शक्ति ले कर इस वर्ग ने जो साहित्य बाधुनिक हिन्दी को दिया उसके
 हिन्दी की प्रतिष्ठा बड़ी ही है, भाषा की शक्ति में वृद्धि हो हुई है । समन्वय की यह
 प्रवृत्ति हमें पुरातन से भी सम्बद्ध रखती है और बाधुनिक से भी । एक वर्ग इसे अपनाता है
 और एक वर्ग उसे । स्त्रीलिङ्ग भाषा के भारत में एक और उदारतावाद है और दूसरी और
 गठिवाद ; एक और बध्यात्मवादी वर्ग है और दूसरी और भौतिकवादी वर्ग ; एक और
 बुद्धिवादी है और दूसरी और अनुकरणप्रिय । भारत में मजदूर बेगारी भी करता है और
 मजदूरी भी । वस्तु विक्रयार्थ भी होती है और 'नवर धेने' के लिए भी । सामन्तवादी
 प्रवृत्तियाँ भी हैं और साम्यवादी या प्रजातन्त्रवादी प्रवृत्तियाँ भी । साहित्य में भी दोनों
 का चित्रण है । जब भारत में मृतवाद और बध्यात्मवाद का समन्वय हो रहा है जिसका
 वृद्ध रूप बाधुनिक हिन्दी साहित्य में -- विशेष रूप से काव्य साहित्य में -- मिल सकता

विलांजलि देने के लिए भी तैयार नहीं है। हम मानवतावादी भी हैं और ब्रह्म तथा ईश्वर को मानव से श्रेष्ठ भी मानते हैं। साम्यवादी भी हैं और कर्मयोगी भी। यद्यपि साम्यवाद के महादेव के दर्शन धर्मों के स्मरण में ही होते हैं किन्तु भारत में धर्म साम्यवादियों के अन्तरंग जीवन में धर्म की व्यावहारिक मान्यता पाई जा सकती है। विज्ञान ने भी वह पुरानी धारणा छोड़ दी है कि वह अन्धविश्वास का समूली चैद कर सकता है और जीवन के समस्त रहस्यों का उद्घाटन कर सकता है। आजका नवीनतम वैज्ञानिक ईश्वर और धर्म को मानता है। इस प्रकार भारत का वर्तमान एक सन्धि-युग के बीच हो कर चल रहा है। आज की हमारी संस्कृति, महाकवि अकबर के शब्दों में, "न मसखिनी है, न मसारिबी है, अजीब सन्धि में उत्पन्न रही है।" इसी के अनुरूप हमारा आधुनिक हिन्दी साहित्य न पूर्णतः प्राचीन भारतीय साहित्य के सिद्धान्तों पर निर्मित होता है और न पूर्णतः पश्चात्य फौदों के सिद्धान्तों को मिला कर हमने अपना सिद्धान्त स्थिर किया है और नये भारत से तथा प्राचीन भारत से विषय वस्तु लिया है। भाषा हिन्दी है जो अपने नये देश में न अंग्रेजी से प्रेरणा करती है, न उर्दू से। हाँ, अपनापन अवश्य बनाए रखता चाहती है।

(पृष्ठ ८६६ से ८८६ तक)

विभिन्न प्रवृत्तियाँ और काल-विभाजन का दृष्टिकोण -- विभिन्न युगों के साहित्यिकों के मन पर पड़ने वाले प्रभाव -- नये साहित्य के लिए किस प्रकार रास्ता खोजा गया -- किन-किन का प्रभाव पड़ा -- बाहरी प्रभाव किस प्रकार स्वीकार किये गये -- उर्दू का प्रभाव -- संस्कृत का प्रभाव -- अंगरेजों के प्रभाव का स्वरूप -- पारश्वात्य सभ्यता का प्रभाव -- सांस्कृतिक पुनर्जागरण से प्राप्त प्रवृत्तियाँ -- जीवन से उद्भूत प्रवृत्तियाँ -- सिंहावलोकन: आधुनिक भारत की संस्कृति के विभिन्न उपादान:- १-राजनैतिक पराधीनता से अभिशप्त वातावरण एवं तत्जन्य प्रवृत्तियाँ, २-युद्धों के अभिशाप: युद्धों के दुःख प्रभाव, ३-सांस्कृतिक पुनर्जागरण, ४-भारतीय अन्तर्चेतना, ५-समन्वयशील प्रकृति, ६-उदार और ग्रहणशील प्रकृति, ७-आत्मतत्त्व के प्रति अविवर्धित आस्था, ८-समाज का प्रातिशोल मध्यम वर्ग, ९-सुधारवादी मनोवृत्ति, १०-नारी जागरण, ११-राष्ट्रीयता, १२-आन्धोवाद और सत्याग्रह, और १३-पारश्वात्य संस्कृति और सभ्यता के उपयोगी तत्त्व -- सैद्धान्तिक प्रारूपों में इनका विनिमय -- साहित्यिकों के मानस पर इनका प्रभाव -- मंगलमय परिणाम ।

विभिन्न प्रवृत्तियाँ और काल-विभाजन का दृष्टिकोण

साहित्य मन पर पड़ने वाले प्रभावों और दृष्टिकोणों का प्रतिफल होता है। आधुनिक हिन्दी साहित्य भी आधुनिक काल अर्थात् बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हिन्दी प्रदेश के निवासियों के जीवन की परिस्थितियों और उनके द्वारा उनके मन पर पड़ने वाले विभिन्न प्रभावों और उनके निर्मित दृष्टिकोणों का परिणाम है। ये ही सब मिल कर संस्कृति की स्फूर्ति बनाती हैं। पिछले अध्यायों में इनका विस्तृत विवेचन किया जा चुका है। ध्यान रखने की बात यह है कि इन प्रभाव वर्षों के बन्दर भारत का जीवन और दृष्टिकोण असाधारण गति से परिवर्तित होता रहा है। भारतवासियों पर यह दौध लगाया जाता है -- और यह कुछ हद तक सही भी है -- कि उसकी परिवर्तन की गति बहुत मन्द होती है किन्तु इस युग के भारतीयों ने इस वारणा को मिट्टीया लिह कर दिया है। यह ठीक है कि कहीं कहीं वह नहीं बदला और बहुत हद तक नहीं बदला किन्तु जहाँ बदला है वहाँ आश्चर्यजनक रूप से बदला है, यह भी सही है। एक बात और ध्यान रखने की है। हमारा आधुनिक हिन्दी साहित्य मध्यवर्ग का मध्यवर्ग के लिए और मध्यवर्ग के द्वारा लिखा गया है। मध्यवर्ग के जिन लोगों ने आधुनिक हिन्दी साहित्य लिखा है उन सबमें एक समानता आश्चर्यजनक रूप से बराबर मिलती है और वह है भारत की और हिन्दी साहित्य की विश्व में गौरवपूर्ण स्थान पाने का वास्तविक अधिकारी बनाने का प्रयत्न करना। मतभेद रहा है और बराबर रहा है मगर इसमें रहा है कि कैसे और किस रूप में बनाया जाए, इसमें नहीं रहा कि बनाया जाए या नहीं, बनाने का प्रयत्न किया जाए या नहीं, एवं बनाया जा सकता है या नहीं। कैसे बनाया जाए, यह अपने-अपने चिन्तन, विचार एवं जात्या की बात है। हमारा आधुनिक हिन्दी साहित्य यथार्थ जीवन का एक परिव्याक कर्म, दृष्टिकोण का परिव्याक अधिक है। कारण यह है कि इस युग में हमारे दिन प्रति दिन के जीवन की जपड़ा हमारा दृष्टिकोण अधिक प्रीज्ज्वल, गौरवपूर्ण एवं प्रशस्त रहा है। जीवन का जितना रूप ऐसा रहा है उतना किसी न किसी रूप में साहित्य में जा गया है और लाया गया है उसी दृष्टिकोण से,-- देखने का एक विशेष चरमा, दृष्टिकोण अवश्य रहा है। बात कुछ जमीन-सी है किन्तु है विलकुल सही कि

हमारा दृष्टिकोण हमारे जीवन-यापन के स्वरूप से कुछ स्वतन्त्र ना भिन्न रहा है, अर्थात् हमारे जीवन और करने में अन्तर रहा है। दृष्टि में क्रान्ति थी, गति में परम्परा और जीवन में समजीवियाँ। कारण यह है कि हमारी शिक्षा का हमारे जीवन से कोई सम्बन्ध रह नहीं गया था। शिक्षा दृष्टिकोण के निर्माण का एक महत्वपूर्ण माध्यम है। इसलिए हमारा दृष्टिकोण हमारे जीवन से अलग जा पड़ा। अंग्रेजों द्वारा बनाये गये मध्यकों के ये दो रूप सर्वस्वीकृत हैं। इतने पर भी जीवन के विघ्नों का जमाव बिलतुल रहा हो, ऐसा बात नहीं क्योंकि जीवन की शक्ति कुछ कम नहीं होती और बिलतुल सम्बन्ध विच्छेद करने साहित्य अल भी नहीं सकता था। इसलिए प्रेमचन्द का ग्राम्यचित्रण अवार्थ के बहुत कुछ अनुपम होते हुए भी एक दृष्टिकोण विशेष का परिचायक है -- आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का। आधुनिक हिन्दी साहित्य लिखने वाला मध्यकों का यह ज्ञानित भी समय के साथ बहुत तेजी से साथ बदलता है और इसका परिणाम यह हुआ है कि १९०० ई० का साहित्यिक १९०८ ई० के साहित्यिक से, १९०९ का १९१६ के साहित्यिक से, १९१७ का १९२५ के साहित्यिक से, १९२६ का १९३५ के साहित्यिक से, १९३६ का १९४२ के साहित्यिक से और १९४२ को १९४५ और १९५० के साहित्यिक से बहुत-बहुत भिन्न रहा है। तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि एक अवधि की बातें दूसरी अवधि में बिलतुल नहीं पाई जायें। बात यह है कि परिवर्तन कई प्रकार से हुआ करता है कभी भिन्न भिन्न प्रकार के तत्व-धों का अनुपात बदल जाता है, कभी शैली की पुस्तों में कुछ अलापन या कुछ और अधिक जुगलन जा जाता है, कभी प्रकार विशेष की कृतियों का मात्रा अधिक हो जाती है और कभी एक ही कृति बहुत कृतियों से अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हो जाती है, कभी विषय बदल जाता है, कभी एक विशेष विषय पर अधिक रचनाएं की जाती हैं और कभी अपेक्षाकृत कम। इस प्रकार इन दस दस और पांच-पांच वर्षों में भी आधुनिक हिन्दी साहित्य के अन्दर परिवर्तन हुए हैं जो समय की गति की दृष्टि एवं दृष्टिकोण के परिवर्तन के सूचक हैं। भारतीय समाज की जीवन धारा इतनी तेजी से नहीं बदलती -- बदल भी नहीं सकती; हाँ, जीवन का ढंग बदल सकता है और वह हुआ। ऐसा हुआ कि कुछ ऐतिहासिक प्रवृत्तियों एवं सांस्कृतिक आवश्यकताओं ने समय-समय पर कुछ महापुरुषों को पैदा किये। उन्होंने आवश्यकतानुसार समाज में इतनेसे पैदा कीं अर्थात् समाज के लिए

विचारधाराओं का प्रचार किया। इससे अपने समाज के प्रातिशोध एवं क्रान्ति नेता कुछ मध्यवर्गीय तबकों में नवीन आशाओं, आकांक्षाओं एवं महत्वाकांक्षाओं का उदय हुआ। इन्होंने अपना परिवर्तन किया और दूसरों के भी परिवर्तित होने का अनुरोध किया। बातें कहने, अनुरोध करने का, और वांछित रास्ते पर चला देने के प्रयत्नों का ढंग नैतिकतापूर्ण हो गई, इसलिए अपनी पुरानी महत्वपूर्ण साहित्यिक नियमों एवं विधाओं पर भी दृष्टि डाली और जिन परिस्थितियों में हमारे अन्दर ये आकांक्षाएँ उत्पन्न हुईं, वे परिस्थितियों में उस प्रकार की परिस्थितियों में उत्पन्न साहित्यिक विधाओं एवं साहित्य की भी मती माँति देता। तब अपनी शक्ति और सीमा के अनुसार सबसे अच्छा जो-कुछ हो सकता था वह उपस्थित किया गया। ऐसा साहित्य जिससे समय जहाँ एक ओर प्राचीन काल के उच्च लीटि के गौरव को प्राप्त करने की इच्छा थी वहाँ दूसरी ओर वर्तमान जीवन को सुधारने और सुन्दर करने की भी अभिलाषा थी। एक शानदार प्राचीन परम्परा वाले देश के विकृत वर्तमान में जाग्रत कर्मठ एवं उदार मानव की जो अभिलाषा, जो उद्देश्य एवं जो दृष्टिकोण हो सकता है उसी से प्रेरित हो कर लोगों ने आधुनिक हिन्दी साहित्य की रचना की। अपने देश, जाति, और साहित्य के उत्थान की महत्वाकांक्षा और उसके लिए अधिक प्रयास, निज गौरव के प्रति जागरूकता के दृष्टिकोण और दूसरों के सीखे और लेने के उदार दृष्टिकोण के विभिन्न तानों-बानों से हमारे इस आलोच्य काल की संस्कृति का बाह्यरूप-अभिव्यंजित रूप - निर्मित हुआ है और यही इस युग के हिन्दी साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि है। इसी से प्रेरितियाँ निर्मित हुई हैं।

वेले, यदि व्यापक दृष्टि से देखें तो मारतेन्दु से ले कर आज तक का साहित्य एक क्रम में -- एक बड़े परम्परा में -- एक अविविच्छिन्न प्रवाह में जाता है। इसका कारण यह है कि जिस भारत प्रेम का उदय मारतेन्दु-युग में हुआ था उसी का विस्तार आज तक हुआ है। लक्ष्मीधर वाष्णीय का कथन है, 'उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के लगभग अन्त में जिन नवीन शक्तियों का बीजारोपण हुआ वे उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अंकुरित हुई और अन्त बीसवीं शताब्दी में पूर्णतः प्रस्फुटित हुई हैं।' ^१ ये तत्त्व या

शक्तियाँ थीं राष्ट्र-प्रेम वा राष्ट्रियता, भारत के सांस्कृतिक गौरव की रक्षा, भारत के पुनरुत्थान की भावना, विषय और वस्तु--दोनों ही दृष्टियों से साहित्य और साहित्यिक लेखकों का टूट जाना, जीवनधारा का मर्यादित रूप से प्रगतिशील हो उठना अर्थात् ज़रोवर के बन्धे हुए जल की तरह न हो कर तटों से मर्यादित और फिर न गतिशील जलधारा की तरह हो उठना जिसका तात्पर्य यह हुआ कि अपनी ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक जातिगत विशिष्टताओं के प्रति जागरूक होने के द्वारा ऊर्ध्व एवं उन्नत प्राण हो कर बाहरी प्रभावों को चुन्दर डाल के स्वोन्नत करने अपनी शक्तियों, क्षमताओं एवं संभावनाओं को विस्तृत करने उनकी साहित्यिक अभिव्यक्ति करना आदि । ये शक्तियाँ एवं प्रवृत्तियाँ जोतपाँ खताब्दी में संप्राण एवं सज्जिव रही । अन्तर इस प्रकार हुआ कि कभी इनमें से कोई तत्त्व अधिक महत्व पा गया और कभी कोई, कभी किसी एक को अनुमति और अभिव्यक्ति अधिक तीव्रता पा गया और कभी किसी दूसरे की । साहित्य में अन्तर एक बात के कारण और अधिक प्रतीत होता है और वह बात है अभिव्यक्ति के माध्यम -- भाषा -- की बहुमता के दूर होने के विभिन्न स्तर । महावीरप्रसाद द्विवेदी की भाषा, मैथिलीशरण गुप्त की भाषा, हरिवीथ की भाषा, मातलाल मुर्वेदा और नवीन की भाषा, प्रसाद-पन्त-निशता की भाषा, रामकुमार वर्मा-महादेवा वर्मा की भाषा, भावतीशरण वर्मा-अंकल-नरेन्द्र की भाषा, जैय, बच्चन, दिनकर आदि की भाषा, नागार्जुन और धर्मवीर भारती आदि की भाषा तथा हथर के नव सम्मेलन कवियों की भाषा विभिन्न स्तरों और परिवर्तन के विभिन्न रूपों को स्पष्ट करती है। श्री कृष्णलाल ने १९०० से ले कर १९२५ ई० तक के काल को तीन विभिन्न कालों में विभाजित किया है :- १९००-१९०८ई०, १९०८ से १९१६ और १९१६ ई० से १९२५ ई० तक^१ इसके बाद १९२५ से १९२५ ई० तक एक प्रकार की, १९२५ ई० से १९४५ ई० तक दूसरे प्रकार की, और १९४५ से १९५० तक एक तीसरे ही प्रकार की विन्यासधारा और तदनु रूप शैली की रचनाएं हिन्दी में प्रचलित हुई। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और राष्ट्र-वैमिन्ध्य प्रधान आधुनिक युग में यह कहना असम्भव है कि उपर्युक्त तिथियों के पहले या बाद में उस प्रकार-विशेष का

१- 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' ।

साहित्य नहीं लिखा गया। यहाँ भी क्लोटा महत्व, प्रचुरता या प्रयोजनता का हो है।

विभिन्न युगों के साहित्यिकों के मन पर पड़ने वाला प्रभाव

१६०० ई० से १६०८ ई० तक का हिन्दी प्रेमी एवं हिन्दी का साहित्यिक पूर्ण रूप से जादसवादी था। वह नीति का अनुयायी और ऊंची बातों का प्रेमी था। ऊंची बातें पुनना, चीनना और यदि हो सके तो लिखना उसकी जानाँझा थी। इसके पास कभी समर्थ भाषा नहीं थी क्योंकि इस युग में जो भाषा साहित्य की भाषा बनने जा गयी थी वह सदासता, सामर्थ्य और दुन्दरता की जाकाँझाणी थी। वह ऐसे ऐसी बनाना था। इस जाल की साहित्यिक नेतना पर यह साहित्य भी जा और उसने इसे उठाया क्योंकि ऐसा करना उसने अपना धर्म एवं 'कर्तव्य' समझा। इस युग के व्यक्ति में स्वामी विवेकानन्द, और स्वामी रामतीर्थ के दर्शन लिये थे। दयानन्द के उपदेश और कार्यसमाज की बातें वातावरण में गुंजाई जा रही थी। यह युग सांस्कृतिक पुनरुत्थान की निकटतम भूमिका में जा और उससे बहुत अधिक अनुप्राणित एवं अनुप्रेरित था। यही कारण था कि जैसे इसने 'धर्म' अथवा 'कर्तव्य' समझ लिया उसके लिए यह जीवन न्योहावर कर सकता था। इसके पास नीति का बल था, धन, प्रचार अथवा मद ना नहीं। इसे पुनहरे भविष्य का भी लालन नहीं था। यह व्यक्ति हिन्दी के प्रति असाधारण और अविचल रूप से आस्थावान था। ज्ञान प्रचार की जाकाँझा ने देश-विदेश की पटनाओं और वहाँ की अच्छी-बच्छी बातोंको और दुष्टि ले जाना और उसे अपनी भाषा के द्वारा अपने साहित्य में लाने के लिए उत्साहित करना प्रारम्भ कर दिया था। मस्तिष्क और चिन्तन ऊंचा किया जा रहा था। इस युग के लेखक के पास भाषा का कोई भी जादसी नहीं था। इसका गद्य अव्यवस्थित था। प्राणों में नवयुग कीजदम्य प्रेरणा थी, वाणी में प्रारम्भिक अटपटापन था। दुःख के साथ कहना पड़ रहा है कि १६१० में स्थिति बिल्कुल उलट गयी अर्थात् वाणीमें प्रौढता का सामर्थ्य जा गया किन्तु बुद्धि में अविवेक का उन्माद जा गया।

१६०८ ई० के बीतते बीतते अर्थात् आठ वर्षों के अथक प्रयत्नों के परिणाम-स्वरूप इस युग के साहित्यिकों ने भाषा का एक मापदण्ड स्थिर कर लिया था। लड़ी बीती का मान्य और दुष्ट रूप सामने जा गया था। इसे पा कर इसके द्वारा अब हमने अपनी

जाताओं और जाकांजाकों को व्यक्त करना प्रारम्भ कर दिया था। देश को उंचा उठाने के लिए अपनी पुरानी सम्पदा, संस्कृति और इतिहास को ये बातें, जो हमारा जीत गंव से उन्नत कर सकती थीं, हमारे जीवन को सही रास्ते पर ला सकती थीं, और हमारे मानव को उन्नत और श्रेष्ठ बना सकती थीं साहित्य में अनिव्यक्त ही जाने लगीं। कर्कश लड़ी बोली काव्योपयुक्त बनने लगी थी। संस्कृति के मोह ने संस्कृत का अनुरागी बना दिया था। गण विदेशी ज्ञान-विज्ञान को और अपने देश को उठाने में उपयोगी बातों को हिन्दो जनता के सम्मुख निःसंकोच रूप में ला रहा था। मस्तिष्क का क्षितिज व्यापक होने लगा था ।

१९१६ ई० के बाद का हिन्दी साहित्यिक वस्तुतः जलाधारण भावनाओं-कल्पनाओं, वृत्तियों-मनोवृत्तियों, जाताओं-जाकांजाकों, योजनाओं और प्रयत्नों, तथा कों और उत्साहों वाला व्यक्ति था । जाये समाज द्वारा प्रेरित समाज-दुपारों को हफ़ेजारे, महायुद्ध के परभाव जंगरेजी साम्राज्य द्वारा प्रदत्त राष्ट्रीय जीवन और निराशारे महात्मा गान्धी द्वारा उपस्थित किया गया विश्वका अप्रतिम राजनीतिक आन्दोलन तथा जीवन का सांस्कृतिक पुनरुत्थान, जंगरेजी साहित्य के अध्ययन से प्राप्त नवीन विचार एवं नये क्षितिज, अपने प्राचीन साहित्य के अध्ययन से प्राप्त परम्पराएं, इन दोनों के तुलात्मक अध्ययन से उद्भूत आत्मोत्थेव की भावना तथा नवीन महान साहित्य के गुणन की प्रेरणा, टेंगोर की साहित्यिक ऊंचाई तक पहुंचने के प्रयत्न, अपने इतिहास के गौरवास्पद अध्यायों और उनके अवाशिष्ट प्रतीकों की जानकारी से प्राप्त सन्तोष, आत्महीनता की भावना को निकाल फेंकना, जो चीज़ अपने यहां नहीं है मगर नवीनजीवन व्यवस्था के कारण अपने लिए उपयोगी है उसके लिए दूसरे के यहां का 'माडेल' स्वीकार करने अपने यहां के स्वा-पानी-मिट्टी से लगभग ऐसा ही दूसरा तैयार कर लेने की उदारता आदि उस युग के साहित्यिक की मनोस्थिति के विभिन्न उपकरण हैं। हर प्रकार की अनिव्यक्ति में सदाय एवं समर्थ साहित्यिक लड़ी बोली स्वीकार्य रूप में सबके सामने आ गयी । 'सर्क' का तात्पर्य उन लोगों से है जो हीन मनोवृत्ति से उठ चुके थे -- नहीं तो हिन्दो से द्वेष करने वाले हिन्दू और मुसलमान भाई १९६६ तक भी कभी कभी कहते हैं । उज्ज्वलीट के साहित्य के लिए श्री सामान्यतः बी-मुख नाशिर या वह सब तुल्य हो गया । गण और पण दोनों में इस तरह के लेख सामने आए और वृत्तियां पढ़ने की मिलीं कि हिन्दी गंव से

सिर उठाने लगी। बलिदानियों का बलिदान एवं तपस्वियों की तपस्या रंग ले आई। ये प्रवृत्तियाँ कुछ धीमी गति से क्रियाशील थीं और इनसे प्रभावित लोगों की संख्या भी अपेक्षाकृत कम थी। गद्य में प्रौढ़ता आ गयी थी किन्तु कलात्मकता का अभाव था। साहित्यिक मानव-मन और आत्मा के सूक्ष्म प्रवेश का और उतना नहीं बढ़ा था। यह सब हुआ १६२५ के पश्चात्। तब जीवन की गति अत्यन्त शिथिल हो उठी थी। भारतीय रंगमंच पर ऐतिहासिक महत्व की घटनाएँ घटीं। भारतीय चेतना और प्रतिभा आपाद-मस्तक आलोडित विलोडित हो उठी। लक्ष्य देखीप्यमान था। उसकी प्राप्ति के साधन पर अक्षुण्ण विश्वास। कुछ कर गुजरने की इच्छा थी। 'इन्कलाब' के वातावरण में कला कलित हो रही थी।

१६२५ के आते जाते पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान ने साहित्यिकों को एक नयी दृष्टि दे दी। फ्रायड और मार्क्स ने जीवन और साहित्य दोनों में क्रान्ति उपस्थित कर दी। इन्होंने दृष्टिकोण बदल दिया। विज्ञान के आविष्कारों ने संसार की विभिन्न बातियों और राष्ट्रों को एक दूसरे के बहुत निकट ला दिया। नस्ल सम्बन्धों ऊँचाई और डोटाई की बात का मिथ्या प्रेम सभी समझ गये। विश्वमानव की भावना का उदय हो रहा था। यह ठीक है कि भारत की सभी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए ही लड़ना पड़ रहा था। किन्तु अन्तराष्ट्रीयता हमारे लिए अपरिचित नहीं रह गयी थी। जन प्रश्न केवल देशी और विदेशी का ही नहीं रह गया था, गरीब और अमीर का भी-पूँजीपति और पूँजीविहीन की भी समस्या सामने आ गयी थी। देश के दृष्टिकोण विदेशी बनस्य था परन्तु मध्यमार्थी बुद्धिवादी हिन्दी के साहित्यिकों ने भी यह दृष्टिकोण अपना लिया था। इस दृष्टिकोण वाले इस दृष्टि और भारत की सांस्कृतिक दृष्टि में समन्वय नहीं स्थापित कर सके थे। बहुत कुछ सिद्धान्तवादी होने के कारण इनकी जड़ें जीवन की गहराइयों में नहीं जाँच पाई थीं। इस वर्ग के लेखकों का भी दृष्टिकोण भारत का उत्थान, भारतीय जीवन की उपयोगी व्याख्या और इस दृष्टिकोण से उच्चकोटि के साहित्य का निर्माण करना था।

१९४५ ई० के बाद के नये साहित्यिकों का मनोविज्ञान और उनका प्रेरणा-स्रोत तथा उनके महत्व एवं ऐतिहासिक महत्व का अनुमान अभी गहरे विवाद का विषय है।

यह साहित्यिक जाग भी रास्ते की हो लौब कर रहा है। यह का द्वितीय महायुद्ध के बाद के जिस करुण, दयनीय एवं वस्तुन्मीलपूर्ण जीवन की पृष्ठभूमि में अपने साहित्य की रचना करने की बात कहता है उस जीवन की गहराइयों में जा कर उसकी अनुभूति इस का ने की नहीं। यह पश्चिम के सिद्धान्तों के चरम को आंखों पर, और मन ही मन अपनी बुद्धि की 'तिकड़मबाजी' में लपट रहता है। बटपटो पानी पीता है, जन्तु-जिह्वा जातकित कर देने वाली व्याख्यान करता है, और मनाना जानता है। प्रतिपक्षी की परास्त करने की सारी कलाएं जानता है, देखता केवल इतना ही है कि क्या काल देवता की भी परास्त करना जानता है। इसकी जड़ अपने देश के जीवन और संस्कृति में नहीं है। यह 'नई जाग' देने का रोव गाँठने के लौब में पश्चिम की नकल करता है। साधनाहीन कव्य नवयुवकों के लिए इधर बड़ा आकर्षण है।

ये हैं इन पचास वर्षों के काल के विभिन्न युगों के लेखकों की मनोवृत्तियों के प्रेरणा-स्रोत एवं उनके मानस पर पड़ने वाले विभिन्न प्रभाव।

नये साहित्य के लिए किस प्रकार रास्ता लौबा गया

महत्त्व की दृष्टि से बीसवीं शताब्दी के प्रथम आठ-दस वर्षों के साहित्यिकों का कार्य बड़ा ही कठिन और बड़ा ही महत्वपूर्ण था क्योंकि उनकी नया रास्ता ढूँढ निकालना था और '---नया मार्ग ढूँढ निकालना भी साधारण काम न था। रास्ते सभी बनवाये थे। किसी और बन्धायुक्त ढंग से बचना भी खतरा था जो लौती न था। फुंक फुंक कर धर रखने की आवश्यकता थी। इस कठिन अवसर पर हमारे पद्य-प्रवर्तकों ने बड़े साहस और उत्साह का परिचय दिया। प्रवर्तकों के स्थान पर काव्य में लड़ी बोली का प्रयोग होने लगा। संस्कृत, फारसी और कोरेवी ग्रन्थों का अनुवाद करके लक्ष्यों की पुंजी बड़ाई गयी। अन्य साहित्यों के अध्ययन से भावलोचन का विस्तार बढ़ाया गया ---'।^१

किन किन का प्रभाव पड़ा ?

गान्धी जी के द्वारा प्रचारित देशप्रेम, स्वातन्त्र्य संघर्ष, जागरण, पुषार साम्प्रदायिक लड़ाई, धार्मिक जीवार्थ, परसेवा आदि जैसे विचार अपनाये गये जिससे देश

और जाति का कल्याण हो सके। सत्य और अहिंसा की अपनी बातों और धार्मिक
 अथवा साम्प्रदायिक मान्यताओं के अनुरूप कर लिया गया। विरोधों अथवा विभिन्नताओं
 में समझौता करके भी साहित्य लिखा गया। भारतीय नवजागरण ने तो भावों और
 विचारों का, विषयों और विषय के प्रोत्तों का बड़ा मण्डार हो खोल दिया था।
 पश्चिम से नये दृष्टिकोण और नये सिद्धान्त मिले जिनके प्रकाश में साहित्य का नया रूप
 निरूपा। संस्कृत, बंगला, अंगरेजी, उर्दू, फारसी, मराठी आदि के साहित्यिक
 साहित्यों की जानकारी ने भी स्वरूप और दृष्टिकोण को वांछित रूप देने में सहायता
 की। अनुवादों के द्वारा तिलक, टेंगोर आदि महान विमुक्तियों के विचार और साहित्य
 से भी हमारा परिचय हुआ और हमारी निधि बढ़ी। हमारे मन का जितना और
 अधिक विस्तृत हुआ। जीवन और राजनीति देशभक्ति और मानव के कल्याण की जिस
 भावना से प्रेरित हो कर ज्ञानि कर रही थी उन्हीं भावनाओं और उद्देश्यों ने साहित्य
 में भी ज्ञानि उपस्थित कर दी। प्रसाद, पन्ना और निराला ने रूप विधान में और
 प्रतिवादी तथा प्रयोगवादियों ने साहित्य की आत्मा में भी ज्ञानि की। तब फिर
 भी प्रेरणा का दर्शन हो रहा।

बाहरी प्रभाव किस प्रकार स्वीकार किये गये?

विचार ज्ञानि और आवश्यकतानुसार बाहरी तत्त्वों की भी ले लेना और
 उन्हें अपने अनुसूल बना कर उनसे अपने जीवन की सम्पत्ति की वृद्धि करना इस सदी के हिन्दी
 साहित्यिकों की एक प्रमुख विशेषता रही है। महावीरप्रसाद द्विवेदी सांख्यिक मताचार्यों
 के पक्षपाती थे। उनके बाद लोगों ने सांख्यिक मन्त्रों को तोड़ने में किसी भी प्रकार की
 शक्ति का अनुभव नहीं किया। विश्वात्मा की अनुमति या विश्वास का पूर्णतः अभाव
 की भी नहीं रहा। बंगला, प्रभावा, उर्दू, अंगरेजी आदि सभी के कानि से गौरव
 और स्फूर्तिदायक कानि हुआ जाता था। उनको आत्मसाध करके सामने लाया जाता था।
 एक उल्लेखनीय बात यह है कि हिन्दी के साहित्यिकों की दृष्टि सांस्कृतिक मूल्यों और
 तत्त्वों पर से प्रायः नहीं हटी। प्रथम अध्याय में जिन भारतीय सांस्कृतिक तत्त्वों का
 उल्लेख किया जा चुका है जैसे -- समन्वय, सहज्यता, वास्तव्यता, प्रवृत्ति, धार्मिकता एवं
 भक्तिता, उपेक्षा न करते हुए ही लोकिकता की आवश्यकता से अधिक न बढ़ने देना,

जलौकिक पर जात्या आदि, उन सबका हिन्दो के आधुनिक साहित्यिक ने बराबर ध्यान रखा है। बाहुयूप अवश्य बदला है किन्तु हमारी ये सांस्कृतिक प्रवृत्तियाँ बलुण्ण हैं - बराबर पाई जाती हैं। इसीलिए हम महाकाव्य के उत्कृष्टतम महान कल्पनारं कर सन्ने में बराबर समर्थ रहे हैं और इसी सांस्कृतिक उत्तराधिकार के अभाव में उर्दू महाकाव्य देने में असफल रही है। इसी भाव-वैभव की भूमिका के कारण ही हमारी भावनाएं और धारणाएं असमर्थ कभी नहीं होनी पाई -- वे विकलांग कभी भी नहीं हुईं। हमारे आधुनिक युग के साहित्यिक को उत्तराधिकार में भक्ति और उपासना का वातावरण, घूर, तुलसी, कबीर, मोरा, जायसी, केशव, बिहारी, घनानन्द आदि का काव्य-वैभव संस्कृत का विपुल साहित्य और असाधारण काव्यशास्त्र, वेद-उपनिषद-गीता-बुद्ध-जैन आदि की अद्वितीय दार्शनिक सम्पत्ति, रामायण और महाभारत जैसे जथा काव्य, कृष्ण-राम आदि का लौकौत्तर चरित्र, आदि की प्राप्ति हुई। इन्हीं के द्वारा उनके चिन्तन, मनन, मन, कल्पना, भावना, आदर्श, भाषा, आकांक्षा, कर्म आदि की रूपरेखा निर्मित होती है। फिर वह वर्तमान को देखता है तथा पश्चिम के भी ज्ञान-विज्ञान और साहित्य का अध्ययन करता है। तत्परचात आत्मा की रुचि, प्राणों की क्षमता, बुद्धि की विशेषता, सच्चाई और ईमानदारी आदि के आधार पर उसके साहित्य की रूपरेखा निश्चित होती है। इसमें युग और परिस्थिति का रंग भरा जाता है। प्रकृतमृमि सांस्कृतिक होती है, बीच वर्तमान के बीच जाते हैं और अधिकतर पारंप्रात्य ढंग के वर्तनों में उपस्थित मिले जाते हैं। मध्ययुगीन और प्राचीन आदर्श, मान्यकारं, कबीरियाँ, प्रवृत्तियाँ आदि भी साथ साथ चल रही हैं। हम उस समय अपनी श्रेष्ठतम विभूति, अपनी श्रेष्ठतम कला और उज्ज्वलोटि की सामना के द्वारा उत्कृष्टतम रूप में समाज के सामने उपस्थित करके सन्तोष प्राप्त करने की वृत्ति में थे। इसके लिए अधिक से अधिक त्याग, बलिदान, कष्ट, सहिष्णुता आदि की आवश्यकता पड़ी। हमने अपने में ये गुण भी फेदा कर लिये क्योंकि हमें अपने और अपनी को जीतने के सामने गौरवास्पद रूप में खड़ा करना था क्योंकि हमारा जीत गौरवमय था। हमने जीतों से लिया है और बहुत कुछ लिया है -- मर ही जतना नहीं है पार जितना आरेजी ने दूसरों से लिया। फिर भी, हमारे अपने की एक योजना थी। हमने उची हो अपनाया जो हमारे लिये उपयोगी था और हमारी प्रवृत्ति के अनुकूल था। ऐसा भी हुआ है कि जब अपनाया और कला, जब उसकी

आवश्यकता नहीं रह गयी, ढोड़ दिया या अपनी आवश्यकता और प्रकृति के अनुसार उसमें परिवर्तन करते रहे। न लेना बड़ता का धोतक होता है, ले कर पना लेना, जीवन की निशानी। हमारे लेने में जीवन का स्पन्दन रहा है। काला साहित्य का हमारे ऊपर जो कण है उसे हम नत मस्तक हो कर स्वीकार करते हैं और मानते हैं कि उनका साहित्य हमसे कुछ पहले लिखा जा चुका था, अतएव लिखना प्रारम्भ करने के पहले हमने उसे पढ़ा था और उससे सहायता भी ली थी। फिर भी यह बात जोर दे कर कहा जा सकता है कि यदि ठोकर, द्विवेन्द्रलाल राय और शरद हमारे सामने न होते और फिर भी हम लिखें तो जो लिखें वह बाज के लिखने से कम महत्वपूर्ण न होता। कारण यह है कि हमें लिखने की प्रेरणा नवीन जीवन, नवीन परिस्थितियों एवं सांस्कृतिक पुनर्जागरण ने दी है, काल ने नहीं। काल ने मदद दी है, प्रेरणा नहीं। हमारे और काला साहित्य में यदि कुछ साम्य है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि चूंकि वह हमसे पहले लिखा गया है, इसलिए हमने उसकी नकल की है। साम्य इसलिए है कि काला और हिन्दी प्रदेश दोनों के नवयुग की प्रथमूमि में एक ही नवसांस्कृतिक पुनर्जागरण रहा है। ठोकर के रहस्यवाद की भी कबीर से प्रेरणा मिली है और रामकुमार वर्मा के रहस्यवाद की प्रथमूमि में भी कबीर है। किसी बड़े बाघी की कृति की प्रशंसा करते हुए उसी के समान कुछ लिखना उचित नहीं है। बाबुनिक हिन्दी साहित्य के निर्माण में समसामयिक जीवन और स्वतन्त्र अध्ययन से कम सहायता नहीं मिली है। मौन्द्र ने लिखा है, 'वास्तव में भारत की आत्म-चेतना का यह किसी काल या कम जैसे इन्शा-अमिला-बारे उठने के लिए पंख कड़कड़ा रही थी।' वस्तु इसी प्रभाव के अनुरूप प्रेमचन्द ने अपने चारों ओर के जीवन से प्रेरणा ली तथा सुदर्शन ने पुराण कालीन सामाजिक उत्थों की व्यंजना भी की है। बात यह है कि जिस प्रकार की हमारी जीवन चेतना रही है उसी के अनुरूप हमने अपनी भाषा और शैली में भी परिवर्तन कर लिया। इसलिए द्विवेदी युग के बाद शायबाद का युग बाया था। यह परिवर्तन किसी भी विदेशी प्रभाव के कारण नहीं हुआ। कंरेजी और काला साहित्य यदि हमारे सामने न भी होता तब भी हमें यह परिवर्तन लिना होता। बाबिर, पतानन्द के सामने कौन कंरेजी या काला साहित्य था। बात यह है कि उस समय पिछोव, उन्मूलन,

परिवर्तन, सुधार समस्त बेतन मन की मोहवृत्ति हो गयी थी जिसने अन्दर आधुनिक हिन्दी का साहित्यिक भी बाता है। बेचारा हिन्दी का साहित्यिक अथवा हिन्दी का प्रेमी बड़ा अमागा होता है। उसकी बददिमाग अधिकारी और उसकी पूं -- दोनों के व्यंग्य, कटुक्तियाँ, परिहास, ताने, तिरस्कार आदि बराबर मिलते हैं। जिनकी बुद्धि का दिवालापन सूर्य की रोशनी की तरह सर्वविधित है, वे भी हिन्दी न लेने-पढ़ने की एक गोरब की बात समझ कर हिन्दी वालों पर एक उपेक्षा की छंती बिखराते रहते हैं। पहले तो लोग ~~के~~ बेहिवक कह डालते थे कि हिन्दी में 'सुमान चालीसा' के अलावा बाँ है ही क्या। हजर जब इस साहित्य की ~~अच्छा~~ श्रेष्ठता लोगों की आकृष्ट करने लगी तब इस बात की स्वयं सिद्ध मान कर कि हिन्दी वाला बेवकूफ होता है वह मता ऐसी उंची और बड़ी बात कैसे कह सकता है -- क्योंकि इन लोगों के पिचारों के अनुसार उंची और बड़ी बात केवल अंगरेजी में ही सम्भव है -- ये यह दिखाने का प्रयत्न करने लगे कि उसका जब कुछ अच्छा अंगरेजी की नज़र है, वहीं से ली गयी है और इसमें हिन्दी बातों का अपना कुछ भी नहीं। निराशा के साथी और उनकी अच्छी तरह जानने वाले रामबितास कर्मा कहते हैं -- 'निराशा न्यू वेरी लिटिल इंग्लिश पोयेट्री बिकोर ही थिंस दि ग्रेट पोयेट डेट ही एर --- ही ऐर नाट वोन इन्कलुसिव बाई एनी पट्रिक्लर रोमैटिक पोएट -- डि रिमल इन्स्मायर्स आर तुलसीदास एण्ड रवीन्द्रनाथ। र ऐवेल फीना लिटी, सब ऐर निराशा एर नाट लिट वय बाई इन्कलुसिव कट ग्रीन बाउट बाक लाइफ इटैल'।^१ बचन कहते हैं, 'नाथि केन बी मोर फारफेज देन द थिं डेट दि यूरोपियन रोमैटिक मूवमेंट एन्ड हायावाद आर बेसिकली सिमिलर मूवमेंट्स। यूरोपियन रोमैटिक मूवमेंट बाज़ दि बाकलरमाय बाक दि ग्रेट रेवोल्यूशन। एंड हायावाद ? इट एमरज्ड बाकलर दि कम्प्लीट रीरंडर बाक इंडिया अंडर दि ब्रिटिश यूट। एन्जली इट एर दि स्तरशन बाक दि बील बाक इंडिया विज वुड नेवर बी एन्सलेज्ड ---।' ^२ जो कुछ भी प्रभाव माना जा सकता है वह शिखर था -- सुपरफिक्ल। जिस महुमलात पुन्नालात बल्ली ने आधुनिक हिन्दी साहित्य की बनते हुए देखा है उनका कहना है कि 'हिन्दी में उपन्यासों का विकास केवल पारंपार्य

१-रवीन्द्रसहाय कर्मा द्वारा 'हिन्दी काव्य पर आंग्ल प्रभाव' के परिशिष्ट में उद्धृत

२- वही

उपन्यासों की देखा-देखी हो नहीं हुआ, न पारवात्य देशों के श्रेष्ठ उपन्यासों की परम्परा से ही विशेष प्रेरणा ली गयी है और न किसी लेखक ने किसी महान पारवात्य उपन्यास के पैमाने पर हिन्दी में प्रयोग करने का साहस ही लिया है।^१ निबन्ध को इसलिए अधिक अपनाया गया कि वे नई चेतना को लोगों तक पहुंचाने में सबसे अधिक सहायक थे। बातचीत के विषय में उक्त लेखक का विचार है कि 'भारत की प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा तथा राष्ट्रीय जागरण की व्यापक चेतना/प्रेरणाओं से अपना अन्तःसंस्कार करते हुए हिन्दी साहित्य की विशिष्ट विकास स्थितियों के समानान्तर हिन्दी बातचीत ने भी प्रगति की है।'^२ हिन्दी की सर्वप्रथम कहानी 'इन्दुमति' जो १६०० में निकली थी, के लेखक किसीरीलाल गोस्वामी के अन्तरंग मित्र श्री नारायण चतुर्वेदी का कथन है कि गोस्वामी जी कांग्रेसी नहीं जानते थे और उनकी कहानी कांग्रेसी प्रभाव से पूर्णतः मुक्त है। इसके बिल्कुल विपरीत विचार कांग्रेसी के कुछ उन विद्वानों के हैं जिनकी पी-एच० डी० यही सिद्ध करने के उपलक्ष्य में मिली है कि 'जपने काव्यादर्श में उसे कांग्रेसी साहित्य के रोमांटिक बान्दोतन से विशेष प्रेरणा मिली यहाँ तक कि शायबाद ने उक्त बान्दोतन की सम्पूर्ण प्रवृत्तियों को ग्रहण किया --- हिन्दी शायबाद की मुख्य प्रवृत्तियाँ कांग्रेसी रोमांटिक साहित्य की प्रवृत्तियों के हल्की अनुकूल हैं कि वे उनकी शायी मात्र प्रतीत होती हैं।'^३ उक्त विद्वान की पुस्तकें पढ़ने पर ऐसा लगता है कि समस्त आधुनिक हिन्दी कविता, कविता के बादर, कविता के स्वरूप, बातचीत, बातचीत के प्रकार, नया साहित्य, आदि सब कुछ कांग्रेसी से लिया गया है। कुछ सीधे कांग्रेसी से लिया गया है और कुछ कांग्रेसी से प्रभावित होता है। महावीर प्रसाद द्विवेदी भी कांग्रेसी की दैन हैं, पन्त भी, प्रसाद भी, प्रेमचन्द भी। किसी ने कभी कहा था कि कांग्रेस हमें सम्य बनाने आए हैं, आज कहा जा रहा है कि कांग्रेसी हमें हमारा नवीन साहित्य दिया।]]] और इसका आकार है -- (१)-हमारी पत्र-पत्रिकाओं में कांग्रेसी कविताओं के अनुवाद भी प्रकाशित हुए, (२)-हमारे विश्वविद्यालयों में कांग्रेसी कवियों की कवितारं भी पढ़ाई जाती थीं, (३)-पारवात्य कवियों और लेखकों सम्बन्धी पारवात्यत्मक निबन्ध हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए, (४)-पारवात्य महापुरुषों

१- 'मेरी अपनी कथा'

२- वही

३- श्रीन्द्रवर्धन वर्मा 'हिन्दी काव्य पर आंग्ल प्रभाव', पृष्ठ १५१, १५०

पर भी हिन्दी कवितारं लिखी गयीं, (५)-चूंकि 'वईसवर्थ' की मांति द्विवेदी जी मो मनुष्य और प्रकृति की काव्य का मुख्य विषय मानते थे^१ अतएव वईसवर्थ से ये अवश्य प्रभावित थे । यदि सुतर्क न कहा जाए तो इसी के स्वर में स्वर मिला कर कहें कि वईसवर्थ का अनुकरण किये बिना द्विवेदी जी सम्भवतः मनुष्य और प्रकृति की काव्य का विषय मान ही नहीं सकते थे । (६)-अवतारवाद की भावना के विरुद्ध जी भाष पेदा हुए वे अंगरेजी बुद्धिवाद के परिणामस्वरूप थे (दयानन्द, विवेकानन्द आदि द्वारा प्रवर्तित सांस्कृतिक पुनर्जागरण के परिणाम स्वरूप नहीं) , (७)- युक्तिवाद, मानवतावाद, हरिजनोद्धार, नारी स्वतन्त्रता, राष्ट्रीयता आदि के विषय में यह कहना है, '२० वीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों में भारतीय विचार धारा में प्रतिवर्तनवाद (रिवाइवलिज्म) की भावना प्रबल हो रही थी किन्तु इस प्रवृत्ति की मूल प्रेरणा पार्श्वात्थ विद्वानों द्वारा किये गये शोधकार्य से प्राप्त हुई थी'^२ तात्पर्य यह कि हमें यह मान लेना चाहिए कि विवेकानन्द के मानव-प्रेम पर कान्ट की पाणिटिविस्ट क्लितासफी का प्रभाव था न कि परमहंस रामकृष्ण की भावना और उनके द्वारा दी गयी दिव्य दृष्टि एवं दिव्य अनुमति का । रामकृष्ण सुनल जी ने इस सिद्धान्त और लोकग्रह की भावना आर्हो २० रिवाइज से ली थी -- यह मान लेने पर पार्श्वात्थ प्रभाव और अधिक सक्षम सिद्ध हो सकता है । मुद्दह सुस्त, गवाह सुस्त । रामकुमार वर्मा, प्रसाद, पन्त, निराशा, महादेवी अपने विषय में चाहे जो कुछ कहें, किन्तु हमको यही मानना चाहिए कि ये 'कला कला के लिए' के सिद्धान्त से अवश्य प्रभावित हैं । हिन्दी में गीति काव्य की परम्परा चाहे कितनी पुरानी रही हो उस पर सर्वाधिक प्रभाव 'तिरिक् पीयड़ी' का ही मानना विद्वत्ता है । और उससे भी अधिक सामत्कारिक विद्वत्ता यह मानने में है कि ज्ञायाबाद की शैली पर -- रोमांटिक कवियों -- विशेषकर शेली के प्रतीकवाद का ही प्रभाव पड़ा है। मगर ही पन्त कहते हैं कि उनमें शेली का-सा पैग नहीं है किन्तु इससे क्या । इससे शेली पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । 'सन्निवृत्ताली ही विषयी कवी' का प्रेरणा प्रोव 'अर्वास्वत बाक दि किटेस्ट' की विचारधारा ही माननी है । जहां कहां भी 'कण' या

१-रवीन्द्रसहाय वर्मा द्वारा 'हिन्दी काव्य पर आंग्ल प्रभाव'

२-कोष्ठक का वाक्य भेरा है ।

३-'हिन्दी काव्य पर आंग्ल प्रभाव' पृष्ठ ११६

‘विद्युत्कण’ लिख दिलाई दें वहाँ ‘इलेक्ट्रानिक थियरी’ या ‘थियरी ऑफ रैलेक्ट्रानिक कन्वर्टिबिलिटी’ की मुहर लगानी चाहिए । ‘सत्यं, त्विं सुन्दरं’ के शीर्षक से जो कुछ भी हिन्दी वाला कहता है वह प्लेटो और अरस्तू की नकल मात्र है । ‘कबीर का रहस्य-वाद’ रामकुमार वर्मा तभी लिख पाए जब इवलिन बन्डरहित ने उनकी ‘प्राचीन सहायता’ की। मारतेन्दु, बालकृष्ण मट्ट, और प्रतापनारायण मिश्र ने अंग्रेजी ‘पत्रकारिता’ से निरंतर प्रेरणा प्राप्त की। हिन्दी के कवियों की बीरी या नकल के कुछ नमूने भी देते हैं नयाँ न लिये जाएं :-

असल:- माई धीम हज़ नौ बदर देन दि हाटि आफ मेन (वईसवर्ष)

नकल:- मानव हैं चिर विश्वास मुझे (पन्त)

असल:- टीच मी हाफ दि ग्लेडनेस देट दाई प्रेन मस्ट नौ, सच हाभी निथस मेडनेस फ़ाग दाई लिथ जुड फ़ुलो ।

नकल:- पिता दो ना है मधुप कुमारी मुझे भी अपना मधुमय गान ।

असल:- बार हाइव माई डेड थाट्स बीवर दि यूनिवर्स

लाइव विथ डी लीज्ड टु निर्विकर ए न्यू वर्ल्ड

नकल:- कलकठिनि, निज कलश में भर, अपने कवि के गोच मनीहर

फौला बाबो बन बन घर घर नाथें तुण तरु पात ।

ये उदाहरण विद्वानों के दिखे हुए हैं । इसी के बिल्कुल अनुपम छोटा-सा एक उदाहरण मैं भी देना चाहता हूँ । इसे स्वीकार कर लेने से अंग्रेजी और भी महान हो जाएगी ।

असल :- ‘रिबर्स नो टु दि सी’

नकल:- सीता बल धनुषि पहं जाई

और जिस प्रकार निष्कर्ष उपर्युक्त उदाहरणों से निकाले जाते हैं वैसे ही निष्कर्ष निकाल कर कहना चाहता हूँ कि मेवारे गुलामीघास में उपर्युक्त अंग्रेजी पंक्ति जितनी गुलजता से अपना ला है । वे करते भी क्या, क्योंकि ऐसा लिये बिना वे कच्चे कवि ही हो नहीं सकते थे । कारण स्पष्ट है -- ‘हायर थाट्स बार पाबिलिटी बीनला इन इंग्लिश’ । गुलामी जितनी बुरी होती है ।।।

हमने का तात्पर्य यह नहीं है कि हिन्दी के कवियों या लेखकों पर पार्श्वगत्य लेखकों या विचारधाराओं का कोई भी और किसी भी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ा । प्रभाव पड़ा है किन्तु उसी प्रकार का और उसी प्रकारसे जैसे दो समर्थ साधियों का एक दूसरे पर तब पड़ता है जब उनका कुछ दिनों के लिए साथ हो जाता है। हमने किसी की नहीं नहीं की और किसी के विचार अपने करके नहीं लिए । हमारा जीवन जिस प्रकार का था और हमारे पास भाषा जिस प्रकार की थी हमने उसी के अनुसार एक सजाव प्राणी की भाँति साहित्य प्रस्तुत किया । जब हमारी लड़ी बोली उतनी समर्थ नहीं थी कि हम उसमें सूक्ष्म भावों और रहस्यमयी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति कर सकें तब हमने गद्यात्मक भावों की काव्यात्मकता विहीन शब्दों में प्रकट किया । जब भाषा और सक्षम हुई तब इतिहासात्मक कविता लिखी । और अधिक सामर्थ्य आया तब अन्तर के सुदृढतम भावों की कविता काव्यात्मकतापूर्ण शैली में प्रकट किया । हमने उसी और लड़खड़ाती हुई भाषा और लड़ी शैली में समाज सुधार सम्बन्धी व्यास भी लिखी हैं और प्रवाद की गुम्फुर भाषा में साहित्यिक शैली में संस्कृति, दर्शन और कविता कल्पना की अभिव्यक्ति भी की है । हमने अपने जीवन और अपनी सक्ति का अनुकरण किया है किसी के साहित्य को अपना करके नहीं लिख दिया । हमारे लिखने का एक उद्देश्य था -- चाहे वह उद्देश्य प्रत्यक्ष रहा हो और चाहे अप्रत्यक्ष । हमारे साहित्यका हमारे जीवन और हमारे दृष्टिकोण से सम्बन्ध था । वह अनुकरण मात्र नहीं है । अनुकरण जबका मात्र प्रभावों के आधार पर पहले वाला साहित्य उतना महान जबका उतनी उज्ज्वलीटि का नहीं हो सकता जैसा कि हमारा आधुनिक हिन्दी साहित्य है । जब यदि कोई सूर्य के वास्तव्य से भी इन्कार करे तो किया ही गया जा सकता है । आयावाद का साहित्य हतोत्तर भ्रष्ट है क्योंकि तत्कालीन राष्ट्रीय के विचारों के अनुसार 'वास्तव में आयावाद कीज्यों आजादी के हिन्दी कवि के मन पर पड़े प्रभाव के फलस्वरूप उत्पन्न भेदना का प्रतीक है' । इसी प्रकार हिन्दी उपन्यास राष्ट्रीय विचार और सामाजिक परिवर्तन के अस्त्र के रूप में भी काम करता आया है । 'सेवासदन' और 'मास्त मास्ती' अपने युग की व्यापारण पुस्तकें हैं जो प्रकाशित होते-हुंमे ही प्रत्येक हिन्दी प्रेमी के पास पहुँच गयी थीं । इनके लेखकों की भेदने के लिए हाव विचारधायों से स्वात्न भर जाती थे । अनुकरण का उच्चार से प्राप्त तत्व सही योग्यता का

बनक नहीं हो सकता । कलाकार बच्चन ने न फिट्टू बेराह का अनुकरण किया है, न उमर
 ज़ेयाम का वह कण्ठी है। मधुशाला, मधुबाला, मधुलता, बाकुल बन्तर, स्कान्द संगीत,
 सतरंगिनी के बच्चन के बारे में जो ऐसा कहता है वह या तो भूठ बोलता है या बच्चन को क
 सम्मक नहीं पाया । बच्चन ने लिखा है, 'मैंने तो अपने हृदय के बन्दर देता है और लिखा
 है --- मैं भावनाओं का कवि हूँ ---।' ^१ इन छायावादी युग के कवियों ने बनता और
 पढ़े लिखे के मन में इतना घर कर लिया था कि पत्रिकाओं में प्रसाद, पन्त, निराला,
 महादेवी, मैथिलीशरण गुप्त, मासकलात कुर्येदा, बच्चन आदि की कविताएं उत्पुष्ता
 और व्यग्रतापूर्वक लीवी जाती थीं और उन्हें संगृहीत करने का प्रयत्न किया जाता था ।
 यह हसीतिर नहीं हो सकता था कि वह बईसवर्ष, सेतो, कीटस, वायरन, डूलेक आदि
 की नकल या कूटन है बल्कि इसलिए होता था कि इन कविताओं के पाठकों को उनके मन
 की रुचि, आशा आदि को सन्तुष्ट करने वाला कोई तत्त्व मिलता था । सांस्कृतिक
 पुनर्जागरण ने जेतना उदात्त कर दी थी । यह साहित्य उसी जेतना का आर्षना था ।

'दिनकर का 'अभिनव मानव' बण्डा युग की विषमता को चित्रित करके नवमानव की
 प्रिय कल्पना, मधुर आदर्श उपस्थित करता है और हसीतिर प्रिय है। हसीतिर वह
 सत्साहित्य है। कमर साहित्य है । उपन्यास आधुनिक युग की देन है । आधुनिक मानव
 के वैयक्तिकतावादी दृष्टिकोण का परिणाम है, पश्चिम की देन होते हुए भी पश्चिम
 की नकल नहीं है। वस्तुतः आधुनिक हिन्दी साहित्य में, पार्श्वात्य सम्मता के हमारा
 जीवन वास्तव रूप में जितना भी प्रभावित था उसकी अभिव्यक्ति और हमारी मनोप्रवृत्तियों,
 आशाओं और आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति है और इसलिए यह कोई हीनता, तौल या
 आश्चर्य की बात नहीं कि हमारे साहित्य का वास्तव रूप थोड़ा-बहुत पश्चिम के अंग या
 प्रकार का हो गया । वास्तव यह है कि इस युग में हमारे आधुनिक हिन्दी साहित्य का स्निग्ध
 निर्माण पार्श्वात्य सम्मता तथा तत्कालीन परिस्थितियों के बाह्य जीवन के उद्भूत होवा
 हुई प्रवृत्तियों के, पुनरुत्थान के कुछ प्रभावों एवं वेदक तत्त्वों के और विभिन्न साहित्यों के
 सम्पर्क में आने के परिणामस्वरूप हो जाने वाले परिवर्तनों के द्वारा है ।

उर्दू का प्रभाव

उर्दू ने हमको शैली की रीकता का एक आदर्श रूप दिखाया था। जिस उर्दू ने हमको यह रूप दिखाया था वह उर्दू पगारसी और अरबी के कठिन शब्दों से लदी हुई नहीं थी, बल्कि व्यावहारिक रूपवाली उर्दू थी। उदाहरणार्थ:- 'ये जलमे की फरावानी, ये बगानो, ये उरियानी, फिर इस सिद्ध की ताबानी कि हमपदा सम्मते हैं' ने मोह प्रभाव नहीं डाला। प्रभाव डाला तो इन पंक्तियों ने 'जमाना बा रहा है जब ऐसे समी सब से बख्शर, अभी तो बाप जुह कहते हैं जुह तनहा सम्मते हैं'। 'गुलशन परस्त हूं मुझे गुल ही नहीं बजीज़' का उतना प्रभाव नहीं पड़ा जितना इसका कि 'कांटों से भी निबाह जिये बा रहा हूं मैं'। 'वा लास सामने हैं पर जब इसकी क्या खं, दिल मानता नहीं कि नज़र कामयाब है' जैसी अभिव्यक्तियों की शैली का कुछ अधिक प्रभाव पड़ा। इस प्रभाव पड़ने का कारण यह था कि हम स्वयं शास्त्रीयता से सर्वप्रथमता की ओर बढ़ रहे थे क्योंकि भारत में भी यह युग जनतंत्रात्मक प्रवृत्तियों का था। राजाओं की जेद से जब साहित्यिक बूटा तो उसे जनता के सामने खाना पड़ा और जब वह जनता के सामने खाना तो जनता की समझ में खाने वाली बात जनता की समझ में जा सके वाली भाषा और व शैली में कोना ही। चूंकि हिन्दी-उर्दू की भाषा की मूल प्रकृति कुछ एक ही है, अतएव उर्दू की इस सरलता वाली प्रकृति ने, जो हमारे लक्ष्य की पूर्ति के लिए उपयोगी थी, हमारा कार्य कुछ सरल कर दिया और हमने उस ओर पर लिले का कुछ प्रयत्न भी किया।

संस्कृत का प्रभाव

संस्कृत ने आधुनिक हिन्दी साहित्य को सज्जकोष दिया, व्याकरण दिया, शब्दशास्त्र दिया, कविता की रीति दी अर्थात् काव्य शास्त्र दिया, तथा विषयों और भावों की विपुल सम्पत्ति खोल दी किन्तु संस्कृत हिन्दी की हिन्दी की प्रकृति नहीं दे सकी थी। यह हमें मनबोला ही दे सकी थी। वाणी, अपने पूर्ण राष्ट्रीय भाषा और साहित्य - अर्थात् संस्कृत-से आधुनिक जीवन की प्रवृत्तियों, भाषाओं और वाक्यांशों के अनुरूप एवं अनुरूप हमें जो कुछ लेना चाहिए था वह हमने लिया। इस प्रकार जैसे हिन्दी अरबी की नकल नहीं है, उर्दू की नकल नहीं है, वैसे ही संस्कृत का भी कोई जंग नहीं है। उसका अपना एक स्वतन्त्र अस्तित्व है। पुराने लोग अपने जहंकार में नये का शिरस्तार और नये के लिए

अपनी अनिवार्यता सदैव घोषित करते हैं। इसी प्रकार संस्कृत के पण्डित हिन्दी के लिए संस्कृत को उपयोगी ही नहीं, अनिवार्य भी समझते हैं। कभी कभी प्रेमचन्द, भारतेन्दु, कबीर, जायसी, नन्ददास, रत्नाकर, पद्माकर, महावीरप्रसाद द्विवेदी, मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त, रामकुमार वर्मा, निबन्ध साहित्य आदि की बी० ए० के पाठ्यक्रम से केवल इसीलिए छटना पड़ जाता है कि संस्कृत के अध्ययन को उस एक प्रश्न का लगभग आधा भाग देना ही है। यह प्रवरदस्ता है, अन्याय है। हिन्दी का कल्याण संस्कृत का तिलक लगाने से नहीं हो सकता। हम संस्कृत का कण स्वीकार करते हैं किन्तु यह हमारे घिर पर बैठ कर कब तक जीवित रहेगी। ज्ञान, यशपाल, पहाड़ी, भावतीशरण वर्मा, नवीन, बच्चन, दिनकर, जेबल, सियारामशरण गुप्त, मैथिलीशरण गुप्त, पन्त, निराला आदि का साहित्य क्या संस्कृत का आचार्य बने बिना नहीं हो सकता या सकता? यदि जिन जिन का प्रभाव पड़ा है उन सबका अध्ययन आवश्यक है तो बी० ए० के हिन्दी पाठ्यक्रम में ५० प्रतिशत उर्दू के (फिराक के कथनानुसार), ४० प्रतिशत या ५० प्रतिशत संस्कृत के, फिर प्रतिशत का गणित बदल कर जो कुछ बचे उतने प्रतिशत अंग्रेजी के साहित्य की पंक्तियाँ हिन्दी के बी० ए० के छात्रों की पढाई बरें। रही हिन्दी, जो उसमें पढ़ने के लिए है ही क्या ।]]]

अंग्रेजी के प्रभाव का स्वरूप

अंग्रेजी का कण हमारे ऊपर इतना ही है कि 'परिचयी सभ्यता' के प्रभाव से जिस स्वच्छन्दतावाद की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन से वह जोर भी बल्लि पुष्ट जोर शक्तिमान हो गया।^१ बड़े ही बुझाई हुए ढंग से दिनकर ने अंग्रेजी साहित्य के हिन्दी पर पड़ने वाले प्रभाव का मूल्यांकन किया है। वे कहते हैं, 'अंग्रेजी साहित्य के माध्यम से हम भारतीयों की सभी विन्तापारश्यों का उपराधिकार आपसे आप प्राप्त करते जा रहे हैं। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि हिन्दी कविता प्रधानतः उन्हीं कारणों से जागृत हो रही थी जो हिन्दी काव्य की परम्परा और हिन्दी भाषा की जनता की रुचि से उत्पन्न हुए थे। किन्तु अब हिन्दी काव्य में नये चित्रों के निर्माण की समस्या जुलमाई जा रही थी कभी देश और विदेश के कवियों

की वाणी ने हमारा पय-निर्देश किया और हमें अपने अनुकूल एक नवीन स्तर स्थिर करने में सहायता पहुंचाई ---- हमारी वाकुकता समुद्र पार की लय में ही व्यक्त हो जा सकती थी और जिसका भारतीय रूप रवीन्द्रनाथ में दमक रहा था।^१ पश्चिम की विधि-विधानों का भारतीयकरण करके उसमें हमने अपने तत्कालीन भारतीय मानव की अभिव्यक्ति की। ठीक जैसा विस्तृत काला साहित्य का हिन्दी पर जो कण है वह इसी प्रकार का है कि - उन्होंने वह का पहल अपना लिया जो हमने बाद में अपनाया। इसलिए हमारे अपनाने में उसके अपनाए हुए के स्वयं का प्रभाव ज्ञात और ज्ञात दोनों रूपों से पड़ गया क्योंकि साथ ही दोनों साहित्यों की एक ही मांग थी, एक ही आवश्यकता थी। बस, हमने पश्चिम का साहित्य देखा-समझा और सोचा कि भूँकि यह चीज़ अच्छी है इसलिए इस तरह की कोई चीज़ हमारे साहित्य में भी होनी चाहिए। यह सोचकर अभी हमने यह विधा ली (जैसे उपन्यास, कहानी, आलोचना, रिपोर्टिंग, स्काफियों का नया का आदि) और अभी यह साका। तत्पश्चात् रंग भरना आरम्भ किया। इस प्रकार चीज़ बन कर तैयार हुई। ध्यान से देखें तो इस चीज़ में जीवन और आत्मा हमारी अपनी है। 'चित्रलेखा' के लिए कोई भावगीकरण बर्मा की 'थाया' का कण्ठि जैसे मान सकता है। चित्रलेखा चित्रलेखा है, वह थाया ही ही नहीं सकती। चित्रलेखा का मन, उसका मनोविज्ञान, उसका जीवन, उसका स्वभाव, उसकी बाह्य रूपरेखा, उसका ज्ञान, उसका दर्शन भारतीय जीवन और इतिहास की देन है। हाँवा मात्र कता नहीं है। फाल्गुन और गीट पक्ष लैन पर राधाकृष्णाय और मेरु अंगरेज नहीं हो सकते, ठीक वैसे ही, जैसे साजी इलाउज़ पक्ष लैन पर रत्नविष (द्वितीय) भारतीय ज्ञान नहीं हो सकती। इसी प्रकार, थाया चित्रलेखा नहीं हो सकती और न चित्रलेखा, थाया। १९२६ में 'साहित्य-पाठक' की में लिखा था, 'मेरे एक मित्र का कथन है कि 'समुमि', 'बांस की किरकिरी' और 'पेनेटी कोवर' तीनों उपन्यासों के मास्तिष्क में चीज़ एक ही प्रकार के अंकुरित हुए थे पर एक से कागजी दिखीया गुला, दूसरे से बोटा पर का सच्चा पोवा और तीसरे से हरा-भरा गुला उगा।'^२ मुझे इस आलोचना में यही दिखाई पड़ता है कि लेख ने केरी की बेकता और की बीर और की बेकता प्रेमचन्द की बोटा एवं अन्तर्गत लिख देने में अपने लिए कोई भी ज़रूरत नहीं देता। सम्भवतः उसकी पैतृना में

१- 'साहित्य की भूमिका', पृष्ठ ७३

२- 'समालोचन', संख्या ४, भाग २, १९२६ ई०

अंगरेजी पर आस्था-विश्वास तथा अंगरेजी का आतंक सबसे अधिक था और कला का उससे कम था। हिन्दी तो घर की अयोग्य नौकरानी समझी ही जाती है। श्यामसुन्दरदास ने 'साहित्यालोचन' लिखा। तब तक हिन्दी में कहानी, स्कांकी, छंद निबन्ध, उपन्यास आदि लिखे जाने प्रारम्भ हो गये थे। इनका साहित्य इतना प्रचुर था नहीं कि उसके आधार पर नया आलोचना शास्त्र बन सकता। पश्चिम के साहित्य का परिचय हमने मिल ही गया था और उससे भी प्रभावित हो कर हम आगे बढ़ रहे ही थे। ऐसी स्थिति में श्यामसुन्दरदास जी ने इंग्लैंड के 'इन्ट्रोडक्शन टु लिटरेचर' का सहारा और जहाँ क्वाण्टर तक ले लिया। किन्तु बाबू साहब की पुस्तक का और इंग्लैंड साहब की पुस्तक का अपना अपना स्वतन्त्र महत्त्व, विशेषता और व्यक्तित्व है। इसी रूप में हम पर बानसन, रिचार्ड्स, टेन, वाल्टरपेटर, हल्लिवट आदि का प्रभाव पड़ा है। हाँ, प्रयोगवादी और अवश्य पश्चिम के साहित्यों की नकल कर रहे हैं और पूरी नकल कर रहे हैं। स्वतन्त्र भारत के जौन नवयुवक वेजी है उसी प्रकार पश्चिम के कौशनों का अनुकरण कर रहे हैं जैसे १८वीं और १९ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में करने लगे थे। अतः नवयुवकों की तरह ये लोग भी हैं। इनके ऊपर अंगरेजी के नये साहित्य और साहित्यिकों का ही प्रभाव है। स्वतन्त्र होने के बाद भारत का जीवन और उसकी आस्था भी किसी सबल-सफल सांस्कृतिक नेतृत्व के अभाव में लड़खड़ा सी गयी है किन्तु ये अनुकरण के कारण अपने साहित्य में उसे उसी प्रकार का दिता रहे हैं मानो यूरोपीय जीवन का वह भाग (जिससे ऐसा साहित्य वहाँ निकल रहा है भारत में ला कर घर ही दिया गया है)

पश्चात्त्य सभ्यताका प्रभाव

बीसवीं शती के आरंभ-आदि हमारे जीवन का साक्ष्य रूप पश्चिमी सभ्यता के रंग में लकी रंग गया था। ज्यों-ज्यों समय बीता, यह रंग जहाँ गाढ़ा और जहाँ क्रीडा होने ला। पुनर्जागरण ने हमें जो संकेत दिया था उसके अनुसार हम व्यक्तिगत स्वार्थों पर अपने को और अपनी मान्यता को बलाने लगे थे। अंगरेजी भाषा और साहित्य से हमारा परिचय हो ही जाता था। जो अनुवाद के क्षेत्र में और जो जो मौलिक साहित्य के जो क्षेत्र में हमें बेसी अनिच्छावृत्तियाँ भी करनी पड़ी किन्तु हमारा सभ्यता एवं हमारा चिन्तन-धारा से कोई भी सम्बन्ध नहीं था किन्तु जो देखने में अच्छा लाती थी। ऐसा करते समय

हमने मूल भाव को सुरक्षित रखते हुए अपनी संस्कृत भाषा के शब्दों में उन व्यंजनाओं को लाने का प्रयास किया। इस प्रकार अंग्रेजी शब्दों और मुहावरों का हि के सफल और अभी अभी असफल अनुवाद भी हो गये और प्रचलित हो गये 'गुनहरे दिन' का हि 'रसी' हो अभिव्यक्तियां हैं -- ऐसे ही प्रयोग हैं। इसी प्रकार अलंकारों को भी अपनाया और उनका नामकरण किया गया। पश्चिमी संस्कृति के एक अंग -- मानसवादो संस्कृति -- के परिणामस्वरूप हमारे यहां लोक गीतों के महत्वांकन को प्रोत्साहन मिला। प्रातिवाद भी पश्चिम को ही लेके देन है। आधुनिक विज्ञान एवं भौतिक शास्त्रों तथा सामाजिक विषयों के अध्ययन की प्रेरणा भी पश्चिम से ही मिली है। अति बौद्धिक दृष्टिकोण भौतिकवादी पारवात्य सम्यता के अनुकरण से ही प्राप्त हुआ है। रेडियो, पत्र-पत्रिकाएं, सिनेमा, साहित्य और राजनीति, लौकिक विषयों के प्रात अत्यधिक जागरूकता, गद्य का प्राधान्य, साहित्य पर वार्षिक दृष्टिकोण का प्रभाव, अध्ययन-अध्यापन का साहित्य से सम्बन्ध, साहित्य और भाषा की ऐतिहासिक और वैज्ञानिक सिद्धान्तों के अनुसार सम्झने की दृष्टि, सिद्धान्तों के आधार पर साहित्य का निर्माण का हि पारवात्य सम्यता की दृष्टियां हैं। इनका हमारे साहित्य पर प्रभाव पड़ा है।

सांस्कृतिक पुनर्निर्माण से प्राप्त प्रवृत्तियां

वेसा कि पिछले अध्यायों में स्पष्ट किया जा चुका है, सांस्कृतिक पुनरुत्थान हमारे आधुनिक हिन्दी साहित्य का निवामक है। रवीन्द्र, दयानन्द और गान्धी, भारतीय सम्यता और संस्कृति के प्रतीक थे। प्रेम और सौन्दर्य सम्बन्धी नवीन दृष्टिकोण, रहस्यवाद, दार्शनवाद, वेदान्त, प्रकृति चिन्तन, अपरोक्ष अनुभूति, समरसता, विशद, बानन्दवाद, ज्योति, स्वदेशप्रेम, राष्ट्रियता, अन्तराष्ट्रियता, पारिवर्तन की पुकार, परम्परा, इतिहास, प्रेम, यांत्रिक सम्यता के प्रात विरोध, मातृमृ, 'भारत माता एवं मातृभाषा की सेवा', आदर्शवाद, त्याग, बलिदान, जागरण-वाद, प्रकृतिमार्ग की और गति, भक्ति, भारतीय धर्मशास्त्र के प्रात प्रेम, जातिवाद का विरुद्ध, अनाति स्वातन्त्र्य, साहित्यकार बनने की पुन, राजनीतिज्ञों के प्रति अज्ञाधारण आदर, दिन-प्रतिदिन के जीवन का साहित्य पर पड़ने वाला प्रभाव, एकता की भावना, पुनरावादी दृष्टि, भौतिक दृष्टि, सर्वतोमुखी उदारता, प्रातिपूर्ण दृष्टि, अज्ञात का गौरव गान, अज्ञाधारण उत्साह.

व्यापक राष्ट्रीय जाति की इतनी, संगठन, कार्यसमाजी बोद्धिभा, नारी जागरण,
 प्राचीन साहित्य का अध्ययन, पवित्रतावाद, विद्रोह, भारतीय दर्शन शास्त्र की विभिन्न
 शाखाओं का अध्ययन आदि क्रियाएँ हमको नव-जागरण या सांस्कृतिक पुनरुत्थान के
 बान्धोतनों से ही प्राप्त हुई हैं और इन्होंने साहित्य की जायापट कर दी है। इसका
 परिणाम यह हुआ है कि साहित्यिक प्रतिभारं इस प्रकार प्रकट होने लगे जैसे पूर्व की
 किरणों का स्पर्श पा कर कमल दल खिलने लगे। दारिकाप्रसाद सन्ध्या ने 'प्रियप्रवास'
 में भारतीय संस्कृति का जो स्वरूप देखा है उसके विभिन्न तत्व हैं जादर परिवार, जादर
 समाज, अवतारवाद, ईश्वर प्रार्थना, व्रत, पूजा, तीर्थ, उत्सव, काग से शतुन जानना,
 माग्यवाद, जाति-प्रेम, राष्ट्रीयता, सर्वमृत्यु, लोकसेवा, सात्विक कार्य, बहिष्कार,
 सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, आध्यात्मिकता, नवमानवता, नारीत्व महत्त्व,
 वसुधैव कुटुम्बकम् आदि।^१ इनके पाछे नवजागरण का ही प्रेरणा है। 'भारत भारती'
 में जो नवजागरण की ही भावना मरी है। कामायनी में जिस नवीन मानव संस्कृति की
 छवि की कल्पना की गयी है उसके भी विभिन्न तत्वों का उदय नवजागरण के ही प्रभाव
 में सम्भव हुआ है। किन्तु यह सही ही समझता है कि रामकुमार वर्मा की कृता पारंपार्य
 कृता से प्रभावित है उससे अधिक यह सही है कि उनकी क्रियाओं के भीतर जो आत्मा है
 उसकी संजीवनी शक्ति भारतीय है और सांस्कृतिक पुनर्जागरण से मिली है। दिनकर ने
 लिखा है, 'हिन्दू नवोत्थान का ज्येष्ठ प्राचीन भारत से नवीन यूरोप की रक्षा की साधना
 था और यह ज्येष्ठ साधनावादी कविता पर भी पूर्णरूप से चरितार्थ होता है। प्रवाद, निराश
 पन्ना और महादेवी की काकताओं की रीढ़ भारत के प्राचीन सत्त्वों की अनुमति है।'^२
 उदात्ता, पश्चिम की उपयोगी बातों को ले लेना, प्राचीन काल के महत्त्वपूर्ण तत्वों के प्रति
 जादर, राष्ट्रीय स्वाभिमान, अपनी संस्कृति और सभ्यता के प्रति जादर आदि नवोत्थान
 के ही विभिन्न तत्व हैं। इनके बिना नये जाधुनिक हिन्दी साहित्य की कल्पना भी नहीं
 की जा सकती।

१- 'प्रियप्रवास' में काव्य, संस्कृति और दर्शन

२- 'काव्य की भूमिका' पृष्ठ २८

उपर्युक्त तत्वों के अतिरिक्त हमारा साहित्य हमारे जीवन की प्रवृत्तियों से भी प्रभावित हुआ है। प्रेमचन्द का समस्त विशाल साहित्य दिन प्रति दिन तक के जीवन का कौटो-चित्र है -- अत्यन्त है।

जीवन से उद्भूत प्रवृत्तियाँ

इस युग में हमारा जीवन भाव-प्रधान से बुद्धि प्रधान, एकरसता प्रधान से समस्या प्रधान हो गया। कवियों का भी जीवन इससे अछूता न रह सका जिसका परिणाम यह हुआ कि कविता में भी बुद्धिवाद पुस पड़ा। गद्य लेखकों को ही संख्या नहीं बढ़ी, गद्य के विभिन्न प्रकार भी एवं उसकी विभिन्न विधाएं भी लोगों में अपनी अपनी रुचि और आवश्यकतानुसार अपनाईं। सम्भवतः कोई भी महत्त्वपूर्ण कवि ऐसा नहीं है जिसने गद्य न लिखा हो। पारवात्य सम्प्रदाय के सम्पर्क में आने के परिणामस्वरूप व्यक्ति और समाज के बाहरी और भीतरी जीवन में बड़ा ही वैषम्य उत्पन्न हो गया था। सामंजस्य बुद्धि की भारतीय जनता में इस वैषम्य को विविधता एवं विचित्रता तथा विभिन्नता का रूप दे दिया। इतना अपना लिया कि उनका विदेशीपन निरस्त गया। वे अपनी ही गयीं। हमारा जीवन पहले दो था -- भीती, पायजामा; अब वह दो के बजाए चार हो गया -- भीती, पायजामा, निकर, फतलून। जीवन की इसी प्रवृत्ति के अनुसार हमने बाहरी तत्वों को इस प्रकार अपने में मिला लिया कि हमारा साहित्य नया, और पहले से अधिक आकर्षक तो लगता है -- परन्तु विदेशी नहीं लगता। हम समन्वय करना जानते हैं। साहित्य में वह और भी अधिक सुन्दर ढंग से हुआ। जीवन की गति और रूप में ज्यों-ज्यों अन्तर हुआ है त्यों त्यों हमारा साहित्य रूप बदलता रहा है। वस्तु, जैसे धिवेदी जी के समय का जीवन प्रेमचन्द जी के समय के जीवन से भिन्न है वैसे ही दोनों का साहित्य भी भिन्न है। प्रसाद और गोस्वामी के समय के जीवन का अन्तर इनके अपने अपने साहित्य में स्पष्ट है। हमारे नीति, नार्मिकता, अहिंसा, शान्तिप्रियता एवं वास्तविकता के ही अनुकूल हमारा साहित्य भी है। वैसे हमारा जीवन साहसिक नहीं था वैसे ही हमारा साहित्य भी साहसिकता प्रधान तत्वों से रहित है। दोनों महापुरुषों से प्रभावित हमारा जीवन भी हमारे साहित्य के स्वरूप को बदलने में समर्थ हुआ है। इसी प्रकार ज्यों ज्यों हमारे जीवन पर नवीन शिक्षा एवं वैज्ञानिक आविष्कारों का प्रभाव पड़ा है त्यों त्यों

साहित्य बदला है। पराधीनता के विरुद्ध संघर्षरत हमारे जीवन एवं हमारे उस संघर्ष के स्वरूप--वर्षात्मक आन्दोलन-- ने भी साहित्य पर अपना प्रभाव डाला है। हमारे जीवन का एक पक्ष बेल-जीवन का भी था और उसके भी चित्र साहित्य में हैं। १९४७ के बाद हमारी जीवन-साधना और संघर्ष की काह फैशन में भर-ने ली है और वह फैशन साहित्य में भी मिला है। राष्ट्रीय ध्वजा की अनुमति के बिना राष्ट्रीय कविताओं का लिखना कुंठित हुए बिना कुण्ठा का नारा लगाना, दुखी हुए बिना दुःख का रोना रोना और अनुकरण तथा सिद्धान्त के आधार पर साहित्य का गुणन करना फैशनबल मानस की ही मांग पूरी करता है। हमारे जीवन का आधार बुंकि लोडो नेतिकता है इसलिए यदा-कदा हमारा साहित्य नेतिकता की एवं उसके प्रफुल्लित भास्विक की उन्नतम कीटिकी कलात्मक अभिव्यक्ति का रूप नहीं धारण कर पाया। उसमें अपरिपक्वता (मीडियाक्रिटि) है। इसका कारण यह भी है कि साहित्यिक हमारे समाज का ऐसा नाण्यतम प्राणी है जो ईमानदारी की दुत्कार भी कहीं नहीं पाता। धना, बकसस, राजनीतिज्ञ, जूनी कदा-वीं के बध्यापक, सम्पादक, कर्ता आदि सबके बाद साहित्यिक को और दुष्टि जाती है और जब जाती है तो व्यंग्य में वाक्य सुने की मिलती हैं। साहित्य में व्याज स्तुति 'हीती है, जीवन में 'व्याजस्तुति' -- बहाने के की गयी ध्वमानना -- सुने की मिलती है। साहित्यिक शोषण और आत्महीनता का शिकार होता है तो उसका साहित्य उतना ऊंचा नहीं हो सकता जितना ऊंचा उठा देने में वह समर्थ है। प्रवाद और कालिदास का यह अन्तर उल्लेखनीय है ॥ जाज का क्या साहित्य व्यक्त और समाज के बंधक संघर्ष का अभिव्यंजक है। इस पूरे युग में विज्ञान की जानकारी तो लोगों की होने लगी थी किन्तु विज्ञान या वैज्ञानिक तथ्य हमारी जासूया, विश्वास, जन-परम्परा और आत्मा के बंध नहीं बन सके। इसका परिणाम यह हुआ कि ये साहित्य में नहीं फुल पाए। उनके आधार पर साहित्य न लिखा जा सका। वह स्थान धर्म, पौराणिक गाथाओं एवं वर्तमान जीवन एवं इतिहास ही लिये रहा और 'इन्विजिबल मै' जैसी कृतियों की रचना जमी नहीं हो सकी। प्रवाद की 'कामायनी' में जो भारतीय संस्कृति है वह यों ही -- वैद्वान्तिक आग्रह के कारण -- नहीं है उसका ठीक आधार है। वह प्रवाद के अपने पारिवारिक और सामाजिक जीवन का भी चित्र है। इसके विषय में राकुकुण्णदास ने लिखा है, 'एक और तो वह बीसवीं दुनिया, दूसरी और धर्म का कर्मठ, गटित, अवरुद्ध किन्तु दार्शनिक वातावरण

यह कुल कट्टर शैव था --- साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के दार्शनिक तत्त्व को भी विचार हुआ करता था --- संसृष्ट की बीर भी इस कुल की अभिरुचि थी बीर उसमें उपयोग्य गति भी थी --- प्रसाद जी के माई शम्भुरत्न के मारने के लिए प्रतिद्वन्द्वी कीटुम्बियों का मारण-प्रयोग कराना --- दण्डों का उसे मार कर देना --- दूसरे दिन बताना --- दिखाना --- प्रसाद जी के नियतिवाद में इस घटना की भी क्षाप थी।^१ मानवता को व्यापक प्रतिष्ठा ने जीवन में ही किसान, मजदूर एवं निम्नवर्ग को देखने के लिए सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि नहीं दी, साहित्य में भी उनके लिए महत्वपूर्ण स्थान निश्चित किया। जीवन में गांवों की प्रतिष्ठा बड़ी बीर साहित्य में लोक कथाओं और लोक गानों के आधार पर खनाई हुई। विश्वनाथ मिश्र ने रानी चारंग्रा, राजा हरदीप, आकाशदास जादि कहानियों के मूल प्रीत ग्राम कथाओं में ढूँढे हैं।^२ इस प्रकार हमारे साहित्य की ध्वनि जीवन संगीत की अनुकृपा एवं उसके अनुकरण में तरंगित हुई है।

१- 'हिमालय' पत्रिका, नवम्बर १९४६, पृष्ठ ५, ८

२- 'हिन्दी अनुसूचन' पत्रिका, वर्ष २, अंक २, पृष्ठ ४७

आधुनिक भारत की संस्कृति के विभिन्न उपादान

जमी तक चिये गये समस्त विवेकों पर पुनः दृष्टिपात करने से हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि वासवां शाब्दी के पूर्वार्द्ध के भारत वर्ग की संस्कृति के विभिन्न उपादान निम्नलिखित हैं:--

- १-राजनीतिक पराधीनता से अभिज्ञात वातावरण एवं तन्जन्य प्रवृत्तियाँ ,
- २-युद्धों के अभिज्ञाप : युद्धों के शुभ प्रभाव ,
- ३-सांस्कृतिक पुनर्जागरण
- ४-भारतीय अन्तर्जातना
- ५-समन्वयशील प्रकृति ,
- ६-उदार और ग्रहणशील प्रकृति ,
- ७-आत्मसात्व के प्रति अभिवर्तित वास्था ,
- ८-समाज का प्रगतिशील मध्यमवर्ग ,
- ९-सुधारवादी मनोवृत्ति
- १०-नारी जागरण
- ११-राष्ट्रीयता
- १२-गान्धीवाद और सत्याग्रह, और
- १३-पारम्परिक संस्कृति और सम्यक्ता के उपयोगी तत्त्व ।

(१)-राजनीतिक पराधीनता से अभिज्ञात वातावरण एवं तन्जन्य प्रवृत्तियाँ

वासवां शाब्दी के आते-आते भारत की कंग्रेसी की राजनीतिक पराधीनता की श्रृंखलारं अतद्भूत रूप से जुमने लगी थीं। नवीदित सुधारवादी वर्ग यह समझ गया था कि कंग्रेसी के रहते उसकी उन्नति असम्भव है। अतः पड़ रहे थे । आर्थिक शोषण मर्यादक रूप से जारी था। नरीबी बढ़ती जा रही थी। देश के जीवोन्मीकरण की कल्पना एक कष्ट-कल्पना थी। निरुष्ट शिक्षा ने महान देश भारत के नवयुवकों के जीवन की सफलता की शोटी-शोटी नीगरियों और उनमें प्राप्तव्य शोट-शोट 'प्रोमोशन' तक हो चोमा कर दिया था ।

भारत के सपूतों के लिए अच्छा नौकर बनने के अतिरिक्त न तो और कोई सम्भावना थी और न अन्य किसी प्रकार की आशा-महत्वाकांक्षा। हमारी विशिष्टताओं की सूची में सामान्यतः ये तत्व आते थे :- स्वार्थपरता, क्षात्रान्धेषण, ईर्ष्या-द्वेष, कुशलो, राष्ट्रीय उन्नति और राष्ट्रीय आकांक्षाओं का अभाव, सिफारिश प्रियता, बाटुकारिता, शोषण, विद्वत् जहं, हीन-भावना, जीवन-धर्म-दर्शन के विभिन्न तत्वों को एक दूसरे से स्वतन्त्र, असम्बद्ध एवं निरपेक्ष सम्मिलना, चिन्तन-स्वातन्त्र्य-साहसिकता-नाटकीयता-मौलिकता-नवीन कार्याक्रम की शक्ति एवं स्फूर्ति का अभाव, आदि। सर्वत्र अधिकारों का अपहरण हो रहा था और उपर्युक्त कमियों के होते हुए भी हम ब्राण के लिए छटपटा रहे थे। परिणामतः अधिकारों की प्राप्ति के लिए आन्दोलन हुए। इन आन्दोलनों को असफल बनाने के लिए हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच साम्प्रदायिक विद्वेष उमाड़ा गया जिसका परिणाम यह हुआ कि अब कुछ समय के लिए तो निश्चित रूप से इन जातियों में से अधिकांश के हृदय पारस्परिक द्वेष से भर गये। दों हुए। दानवता कुल कर लेती और देश बंट-कट गया।

उपर्युक्त उपादान और हिन्दी साहित्य:-

भारतीय जीवन को उसके सांस्कृतिक परिवेश से प्रकट करके जो नवीन पारश्चात्य जीवन व्यवस्था के साथ में शोषण के उद्देश्य से छाता जामे लगा तो भारतीय जीवन अत्यन्त दयनीय हो उठा। वार्षिक दृष्टि से हम पशु से भी गयी-बीती स्थिति में आ गये। विपन्नता बन्म बन्मान्तर की शृंगिनी हो गयी। भक्तिता और बोद्धिकता अपनी निम्नतम स्थिति में पहुंच गयी। हमें अपने पन से भी प्रुणा होने लगी।

हमारा दयनीय जीवन साहित्य की प्रष्टमूमि मात्र कन्न बन सका। इस जीवन की प्रुष्टियां हमारे दृष्टिकोण को कोई नवीन दिशा नहीं प्रदान कर सकीं।

साकों की अनुवस्थिति में अनावपूर्ण जीवन भावप्रधान हो जाता है। कल्पना साक्षात्किता के अभाव की पूर्ति करने का प्रयत्न करती है। हमारा साहित्य भी - विशेषतः काव्य साहित्य-कल्पना प्रधान हो गया।

हमें कविता को कल्पना, धर्म, दर्शन, वास्तव आदि की अभिव्यक्ति के लिए और गद्य को चिन्तन, बोद्धिकता, विवेचन, यथार्थ जीवन की अभिव्यक्ति के लिए मान लिया गया।

परिणाम यह हुआ कि करुण जीवन के यथार्थ चित्र तथा एवं नाट्य साहित्य या रैखाचित्रों में जितने मिलते हैं, कविता में उतने नहीं। महादेवी का काव्य उनका कुछ और ही रूप प्रदर्शित करता है, और गद्य कुछ और ही। दलित मानव के प्रति सहानुभूति रैखाचित्रों में, बन्धनों को छिन्न-भिन्न करने का सात्विक आक्रोश एवं विवेक समन्वित आह्वान एवं श्रुतता की कड़ियों में, चिन्तन और मनन विवेचनात्मक गद्य में, तथा भाव विगलित तरल कवि-हृदय गीतों में व्यक्त हुआ है।

बंगाली साम्राज्यवादी सरकार की भयानक दमन-नाति तथा धीरे जातक के कारण हिन्दी का साहित्यिक उग्रतम राजनीतिक भावनाओं से हिन्दी साहित्य को भर नहीं सकता था। यदि किसी ने बहुत सादर करके कुछ लिखा था तो वह प्रकट कर लिया जाता था। इसका एक परिणाम यह हुआ कि कवि सांस्कृतिक स्तर पर आ कर जनता की चेतना को उदात्त करने में ला गया। ऐतिहासिक चरित्रों की अवतारणा (जैसे 'स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य के पणवत', 'चन्द्रगुप्त' के चन्द्रगुप्त सिंहरण, बलका आदि) करके देशभक्ति की भावना काने का काम उसने किया। देशद्रोही मटार्क और आम्मीक की ही भ्रष्टा में वस्तुतः बंगाली साम्राज्य के पिट्टुओं की गणना ही सकती है और घृणा, तिरस्कार एवं अवमानना के जो भाव इनके प्रति व्यक्त हुए हैं वे इन लेखकों की उन भावनाओं के प्रतीक हैं जो बंगाली साम्राज्य का साथ देने वालों के लिए उनके मन में थीं। अस्तु, हमारे ये साहित्यिक जूते रूप में तो कुछ विशेष न कह पाए किन्तु जनता की देशभक्ति प्रबुद्ध करने में इनका योग अवश्य रहा।

आस्थाओं, व्यवस्थाओं, कड़ियों और रीतियों की दृष्टि से, जो अब भी मध्य-युगीन थीं, मध्ययुगीन जनता का मनोरंजन मध्ययुगीन लोक नाट्य एवं लोक-रंगमंच से ही जाता था। न जीवन में नाटकीयता रह गयी थी और न उसके अनुरूप रंगमंच की आवश्यकता पड़ी। साहित्यिक दृष्टि और सूझ से बांझ समूह अपना क्षितिज मनोरंजन 'पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों' के नाटकों से करने लगा। कुछ चिन्तन-शील उदात्त दृष्टियों वालों को यह तत्ता मार उनकी संस्था, उनकी प्रोत्साहित करने वालों की संस्था, उनका समर्थन करने वालों की संस्था अपेक्षाकृत कम ही थी। साहित्यिक नाटकों का जनता से सम्बन्ध विच्छेद हो गया। साहित्यिक नाटक दूसरे न रह कर 'पाठ्य' हो गये। अध्ययन-व्यापन के विषय मात्र

हो गये। हिन्दी के शैक्षणीयर, गोल्डस्मिथ, बर्नार्डिशा की जमी प्रतीक्षा है। विश्वविद्यालयों में कुछ नाटक अभिनीत अवश्य होते हैं किन्तु वह रंगमंच की जनता का रंगमंच नहीं कहा जा सकता।

ईर्या-देश और त्रिद्रान्वेषण की प्रवृत्ति पहले जै के आलोचकों में बहुत पाई जाती थी और उनकी आलोचना का लक्ष्य कभी कभी व्यक्ति भी हो जाता था। पराधीनता-जन्य मनोवैज्ञानिक एवं चारित्रिक दोषों ने साहित्य को प्रायः असाधारण गीट का नहीं होने दिया। साहित्यिक उपन्यासों का प्रायः अभाव भी इसी कारण रहा। साम्प्रदायिक स्मि के कारण हिन्दी के इस काल का साहित्य मुसलमान साहित्यिक प्रतिमाओं के योग-दान से अधिकतम वंचित रहा।

2) युद्धों के अभिशाप : युद्धों के दुःख प्रभाव

इस काल में भारत के अन्दर युद्ध नहीं हुए और सामान्य जनता की सेनाओं के लड़ने के दुःखों की -- मारकाट, रक्त-प्रवाह, हो-हल्ला, पायलों की चीत्कार, वीमत्स दुःखों, बमों के विस्फोट, आदि की -- अनुभूति नहीं हुई।

फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि युद्धों एवं तत्जन्य परिस्थितियों ने भारतीय जन-मानस और राजनीति को बहुत प्रभावित किया है। बात यह है कि भारत ब्रिटिश साम्राज्य का एक अंग था और इसलिए इंग्लैंड जब किसी राष्ट्र से युद्ध करता था तो भारत को उस युद्ध में अपने-बाप ही सम्मिलित सम्मक लिया जाता था। भारतीय सेना -- स्थल युद्ध में विश्व की सर्वश्रेष्ठ एवं अपराजेय सेना -- लड़ने जाती थी। यूरोप के पराजित गरीब राष्ट्रों की जनता के लिए ये देवदूत थे, उद्धारक थे, राजा थे। गरीब जातियों के सेनिकों के साथ जैसे वे संघर्ष किया कर लड़ने वाले, पराजित गरीब राष्ट्रों के उद्धारक, गरीबों को पराजित करने वाले, गरीबों के बीच गरीब राष्ट्रों की अन्ध-सम्मान-आवर के पात्र। हम भारतीय ।। पारणात्मक: गरीबों का आतंक और प्रभुत्व समाप्त हो गया। जापान का इस की हराया था उसके कारण भी गरीबों की अपराजेयता का प्रेम मिट गया।

१- 'उसने कहा था' कहानी में अभिव्यंजित भावों के आधार पर।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जब कांग्रेसों ने अपना वचन पालने के स्थान पर 'रोलट ऐक्ट' तथा अन्तर्गत बलियांवाला के काण्ड दिये तो फिर भारत ने उन पर न कभी विश्वास किया और न सामान्यतः उन्हें माफ ही किया। द्वितीय महायुद्ध में कांग्रेसों की हार ने स्वयं इनका प्रभुत्व और राज्य लोगों के मन पर से हटा दिया। तात्पर्य यह कि ये युद्ध भारत को उसके लक्ष्य के क्रमशः निकटतर ले जाते रहे।

इन युद्धों के कारण भारत की सामान्य जनता और उसके मध्यवर्ग को असाधारण कष्ट उठाना पड़ा। लोग कफ़न और नमक तक के लिए तरस गये। बलात् बन्दा बसला जाता था। राष्ट्रीय भावनाओं और आकांक्षाओं को क्रूरतापूर्वक कुचला जाता था। अकाल के दृश्य उपस्थित हुए। भेदिकता नष्ट-भ्रष्ट हो चली। और बाजार में लाखों राजाओं की कुबेर बना दिया। इन्सान मिट चला। इन्सानियत क्षत-विक्षत हो गयी। वास्तव और विश्वास उलने लगे। राष्ट्रीय वीरों और नेताओं के स्वागत और राष्ट्रीय कार्यक्रमों एवं राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति की सम्भावनाओं से उत्पन्न उम्मा और स्फूर्ति से ही विघटन के ये भाव भर सके थे।

उपयुक्त उपादान और हिन्दी साहित्य

चूंकि इस काल में भारत वासियों ने युद्ध के प्रत्यक्ष दृश्य नहीं देखे अतएव 'सुभाषीराज-राजी' जैसा युद्ध-काव्य नहीं लिखा जा सका। युद्ध की समस्याओं ने हमारे जीवन को आक्रान्त किया था इसलिए युद्ध की समस्या पर 'गुरु-चित्र' जैसा महत्वपूर्ण काव्य रचा जा सका। द्वितीय महायुद्ध के कारण भारतीय जनता के जीवन और दृष्टिकोण की भी दुर्दशा हो गयी थी उसको आधार बना कर हिन्दी में अनेक सफल कथा-निर्माण लिखी गयीं। मासिक 'हंस' में ऐसी बहुत सी कथा-निर्माण उन दिनों प्रकाशित हुई थीं। यह भी कहा जाता है कि इसी के कारण जीवन और दृष्टिकोण भी कुंठित एवं विकृत हुआ तो हिन्दी में स्वाभाविक रूप से कुण्ठावादी या विकृतिवादी (प्रयोगवादी) साहित्य की एक - धारा हो कर पड़ी। इन युद्धों के साथ हमारी राष्ट्रीय भावनाओं एवं आकांक्षाओं का तादात्म्य नहीं हो सका था। इसका परिणाम यह हुआ कि उस समय देश के अन्दर अनेक ऐसी कविताएं और कथा-निर्माण लिखी गयीं जिनकी जायु अर्थिक से अर्थिक तीव्र दिनों तक की हो जाती थी क्योंकि जहां पत्र का नया जंक मिला वहां फिर उनकी कोई मूल्य कर भी नहीं

देखा था। बंगाल का १८४४ ई० वाला काल द्वितीय महायुद्ध की देन था और उसने हिन्दी के साहित्यिकों की आत्मा को कितना अधिक व्यथित कर दिया था उसकी एक मांकी महादेवी वर्मा द्वारा सम्पादित 'बंग भू' और बच्चन के 'बंगाल का काल' में मिल सकती है।

(३)-सांस्कृतिक पुनर्जागरण का प्रभाव

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ होते-होते भारत में रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, दयानन्द, रामतीर्थ आदि के प्रचार के परिणामस्वरूप भारतीय अपने देश की प्राचीन संस्कृति और सभ्यता की श्रेष्ठता पर बड़ी विश्वास करने लगे थे। पुरातत्व विभाग की खोजों से प्राप्त ध्वंसावशेषों, मूर्तियों आदि के, काशीप्रसाद बायसवाल आदि इतिहासज्ञों के बन्धन के, और यूरोप के विद्वानों की प्रशंसापूर्ण सम्मतियों के परिणामस्वरूप हमारे बन्दर अपने देश की प्राचीन उपलब्धियों के प्रति असाधारण निष्ठा उत्पन्न हो गयी थी। श्रीमती एनीबेसेन्ट आदि भारत के धर्म और अध्यात्मवाद की, मेक्समूलर आदि उसके दर्शन की, कीच-लेवी-मोनिएर विलियम्स आदि उसके साहित्य की, और हेबेल आदि उसकी कलाओं की विश्व में असाधारण एवं ई अद्वितीय मानते थे। इन सबका शुभ परिणाम यह हुआ कि हमारे बन्दर आत्मसम्मान की भावना जागृत हुई। हमारी वर्तमान दुर्दशा जहाँ-जहाँ हमारा सिर उभरे उसे फुलने को प्रवृत्त कर देती थी, प्राचीन कवियों-मुनियों-शास्त्रों आदि के नाम से से कर अपने प्राचीन गौरव की याद कर-कर के वहाँ हम गर्व से अपनी ग्रीवा उन्नत कर लेते थे। बराबर यह बात याद आती रहती थी कि जो देश आज बहुत सम्य बनते हैं और हम पर शासन करके हमें सम्य बनाने का दावा करते हैं वे उस सम्य नितान्त असम्य एवं वन्ध्य थे जब हमारे देश में उज्जकौटि की सभ्यता और संस्कृति का विकास हो चुका था। आवश्यकता इस बात की समझी गयी कि भारत जो इस समय अपने को मूल गया है, पुनः जागृत हो कर अपने को पहचाने और अपने वर्तमान की भी गौरवपूर्ण एवं उन्नत बनाने के लिए प्रयत्नशील हो।

उत्पन्न उपादान और हिन्दी साहित्य

सांस्कृतिक पुनरुत्थान के परिणामस्वरूप हमने अपने देश के गौरवपूर्ण अतीत की ओर दृष्टि डाली और वहाँ से श्रेष्ठतम रत्न लीज निकाले। प्रभाव के ऐतिहासिक नाटक,

मुन्दावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यास, प्रसाद की ऐतिहासिक कहानियाँ तथा स्कन्दगुप्त विजयमादित्य, अलका, सिंहरण, बन्धुगुप्त, अजातशत्रु, गौतम बुद्ध, अशोक, हर्ष, शिवाजी, पन्नादाई, राणाप्रताप आदि अद्भुत वीर चरित्र हमें प्राप्त हुए ।

इस पुनरुत्थान का एक प्रभाव और हमारे साहित्य पर पड़ा । हमने अपने पात्रों में उन सभी गुणों एवं चारित्रिक विशेषताओं का समावेश कर दिया या उनमें उनकी छंद निकाला जिनकी हमें आवश्यकता थी । 'मयूतिका' ^१ राष्ट्र के लिए अपने व्यक्तिगत सुख की न्योछावर कर देती है। पन्नादाई स्वामिमक्ति की कसौटी पर अपने पुत्र की न्योछावर कर देती है। ^२ शिवाजी में चरित्र की अनोखी ऊंचाई, मनोहर विमुक्त, विलक्षण श्रेष्ठता है। लहना सिंह के बन्दर वीरता के साथ साथ सराफत से परिपूर्ण आकर्षण, तीव्रतम एवं मंजुलतम प्रेम, मलमनसाहत और बलादारी है। ^३ रामनरेश त्रिपाठी का 'पथिक' उन सभी गुणों से परिपूर्ण है जिनकी हमें उस समय आवश्यकता थी। साहित्य में निष्ठा और वास्था का स्वर था ।

प्राचीन और मध्ययुगीन साहित्य, कर्म तथा दर्शन की समृद्धतम सम्पत्ति पा कर हमारे साहित्यिक गौरव के साथ नवीन की सर्जना करने लगे । इसका परिणाम यह हुआ कि हमारा आधुनिक साहित्य नवीन होता हुआ भी सम्पूर्ण भारतीय साहित्य की गुंजाही की एक नयी कड़ी तो बना मगर उससे सर्वथा विच्छिन्न, भिन्न तथा प्रतिकूल नहीं होने पाया। साथ ही, हमारी जो एक पुष्ट आधार मिल गया तो हमारा साहित्य परिस्थितियों की प्रावृत्ति मात्र -- तहरों की धपडों मात्र -- स्वा के कौनों मात्र -- का ही साहित्य नहीं रह गया । हमारा साहित्यिक अपने को निर्मूल-अपकटेड-कभी अनुभव नहीं करता । वह केवल गुदगुदाता नहीं, चिन्ताता भी है, सहायता भी देता है। हम काव्य ही नहीं महाकाव्य भी लिख सकते हैं और बराबर लिखते हैं। प्रायः यह प्रश्न उठता है कि उर्दू साहित्य में महाकाव्य क्यों नहीं लिखे गये। इसका उत्तर सांस्कृतिक प्रस्थभूमि का महत्व

१-प्रसाद की 'पुरस्कार' शीर्षक कहानी

२-गोविन्दवल्लभ पन्त का 'राजमुकुट'

३-रामकुमार वर्मा का 'शिवाजी'

४-बन्धुपर लाल गुप्तेरी का 'उत्तम कहा था' शीर्षक कहानी

ही दे सेंगा ।

पुनरुत्थान की जो प्रेरणा राष्ट्रीय भावनाओं को उमाड़ रहा था उस। यह विचार भी मिला कि हमें महात्र क्रांतिकारी देश की महान परम्पराओं के अनुकूल साहित्य प्रस्तुत करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस निश्चय ने हमारे साहित्य को पुष्टतम भारतीय दार्शनिक पृष्ठभूमि प्रदान कर दी। वैष्णव भक्ति का आधार मेधिलीकरण गुप्त की हिन्दुत्व प्रदान राष्ट्रीयता एवं सांस्कृतिक दृष्टि को मिला । निराला की रहस्यानुभूति को बौद्ध-वाद विशिष्ट वेदान्त की आधार भूमि मिली । प्रसाद में श्वागम, उपनिषद् आदि के दर्शन मिलते हैं। पन्ना में सर्वात्मवाद है। महादेवी में गौतम बुद्ध की करुणा और रामानुज वर्मा में कबीर का दार्शनिक चिन्तन और वेदान्त की ठोस भूमि है। सामान्य दार्शनिक मान्यताओं से कोई भी कृति उत्पन्न नहीं रह सकी । आधुनिक हिन्दी साहित्य में इतने मनोरंजन वाली केवल गुदगुदी लाने वाली, बेतना के ऊपरी स्तर मात्र को इतने-से स्पर्श करने वाली शब्द-चमत्कार मात्र पर आधारित रचनाएं नहीं हैं। उनका कलात्मक स्तर या साहित्यिक स्तर मूल ही बहुत ऊंचा न हो किन्तु वे भाव की दृष्टि से इतनी नहीं । इसी के युग के उर्दू काव्य साहित्य से तुलना करने पर यह बात और अधिक स्पष्ट रूप में हमारे सामने आ जाती है ।

उपनिषद्, वेद, बौद्धवाद, सर्वात्मवाद, बौद्ध दर्शन, संस्कृत साहित्य, एवं कबीर आदि के अध्ययन, मनन एवं चिन्तन के परिणामस्वरूप मानक साहित्यकार की दृष्टि उसका दृष्टिकोण, एवं उसकी विचार प्रक्रिया रहस्यानुभूति के निकटतम पहुंचने लगी । हिन्दी की हायावादी शैली में तिस्रोहस्ववादी रचनाओं की यही पृष्ठभूमि है ।

वस्तु । जहां हमको मिटाने के लिए पुरानी, अनावश्यक, एवं अज्ञानाधिक कठिनाईयां थीं, राजनीतिक परतन्त्रता थी और नयी सत्यता के सन्धानकरण की प्रेरणा थी, एवं जीवन मनोवृत्ति थी, वहां हमें संभावना बूटी पित्ताने के लिए जल-कल-बली (जबरन बली) के रूप में उन्नीसवीं शताब्दी के द्वितीयार्ध का सांस्कृतिक पुनरुत्थान आया था और हमें एक नया जीवन, नयी स्फूर्ति, नयी उमंग, नयी जाति, नयी आकांक्षा करवटें देने लगी किन्तु जम, सहिष्णुता, समन्वय, त्याग, बलिदान, कष्ट सहन करने की शक्ति, काम करने की क्षमता, सीखी और बनाने की इच्छा, अपने आपकी ठीक ठीक समझने की शक्ति, उदारता, साह

जादि पुण हममे ता दिये । हमारे पास जितना भी, जो-कुछ भी, जैसा कुछ भी था उसी से हमने कार्य करना प्रारम्भ किया । एक बार फिर सिद्ध हो गया कि 'कार्यसिद्धिः सत्यमेवति महतां नेमकरणी' । इस युग के आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रथमूमि में यही है। एक और या अनुकरणशील, विडम्बना प्रधान, भावकता से भरा हुआ, ज्ञान्ति-युद्ध-विहीन, शीघ्र-दलित-पस्त-विकृत तथा पराधीनता और शोषण, हीनता और दोनता से पराभवमुती जीवन और दूसरी और थी स्वतन्त्रता की आकांक्षा, प्राचीन काल की महानता पर विश्वास और उठने तथा महानता प्राप्त करने की इच्छा, नये पुराने का समन्वय । १९३५-३६ ई० के लगभग श्री नारायण कुर्वेदो लिखित इतिहास को एक पुस्तक बनाकर पुनर्लिखित स्मृतियों में पठाई जाती थी। उसकी मूलिका के अन्त में था:--

शानदार था मृत मविष्यत भी महान है
कार सुधारें आप उसे जो वर्तमान है ।

यही इस युग के भारत और भारतीयों की, हिन्दी और हिन्दी वालों की मनोवृत्ति थी जिससे साहित्य की विभिन्न किरणें निकली हैं ।

४-भारतीय वर्तमानता

अंगरेजी बोलने, अंगरेजी साहित्य पर असाधारण अधिकारी रहने, भूल पर ठूरी काँटे से मौज करने एवं अमेरिका में बनी बहुमूल्य मोटर कारों पर चलने वाला बुद्धि प्रधान व्यक्ति भी कानान के सामने ब्रह्मा से छिर कुकामता है, प्रसाद पाता है। मक्ति की कवितारें लिखता है, पत्रिकता का आदर करता है एवं कन्यादान करता है। रामचरितमानस का नवाइन पाठ डिस्टिन्ट मैजिस्ट्रेट के भी घर पर होता है और फेण्ट और टाई पहनने वाला भी मस्तक पर चन्दन का टीका लगाता है। रेडियो से प्रतिदिन मोरा, पुर, तुलसी, क्वीर जादि के पद प्रचारित होते हैं। यह सब देख कर विचार करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि भारतीय जीवन और समाज का वाङ्मय रूप-रस से से कर बुद्धि तक और रुचि से से कर मनोरंजन तक -- पारम्परिक सभ्यता से प्रभावित हो रहा है किन्तु वर्तमानता, संस्कृति या आत्मा अभी भारतीयता के ही रंग में रंगी है ।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में भी यही भारतीय अन्तर्ध्वजा विद्यमान है। द्वितीय युग में यह अन्तर्ध्वजा हिन्दी काव्य में विशेष रूप से व्याप्त रही है। मेघदीपक गुप्त हिन्दू संस्कृति के कवि माने जाते हैं। 'हिन्दू', 'वैतालिक', 'गुरुकुल', 'सन्त', 'यतीश्वर', आदि काव्य ग्रन्थों में भारतीय अन्तर्ध्वजा ही व्यक्त हुई है। 'भारत-भारती' जो भारत की भारती है ही। 'प्रिय प्रवास' और 'वैदेही वनवास' पर भी इसी का रंग है। 'कामायनी' काव्य तथा 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त' आदि ऐतिहासिक नाटकों की अन्तरात्मा पूर्णरूपेण भारतीय है। 'राम की सन्निध पूजा' के वातावरण एवं उसकी पृष्ठभूमि में भारतीयता है। रहस्यवादी कवितारं भी भारतीय अन्तर्ध्वजा के परिपक्व में है। प्राचीन काल के एवं राजपूत युग के ऐतिहासिक उपन्यासों में चित्रित देश-काल भी भारतीय है ही, नायक और नायिकाओं की मनोवृत्तियाँ एवं उनके आदर्श भी भारतीय हैं। उदाहरण के रूप में 'वाणभट्ट की आत्मकथा', 'कन्नार', 'विराटा की पद्मिनी', 'गड कुंठार' एवं 'मानयनी' आदि उपन्यासों का अवलोकन किया जा सकता है। 'कतुराब', 'शिवाजी', 'राजशानी सीता', 'चारुमित्रा' आदि की पढ़ने के बाद भारतीय सभ्यता और संस्कृति के ही निम्न उमरते हैं। उनके शिवाजी जब अपहृता महिला की अपनी माता-बेटी गौरवपूर्ण पद धेले हैं तब 'मातृवत्पराधर्षण' वाली नीति-उक्ति ही याद आती है। तुलसीदास की 'सीता जी' की ही तरह उनकी राजशानी सीता भी तिनके की बोट करके ही परपुरुष से बोलती है। 'कतुराब' का समस्त वातावरण प्राचीन काल का है। मर्यादक मुवात आया है। मृत्यु सम्मुख है। एक भारतीय नारी कहती है:- 'कोई बात नहीं। काबान की मुस्कान का ध्यान करिए। शिव के ताण्डव का। धर्म और शान्ति के साथ, मेरे प्राणनाथ, अन्त के अन्त के सामने डट जाइए।' यह भारतीय अन्तर्ध्वजा है जो मृत्यु के समय भी धमकाने नहीं देती।

(५)-समन्वयशील प्रकृति

भारतीय संस्कृति की समन्वयशील प्रकृति का यह परिणाम हुआ है कि भारत

ने पार्श्वात्य जीवन पद्धति और भारतीय जीवन पद्धति को परस्पर समीप लाने का प्रयास किया है। और आज भारतीय गृहस्थ जीवन के अन्दर फलसून और घोंती तथा सिन्दूर और पाउडर में कोई भी विरोध नहीं रह गया है। भारत की आधुनिक संगीत कला, वास्तु कला, चित्रकला, वेशभूषा, ज्ञानपान, मनोविनोद, जूगार, सजावट आदि न तो विशुद्ध रूप से भारतीय हैं और न पार्श्वात्य हैं। दोनों को संयोजित करने का बंधन दोनों में संगति बिठाने का प्रयत्न ही रहा है। धार्मिक कर्मकाण्डों, सामाजिक कठिनाइयों-रोक्तियों, शिक्षापद्धति, भाषा आदि सभी क्षेत्रों में समन्वय की प्रक्रियाएं ज्ञात एवं अज्ञात रूप से संचरित हैं। साहित्य इसका अपवाद नहीं।

प्रस्तुत उपादान और हिन्दी साहित्य

हमारी अपनी संस्कृति की प्रकृति समन्वयात्मिका रही है और इसकी आवश्यकता सम्मतः १८५७ से लेकर जब तक जितनी रही उतनी निकट भूतकाल में कभी नहीं रही। कुछ तो इस कारण, और कुछ इसलिए भी कि अंगरेजों ने यह संस्कृति जब हम पर लाद दी है और इसे मुक्ति सम्भव नहीं, हमें यह सीखा कि समन्वय किया जाए। उदात्तचिति के कारण हमें सामान्यतः न अंगरेजों से घृणा की और न अंगरेजी से। यह अवश्य चाहता कि हमारा अपनापन न मिटने पाए। यह प्रवृत्ति समाज में भी है और साहित्य में भी।

सब इस दृष्टिकोण के साथ जब राष्ट्रीयता भी मिल गई तब हमारा प्रयत्न यह हुआ कि ऐसा साहित्य रचा जाए जो अपनी उत्कृष्टता में अंगरेजी से हीन न ठहरे। इसका परिणाम यह हुआ कि अब आध्यात्मिकता प्रधान भारतीय दृष्टिकोण यदि हमारी एक बाँध बना, तो भौतिकता प्रधान पार्श्वात्य दृष्टिकोण दूसरी बाँध। बाधों और यथार्थ का साथ हो गया। भावुकता और व्यावहारिकता में अनुकूलता आ गयी। भक्ति का साथ ज्ञान से हो गया। रहस्यवादी अनुभूतियाँ विनय से प्राप्त की जाने लगीं। राम और कृष्ण के चरित्र पर बुद्धिवादी दृष्टि पड़ने लगी। यह अवश्य है कि कहीं बुद्धि अधिक हो गया है और कहीं भावुकता। एक ही व्यक्ति और एक ही कृति में कभी बुद्धि प्रधान हो गया है और कभी भावना। वैष्णव भक्ति पर पार्श्वात्य बुद्धिवाद

व्याख्या के साथ उपस्थित किया। मैथिलीशरण गुप्त ने प्रश्न किया :- 'राम ! तुम मानव हो, ईश्वर नहीं हो क्या?' किन्तु बागै चल कर 'संकेत' में हनुमान को मकरत के पास से जब वे द्रोण पर्वत के साथ लंका को उठ कर बाँते हुए प्रस्तुत करते हैं, तब उनका उठना योग शक्ति के द्वारा दिखाया जाता है। यह शक्ति की अविद्या कुछ अधिक स्थूल साधन हुआ। मैथिली के चित्रकूट माण्डव में बुद्धि प्रधान है, भावुकता नहीं। 'पंचवटी' में शूर्पणखा के सामने जब सीता ने लक्ष्मण के लिए ये परिहास वाक्य कहे कि 'घर में क्याही बहुत डोढ कर यहां भाग आये हैं ये' तब वहां देव भावना ने मानवीय दृष्टिकोण से सम्झौता साध लिया है। फिर भी, देव भावना संछित नहीं हुई।

फल, प्रवाद, निराशा के हाथों खड़ी बोली ने जो शायवादी स्वरूप पाया उसमें भी भारतीय और पारश्वात्य दृष्टिकोणों का समन्वय डंढा जा सकता है। इस स्वरूप निर्माण में जहां संस्कृत की 'विच्छिन्नि' या मौली भेदी तरलता लाने का प्रयास है, संस्कृत के उत्तम शब्दों की प्रधानता है, जहां के सन्निध-समास-विशेषण आदि हैं, वहां इसकी विशेषण निर्माण पद्धति पर ठोस तथा कंठरेजी का भी प्रभाव है। क्लृप्तियों में जहां विरुद्ध भारतीय क्लृप्ति (अनुप्रास, उपमा, रूपक आदि) हैं, वहां (पर्सोनीफिकेशन) मानवीकरण, (ट्रांसफर ऑफ इमेज) विशेषण विपर्याय, पैथेटिक फैलेसी आदि के अंग पर बनाए गये शब्द भी हैं।

६-उदार और ग्रहणशील प्रवृत्ति

भारत राष्ट्र की पराधीनता से निकाल कर अन्धुदय की ओर ले जा कर उसे उसके प्राचीन गौरवपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित करने के लिए कठिणद मार्तवासियों की यह पूर्ण-रूप से विधित हो गया था कि प्राचीन होने ही के कारण न तो सब कुछ सर्वथा ग्राह्य हो सकता है और न नवीन होने के कारण त्याज्य। उनके सम्मुख तत्प स्पष्ट था अर्थात् भारत की शक्ति और सम्भावनाओं की संस्कृति एवं सन्निध करना। इसके लिए उन्होंने गौरवपूर्ण कृतित के उन सभी तत्त्वों को ले लिया जो आधुनिक युग में किसी न किसी प्रकार उपयोगी कर्तव्यों के लिए स्वीकृत हैं। साथ ही, आधुनिक पारश्वात्य सम्प्रदाय के अनिवार्य एवं उपयोगी तत्त्वों को भी स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार उद्देश्य से प्रारित हो कर भारत की उदार और ग्रहणशील प्रवृत्ति इस युग में मनु माण्डवों

की भांति मधु-संचय करने लगी ।

प्रस्तुत उपादान और हिन्दी साहित्य

उक्त प्रवृत्ति का प्रभाव यह पड़ा कि आधुनिक हिन्दी साहित्य प्राचीन और नवीन का पावन संगम हो गया है । विषय वस्तु की दृष्टि से देखते पर हमको मिलता है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य में एक ओर आधुनिक जीवन की स्थितियाँ, परिस्थितियाँ, घटनाएँ, दृष्टिकोण एवं विचारधाराएँ हैं, और दूसरी ओर वैदिक, उपनिषत्कालीन, रामायण और महाभारत की कहानियाँ एवं प्राचीन तथा मध्ययुगों की घटनाएँ आदि । हमारा दृष्टिकोण आदर्शवादी भी है और यथार्थवादी भी । हम ब्रह्मालु और विश्वासी भी हैं और विज्ञानवादी बौद्धिक भी । राम हमारे लिए ईश्वर भी है और मानव भी । हमारी नाट्यकला की आयोजना पार्श्वात्य और भारतीय नाट्यकलाओं के सुन्दरतम तत्त्वों के सम्मिलन से हुई है । उसमें रस भी है और मनोविज्ञान भी । यदि हमारे रामचन्द्र सुन्दर रसवादी एवं आदर्शोन्मुखी आलोचनाएँ लिखते हैं तो प्रकाशचन्द्र गुप्त, नीन्द्र, रामबिलास शर्मा आदि लोक लेखक साम्यवादी दृष्टिकोण से विवेचनाएँ एवं विमर्श प्रस्तुत करते हैं । प्रायः हमारी काव्यालोचना की कसौटी भारतीय और कथा, एकांकी, निबन्ध, आदि की पार्श्वात्य । हम आधुनिक शैली के पद्य, गीत, सानेट एवं कथाओं में भी लिखते हैं और कवित्त तथा सवैय भी । इस दृष्टि से 'यशोधरा' और 'कुरुक्षेत्र' का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है। सत्यनारायण कविरत्न का प्रथम गीत प्राचीन शब्द-शैली-कथा में नवीन देशभक्ति की भावना की व्यक्तिकता का सुन्दरतम उदाहरण है । 'कृष्णायन' भी इसी प्रकार का काव्य है। ऐच्छिता और वाध्यात्मिकता का सम्मिलित रूप में हिन्दी साहित्य प्रस्तुत करता है । हम इस युग में तुलसीदास की दोहा-बीपार्ई वाली शैली पर 'कृष्णायन' भी लिखते हैं और रवीन्द्रनाथ की शैली पर 'साफ़ा' - पेशी गद्य काव्य कृतियाँ भी ।

(३)-आत्मतत्त्व के प्रति व्यक्तिकता का स्वरूप

हमारे व्यक्तियों से साहित्य में आत्मतत्त्व के प्रति जो निष्ठा व्यक्तिकता हुई है वही निष्ठा आधुनिक परिस्थितियों में निरतने के स्थान पर और भी संश्लिष्ट रूप प्राप्त

इस 'दिव्यशिल्पी' या आत्मतत्त्व की स्पष्ट रूपरेखा कोई नहीं जानता किन्तु उसका आभास निश्चित रूप से मिलता है। पन्त की 'मौन निमंत्रण' कविता में वह आभास उपस्थित है। रहस्यवादी अनुभूति आत्म तत्त्व पर अविवक्षित वास्था रत्न के पश्चात् ही प्राप्त हो सकती है। मेघिलीशरण गुप्त की वेष्णव भक्ति का और रामकुमार वर्मा के प्रार्थना गीतों का आधार आत्मतत्त्व की अनुभूति ही है। गोपालशरण जी की ये पंक्तियाँ 'भैया बनरज है न मैं जान पाया क्यों मेरे चित्त में ही छिपा मेरा जितनीर है' मानव में परम-आत्मा की स्थित मान कर ही लिखी जा सकती थीं। लौकिक क्षयि भी उसी दिव्य प्रभा से मंडित है :—

रूप जन्म बन्धुमुक्त अमरुनि
फलक वात तम मृग दुग हारे
देख दिव्य क्षयि लीन हारे

पन्त ने नारी की 'बरा में थीं तुम स्वर्ग-पुनीत' कह कर जो:—

तुम्हारे कृमि में था प्राण, संग में पावन गंगा-स्नान
तुम्हारी बाणी में कल्याण । त्रिैणी की लहरों का गान

माना वह स्त्रीलिंग सम्भव हो सका कि उनकी इस नारी में आत्मतत्त्व सामान्य की अपेक्षा कहीं अधिक जागृत हो कर उसके लौकिक वास्तित्व को दिव्य बना सका। स्त्री प्रकार पन्त ने स्पष्ट रूप से माना कि 'चिन्मय प्रकाश से विश्व उदय, चिन्मय प्रकाश से विकसित त्मा' आत्मतत्त्व पर अविश्वास करके कोई नहीं कह सकता - 'विधाता की कल्याणकी दृष्टि'। इस दृष्टि से सम्पन्न हो कर ही प्रसाद कह सके कि 'नारी तुम श्रेष्ठ श्रद्धा हो।' 'दिनकर' ने मानव का श्रेष्ठ 'दिव्य भावों के कास में वागर्ण का गान और 'आत्मा का किरण अभिवान' ही माना है। माकलाल चतुर्वेदी के 'साहित्य देवता और राक्षस दास की 'साक्षा' की प्रथमूमि में भी यही आत्मतत्त्व है। जिस गान्धीवाद का प्रभाव जापानिक हिन्दी साहित्य पर अव्यन्दित है उसकी आधारभूमि यही आत्मतत्त्व है। साक्षावाद और रहस्यवाद की दार्शनिक प्रथमूमि में उपस्थित अवात्मवाद में भी आत्मतत्त्व है।

पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली और वर्ग व्यवस्था ने समाज में जिस मध्यम वर्ग की उत्पत्ति कर दी थी उसका एक भाग तो अपने अस्तित्व और स्वार्थपूर्ति के लिए पूरी तरह से कांग्रेसी साम्राज्यवाद पर आधारित था और इसीलिए पूरी तरह से उसका मकत और दास ही कर राष्ट्रीय और मानवीय दृष्टिकोण से एकदम निराम्मा हो जाता था। दूसरा भाग, जिसमें डॉक्टर, प्रोफेसर, वकील, व्यापारी आदि थे, कांग्रेसों से कुछ दूर रहा। उनका प्रत्यक्ष रूप से दास नहीं था। उन्होंने पर उतना आधारित नहीं था। इसके अन्दर जीवन के कुछ स्मन्दन शेष थे जो सुयोग्य भुक्तत्व का आह्वान पा कर कुंआरों, सिंहादों एवं प्रियाशीलताओं में परिवर्तित हो गये। सांस्कृतिक पुनर्जागरण और राष्ट्रीयता के कारण ये जाग्रत भारत की प्रथम पंक्ति बने। इसी साम्यवाद से प्रभावित हो कर इनमें से कुछ लोग आमूल क्रान्ति का आह्वान करने लगे। भारतीय संस्कृति से अनुरक्षित हो कर इस वर्ग के अधिकांश लोग क्रायकल्प के द्वारा उत्थान के लिए सक्रिय हुए। उन्होंने अपने को नवीन जीवन और नवीन वातावरण के अनुरूप परिवर्तित किया। ये परम्पराओं और प्रथाओं की बिल्कुल होड़ना पसन्द नहीं करते थे। उनकी मानस और पालतू थे। उनका जीवनचिह्न सिद्ध करने के लिए उनकी युगानुगुल यथावश्यक बौद्धिक व्याख्यान उपस्थित करते थे। ये कुलीन विवाह, सम्मिलित परिवार, मर्यादित जीवन, संयमित वाचना, कर्मकाण्ड आदि के समर्थक थे और इन्हीं के अनुरूप उनका जीवन चलता था। जो अव्यावहारिक था उसे वे धीरे धीरे होड़ देते थे। अस्तु, विवाह के अवसर पर पहने जाने वाले 'मीर', 'नामा नोडा' आदि धीरे धीरे प्रायः परित्यक्त हो ही गये हैं। पहले जीवास्त्व कायस्थ, श्रीवास्त्व कायस्थ पराने में ही विवाह करते थे, किन्तु अब सन्धेना घरानों से भी उनके व्याह-सम्बन्ध जुड़ने लगे। इसी वर्ग की प्रतिमा ने परम्परा का प्रगति से परिणत करा दिया। जीवन मर्यादापूर्ण ढंग से प्रगत्योन्मुखी हो कर गतिशील हो उठा। विकास के पथ में जाने वाली बाधाओं और कठिनाइयों का इस वर्ग ने धीरतापूर्वक सामना किया। उन्नति की पूरी कीमत् जुताई। देश के लिए, जाति के लिए, वर्ग के लिए, माया के लिए गान्धी-भेक, विवेकानन्द-रामतीर्थ, दयानन्द - मदानन्द, महावीरप्रसाद द्विवेदी, प्रेमचन्द आदि के रूप में इस वर्ग ने त्याग, तपस्या, बलिदान, कष्ट सहिष्णुता आदि के अमूल्य उदाहरण प्रस्तुत किये। अपने सामर्थ्य और अधिकार के बाहर की बातों (शिक्षा

व्यवस्था, आदि) के कारण भी ही उनकी कल्पना की उड़ान, बौद्धिक उपलब्धियाँ एवं कला-कृतकता एक निश्चित दृष्टि के भीतर ही रह गयी, फिर भी १९५० ई० तक भारत जो-कुछ बना सका उसका श्रेय एकमात्र स्त्री वर्ग को है ।

प्रस्तुत उपादान और हिन्दी साहित्य

उपर्युक्त वर्ग के ही कुछ लोगों ने हिन्दी के प्रति रुचि बाधित की और आधुनिक हिन्दी-साहित्य की रचना की । परिणामस्वरूप यह विडम्बना प्रधान मध्य-कालीन जीवन द्वारा ^{उत्पत्ति} साहित्यिकों का मध्यकालीन विडम्बना प्रधान जीवन साहित्यिक की न तो उतना ईमानदार रहने देता है और न उतना ऊँचा कि हम आधुनिक युग की मोरा अपना घूर के दर्शन कर सकें । हम न ईमानदार वैदमान हैं , न ईमानदार नास्तिक , न ईमानदार बुद्धिवादी , न ईमानदार भौतिकतावादी इ: साथ ही, हम ईमानदार भक्त भी नहीं , पुजारी भी नहीं , ईश्वरवादी भी नहीं , मावुक भी नहीं , अध्यात्म-वादी भी नहीं । ईमानदार रावण युग की विमूर्ति होता है; ईमानदार तुलसी मानवता के मस्तक का चन्दन है । यह ईमानदारी जिस साहित्यिक में कितनी मात्रा में रही , उसका साहित्य उतना ही महान हुआ । मेघतीक्ष्ण गुप्ता, प्रसाद , प्रेमचन्द, निराला आदि इसके उदाहरण रूप में उपस्थित किये जा सकते हैं ।

यह भी एक कारण था कि हमारे साहित्य में बुद्धि और कल्पना की ऊँचाई तथा कला का स्तर एक सीमा तक ही रह गया । बाल्मीकि और व्यास, तुलसी और घूर, आधुनिक युग के रामायण और महाभारत की प्रतीक्षा अब भी करती रह गयी है नहीं तो, आज के युग की परिस्थितियाँ नये महानास्त या रामायण की रचना करने में समर्थ हैं ।

‘सेवासदन’ में यश्या की जो समस्या उठाई गयी है वह प्रगति और परम्परा के समन्वय का श्रेष्ठतम उदाहरण है । यह एक तथ्य है कि यश्या-वृत्ति का कारण आर्थिक विषमता और पुँबीवादी या सामन्तवादी मनीवृत्ति है और जब तक किसी श्रान्ति द्वारा ये वर्ग न मिटार जायें तब तक यश्यावृत्ति समाप्त न होगी - चाहे जिसने जायम होत लिये जायें । जायम की कल्पना श्रान्ति और कठि के समन्वय की ही उपज है ।

फिर भी, प्रेमचन्द, महावीरप्रसाद द्विवेदी, प्रसाद आदि ने त्याग और बलिदान के द्वारा हिन्दी साहित्य की पर्याप्त सेवा की है। हमारे कष्ट वहीत हुए भी श्यामसुन्दरदास ने हिन्दी की सेवा और समृद्धि की है। हिन्दी को 'फ्लोरेयर' बनाने के एक साधन के रूप में तो स्वतन्त्र भारत के नवयुवकों ने अपनाया है। उसके पहले वह माता थी और उसके लिए कुछ करना सेवा और कर्तव्य समझा जाता था। कुछ भी हो, इस ठो से और इस दृष्टिकोण से कार्य करते हुए आधुनिक हिन्दी साहित्य की इसी प्रगतिशील मध्यमर्ग ने एक श्रेष्ठ एवं महत्वपूर्ण साहित्य का स्वरूप प्रदान किया है।

(६)- सुधारवादी मनोवृत्ति

भारत के अतीत गौरव की अनुमृति और वर्तमान अधोगति की दुमन ने हमारी धैर्यता को आत्मोत्थान के लिए विकृत कर दिया। हमने अपने मृतकाल की महानता पर विश्वास कर ही लिया था। इसलिए यह स्वतः सिद्ध हो गया कि हमारी व्यवस्थाओं और हमारी सामाजिक संस्थाओं की नींव उन्हीं महान पुरुषों ने डाली थी और उन्हीं ने उनकी योजनाएं की थीं जिनकी प्रतिमा, साफला, मौलिकता एवं संयोजन-कुशलता संसार के इतिहास में अक्षि अक्षितीय है। हमारे वर्तमान दोषों और विकृतियों का कारण हमारा आत्मस्वरूप-विस्मरण एवं मध्ययुगीन वास्तविकमूलक परिस्थितियां हैं। वस्तु, हमारी व्यवस्थाओं, मान्यताओं एवं सामाजिक संस्थाओं के आमूलोन्मूलक का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। बात केवल सुधार की रह जाती है। हमारे समाज के कुछ लोगों ने यह माना कि हमनी अपनी समस्त प्राचीन दृष्टियों-प्रवृत्तियों, रीतियों-रिवाजों, प्रथाओं-परम्पराओं, वास्तवों-विश्वासों तथा सिद्धान्तों-आदर्शों को धैर्य का वेला ही पुनः स्वीकार कर लेना चाहिए। अधिकतर लोगों का यह विचार हुआ कि आधुनिक परिस्थितियों एवं वातावरण को ध्यान में रख कर उसके अनुरूप अपने अन्दर आवश्यक सुधार करना होगा। सर्वप्रथम पले धर्म के क्षेत्र में सुधार करना पड़ा। हमने धार्मिकों और धर्म स्वामीयों को बोद्धिक, युक्तवादी एवं मानवतावादी दृष्टिकोण से देखना प्रारम्भ कर दिया। उनके दुराचरण एवं उनकी अधीशियां विवेचना आलोचना एवं विरस्तार का विषय बनीं। अन्धकार और अन्ध विश्वास समाप्त होने लगा। अब मौज और परतीक वाता धर्म अन्धित, समाज और राष्ट्र की उन्नति के साधन के रूप में देखा जाने लगा। 'मैं लोपता तुम्हें या अब तुम

और वन में 'तब मगवान दीनों के द्वार पर हमारी प्रतीक्षा करता था' अर्थात् मगवान का निवास 'मन्दिर' नहीं रह गये। दीनों की सेवा वास्तविक मगवदारायना हो गयी। इसी प्रकार सामाजिक परम्पराओं की बौद्धिक दृष्टिकोण से तथा वातावरण की मांग से मर्यादित हो जाना पड़ा। नवीनतम व्याख्याओं के कारण धर्म और समाज के विभिन्न प्राचीन तत्त्व नये ही रूप में और नयी-नयी शक्तियों और सम्भावनाओं से परिपूर्ण हो कर उपस्थित हुए। उन सबका वैज्ञानिक औचित्य सिद्ध किया गया। अमानवीय एवं विघटनकारी तत्वों जैसे वैश्या, दहेज, फौज, जाडम्बर, जाधुनिक सिद्धा, हरिजनों की दुर्दशा आदि में मानवतावादी दृष्टिकोण से यथावश्यक सुधार जल्दा परिवर्तन लिये गये।

प्रस्तुत उपादान और हिन्दी साहित्य

साहित्य सर्जना का लक्ष्य उत्थान था। इसीलिए सामाजिक, व्यक्तिगत या राजनीतिक विकार ही साहित्य में प्रधान नहीं होने पाया। वह साहित्य में आत्ममग्न रूप में विलुप्त कम जाने पाया है। जहाँ जाया है वहाँ उत्थान की भावना के उद्दीपन के रूप में ही लाया गया है। आदर्शोन्मुख यथार्थवाद यही है। केवल चित्रण के लिए वैयक्तिक या सामाजिक विकारों का चित्रण आधुनिक हिन्दी साहित्य में भी नगण्य है। 'कला कला के लिए' या उद्देश्यविहीन यथार्थवादी दृष्टिकोण आधुनिक हिन्दी साहित्य में स्थायी या मुख्य प्रवृत्ति बन कर नहीं आ पायी है।

फिर भी साहित्यिकता एवं कलात्मकता की उस छवि ने, जिस पर कुछ पारस्वात्य चारणा का भी प्रभाव पड़ जाता था, उद्देश्य के आदर्शवादी रूप की फर्मीकैड का रूप नहीं चारण करने दिया। साहित्य-रस बाहिर था। उपदेश देना लेखक का कार्य नहीं रह गया। वह साहित्य रस इस प्रकार है कि जो कार्य वह उपदेश से पूरा कर सकता था वह जब मन पर प्रभाव डाल कर अप्रत्यक्ष रूप से पूरा करे [उपदेश देने-गुनने का युग जा रहा था]। साहित्य और फर्मीकैड की स्वतन्त्र और मुक्त बातें हो गयीं। समाज से भी कथावाचकों का एवं उपदेशकों का महत्व उभाया ही रहा था क्योंकि ये युग थे पीढ़ी पड़ गये थे।

इसी वर्तमान की सुधारों के उद्देश्य से ही हिन्दी का उपन्यास साहित्य, कहानी साहित्य, नाटक साहित्य, निबन्ध साहित्य आदि व्यक्तिगत एवं सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक सुधारों एवं उत्थान के विचारों और भावनाओं से भरा पड़ा है। सुधारों की यह स्फूर्ति कभी गान्धीवादी होती थी, कभी साम्यवादी और कभी केवल प्राविशीलता से परिपूर्ण मात्र। यह सुधारवादी दृष्टिकोण ही कभी प्रधान हो जाता था और कभी परोक्ष रूप से सामने आता था। 'सेवासदन' और 'संभूमि' पक्ष के उदाहरण हैं तथा 'कंकाल' आदि दूसरे के।

(१०)- नारी जागरण

बीसवीं शताब्दी के भारत की सर्वाधिक मालूमगी, मंजूर एवं प्रोज्ज्वल उपलब्धि जयमा यों कहा जाए कि 'उन्नीसवीं शताब्दी के सांस्कृतिक' पुनर्जागरण की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण देन नारी जागरण है। इस आधुनिक नारी ने भारत के सांस्कृतिक नारीत्व के किसी भी अंतर्कार या बाधक का अपमान या परित्याग नहीं किया है। उसने समस्त अनावश्यक मध्यस्थीय विकृतियों को काटकर दिया है। साथ ही, उसने अपने को आधुनिक युग के भारत की आवश्यकताओं के अनुरूप ढाल भी लिया है। इस नारी का वास्तव पारंपात्य नारी का स्वरूप नित्यतुल्य नहीं है। यह साया नहीं पहनती है, पैट नहीं लगाती है, उसमें पारंपात्य लोचन-तनक-नाज़-बन्दान नहीं और उसके प्रेमाभेग की अभिव्यंगना 'चूटकामी' पर होने वाले आलिंगनों और चुम्बनों से नहीं होती। यह अब भी घर की रानी है। उसके लोचन नील से सजे होते हैं। उसने मातृत्व नहीं खोया है। उसने पदा उठा दिया है किन्तु नग्नता या निर्लज्जता उसे नित्यतुल्य अच्छी नहीं लगती। यह अब भी पतिव्रता है। बुद्धिदिता ही कर यह और भी उपयोगी हो गयी है। घर की चित्तचालि न है कर भी यह राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक आदि क्षेत्रों में अपने देश और समाज के लिए महत्वपूर्ण कार्य कर रही है।

प्रस्तुत उपादान और हिन्दी साहित्य

इसका सबसे बड़ा प्रभाव हिन्दी साहित्य पर यह पड़ा कि हिन्दी की महिला

साहित्यकारों की अनेक सशक्त कला-कृतियाँ प्राप्त होनी लगीं । महादेवी वर्मा, सुमद्रा कुमारी चौहान, सुमित्राकुमारी चिनहा, तारा पाण्डेय आदि कवयित्रियों की काव्य-वीणा के स्वरों से हिन्दी का साहित्यिक जगत गुंन उठा । 'कौमिल' के काव्य का व्याख्यात्मक स्वर उनके काव्य की सन्त काव्य-शैली साहित्यिक जगत् प्रदान किये है । 'वे न केवल भूमि पर चरती हैं और न केवल आकाश में ही उड़ती हैं, बल्कि दोनों का सुख सामंजस्य उनकी काव्य-शैली में पाया जाता है --- वे नीमल और गहरी अनुभूतियों की सरल-सहज रूप में रहने की असाधारण कला पर अधिकार रखती हैं' ^१ इसलिए कोई आश्चर्य नहीं यदि उनकी कविताओं के विषय में यह कहा गया, '---ऐसा लगता कि कुछ नया सुन रहा हूँ । वाक्यगत इस भाषा में कम लोग बोलते हैं---ये भावों के मगन बन गये हैं।' ^२

सबि अब रस बरसे में भीषुं ।

भीतर बरसे बाहर बरसे दिन बरसे भर राती

सत्य ज्ञान की करी लगी है रुकती नहीं न चिराती

जाने किस तरंग पर घर की वस्तु वस्तु लहराती

प्रग तो बहे लगी कीह जाने जड़व बही अब जाती

रस मुकसें सीमा में रस में तनिक-तनिक कर सीकूं । ^३

वस्तु, दिनेशनन्दिनी के गद्य-काव्य, उषादेवी मित्रा के उपन्यास, चन्द्रकिरण चीनरिक्षा की कहानियाँ आदि हिन्दी की निष्ठा हैं । महादेवी वर्मा के रत्नाञ्जलि असाधारण एवं अद्वितीय हैं । पद्ममावती सनम और लखीरानी गुट्टे आलोचना के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य कर रही हैं । संनलता सखरवाल की लेखनी बहुमुखी है ।

(११)- राष्ट्रियता

इस युग में भारत के अन्दर जो राष्ट्रियता एवं जो राष्ट्रिय प्रबुद्ध हुआ उसमें

१-'सुहागिन' में वारेन्ड वर्मा द्वारा लिखित 'परिचय' है

२-'सुहागिन' में स्वामीप्रसाद द्विवेदी द्वारा लिखित 'परिचय-पत्र' है

३-'सुहागिन', पृष्ठ ५७

जैनक तत्व ऐसे थे जो भारतीय संस्कृति से प्राप्त हुए थे । इस ज्ञानाब्दी के प्रारम्भ में राष्ट्र-
 प्रेम का सम्बन्ध बर्ष एवं व्यात्मा से ही गया था । राष्ट्रोत्थान की प्रेरणा की
 ईश्वरीया माना गया । भारत देश की भौगोलिक प्रदेश मात्र न मान कर एक व्यात्मात्मिक
 अस्तित्व माना गया । बलिदानियों ने उसे 'माता' माना । इसकी महत्ता स्वर्ग से भी
 अधिक मानी गयी । कांची के तख्त पर छं-छं कर फूलों वाली के हाथों में 'गीता'
 दिखाई पड़ने लगी । आत्मा की ब्रह्मता और पुनर्जन्म के सिद्धान्तों ने वीरों की भावना
 को नया ही रंग दे दिया । राष्ट्रप्रेमी क्राधाकरण रूप से भावुक होते थे । लोगों ने
 शत्रु में भी अपनी ही आत्मा की छवि देखने का प्रयत्न किया और इस प्रकार भारत की
 राष्ट्रियता प्रणा-देष एवं लक्ष्मियों से मुक्त हो कर जिस दोष से व्यापकित हुई उसमें
 वह तमसू-दोष या क्लृप्त-नहीं रह गया किन्तु कारण पारम्पर्य राष्ट्रवाद अवांक्षित
 हो रहा था । यन्त्रवाद, बीबीगीकरण, भोगवाद, सिंहा, लोभुपता आदि से मुक्त
 हो कर भारतीय राष्ट्रवाद सात्विकताप्रधान हो कर सर्वोदय की ओर अग्रसर हुआ ।
 भारत के गाँवों को ही भारत का वास्तविक स्वरूप माना गया । ग्रामीत्यान के प्रयत्न
 लिये गये । हम भारत को एंग्लैंड या भारत के गाँवों की लम्बन नहीं बनाना चाहते थे ।
 हमारा लक्ष्य था 'राम राज्य' की अवतारणा क्योंकि उसी के द्वारा हम भारत का
 वास्तविक कल्याण सम्भव समझते थे ।

प्रसृत उपादान और हिन्दी साहित्य

इसका परिणाम यह हुआ कि बीसवीं ज्ञानाब्दी के पूर्वार्द्ध में रचित हिन्दी
 साहित्य में राष्ट्रियता किसी न किसी रूप में बराबर मिलती थी।

हम देख चुके हैं कि राष्ट्रियता का व्यापक प्रकार इस युग की उत्प्रेक्षणीय
 विशेषता है । यही राष्ट्रिय दृष्टिकोण वास्तविक हिन्दी साहित्य का मूलचन्द्र है ।
 बाचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, मेधतिशरण गुप्त, स्यामभरण गुप्त, प्रेमचन्द,
 प्रसाद, निराला, 'एक भारतीय आत्मा', 'नवीन', 'दिनकर', बच्चन, लोचनलाल द्विवेदी
 आदि लगभग सभी प्रमुख साहित्यकारों की कृतियों में यह दृष्टिकोण किसी न किसी
 रूप में पाया जाता है । 'संस्मृति' में सत्याग्रह की माला है । 'वीर पर भैरव' में

जाब तहरों में निमंत्रण^१ प्रकारान्तर से राष्ट्र के तरुणों की जाकांजा व्यंजित करे
 सकती है। ये राष्ट्रीय कविताएं भारत देश की प्रशंसा पर, प्राचीन भारत के गौरवान
 पर, भारत के प्रति व्यंजित के मन में उठने वाले अपनेपन की या जादर-प्रशंसा की भावना
 पर, ^{भारतीय}राजकीय पराधीनता की अजांझनीयता पर, अत्याचारी अंगरेजी साम्राज्यवाद के
 प्रति मन में उठने वाले जाज्जोर पर, देश की स्वतन्त्र करने के लिए कष्ट उठने, बलिदान करने
 और त्याग करने की तैयार रहने के जाह्वान पर, जेल में कष्ट उठाने वाले वोरों या
 कांसी पर कूल जाने वाले क्रान्तिकारियों पर लिखी जाती थीं। 'भारत-भारती',
 'हिम किरीटिनी', 'भरवी' जादि अनेक काव्य कृतियां इसी प्रकार की रचनाएं हैं।
 'हिमाद्रि जुग-जुग से' जाता प्रयाण गीत (प्रसाद) अथवा 'हिमात्म्य के जांगन में प्रथम
 उषे के किरणों का उपहार' (प्रसाद) 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' (प्रसाद),
 'वह मातृभूमि मेरी, वह पितृभूमि मेरी' (धुन्धु), 'भारति अय-विजय करे' (निराला),
 'जागी फिर एक बार' (निराला) जादि अनेक गीत और कविताएं राष्ट्रीय
 भावनाओं से जीत-प्रीत हैं। निराला की कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं:--

भारत ही जीवन-का

ज्योतिर्मय परम रमण, सर-सरिता बन-उपवन।^१

-- -- --

बन्धुं पद सुन्दर तव, हृन्ध नवत स्वर-गीत
 जननि, जनक-जननि-जननि बन्धुमि माजी^२

-- -- --

बन्धुं मैं अमल कमल
 फिर धैरित वरण युगल
 शोभाय शान्ति पाव-ताप-हारी
 मुक्त बन्धु, मनानन्द मुद मालकारी।

१- 'जाणिमा' से

२- 'गीतिका' से

वधिर विश्व चक्षि भीत सुन मेख बाणी,
बन्धुमि मेरी ये का नमहाराणी ।^१

कुछ कवियों का वर्तमान के प्रति असन्तोष इतना प्रबल रहा कि ये नाश और
प्रलय की कामना करने लगे थे : - 'कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उधत-पुधत मन जाए'

भारत के प्रति हमारी जो बड़ा भावना है, उसी में भारत के प्राकृतिक सौन्दर्य
की ओर भी हमें उन्मुख किया । अंग्रेजी साहित्य में भी प्रकृति-वर्णन है और इसमें कोई
सन्देह नहीं कि वह अच्छा भी है । वस्तु , हमारे साहित्य में भी प्रकृति-वर्णन एवं उसके
सौन्दर्य का चित्रण होना चाहिए । इसलिए भी ऐसा होना चाहिए कि हमारे देश का
प्रकृति-वैभव विश्व में अद्वितीय है । इंग्लैंड का अच्छा है किन्तु हमारा तो अनुपम है । और
फिर, प्रकृति-चित्रण की परम्परा भी हमारे साहित्य में रही है । वाल्मीकि में प्रकृति
के वातमयन रूप का सुन्दरतम चित्रण है । प्रकृति के उदीपन, बालंकारिक, प्रतीक बादि
रूपों के भी चित्रण संस्कृति और हिन्दी साहित्य में हैं। आधुनिक हिन्दी साहित्य में
प्रकृति चित्रण प्रारम्भ हुआ ।

इस प्रकृति चित्रण की एक विशेषता यह भी रही कि वह रीतिकाल की
मान्यताओं से मुक्त रहा गया । यह स्वामाधिक भी था क्योंकि इस समय तक भारत
में मध्ययुग लगभग समाप्त हो रहा था और नया युग निश्चित रूप से जा गया था ।
इसका जो स्वस्थ प्रभाव भारतीय मस्तिष्क पर पड़ रहा था वह यह था कि मध्ययुगीन
परम्पराएं वहां तक चम्क रही, समाप्त हो चारं । आधुनिक हिन्दी साहित्य का प्रकृति
वर्णन उसका प्रमाण है । अब प्रकृति उदीपन मात्र हो कर नहीं रह गयी । उसकी स्वतन्त्र
व्यक्तित्व भी दिया गया । उसका संश्लिष्ट चित्र भी मिलता है । वह प्रतीक रूप में भी
है । वह बालंकारिक रूप में भी है । इस दृष्टि से सुमित्रानन्दन पन्त का नाम विशेष
रूप से उल्लेखनीय है । प्रायः प्रत्येक आध्यावादी कवि प्रकृति-प्रेमी रहा है । कुछ उदाहरण
देखिए:--

१- 'बपरा' के

२- 'नवीन' की सुप्रसिद्ध पंक्ति

नीका से उठती जल-शिला

हिल पड़ते नम के बीर-शोर ।

विस्फारित नयनों से निश्चल , बुझ तोज रहे जल तारक दल

ज्योतिष कर जल का अंतस्तल

जिनके लघु दीपोंकी वंचल , वंचल की धौट किये बाधिरल

फिरती लहरें लुग-झिप पल-पल ।

सामने शुभ्र की हवि फलमल, धरती परी-सी जल में कल,

रूपहरे ज्यों में ही बोकात

लहरों के धुंघट से मुक-मुक, दशम का शशि निज तिर्यक मुल

दिखाता, मुग्धा सा रुक-रुक ^१

नीले नम के शतदल पर , वह बेठी शारद-हासिनि,

मृदु करुण पर शस्त्री-मुक्ता, नीरव, अनिमित्त, स्फाफिनि ^२

कीन तुम शुभ्र किरण-वचना

सीसा फैलत संवना-नैवल संवना

शुभ्र किरणवचना ।

मंद मलयमर का-गन्ध मृदु

बादल जलकावलि कुंचित कतु

तारक-तार, चन्द्र मुल, मधु-कतु, ^३

सुगन्ध पुंज-वचना ।

निराला का 'बादल राग', 'संध्या सुन्दरी' आदि कवितारं साहित्य की अमूल्य निधियां हैं । प्रेमचन्द, सुन्दावनलात वर्मा, प्रसाद आदि के क्या साहित्य एवं नाट्य साहित्य में भी यह प्रकृति चित्रण है और चित्र की रस प्रदान करने में समर्थ हुआ है 'विराटा की पद्मिनी' की 'उड़ि गये फुल्ला रहि गयी बार' ऐसी ही पंक्तियां हैं।

१-पंक्त लिखि 'नेला विहार' कविता

२-पंक्त लिखि 'चांदनी' कविता

३- 'निराला' लिखि 'नीलिका' से

यह प्रकृति-सौन्दर्य कभी कभी हमारे सामाजिक दुर्दशा के भिन्न को और भी अधिक मार्मिक बना देता है। भविष्यीकरण गुप्त गांवों के सौन्दर्य का चित्र खींचते हैं:--

बहा । ग्राम्य जीवन भी क्या है

क्यों न हूँ सब का मन बाँहें ---- (आदि)

इस प्रकार ये गांवों की प्रकृति की सुन्दरता चित्रित करते करते अन्त में कह उठते हैं:--

शिक्षा की यदि कमी न होती

तो ये गांव स्वर्ग बन जाते ---- आदि

१२-गान्धीवाद और सत्याग्रह

आधुनिक युग में गांधी जी देश की जिस रास्ते पर ले गये थे वह सर्वथा नया नया न होते हुए भी विलक्षण स्वयंमत्कारपूर्ण था। लोगों ने धर्म और नीति की व्यावहारिक जीवन के क्षेत्रों में बहिष्कृत कर दिया था। लोग आज भी कभी कभी कह दिया करते हैं, 'मैं हम सत्याग्री नहीं हूँ। पर गिरफ्तारी में तो यह सब (अनीति के का चक्का ही रहता है, "तुम्हें यही सब करना है तो हिंसात्मक पर चल जाओ" आदि। इसकी एक कांजी 'संकेत' के अष्टम सर्ग में चित्रित चित्र-कूट समा के अवसर पर वामपंथ के कर्मियों में मिल सकती है। गान्धी जी ने वाराणसी राजनीति की सत्य और अहिंसा की अनुगामीनी बना कर कुलवधू का रूप दे दिया। प्रार्थना के बिना ये रह नहीं सकते थे। वे सच्चा उत्थान चाहते थे। तबमें उसी आत्मतत्त्व के दर्शन करते थे। यही कारण है कि वे किसी की भी तत्त्वतः दुरा न मान कर सभी का हृदय-परिवर्तन सम्भव मानते थे। साधन-शुद्धि पर उनका विश्वास था। वे क्रम का आदर करते थे और उसे उनके लिए अनिवार्य मानते थे। वर्तमान शिक्षा प्रणाली की वे मारत के लिए अनुकूलगी सम्मिलित थे। खदर और चूने में उन्हें मारत का कल्याण दिखाई पड़ता था। राजनीति में उनका आदर्श साम्राज्य था। हिन्दू-मुस्लिम एकता उन्हें हृष्ट थी। कम-निम्न आदि की शिक्षा कर उन्होंने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, प्रत्यक्ष, अहिंसक, शरीर-अभ्युदय, निष्पक्षता, सर्व-धर्म-समानता, स्वदेशी, अस्वस्थता का पालन, सभी के लिए अनिवार्य कर दिया था। ग्रामीण-योग में ही वे ग्रामों की समृद्धि सम्भव मानते थे। मादक वस्तुओं की वे त्याग्य मानते थे।

साम्राज्यवाद से लड़ने के लिए उन्होंने सत्याग्रह का कार्यक्रम देश के सामने उपस्थित किया था। सत्याग्रही नीति की आत्मिक, वैचारिक, प्रियात्मक आदि किसी भी प्रकार का उपयोग नहीं देता। बलिदान, कष्ट सहन और सहभाव के द्वारा वह शत्रु को उसी ढंग से सोचने

पर विवश कर देता है। वह शत्रु की भी कल्याण चाहता है। सत्याग्रही कभी निराशा वादी नहीं हो सकता क्योंकि वह नास्तिक नहीं होता। हिन्दियों का दाव था कि सत्याग्रही हो ही नहीं सकता। देश की राजनीतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए गान्धी जी ने जो स्वतन्त्रता आन्दोलन चलाये थे वे मुक्तः इन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित थे। उनकी सफलता से संसार बलित हो गया। सत्याग्रह की सफलता ने पराधीन देशों, दलित कों और शोषित जातियों की मुक्ति का नवीन साधन प्रदान किया। राजनीति ने नई जामा पहि। आलोच्य काल में देश की राजनीति, समाजनीति, धर्मनीति आदि सभी पर तथा देश के विचारकों पर गान्धीवाद का बहुत प्रभाव पड़ा है। गान्धीवाद ने आलोच्य काल की भारतीय संस्कृति की निश्चित रूप से विशिष्टता प्रदान की है।

प्रस्तुत उपादान और आधुनिक हिन्दी साहित्य

गान्धीवाद और सत्याग्रह ने आधुनिक हिन्दी साहित्य की बहुत प्रभावित किया है। भारतीय संस्कृति के अनुकूल होने कारण हमने अपने युग के अनेक राष्ट्र मन्त्र विचारकों की विचारधारा को प्रभावित किया है। गान्धी और विनोबा के लेखनी लेखों और भाषणों के रूप में हिन्दी की इस क्रान्तिकारी विचारधारा का प्रचुर साहित्य प्राप्त हुआ है। दादा कर्माधिकारी, काका कलितकर, किशोरमार्ह मजुवाला आदि भी इसी श्रेणी में आते हैं। केन्द्र की विचारधारा पर भी हमने बहुत प्रभाव डाला है। चित्तरामचरण गुप्त गान्धीवाद के सर्वप्रथम कवि हैं। प्रभाकर माथी ने देशों-विदेशों में यह विचार व्यक्त किया है कि गान्धी दर्शन का सबसे अधिक प्रभाव चित्तरामचरण की रचनाओं पर पड़ा है। 'वज्र' का भी यह विचार है कि 'उन्हे' 'माथी' के पीछे गान्धी जी के सत्याग्रह-आन्दोलन की प्रेरणा थी। --- बापू पर हिन्दी में उल्लेख (बापू थे)

बच्ची रचना शायद ही हो। ^१ 'उन्मुक्त' में कवि ने लिखा है:-

हिंसानल से शान्त नहीं होता हिंसानल
औ सबका है वही हमारा भी है मंगल
मिला हमें फिर सत्य बाव यह नूतन ही कर
हिंसा का है एक बहिंसा ही प्रत्युत्तर

स्पष्ट है कि यह गान्धीदर्शन है। मेथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' के बाठमें ली की वात्मा गान्धीवादी दर्शन में व्युरक्षित है। उनकी सीता भी कहती हैं -- 'बाबो हम कातें-बुनें गान की लय में'। फल में महात्मा गान्धी पर कई उज्जकोटि की कवितारं लिखी हैं। उनकी कुछ पंक्तियां देखिए:--

पूर्णपुरुष, विकसित मानव तुम, जीवन सिद्ध बहिंसक
मुक्त दुर तुम, मुक्त दुर बन, है का वष महात्मन

--- --- ---

मानव वात्मा के प्रतीक, बादलों से तुम ऊपर
निज उद्देश्यों से महान, निज यश से विश्व, चिरंतन^२

इसी प्रकार माखनलाल बहुगुणा, चौहललाल द्विवेदी, श्रीमन्नारायण अग्रवाल आदि कवियों ने भी गान्धी का गौरव-मान किया है। प्रेमचन्द के 'रंगभूमि' और 'कर्मभूमि' नामक उपन्यासों और 'समरयात्रा' की अनेक कहानियों में गान्धी के सत्याग्रह का कलात्मक चित्रण है। 'रंगभूमि' का सुरदास तो उज्जकोटि का सत्याग्रही^३ है।

(१२)-पारवात्य संस्कृति और सभ्यता के उपयोगी तत्व

पारवात्य सभ्यता के तत्व हमारे देश में साम्राज्यवादी अंगरेज अपने लाभ के लिए लाया था, जैसे रेल, टेलीफोन, आदि। उन्होंने जो आर्थिक व्यवस्था, कानून, सिखा-प्रणाली आदि बनाई वह भी उनके अपने लाभ के लिए ही थी। इस प्रकार हमने

१- २ जून, १९६६ ई० का 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान'

२- 'महात्मा जी के प्रति' शीर्षक कविता से

जो पारम्परिक जीवन-पद्धति अपनाई वह इसलिए कि राजनीतिक पराधीनता के कारण
 ऐसा करने के लिए विवश थे। वह हमारी आवश्यकता या स्वाभाविकता नहीं थी। यही
 कारण है कि पारम्परिक जीवन पद्धति या आधुनिकता आंशिक रूप में ही भारत में स्वीकार
 की गयी। ध्यान यह रखा गया कि केवल उन्हीं तत्वों को अपनाया जाए जिनका प्रयोग
 शास्त्र-निषिद्ध न हो, जो हमारी संस्कृति के प्रतिबल न पड़े और जो हमारी उन्नति के
 लिए उपयोगी हो। हमको पारम्परिक विज्ञान-पद्धति स्वीकार करनी पड़ी जिसके परिणाम-
 स्वरूप वैज्ञानिक दृष्टिकोण, अनुसन्धान की भावना और तत्वों एवं तथ्यों की परीक्षा की
 बौद्धिक दृष्टि प्राप्त हुई। भौतिकवादी दृष्टिकोण भी मिला जिससे हमें पुनः प्रगति
 मार्ग की महत्ता अवगत हुई। नये-नये वैज्ञानिक आविष्कारों ने जीवन की पुविवाचक
 वस्तुओं से परिपूर्ण कर दिया। रेल, प्रेस, डाक-व्यवस्था, समाचारपत्र आदि का जीवन
 पर बड़ा ही महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है और उनके अनुसार आज के भारतीय का एक विशिष्ट
 मनोविज्ञान बना है। बुद्धिवादी दृष्टि, मानवतावादी दृष्टिकोण, लोकसंगीय विचार-
 धारा, उपयोगितावादी विचारधारा एवं साम्यवाद पारम्परिक संस्कृति की ही धर्म हैं।
 इन्हीं सबके कारण हरिजन भी विभाष्यमान करने लायक है और द्वेषी-प्रियेदी-शुभेदी भी।
 दृष्टि परिवर्तन ने जैन मान्यताओं की स्वयंसेवक जीवन से निकल जाने की बाध्य कर दिया
 है। लक्ष्य प्राप्ति के लिए संस्थाओं और संगठनों का उपयोग भी पारम्परिक व्यवस्था है।
 इस सम्यता और संस्कृति ने जीवन और विचारधारा की नवीन आयात प्रदान किये हैं।

बीसवीं शताब्दी हमारे देश के सांस्कृतिक इतिहास के एक नवीन अध्याय की
 शताब्दी है। इस नवीनतम सांस्कृतिक मोड़ -- संस्कृति की नवीनतम कसेट का कारण है
 पारम्परिक संस्कृति है इसका सम्पर्क। इस सम्पर्क ने संस्कृति के प्रत्येक कोण में उत्तम-और पैदा
 किया है। वस्तु, साहित्य भी प्रभावित हुआ है।

प्रस्तुत अध्याय का साइडल लाइन :-

विषय के क्षेत्र में परिवर्तन इस प्रकार हुआ है कि अब जीवन का कोई भी
 पक्ष जयवा समाज का कोईभी कोण साहित्य की सीमा से बाहर नहीं रह गया। सभी
 साहित्य लिखी हैं, सभी पढ़ी हैं, और सभी साहित्य के विषय बनते हैं।

दृष्टिकोण में परिवर्तन यह हुआ कि भौतिक जीवन अपने उच्च रूप में साहित्य में

व्यक्त होने लगा । बाद में के साथ-साथ यथार्थ भी महत्वपूर्ण हुआ । .

स्वरूप में परिवर्तन यह हुआ कि अब काव्य की प्रधानता न रह कर, गद्य की प्रधानता हो गयी । निबन्ध, शोध प्रबन्ध, नाटक, स्कांकी, कहानी, उपन्यास, साहित्य का इतिहास, साहित्य शास्त्र, गद्य काव्य, शब्द चित्र आदि लिखे जाने लगे ।

शैली में परिवर्तन यह हुआ कि साहित्य 'रीति' - प्रधान नहीं रह गया । कलकारों आदि की प्रमुक्तता नहीं रह गयी ।

साहित्य का सम्बन्ध कुछ विशिष्ट लोगों से हो न रह कर, उल्टे हो गया ।

सबसे बड़ा परिवर्तन भाषा के क्षेत्र में हुआ । लोक कारणों से, जिसका विवेचन यहां अप्रासंगिक होगा, बीसवीं शताब्दी के आते-जाते यह निश्चित हो गया कि हमारे ज्ञान-विज्ञान अर्थात् उपयोगी साहित्य या गद्य साहित्य की भाषा प्रज्जमाना नहीं रह सकती । मध्ययुग की काव्य भाषा आधुनिक युग की आशाओं-आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति की भाषा नहीं हो सकती । साथ ही, यह भी हो गया कि यह भी नहीं चल सकता कि कविता की भाषा कोई दूसरी रहे, और गद्य की, कोई दूसरी । वस्तु, उड़ी बीती साहित्य की भाषा के रूप में स्वीकृत हुई । भाषा का यह परिवर्तन बड़ा ही ग्रांथिकारी हुआ । काव्य का रूप ही बदल गया । काव्य-भाषा के मापदंडों की यह कमीटी बदल गयी जो प्रज्जमाना मात्र पर ही लागू होती थी । उड़ी बीती की प्रकृति का भी इतना बड़ा हाथ था । इस भाषा के संवारने-संवारने में संस्कृत का सहारा लिया गया । बीसवीं शताब्दी का प्रथम दशक इसी में ला गया । दो आठ दशक में जारी । आचार्य द्विवेदी के नेतृत्व में जो प्रयत्न हुआ उसी भाषा में गद्यात्मकता जा गयी । वह काव्य की भाषा के रूप में संतोषजनक न लगी । प्रसाद-पन्थ-निराला ने जो रूप दिया वह प्रभावशाली विहीन हो गया । दोनों ही स्थितियों में भाषा जन-समूह की अपनी भाषा नहीं रह गयी । प्रसाद, पन्थ, निराला, महादेवी, रामकुमार वर्मा आदि ने बहुत अच्छा चिन्ता है लेकिन जो कुछ चिन्ता है वह कला का अपना न हो सका । वह कर्म-विहीन की निधि है ।

पुनरुत्थान से प्रेरणा पा कर अब हम उम्मीद और धैर्य के गौरवपूर्ण भविष्य की

कामना करने लगे तब पार्श्ववात्य विचार धाराओं का भी हमने उपयोग करना चाहा ।
 इसी समय साम्यवादी विचारधारा सामने आई । उसकी युक्तियुक्तता से बाजुष्ट हो कर कुछ
 लोगों ने उसे अपनाने का प्रयत्न किया । हिन्दी के ऐसे साहित्यिकों ने मार्क्सवादी
 साहित्य का प्रणयन किया । मार्क्सवाद में ईश्वर के लिए स्थान नहीं है । इसका परिणाम
 यह हुआ कि कुछ कवीश्वरवादी भावनाओं की एवं ईश्वर के प्रति बाजोश व्यक्त करने
 वाली रचनाएं भी सामने आईं ।

उपयुक्त साहित्य सिद्धान्त-प्रधान रहा क्योंकि जीवन अभी उसके अनुसार ठीक
 नहीं पाया था और वह हमारी संस्कृति नहीं बन पाया था ।

अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए जुगजित एवं पुष्पस्थित संस्थाओं का उपयोग
 पार्श्ववात्य विधान है और हिन्दी के लेखकों ने इसका उपयोग यथासंभव ^{सुविधा} उत्साह के साथ
 किया है ।

सैद्धान्तिक प्रारूपों में इनका विनिमय

बीसवीं सताब्दी के भारत की संस्कृति के इन विभिन्न उपादानों का महत्त्व
 असाधारण है । इनके बिना आधुनिक भारतीय जीवन-सम्वन्धी सैद्धान्तिक प्रारूपों की
 कल्पना ही नहीं हो सकती । सिद्धान्त के रूप में हम इस युग की जो धारणा बनाते
 हैं, तत्त्व रूप में ये निष्कर्ष अवश्य ही उत्पन्न उपस्थित होंगे ।

इस युग की हम आधुनिक भारत का पुनरुत्थान काल या संक्रान्ति काल कह
 सकते हैं । हमारे जीवन और समाज की समस्त क्रियाएं इसी काल की ध्यान में रह कर
 नियोजित की गयी हैं ।

स्वार्थपूर्ण एवं शोषण प्रधान केंद्रीय साम्राज्यवाद ने भारत का उनी प्रकार से
 अक्षिप्त किया था और हमारी अवस्था अत्यन्त कठिन हो गयी थी ।

राजनीतिक परतन्त्रता के कारण उन घटनाओं ने जीवन की ओर भी अक्षिप्त
 दयनीय बना दिया था, स्वतन्त्र रहने पर जिनका निवारण हम कर सकते थे और स्वतंत्र

देश में दौम का वातावरण बन गया था और स्वाधीनता प्राप्त करने की तीव्रतम इच्छा पैदा हो गयी थी ।

कंग्रेसों ने राज्य-शासन और अधिकार को हमारे जीवन का साधन बनाया था । इसीलिए हमने सबसे पहले उनके इस शासन और अधिकार को समाप्त करना ही ज्यादा उनकी राजनीतिक परतन्त्रता से मुक्त होना ही हमने अपना लक्ष्य बनाया ।

सामान्यतः सांस्कृतिक और विशेषतः राजनीतिक पराधीनता के परिणाम-स्वरूप हमारे समाज में कुछ दोष जा गये थे जिन्होंने जीवन, दुष्टिहीन और साहित्य सभी पर अपना निश्चित प्रभाव डाला ।

भारत की अपनी परम्पराएं इतनी कम थीं कि वे भारत को पूर्ण रूप से मृत या नष्ट करी भी नहीं होने दे सकती थीं ।

वस्तु , नवीत्यान की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई जिसके परिणामस्वरूप हमारे अपने अपनी वर्तमान दुर्दशा और उसके कारणों को ठीक से समझ लेने की प्रेरणा और साम्रा उत्पन्न हुई , अपनी पुरानी महानता को पुनः प्राप्त करने की अभिलाषा उत्पन्न हुई , समाज में सर्वतोमुखी सुधार करने के दुष्टिहीन और स्वरूप प्राप्त हुए , अपने प्राचीन इतिहास गौरव दर्शन , साहित्य आदि का ज्ञान प्राप्त करने की उत्कण्ठा उत्पन्न हुई , जात्मकीयता की प्रान्ति क्वाचम्भ नहीं हुए उत्पन्न होने पाई , उत्थान के प्रयत्नों को क्वाचम्भ भारत की सांस्कृतिक प्रकृति के स्वरूप रखे की चेष्टा रही , जात्या-विहीन न होने की प्रकृति , बनी , लक्ष्मणों , दुष्टियों एवं दोषों से अपने दुष्टिहीन और अपनी विचारधारा की क्वाचम्भ नकार रखे की इच्छा पैदा हुई , सीमाओं और ज्वाओं के बीच हुए भी सर्वव्य-पालन की दुष्ट इच्छा शक्ति बराबर रही तथा क्वाथ और बीदित्वा पर बाधों और मायुक्ता का बंधन नकार रखे का बीचित्य समझ में आया ।

साहित्य के क्षेत्र में पश्चिम से हमने जो कुछ लिया उसे अपना बना कर लिया । यह लेना इसलिए भी आवश्यक हो गया था कि हमारे जीवन की व्यवस्थाएं चौड़ा-बहु पश्चिम की जीवन-व्यवस्था के डंग पर हो रही थीं जिसका परिणाम यह हुआ कि पश्चिम की साहित्यिक विचारों भी हमारे सांस्कृतिक जीवन-व्यवस्था और उसकी अभिव्यक्ति के

अनुकूल हो गयीं क्योंकि साहित्यिक विधाओं के स्वल्प का सम्बन्ध बोधक की व्यवस्था के अनुसार होता है ।

भारतीय संस्कृति की जो परम्पराएं हमें पीढ़ियों से मिलती चली आ रही थीं और जो अब हमारी जातीय विशेषताएं बन गयी थीं जैसा जिनका ज्ञान हमें अध्ययन के द्वारा हुआ था उनके कारण हमारी दृष्टि संकुचित नहीं होने पायी, हमें अनावश्यक कटुता कभी कम मात्रा में रह गयी, हमें प्रेक्षण बहुत कम बाने पाया, हमारी समन्वय क्षति सक्रिय रही और हम निःसंकोच रूप से ग्रहण कर सके और दे सके ।

तत्त्व की एकता के कारण प्रत्येक उपर्युक्त प्रवृत्तियां एक दूसरे की सहयोगिनी और सम्बन्धिनी बन जाती हैं । एक दूसरे में तीन भी हो जाती हैं । राजनीतिक स्वतन्त्रता के आन्दोलनों में आध्यात्मिकता और नैतिकता समा गयी । इस दृष्टि से देखने पर हम पाते हैं कि प्रथम उपादान के परिणाम-स्वरूप ही दूसरे उपादान का उदय होता है । वास्तव यह है कि राजनीतिक पराधीनता का ही यह फल हुआ कि यद्यपि हमारे देश में युद्ध नहीं हुए फिर भी युद्ध-बन्धन परिस्थितियों की विनीचिकाओं से हम अनेक ही आक्रान्ध हुए जितने युद्ध-रत देश । पराधीनता का दुष्परिणाम यह हुआ कि युद्ध जीत कर भी हम विजयीत्वास से आह्लादित नहीं होने पाए । इस क्षेत्र में अंगरेजों ने जो नीति अपनाई थी उसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीयता की भावना में अधिकारिक उन्नात जाता गया । वास्तव यह कि इस दूसरे उपादान से ग्यारहवां उपादान अर्थात् राष्ट्रीयता पोषित हुई । इस ग्यारहवें उपादान का सम्बन्ध तीसरे उपादान अर्थात् सांस्कृतिक पुनर्जागरण से हो गया । इस सम्मिलन ने हमारी राष्ट्रीयता को विलक्षणता प्रदान की । इस तीसरे उपादान का परिणाम सम्बन्धि सम्बन्ध -- कारणकार्य सम्बन्ध -- चारों (समन्वयशील प्रवृत्ति), चारों (आत्मतत्त्व के प्रति आस्था) और चौथे (भारतीय अन्तर्दिष्टता) उपादानों से हुआ । गान्धीवाद और उत्थाग्रह अर्थात् बारहवें उपादान की प्राप्ति भी तीसरे उपादान से ही सम्भव हुई और इसी तीसरे उपादान की प्रवृत्ति में ही आठवां उपादान अर्थात् आधुनिक मध्यमवर्ग की सक्रियता, दसवां उपादान (हमारे आगरण) तथा दसवां उपादान अर्थात् ग्रहणशील प्रवृत्ति पनप रही और हम इन उपादानों से तानाबाना हो पाए । इस प्रकार आधुनिक युग की संस्कृति के दसवें उपादान के पुष्प के रूप में ही बारहवें उपादान की

प्राप्ति हुई। तात्पर्य यह है कि नवीनतम संस्कृति के ये उपकरण एक-दूसरे के निष्ठ भी हैं, एक दूसरे के अनुप भी हैं, एक दूसरे के अनुकूल भी हैं, इनका एक दूसरे में प्रवेश भी होता है और बहुत अधिक (इनमें) पारस्परिक विनिमय भी होता है। इन्होंने आपस में एक दूसरे को बहुत प्रभावित किया है। उदाहरण के रूप में, तीसरे (सांस्कृतिक पुनर्गठन) और तेरहवें (पश्चात्त्य तत्व) के एक दूसरे पर पड़ने वाला प्रभाव असंदिग्ध ही नहीं, महत्वपूर्ण भी है।

साहित्यिकों के मानस पर इनका प्रभाव

— हमारे साहित्य की रचना उदार हृदय, सेवा भावना से प्रेरित, सर्वोपरि परायण त्यागी-बलिदानों, आदर्शवादी, उच्चतर तथा प्राविणीत मानस वाले अनुभूति प्रधान व्यक्तियों ने की है। साहित्यिक का मानस प्रकृतिः अनुभूति प्रधान होता है। वह समाचारण की क्षमता कहाँ अधिक मानस होता है। जीवन की विविध परिस्थितियों को समाचारण स्वभाव का मानस सहज रूप में स्वीकार कर लेता है उन्हें साहित्यकार विषयता के कारण स्वीकार करके भी संवेदनशील मानस में स्वीकार नहीं करता। उसके बन्दर जलनोष, लोभ, आक्रोश, विद्रोह की भावनाएं सक्रिय रहती हैं। बीचों-बीच आखी के पुराई में भारतीय समाज साम्राज्यवादी अंगरेज की कूटनीति एवं स्वार्थ हृत्ति के परिणाम-स्वरूप जिस दुर्दशा में ग्रस्त हो गया था उसे हमारा समाज साहित्यकार प्रत्यक्ष रूप में देखता और अनुभव करता था और उन अनुभूतियों की जितनी न जितनी प्रकार अपने साहित्य में अभिव्यक्त करता रहता था। जितनी निश्चित दृष्टिकोण के अभाव में ये अभिव्यक्तियाँ, निरुद्देश्य एवं अवकाश हो जातीं किन्तु हमारा यह साहित्यिक उन्मीलनों आखी के हिन्दुत्व के नवोत्थान की दृष्टि में उत्पन्न हुआ था और इसी दृष्टि में उसकी पैना का विकास भी हुआ था। परिणाम यह हुआ कि वह निरुद्देश्य नहीं होने पाया। अनेक महान आत्माओं की साक्षात्, चिन्तन, मनन, उपदेशों, आत्मानों और पुस्तकों के प्रसार के परिणामस्वरूप समाज में नवोत्थान की प्रवृत्तियाँ गतिशील हुई थीं। उन्हीं आत्मानों और उपदेशों को हमारे साहित्यिक ने सुना। उन्हीं पुस्तकों का उन्हीं अध्ययन और मनन किया। इन महात्माओं में से कुछ के सम्पर्क में हमारे साहित्यिक आए भी। परिणाम यह हुआ कि उनके बन्दर भी कुछ विशेष आकांक्षाएं और वास्तव उत्पन्न हो गयीं। मूल प्रोत्साहन के एक ही होने के कारण इन साहित्यिकों की आशाओं-आकांक्षाओं और समाज की आशाओं-आकांक्षाओं में अनुकूलता और सम्पत्ता हो गयी। वस्तु, साहित्यिकों का

मानस इस स्थिति में हो गया कि समाज की भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियाँ -- उपर्युक्त निष्कर्ष -- उसकी प्रभावित कर सकें। साहित्यिक प्रभावित हुआ। व्यक्तिगत समस्याओं, शक्तियों, सामर्थ्यों, रुचियों, अनुभवों, पारिवारिक परम्पराओं, शिक्षा-दीक्षा के प्रकारों और स्वरूपों, अपने अपने उद्देश्यायित्वों और परिस्थितियों के परिणामस्वरूप किसी साहित्यिक की क्रियाओं में उपर्युक्त निष्कर्षों में से कुछ मिलेंगे और किसी में कुछ, किसी में कुछ अधिक मिलेंगे और किसी में कुछ कम, किन्तु यदि हम इस युग के सम्पूर्ण साहित्य की देखें तो निश्चित रूप से वह युग और समाज की जाहाजों-जाकांजाहों का प्रतिनिधित्व करता हुआ मिलेगा।

संगतमय परिणाम

वस्तु, कुछ प्रभाव, कुछ स्वभाव; कुछ स्थिति, कुछ परिस्थिति; कुछ प्राचीन, कुछ नवीन; कुछ सम्यता, कुछ संस्कृति; तथा कुछ अपने और कुछ पराये में मिल कर वास्तुनिक हिन्दी साहित्य या यों कहिए कि बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के हिन्दी साहित्य का निर्माण किया। ये ही सब मिल कर वास्तुनिक भारतीय जीवन की सांस्कृतिक पुष्कमृति बनाते हैं। बीसवीं शदी के प्रथम दशक की समाप्ति के पूर्व ही हिन्दी भाषा में एक नया साहित्यिक भाषा होने के सभी लक्षण दिखाई पड़ गये थे। उसमें सभी अपनी जाहाजों और जाकांजाहों की ज्वंजना प्रारम्भ कर दी थी क्योंकि, 'हिन्दी में अब पुस्तकाना ढोड़ दिया, वह फिर जो 'प्रिय' कहने लगी है। उसका किसी बंड फूट गया, बस्तुकुट का बंड-बंड गये, उसकी बस्तुधरा में एक स्पष्ट स्वरूप की भाँक जा गयी; बसा पितासु तथा उन्मत्त हो गया, पदों की संयत्ता दुष्टि में जा गयी, वह विपुल विस्तृत हो गयी, हृदय में नवीन भावनाएं, नवीन कल्पनाएं उठने लगीं, ज्ञान की पारिधि बढ गयी, पारों दिशाओं से विविध समीर के माँके उसके चित्त को रोमांचित करने लगे --- अब भारत के कृष्ण ने मुरली ढोड़ पाँवजन्म उठा लिया, बुध देव की बुध वाणी बागुल हो उठी, लडी बोलो उस वाग्दुति की उलझानि हो'। चारों भारत में एक स्वर से मान लिया कि लडी बोलो 'बाग की स्वर्णांश है', 'मधिर्य की स्वर्णा है', 'नव उमस भारत की हृदय कंपन है', 'नव जीवन संवारिणी संवापना है', एवं 'कुल स्वर्ग की वाग्दुति' 'सुनीतिकुमार वाटुज्या ने लिखा है', ----इस 'कण्ड-विन्न-विशिष्ट' देश में मैं संसुप्त है

बाद हिन्दी ही को ईश्वर का जाहीवादि स्वरूप मानता हूँ।^१ इस छंदी नीति में हिन्दी के साहित्यिकों ने बाह्य और आन्तरिक कात की क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं को अभिव्यक्त किया। यह कार्य सरल नहीं था। हजारों प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, "संसार के इतिहास में ऐसी दूसरी भाषा लायक नहीं है जो खूब और से उपेक्षित रहते हुए भी इतनी शक्ति वर्णन कर सकी हो---बाधुनिक हिन्दी भाषा का साहित्य प्रतिकूल और विचलित परिस्थितियों के बीच रचा गया है। एक ओर साहित्यिकों की उपेक्षा का शिकार होना पड़ा है, दूसरी ओर जनता की पीट सहनी पड़ी है---यह कहानी कितनी ही खेदजनक है उतनी ही स्फूर्तिदायक---फिर भी इस युग के सत्य की यथार्थता तो मानना है लिख कर देश की जनता को वे उद्बुद्ध करते रहे।"^२

विश्व की दो महानतम संस्कृतियों के -- जिनमें से एक का अतीत अद्वितीय रूप से महान था और दूसरे का वर्तमान असाधारण रूप से प्रभावशाली और आकर्षक तथा जिनमें से एक के कुछ अनावश्यक एवं असामयिक तत्वों को निकालना अनिवार्य था और दूसरे की तरफ़ों की कुछ धिक्क देना आवश्यक था -- संगम के परिणामस्वरूप उत्पन्न परिस्थितियों एवं प्रवृत्तियों के कारण जो हमारा आधुनिक हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी के इस प्रथमादर्ध में बना उसकी नयी शक्तिय, नयी जायाम, नयी शायारं, नयी रचनाएं और नयी आत्माएं मिली जिनके परिणामस्वरूप:---

बीरे मांति कुंजन में गुंजरत नीरे नीर

बीरे डार फोरन में बीरेन के झुमे गयी ।

कहि 'पद्माकर' सु बीरे मांति गलियान

हलिया हवीले हत बीरे हवि ह्वे गयी ।

बीरे मांति बिछेन समान में जगाम चीत

ऐसे कपूरानके न जाव पिन हे गयी ।

बीरे रत, बीरे रीति, बीरे रान, बीरे रंग,

बीरे तन, बीरे मन, बीरे मन झुमे गयी ।

१- 'मल्लव' की भूमिका

२- 'विशाल भारत' पत्रिका, मार्च १९५०, पृष्ठ १८९

३- 'हिन्दी साहित्य', पृष्ठ ५००

परिशिष्ट (ब)

हिन्दी पुस्तक सूची

<u>पुस्तक नाम</u>	<u>लेखक</u>	<u>संस्करण</u>	<u>प्रकाशन वर्ष</u>
१-वर्षिक भारतवर्षीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के २१ वें वार्षिक अधिवेशन के साहित्य-परिषद् के समापति रामकुमार वर्मा का भाषण ।			
२-वध्ययन जी२ का स्वाध	गुलाबराय		१९५७ ई०
३-बना मिका	'निराला'	दूसरा	सं० २००५ वि०
४-बनुसीलन	रामकुमार वर्मा	पहला	१९५७ ई०
५-बर्वाचीन भारत का इतिहास	ईश्वरीप्रसाद	पहला	१९५८ ई०
६-बांसू	जयशंकर प्रसाद	-	सं० २००५ वि०
७-बाकास-गंगा	रामकुमार वर्मा	पहला	१९४९ ई०
८-बाकास-दीप	जयशंकर प्रसाद	-	१९५५ ई०
९-बाब का भारतीय साहित्य ✓	-	दूसरा	१९५४ ई०
१०-बात्मकथा	राधेन्द्रप्रसाद	तृतीय सं- स्करण	१९५७ ई०
११-बात्मकथा	मूले० महात्मा गान्धी		
	बनु० काशीनाथ त्रिपदी	-	१९५७ ई०
१२-बाधुनिक कवि भाग २	पन्त	-	१९५८ ई०
१३-बाधुनिक कवि भाग ३	रामकुमार वर्मा	-	१९६८ वि०
१४-बाधुनिक कहानियाँ	-	पहला	१९५४ ई०
१५-बाधुनिक काल का इतिहास ✓	बी डी स्म फेटेलनी	-	१९५८ ई०
१६-बाधुनिक काव्य द्वारा	केवरीनारायण गुप्त	तीसरा	२००७ वि०
१७-बाधुनिक काव्यद्वारा का सांस्कृतिक प्रौढ	केवरीनारायण गुप्त	पहला	२००४ वि०
१८-बाधुनिक भारत ✓	संकरदत्तात्रेय जायसवाल	-	१९५२ ई०
१९-बाधुनिक भारत का निर्माण	एस बाबुलसर्ज	-	१९५८ ई०
२०-बाधुनिक साहित्य	नन्दकुमार बाबुनिया	पहला	२००७ वि०

२१-वाधुनिक साहित्य की वार्षिक भूमिका	शिवनाथ	पहला	२००६ वि०
२२-वाधुनिक हिन्दोकविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ	नीन्द्र	-	२००८ वि०
२३-वाधुनिक हिन्दी काव्य में हृन्द योजना	पुष्पलाल शुक्ल	पहला	२०१४ वि०
२४-वाधुनिक हिन्दी साहित्य	लक्ष्मीशानर वाष्णीय	तीसरा	१९५४ ई०
२५-वाधुनिक हिन्दी साहित्यका विकास	श्रीकृष्णलाल	तीसरा	१९५४ ई०
२६-वाधुनिक हिन्दी साहित्यकी भूमिका	लक्ष्मीशानर वाष्णीय	पहला	१९५२ ई०
२७-वार्थ संस्कृति	बलदेव उपाध्याय	दूसरा	१९५४ ई०
२८-हस्तामकी इपरेता	राहुल सांकृत्यायन	दूसरा	१९४६ ई०
२९-हस्ताम का परिवर्तन	मोतिलाल बबू मुहम्मद इमामुद्दीन	पहला	१९४७ ई०
३०-उत्तरा	पन्त	पहला	१९४९ ई०
३१-उद्भव शतक	रत्नाकर	-	-
३२-उपयोगितावाद	मु०ले० स्टुजर्ट मिल बजु० उमरावसिंह	पहला	१९२४ ई०
३३- कर्म योग	विवेकानन्द	तीसरा	१९५४ ई०
३४-कला और संस्कृति	वासुदेवचरण अग्रवाल	दूसरा	१९५८ ई०
३५-कला-साहित्य-शास्त्र	हरिदत्त दुबे	पहला	१९६० ई०
३६-काग्रेस का इतिहास (संक्षिप्त)	पट्टाभि सीतारामिया	पहला	१९५८ ई०
३७-कामायनी	'प्रसाद'	-	२०१३ ई०
३८-कामायनी में काव्य, संस्कृति, दर्शन	द्वारिकाप्रसाद सक्सेना	पहला	१९५८ ई०
३९-काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध	'प्रसाद'	-	२०१० वि०
४०-काव्य की दृष्टि	रामदत्त मिश्र	दूसरा	१९५९ ई०
४१-काव्य और जीवन का पारस्परिक संबंध	उमा मिश्र	पहला	१९५२ ई०
४२-काव्य की भूमिका	'दिनकर'	पहला	१९५८ ई०
४३-काव्य में रहस्यवाद	रामचन्द्र शुक्ल	-	१९८६ वि०
४४-कुछ सृष्टियाँ और सृष्टि विचार	लक्ष्मणानन्द	पहला	२०१८ वि०
४५-कीर्णार्क	कादोचन्द्र माधुर	दूसरा	२०१९ वि०

४६-गोमुदो महीत्सव
४७-ज्ञानदा
४८-संछित भारत
४९-गान्धीवाद और मार्क्सवाद
५०-गान्धीवाद और समाजवाद
५१-ग्राम्या
५२-गोदान
५३-गोस्वामी तुलसीदास
५४-चन्द्रगुप्त मौर्य
५५-किताबमणि (दोनों भाग)
५६-विदम्बरा
५७-चित्रलेखा
५८-इन्द्र प्रमाकर
५९-जीवन के तत्त्व और काव्यिक सिद्धान्त
६०-ज्योति-विष्णु
६१-ज्ञानयोग
६२-कटना
६३-दादा कामेट
६४-दीपशिखा
६५-दुर्गा भारत
६६-दो बाव
६७-कुलस्वामिन
६८-नया साहित्य : नये प्रश्न
६९-नये पुराणे करोवे
७०-निबन्ध नवनीत
७१-नीरवा
७२-नूतन ब्रजभाषा काव्य मञ्जरी

रामकुमार वर्मा	पहला	१९४९ ई०
महादेवी वर्मा	पहला	२०१२ वि०
राधेन्द्रप्रसाद	दूसरा	२००२ वि०
श्रीकृष्णदत्त पालोवाल	पहला	१९४६ ई०
सकलन	पीछा	१९४८ ई०
पन्त	-	२००८ वि०
प्रेमचन्द	-	१९५४ ई०
रामचन्द्र शुक्ल	सातवां	२००८ वि०
'प्रसाद'	न्यास्रह्वां	२०१५ वि०
रामचन्द्र शुक्ल	-	१९५० ई०
पन्त	पहला	१९५९ ई०
भगवतीहरण वर्मा	-	२०१९ वि०
कान्ताधरप्रसाद 'भानु'	-	१९२५ ई०
लक्ष्मीनारायण दुर्गाधु	-	१९५० ई०
शान्तिप्रिय शिवेदी	-	२००८ वि०
विवेकानन्द	-	१९५० ई०
'प्रसाद'	२००९	२००९ वि०
यशपाल	दुठां	१९५२ ई०
महादेवी वर्मा	दूसरा	१९४६ ई०
लावण्य राव	-	१९२८ ई०
लमोहरबहादुर सिंह	-	१९४८ ई०
प्रसाद	पन्त्रह्वां	२०१६ वि०
नन्ददुलारे बाबोयी	पहला	१९५५ ई०
'वचन'	पहला	१९६२ ई०
लक्ष्मीसागर बाबोयी	पहला	१९५७ ई०
महादेवी वर्मा	-	१९५२ ई०
रमाशंकर शुक्ल 'रसात'	पहला	१९६० ई०

७३-पथ के साथी	महादेवी वर्मा	पहला	१९५६ ई०
७४-परिमल	' निराला '	दुठां	१९५४ ई०
७५-पल्लव	पन्त	पाँचवां	२००५ वि०
७६-पल्लविनी	पन्त		१९४७ ई०
७७-पार्श्वगत्य दर्शनों का इतिहास	देवराज		१९५२ ई०
७८-पार्श्वगत्य साहित्यालोचन और हिन्दी पर उसका प्रभाव	बाल रत्न वर्मा	पहला	१९६० ई०
७९-प्रबंध प्रतिमा	निराला	पहला	१९४० ई०
८०-प्रसाद का काव्य	प्रेमशंकर	पहला	२०१२ वि०
८१-प्रार्थना प्रवचन भाग १	गान्धी	दूसरा	१९५२ ई०
८२-प्रार्थना प्रवचन भाग २	गान्धी	दूसरा	१९५४ ई०
८३-प्रिय प्रवास में काव्य संस्कृति और दर्शन	कारिकाप्रसाद सक्सेना	पहला	१९६० ई०
८४-पृथ्वीराज की गाँथें	रामकुमार वर्मा	सातवां	२००४ वि०
८५-बंगला पर हिन्दी का प्रभाव	ब्रह्मानन्द	पहला	१९६२ ई०
८६-बन्दी जीवन भाग १	श्रीचन्द्रनाथ शान्याल	बीया	१९३८ ई०
८७-बन्दी जीवन भाग २	श्रीचन्द्रनाथ शान्याल	बीया	१९३८ ई०
८८-बापू के कदमों में	राधेन्द्रप्रसाद	-	१९५० ई०
८९-ब्राह्मण सावधान	सम्पूर्णानन्द	तीसरा	२००९ वि०
९०-भक्ति योग	विभेकानन्द	पहला	१९५५ ई०
९१-भक्ति और भेदान्त	विभेकानन्द	पहला	१९५५ ई०
९२-भारत का आर्थिक विकास	प्यारेलाल शर्मा	दूसरा	१९५७ ई०
९३-भारत का आर्थिक इतिहास	सिमरंकर मिश्र	पहला	१९८० वि०
९४-भारत की वन्यराज्यता	रामाकृष्णन	पहला	१९५२ ई०
९५-भारत में इस्लाम	आचार्य नरुसेन	दूसरा	१९४६ ई०
९६-भारत में प्रिंटिंग साम्राज्य का उदय और अस्त	इन्द्राविद्या वावस्यति	पहला	१९५६ ई०
९७-भारत में शिक्षा	बीहरी और भाऊ	पहला	१९६२ ई०

६८-भारत में संस्कृत ज्ञानि वैष्णव का

रोमांकनारी इतिहास, भाग १

६९-भारतीय व्यक्तित्व भाग १

१००-भारतीय व्यक्तित्व भाग २

१०१-भारतीय व्यक्तित्व का विवेचन

१०२-भारतीय ज्ञानि ज्ञानि आन्दोलन का

इतिहास

१०३-भारतीय चित्रकला

१०४-भारतीय दर्शन

१०५-भारतीय दर्शन शास्त्र का इतिहास

१०६-भारतीय नेताओं की हिन्दी सेवा

१०७-भारतीय बुद्धिजीवी

१०८-भारतीय संस्कृति

१०९-भारतीय संस्कृति

११०-भारतीय संस्कृति एवं संस्कृति

१११-भारतीय संस्कृति का उत्थान

११२-भारतीय संस्कृति का प्रवाह

११३-भारतीय संस्कृति की स्वरूपा

११४-भारतीय संस्कृति की वाक्या

११५-भारतीय समाज और संस्कृति

११६-भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण कावतलरण उपाध्याय पदता

११७-भारतीय ग्रन्थावली भाग १

११८-भारतीय ग्रन्थावली भाग २

११९-भारतीय ग्रन्थावली भाग ३

१२०-भारतीय कु

१२१-भाषा भारती

१२२-भारती

मन्मथनाथ गुप्त

जयार और बैरी

जयार और बैरी

वीमप्रकाश फैला

मन्मथनाथ गुप्त

असितकुमार शालदार

वाचस्पति गेरोला

देवराज और तिवारी

ज्ञानवती दरबार

सम्पूर्णानन्द

देवराज

सने गुरुजी

पी के आचार्य

रामजी उपाध्याय

इन्द्र विद्या नि वाचस्पति -

गुलाबराय

रामजी उपाध्याय

फैलाजनाथ शर्मा

कावतलरण उपाध्याय पदता

भारतीय हरिश्चन्द्र

भारतीय हरिश्चन्द्र

भारतीय हरिश्चन्द्र

रामायण शर्मा

त्रिलोकीनारायण दीक्षित -

वीरलाल शर्मा

पदता

पदता

दुसरा

दुसरा

दुसरा

पदता

-

-

पदता

पदता

-

दुसरा

पदता

-

-

पदता

-

वीधा

पदता

पदता

दुसरा

पदता

-

-

-

१६४८ रु०

१६५५ रु०

१६५६ रु०

१६५५ रु०

१६६० रु०

१६५६ रु०

१६६२ रु०

१६५० रु०

१६६१ रु०

रु० सं० १८७६

१६६० रु०

१६५६ रु०

२०१४ वि०

२०१८ वि०

१६५६ रु०

२००६ वि०

२०१६ वि०

१६५६ रु०

१६५० रु०

२००७ वि०

२०१० वि०

२०१० वि०

१६५६ रु०

१६५२ रु०

१६४२ रु०

१२२-मध्यदेश-ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक सिंहावलोकन धीरेन्द्र वर्मा पटना	१९५५	₹०
१२४-महादेवी का विवेचनात्मक ग्रन्थ		
१२५-महावीरप्रसाद द्विवेदी जी० उन्मत्त कुमार उदयमान सिंह पटना	२००८	₹१०
१२६-मृगनयनी	ब्रन्दावनलाल वर्मा बाठवां	१९५८ ₹०
१२७-मेरी अपनी कथा	पद्मलाल पन्नालाल बस्ती	१९५८ ₹०
१२८-मेरी आत्म कहानी	श्यामसुन्दर दास पटना	१९४९ ₹०
१२९-मेरी कविता डायरी	धीरेन्द्र वर्मा पटना	१९५८ ₹०
१३०-मेरी जीवन यात्रा	राहुल सांकृत्यायन	१९४५ ₹०
१३१-मैथिलीकरण गुप्त - व्यक्ति और काव्य कमलानन्द पाठक पटना		१९६० ₹०
१३२-मौलीलाल नेहरू बन्धु शताब्दी स्मृति ग्रन्थ	पटना	१९६० ₹०
१३३-यशोधरा	मैथिलीकरण गुप्त	२०१२ ₹०
१३४-यामा	महादेवी वर्मा तीरुश	२००८ ₹०
१३५-युगवाणी	पन्थ तीरुश	१९४७ ₹०
१३६-युग और साहित्य	शान्तिप्रिय द्विवेदी दूधरा	१९६९ ₹०
१३७-रत्न रत्न	महावीरप्रसाद द्विवेदी -	१९२६ ₹०
१३८-राष्ट्रीय संस्कृति	बाबिद दुसन पटना	२०१५ ₹१०
१३९-रिमन्त्रिम	रामकुमार वर्मा पटना	१९५५ ₹०
१४०-संस्कृत का धारा	अश्विनीकुमार शालदास पटना	१९६० ₹०
१४१-संस्कृत	'प्रसाद' इटां	२०१६ ₹१०
१४२-वाणमट्टकी आत्मकथा	स्वामीप्रसाद द्विवेदी दूधरा	१९५४ ₹०
१४३-विचार दर्शन	रामकुमार वर्मा पटना	१९४८ ₹०
१४४-विचारधारा	धीरेन्द्र वर्मा पटना	१९६८ ₹१०
१४५-विशाल की प्रेमिका	ब्रन्दावनलाल वर्मा	२००३ ₹१०
१४६-विवेकानन्द ग्रन्थावली	विवेकानन्द	१९८० ₹१०
१४७-विश्व साहित्य की रूपरेखा	नागवत्तरेण उपाध्याय दूधरा	१९५९ ₹०
१४८-ग्रन्थ और विचार	शान्तिप्रिय द्विवेदी पटना	१९५९ ₹०
१४९-वेदान्त दर्शन	हार्दिकदास गोयनका दूधरा	२०१२ ₹१०

१५०-वैदान्त धर्म	विवेकानन्द	पहला	१९२५ ई०
१५१-शिल्प और दर्शन	पन्त	पहला	१९६१ ई०
१५२-शेष स्मृतियां	रघुवीर सिंह	पहला	१९४९ ई०
१५३-श्री रामकृष्ण परमहंस	स्वामी विद्यात्मा नन्द दूसरा	-	-
१५४-संस्कृति का दार्शनिक विवेचन	देवराज	-	१९५७ ई०
१५५-संस्कृति के चार अध्याय	'निक' दिनकर	पहला	१९५६ ई०
१५६-सांस्कृतिक भारत	भगवत्शरण उपाध्याय	पहला	१९५५ ई०
१५७-सम्यक्ता और संस्कृति	हजारीप्रसाद द्विवेदी	दूसरा	१९५५ ई०
१५८-सर्वोदय दर्शन	दादा कर्माधिकारी	-	१९६० ई०
१५९-सत्यार्थप्रकाश	दयानन्द	२४वां	१९९१ वि०
१६०-सतरंगिनी	'वज्र'	-	१९५१ ई०
१६१-समय और हम	भैरव	पहला	१९६२ ई०
१६२-समन्वय	मगवानदास	पहला	१९८५ वि०
१६३-साक्षि	मैथिलीशरण गुप्त	-	२०१२ वि०
१६४-साक्षि - एक अध्ययन	नगेन्द्र	सातवां	२०१२ वि०
१६५-साठ वर्ष-एक शताब्दी	पन्त	पहला	१९६० ई०
१६६-सामयिकी	'दिनकर'	तीसरा	१९५५ ई०
१६७-साम्यवाद ही क्यों ?	राहुल सांकृत्यायन	१९२५ ई० का रिप्रिन्ट	-
१६८-साहित्यकार की वास्तविकता तथा अन्य निबंध महादेवी वर्मा	पहला	पहला	१९६२ ई०
१६९-साहित्य, शिक्षा और संस्कृति	रामेन्द्रप्रसाद	पहला	१९५२ ई०
१७०-साहित्य का मर्म	हजारीप्रसाद द्विवेदी		१९५२ ई०
१७१-सुहागिन	विद्यावती कीर्ति	पहला	१९५२ ई०
१७२-सोपान	'वज्र'	पहला	२०१५ वि०
१७३-सौन्दर्यतत्त्व	मू० ल० चुरेन्द्रनाथ दास गुप्त		
	बनू० दानन्दप्रकाश दीक्षित	पहला	२०१७ वि०
१७४-सौन्दर्य तत्त्व और काव्य सिद्धान्त	मू० ल० चुरेन्द्रनारायण		
	बनू० मनोहर कावे	पहला	१९६८ ई०

क्र.सं.-संस्कृत पुस्तक	प्रकाशक	भाषा	२०१८ तक
१७६-स्वामी रामतीर्थ	वाल्मीकि कार्यालय, बनारस		
१७७-स्वामी रामतीर्थ - उनके उपदेश	रामतीर्थ प्रकाशन लोग, लखनऊ		
१७८-हल्दीघाटी	श्यामनारायण पाण्डेय		१९४७ ई०
१७९-हिम किराटिनी	मा जलाल खुर्दवी		२००७ तक
१८०-हिन्द स्वराज्य	गान्धी	भाषा	१९५४ ई०
१८१-हिन्दी काव्य पर बांग्ला प्रभाव	रवीन्द्रचंद्र वर्मा	पहला	१९५४ ई०
१८२-हिन्दी काव्य साहित्य का इतिहास	भगोश मिश्र	पहला	२००५ तक
१८३-हिन्दी भाषा और साहित्य की कार्य			
समाज की देन	लक्ष्मीनारायण गुप्त	पहला	१९६१ ई०
१८४-हिन्दी साहित्य	श्यामसुन्दर दास	दसवां	१९५६ ई०
१८५-हिन्दी साहित्य	हजारीप्रसाद द्विवेदी		१९५५ ई०
१८६-हिन्दी साहित्य का इतिहास	रामचन्द्र शुक्ल	ग्यारहवां	१९५७ ई०
१८७-हिन्दी साहित्य का इतिहास	लक्ष्मीधर बाण्य	पहला	१९५६ ई०
१८८-हिन्दी साहित्य का परिचय	चतुरधन शास्त्री	पहला	१९५२ ई०
१८९-हिन्दी साहित्य का इतिहास भाग १	संपादित	पहला	१९५७ ई०
१९०-हिन्दी साहित्य की मूलिका	हजारीप्रसाद द्विवेदी	दूसरा	१९४४ ई०
१९१-हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष	विपदानिधि चौहान	दूसरा	१९६१ ई०
१९२-हिन्दुस्तानी कहानी (संक्षिप्त)	जवाहरलाल नेहरू		१९५४ ई०
१९३-हिन्दुस्तान की समस्याएं	जवाहरलाल नेहरू	बाठवां	१९५५ ई०
१९४-हिन्दू संस्कृति की रक्षा	हनुमन्त बाबलसि		१९४० ई०

पत्र-पत्रिकाएं

अदिति , अवन्तिना , बालोचना , बाबकल , कल्पना , कल्याण (हिन्दू संस्कृति वक) , केसरी , धर्मयुग , निरुप , प्रतीक , माधुरी , रसवन्ती (बनूप शर्मा विशेषांक , निराला विशेषांक-कृतित्व) , विशालभारत , संकेत , संगम , समालोचक , सम्मेलन पत्रिका (लोक संस्कृति वक, कला वक) , सरस्वती (कांग्रेस मिनिस्ट्री वक, सरस्वती हीरक वयन्ती विशेषांक) , ज्ञान , हिन्दो-जुशीलम , हिन्दुस्तान , हरिजन , हिमालय ।

सङ्घ-सागर

नालन्दा विशाल सङ्घ-सागर

परिशिष्ट (ब)
अंगरेजी पुस्तक सूची

<u>पुस्तक नाम</u>	<u>लेखक</u>	<u>संस्करण</u>	<u>प्रकाशन वर्ष</u>
१-बाटीबायफ्राफी	जवाहरलाल नेहरू		१९५५ ई० का रिप्रिन्ट
२-बावर ग्रेटेस्ट नीड	क० मा० मुंशी		१९५२ ई०
३-इंडियन इन्वैरिटेन्स, भाग २	सम्पादित	पहला	१९५२ ई०
४-इंडियन मिडिल क्लासेज	बी बी मिश्र		१९५१ ई०
५-इंडिया बेनेज	ताया जिनफिन		१९५८ ई०
६-इंडिया टु डे	रजनी पामदत्त		१९४६ ई०
७-इस्ताम इन इंडिया एण्ड पाकिस्तान	मै० टी० टाइटस		१९५६ ई०
८-इंस्ट एण्ड वेस्ट	राधाकृष्णन्	पहला	१९५५ ई०
९-एकनामिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया	बा२ सी दत्त	दूसरा	१९०५ ई०
१०-एथिकल्स अल प्राइलम ऑफ इंडिया	सी बी ममीरिया	-	१९५८ ई०
११-एवूशन इन इंडिया	एस एन मुन्शी	तीसरा	१९५० ई०
१२-एवूशन इन इंडिया	बरेकाट लक्ष्मणस्वामी मुदलियार, पहला		१९५० ई०
१३-एवूशन इन रंशिएन्ट इंडिया	ए एस बल्लेकर	पांचवा	१९५७ ई०
१४-ए हिस्ट्री ऑफ एवूशन इन इंडिया	नूरुल्ला बी२ नायक		१९५१ ई०
१५-ए हिस्ट्री ऑफ एवूशन इन इंडिया एण्ड पाकिस्तान	एफ० ई० बी	तीसरा	१९५६ ई०
१६-कल्वर एण्ड लीसायटी	बी एस भुरे	पहला	१९४७ ई०
१७-कल्वरल यूनिटी ऑफ इंडिया	गर्ह्म स्मरसन सेन		१९५५ ई०
१८-कल्वरल हेरिटेज ऑफ इंडिया भाग २		दूसरा	१९५२ ई०
१९-कल्वरल हेरिटेज ऑफ इंडिया भाग ४		दूसरा	१९५५ ई०
२०-गांधियन प्लान रीवकम्ड	एस एन जगवाल	पहला	१९४८ ई०
२१-गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर	फै० एम० मुंशी		१९५५ ई०
२२-टुवर्डस यूनिवर्सलमेन	डॉ०		१९५१ ई०

१३-ट रिजोबन्स	जान भैंजी	पहला	१९५० ६०
१४-डिस्क्वरी आफ इंडिया	जवाहरलाल नेहरू		१९५६ ६०
१५-दि वार्थ समाज	लाजपत राय		१८९५ ६०
१६-दि इंडस्ट्रियल एवोल्यूशन आफ इंडिया			
इन रोसेट टाइम्स	डी वार गेडगिल	१८९६	१९२६ ६०
१७-दि एकनामिक डेवलपमेंट आफ इंडिया	वीरा एंस्टी		१९५७ ६०
१८-दि एजुकेशन आफ इंडिया	टी एन सिन्धेरा		१९४८ ६०
१९-दि एजुकेशनल फिलासफी आफ			
महात्मा गान्धी	एम एस पटेल	पहला	१९५६ ६०
२०-दि बीरिजिन एण्ड दि स्क्रिप आफ			
दि वार्थ समाज	गंगाप्रसाद उपाध्याय	दूसरा	१९५४ ६०
२१-दि न्यू इंडिया	अतुलचन्द्र चटर्जी	पहला	१९४८ ६०
२२-दि पोलिटिकल फिलासफी आफ			
महात्मा गान्धी	गोपीनाथ धन	तीसरा	१९५७ ६०
२३-दि लाइफ आफ महात्मा गान्धी - १	तुर्ब फिशर	दूसरा	१९५५ ६०
२४-दि लाइफ आफ महात्मा गान्धी - २	तुर्ब फिशर	दूसरा	१९५५ ६०
२५-दि लास्ट फेज़ भाग १	प्यारेलाल	पहला	१९५६ ६०
२६-दि लास्ट फेज़, भाग २	प्यारेलाल	पहला	१९५८ ६०
२७-दि वर्ल्ड एण्ड दि बेस्ट	बार्नेल्ड ट्वायनबी	दूसरा प्रिंट	१९५५ ६०
२८-दि हिन्दू न्यू आफ लाइफ	राधाकृष्णाच	दसवां इम्प्रेसन	१९५७ ६०
२९-न्यू पैटर्न आफ डेमोक्रेसी इन इंडिया	वीरामिनैल्ल डीन		१९५६ ६०
३०-मगवद्गीता एण्ड माडर्न लाइफ	फै० एम० मुंशी	पाँचवां	१९६० ६०
३१-पापुलर हिन्दूज्म एट र ग्लान्स	राजवली पाण्डेय	पहला	१९६३ ६०
३२-महात्मा गान्धी	फै० एस० शर्मा	पहला	१९५५ ६०
३३-माडर्न इंडियन कल्चर	कूर्मटीप्रसाद मुन्शी	दूसरा	१९४८ ६०
३४-माडर्न एकनामिक, डेवलपमेंट आफ इंडिया	सी पी श्रीवास्तव		१९४६ ६०
३५-माडर्न मेन इन सर्व आफ र सोल	बी बी मुं		१९६९ ६०

४६-मेरिव एण्ड फौमिली इन इंडिया	१०० एम० कापडिया	दूसरा	१९५६ ६०
४७-राइज़ एण्ड फुल्लिमेंट बाफ ब्रिटिश इन्ड इन इंडिया	टामसन और गैरट	दूसरा	१९५८ ६०
४८-रिक्वरी बाफ फौय	राधा कृष्णन	पहला	१९५५ ६०
४९-रिक्व बाफ स्कनामि प्रोथ इन इंडिया	आर० बांताकृष्ण		१९५९ ६०
५०-रेनसेन्ट इंडिया	एच सी ई० ककारिया		१९५५ ६०
५१-वर्ल्ड पार्लियामेंट बाफ रिलिजन्स (कमोरिशन वाल्सूम)			१९५५ ६०
५२-सिपिगिनेशन बान द्रायल	जार्नल्ड टवायन बी		१९५८ ६०
५३-सोशलरथिन्स इन माडर्न हिन्दुज्म	रीलिंग डब्ल्यू स्काट		१९५५ ६०
५४-सोशलप्राब्लम्स एण्ड सोशल डिस्बार्गेनाइ- नेशन इन इंडिया	सी बी ममोरिया	पहला	१९६० ६०
५५-सोशल फलासफी बाफ महात्मा गान्धी महादेव प्रसाद			१९५८ ६०
५६-सोशल ग्राउण्ड बाफ इंडियन नेशनलिज्म ए० आर० देसाई	-		१९५६ ६०
५७-स्टडीज़ इन एडवान्स्ड थियरी बाफ स्कनामिन्स स्टडीज़ इन गान्धीज्म	निर्मलकुमार बीस	तीसरा	१९५७ ६०
५८-छोरी फुल एण्ड एम्प्टी लेंड	गन्धर्व	दूसरा	१९५७ ६०
६०-हिन्दुज्म दि एनेज़	डी एस शर्मा	पहला	१९५४ ६०
६१-हिन्दू मेन, कस्टम्स एण्ड सेरेमनीज़	कुबीई आर कृष्णम्	तीसरा	१९५५ ६०
६२-हिन्दू सील बार्गेनाइनेशन	पण्डरीनाथ प्रभु	तीसरा	१९५८ ६०
६३-हिन्दू ज्योतिष शास्त्र	राधाकृष्णन		१९५६ ६०
६४-हिन्दू बक एक्प्लेन इन इंडिया	एस एन मुन्शी	बीथा	१९५९ ६०

धीरिप

इंग्लिश इन्फ्लुएंस बान हिन्दो लिटरेचर (१८७०-१९२०) -- विश्वनाथप्रसाद मिश्र

विश्वकोष

१-एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका (१९५५ द)

२-एन्साइक्लोपीडिया आफ वर्ल्ड पालिटिक्स (फैब्रर और फैब्रर द्वारा प्रकाशित)

पत्र-पत्रिकाएं

दिरशिया मन्त्रीन , यंग इंडिया , लाडर , सेडे स्टैंडर्ड ।